

कम्युनिस्ट छाहिय ताकात बड ११४ कम्युनिस्ट-छाहिय और भारतीय  
रत-छाहिय २१५, आन्तरिक कुरेप और ऐक्सपियर २१७ मुरीनीय  
कबाए २१७।

## तृतीय खण्ड भारत

### १ सांस्कृतिक सम्मिश्रण

२११-२१७।

धौरोठिक नहीं सांस्कृतिक २११ बट्ट, बडिप २११ मिमित  
हरिपट्ट २११ सटस्य संघाहक कुति २१४ पर की स्वीकाया २१४  
बिकास शक्ति २१५, इस्लाम और ईमाइयत २१५, बिडेपी रायुबाप  
२ १ हिन्दुत्व हिन्दूत्व गायी २११ इस्लाम की बडशारी २१७  
राजनीतिक समन बधूरी २१७ इस्लाम की फतह २१८, इस्लामियत का  
पानी २१८, हर्षित का सोप २१९, राजनीति का इस्लाम २१९,  
इतिहास की सीतमें मन डयेदिये २२९, मुसलमान और हार्दिक २३०  
धर्म-निरपेक्षता २३१ धर्म-समाहट, धर्म-निरादर २३१ लोकापवा है  
मनुष्यता का ह्रास २३१ मांकी और भेट्ट २३२, सांस्कृतिक सम्मिश्रण  
२३२ सम्मिश्रण की व्यपता निरर्थक २३२, पृथक्करण के सहारे मिश्रण  
२३२ सम्मिश्रण के प्रमाण २३३ धर्मपरायणता का एवता २३३ प्रमाणी  
की बिकासता २३४ हृदय के तल से प्रवास २३४ मात्र परिचय निष्कण  
२३४ वैरिण से सम्भाव २३५, मन्वीर धर्मभाव बमिबाध २३५, पापी  
और मन्वीर २३५, महारवा और दाहपाह २३५, कैटपार्य और मापता  
२३६ दार्शनिक ऐक्य-भूति २३६ ऐक्य धर्म में बाहर नहीं २३७  
मय-बड स्वार्थ २३७।

### २ भारतीय राष्ट्रवाद और गांधी

२३८-२५४

काश्मिरात की सृष्टि २३८, काश्मिर की प्रयोग-विपना २३८,  
बापम और गांधी की अहिमाएँ २३८ गांधी की लान पर २३९, केवल  
अहिमा अनीयमेण २३९ पाकिस्तान क्यों बना ? २४० बिना प्रतिबिदा  
२४० मराम अहिमा २४ बापम हिन्दू बना २४० पक्षी निर बने  
२४१ गांधी की आन्तरिकता २४२ धर्म नीति प्रमाण २४२ बापम  
और गांधी-नीति २४२ नर के प्रति बापम २४३ भापम की लाया के  
प्रतिनिधि २४३ गांधी की लान २४४ बापम हिन्दु न बन गयी  
२४५, कीर गरी दूता २४५, कश्मीर २४५, गांधी ने आन्तरिक दिना

२४६ सनातनित्व राज्य २४६ 'कमलार' गांधी की हत्या २४६ घरमार्गी  
 यात्री का समझ मये थ २४७ सहीर (?) योद्धा २४७ राजनीतिक  
 हत्या क्या पुष्प? २४८, गांधी-हत्या का प्रभाव २४८, गांधी के मृत से  
 भयभीत २४८, हिन्दू-उपद्रवा २४९, जातीय उपद्रवों की उत्पत्ति  
 २४९, विभाजन में अंग्रेजों का हस्त २५०, प्रतिपक्ष एक दुर्लभ भाव २५२,  
 पटेल द्वारा देशी-राज्यों का विलय २५२ केवल राजनीतिक विषय २५३  
 कदमीर-समस्या २५३ भारत की मजबूती २५३ व्याप का बल २५४।

# १. संविधान बलीय प्रजासत्त प्रविर्धन

२५५-२७१

भारतीय संविधान २५५, संसदीय पद्धति अमूर्त २५५, संविधान  
 पक्षा २५५, संविधान दोषम प्रथम चित्तत्व २५६ चुनाव-पद्धति  
 में संसदन की आवश्यकता २५६, प्रणामक का महत्व बड़ा-बड़ा २५७  
 प्रणामन उपद्रवित व्याप हिसाब २५७ कार्यकारी और नैतिक २५७  
 दोनों का संतुलन २५८ मुख्य बीज समाज-मुख्य २५८, संविधान नहीं  
 मानव-तत्त्व निर्माक २५८ नैतिक बारणामों का सहाय २५९, उपद्र  
 पति और प्रधानमन्त्री २५९, व्याप्य घनिष्ठ पकड़ी है २५९, मन-मानव  
 की स्वीकृति किसे? २६०, लोकनीति अंगुष्ठ बननी २६ कस्मर या  
 कथिपु २६०, कम्युनिस्ट तन्त्र में नग्रापने का बन्धा नहीं २६१, प्रजातन्त्र  
 क्या बनाचार का ही इमरा नाम रहे? २६२, प्रजातन्त्र में प्रथम प्रचण्ड  
 भावे २६२, मनमानापन बहुमूर्तीय पद्धति का धनु २६२, कम्युनिज्म का  
 विकल्प गांधी-मार्ग २६३, स्वतन्त्रता देने में रुने में नहीं २६३, सिद्धि  
 समर्पित हीन में २६४ समयम स्नेषिष्ठ हो २६४ बन मीर तन्त्र में बिन्दु  
 २६४ निर्वाचन अनिवार्य २६५, नागरिक मुक्ति से उत्तीर्ण व्यक्ति चाहिए  
 २६५, पद्धति में आवश्यक सुधार २६६ सामाजिक मानसिकता का  
 निर्माण हो २६६ मन मन मस भावे २६६ मत्त मुक्त हा २६७ सुधार  
 बन-मन संशुद्धागा २६७ निर्वाचन मानवीय हो २६८ चुनाव में भ्रष्टा  
 चार २६८, यह प्रश्न एक या बहुदल पर मौजूद नहीं २६८, योग्य मरा  
 अनुमूक हीता है २६९, कुछ दण्ड का शासन २७ राष्ट्रमाइट क महीन  
 २७ माइर व्यर्थ बन भाव २७० मुद्र निर्माक न बने २७ राज्य  
 मेवको का हो २७१।

# ४. हमारे बल और तैत्ता

२७२-२९१

वर्षिष शोधक और विनयपामिनी २७२ वांछम शासन में दुर्गी है

२७२, सोचने की पुरतल नहीं २७३, सानदार यह बल है २७३, कावेस को जगाया नहीं जा सकता २७४ मेहब की कावेस २७४ बिरोधी बल २७५, सब राज्य चाहते हैं २७५, कम्युनिस्ट बल २७६ हिन्दू सांस्कृतिक स्फूर्ति २७६ मानमयी का कुलबा २७६ प्रकाश राजनीति में नहीं होता २७६ भारतीय अध्यात्म और कम्युनिज्म २७७ राजनीतिक भविष्य २७७ मेहब रोमैण्टिक २७८, डिमोक्रैटिक नेता एरिस्टोक्रैटिक व्यक्ति २७८, गांधी और मेहब के रास्ते २७९, व्यक्तिगत बलाबल २७९, गांधी के नाम की पूजी २७९, राष्ट्र और सेफ्ट २८० बिचारों और संकल्पों की गुच्छट २८१ बसिण और बाम जम्हर से एक २८२ कम्युनिस्ट बल अन्य बलों से विधिष्ट नहीं २८२, कम्युनिज्म एक राज्यवाद २८२, हिंस्र कार्यक्रम माननीय नहीं हो सकता २८३ भारत का कम्युनिज्म २८३ भारतीय अहिंसक साम्यवाद २८४ कम्युनिस्ट-पार्टी में बदर २८४ इन्द्र अनिवार्य २८५, इबामीय संस्करण २८५, कम्युनिस्टों की नील के प्रति नीति २८६ कम्युनिस्ट बल की विफलता के कारण २८६ मूल कारण गांधी २८६ मेहब और कम्युनिज्म २८७ भारत की अन्तःप्रवृत्ति २८८, भारत का कम्युनिस्ट बनना जमान नहीं २८८ कांग्रेस में छूट २८८ मेहब का व्यक्तित्व २८९, बाबू राजेन्द्रप्रसाद २८९, राष्ट्रीय दृष्टि अर्जुन २९० जनमप विभाजन-क्रम का फल २९० राष्ट्रीय स्वयसेवक संघ २९१।

## ५ भाषा का प्रश्न

२९२-३०८

भाषावार पुनर्विभाजन २९२ पुनर्विभाजन राजस्व के ओर में २९२ भाषा राजनीति का अन्त नहीं २९३ भाषावार प्रान्त प्रवृत्त २९४ प्रादेशिक आत्म-निर्भर और राष्ट्रीय एतन्व २९५ बालून विभाजक २९५ सांस्कृतिक एतन्व २९५, एकता विरवात की ही २९६ नैतिक विमर्शपूर्ण कामिक विमर्शपूर्ण २९६ हिन्दी और अहिन्दी भाषी प्रदेश २९७ हिन्दी और बसिण २ ८, जीवन का प्रवृत्त तर्क २९८, अंधेरी पर निर्भरता २९९, पंजाबी भाषा २९९, जीवन और मरवृत्ति की दृष्टि ३०० अंधेरी से एक लुबिया ३ ० अंधेरी लोकाया नहीं बन सकती ३०० राजाजी व्यासोद्-गम ३ ० अंधेरी की भागीय मान लिया जाय ३ २ उर्दू हिन्दुस्तान की है ३०३ उर्दू का जन्म और विकास ३०३ उर्दू का प्रादेशिक महाना उमका बल ३०४ अंधेरी की अनिवार्यता ३०५, भाषा में अंधेरी व्याप्त महज ३ ५, अंधेरी की राज्यभाषा गमना

शांति हुजा ३०६ आत्मनिष्ठा की कमी ३०६ आत्महीनता ३०७ हिन्दी का मार्ग उर्दू से ठीका अंग्रेजी से नहीं ३०७।

६ व्यवस्था और अपराध

३०९-३१८

व्यवस्था के लिए मोलीकाण्ड ३०९ लाकतम्बीय दावे पर साक्ष्य ३०९

बिरोबी बलों की जिम्मेदारी ३१० मोलीकाण्ड बिरोबी बलों की पीठ ३१

शासन हिंसा का उपकरण ३११ असहयोग और आजा-य ३११ अवज्ञा बल नहीं व्यक्त करे ३१२ क्रांतिकारी विचार ३१२

अवज्ञा पर सखिय ३१२ उत्पादक बर्ग-मुक्त ३१३ विद्यार्थी राजनीति के बककर में ३१४ शिक्षा का डगर हाँका जिम्मेदार ३१४ बलकों का

उत्पादन ३१५ राजनीतिक बलों के लिए कच्चा माल ३१५, शिक्षा राज्य से स्वायत्त हो ३१६ इन्सान का सवाल बहुत ३१७ शिक्षा-क्षेत्र में

पीठ का मजबूत ३१७ शिक्षा का प्रश्न मान-युक्ति से नियन्त्रित नहीं ३१८, बर्ग-शिक्षा का खोलनापन ३२० मर्यादाओं का प्रश्न ३२१ पश्चिम में

भी तो बर्गमूलक उत्पन्न हैं ३२१ वही आर्थिक विपत्तों का ३२१ कलावेज और मावेज का प्रश्न ३२२ डाकू-समस्या ३२३ अपराधी लोग आर्थिक

३२४ डाकू हथियार का आवनी ३२४ परिस्थिति और बहुमात्र ३२६ अपराधी समाज से बहिष्कृत ३२७ प्रेम की चिकित्सा ३२७ सत्य-भाव ३२८,

मकान और बिड़की-बरकाजे ३२८ साहित्य का कार्य यही ३२९, आदर्श व्यवहार में बाधक नहीं ३३० बेकारी और अपराध ३३०

साँप और पत्थर ३३० बेकारी का इलाज नौकरी नहीं ३३१ ग्रामीण और कुटीरोद्योग ३३२ सरकारी उपायों की कृटियाँ ३३२ राज्य

बाग निःसस्त्रीकरण का प्रयोग ३३३ विकेन्द्रीकरण केन्द्र का बल ३३४ सामक—प्रश्न नहीं ३३५, एक सेवामात्री प्रमुख बर्ग की सृष्टि ३३५,

समाज में उन्हें कुली ३३६ भार व्यक्ति पर और परस्परता पर पड़े ३३६ राजकीय बैठना का बड़ना खतरनाक ३३७ कम्युनिज्म में राज

नीति व्यवसाय नहीं ३३७ बीच हिंसा से अपराधमूलक नहीं होया ३३८।

३३९-३६१

७ सैरत बेगम, शारदा अल, प्रशासनिक डील

सरकार की जिम्मेदारी ३३९ काम की अवमानना ३३९, काम

अविवेक ३४० एकात्मता अन्वय ३४० काम का इनकार अहंकास्वीकार ३४० परस्परता और प्रेम ३४१ अहं-रक्षण और अहं-विसर्जन ३४१



परस्परता की स्थिति में से अपराध ३४१ विवाह विरस्ती ३४२ एक  
भाग की शक्ति ३४२ व्यवस्था सम्पत्तिमूलक ३४३ पूँजीवाद ३४३  
सेक्स की उत्पत्ति ३४३ किराये के सम्बन्ध अंगुम ३४४ कानून से सही  
रोक-थाम अमम्य ३४४ बेस्यावृत्ति और सामाजिक स्वास्थ्य ३४५,  
कृत्रिमता ही स्वास्थ्य ३४५, बेस्यावृत्ति की जड़ क्या है? ३४५ इस  
संस्था का पूरा विषय ३४६ ग्राहक और दुकानदार की प्रेरणाएँ ३४७  
प्रश्न का समग्र रूप ३४७ बेस्यावृत्ति बर्मे बर्मे ३४८ स्त्री-पुरुष की  
समान अभिकारिता रोग का निदान नहीं ३४८, कम-विषय का मुख्य  
समाज में कितना? ३४८, न पुरुष छलस न स्त्री कुलटा ३४९, बेस्यावृत्ति  
का नाश-यस ३५१ बेस्यावृत्ति की जड़ में कुछ वर्णसंज्ञित ३५१  
कानून शराब-बन्दी ३५२ कानून सेंगड़ा उपाय ३५२, जहाँ मराज बहर  
है ३५२, असल शराब ३५३ वेसो में सुधार ३५४ सिपिलता और सती  
बंदा में अन्तर ३५४ सुधार अभिलक्षणवीथ ३५४ सुधार माबुक नहीं ३५५,  
प्रेम और धृमा दोनों का उपयोग ३५५, प्रणामन में सिबिलता ३५६  
काप्रेत से शिकायत ३५६ गांधी का आदर्श ३५७ लोकगाही की विजय  
३५८ काप्रेत प्रणामन का सेना-वाता ३५८, काप्रेत की कष्टमत्त ३५८  
पंचायत में स्वर्न या नरन ३५९, पंचायत-माव ३६० पंचायत-राज  
पंचायती नहीं ३६०।

## ८. प्रादेशिक समस्याएँ

३६२-३६८

नागा-समस्या ३६२ हिमा का प्रयोग अनुचित ३६३ भारत के  
प्रति उनमें स्वयं-माव हो ३६३ केरल में कम्युनिस्ट-मताग्रह ३६५,  
वापस-मुसलिम-नीथ पठकम्यन ३६६ प्रान्तों के आपसी संगठ ३६६  
राजनीति शक्ति पर नहीं नीति पर टिके ३६७ पूँ के उत्तर समूची  
राजनीति में ३६७ बैम्बारी ३६८।

## ९. सरकारी कर्मचारियों का प्रश्न

३६९-३८४

सरकारी नौकर ३६९ बकाशारी पैमे और मला के और से नहीं  
मिलेगी ३६ सरकारी नौकरों की निम्नतर बढ़ती मंग्या ३७०  
मदुर-मदुर के हीन का विमान पालक ३७० सामन की सर्व-व्यापकता  
३७१ स्वायत्तम और सम-निष्ठा का अभाव ३७१ राजा का प्रजा में  
पैना ३७२ दराव अन्तरंग है ३७३ कम्युनिस्ट सामन में साध्यत

प्रधान ३७४ यह हड़ताल सत्याग्रह नहीं थी ३७४, अधिकार का प्रश्न ३७५, सर्वोपरि मुख्य गुणारम्भ ३७५, माने हुए अधिकार खतरनाक ३७६, कर्मचारियों द्वारा हिंसा-नाम ३७६, चाह की तीव्रता जीवन की मृत्युता ३७७, मात्तिक-मुक्तम मित्र-मात्तिक-मजूर ३७७ हिंसाभीषण नहीं दृष्टीविषय मानना ३७८, कल्पना का भी मुख्य ३७९, सेठ और मुनीम ३८०, कानून और हिंसा की समानता अग्निक ३८१, धरमार्थी समस्या ३८२, एक चुनौती ३८२, एक अप्राकृतिक समस्या ३८३, मूल में मारी होय ३८४।

## १०. सुरक्षा गृहनीति विरोध-नीति

३८५-४०४

रैस की सुरक्षा ३८५, यह प्रश्न सामरिक नहीं मानसिक ३८५, सेनाओं में राजनीति ३८६, मानसिक हवा ३८६, एक महद् भाव की भाव रचना ३८७, भारतीय आत्मा में विश्वास ३८८, असह्य का मोह ३८८, भारत में सेनासाही नहीं ३८८, गृह-नीति और विरोध-नीति ३८९, दोनों में विमुक्तता है ३८९, इसका मूल नेहरू में ३९०, विरोध-नीति की प्रेरणा ३९१, एशियन कांग्रेस और बांग्ला ३९२, गांधीजी और कांग्रेस ३९२, बांग्ला का असह्य नाम ३९२, एशिया का रूप बदला ३९३, तिब्बत नवीन से पायब ३९३, नवीन शक्ति-नीति अमुम ३९४, पंचशील का खतरा ३९४, अमु-मुद्र का मय अन्वय का पोषक ३९४, बफर स्टेट का मुभीता ३९५, अहिंसा की शर्त ३९५, अकूरे मन की अहिंसा खतर नाक ३९६, पञ्चोत्तीर्णता समग्र नहीं ३९७, कोरिया और कांगो ३९८, अन्धधर्मों का विरोध ३९८, विश्व-कूटनीति में भारत का स्थान ३९९, छटस्यता सक्रिय हो ४००, भद्रा सकर्मक ४००, हलकी छटस्यता नकारात्मक ४००, एक निरन्तर मुद्रा ४०१, भारत के मूल में समन्वय अधिक संगठन कम ४०१, यहूरी समग्र जवाबता ४०३, विधायक पञ्चोत्तीर्णता ४०३, सत्याग्रही वृत्ति ४०३, हवा में उत्पन्न नहीं सत्य हो ४०३, मुद्र के समय ४०४।

## ११. औद्योगीकरण द्वारा आर्थिक समृद्धि

४०५-४३६

अर्थ-नीति का आधार ४०५, एक मोह ४०५, उत्पादन भाव रचना में जुड़े ४०५, जीवन-स्तर बढ़ाने का उपाय ४०६, व्यवसाय-वाद में विमान की अन्तम ४०६, आत्म-विज्ञान का सहाय ४०६, औद्योगी

करम समय की माँग ४०७ उद्योग यन्त्र विज्ञान बंध से बाहर न हो ४०८, ऐतिहासिक अध्ययन न बने ४०८, मन और समय की झूठी माँग ४०९, आत्म-नशा के लिए औद्योगीकरण ४०९, व्यक्ति और जीवन में यन्त्र में नहीं ४१० विचार का तर्क ४१० माल और प्रीति ४११ यन्त्र उपयोगी यन्त्रवाद पातक ४११ यन्त्र की देवता न मानें ४११ भारत अपना मार्ग चुने ४१२ विशेषी सहायता ४१२ हम स्वावलम्बी अर्थव्यवस्था बनाएँ ४१३ मानवीय मापन जन-बल ४१३ भारतीय मानस की हीनता ४१३ घर की पूर्वा ४१४ कानूनन केतु पातक होना ४१४ अहिंसक उपाय अदुर्लभ नहीं ४१५ महान-महान का उदय ४१५ योजनाएँ लोक-मानस में प्रेरित हों ४१६ कार्य और उसकी बुझावा ४१६ राज्य-समस्या ४१७ अनुसंधान का विषय ४१७ स्वार्थ और संघर्ष की वृत्ति ४१७ पाषाण की कमी ४१८, आय बढ़ी महामार्ग बढ़ी ४१८ स्वास्थ्य मानसिक बला है ४१९ स्पर्धा और विघट ४१९, आय और निवेश की कद-समता ४१९, यम निरुद्ध को टर्म है ४२० राजनीतिक समर्थता से न बँधिये ४२१ प्राकृतिक सम्पदा का उपयोग हो ४२२, मानस-सम्पदा की बेकरारी क्यों हो ? ४२२ दोनों का संयुक्त उपयोग हो ४२३ निजी और सरकारी उद्योग ४२३ सरकार बलिदान बने ४२३ समाज-मूल्य अर्थ नहीं नीति हो ४२४ राजकीय पूर्वाचार से रोक बड़े ४२४ पूर्वा और सत्ता ४२५ एक ही हाथ में तराजू और रकबा ४२५, हिनाम और अर्थों का फेर ४२५ उत्पादन व मोह में आदमी की जेब ४२६, आधा ठीकर, आधा बटेर ४२८ उत्पादन कारेल एक्मर्चेंट के लिए ४२८, राष्ट्र-वैतना गणित ४२८ समुद्रिवाद और राष्ट्रवाद से बर्ग-वाद नहीं मिलेगा ४२९ समुद्रि पश्चिम के लिए समुद्र नहीं बनी ४३१।

## १२ विवेक विघट अनुशासन-हीनता

४३१-४३०

मध्यराय-वाद का विघ ४३२ सम्पुर्णवृत्ति की मात्र स्वीकृति ४३० सम्पन्नता वर्तमान की हो ४३३ मूल्य प्रतिष्ठा काय में हो ४३३ यम प्रभाव मातृति ४३४ अल्पमध्यता की समस्या ४३४ दृष्टांत उल्लास का मात्र ४३५, व्यक्ति गवर्णिक अल्पमध्यक ४३५ भागविध भूमि पर मर नमान हो ४३५, विशेषाधिकार की नीति यन्त्र ४३६ अल्पमध्यक अल्पमध्यता का ध्यान नहीं ४३६ नागरिक सम्पन्न गवर्णिक न रहें ४३७ इस समस्या की जड़ ४३८ विवेक नष्ट-अज्ञान में लगे ४३८

राष्ट्र-राज्य की नयी रूपरेखा का उदय ४३८, धार्मिकता और मनुसंहिता ४३९, भेद बारबारम्ब ४४१ सम्बद्धता और मर्यादा ४४१ व्यक्तिवाद और समाजवाद की उत्पत्ति ४४१ सामाजिक और स्वगत बतव्य ४४२ नीति के क्षेत्र में बँटव हो ४४२ व्यक्ति में पैमाना ४४४ व्यक्ति में ईश्वर ४४४ व्यवस्था-विचार, नैतिक-विचार ४४४ नियमन पर का नहीं स्व का हो ४४५, मतबारी बह्कार ४४५, समाज बचक एक ओट ४४६ आत्म-नियन्त्रण ही इष्ट ४४६ पैमाना विवेक म मिटेगा ४४७ जाति का मूल मन में ४४७ जलधार और तट ४४७ मानवीय वैतन्य मुख्य पूर्वी ४४८, मुँह या गान्धि मानव मन में ४४८, मनो को जीताना ही सबसे बड़ी सामना ४४९, समाज कहाँ है? ४५० स्व-परता ही प्रत्यक्ष सत्य ४५० इसीमें समाज-संस्कृति की मूर्ति ४५१ प्रभाव आन्तरिक सत्य से जुड़ा ४५१ मन मन्म अर्थ और मत्पा ४५२ इनक सूक्ष्म अर्थ भूख और भोग ४५२, मन की कामना मैपुन और अर्थन में व्यक्त ४५३ राजनीतिक नियन्त्रण ४५४ पैमाना की सापेक्षता ४५४ भयमा भगवान् में ४५४ आत्म-नियन्त्रण से सम्बन्ध-गान ४५५, स्व-रति और पर-भूता ४५५, अनुत्तरावित्व अनुज्ञात-हीनता ४५६ अस्तित्व-मन्त्र का स्तर ४५६, मानव मानव का बिहूत रूप ४५७ आधिक-सम्पन्नता की मृग-भूता ४५७ अस्तित्व-चिन्ता में जीवन की मन्त्रा ४५८, प्रेम नहीं तो काम ४५८, लाकुता में गौरव की अनुमति ४५९, विचार को जेबा कुर्मी को नीचा करे ४६०।

## २३ शिक्षा, भाषा अनुसन्धान

४६१-४६२

विद्या रोम की सहायक ४६१, बयकटी गिन्ना ४६१ शिक्षा-क्षेत्र में भाषाबाणी ४६१ शिक्षा राज्य का मन्त्र न बने ४६२, विद्या पर बनिदे का नियन्त्रण ४६३ नैतिक सामान्य न पूर्वी का पत्रन ४६३ पूर्वीरति छुट भइये ४६४ पैदा मानव-भाषेत बने ४६४ शिक्षितों की सम्माननाएँ ४६५ शिक्षा और शिक्षन-संज्ञा ४६६ विम्वरती जाज की सम्पना पर ४६७, पाठ्यक्रम और परीक्षा-समाप्ति ४६८, परीक्षा प्रमाणी बन ही पाय ४६८, मिडलैंड और बयबहार में मार्मबम्ब हो ४६९, जार्ज और माइल का विभाजन होयगुर्न ४६९ ज्ञान बच और चरित्र की एकता ४७० वैज्ञानिक और धर्मिक का अन्तर मिटे ४७१ वैद्य और विद्य की विद्या ४७१ हमारे पक्षिक-मन्त्र ४७१ समाजबारी मारे के प्रतिकृष ४७१

पश्चिम-स्कूलों के बालक जीवन-संघर्ष में होयस ४७३ पश्चिमी गिरा  
पड़ति ४७४ ठपकी विषयताएँ ४७४ अंधेन्द्रियत बड़ रही है ४७५ लोक-  
शक्ति के छिप मोह-भाषा बाहिए ४७५, पश्चिम-स्कूल और अंधेरी ४७६,  
अधरी पर निर्मलता आरम-हीनता ४७६, पारियापिक मध्य किध भाषा में ?  
४७७ आत्र संकल्प का प्रभाव ४७७ जीवन प्रेरणा की मन्दता ४७८,  
अनुकरण का फैसन ४७८ शाल-विज्ञान एक भाषा से जड़ित नहीं  
४७९, छत्र-निर्माण जनता करती ४७९, स्वल्प-फल बहु-विघाट ४८०  
हिन्दी बकाला और टकाला ४८१, डा० रघुवीर का प्रभाव ४८१ जीवन  
प्रयोजन की सामने रखा जाय ४८२ एषपुरेन्सी और करेन्सी ४८३  
मध्य और उनका रस ४८३ मान किया की प्रेरित करे ४८४ प्रयत्न का  
रस ४८४ बुद्धि और कृति का व्यापार ४८५, बय और बर ४८५, प्रेम  
अधिक विरहमयीय ४८५ पोषक और विवायक बर ४८६ नियमों की  
पोषी ४८७ पैसा मूल्य-निर्माह ४८७ जनता-पाल-कार्य ४८८, इसमें  
मन्द-वर्षस्व नहीं ४८८ शाल और मृष्टि दो मूल्य क्षेत्र ४८९, मोन बेतन  
४९० विज्ञाना में छुट्टी ४९० मीन-मुहरबायी विज्ञाना ४९० पैसे से  
निनिद्या मन्द ४९० गिद्या पैसे के ऊपर रहे ४९१।

#### १४ साहित्य-क्षेत्र

४९२-५१

विरहविद्यालय रैडियो पत्र ४९२ आत्र मन्द व्यवसाय बना ४९२,  
औद्योगिक शक्ति ४९३ अनेकाल की रसा या मयात्र-गति से समझीता  
४९३ अत्राव को भी जीन का रस ४९४ पीड़ा ही पुँजी ४९४ अकेला  
और जीविका हीन ४ ४ मुरधिल आजीविका का महुरन ४९५, उच्छवास  
आरोपण नहीं करती ४९५ व्यापक जनभाषा होला हिन्दी के विपदा में  
४९६ साहित्यकार मानव-भाव का स्वत्व ४९६ हिन्दी में महाराई कम  
पीड़ा अधिक ४९७ हिन्दी गलों में मूल्य नहीं ४ ७ रचना की पेट्टता  
४९८, भावगिरा पर अर्थ-मूल्य कृति साहित्य नहीं ४९८ जीवन-चित्र  
में अर्थ प्रकटी ४९८, समासिक अतिशय ४९९, अनुकूलि बुद्धि से पुष्ट हो  
५ ० बौद्धिक पोष-भाषण ५०० साहित्यकार मन-मि मूल्य नहीं बन  
नचना ५०१ बुद्धि अर्थ समझता नहीं ५०१ साहित्य-विषा और युग-  
रिमे ५०२ शक्ति का मन्द ५०२ साहित्य का मन्द और आत्मा ५०३  
बाह्य में बौद्धिक मन्द बय न हो ५०३ पात्र में आरीपन प्रयोगकार में  
विगारा ५०४ कथामिद में बुद्धि की अत्रा नहीं ५०४ कथिता विमान

की प्रकृति प्रतिबिम्ब नहीं ५०५ कथा-विपुल कविता विद्या ५०६  
आज साहित्य समाज-सन्दर्भ से मुक्त ५०६ उच्छ्वास-विद्याम महं  
परक ५०७ नीति-संप्रति की प्यास ५०७ अतीत के प्रति अतिरिक्त  
कर्तव्य अनावश्यक ५०८, राम-कृष्ण बीस चरित्रों की सृष्टि ५०९, कल्पना-  
मृष्ट चरित्र अक्षय ५१० चरित्र स्पर्धा-जय न हो ५१० महाकाल्य और  
उपमास दो और दूर नहीं ५११ सत्यापित विदग्ध-चरित्र ५११ चिरम्बन  
साहित्य मन्त्र से ही प्राप्य ५१२ क्या यथार्थ के कक्ष में भी परम तत्त्व उप-  
स्थित ? ५१२, 'आदर्श' की परिभाषा ५१२ आदर्श एक स्वयम्भू मन्त्रि  
५१३ यथार्थ का सत्य भेद-विग्रह ५१३ जीवन के दो छंद ५१४  
साहित्य इन्हीं की बीज की क्किया-प्रतिबिम्ब ५१४ आदर्श अर्थात् अज्ञात  
वार्ध ५१४ अज्ञात स यथार्थ असम्बद्ध ५१५, लेखक की अज्ञात प्रेरण का  
नोजन करणी है ५१५, आदर्श-यथार्थ अज्ञात ५१५, लेखक का बीजतम  
विश्व ५१६ कथा से सम्बन्ध-विच्छेद ५१७ नैतिक-अरबीत क्या ?  
५१७ सबका अपना-अपना स्थान ५१७ मिथ्याही नैतिक-अर्थान्य ५१८,  
यथार्थ की लक्ष्मणी कुरेद ५१८, काय-लेखन अरबीत नहीं ५१९, प्रेम  
मुक्त ही हो सकता है ५१९, मजबूत माई हो ५२० मजबूत की अनिवारिता  
५२० प्रेम और नैतिकता की टकराव ५२० प्रेम बलवत्तर नहीं बन  
सकता ५२१ प्रेम का प्राथमिक स्वीकार ५२१ आधुनिकता और  
नैतिकता का विरोध ५२१ साहित्य-अयोजन ५२२ आत्मनिष्पन्न  
आत्मोपलब्धि ही प्रयोजन ५२३।

## चतुर्थ खण्ड अध्यात्म

### १ अन्तरंग

५२७-५३१

इन्द्र ५२७ अमृत-इन्द्र अमृत ५२७ मृच्छि-इन्द्र ५२७ अहं  
की ५२८ अहं काम-आह्वान ५२८ अहं की अमर्यता ५२८, अन्तरंग  
५२९, अन्तरंग-अहं ५३० परम अन्तरंग ५३० आत्मा अमान्य होती !  
५३१ एक अन्तरंग में यज्ञ ५३१ अध्यात्म और अहिंसा ५३१।

### २ इन्द्रिय, मन अहं

५३२-५४२

इन्द्रिया ५३२, देव को बलुना और विविधता देवताती ५३२,  
इन्द्रिय-आधार के दो द्वारे ५३३ एकता और विविधता के बीच मज्जा  
५३३ बलु-अहं का मिथ्यात्व ५३४ बलु-आत्म वस्तुतः आवेग ५३४

## ८. भौतिक क्षितियाँ

५८५-५८९

वर्गीकरण-शक्ति ५८५, आपसी प्रभाव ५८५, प्रभाव का व्यापक  
सापेक्ष प्रमाण ५८५, वैज्ञानिक क्षिति का अवैज्ञानिक उपयोग ५८६  
मस्मरिज्य आदि ५८६ बल और विषय ५८६ मनोनिग्रह संकल्प  
५८७ योग का अर्थ जुड़ना एकगुणता ५८७ कुछ सामान्य ५८८  
सिद्धियाँ-सम्प्रसार ५८८ पूर्ण अहिंसक की दृष्टिमान संकल्प प्राप्ति ५८९।

## ९. अद्वितीय भाव, वाप

५९०-५९५

भावों का वर्गीकरण ५९१ रस और वास्तव ५९० वास्तव वाक्य ५९०  
वर्तमान-कर्म के बीच से रस सम्भव ५९१ हर योगिक सृष्टि रस-मय ५९१  
मगधता को चुनौती ५९१ अहन्ता के विस्मयजनक कर्म ५९२ युगा हैं  
५९३ वृथा की क्षिति ५९३ वाप-पुष्प अहन्ता में ५९४ रस-राजन  
युद्ध ५९४ जीव-ब्रह्म तादात्म्य ५९४।

## १०. मृत्यु, पुनर्जन्म, कर्म विनाश

५९६-६०३

संस्कार ५९६ अहभाव परिमित ५९६ संस्कार समष्टि को प्राप्त  
५९६ स्वाही की बूँद ५९७ अग्नि विस्फोट को वाप्य ५९७ निमित्त में  
अप्रत्यक्ष नहीं ५९७ अंत की समस्त के सम्बन्ध में शक्ति ५९८ मृत्यु ५९९  
बहु सम्बद्धता की समाप्ति ५९९ जन्म-मृत्यु भ्रम भाषा ५९९, अहं की  
व्यापक साक्षरता ५९९, अपूर्णता विपरीत ६०० अगुणित अक्षय ६००  
पुनर्जन्म की विनाशिकता ६०१ पुनर्जन्म कर्म-विपाक की वैज्ञानिकता  
६०२ मन बुद्धि अहं की निरूपणता ६०३।

## ११. सत्य का आप्रह

६०४-६०६

बहु अपूर्ण का अन्त ६०४ अहिंसा की पीठ पर सत्य अनिवार्य ६०४  
आपद्रु का अधिकार ६०५, अमानुषिकता अविनाश प्रभुत्व ६०५, सत्य  
बुद्धि द्वारा अग्रान ६०५, सत्यापह विनाशनाश स्वयं प्राप्त ६०६।

## १२. बुद्धि और अज्ञान

६०७-६१०

बुद्धि और अज्ञान की सीमाएँ ६०७ गन्ध और विषय ६०७ पारणा  
भाषाभिन्न ६०७ डिग्री प्रज्ञा ६०८ देवता और ब्रह्म ६०८, निष्ठाई  
वा वाप ६०८ ज्ञान के स्तरों की शक्ति ६०९, ज्ञान-विज्ञान ६०९, वाप

और अनुभूति ६०९, बुद्धि विमू नहीं ६१० चित्केन्द्र वस्तु वृत्त से प्रमाण  
६१० अथा कमवस्तु रूप स सक्ति ६११ केवल बुद्धि सत्यमहीन ६११  
अथा हममें वृत्तगत और अमूर्त ६१२, कुछ भी कवल अहं-मेरि नहीं  
६१२, बुद्धि द्वारा साधना सम्भव नहीं ६१२, दयन अथा-मूलक ६१२  
आत्मिक वैदिक को नहीं ६१३ जीवात्मा में दोनों का समास ६१३,  
इष्टा और स्रष्टा ६१४ बुद्धि यह नहीं दिखाती ६१४ सृष्टि क क्षिप  
प्राप्त-तत्त्व की संगति ६१४ बुद्धि और इन्द्रिय ६१४ प्रायमिमान हममें  
संमित ६१४, उपलब्धि सम्बुद्धि सही सम्भव ६१५, अलङ्कार-भाव लङ्  
बीज ६१५, सम्बुद्धि प्रायमिक बुद्धि नीमितिक ६१५, बुद्धि की प्रेरणा  
६१६, बुद्धि का स्वान-निर्भव ६१६ विमेष-वृष्टि ही बुद्धि ६१६ बुद्धि क  
लिए एकल अयम ६१६, बुद्धि का वाचा मूठा ६१७।

## १३ भाव-विभाव

६१८-६२१

बुद्धि भाव के द्वारा में ६१८ भाव-विभाव ६१८ स्वप्नर का पुष्ट मूल  
६१९ प्रयति सदा वैवाचिक ६१९ विभाव पारवर्त ६१९, अहिमा से  
पुष्ट पुष्ट ६१९, वैदिक आत्मिक से अविद्याही ६२० पुष्ट अनिवाय पर  
यह धर्मपुष्ट हा ६२० सम्बुद्धि परमात्मामुक्त ६२१।

## १४ अहं और आत्मा

६२२-६२६

महा प्रान ६२२, सृष्टि स्रष्टा की कलि-कीड़ा ६२२, सक्ति का  
अविच्छन्न ६२२ परस्पर अविरोधता ६२२ ईश्वर और अहं ६२३ अह  
और आत्मा ६२३ अह की सम्पूर्ण विभावी से नहीं ६२४ आत्मना  
आकाश अहं पिण्ड ६२४ अहन्ता-आत्मता क सम्बन्ध वैज्ञानिक ६२५,  
सौख्यम आराधन और उत्सव ६२५, संघर्ष स्व-यत्नात्मक ६२५, पुंभाव  
स्त्री-भाव ६२६ अहंवादा अहंधर्मा ६२६।

## १५ कामाचार, ब्रह्माचार

६२७-६४१

आत्मता अर्थात् व्याप्त मूर्त्यता ६ ७ सम्मोह द्वारा क्षमिक  
अस्तित्व-मूर्त्यता ६२७ ब्रह्माचार ६२७ काम की तीव्रता ६२८, देवो-  
क्तिम साहित्य ६२८, पुरा प्रेरक स्त्री पात्रक ६२८ शार्पतामय—  
हिता अहिता ६२८ अर्वाचार्यवस्तु ६२९, सम्मोह द्वारा सम्मोहोत्तमपि  
आधिक ६२९, अर्वाचार्यता ऐन्द्रिक नहीं आत्मिक ६२९, इन्द्रिय और



इन्द्रियातीत ६३० इन्द्रियां संवासीहों ६३० निर्गुणता गुणों की संवादित ६३०  
 वेद वैवेच के समान पवित्र ६३० अमत् सर्व मुक्ति धनत् से मुक्ति ६३१  
 नकार की अविनता ६३२, मुख्य प्रदत्त सन्दर्भ का ६३२ वामुकता  
 ब्रह्मचर्य भावि ६३२ अविचार, कामोत्पन्न ६३३ वामुकता ६३३  
 ब्रह्मचर्य ६३३ अविचार ६३४ कृष्ण भोगी नहीं वे ६३४ वे एक  
 साथ तबके ६३५ काम भीषण रोग नहीं ६३५, प्रसन्न के मुखबार धिक् ६३५  
 ब्रह्मभोगता कठिन ६३५, हृत्पा येनून सर्वदा सवाम ६३६ मन  
 भाव रातीर न भाव ६३६ इन्द्र इन्द्र में से ६३७ इन्द्र की पीड़ा ६३७  
 इन्द्र मुनि कृति बुद्ध ६३७ काम का संस्कार ६३८, कर्तृत्व का बोध न  
 उठाय ६३८ मन-बचन-कर्म की ईमानदारी ६३८, विष्टता के कौशल से  
 पुत्रकार ६३८ विषम-लिंगी चुनीली का आरम्भ ६३९ काम का इच्छा  
 प्रम ६३९ अम्य-इतर अमिट ६४० उद्यमीर अमित यह ६४० दोनों एक  
 तत्त्व के दो मिरे ६४ हीन-आच ही उद्यत भाव ६४१।

## १६. विराट्मत अहं

६४२-६४८

आगतिव समस्यात्रा में अहं का योग ६४२ राष्ट्रीय अहं की आत्मो-  
 म्मुगता ६४२ राजनीति के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक ६४३ आत्म या  
 ब्रह्म तत्त्व विद्यमानही ६४३ उन्मुगता अनुभव का सत्य भाव ६४३ मना-  
 त्तन मर्य की लंका नहीं ६४४ गांधीजी का ब्रह्मचर्य ६४४ स्त्री से दूरी  
 नहीं चाहती ६४५, विनयी उनके यज्ञ में आहुत ६४५, विराट् ब्रह्मचार  
 ६४६ बुम्बलीय गति ६४६ पशु-मित्र की आत्मता हाथ दिया और  
 लिया ६४६ कोरा प्रम उनके पास न वा ६४७ वे अवाप्त पुरुष वे ६४७  
 उन्हें नमन शृंगु मिली ६४८ परात्पर ब्रह्म ६४८।



## प्रशस्ति

जैनेन्द्रजी की पुस्तक की प्रशस्ति में कर्क ? कोई तुक है ? कोई जकरत ? कोई अधिकार ?

अधिकार है, सिर्फ स्नेह का। जैनेन्द्रजी मुझे अपना गुरुद्वय और मातृमीय मानते हैं। पीरब और व्यास मेरा है। मला मैत्री में अधिकार के विवेक की पुजाइय ही क्या है ? जैनेन्द्रजी को कुछ लिखते या कहते हैं, मुझे बहुत अधिकार लगता है। वे अक्षर बिना प्रयोजन के नहीं लिखते परन्तु प्रयोजन उनके स्वाम्य का छोटा है। जीविका पीरब भाष से प्रयोजन और स्वाम्य की मूल बातों है। उनकी ईर्ष्या सुनिश्चित है। उनकी बाल्यकालीन के सारे मौखिक कौतुहल ही हैं, शायद ही कोई अतिरिक्त या व्यर्थ शब्द होता है। उनकी प्रतिभा में उनकी ईर्ष्या भीप बहती है। परिवान बहुत मनोम होता है। जैनेन्द्रजी कोई तत्त्व-प्रचारक नहीं हैं। अपनी भाष का प्रतिपादन करने के लिए वे युक्तियों का झूठ नहीं रखते, क्योंकि उनका अपना कोई पक्ष नहीं है। इसलिए उनके निबन्ध में बुद्धि की प्रशस्तता के साथ-साथ चित का प्रसार और ईर्ष्या की लक्ष्यता होती है।

पुस्तक की पाठ्यनिधि जैनेन्द्रजी ने स्वयं पढ़कर सुनायी। पुस्तक के कई अंश हमने मन्त्रमुग्ध होकर सुने। प्रश्नोत्तरों के रूप में यह लिखी गयी है। इसलिए यहाँ प्रशस्ति सुनने की समीक्षा और सुगम्य है। विवेचन में सम्मीरता, समप्रता और मौखिकता का संघर्ष है।

जैनेन्द्रजी की सभी या अधिकांश रचनाएँ नहीं पढ़ी हैं। परन्तु उनके लेख और निबन्ध प्रायः बहुत भाष से पढ़ा करता हूँ। उनके लेखों का एक संग्रह कोई २७-२८ साल पहले निकला जिसका नाम था—'जैनेन्द्र के विचार'। पूरव किशोरलालभाई ने उसकी प्रभावना की। वह उचित भी था। पूरव किशोरलालभाई के प्रस्तुतन से पुस्तक की प्रतिष्ठा और प्रभाव बढ़ा। पुस्तक भी उनके जैसे मनीषी के परिशीलन के योग्य थी। वहाँ साम-सामानों का निम्न था। अथ मैं इतना आत्म-सम्माहित नहीं हूँ कि उनके साथ अपनी तुलना करूँ। उसकेवल केवल इसलिए कर रहा हूँ कि पाठकों को यह विवित हो कि जैनेन्द्रजी का गांधी-परिवार के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध बहुत पुराना है। सन् १९२० से ही वे गांधी-निष्ठ रहे हैं। उनके साहित्य पर गांधी की विभूति की उज्ज्वल आभा है। फिर भी जैनेन्द्रजी न तो गांधी के अनुयायी हैं और न सर्वोद्यम के अनुयायी। गांधी और

सर्वोदय को वे सम्यक् रूप से मानते और समझते हैं परन्तु उनमें दो गहरी बातें हैं। वे केवल धर्म-सूरियों और धनीधियों के भाष्यकार नहीं हैं। स्वयं अपनी जीवन-निष्ठा सहज रूप से ही प्रकट करते हैं। वे कोई संस्कृत के पंडित नहीं हैं, फिर भी उनकी शक्ति में संस्कृति की गहिराई है।

महात्मा टागोर ने अपना 'कम्पोज़िशन ऑफ़ कैंथ' लिखा है। जॉन बर्नार्ड टाग ने 'थी डू वेप्पुलस' के 'इपिग्राफ' में, एच० बी० वेल्स ने 'कस्ट एन्ड लास्ट पिप्प' में और सामरसेट माथ ने 'समिथ अप' में अपनी-अपनी जीवन-निष्ठा का निवेदन किया है। मैं तुलना नहीं कर रहा हूँ। सिर्फ़ मिसालें दे रहा हूँ। यह ग्रन्थ बर्नार्ड का 'जीवन-बर्नार्ड' है। इसकी अपनी विशेषता यह है कि इसमें ग्राम्य वर्गों के स्वरित्व की सुगंध भी है। जीवन के प्रायः सभी अंगों-पांशों का झूपापोह है। बर्नार्डजी के तत्त्व-वेदान्त की प्रगल्भता उनके हृदय का सीहरा है और उनकी वस्तु-निष्ठा तथा वैज्ञानिकता का प्रत्यक्ष इसमें प्रकट हुआ है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक समस्याओं का मूलमानी विवेचन है। यह जीवन दर्शन है परन्तु बर्नार्ड का अपना भी है।

इसमें जो विचार और मत व्यक्त किये गये हैं और जो निष्कर्ष सूचित किये गये हैं उनसे पूरी तरह सहमत होना आवश्यक नहीं है। उसमें न तो बर्नार्डजी का गौरव है और न हमारी रसिकता। मत-भिन्नता बौद्धिक स्वतन्त्रता का उपलक्षण है। बर्नार्डजी के विचारों में और तत्त्वज्ञान में कौटुम्बिकता प्रामाण्य है। फिर भी उनकी रचनाओं में उनकी अपनी बुद्धि के उन्मेष हैं। सर्वोदय के हम ऐसे प्रवर्तता को कहने की कोशिश करते हैं उसे वे कंचन बना बैठे हैं। सर्वोदय-निष्ठ लोगों की दृष्टि से यह एक सर्वांग सुखद उपदेश ग्रन्थ है।

इससे अधिक निजने में कोई शक नहीं। अंग्रेजी में कहावत है—'पुडिंग को परलना हो तो छाकर देंगे।' पाठकों से यही निवेदन है। इस जीवनानुष्ठान का स्वयं रसास्वादन करें।

पब्लिशर

बाबा धर्माधिकारी

११ डिसेम्बर १९५१

## सपोद्घात

प्रस्तुत ग्रन्थ को इस रूप और आकार में पाकर ये सुखद आश्चर्य ही कर सकता है। कारण १७ जनवरी १९६१ की प्रातः जब मैं अपनी जिज्ञासा—स्पष्ट प्रश्न नहीं बल्कि अन्तर के अस्पष्ट भाव—को लेकर बड़े-बड़े बीनेन्द्रजी के पास पहुँचा था तब तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी कि मैं वस नहीं बीस नहीं पूरे ४५० प्रश्न पूछ जाऊँगा, जिनके उत्तर इस विस्तृत ग्रन्थ की बौद्धिकता तक चीक जायेंगे।

प्रश्नारम्भ क्यों-कैसे ?

जिज्ञासा सीकिया और मनोरंजन की इच्छा से प्रेरित की हो सकती है। पर मेरी जिज्ञासा ऐसी प्रेरणाओं की सृष्टि नहीं थी। कभी-कभी और विशेषकर जीवन और मृत्यु की सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध किसी एक अवस्था अनेक अन्तर्द्वारों से कीकृत मन हो जाने पर, ऐसा होता है कि जैसे व्यक्ति का पूर्ण व्यक्तित्व एक पक्ष अमुमरे दुहासे से भर उठा हो। तब चाह नहीं सुमती। आत्म-विश्वास दिन जाता है। व्यक्ति बीन, मर्जीन अवकट और कुछ अनुभव करता है। पहल की सभी मान्यताएँ बकलीन अरुदों की तरह उपहास-सा करती जाती हैं और तैर कर आगे निकल जाती हैं। तब आवश्यक हा जाता है कि किसी समय आत्मीय के सामने अपने हृदय का उद्देश्य आम और उसके सघट्ट आ-बासन से अपनी आत्मा को पुनः सकत और सतेज किया जाय। धनु ६० का अन्तिम भाग मेरे लिए कुछ ऐसा ही बिपद् और परीक्षा का काल था। मन बेहद आतुरित था और मुझ ईश्वर, परम्परा नीति और प्रीति सब पर एक बड़ा बहुत बड़ा प्रश्न-चिह्न लगा दीपता था। मेरी आस्तिकता मेरे हाथों से झूटी जाती थी और वह मुझ सहा नहीं हा रहा था। मैं बहुत डरास और विग्न था। मेरी सीमित तुच्छ-बुद्धि अन्तर की मुटन और उमस को झेलने और झेलने में स्वयं की एकरस अवयव पार्ती थी। अध्ययन से उम दिनों मुझ अरवि हा थपी थी। साथ ही कि मन की ऐसी अवस्था में बहुधा हजारों रहस्यमयी बकिताएँ, सैकड़ों कलात्मक कहानियाँ और दसियाँ मने उपस्थास भी कह काम नहीं कर पात जो सहानुमतिपूर्ण मुरजम के दो प्रम वाक्य कर जाते हैं। बन्धु डॉ० रमधीरचन्द्र उपा हास आयाविष्ट एक गोपटी में बचानक मुझ बीनेन्द्रजी के दर्शन हा गय। वहाँ की बर्बा से मुझे हवा कि क्यों न मैं बीनेन्द्रजी के समक्ष ही स्वयं को छोड़ूँ। सादर उद्दीके बचनों से

मन को चान्ति मिले। वहीं बोली में मैंने उनसे समय माँगा और जाकर उनसे मिला। जो घुटन भाव बौद्धिक अथवा सांसारिक नहीं होती जिसकी वजह से मन्दर नहीं तबकापित अचचेतन अथवा आत्मा तक फैली होती है उसे परिपणित सभ्यों की सीमा में दास प्रतिष्ठित प्योरे-नार्यों रखा जा ही नहीं सकता। व्यक्ति साफ-साफ कुछ भी कह नहीं पाता और एक अंग्रेजी मुहावरे के शब्दों में हाड़ी के चारों ओर घम बहकर काटता है। जैनेन्द्रजी के सामने पहुँचकर मेरी भी कुछ बेसी ही बदा हुई। अपनी प्यन्तिगन बात में कुछ भी उनके सामने नहीं रख सका। जो कुछ मैंने उनसे कहा वह लायक यह था "जो कुछ भी परम्परागत है रीति नीति बिस्वास-मायता आज सबमें से मानवीय आस्था उठ चुकी है। आज का मानव मकार का उपासक है। पुरानी नीतियाँ मिट रही हैं पर नयी बन नहीं रही हैं। ऐसी स्थिति में आप जैसे आस्तिकों का क्या यह कर्तव्य नहीं हो जाता कि प्रार्थना का पुनर्मूल्यन और नवीन का समाशोधन कर अज्ञा आस्था और आस्तिकता को टूटने से बचावें ? कारण विज्ञान की विमीषिका की छाया में मानवता को आस्था का ही सहारा ही सकता है। कहने को मैं ये मोटे-मोटे शब्द कह गया पर स्वयं नहीं जानता था कि मैं जैनेन्द्रजी से क्या आशा करता हूँ क्या चाहता हूँ। बातें हुईं। बातों में मुझे राग मिला। जैनेन्द्रजी जो कुछ कह रहे थे उसमें प्रीति का आस्वास् तो था ही एक नयी दृष्टि भी थी जो आकर्षित करती और बाँधती थी। मैंने निश्चय किया कि मैं जैनेन्द्रजी के सामने एक प्रश्न-माछा रखूँ जिसके उत्तर निश्चि-बद्ध हीन जायें। यह भी फैसला किया कि प्रश्न पूर्व-निश्चित अथवा पूर्व-संज्ञित न होकर तारकामिक प्रश्न की उपजा हों और उनका स्तर बौद्धिक और अराक्षमीय न होकर सर्वसाधारण एवं दार्शनिक हो।

अगले दिन से प्रश्नों का और उनके उत्तरों का ताँता आरम्भ हुआ जो द्वीपों के बीच की तरह निश्चिता और सुलझा ही चला गया। वहाँ से प्रश्न आते गये और वैसे उत्तरों का और जैनेन्द्र म मैं अथवा उन 'पर' से उतर-उतरकर डेरवा-डर जमा होता गया पता नहीं। जैनेन्द्र के दृष्ट्य तो चाकर उनके अन्दर ही बैठे थे और प्रश्न उद्भावनाओं का और बढ़ाने जाते थे। मैं स्वयं को दुमासन करा जाना पसन्द नहीं करूँगा और विशेष जैनेन्द्रजी की अज्ञा को द्वीपों की संज्ञा देने का दुमासन भी मर बग का नहीं है। पर मैं यह स्वीकार करूँगा कि पूरा प्रश्न करने पर भी पीर की अचूक ही उगाव पाया हूँ। अभी निगना कुछ जैनेन्द्रजी से और छता पड़ा है यह अज्ञा भी मरी शक्ति से बाहर है। पर अब दग मपुरे प्रश्न का आचार्य भी दाग बर्माधितारी से जैनेन्द्र का 'जीवन दान' बताया तो मरी प्रश्नप्रता भी सीमा न रही और मैंने स्वयं को दृढ करने मगसा।

## जैनेन्द्र का दर्शन

आज मैं सोचता हूँ तो आश्चर्य से भर उठता हूँ कि क्यों और कैसे जगद्वरी स सितम्बर तक कुछ खाती गये दिनों को छोड़कर पुरे छह महीनों तक प्रतिदिन कमकानगर से चलकर हरियार्यत्र तक मैं पहुँचता रहा और तीन-चार घण्टे दैनिक जैनेन्द्रजी पर प्रणम करता रहा और उत्तर टाँकता रहा। मैं जो इतना सम्मान टिक सका उसका श्रेय सब ही मुझे नहीं पहुँचता। महत्त्व प्रश्न का नहीं है। कौन है जिसकी आँखें शान्तत प्रणम से शून्य है? महत्त्व उस उत्तर का है जिसको पीकर उत्सुक आँखों में जलक आ जाय चुंब छँट जाय और रास्ता मूमने लगे। ऐसे ही उत्तरों के प्रकाश में गये पति-चिह्न बीज-बीज बात है कल्पना और बुद्धि में सक्रियता आती है और व्यक्तित्व में एक भराव एक उत्तीर्णता अनुभव होती है। मैं कहूँ कि जैनेन्द्रजी की प्रतिष्ठा मुझ पर ठीक ठमर वैसी ही हुई। उन दिनों मन जैसे उन विचारों और बचनों से भरा रहता था और एक दिन की चूक भी बुरी लगती थी। अठेय जैनेन्द्रजी मुझे ग्रीक अभिभावक गुरु से बढ़कर एक समव्यस्त पर सर्वज्ञ मित्र के समान लगन लगे थे जिनका मान सिक-हादिक सामिन्म मानो मेरे लिए अभिचार्य बन गया था। ऐसा क्यों सम्भव हो सका? क्योंकि जैनेन्द्रजी इतने निर्द्वन्द्व हैं कि वे बौद्धिक साहित्यिक गरिमा और स्वाति से अनभिभूत रहकर सामने बैठे व्यक्ति के समस्त तक उत्तर सबत और उल्लेख हृत्-तारों से अपने हृदय के तारों को मिला सकते हैं। मैंने देखा है कि उन्हें हर आयामुक से चुहल और चर्चा करने में और उसके मन और बुद्धि को कुलने-टटोसने में बड़ा रस मिलता है। उनकी इस प्रवृत्ति का उद्देश्य मनो-रंजन करना बल्कि अपनी विद्वत्ता की शक्ति जमाना कदापि नहीं होता। उनका लक्ष्य व्यक्ति का अध्ययन करना उसकी सहानुभूति प्राप्त करना और उसे सहा नुभूति देना ही होता है। उनके यहाँ हर किसीका स्वागत है। और हर किसीको अपसर है कि वह उनके सामने स्वयं को कास लके निरुत्तर न कर सक। मैं समझता हूँ शून्य ही हुआ कि जैनेन्द्रजी सरकार के अथवा विरचविद्यालय के निर्मा पद पर पदाधीन न हो सके। ऐसा हो जाता तो वे इतने पदार, कुछ निरुत्तारी और निर्द्वन्द्व न रह पाते। न मुझे उनका इनका सम्मान साक्षात्कार धन की मुचिधा मिल पाती और न ही उनके उत्तर मुझ अभिभूत कर पाते। क्योंकि तब बराबिन् के व्यक्तित्व की उपर्युक्त विशेषताओं में निष्ठ और प्ररित न हूँ। इन उल्लेखों की प्रभाव-शक्ति का दूसरा कारण यह है कि प्रीति-रम में भीम य उत्तर दिने बौद्धिक अथवा अकादमीय स्तर से नहीं आये हैं। जहाँ तक मैं जान पाया हूँ जैनग्रन्थी का अध्ययन बिज्ञान नहीं है। जो कुछ मैं पढ़ा-बहुन वह पढ़ने हैं उस में स्पष्ट रूप में स्मृति-कोष में जमा नहीं रहते बल्कि उसके तत्त्व अथवा प्रभाव को रस

रूप में स्वयं में पचाकर सब-कुछ भूस्र जाते हैं। बरसा हुआ जब उनकी बुद्धि के गाँव में दब-दबा होकर बमबसा और सड़ता नहीं है बल्कि उनके अन्तरंग में रिस-बीर उठर जाता है। ऐसा व्यक्ति कभी भी बौद्धिक अकान्मीय स्तर से बात नहीं कर सकता। उसकी बातें अन्तरंग से निगूँत होती हैं वे स्वानुमति और सम्बुद्धि की होती हैं। एम व्यक्ति का स्पृष्ट विवेक और प्रयोजन इतना पार-दर्शी बन जाता है कि वह अन्तर्मन में निहित व्यथा और अनुभूति को ढँक नहीं पाता। स्पृष्ट मातारिकता और रूढ़ अहंता के बराब से मुक्त जैनेन्द्रजी का चिन्तनशील अन्तर्मनस मानो अमल अस्तित्व का अपन में घर सने में समर्थ बन गया है। परिभाषित जीवन और जगत् के असम्य सत्य उनके मानस-घट पर बनायास शक्ल उठते हैं और उनके निरलस बहिर्मान बहिर्विवेक को बीपकर ऊपर उलक-उलक जाने हैं। वे सत्य इतने स्पष्ट मौलिक एवं पने होते हैं कि बमबसा करते हैं। वे हृदय का कुल एवं बुद्धि को स्वच्छ बनाते हैं। जैनेन्द्रजी के स्वभाव का अपनस वाक और उनके विचारों की वह धूम निगूँत मौलिकता ही है जो धोता और पाठक को विमुक्त-विमोहित करती जाती है। इनमें उनके विचारों की शक्ति और उनकी अभिव्यक्ति की मधुरी कला का रस्य निहित है।

### साहित्यिक जैनेन्द्र

पूरे हिन्दी-जगत् की तरह मैं भी जैनेन्द्रजी की प्रेषण के सिध्य एक कहानी-कार एवं उपन्यासकार के रूप में ही जानता था और उनके विचारक रूप को एक 'पाठ' ही समझता था। पर इन एक वर्ष के निरन्तर सम्पर्क में मुझे यह सूझ हुआ कि जैनेन्द्र का विचारक रूप उनक कथारार का न बही अपितु महत्त्वपूर्ण है। बरन् बही उनका मूल सघर्ष का है। विभिन्न साहित्यकार अलग-अलग प्रेरणाओं से प्रेरित होकर लिखते हैं। कोई किसी घटना से कोई किसी चरित्र से कोई एक आनन्द स्वप्न से और कोई हृदय की किसी भावना से। अपने हृदिकार जीवन के आरम्भ में ही जैनेन्द्रजी उन सग्यों की प्रेरणा से लिखते हैं जिसका माता-पिता उन्हींने जानी बुद्धि में नहीं जानी सम्बुद्धि में अन्तर के गहनमन में किया है। जैनेन्द्र जीने एक सत्य-आशाकार स्पष्ट परिष्कृत मधुर्न बना गया उनका विचारक रूप निरलस गया और साथ ही अपना कथारार उन्हींकी अपनी दृष्टि में मौल्य बनता गया। प्रमुता 'मयव और हम' को इसी विभाग का ही मयवे अन्तर्कर्म बनी जानता होगा। मुझे विश्वास है वह सत्य जैनेन्द्र का प्रयास मौलिक साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित कर लेगा। ऐसा हुआ मुझे बहुत आश्चर्य प्रतीत होता है, जैनेन्द्र-साहित्य की प्राण प्रतिष्ठा के लिए भी और इतिहास भी कि जैनेन्द्र की विचारणा में बहुत कुछ ऐसा है, जो आज के—वैज्ञानिक

वस्तुवासी आलोचनाप्रबन्ध पर तितर-बितर सङ्ग्रह—मानव को वैज्ञानिक मानना सन प्रदान कर सकता है और उसके सामान्य मनु और जीवन के वास्तविक मूल्यों का वैज्ञानिक विवरण प्रस्तुत करके उसे उनके प्रति निष्ठावान् बना सकता है। आज के मानव को ऐसी निष्ठा की सबसे बड़ी आवश्यकता है क्योंकि उसका चित्त वह विज्ञान की भीषणतम प्रत्यक्षरी शक्तियों को अपने बस में रखन और उनके दुरुपयोग से बचने की क्षमता प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसी निष्ठा अन्य-अज्ञात पूज्य धर्म-सम्प्रदायों स्वयं-अतिपादन-प्रबन्ध विद्वान्वादी धार्मिक मत-मता मृत्यु और साहित्य-कला के सजावटित सांस्कृतिक कायकर्मों में से मिल पाती असम्भव है। वह तो आस्तिकता की उस अन्तर्बुद्धि में से ही प्राप्त हो सकती है, जो ईश्वर, जपन् और जीवन का वैज्ञानिक निरूपण हमारे सामने प्रस्तुत कर देती है। मुझे जैनधर्म में वह अन्तर्बुद्धि मिली है। हो सकता है कभी-नभी उनके विचार जटिल अन्वयबोध और असाधारण आर्त-काव्य के से लगे। पर यदि उन पर सचत एवं उत्तीर्ण मानस से विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगी कि वे अनुभूति के सत्य पर आधारित हैं और उनमें और हमारे विचारों में कहीं भी तो विरोध नहीं है। बस हुआ यही है कि वे स्पष्ट सत्य और संस्कारों की परतों को कुछ अधिक अलट-पलट कर हैं और अधिक गहरे उतर घरे हैं। हम स्पष्ट समझ लेते कि उनके सत्य पूर्णतया व्यावहारिक हैं और वे बहिर्जन की कड़ सीमित प्रयाजन-बद्धता और स्पष्ट काम-हानि के गणना-विवेक को अन्तर्जन में मरी अन्तर् विद्युन्नेतता से जोड़ सकते और इस प्रकार अन्वय साधारण मानव में निहित समाधारण सम्भावनाओं को उन्मुख कर सकते हैं।

## ज्ञान की एकांगिता

ज्ञान का विषय-विस्तार कहीं से कहीं तक है यह विवादास्पद है। पर यदि वर्तन मध्य का अर्थ सत्य-साधारण किया जाय तो ज्ञान-विज्ञान के सभी विभाग ज्ञान की शाखा-प्रशाखा बन जाते हैं। प्रकटतः धर्म-साहित्य कला-साहित्य इतिहास-अपराध शास्त्रीय-समाजशास्त्र रसायन एवं भौतिकशास्त्र ये सभी विषय ज्ञान की समृद्ध और परिपूर्ण करते हीन पड़ते हैं। इन सबके अन्तर्गत सत्य (Ultimate truths) ज्ञान के अन्तर्गत हैं जो मिलकर विज्ञान सत्य को अन्तिम और प्रमाणित करते हैं। पर वर्तन ज्ञान के इस अन्तर्गत में कहीं भी मान्य न हो सका। क्यों ऐसा हुआ यह अध्ययन का विषय है। मानव-अन्तिम को दो मान भागों में बाँटकर देगा जाता है, मानसिक और भौतिक। यह दोनों विभाग निरन्तर एक-दूसरे की प्रति और पुष्टि करते रहते हैं। दोनों के अन्तर्गत सह-अन्तिम एवं सह-गमन से ही मानव के व्यक्तित्व में पराजयता कर्मभ्यता



एवं कृतार्थता या सृज्यती है। पर समयमय सत-प्रतिपत्त प्राचीन बायनिकों ने इन यथोपीत विधानों के बीच लिखी बौद्धिक समीर को पारपर की सकीर ही नहीं बना डाला बल्कि इस कृत्रिम ईश को अधिकाधिक पक्का किया। उन्होंने एक पक्ष के शोनों दुर्बलों का उस सम्मिश्रित निष्कारुने क बचसे एक सण्ड को प्राप्त और दूसरे का अधास्य भीषित कर दिया। उन्होंने मूलम मानसिकता को इतना आरपन्थित महसूस किया कि स्मूल पारिरीकता और भीतिकता अस्पृश्य बन गयी और वे प्रथम को सन् ( है ) और दूसरे को असन् ( नहीं है ) कहन पर बाध्य हो गये। इन प्रकार दयन अस्तिव्य के मानसिक-बौद्धिक अध्ययन तक सीमित हो गया। इस भीति-वैज्ञानिक पक्ष की शिक्षावर्ति का परिणाम यह हुआ कि दार्शनिकों के पास सत्य-साधनाकार का साधन रहे गया—कबल धींगिर सम्बुद्धि अथवा हलदाम। वे फिर इस तरह उपसम्पन्न मत को पार प्रमाण तर्क-वितर्क वितण्डा द्वारा सिद्ध और पुनस्सिद्ध करने में जुट गये।

सभी दार्शनिकों ने अध्ययन के लिए त्रिभविष्यों को चुना वे रहे—सृष्टि ईश्वर, आत्मा मन बुद्धि वसे जन्म-मृत्युर्जग्य मुक्ति विषय आदि। ये मौलिक महाग्रन्थ हैं। और एतत्-सम्बन्धी मानवीय विरवास और भास्यताएँ आदिकाल से मानव-जीवन और अविष्य को प्रभावित करती रही हैं और करती रहेंगी। पर यह मानना होना कि दार्शनिकों के समाधान विवने की अन्तिम क्यों न सिद्ध हों वे विरवास और अल्प विरवास पर आधारित और अपने पोषक रहे, वैज्ञानिक प्रयोगसिद्ध स्वातन्त्र्यों का रूप उन्हें कभी नहीं दिया जा सका और वे कभी वैज्ञानिक विवेचन-विरस्यक न पुष्ट नहीं किये गये। यह आश्चर्य का ही विषय है कि विराट् भारतीय दर्शन की किमुद्ध म्याय-व्यक्ति न प्रवीण प्रमाण की गमना नहीं है। नसित मौनिकी रणासन शिष्य यात्रिकी मध्य-विज्ञान समाज-शास्त्र जर्ब-शास्त्र आदि का वर्मान विरवास भारण से हुआ है पर इनका उपयोग उपर्युक्त महाग्रन्थों के हल में नहीं दिया गया। वे मानव-अस्तित्व की गथा और विज्ञान के निमुका गृह, देखाओं की अर्क-उगाधना से भी उनका उपयोग हुआ पर मानव विज्ञान के दाय न उन्हें कौनों दूर ही गता गया। दारशन विमानाओं की तुल्य को अनुमान और कन्या पर छोड़ दिया गया। इस प्रकार वर्ग बौद्धिक विषय और तर्क-विण्डा का धय बन गया और मानव-अस्तित्व की भीतिर समसयाओं ने उनका गायन्य एवम्न हूँ गया। दर्शन का संशुचन हुआ गया और टोम घनी उसा वीरों के बीजे से निहत पयी। यह 'एरर' और 'गूय' से दूब गया और वैज्ञानिक अस्तित्व मूल मानसिकता से दूर पड़न सार्थ और दिगा की घाना का अपनी प्ररणा बनाम से निर बाध्य हो गया।

## धर्म की जिम्मेदारी

द्वारा के इस एकलौटि मपूर्ण एवं अवैज्ञानिक आचरण के लिए धर्म-मन्त्र बहुत दूर तक जिम्मेदार हैं। धर्म का प्रेरणा-स्रोत क्या है ? धर्म क्या है ? मय जबका भंडा के बसीमून हाकर सीमित स्व का रोप विराट् में रुप करने और विराट् को सीमाओं में बाधन की आकृष्टता से प्रेरित मानव मे बिन विरवास-मान्यतामा विधि-विधानों पूजा-अर्चनाओं और कर्मकाण्डों की उद्भावनाएँ की व ही मय धर्म हैं। अधिकतर ऐसा हुआ कि ऋषियों-मैयम्बरों ने अरभ साम्राज्यार को सामाजिक-राजनीतिक सचि में डालकर विशेष धर्म का आकार दे बाधा और सम्बद्ध धार्मिकों से अपनी विज्ञासा को उस रूढ़ स्वरुपा को लांघकर अमीम में उड़न देने का साहस नहीं किया। धर्म न गुड विज्ञासा को निषिद्ध ठहृण दिया और मिमित सीमित विज्ञासा को भी अन्ध-अज्ञा का दास बने रहने की धर्म पर ही जीने की इजाजत दी। भारत में विशेषकर उपनिषद्-काल तक फिर भी यह गनीमत हुई कि आरिभ साम्राज्यार एक अकेले पैगम्बर की इन न उहकर अनेक ऋषियों के योगदान से सम्पन्न हुआ। उपनिषद्-काल तक भारत में सीमित विज्ञासा और प्रयास की काफी कुछ अवसर मिला। पर सीध ही औपनिषदिक उपलब्धियाँ रूढ़ बन गयीं। बहुत कुछ पैगम्बरीय विशेषताओं से मुक्त बौद्ध-धर्म के विरोध में वैदिक-औपनिषदिक उपलब्धियों को एक छावनी बनना पड़ा और स्पष्ट है कि आने के भारतीय धार्मिक वैदिक एवं बौद्ध इन दो वृत्तों में पककर फाटत रहे। अस्तित्व की रक्षा एक विस्तार के लक्ष्य पर धर्म-धर्म अज्ञान-विज्ञासा भावना बुद्धि ज्ञान-विज्ञान कला-शिल्प का सम्मिश्रण करके एक ठोम समाज-मंडलि व्यवहार-पद्धति और आर्थिक समृद्धि का विकास हमने भले ही कर लिया हो पर गुड ज्ञान के स्तर पर अज्ञा और विज्ञासा कल्पना और प्रयोग आदिभ्य और भौतिक को हमने परम्पर बुझने-मिलने नहीं दिया। उनके ईश को स्थिर रखा। सभी अरबी यहूदी और ईसाई-धर्मों में क्योंकि पैगम्बरबाद का बोलचाला रहा इसलिए वहाँ के धार्मिक तो विदवास और तर्क की शोक-सोंह में ही उलझे रहे। अपनी भौतिक उपपत्तियों के साम पर उन्होंने अकलार्तु और अमृत्यु का अनुवाद भर ही किया। यूनान का यह सीमाप्य ही मानना चाहिए कि वहाँ गुड बौद्धिक विज्ञासा की मुकरात अकलार्तु और अमृत्यु आदि ने नाग प्रणिता की। दारुत प्रान्तों में उलझ रहना वहाँ के सामाज्य नागरिकों का रीक बन गया था। यूनान का प्राचीन धर्म धाय अधिकांश नय पर आधारित था और बहु पूजनी मेधा को बांधे रखने में अन्धम मिय हुआ। यूनानी धार्मिकों ने अज्ञा कार्यरत मानसिकता तक गीमित न रहने दिया। वे एक माय समाजगत वैज्ञानिक और कलाबिद् भी बने। उन्होंने ज्ञान-विज्ञान की विविध धार

की उद्भावनाएँ कीं। अरस्तू ने प्रायोगिक विज्ञान को बहुत महत्त्व दिया। उसने और अन्य यूनानी साधनिकों ने वैज्ञानिक प्रयोगों को सादरत समझाओं के हस्त में निर्याजित किया। मध्योत्तरकासीन रिलों के समय क यूरोपीय वैज्ञानिकों ने इन यूनानी साधनिकों की परम्परा को ही आसिक रूप में पुनरुज्जीवित किया। आधुनिक का म इसलिये कहता हूँ क्योंकि यूरोपीय विज्ञान विगट के आरम्भकाल क और मानसिकता क गन्धर्व की उपेक्षा कर साकारित प्रयोगन के लक्ष पर बला और बढ़ा। ऐसा चर्च और दमन के रहस्यवाद और कट्टिवाद की प्रतिधिया में ही हो पाया। यदि आरम्भ से ही चर्च-दमन कीधिरता को असह्य न बठाकर उसे समान रूप में साथ लेकर चलते तो मानव विज्ञान इनना एकांगी और बिनाही न बन पाता।

### पैगम्बरवाद और सामाजिक चिन्तन

पैगम्बर-परम्परा-आम और बहुदेव-बहुव्यपि-वाद क बीच प्रभाव क परिचाम की दृष्टि म क्या अन्तर रहा है इसका अध्ययन बहुत आवश्यक है। पैगम्बरवाद का गुदा अमन और सृष्टि मे बहुत दूर और ऊपर, उसमे एकदम पुष्क एक अष्टा नियामक बादशाह का-सा अस्तित्व रहता है। वह सर्वोच्च सर्वशक्तिमान् पुस्य है और प्रवृत्ति उसका निमीता है। अमन निराकार बड़े जाते हुए भी बसका व्यक्तित्व और स्वीकृत (Personified and Deified) रूप हर मौलिक के अन्तर म स्वभावतया स्वीकृत है। प्राकृतिक तत्व-मन इन गुदा के गुलाम हैं। उनमे गुदा का दूर का भी गुन का सम्बन्ध नहीं है। एम गुदा को तात्विक बिचलन एवं वैज्ञानिक विश्लेषण का विषय नहीं बनाया जा सता। उसके अदृश्य अस्तित्व और अमानवीय वीर्य पर ईमान ही लाया जा सता है। पैगम्बरवाद और पवित्र सम्प्रदा भी मानवीय विज्ञान का पनपना और कलित होना सता नहीं कर सता। कथित लिगित बचनी-बचावनाओं की यह बीचार इतनी पतली बन जाती है कि उनके बीहिक-वैज्ञानिक परीक्षण करने और सर्वो-पात्र मान क आपात्र पर उनमे पन मड़ी करने का प्रयत्न ही पैदा नहीं होता। मन मड़ी बात यह है कि मान्य पैगम्बर के अतिरिक्त अन्य कोई भी सम्बुद्धिमान व्यवस्था ऊँचपनाही पाना है यह सम्भावनाही सन प्रविणत अस्वीकृत बन जाती है। मान-विज्ञान का विज्ञान किसी एक क नहीं अपनित ध्वनि के सम्मिलित प्रमाण का फल ही है। पैगम्बरवाद में चर्च और दमन अनिवार्यतः एक उत्तमना-मूर्ति का रूप लेकर अनुशूट, श्वादी गुजारियों और परिणत की सम्पत्ति बन जाने है और मान-विज्ञान की सम्पत्ति न उनका सम्पत् नहीं हो पाता। इन श्म म सम्पत्ति को जो सम्पत्ति बना जाता है वह बहुत-बहुत उत्तम विवेचना क पात्र ही।

## ऋषियों का उन्मुक्त चिन्तन

भारत में यम और ब्रह्म का आरम्भ बहुदेववाद और बहु-ऋषिवाद से हुआ। इन्द्र ब्रह्म सूर्य आदि वैदिक देवताओं का भौतिक रूप भौतिक नहीं। गंगा में भौतिक है। विभिन्न भौतिक तत्त्वों एवं हस्तचला को हा वहाँ देवी-देवता के रूप में संगीकार किया गया है। उनका केन्द्र जो कहामियाँ गूँधी गयीं वे उनकी मूल प्रकृति एवं आचरण से निरपेक्ष नहीं हैं। पौराणिक युग में निरपेक्ष ही देवी-देवताओं का भौतिक रूप बहुत अधिक आसक्त बन गया। कितन ही साम्प्रदायिक सांस्कृतिक विकासात्मक आर्थिक तत्त्व इनमें आ मिले और सामयिक समस्याओं की दृष्टि से भी इनमें यथासमय उल्टफेर किये गये। इस प्रकार औपनिषदिक युग के बाद से वैदिक देवी-देवता विराड् भौतिक से रहकर भाव-कल्पना-निर्मित इष्टनिष्ठ के रूप (Ideals) बनते चले गये। पर औपनिषदिक युग तक के इन देवी-देवताओं का और उनकी अर्थात् में किये जानवाले यज्ञ का बौद्धिक-वैज्ञानिक महत्त्व स्पष्ट है। उपनिषद्कार ऋषियों ने जिन सर्वोच्च देवता परमब्रह्म की स्थापना की वह भी वैश्वम्भरवादियों का पिता या बाबूबाहू लुका नहीं है। बल्कि वह परमतत्त्व है जो अन्य सभी भौतिक तत्त्वों से सूक्ष्मतरंग है। उन सबमें निहित व्याप्त और उन सबसे शक्तिशाली है। वह धूम्रवर्ण है अस्व है और रूप अर्थात् भौतिक पिण्ड उनमें से बन है वह नहीं कि उपनयनवाले हैं। उपनिषदों का ब्रह्मव्यक्तिमय (Personified) एवं मूढ-निरपेक्ष नहीं है और उसे बौद्धिक-वैज्ञानिक प्रमाण का विषय बनाया जा सकता है। देवी-देवताओं और परमब्रह्म के उपनिषद्-काल तक के भौतिक-वैज्ञानिक स्वरूप और आगे उनके अर्थमात्रिक सांस्कृतिक एवं पौराणिक स्वरूप का विकास भारत की बहु-ऋषि प्रथा के कारण ही संभव हो सका। देवताओं की बहुमत्ता और ब्रह्म ज्ञान-विज्ञान की अनन्त गहराई जिनका विकास भारत में हुआ भारतीय परम्परा में वज्रमास मुक्त विचारणा और मुक्त प्रमाण का प्रमाण है।

## ब्रह्म का विज्ञान-परिवर्तन

पर वैदिक औपनिषदिक काल की सर्वोच्चानी उच्चतम विज्ञाना आगे बढकर तथाकथित अध्यात्म में ही निहित क्यों हो गयी और अपने जन्म गरीर और मीति बना के प्रति पूर्ण निष्पक्ष का रूप बना अपना पिता यह भारतीय धर्म दर्शन और इतिहास की सबसे बड़ी समस्या है। भारतीय धर्म में जिस दिन और जिन प्रणाली के बाह्य और जगत्माया जगत्माया की ओर पहला कदम बढ़ाया यह अज्ञान है। पर वैदिक औपनिषदिक दर्शन विचारणा से एवम् विद्वान् ब्रह्म गरीर और जगत् को दुःख का मूल माननेवाली वैगर्हणी बौद्ध तीन पात मास प्रतिनिधिता मरी है आकर्षिक नहीं है। उसका मूल नहीं मुद्गर भौतिक में है इससे दृढ़तर मरी हो

बाहिए। कुछ भी हुआ हो वैदिक स्वीकारात्मक उल्कासवाद-कर्मवाद में और नकारात्मक बुद्ध्यवाद-मिथ्यावाद में एक स्पष्ट अन्तर्विरोध है। इस बुद्ध्यवाद मिथ्यावाद के प्रभाव ने भारतीय दर्शन के सर्वप्रसिद्ध उन्मुक्त प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया और उसको लघावधिन अप्यात्म ने घेर मंभूमनेवासा कोम्हू काबैल बना दिया। उपनिषद्-काल के बाद भारतीय दर्शन में अप्यात्म आत्मा ब्रह्म आदि उन्तिर्धों का अर्थ ही बनकर लघीर प्रवृत्ति-जगत् का पूर्ण निवेध हो गया। यह निवेध लघक बुद्ध्यवाद पूरे गुरु एधिया में व्याप्त हुआ और युवानी दर्शन की सोफिस्ट शागा ईसाइयत और इस्लाम के सुधियों पर उसका प्रभाव पडा। वेदान्त का परवर्ती रूप ( लांकर जैत ) बुद्ध्यवाद-निषेधवाद का ही वैदिक संस्करण है। इस बुद्ध्यवाद-निषेधवाद के प्रवाद का भारतीय क्या विरहभर के धर्म-दर्शन में एक प्रन्धि ( वाप्सकम ) का प्रवेश मानना हीया। यह धर्म-दर्शन की एकवैधीयता का सबसे बड़ा कारण बना। मुझे सयता है बौद्ध-जैन धारा में कुछ वैधम्बरवाणी लत्व भी निहित रहे जा परवर्ती पौराणिक धर्म में भी प्रविष्ट और विवर्धित हुए। इन्होंने भी दर्शन के विकास का बुध्दित किया और अन्धधरात्मक एवामी माम्यताओं को रूढ़ बनाया। धर्म-दर्शन की एकवैधीयता ही आज के नीतिक विज्ञान की चरम एकांगिता की प्रेरक बनी यह कारण बड़ा जा चुका है।

### बर्गीकरण का नया आधार

साधर धार्मिक यत्न-विचारणा का मापदण्ड अब बदलना होगा। धार्मिक धर्मों का बर्गीकरण आस्तिक-नास्तिक आध्यात्मिक भौतिक आधार पर निय जान के बदल निष्ठान्त-नापेध ( Exclusive-Inclusive ) आधार पर किया जाना चाहिए। हर लघ्य का धर्म लगेन बनकर ही गुरुधित रह सकता है। लैडानिक लल पर यह बाग सचया लघ्य है कि कर्म बन्धन का और जगत् बुद्ध्य का मूल है। पर इस लघ्य के बिरोधी जैसे बीगनेवाले बूत्तरे लघ्य—कि धर्म में ही मुक्ति मिल सकती है और जगत् चरम गुण का कारण भी बन सकता है—को क्या निरा धार और गूठ मानना होगा? यह चरमलघ्य है कि धूम्य ही लघ्य है। इस लघ्य निष्ठी को परमानुभा क्या परमलम अनुभा में टूटकर महानूय में लय हा जाना है। इगलिय यह जगत् अन्धायी है, गूग है माया है। पर महानूय में ल छिर लये रिग्न बनेगे और लय जगत् प्ररत्न हुनि यह लघ्य क्या माया गिज्ञान्त ल कय धरलघ्य है? महानूय ध—गुरुधाय लघ्य में ही गही—साये भुन लारी भौजिता लिय बनमान गती है दह लघ्य क्या लरेजर्नीय है? मानक क्या वेबल आया या बबल लरीर का लेरत्न जी मबना है? दह लघ्य है कि आग्निकता और भौजिता दोनों का लघ्य लिये बिना गायानुभूति और लघ्य-साज्ञा-लघ्य असम्भव है। इसी बाग का

दृष्टि में रखकर मैंने एक बार अध्यात्मवाद धर्म्यवाद और मायावाद को खीर दूधरी और गिरे वैज्ञानिक भौतिकवाद को एकदोसीय बताया है। उनके प्रति अथवा प्रकट करना मेरा उद्देश्य नहीं है। वेदान्तिनों के 'अहं ब्रह्मास्मि' और भौतिकवादियों के 'व्यक्तिवाद-समाजवाद' में झुकी अमोघ प्रेरणा निस्सार नहीं है। पर जिस स्तर पर मानव-मंशा पहुँच चुकी है वहाँ उनकी एकांगिता को समझ लेना भी तो बहुत आवश्यक है। एकांगी धर्म्यवाद-मायावाद ने भारत के वैयक्तिक-सामूहिक पुष्पार्थ को कितना क्षय किया और उसे बाह्य आक्रमणों के लिए उन्मूलित कर दिया इसका ऐतिहासिक अध्ययन उतना ही अनिवार्य है जितना इस बात का कि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध भाग में वा प्रत्यक्ष विरह-मुक्त मानव की किस हीनता के कारण सम्भव हो पाया। एकांगिता की दृष्टि से अध्यात्म-भौतिक दोनों वर्णों का एक यणी में रहना मुझे उपयोगी लगता है। और दूधरी अणी में उन वर्णों को रखा जाना चाहिए, वा इन दोनों को सापेक्ष मानकर चले हैं।

### प्रस्तुत प्रश्न

आज का वैज्ञानिक मानव यदि तत्काल ही उपर्युक्त दूधरी अणी के सापेक्षता वाली अवधि अध्यात्म-भौतिकवाद को परस्पर पूरक रूप में लेकर चलनेवाला एक नय सर्वांगीण दर्शन को न अपना सके तो वर्तमान सभ्यता का विनाश निश्चित है। चरम सत्य और स्मूक व्यवहार इन दोनों को समान रूप से सामने की लमटा क्या हमारी वर्तमान सभ्यता रखती है?—यह प्रस्तुत प्रश्न है, वा आज वर्तमान का वर्तमान वैज्ञानिक संस्कृति के सामने रहना है। जिसकी शक्ति से दर्शन इस प्रश्न को मानव-समाज व सामन राज पायेगा उतनी ही उसकी महत्ता और कृतार्थता सिद्ध होगी। जमींदारी और बीसवीं सदी के किछने ही वर्तमानिकों ने उपयुक्त प्रश्न को छोड़ा है और उस पर अपने-अपने ढंग से विचार किया है। भारत में स्वामी विवेकानन्द ने पहली बार इस समस्या की गम्भीरता का अनुभव किया। उनकी प्रचण्ड भाषा में अध्यात्म और भौतिकवाद माना गल-विपत्तिकर एक बन गये। पर स्वामीजी के समय में विज्ञान का भय उतना उग्र नहीं बन पाया था जितना वह आज है। इस प्रश्न को सबसे अधिक ठोस और प्रथम रूप में महात्मा गांधी ने रखा। पर उन्होंने ऐसा बागी के माध्यम में नहीं कर्म के माध्यम से किया जिसके अर्थ हमसे सत्य से माफूम पड़ता है, आज बहुत दूर पड़ चले हैं। काव्य-शैली से कबीर राबिन्द्र ने और दार्शनिक विवेकन की पद्धति अपनाकर श्री अरविन्द ने उपर्युक्त प्रश्न को ही आज की मानवता के सामने उठाया। पर यह प्रश्न अभी भी मानव-जाति के अन्तराल में उतर नहीं पाया है। हम सम्भव या संशुम्भ वा महत्त्व समझ नहीं पाते हैं। उसने अपने रक्त में जोलना हमें अशक्य भावूम पड़ता है। हमारी 'चरम सत्य'

और 'स्वतन्त्र व्यवहार' की समस्त बायीं भाषेस और व्यावहारिक नहीं है क्योंकि अधिकतर बार्निगन ने इनका विवेचन बौद्धिक स्तर पर किया है, भ्रष्टा के स्तर पर नहीं।

### जैन-दर्शन

जैनग्रन्थी शापेसाभावादी विस्तारों की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्होंने समन्वय व महाप्रसन्न का उद्घाटन है और इन पर केवल बौद्धिक रूप में नहीं हार्निक तल पर विचार किया है। उनका दर्शन इस युग के लिए अनिवार्य दूसरी धेवी का है। उनकी विचारणा व्यापक समुत्पन्न से समुत्पन्न है। यह परस्परविरोधी भाष्यताका से टकराती हुई नहीं बल्कि उन्हें अपने में सहेजती समष्टी बनती है। विभिन्न तत्वा का उनका विवेचन मात्र परम्परागत व्यवसायिक म होकर, मौखिक एवं अकादमिक है। उन्होंने अपनी विचारणा को विपुल व्यापारिक व्यवसाय मात्र भीतिक तल पर न टिककर ब्रह्म और अहं के उच्च मूल स्वरूप पर आधारित किया है, जिसने आत्मा और पिण्ड दोनों सहज समाविष्ट है, जहाँ उन दोनों में घटिया नहीं है और वे अद्वैत रूप में प्रकट अकथित आधारक करते हैं।

### चार मूल तत्व

मैंने 'भारती' में प्रकाशित अपने लेख 'जैन-दर्शन के मूल तत्व' में जैनग्रन्थों को चार मूल तत्वों पर आधारित किया है। ये हैं—१. अहं अथवा आत्मा तथा २. अहं ३. स्व-शरीर की चुनीली व्यवसाय परस्परता ४. अद्वैत। जैनग्रन्थी जीवन-व्यवस्था के शास्त्र प्रस्ता का क्या समाधान प्रस्तुत करते हैं और हमारी वैज्ञानिक मन्थना के सामने उपस्थित अप्रामाण्य मौखिकवाद के समुत्पन्न की समस्या का उन्होंने किसनी महत्त्व में अनुभव किया है, इसकी कुछ शोधी भावे उत्तमुरा चार मूल तत्वों का विवेचन करते हुए देवाने का प्रयास मैं करूँगा।

### अहं की लोभ में पहला धरण

'जिसके बारे में हम कुछ बता नहीं सकते' उनका बारे में हमें कुछ रहना चाहिए। निगमनन व यह उक्ति यद्यपि ईश्वर के अस्तित्व और स्वभाव पर पूरी तरह गहरी उतरती है तब भी मानव की बुद्धि और उमरी बायी ईश्वर के विषय में कभी भी निष्क्रिय नहीं रहती। ईश्वर मानव प्रजा के सामने उपस्थित सबसे बड़ा रहस्य है। मानव में अनेक अस्मिता के गुरुर आदिवाक में आज तक इस रहस्य के उपपादन का अनवरत प्रयास किया है। इस प्रयास के प्रगति कम वा कुछ अध्ययन किया था

संख्या है। इस विभिन्न विराट सृष्टि में पुरातन मानव की अपरिपक्व बुद्धि ने उन विभिन्न कुर्व्य शक्तियों को सक्रिय पाया उनको उसने अपनी कल्पना के द्वारा मानवी मानवेतर अथवा मिथित काया-वस्त्र पहनाकर अपने देवी-देवता बना लिया और उनकी पूजा क टिए बृहद् मन्त्रियों, रक्ष्मणमय विधि-विधानों एवं मयामक पर मना रत्नक प्रपाशों की सृष्टि की। किसी यूनानी और रामन देवी-देवताओं के बिना देखकर और उनके कार्य-कलापों के विवरण पढ़कर पता चलता है कि आदिम मानव ने ईश्वर को बिभक्त भौतिक शक्तियों के रूप में देखा और समझा। उसके अनुसार संसार और मानव का भाव्य इन क्रूर, निरक्षुष शक्तियों की मुट्ठी में है और य उसका प्राय मनमानी करने में अमानुषीय रस छेते हैं। पर सनी देवता एमे नहीं हैं। कुछ सरस उदार और सख्य भी हैं जो आधुनिक शक्तियों के बिना मानव की सहायता करते हैं और उसे सीमाव्य प्रदान करते हैं। मानव की कल्पना ने इन सुरामुचों के बीच मजेदार गोक-शोक और भीषण युद्ध कराये हैं। होमर के इलियड आदीषी में इन सबका रोमांचक पर अनुरेक बिच प्रस्तुत है। एक विषेय बात यह कि अपनी विभिन्न शक्तियों कामनाओं, वासनाओं का आरोप भी मानव ने इन देवी देवताओं में किया और अपना जातीय इतिहास भी इनकी कथाओं में यूँय दिया। इस प्रकार विराट भौतिक शक्तियों को उसने अपनी मुविधा के लिए आकर-रकड बना लिया और अभिजात भय से प्ररित होकर वह उनकी पूजा करने लगा। मानव की ईश्वर-अम्बग्वी इस आदिम कल्पना का बिगुड ममूना यूनानी देवी-देवताओं में देखा जा सकता है। भारतीय ( भार्य ) देवी-देवता भी 'ग्रीक पाइस' के समान ही बस्मिन् दृए होंगे पर भारतीय देवी-देवताओं का रूप भारतीय वर्ण और संस्कृति के बिकास के साथ बहुत ससृष्ट और परिपूत हो गया। वे जतन आदिम न रहे। दूसरे वे आरंभ से ही अमूर्त रहे, मूर्त नहीं। भारतीय कल्पना का रज गुरु न ही मूकम की ओर रहा। ग्रीक और भारतीय देवताओं का अन्तर भारतीय 'इन्द्र' की उसके समकक्ष ग्रीक 'जियस' से तुलना करने पर स्पष्ट देखा जा सकता है। पर इन सनी आदिम देवी-देवताओं में कुछ समान तत्त्व स्पष्ट हैं। इन सनी में भौतिक दुर्दय शक्ति का बोलबाका है। वे अमानवीय अलौकिक कारणों के रूप में मनम हैं। मानव की बुद्धि इन शक्तियों में स्थूल दृश्य रूप पर ही अटकती है। वह इनकी अनन्यता में एकता खोजने और पाने में प्रवृत्त नहीं हो पाती है। सभी मानव स्तुत-स्तुत दृश्य-अदृश्य भौतिक-आलिक में स्पष्ट बिभट-विदेड नहीं रगता। वह भौतिक शक्तियों को अपनी अन्तःशक्तियों के बाये से देखता और समझता है और अचरित भाव से लोगों का मिथन कर उसने अपने लिए उन्नुक्त देवी देवताओं का निर्माण कर लिया है। यह ईश्वर की खोज में मानव का पहला करम था।



## एकेश्वरवाद

भारत में ही यद्यपि मानव अस्तित्व की समग्रता का लेकर जना पर उसकी गति सम्बुद्धि और मान से ही प्ररित रही। विवेकपूर्ण प्रज्ञा की शक्ति उस अभी उपलब्ध नहीं हो सकी थी। जब इन देवताओं की निर्दोषता से तब सामाजिक-राजनीतिक-मनोवैज्ञानिक कारकों ने विविध मानव को एक दिन अनुमति हुई कि देवी-देवताओं की इन स्तुत मूर्तिक मूर्तियों और इनके विरुद्ध करिषों में असत सत्य और शक्ति का निवास नहीं हो सकता। सक्ति स्तुत सत्य नहीं है वह मूर्ख है। वह सुगुण नहीं निर्गुण है। बुद्ध नहीं अव्यय है। नित्य की घटित घटना मृत्यु ने भी किसी मूर्ख सत्य की ओर संकेत किया होगा। इस प्रकार धार्मिक कृतियों के बीच एक नयी नींव में जन्म लिया। जिसे आज की भाषा में 'एकेश्वरवाद' कहा जा सकता है। मूर्ख और अव्यय की ओर बढ़ते हुए मानव के चरण दो विद्याओं में बैठ गये। प्रथम चरण ने अनभिगत देवी-देवताओं में एक को सर्वोच्च शक्तिवादी और देवाधिप बोधित किया। यूनानियों का जियस यहूदियों का जहाँना आयों का बरुन मा इन्द्र एन ही देवता थे। यह चरण सीधा एकरवस्था-पैगम्बरवाद तक पहुँच गया। ईसाईयों-मुसलमानों का 'सुबा' यही पुरातन सर्वोच्च देवता है जिस पर से मन्दिर मूर्ति और पूजा-अर्चनाओं का आचरण हो उतार लिया गया है। पर जिसकी सर्व शक्तिमान् निर्दोषता को सुगुणित रक्त लिया गया है। यह लुटा उपास्य श्राव्य और विवेक्य नहीं है। यह बहुत ऊँचे सातवें आसमान पर खड़ा है। इस तक तो विनीत-मध्यमोक्त दुआएँ ही मान्य पैगम्बर के मान्यम से भिजी जा सकती हैं। एकस्वर वाद की सबसे बड़ी विवेकता यही है कि इसमें दुस्मादुस्म, धार्मिक-भौतिक का विवेक जाने-बूझने बिना ही भौतिक शक्तियों से एकदम असम और सृष्टि से बहुत दूर, ऊँचे एक अदृश्य पर सर्वोच्च श्रष्टा निर्दोष 'सुबा' को मान्यता दे दी गयी और श्रष्टा-सृष्टि का ईत स्वास्थि कर दिया गया। जीव सृष्टि का अंत बना श्रष्टा का नहीं। यह ईत देवी-देवताओं के युग में उतना निर्दिष्ट और स्पष्ट नहीं था। तब जैसे देवता और मानव परस्पर एक विशिष्ट भीषण नीड़ा में संलग्न न १ समान नीड़ा का स्थान जब मानव की गुमायी ने से लिया। मध्य-पूर्व (Middle-East) के देव ईश्वर के मूर्ख अक्षुण्ण ब्रह्मण्य को 'उत्तक उपर्युक्त 'गुन' रूप से कमी थी पृथक् न कर पाये। इसीलिए वहाँ एकेश्वर-साधना यद्यपि भारत से ही रही पर उपनिषद् के ऋषियों की साधना जैसी स्वच्छता और स्पष्टता उसमें कमी न जा पायी। दोनों में अन्तर रहा और नहीं अन्तर 'सुबा' और 'ब्रह्म' में है।

ओर बढ़ा। ऐसा भारत में ही हो सका क्योंकि वैदिक देवता मौखिक शक्तियों एवं परिस्थितियों के अनुरूप प्रतीक ही रहे। मूर्त ब्रह्म और ब्रह्म के नहीं बन गये। ऋषियों का चिन्तन सहज रूप में उस सूक्ष्मतम अव्यक्त तत्त्व की ओर बढ़ सका जो मौखिक शक्तियों की प्रेरणा है और सभी द्रव्य पदार्थों में अव्यक्त बनकर व्याप्त है। इसे उन्होंने सभी देवताओं से परम कहा और ब्रह्म नाम दिया। उपनिषदों का यह ब्रह्म व्यक्ति नहीं बल्कि परम सत्य और चरम सत्य है। ब्रह्म सारी वास्तविकता का स्रोत है। जगत् उसके हाथों में बनी बस्तु नहीं बल्कि उसका अंग है। सृष्टि उससे बनी है। चायद ब्रह्म उस सर्व-व्यापक विराट ऊर्जा चेतना का नाम है जिसमें क्रमशः सूक्ष्मतर कामना (Will) नीति (Law) और विचार (Idea) अन्तर्गमित हैं। कोई एक पदार्थ सूक्ष्म ऊर्जा (Energy) से घूँस नहीं। ऊर्जा से सूक्ष्म कामना उससे सूक्ष्म नीति और उससे सूक्ष्म विचार है। और उससे भी सूक्ष्म चायद पीड़ा है। ये सभी तत्त्व ब्रह्म में परस्पर की तरह मिश्रित और अनुजों की तरह मिश्रित हैं। चायद ऐसी ही कल्पना के आधार पर ब्रह्म को सत्-चित्-आनन्द रूप कहा गया। पर उसकी अदृश्य सूक्ष्मता और अकल्पनीय विराटता का दृष्टि में रखकर ही किसी रहस्यवादी इरनेशन (१३७५-५८ ई० पू०) से लेकर औपनिषदिक ब्रह्मवादी तक और भर्तृहरी मुस्लिम सूफियों से लेकर आधुनिक रहस्यवाधियों तक सभी ने उसे बुद्धि मन और बचन से परे कहा। उपर्युक्त सभी तत्त्व आधुनिक-आधुनाधिक रूप में जीवन में निबद्ध हैं। उनका सर्वश्रेष्ठ अनुपात मानव में उपलब्ध है। अर्ह ब्रह्मास्मि' 'शिबोर्ह' 'अनमहक' आदि उक्तिवाँ इन्हीं अर्थों में चायद सबसे अधिक सार्थक हैं।

### जैनेन्द्र का ब्रह्म

वहाँ तक मैं समझ पाया हूँ जैनेन्द्रजी का ब्रह्म यही उपर्युक्त ब्रह्म है जो प्रकृति जगत्, स्फुट स जड़ है और व्यक्तीकृत ईश्वर, 'गुरु' या 'पाद' में भिन्न है। सम्बुद्धि में साक्षात्कृत यह ब्रह्म आधुनिक ब्रह्म और विज्ञान का अग्रगण्य नहीं है। हीनक बस्तु-सत्ता की समग्रता की ब्रह्म मानता है। उनके अनुसार इतिहास का सन्देश ही यह है कि ब्रह्म सतत अग्रसर है। सिनोजा कहना है ईश्वर और प्रकृति मूल रूप में एक थे (Deus Sive Natura)। एक अल्प वास्तविक ईश्वर और सृष्टि को एक साथ ही अस्तित्व में आया हुआ वापिन करता है। वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार भी सूर्य समस्त सब यह एक ही वायव्य वायव्य में बने थे। भारतीय परम्परा में भी सूक्ष्मतम मौखिक तत्त्व आशय है जिसमें धर्म सूक्ष्मतर तत्त्व गमिन है। द्रव्य विद्या परीक्षा और समुद्रों का पित्रककर गैर बनना और द्रव्य में अनुप हो जाना और फिर द्रव्य में स द्रव्य अस्तित्व में आ जाना अनीता है पर अविनाशनीय नहीं। अन्तरिक्ष के यह-अविनाश में एसा निरन्तर होता रहता है। इन प्रकार

स्वूमतम पिण्ड से सूक्ष्मतम विचार तक ब्रह्म की अवस्था सृष्टि की विभिन्न तहों को खाजा और चोखा जा सकता है। भौतिक ऊर्जा और वैदिक वेतना के बीच बिना-पन-रेखा खींचने से बरके दूसरे को पकड़े का विकास मानना अभिन्न वैज्ञानिक और बुद्धि-संगत रहेगा। यदि इनका ईश ही सब ही तब भी दोनों को एक-दूसरे के लिए अनिवार्य और दोनों का एक ब्रह्म में अन्तिम विराम तो मानना ही होगा। परमाणु अविनाश्य नहीं है। इसलिये उसके स्पूटन और प्रीमेल के बीच दृश्य अन्तर भी अन्तिम नहीं है। फिर सभी स्वूल-सूक्ष्म तत्त्वों की तरह अन्तर मानी ईश भी तो ब्रह्म में ही मूँह खुलायगा। इस प्रकार प्रकट है कि ब्रह्म का उपर्युक्त स्वल्प सुद अन्धकार बादी ब्रह्म और सुद भौतिकवादी प्रकृति के भय विर्था सीमा-रेखा को मिटाता हुआ दोनों को अपने में समेट लेता है। यह ब्रह्म केवल प्रय और अन्वविस्वास का विषय न रहकर सम्बुद्धि और प्रज्ञा का उपादान बन जाता है। इसकी विराटता अद्वय्य मानव की जिज्ञासा और पछा दोनों का विषय है। पर यह ब्रह्म विकासवाद से परे है क्योंकि विकास अंश का होता है, समग्र का नहीं। वह अविशेष्य है, क्योंकि असीम मानवीय प्रज्ञा की सीमा में नहीं बँध सकता। ब्रह्म की वेतना ने ब्रह्म की इसी रूप में पाया और समझा है।

**आश्चर्यता नहीं विराटता, समग्रता**

इस प्रसंग में एक बात और रह गयी है। सूक्ष्मतम की खोज करते-करते मानव स्वूल को हेम और तिरस्कार्य क्यों मानता चला गया? मुझे लगता है, ऐसा सूक्ष्मतम की खोज के साथ-साथ एक निरव्य धारण तत्व की खोज के कारण हुआ। स्वूल भौतिक नरवर है। तब अन्तर स्वायी धारण क्या है? सूक्ष्मतम ही चिरस्वायी सास्वत है। स्वायित्व के खोजियों ने सूक्ष्मतम को ही ब्रह्म अथवा परमात्मा की खोज की और स्तरों की मानने से इनकार कर दिया। सूक्ष्मतम को छोड़ सूक्ष्म सूक्ष्मतर और स्वूल सब उपलब्धीय बन गये क्योंकि उन्हें अचक ब्रह्म की नरवर प्रकृति माना कहा गया। पर प्रकृति के रूप नरवर नहीं, मात्र परिचरुनीय है। प्रकृति स्वूल ब्रह्म है। आत्मा या परमात्मा को सूक्ष्मतम परम नित्य तत्व का पर्याय मान लिया गया। धीरे-धीरे और प्रकृति आत्मा-परमात्मा से बृहत् दूर बढ़ गये और उन्हें ब्रह्म की खोज मिल गयी। यह बहुत कुछ भ्रम के कारण ही हुआ। प्रमाण यह कि ब्रह्मसूत्र 'पुरुष' ने स्वयं को परम ब्रह्म का प्रतीक और 'स्त्री' का प्रकृति का प्रतीक चोपिन किया। यह पावणा हास्यास्पद और असंगत है। तैत्तिरीयानिषद् में आत्मा सम्य धीरे-धीरे ब्रह्म तक के लिए प्रयुक्त हुआ है। वही प्राचमय आत्मा मनाचय आत्मा विज्ञानमय आत्मा आनन्दमय आत्मा का वर्णन है। भुव के आनन्द में अन्न का ब्रह्म कहा गया है। इस प्रकार उपनिषदों में आत्मा नाम 'सत्' (अस्तित्व)

की समझता को दिया गया है, मान गर्भस्थ सूक्ष्मतम को नहीं। 'आत्मिकता आत्मीयता' आदि उक्तियाँ भी किसी सूक्ष्मतम के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होती। उनका अर्थ परस्परता होता है और परस्परता एकांगी सूक्ष्म-स्तर पर नहीं समझ के तल पर ही सम्भव है। इस प्रकार ब्रह्म की बिगुल समझता के रूप में देवता और मानना सभी दृष्टियों से सार्वक और उपयोगी है। भीता के विराट रूप दर्शन के माध्यम से प्राप्त यही बात नहीं गयी है। हिन्दू-दर्शन में ब्रह्म का समझ का स्वीकृत है पर उपनिषद्-शास्त्र के बाद प्रसन्न एकांगी आध्यात्मिक परमबृहत् रूप मानने में प्रतिच्छिन्न हो गया। यह प्रतिच्छिन्न ही मायावाद का प्रेरणा-स्रोत बनी।

### आस्तिकता

उपनिषद् के ऋषियों से लेकर आधुनिक विचारको तक किन्तों ने ही ब्रह्म के उपयुक्त समझ विराट् रूप का समय-समय पर साक्षात्कार किया है। यही साक्षात्कार जैनेन्द्रजी ने भी किया और उसीमें से उन्हें ब्रह्मभावनाएँ मिली जो बाद बाद धर्म मानेवाले सूर्य सत्य को उद्घाटित करती हैं। जैनेन्द्रजी ने इस ब्रह्म को विनशात और उपासना का विषय मान न रहने देकर वैयक्तिक सामाजिक राज नीतिक और आर्थिक आचार-विचार के प्रेरक स्रोत के रूप में इसकी अत्यन्त वैज्ञानिक और अकाट्य व्याख्या की है जो उनकी सबसे बड़ी देन है। उपर्युक्त समझ ब्रह्म में विनशात ही उनकी आस्तिकता है और यही आस्तिकता उनके दर्शन का पहला स्तर है।

### ब्रह्म का आरम्भ

किन्तु ने ब्रह्म का वर्णन उस परम पुरुष के रूप में किया है जो अपनी एकाता से ऊपरकर स्वयं को अनेकता में विभाजित कर लेता है, जिससे वह अपने ही एक भाग को दूसरे अंश की आँखों से परखने का भजा ले सके। उपनिषदों में भी बतल है कि ब्रह्म ने ईश्वर किया और उसके संकल्प मात्र से सृष्टि उत्पन्न हो गयी। सृष्टि का अर्थ ही है विविधता अनेकता। बारम्बार की माध्यता है, सृष्टि से पहले उसके बसने होने का अर्थ उसका अभाव नहीं है। अर्थात् स्मृत सत्य अथवा पिण्ड विनाश सूक्ष्मतम रूप में परिष्कृत होकर भी अपने व्यक्तिगत सत्य को सुरक्षित रखते हैं। उनके स्मृत रूप के अनस्तित्व को उनका अभाव न मान लिया जाय। परमात्मता में परस्पर विभिन्नता है। शास्त्र में अस्मिता निम्न पुरुषों अथवा जीवात्माओं का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इस प्रकार एक पक्ष यह हुआ कि मूर्तता की अस्मिता स्थिति में भी तत्त्वों का वैविध्य सुरक्षित रहता है। दूसरा पक्ष यह कि वही विविधता नहीं रहती अन्त में बस एकता ही शेष बचती है। शायद उस पक्ष कि

अन्तिम अवस्थामें पहुँचकर अनेकता इतनी जघेठ और तद्गत बन जाती है कि मानो अमर्त्य ही हो उठती है। ब्रह्म जैसे सामर है और उससे अन्तस्तन में एह्रों की अनेकता नहीं है। भूधर्मतम विचार (Idca) से स्फुट पिण्ड तक अस्तित्व के विविध स्त्रोत ब्रह्म सागर में पर्यवसित विस्तृत हो पाते हैं और ब्रह्म में सृष्टि-सकम्प उत्पन्न होते ही फिर से प्रकट होने में देर नहीं लगाते। विराट ब्रह्म में विनीत औचित्य तत्त्व अतन जीव और जड़ वस्तु मिस अथ अपनी विसर्जित पुनरुत्पत्ति को प्राप्त करते और परम्पर क्रिया-प्रतिक्रिया धातु-प्रतिधातु का कम आरम्भ करते हैं, इसी क्षण से जीवन तत्त्व जीव पिण्ड के व्यक्तिगत अह की सत्ता स्वीकार करते हैं।

### अहन्ता और आत्मता

मैं समझता हूँ 'अह' अर्थात् 'मैं' केवल अतन जीव तक सीमित नहीं है। जड़ वस्तु भी अपना 'मैं-पन' अपनी अहन्ता रखती है, यद्यपि उस उसका बोध उसकी अनुभूति नहीं है और उसमें अपने 'मैं-पन' की वृद्धि के 'मैं' पर आरोपित करने की इच्छा अथवा क्षमता भी नहीं होती। जड़ता पूरी तरह प्रवाह पर नाशित होती है। प्रवाह को चुनौती यह नहीं दे सकती। चेतना बैसा कर सकती है। इसलिये जीव का 'अह' व्यक्त प्रसर और सक्रिय होता है जब कि जड़ का 'अह' अव्यक्त और निष्क्रिय। पर जड़ में भी ऊर्जा है और एक वस्तु में निहित ऊर्जा दूसरी वस्तु में निहित ऊर्जा से विविध है। यह विविधता जड़ के भी 'अह' की स्थापना करती है। जीव की चेतना और जड़ की ऊर्जा में अन्तर है। एक में कामना है, दूसरे में नहीं। पर दोनों एक ही परम धरणा से नाशित हैं। सभी चेतना ऊर्जा का उत्प्रेषण करती है और ऊर्जा चेतना को जीवन-दान देती है। अस्तु, अचक्षु ब्रह्म, धरती भूत, जीव पर्वत नदियाँ, वृक्ष फल फूल जल, परमाणु सब अपनी-अपनी अहन्ता रखते हैं। अपनी-अपनी आत्मता रखते हैं। 'अहन्ता' और 'आत्मता' को यहाँ प्रचलित सौकिक अथवा नैतिक अर्थ में न लेकर वैज्ञानिक अर्थ में ही लेना होगा। अहन्ता अर्थात् अह का पूर्ण से निम्न अस्तित्व और आत्मता अर्थात् अह का समग्र व्यक्तित्व। जीवन हम व्यक्तिगत अस्तित्व के 'अह' को सृष्टि और जीवन का वस्त्र मानते हैं क्योंकि 'अह' की सत्ता के साथ ही सृष्टि और जीवन का आरम्भ है और उसके दाय के साथ उनका विलय।

### अह की समग्रता और सक्रियता

वैज्ञानिक अर्थों में जीव और पिण्ड दोनों के अह की सत्ता स्वीकार करने हुए भी व्यावहारिक अर्थों में अतन प्राणियों के ही 'अह' को जाना और माना जाता है।

प्राणि-मात्र में भी सामान्य प्राणी का 'अह' सर्वाधिक, सचेत और सनेत्र है और उसमें मयदत्तबाह के अनुभव उसकी अविभक्त और उसको प्रभावित करने की सर्वाधिक क्षमता है। मानवेतर प्राणी मयदत्तबाह का अधिक अनुभव मात्र ही कर न पर उसकी अविभक्त करने और उसको प्रभावित कर पाने का विवेक-रस उनका नहीं मिला है। अन्य प्राणियों का 'अह' कुछ और जानियत है जब कि सामान्य 'अह' व्यक्तियोग और विद्यामयी है। यह विकासमयीलता मानव को प्राप्त प्रज्ञा के कारण ही सम्भव हुई है। प्रज्ञा बड़ा क सकल एव विचार ( Idea ) का अर्थ है जो मानवेतर जीवों को उपलब्ध नहीं है। उनके सामान्य वा विचार बनना-मरना तक ही हुआ है और उनमें (Instincts) की प्रचालना है। मानव में इन्स्टिक्ट्स हैं, पर प्रज्ञा उनके ऊपर स्थापित है। प्रकृति होगा कि यहाँ 'अह' का वय व्यक्तियोग का जातिमान सामान्य सबसे अधिक हो गया है और भौतिक अस्तित्व की उपभा हो गयी है। पर भौतिक अस्तित्व समस्त प्राणियों में इतना अधिक स्थिर और उसका विकास इतना अधिक अदृश्य है कि वह नसिदाय नहीं रहता और मानविक 'अह' में निहित-स्वीकृत मान लिया जाता है। इस प्रकार अह अर्थ के अस्तित्व का ही नहीं उसकी पति और उनके आचरण-चरित्र का पर्याय भी बन जाना है। वस्तुतः अज्ञान के अननुभूत अस्तित्व में ही नहीं अज्ञान द्वारा उनकी मयदत्त अनुभूति और किन्त-प्रतिक्रिया में भी अह का आरम्भ है। अपने अस्तित्व के प्रति हम मर मर और सचेत नसिदाय की ही जैनेन्द्रजी अह नाम देने हैं। जैम अह का पूर्वक भौतिक तरंग नहीं है।

### समस्त अह की समझना

अह का भौतिक एवं नकारात्मक मातृ अहंकार मय में निहित है जिसका अर्थ यह वा समस्त किया जाता है। पर जैनेन्द्र के अह का यह भौतिक अर्थ नहीं है। यह समवायक है। उसमें सिद्ध अर्थ के अस्तित्व के लगी स्तरों (भौतिक प्राणिक सामान्य भौतिक) का ही न्याय्य नहीं है उसकी दोरी प्रकाश की प्रकृति में का भी उसमें ग्रहण है। ये प्रकृतियाँ हैं—अज्ञान का अर्थ के प्रति स्थापन एवं समान्य का भाव और उसका दोष के प्रति निषेध और इष्ट का भाव। इन दोनों प्रकृतियों की ही जैनेन्द्रजी समय अहिमा एक जिज्ञा नाम दन है और ये ही श्रुत की आचार्यिका है। यह है जैनेन्द्रजी का 'अह' जिसका लक्षा मयदत्त बहुत मान्य है। इस 'अह' का भौतिक निषेधात्मक अर्थ में श्रुत कष्ट ही जैनेन्द्रजी के वर्तमानिक उनका बावों की पुष्टिपूर्ण आलोचना कर गये हैं। आत्मन्य में निर्मा भी मानव अथवा पाप की नहीं रूप में लयजने के लिए उनके अह को उन्नात भव-वीर्य रूप में (अस्तित्व एवं प्रकृति दोनों दृष्टियों से) आत्मगण कर मना।

है नहीं तो उसके प्रति बोधपूर्ण एकांगी कल अपनाने का वातप हमें सठाना होना और हम घटना अपना समस्या के प्रति पूर्ण म्याप नहीं कर पायेंगे। सहानुभूति का अर्थ बन्म विज्ञाना नहीं है। उसका अर्थ है, विषयी द्वारा विषय के साथ विषय की दृष्टि से सोचना अनुभव करना। सभी हम समस्त मानव अपना वायवियेय का गुड़ धार्य ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

### संगठित सामूहिक अहं

जैनग्रन्थों की मान्यता है कि अहं केवल व्यक्ति का ही नहीं होता समूह का भी संगठित 'अहं' होता है। उनका कहना है कि राष्ट्रवाद, पूँजीवाद और समाजवाद जैसे ही सम्मिश्र संगठित 'अहं' हैं। सामूहिक 'अहं' का आचरण ठीक व्यक्तिगत अहं वैसा ही होता है। जैनग्रन्थों इस विश्वास का वर्णन करते हैं कि समूहों संघटनों का आचरण अनिवार्य रूप से व्यक्ति की अपेक्षा अधिक उन्नत, अधिकारमय एवं पुन होता है। उनका कहना है, वायव्य के ज्ञान से प्रकृति और प्रकृति में अन्तर नहीं पड़ जाता। व्यक्ति ही या समूह, जब तक उसका 'अहं' रूप के प्रति स्वीकार्यता अर्पित, समर्पणमय नहीं होता तब तक उससे कल्याण की उम्मीद ना नहीं है। इसीलिए वे राष्ट्रवाद, पूँजीवाद या समाजवाद के प्रयत्न नहीं दीज पाते क्योंकि वे सभी छोटे-बड़े बायरे हठकावी हिंसात्मक रूप अपनाकर ही लड़े होते और चलते हैं। त्रिजना सीमित दृष्टि से कर पाते हैं, उससे नहीं असीम दृष्टि प्राप्त एवं ज्ञान के प्रत्यक्ष अनुमान में ही बन जाते हैं। जैनग्रन्थों की मान्यता है कि व्यक्ति या समूहों और संघटनों के अन्तर्गर्भ में से जब तक अहं की इस निवेद्यतामयता और हठकाविका को पहचाना और परफ़ा नहीं जायगा और उसे समर्पणमयक समन्वयमयक नहीं बनाया जायगा तब तक पुष्टा का अनुभूतिमूलक अनुभव है। जैनग्रन्थों आज के जटिल और ज्ञान का विस्फोटक विज्ञान को नहीं 'अहं' के इन पर-निवेद्यमयक रूप को ही मानते हैं। उनकी सम्मति में विज्ञान सहायक है। वह भी अवरोधक बना है, वैसा ज्ञान निवेद्यमयक अहं के हाथों में पड़ जाने के कारण ही हुआ है। इसीलिए समस्या विज्ञान की नहीं 'अहं' की है। आज बुद्धिवाधियों एवं धार्मिकों का सबसे बड़ा कर्तव्य इस अहं का उत्कार करना ही हो जाना है। और जब अहं संसृष्ट अर्थात् मेरे के प्रति समर्पणमयक हो जाना है तब व्यक्तिवाद और समाजवाद-समूहवाद दोनों ही समान रूप से कल्याणमय बन जाते हैं। एता न होने पर व्यक्ति समाज के हाथों और समाज व्यक्ति के हाथों में विनीता बनकर रह जाता है। हो सकता है, अहं का एता परिणाम अनुभव करना ही माना जाय पर उसे प्रज्ञा के सामने निरन्तर उपस्थित हो यह मान्यता के बुद्धि-तरंग का कर्तव्य बन जाता है। अहं को इस रूप में देखना निश्चय ही जैनग्रन्थ विचारणा की लक्ष्य महत्त्वपूर्ण है।

जैन-मार्ग को पालिसी देने से हम किसी नतीजे पर नहीं पहुँचेंगे क्योंकि जैनमार्ग की कहुता है कि हम हर बड़ी व्यक्ति—प्रमा-शक्ति मानना—के ही सम्पर्क में तो आते हैं। तत्प्राप्तित सम्मत् भटक से हमारा सामना कभी नहीं होगा।

अब अहं ब्रह्म से आबुत

अहं के सम्पर्क में दूसरा सबसे विशेष लक्ष्य यह है कि अहं अहं और दोष भग्न बता (पूर्ण अस्तित्व) के बीच एक अनिवार्य द्वार है जिस प्रकार द्वार के माध्यम से घर दोष सृष्टि के भौतिक तत्त्वों आना पर्वत जब बरती अत्र तथा अन्य प्राणियों से जुड़ा होता है उसी प्रकार अहं भी दोष भयवत्ता के भूत चेतना कामना रीति विचार आदि सभी अंगों से जुड़ा है। ब्रह्म स्वयं का अहं यानी अहं में अभि यक्त करता है। अहं दोष का अहं है। स्वयं को अहं मानने की भावना अहं में अतन्त्र विवर्तित और ब्रह्म होती है। उतना ही अहं विस्तृत बन जाता है और पूर्णता उतने ही ब्रह्म से व्यक्ति-मानस के माध्यम से अभिव्यक्त होने लगती है। तब अहं की दीवारें जैसे पारदर्शी बन जाती हैं। सम्पूर्ण ब्रह्म अहं में कूटा पड़ने लगता है। इस प्रकार जैन अहं मानसिकता (Conscious Mind) के नीचे किसी रहस्य मय अवधारणाय प्रणिमय अवचेतन मानसिकता (Sub-Conscious Mind) की सत्ता को नहीं ब्रह्म को ही मानते हैं। अवचेतन की सत्ता से एक कुटिल बाधक की-सी ध्वनि निकलती है। उस हम अशुभ मान लेते हैं। पर व्यस्त दृश्य मानव व्यक्तित्व के नीचे जो अव्यक्त अशुभ छुपा है, उसे कुटिल और अशुभ मानने की आवश्यकता जैनमार्ग को नहीं दील पड़ती। बल्कि वे उस तत्प्राप्तित अव्यक्त अशुभ अवचेतन को ब्रह्म की सत्ता देते हैं। ब्रह्म में अमन्त सम्भावनाएँ निहित हैं। यदि व्यक्ति-अहं दोष भयवत्ता के प्रति उन्मुख रहे तो व्यक्ति की सम्भावनाएँ गुणानुगुणित होती हैं। यदि अहं सिर्फ स्व में केन्द्रित रहे तो वे मनुष्य-अव्यक्त होती हैं। जहाँ तब पारस्परिक मनोविज्ञान के प्रणि-विज्ञान का सम्बन्ध है जैनमार्ग उस सत्ता-स्वीकार नहीं करते। उसकी कार्य-कारण व्यवस्था विधापर फायदे की व्यक्तिनिष्ठ धारणा उन्हें मान्य नहीं। वे व्यक्ति-अहं की स्व-केन्द्रिता और पर-निषेधक दृष्टिकोण को प्रणियों के बनने का कारण और उनकी समर्पणारम्भना को उनके गुणों और मानस के स्वच्छ होने का उपाय मानते हैं। पर प्रणि राज्य के प्रयास में ही जैनमार्ग की विशेष अज्ञा नहीं है। वे अहं और ब्रह्म (ममत्ता) की इस परस्परता को और व्यक्ति से ब्रह्म (समग्र) द्वारा आबुत होने की सत्यता की ही मनाविज्ञान का आधार कहते हैं। अतः वे अवचेतन से ही भद्र किये हैं व्यक्तिगत अवचेतन और सामूहिक अवचेतन और इस प्रकार उभरे व्यक्ति-मानस के बीच समग्र अस्तित्व का आसिद्ध रूप से स्वीकार किया। यदि इस परस्परतायक दृष्टि से



विचार किया जाय तो भौतविज्ञान पर एक नया प्रकाश पड़ता है और स्वयं भौत-विज्ञान की प्रणियों सुकृती हैं। तब अचेतन-चेतन बुद्धि-अबुद्धि परस्पर विरोधी होने के बदले सहयोगी सिद्ध हो जाते हैं। जगत् इस सहयोग की सम्भावना की ओर संकेत किया है। व्यक्ति-मानव का प्रणियों की गुणवत्ता मात्र मान बैठना और इन प्रणियों को मात्र सांसारिक तृप्तियों से सोलने का प्रयास करना रोग का सही वैज्ञानिक निदान नहीं है। मानव के प्रति इतना अनिदवासी होना और उसके रोग को इतने ऊपरी तल से खूने का प्रयत्न करना प्रार्थनीय नहीं हो सकता। उसके रोग का मूल इन्द्रिय मन और बुद्धि से बहुत पहले से उसके यह की दुष्घाटी (पर-स्वीकार, पर-निषेधात्मक) प्रवृत्तियाँ न निहित हैं। अहं जीव को ब्रह्म की ओर से मिला एक सत्ता है। जीव की इच्छार्थता उस सत्ता की समर्पित करने में है न कि इच्छा से उस अङ्गीभूत और अन्विमय ब्रह्म में।

### अहं की कसौटी परस्परता

अहं-तत्त्व का अवयवन इतने से ही पूरा नहीं हो जाता। अहं की कसौटी पर स्पष्ट है। अहं का पर-स्वीकार और समर्पण मात्र उसके मुख्य पक्ष उसकी प्रियता और नैतिकता है। और उसका पर-निषेधात्मक हृत्वाद उसकी अप्रियता और अनैतिकता। इन नैतिकता-अनैतिकता की जीव तर्फी ही संपूर्ण है जब एक अहं अन्य चेतन-अचेतन अहं शक्तियों के सम्पर्क में जाता है। अगर अहं और ब्रह्म की परस्परता का त्रिक भा चुका है। इन परस्परता पर विम्वृत विचार किये बिना अहं की पति और उसके आचरण का पूरा ज्ञान नहीं हो सकता और रोग के साथ उसकी सावेदना को समझा नहीं जा सकता। हम आगे देखेंगे कि सम्प्रदायों संस्कृतियों की उन्नतावनन अवस्था इसी बात पर निर्भर करती है कि परस्परता का कितना प्रिय गहन और समझ में बना पायी। परस्परता की इस समस्या के हल की कौशिल में ही गारा ज्ञान-विज्ञान बिखरित हुआ। इन समस्या के कई रूप हैं ब्रह्म और विभिन्न भक्त-अवनन अहं शक्तियों की परस्परता प्राणि जगत् और मनु-अहंति की परस्परता मानव-मानव की परस्परता। यद्यपि मानव के शिरा सबसे अधिक शास्त्राधिक गहन की जीव मानव-मानव के बीच का सम्बन्ध है। पर पहले और दूसरे रूप में भी उगवा कम सीपा रिता नहीं है। परमून अहं की हर शक्तिता सम्प्रदाय के उर्ध्वत सीलों की न चनिष्ट होकर ही विरमाव हो मानी है।

### ब्रह्म-जीव परस्परता

ब्रह्म का स्वभाव क्या है यह पार्श्व ही विचार का विषय बन चुका है। अस्तित्व की समस्या पूर्णता का मात्र ही ब्रह्म है। मानव की नीतिगत बुद्धि उसकी यही परि

भाषा कर सकती है। सारे ग्रह-लोक उस समग्र-भूत के लुप्त भव हैं। सब मर्त्य अपनी सीमित बसायी में घुमते हैं और एक-दूसरे के साथ अट्ट झर्झर भी सम्बन्ध में बँधे हैं। सब एक-दूसरे का प्रभावित करण हैं। दण्ड-श्रम इन सब का प्रथम और नूतन निर्माण हो रहा है। मानव-कल्पना के लिए अन्तर्ग्रिह में सब इन विराट् ग्रह-मण्डलों के और उनकी परस्परता के विषय को आश्रय मान कर सम्भव है पर अनाविधान में यह भारी भाव-कल्पना विज्ञाप्य और छात्र के विषय रहे हैं। अन्तरिक्ष-विज्ञान इसी मोड़ का परिणाम है। हमारी अपनी धर्म, पर जो माना बिम्बोट, ज्वार-भाटे और भीति पर निर्भर होते हैं वे भी समय की प्रेरणा में निरपन्न नहीं होते। वर्तमान विभिन्न कलुषा वास्तुवा कल्पनियों की भाषा की यह विषयता-विचित्रता दोष समग्र में उपस्थित मानाव में सम्भव नहीं है। ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध पर तो धर्म दर्शन और विज्ञान मर्त्य न लुप्तकर विचार किया है। ज्योतिष और भाष्यवाद इसी विचारणा के अन्तर्गत एक हैं। अमम में जो समय प्रीतिक गलियों अन्तरिक्ष के ग्रहों उनकी किरणों के रूप में प्राप्ति-अगत को प्रभावित करता है, और इस प्रकार हमके भविष्य का निर्माण करता है उसका सम्पूर्ण ज्ञान न मानव भाव तक प्राप्ति कर सका है और न ही विज्ञान की सहायता से साधन बढ़ कर सकेगा। जिनका हम आज पाने हैं उनका ही अगम प्रवर्ग हमारे सामने कह्य उठता है। ईश्वरिणी प्राप्ति के क्या हर अस्तित्व के भाव का अन्तर्गत कहा गया है और ईश्वरिणी अज्ञान के अन्तर्गत बने रहने में ही आचरण और धृति के अन्तर्गत हैं। दोष-विचार में निहित सम्भावनाओं के अन्तर्गत यह भाषिक प्रवेग का अन्त पर ही महान् प्रीतिपूर्ण अन्त नहीं और विचित्र होता है। एका नहीं होता है जब अन्तर्गत का द्वार अन्तर्गत नहीं उन्मुख होता है। ईश्वरिणी प्रतिभावा की उत्पत्ति का यह स्पष्टीकरण बने हैं। और जब अन्तर्गत के दर-द्वार एवम् वास्तुविषय वास्तु बन गये हैं तब अन्तर्गत ईश्वरिणी और सर्वविध धर्म-प्रतियों की सृष्टि होती है। सर्वप्रधान परस्परता की समुचित भाषना के लिए इस बात जीव की परस्परता की भाषना-भाषना उपलब्ध करना अन्तर्गत भाषा-द्वार है। इस अन्तर्गत भाषिक और अन्तर्गत के ईश्वर का जो पृथगुक्त किया है उसका यही अन्तर्गत है। यह भाषिक बता है। अन्तर्गत में भाषिकता एक अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत है और अन्तर्गत भी भाषिक समझना अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत है।

### प्राप्ति-अगत और भूत प्रवृत्ति

परस्परता का दुर्गम रूप है प्राप्ति अन्तर्गत और भूत प्रवृत्ति की परस्परता। यह और विभिन्न अन्तर्गत-धर्मों के बीच का सम्बन्ध अन्तर्गत प्रवृत्ति है। दर-द्वार और प्रवृत्ति की परस्परता का भाषा-अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत है। अन्तर्गत प्राप्ति अन्तर्गत अन्तर्गत

की रक्षा और विकास के लिए प्रकृति का उपयोग करता है। प्रकृति जीवों की प्राण-शक्ति का और उनकी वृत्तियों को पुष्ट बनाती है। जीवों का प्रकृति से जो भावमय सम्बन्ध प्रकट है वह कौला पर नहीं उपयोग पर आधारित है। जीव प्रकृति का ही उपयोग नहीं करते अन्य हीनतर जीवों का भी उपयोग करते हैं। व उनको खाते हैं। मानव की उपयोग-क्षमता प्रकृति और मानवतर प्राणियों तक ही सीमित नहीं है। मानव अन्य मानवों का भी विविधता धारक आधिक, मनोवैज्ञानिक उपयोग बचवा शोषण करता है। मानवतर प्राणियों द्वारा उपयोग इन्सिन्क-नियमित होता है जब कि मानवीय उपयोग-समाप्ति बुद्धि-नियमित होती है। मानव मानवतर जीवों और प्राकृतिक तत्वों की परस्परता में से ही जीव विज्ञान वनस्पति-विज्ञान रसायन विज्ञान भौतिकी भूचम विज्ञान धातु विज्ञान यन्त्र-विज्ञान और मानव प्रकार के धार्य आदि उपज है। विद्युत्, गैसीय और अणु-उद्भूत शक्तियाँ का विकास भी इसी परस्परता की वेल है। वैज्ञानिकी इन वैज्ञानिक उपलब्धियों को बहुत-जीव और मानव-मानव की परस्परता के स्वत्व विकास के लिए उपयोगी मानते हैं। वे धर्म और विज्ञान को विरोधी नहीं परस्पर पूरक कोषित करते हैं। यह भौतिक उपयोग-साधना और सीमा तक पहुँचने के लिए सीढ़ी है उनके मार्ग की बाधा नहीं। वैज्ञानिकी का मानना है कि विज्ञान ने मानव को जो गति की तीव्रता प्रदान की है, उसने शिक्षा और सहानुभूति का जो अप्रतिम विस्तार किया है उससे मानव मानव के निकटतर आया है और दूरी नपव्य बन गयी है। समीके कारण विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति-सम्प्रदायों का सम्मिलन-सम्मिश्रण सम्भव हो पाया है, जिनके सम्मेलन एक विश्व-सम्प्रदाय का विनाम धीरे धीरे हो चला है। अणु-बुद्धों द्वारा अन्तिम प्रलय का जो संकट आज मानव के सिर पर मँडरा रहा है उसके लिए विज्ञान नहीं सामूहिक तल पर हमारी आरिष्टमय मानसिकता और विस्तृत अहं चेतनाओं के संपर्परीत वृत्त ( राष्ट्रवाद, पूँजीवाद समाजवाद आदि ) ही उत्तरदायी हैं। वैज्ञानिकी उपयोगितावाद के पीछे अहं का उवाच समर्पण देना चाहते हैं। इस प्रकार कर्मवाद अधिगण के स्वान पर बगवान बन लगेगा और बहु साध्य नहीं सामन की जीविन्ध-मीमा में बँध जायेगा।

### मानव-मानव की परस्परता

मानव-मानव के सम्बन्धों की समस्या मानव के सामने उपस्थित सबसे बड़ी समस्या है। हम वैज्ञानिक युग की गुर्भा ही यह है कि हमने मानव प्रकृति की परम्परा को मानव-मानव की परस्परता से अधिक महत्त्वपूर्ण मान लिया है और हम वैज्ञानिक मानवों की सम्भावनाओं को भी मानवतर बचवा अहं प्रकृति के पगना प्रक्रियामय माप-बन्ध से ही मापने का वृत्ताह्य करने हैं और उमीको वैज्ञा

निक कहते हैं। समाजवाद-साम्यवाद में यही हुआ है—व्यक्ति के प्रति अनिश्चयता इन प्रणालियों में मानव को अन्न-वस्त्र-सेक्स और सांस्कृतिक कार्यक्रम मात्र से पूर्ण करनेवाला एक मान लिया गया है। जैसे उसके अह की सत्ता ही वहाँ अस्वीकृत है। असाम्यवादी देशों में भी राजनीतिक-आर्थिक स्थितियाँ एक आवश्यकताएँ कुछ ऐसी हैं कि व्यक्ति को उपयोग का उपादान भर ही मानने को बाध्य-यन्त्र बाध्य है। सम्यता का अर्थ भौतिक-स्तर का उत्थान और संस्कृति का अर्थ ककारमक मनोरंजन बन गया है। जण्डियों के आतंक की छाया में सामूहिक अहं चेतना की बैरी पर व्यक्ति-अहं के समुचित परिष्कार एवं विकास की सम्भावनाओं की बलि ब दी गयी है। उपयोगितावादी योजनाओं के लिए मानव-यन्त्रों के बोध उत्पादन का सध्य ही सरकारों के सामने खड़ा है। जैनेन्द्र मानते हैं कि यह बहुत स्वस्थ और संस्कृत प्रक्रिया एवं परम्परा नहीं है। इससे व्यक्ति-अहं में स्वरोन्मीहन की-सी स्थिति पैदा हो जाती है। मानव-मानव के बीच सरकार और पार्टी की कौड़-भित्त लड़ी दी जाती है और वह व्यक्ति की परस्परानुभूति के मार्ग में सहायक होने के बरसे बाधक ही सिद्ध होती है। मानवों के बहुवर्ण उपयोग को जितने बड़े पैमाने पर आज साधा जा रहा है उतने बड़े पैमाने पर इतिहास में कभी भी साधा नहीं गया था। और ऐसा राष्ट्रीय-सामूहिक अहं-चेतनाओं की सृष्टि के लिए वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक पद्धति से किया जा रहा है, प्राचीन धार्मिक गुलामी की प्रणाली से नहीं। जैनेन्द्रजी मानव-मानव की परस्परता के उपयुक्त पक्ष में सबसे बड़ा बोध यह दे सकते हैं कि किसी भी समूह-अहं के प्रति निष्ठावान् मानव अन्य मानवों के और समग्र ब्रह्म के प्रति समर्पित रह ही नहीं पाता अपना बह इतना यन्त्र बन जाता है कि किसीके प्रति भी निष्ठा रखने की उसमें रुचि और शक्ति ही वर्तमान नहीं रहती। आज सामूहिक महत्वाकांक्षाओं का ऐसा भीषण दबाव व्यक्ति-अहं पर पड़ा है कि वह किर्तव्यविमूढ़ बन गया है और उसमें वैज्ञानिक प्रगति को समाने और सोचने में समर्थ मानसिकता विकसित नहीं हो पा रही है। जैनेन्द्रजी के अनुसार ऐसी मानसिकता का आधार मानव का मानव के प्रति प्रेम ही हो सकता है, उसका समूह-विभेद में किसी ही जाना नहीं। संगठन 'एक के स्वीकार-सेप के नियम' इस स्रष्टि से ही प्रेरित होते हैं। किन्तु व्यक्ति के अग्य व्यक्ति के प्रति प्रति-भाव में सेप के प्रति नियम-भाव अनिवार्य नहीं भिन्नता। इस प्रकार मानव मानव की परस्परता मूल व्यक्ति-अहं के परिष्कार एवं विकास का साधन बन जाती है। प्रीतिपणे एने व्यक्ति-अहं मामाजिन-राष्ट्रीय अहं-चेतनाओं में स हिमालयक डेक गीत फेंकने और उन्हें नैतिक स्तर तक उठाने में समर्थ हो जात है। व्यक्ति का व्यक्ति के द्वारा वैसा उन्नत निर्माण सम्भव है, वैसा सामूहिकता न हार्या गम्यव नहीं है। महात्मा गांधी व्यक्तिगत सम्पद और प्रीति के माध्यम से ही पवित्र नेहरू

की रक्षा और विकास के लिए प्रकृति का उपयोग करता है। प्रकृति जीवों की प्राण-शक्ति को और उनकी बुद्धियों को पुष्ट बनाती है। जीवों का प्रकृति से जो भावमय सम्बन्ध प्रकट है, वह सीला पर नहीं उपयोग पर आभासित है। जीव प्रकृति का ही उपयोग नहीं करते अन्य हीनतर जीवों का भी उपयोग करते हैं। वे उनको खाते हैं। मानव की उपयोग-शक्तता प्रकृति और मानवोत्तर प्राणियों तक ही सीमित नहीं है। मानव अन्य मानवों का भी विविधत्वात् धार्मिक आर्थिक मनोवैज्ञानिक उपयोग अथवा दीपक करता है। मानवोत्तर प्राणियों द्वारा उपयोग इष्टि-नियमित होता है जब कि मानवीय उपयोग-प्रणालियाँ बुद्धि-नियमित होती हैं। मानवों मानवोत्तर जीवों और प्राकृतिक तत्वों की परस्परता में से ही जीव-विज्ञान जनसंस्कृति-विज्ञान रसायन विज्ञान भौतिकी युगम विज्ञान धातु विज्ञान यंत्र-विज्ञान और नावा प्रकार के विषय आदि उपज है। विद्युत् मैसीय और अणु-उद्भवन द्रवियों का विकास भी इसी परस्परता की वेल है। जैनेन्द्रजी इन वैज्ञानिक उपकरणियों को बहुत-जीव और मानव-मानव की परस्परता के स्वस्थ विकास के लिए उपयोगी मानते हैं। वे धर्म और विज्ञान की विरोधी नहीं परस्पर पूरक घोषित करते हैं। यह नीतिक उपयोगवाच भावना और सीला तक पहुँचने के लिए सीढ़ी है, उसके मार्ग की बाधा नहीं। जैनेन्द्रजी का मानना है कि विज्ञान ने मानव को जो मति की तीव्रता प्रदान की है उसने विज्ञान और सहानुभूति का जो अप्रतिम विस्तार किया है उससे मानव मानव के निकटतर जाता है और दूर गम्य बन गयी है। उसीके कारण विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति-सम्प्रदायों का सम्मिलन-सम्मिश्रण सम्भव हो पाया है जिसके फलस्वरूप एक विश्व-सम्प्रदाय का विकास धीरे-धीरे हो जाता है। अणु-मुखा द्वारा अन्तिम प्रक्रम का जो संकट आज मानव के सिर पर बैठ रहा है उसका लिए विज्ञान नहीं सामूहिक तत्त्व पर हमारी आरिष्ट मानसिकता और विस्तृत अहं-चेतनाओं के संघर्षीक वृत्त ( राष्ट्रवाद, पूर्वावाद समाजवाद आदि ) ही उत्तरदायी हैं। जैनेन्द्रजी उपोदिवाहार के पीछे अहं का उदात्त समर्पण देना चाहते हैं। इन प्रकार कर्मवाद अभिघाप के स्थान पर ब्रह्मज्ञान बन गयेगा और वह माध्य नहीं साधन की शीतल-नीमा में बँध जायेगा।

### मानव-मानव की परस्परता

मानव-मानव के सम्बन्धों की समस्या मानव के सामने उपस्थित सबसे बड़ी समस्या है। इस वैज्ञानिक युग की मूर्त्ति ही यह है कि हमने मानव-प्रकृति की परस्परता को मानव-मानव की परस्परता से अधिक महत्त्वपूर्ण मान लिया है और हम जन मानवों की सम्प्रदायों को भी मानवोत्तर अथवा जड़ प्रकृति के समान प्रविचारमय भाव-वृद्ध में ही मानव का बुझाहम करते हैं और उमीदी बीजा

निक कहत है। समाजवाद-साम्यवाद में यही हुआ है—व्यक्ति के प्रति अनिश्चयता  
 इन प्रभावशालियों में मानव को अन्न-वस्त्र-सेक्स और सांस्कृतिक कार्यक्रम मात्र न दत्त  
 करनेवाला यन्त्र मान लिया गया है। जैसे उसने यह भी सता ही वहाँ खम्बीकृत  
 है। समाजवादी देशों में भी राजनीतिक-आर्थिक स्थितियाँ एवं आवश्यकताएँ  
 कुछ ऐसी हैं कि व्यक्ति को उपयोग का उपादान भर ही मानने को दास्य-यन्त्र  
 बाध्य है। सम्यता का अर्थ भौतिक-स्तर का उपयन और मस्कृति का अर्थ  
 कल्याणक मनोव्यवस्था बन गया है। मध्यस्वों के आतंक की छाया में सामूहिक अहं  
 वेदना की वेदी पर व्यक्ति-अहं के समुचित परिष्कार एवं विकास की सम्भावनाओं  
 की बलि द दी गयी है। उपयोगितावादी योजनाओं के लिए मानव-यन्त्र के मोह  
 उत्पादन का मध्य ही सरकार के सामन रहता है। जैनेन्द्र मानते हैं कि यह बहुत  
 स्वयं और संस्कृत प्रक्रिया एवं परम्परा नहीं है। इससे व्यक्ति-अहं में अन्तर्दीप्त  
 की-सी स्थिति पैदा हो जाती है। मानव-मानव के बीच सरकार और पार्टी की  
 मीडिया-मस्ति लड़ी बीकरी है और वह व्यक्ति की परम्परोन्मुखता के भाव में महायक  
 होने के बहसे बाधक ही सिद्ध होती है। मानवों के जड़बन् उपयान को बिना बड़े  
 पैमाने पर आज ताका जा रहा है। उतने बड़े पैमाने पर इतिहास में कभी भी सामा  
 नहीं गया था। और ऐसा राष्ट्रीय-सामूहिक अहं-वेदनाओं की वृद्धि के लिए वैज्ञा  
 निक और मनोवैज्ञानिक पद्धति से किया जा रहा है, प्राचीन शारीरिक युक्तियों की  
 प्रणाली से नहीं। जैनेन्द्रजी मानव-मानव की परस्परता के उपर्युक्त पक्ष में सबसे  
 बड़ा बाध यह देखते हैं कि किसी भी समूह-अहं के प्रति निष्ठावान् मानव अल्प मानवों  
 के और समग्र इन्द्र के प्रति समर्पित रह ही नहीं पाता। यद्यपि वह इनका यन्त्र बन  
 जाता है कि किसीक प्रति भी निष्ठा रखने की उसमें शक्ति और शक्ति ही वर्तमान  
 नहीं रहनी। आज सामूहिक महत्वाकांक्षाओं का ऐसा भीषण दबाव व्यक्ति-अहं  
 पर पड़ा है कि वह क्रिबर्तव्यविभूत बन गया है और उसमें वैज्ञानिक प्रगति को समाने  
 और सेसने में समर्थ मानसिकता विकसित नहीं हो पा रही है। जैनेन्द्रजी के अनुसार  
 ऐसी मानसिकता का आधार मानव का मानव के प्रति प्रेम ही हो सकता है,  
 उसका समूह-विरोध में विहीन हो जाना नहीं। संयुक्त 'एक' के स्वीकार-दोष के  
 निषेध इस सृष्टि में ही प्रेरित होते हैं। किन्तु व्यक्ति के अल्प व्यक्ति के प्रति  
 प्रीति-भाव में छप के प्रति विशेष-भाव अनिवार्य नहीं मिलता। इस प्रकार मानव  
 मानव की परस्परता मूल व्यक्ति-अहं के परिष्कार एवं विकास का साधन बन जाती  
 है। प्रीतिपूर्ण एवं व्यक्ति-अहं सामाजिक-राष्ट्रीय अहं-वेदनाओं में स हिंसात्मक बंध  
 मोह कोटने और उन्हें नैतिक स्तर तक उठाने में समर्थ हो जाने हैं। व्यक्ति का  
 व्यक्ति के द्वारा वैसा उन्नत निर्माय सम्भव है, वैसा सामूहिकता के द्वारा सम्भव नहीं  
 है। महात्मा गांधी व्यक्तिगत सम्बन्ध और प्रीति के माध्यम से ही प्रीति नरक

डॉ० रामेन्द्रप्रसाद, सरदार पटेल जैसे व्यक्तित्व भारत को दे पाये। एक संगठनवादी जोश और रोप में से बैसा हू पाया दुःसाध्य था। इस प्रकार जैनेन्द्रजी व्यक्ति व्यक्ति के समर्थ प्रेम और समर्पण में बहु नैतिक विद्युत् देखते हैं जो एक साथ एक-दूसरे की मानसिकता का उदात्त और प्रकाशमय बना देने में और उनकी सक्रियता को सर्वभूतहित की ओर माड़ देने में समर्थ है। व्यक्ति-मेधा ने ही विज्ञान का सूत्र बना दिया है। व्यक्ति-हृदय ही उसकी प्रसम्पन्नता को मुन्दी में बाँधने में सफल होगा। यह आदर्श का ही विषय है कि भौतिक जगत् की विराट सम्भावनाओं के प्रति सजग वैज्ञानिक द्वारा मानव चेतना की ओर उपेक्षा कैसे सम्भव हो पा रही है।

### सेक्स, प्रेम, साहचर्य

मानव-मानव की परम्परा का सबसे महत्वपूर्ण बल भर-नाटी सयोग अवधि सेक्स है। सेक्स पर जैनेन्द्रजी ने बहुत लिखा है। वे सेक्स को उपेक्षणीय अथवा मुख्य नहीं मानते। वे उसका कार्य प्रभाव-लोक मान संतति-उत्पादन तक भी सीमित नहीं करते। सेक्स को वे बहु मूलमूल शक्ति और स्फूर्ति मानते हैं जो व्यक्ति-अहं का परिष्कार करने और उसके व्यक्तित्व का निर्माण करने में समर्थ है। व्यक्ति-अहं का नानात्म बलुवाही रूप सेक्स क्षेत्र में ही प्रकट होता है और यहाँ जो सम्कार और प्रभाव बहु प्रवृत्ति करता है वे उसके सारे जीवन को और उसके जीवन के माध्यम से सारे विश्व को प्रभावित करते हैं। सेक्स का यह भर-नाटी हैत कैसे निमित्त हुआ ? इस प्रश्न को जैनेन्द्रजी ने बड़ी अनुदी व्याख्या की है। वे कहते हैं कि समग्र में अहं चेतना का पुनर् होना ही उसमें भर के लाक्षणिक की चाह पैदा हुई। इस चाह के दो रूप हो गये। एक न चाहता वह मूल्य हो। यह अहं स्वीत्य-अज्ञान का दया। दूसरे ने चाहता 'मैं उसमें हूँ' और यह वह पुन्यत्व-युक्त हो गया। स्वीत्य-पुन्य एक ही अहं के दो रूप हैं और इस प्रकार अज्ञानादिस्वर की पौरुषिक क्षमता को जैनेन्द्रजी स्वीकार करते हैं। 'वह मूल्यमें हो' यह चाह समाने की चाह है और स्वीत्य अवधारण-शक्ति की प्रतीक है। उनकी प्रवृत्तियाँ हैं चहल बढ़न और ध्यान आकर्षण। 'मैं उसमें हूँ' यह चाह स्थूल विषय में निहित गति और शक्ति की चाह है। पुन्य उसीका प्रतीक है। और उसकी प्रमाण वृत्तियाँ आगम और प्रगति हैं। जिस प्रकार पुन्य विषय को धारण करना है और उसकी गति प्रगति का क्षेत्र बनता है उसी प्रकार स्वीत्य पुरुष को शरीर, मन बुद्धि और भावना हर दृष्टि में धारण करनी और उसकी प्रगति को गति देनी है। जैनेन्द्रजी आज की सम्पत्ता को पुन्यपूर्ण सम्पत्ता कहते हैं क्योंकि उनमें गति और हिमा की प्रमाणता है। मारी की प्रगति बढ़न-वृत्तियों का समुचित धारा देने वाली शक्ति पाया है। तनी इस वैज्ञानिक में इनका उद्देश और नियम अज्ञानमय है। स्वीत्य के संयोग में पुन्य-अहं ५

इसकी प्रतीति जाती है। इतिहास होना अल्प-मूल्य बनना जैसे पुरुष की अन्तर्गत की यह चाह है जिसे अपनी गति प्रगति में बहुकितना भी रुके पर जो रुक नहीं पाती। इसी प्रकार स्त्री की अस्तित्व कामना रहती है, पुरुष को स्वयं में लकर उसे गति दकर ग्रहण (Orbit) में फँक देना। स्त्री पुरुष का मध्य उपपन्न प्रत्यक्ष कामनाओं से प्रेरित भाव-प्रतिभाव निरन्तर चलते रहते हैं और यही मानवीय सन्निवृत्ति के मूल गुण प्रेरक बन जाते हैं। आज सामूहिक स्त्रियों एक महत्वाकांक्षियों ने नैतिक व्यक्तिगत आकर्षण-अपकर्षण के उन्मुख रूप और क्रम का विश्लेषण कर दिया है। स्त्री और पुरुष के बीच सामूहिकता आ गयी है, जिसने प्रगतिशील नर-नारियों का परस्पर समर्पित होने में रोक लगाई है और उनमें एक गहरी जुटन पैदा कर दी है। जैनेन्द्रजी नर-नारी के बीच किसी बाधक आर्तन अथवा स्थूल रुकावट को नहीं गुठ प्रेम का प्रवर्तमान गन्तव्य चाहते हैं। प्रेम सहजशील और हृदयपूर्ण होता है। प्रिय की प्रेमी से अधिक दिन-बामना और कोई भी नहीं कर सकता। प्रेमी प्रिय के अहं को सबसे अधिक जानता-गहनामता है और उसका विकास-विस्तार ही उसका कर्तव्य बन जाता है। हम सब लोगों को ही समस्त तृप्ति मिलती है और हताशता का अनुभव होता है। इस तृप्ति और हताशता में स्व की सीमाएँ टूटती और व्यक्ति परस्परमूल्य-परस्परमूल्य बनता है। हम प्रकार जैनेन्द्रजी द्वारा की गयी मध्य की व्याख्या नर-नारी के शरीर-सम्बन्ध को न ठिठकाने देती है, न ही उसमें बाधा है। शरीर-सम्बन्ध प्रेम का स्वाभाविक परिणाम नर रह जाता है। प्रमाण जीव है प्रेम जिससे मिली तृप्ति शरीर-सम्बन्ध ने कहीं गहरी स्थायी और सबग्राही होती है। यह मानव की सम्भावनाओं को विस्तृत करती और उसके कर्तव्यों को विराट् ब्रह्म की ओर माँवती है।

### अहंकार, अहंभाव

जैनेन्द्रजी का 'अहंकार' का अर्थ भी प्रसिद्ध लौकिक नहीं है। अपनी बुनियात सब ओर से हटाकर अहं में केन्द्रित कर लेना अहंकार है, ये सबको अपने प्रेम का दाव करके ही अहंकार ब्रह्मका सबका है। जो सब को रोप सबको दे डालने का लिए आगुर बन चुका है वह शरीर और उनकी सीमाओं—बामनाओं में बँदा रहूँगी नहीं करता। वह ब्रह्ममय बन जाता है। वह 'पर' का नियम नहीं उसका स्वागत करता है। अहंकार को इच्छित-निषिद्ध के अर्थ तक सीमित करता जैनेन्द्रजी इच्छित-निषिद्ध समझते हैं। इस विषय में मोक्षार्थी का उदाहरण हमारे सामने है। वे महारमा निषिद्ध-निषिद्ध के कारण नहीं अहं की विराट्ता के कारण ब्रह्ममये। अहं का परिष्कार-विस्तार के अर्थ में इच्छित-निषिद्ध उन्हें स्वतन्त्र मित्र हो गया। वह अहं समझा नाम अहंकार जो जैनेन्द्रजी ने और अधिक सूक्ष्मता में समझाया है। वे चले-जाने



और बुद्ध हिटलर और गांधी के प्रयासों के नीचे काम की विराटता को ही पाते हैं। उनके अनुसार उपर्युक्त विभूतियों के सामने अनन्त जम-विस्तार जैसे स्त्री के घमाने ही फैला पड़ा या और उसमें उसको उन्मुक्त गति प्राप्त थी। अयेजसा और हिटलर की गति को जैनन्त्रजी मम और हठ-प्रेरित मानते हैं तथा बुद्ध-गांधी की गति को प्रेम-समर्पण-प्रेरित। इन चारों के पीछे असंख्य लोग उसी प्रकार पागल हो उठे थे जैसे कृष्ण के पीछे गोपियाँ। यदि काम का शरीर-बद्ध अर्थ न लेकर उपास सूक्ष्म अर्थ किया जाय तो मानव की हर सन्निभता के नीचे 'बहु मुझमें हूँ'—'मैं उसमें हूँ' इन दो मूल कामनाओं में से एक अवश्य मिलेगी। काम की विराटता तब निस्सी है जब 'बहु मुझमें हूँ' 'मैं उसमें हूँ' के स्थान पर कमजोर 'सब मुझमें हूँ'—'मैं सबमें हूँ' उक्तिवाँ मानव-कामनाएँ बन जाती हैं।

### काम और मम (उपयोगितावाद)

मानव की मानसिकता और कामिकता का निर्माण दो तत्वों से होता है— प्रेम-अप्रेम मूलक काम से और सांसारिक उपयोगितावाद अर्थात् अर्थ से। इन्पति परिवार, सम्प्रदाय समाज राष्ट्र और विश्व ये क्रमशः बड़ी-होटी संस्थाएँ काम और अर्थ के इस द्वैत से ही भिस्कर बनी हैं। आज उपर्युक्त सभी संस्थाओं में अर्थ-यत्न की प्रधानता और काम अर्थात् प्रेम-यत्न की दीपता हो चली है। जैनन्त्रजी चाहते हैं कि हमारी सभी संस्थाओं का मूल उत्तम प्रेम में हो। अर्थ प्रेम में से रस ग्रहण करके ही अपना विकास-विस्तार करे। काम और अर्थ प्रेम और उपयोगिता का समन्वय बर्न में होता है जिसका वैज्ञानिक अर्थ है, नीति। नीति पोषण की नहीं पोषण की बूट नहीं चलत। हमारा साम्प्रदाय समाज उत्पादन वितरण और वासन नाम अर्थ के संयोग से प्रभूत प्रेम-नीति से चले। अनन्त अर्थ चेतनाओं में उपस्थित और विषमताओं के समस्त प्रेम-नीति का प्रचलन और पालन बहुत कठिन दीक्षता है। पर यदि प्रेम का अस्तित्व है तो यह कठिनाई होने के लिए ही है, निष्कल होने के लिए नहीं। जैनन्त्रजी कल्पना के मुख्य को भी गोला नहीं चाहते। कल्पनाएँ ही वास्तविकता में बदला करती हैं। फिर प्रेम कल्पना नहीं है। व्यक्ति-स्तर पर उसका चमत्कार हम नित्य देखते हैं। आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर पापी जैसे महापुरुषों ने उसका चमत्कार हमें दिखाया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हमारे नेहरूजी उनी सुहृद्-नीति के प्रयोग सफलतापूर्वक कर रहे हैं। इन्पति प्रेम को कल्पना मानना मानव का अपमान करना ही समझा जाना चाहिए। हाँ प्रेम-नीति की एकमात्र मिट्टि सभी सम्भव है जब उसका पीछे उदात्त काम की तीव्रता अधिष्ठत हो उपयोगितावाद की जड़ता कम। निरस्त्रीकरण की समस्या का हम प्रेम की बह्यर्थ की इस तीव्रता में नहीं जा सकता है। आज उपयोगितावाद के

चकट-फेर में से बीसा होना असम्भव है। और बिज्ञान पर अंधुषा भी प्रम-नीति हा-  
स्यमा सकती है समूहवादी कूट-नीति नहीं। समूह से—सबसे प्रेम नहीं कर सकता  
है, जो एक से प्रेम करने में समर्थ है। एक मूर्त है समूह अमूर्त बायब्य। इस विषय  
में जैनेन्द्रजी के विचार पहले रखे जा चुके हैं।

## सत्य-समुक्त अहिंसा

जैनेन्द्र-दर्शन के तीसरे तत्त्व परस्परता का यत्किञ्चित् स्पष्टीकरण मैंने ऊपर  
किया। परस्परता को असत्य तत्त्व का रूप देने का उद्देश्य था अह की सापेक्षता पर  
बल देना। अह की अद्यता और सापेक्षता अस्तित्व का सबसे बड़ा सत्य है। किसी  
भी अह कतना को नितान्त रूप में जाना और समझा नहीं जा सकता। जैनेन्द्र  
दर्शन का चौथा तत्त्व अहिंसा इसी तथ्य को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास करता  
है। जैनेन्द्रजी ने अनुसार अह में अपनी सापेक्षता की चेतना ही अहिंसा है और  
नितान्तता का हठ हिंसा। नितान्तता अव्यवहार्य और अप्रवृत्त है। इसीलिए  
उसकी हठ 'पर' की अवमानना और 'स्व' के छेप पर आरोप की प्रवृत्ति करती है।  
यही हिंसा है। सापेक्षता की अनुमति 'पर' के स्वीकार और छेप के सम्मुख 'स्व'  
के समर्पण पर बल देती है। यह अहिंसा है। हिंसा-अहिंसा की यह व्याख्या इन्हींके  
लौकिक अर्थों—जीव-अथ जीव-रक्षण—से नहीं जबकि व्यापक वैज्ञानिक और  
व्यावहारिक है। यह व्याख्या पूर्वोक्त बड़ा अह और परस्परता में निहित तथ्यवाच  
का स्वाभाविक विकास है। ऊपर जिस नैतिकता बचवा प्रेम-नीति का चित्र किया  
गया था अहिंसा उसीका अधिक वैज्ञानिक स्पष्टीकरण है। अहिंसा में तथ्य यानी  
सत्य की दृष्टि और प्रेम के रस दोनों का ग्रहण है। मानव का सम्पूर्ण आचार-  
शास्त्र जैसे इस एक शब्द में समा गया है। महात्मा गांधी ने इस अहिंसा-शास्त्र का  
जीवन-व्यवहार में सर्वोच्च स्थान दिया था। किसी भी अहिंसात्मक आचरण को  
तीन अंगों में बाँटा जा सकता है। पहला अंग है—समय की अपेक्षा में समस्या के सत्य  
की अर्थात् 'स्व' और 'पर' की स्थिति की सत्य अवधारणा (Right assumption),  
दूसरा है—सभी सम्बद्ध व्यक्तियों के प्रति हृदय के स्नेह का ज्ञान और स्व-पर-  
सर्वके हित का आग्रह करना किसीके प्रति भी हृदय और निन्दा से दूर्य होना  
तीसरा है—सत्य का निर्भय सक्षम पर विनम्र आग्रह। इस प्रकार पालित अहिंसा  
ही सत्याग्रह है। इस पद्धति में सत्याग्रही की स्थितप्रज्ञता स्नेह-मित्रता ब्रष्ट  
अहिंसा और समस्त-स्थान की सम्पत्ता आदि सर्व बहुत बड़े-छोटे हैं। मारी  
प्रक्रिया में हृदय कोष आदि के आचरण का पूर्ण अभाव बाध्य है और जो कुछ भी दिया  
जाता है, वह सर्वप्राप्ति सत्य की प्रेरणा में ही किया जाता है। सत्य की सर्वप्राप्तिता  
सत्य बड़ा अंग अह और परस्परता इन तीनों के तथ्य के पूर्ण ग्रहण से ही प्राप्त

सम्बन्ध किये बिना इस प्रसंग को समाप्त नहीं किया जा सकेगा। यह विचारना  
 अत्यन्त वैज्ञानिक सन्दर्भगत एवं कमबख्त है और किसी पूर्वग्रह को अपनी विधि  
 के लिए यदि कार्य नहीं टहराती। जैन्य के ब्रह्म को किसी अन्धविश्वास का उपा-  
 दान बनने की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ है, वह हमारे चारों ओर है। यह  
 वह बैठने सुख-स्वल्प सब ब्रह्म है और हम उसके अंग हैं। अपनी बुद्धि और कल्पना  
 के अनुसार व्यक्ति इस ब्रह्म का पचासवित आत्मग्रहण और साक्षात्कार कर सकता  
 है। जैन्य का ब्रह्म मात्र सूक्ष्मतम तत्त्व अथवा वेदक अतृप्त परम शक्ति नहीं है,  
 जिसे कल्पना में जाना कवियों या बार्तनिकों के लिए ही सम्भव हो सकता हो  
 साधारण जनता के लिए नहीं। वह सूर्य और पिण्ड का समन्वय है और कोई  
 अस्तित्व ऐसा नहीं जो उसमें समाविष्ट न हो। पुरुष प्रकृति का ईश वहाँ नहीं है।  
 हो सकता है, ब्रह्म की यह समग्र-वैध व्याख्या नहीं न हो पर उसकी समग्रता पर  
 इतना निराला और विरले ही दार्शनिकों ने दिया है। जड़ता का विवेचन  
 निरन्तर ही काफी हुआ है। जैन्य का यह तत्त्व भी विचारक मानस को एकदम आक-  
 र्षित करता है। वह पुरुष व्यक्ति हीरे हुए भी समग्र का अंग है इस तत्त्व को प्रका-  
 शित करता और उभारता है। यह मैं व्यक्ति का पूर्ण अस्तित्व समविष्ट है  
 मात्र सूक्ष्म बैठना नहीं। यह तत्त्व व्यक्ति की निरालता पर सापेक्षता (ब्रह्म से  
 जो अन्य अर्ह-वैधनाओं से भी) का अंगुष्ठ लगाता है। सूक्ष्म स्वर तत्त्व आत्मा  
 में अंगुष्ठ बसित नहीं है क्योंकि वह घटीर का निषेध करके चलती है और मूख में ही  
 निरालतावादी है। इस सापेक्षता में से ही तीसरा तत्त्व निकल आता है—परस्परता  
 जो ब्रह्म-अर्ह के वैज्ञानिक सत्य को व्यवहार और कर्म की ओर मोड़ देता है। यदि  
 सापेक्षता और परस्परता सत्य है अनिवार्य है तो वे पर के स्वागत अर्थात् अहिंसा  
 का द्वार हैं। सिद्ध और प्रमाणित हो सकते हैं। जैन्यजी की अहिंसा की व्याख्या भी  
 परस्परता पर आश्रित होने के कारण अत्यन्त मौलिक बन गई है। अतः मैं सापे-  
 क्षता और परस्परता पर जैसा वैज्ञानिक और कमबख्त बह जैन्यजी की विचारणा  
 देती है, वैसा अन्य दर्शन नहीं देते। यह सापेक्षता और परस्परता उनकी दृष्टि से  
 व्यक्ति समाज राष्ट्र और विश्व सबकी नीतियों की बनी है। यही धर्म एवं  
 नीतिक्रम है। यह किसी वायव्य आदर्श से प्रेरित नहीं बल्कि ब्रह्म और अर्ह के  
 अर्ज-अवभास से बाध्य है। फिर ब्रह्म और अर्ह का जो रिश्ता है, उसमें अहिंसा  
 ही सच्ची नीति टहरती है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता। जैन्य-वचन  
 अज्ञा और विज्ञा सुख सत्य और स्मृत व्यवहार, पुरुष और प्रकृति प्रकृति अपने  
 में समेट और शांति स्वरूप करता है। वह निराला नहीं सापेक्ष है। वह किसी  
 विचार या वस्तु का निषेध नहीं करता। सबमें मिश्रित सत्य को पोंगता और  
 प्रकट करता है।

## गांधीवाद और जैनेन्द्र

गांधीजी और गांधीवाद में जैनेन्द्र की विचारणा के निम्नान में चिन्ता योग दिया है, यह प्रश्न भी विचारणीय है। जैनेन्द्र गांधी-युग की ही उत्पत्ति हैं। गांधी ही उनकी विचारणा के मूर्त आवर्त हैं। उन्होंने का वे हर कदम पर हवासा देते हैं। साथ ही गांधीवाद के व्याख्याताओं में उनका बहुत ऊँचा स्थान है। इससे प्रकट दीखता है कि गांधीवाद में उनकी विचारणा की मौलिक रूप में प्रभावित किया है। पर वहाँ तक मैं समझ पाया हूँ जैनेन्द्र को गांधी और गांधीवाद मूल में नहीं मार्ग में मिला। उनकी विचारणा का स्रोत ब्रह्म की समग्रता के उस साम्राज्य में है, जिस जैनेन्द्रजी ने 'आन्तिकता का पाना' कहा है। रोप सब उसमें से निम्न होना पड़ा गया। सामने ही गांधी के जिनका व्यक्तित्व और जिनके कार्य अपनी विचारणा के पुष्ट प्रमाण रूप जैनेन्द्र को दीखे। गांधीजी ने उन्हें मुक्तज्ञात दिया और एक कसौटी प्रदान की। इस प्रकार कहानियों उपन्यासों और लेखों के रूप में जैनेन्द्र की विचारणा व्यक्त हो चली और धीरे-धीरे एक सुनिश्चित रूप ग्रहण कर चली। जैनेन्द्र की अभिव्यक्ति में जो सहजता और अनायासता है, वह अन्तःमात्रात्कार का ही फल मानूम पड़ती है, बुद्धि द्वारा बाहरी विचारों के सेने से वह नहीं आ सकती थी। ब्रह्म ब्रह्म और विरोधकर परस्परता की उनकी व्याख्या एकदम मौलिक है और उससे स्वयं गांधीवाद को एक वैज्ञानिक पुष्टि क्रम प्राप्त हो सकता है। जैनेन्द्रजी गांधीजी की अन्तःस्थ मूल प्रेरणाओं को शायद सबसे अधिक गहराई से समझ और पकड़ सक हैं, इसमें अधिक प्रस्तुत प्रसंग में और कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

X

X

X

आवश्यक है कि कुछ उन महत्त्वपूर्ण विषयों पर, जिनका स्पष्ट अवकाश यथोचित संक्षेप ऊपर के विस्तारण में नहीं आ पाया जैनेन्द्रजी के विचार अत्यन्त संक्षेप में यहाँ दे दिये जायें। वे इस प्रकार हैं

### आत्मा-पुनर्जन्म-कर्मसिद्धान्त

आत्मा शब्द का प्रयोग मुख्यतः उस मूलमूलम तत्त्व तत्त्व के अर्थ में किया गया है जो व्यक्ति प्राण और चेतना का आधार है, जो पुरुष है, धारी है और धारी में 'मैं' करके स्थित है। धारकों में इस आत्मा को ब्रह्म का अंग कहा गया है। धारका मुसार यही वह है जो नाशान्न और धारीताता और कर्मकर्म मोगना है। जैनेन्द्रजी ब्रह्म की ही अन्तिम स्थिर तत्त्व मानते हैं। इसलिए आत्मा की इनकी निदान्य समता के नहीं है पात्र कि वह ब्रह्म से निरपेक्ष होकर कर्मकर्म के अनुसार एक धारी से दूसरा धारी प्राण करता जाता है। उनका विश्वास है कि हमारी आत्मा धारी की समाप्ति के साथ ही ब्रह्म में विलीन हो जाती है। जिसका पुनर्जन्म माना

जा रहा है, उसमें वही विलुप्त आत्मा प्रतीतमान है जबका कोई अन्ध जबका कई अन्धों के अन्ध यह कुछ भी निश्चित नहीं कहा जा सकता। कौन कह सकता है कि पैर का यह पता वही है जो पिछली पतझड़ में कुछ बी घासा की इसी टहनी पर से टूटा था। चेतना के अन्ध प्रवाह में असंख्य जीव बुलबुलों के समान उठते और गो जाते हैं। जैनैन्द्रजी पुनर्जन्म को इसी रूप में समझ पाते हैं। आत्मा को वे समझ अर्ह से मित्र नहीं मान पाते। यह आत्मा जबका अर्ह अब बिसरता है, तो उसके विभिन्न स्वरूप (पंचभूत चेतना कामना विचार आदि) ब्रह्म के समानांतर स्तरों में उसी प्रकार घुल जाते हैं, जैसे सूँघ सागर में एकत्र हो जाती है। साथ ही नये अर्ह भी निरन्तर उठते रहते हैं। इस प्रकार विषय और प्रकट होने का वह कम अबाध चलता रहता है। आत्मा उसी रूप में अन्ध, अन्ध, अन्ध, अन्ध है जिसमें कि ब्रह्म वैसा है। आत्मा के लिए व्यक्तित्व को इस व्यक्तित्व के कर्माधीन पुनर्जन्म को जैनैन्द्रजी व्यङ्ग्य और धर्म के लिए उपयोगी मानें पर वैज्ञानिक नहीं कह पाते क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त और किसीको भी लिए वे स्वीकार नहीं कर सकते। प्रश्न उठता है कि तब उन कर्मों का क्या होता है, जो व्यक्ति जीवनभर करता है? जैनैन्द्रजी कहते हैं कि जीवनभर के कर्म भी सूक्ष्म रस (Idola) व्यापक रूप ग्रहण कर बाकी की तरह अतिरिक्त में व्याप्त हो जाते हैं। नये अर्ह को अन्य स्तरों के साथ-साथ कर्म-रस में से भी एक नाम मिलता है। इस प्रकार व्यक्ति का कर्म मात्र व्यक्ति का न रहकर सारे ब्रह्म का बन जाता है और व्यक्ति की जिम्मेदारी बटने के बजाय और बढ़ जाती है।

### काम-धर्म-परिहार

इस विषय पर जैनैन्द्र की उक्तियाँ एवं साम्यताओं की बड़ी कटु आलोचना हुई है और उन्हें अरसील एवं अनैतिक घोषित किया गया है। अरसील और अनैतिक ये दोनों समाज-साधक छद्म हैं। पर समाज क्या है? क्या वह आर्थिक-राजनैतिक-आर्थिक संगठन मात्र है। जब समाज का अर्थ संगठन किया जाता है, तब उसके भी अस्तित्व रखा का प्रश्न प्रश्न बन जाता है, परस्परता का तत्त्व पीछे। तब अरसील और अनैतिक का अर्थ समाज-संगठन की अनुकूलता और अरसील-अनैतिक का अर्थ उनकी अनुकूलता बन जाता है। ये अनुकूलताएँ-अनुकूलताएँ दस बाल-परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनीय हैं और उन्हें समाज का व्यावहारिक स्मृत अन्वयायी आधार ही माना जा सकता है। मुख्य आधार परस्परता है और उसे ही जैनैन्द्रजी स्वामी स्वरूप मानते हैं। अन्धर समाज की नीति-कठिनी परस्परता का अर्थ प्रेम को अपनी टहनी में देखनी-माननी है। इसलिए परस्परता ही नीति परस्परतावाद अर्थात् प्रेम को अरसील और अनैतिक घोषित कर देती है।

परस्परता की दृष्टि से सम्पूर्ण स्त्रीलता और नैतिकता आई की माग-मात्र की ओर प्रमुखता है। जब कि संगठनभाव यह सभी व्यक्ति अथवा संगठन की स्थापितता को देता है। परिवार सबसे छोटा संगठन है। प्रश्न उठता है कि परिवार कहाँ स्थायी में ही अन्य रहे या दोष समाज से अपना बुरा सम्बन्ध रहे। परम्पराकारी भी मानते हैं कि दोष से परस्परता स्थापित किये बिना जिया नहीं जा सकता। पर वे परम्परा का अधिकार केवल पुरुष को देना चाहते हैं। स्त्री की परस्परता उन्हें अनैतिक धरतील अधार्मिक मान्य पड़ती है। प्रश्न है कि जब पुरुष का परस्परता विस्तार उस ओर उसके परिवार का समुद्र करता दीजना है। सब स्त्री का साम्य विस्तार उसे विपन्न क्या करेगा? जैनेन्द्रजी के अनुसार इस मुद्दे पर हमें यह विचारित-सिद्धियों में परस्परता आत्मीयता का अर्थ हम अधिकार से कामुकता लगा सकते हैं। स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण को काम कहा जाता है। समाज-समय के उद्देश्य से काम के नियमन के लिए, विवाह-संस्था की स्थापना हुई जिसका नैतिक परिणाम हुआ-परिवार। परिवार के सम्पत्ति और अन्य बन्धन बिना सीमा तक विपरीत स्थितियों के सम्पर्क में जाये? देखना होगा कि साम्य विरोध परिहार विशेष किन्तु यह टिका है, स्थूल मर्यादा पर अथवा हृदय के समर्पण अर्थात् प्रेम पर? प्रेम पर टिके सम्पत्ति को एक-दूसरे पर पहर लगाने की आवश्यकता नहीं होगी। उनमें परस्पर विश्वास होगा। वे दोष सत्कार को अपने विरोध में नहीं पायेंगे और असाध्य कि अपनी आत्मीयता के विस्तार में नहीं हिचकेंगे। यदि स्त्री स्वतन्त्र होना भी तो प्रेम समाधान हुई लेया। स्वतन्त्र का अनुदात्त उनके प्रेम को और मजबूत करेगा। जहाँ मर्यादा की महत्त्व मिथता है, वहाँ कामुकता और शरीर सम्बन्ध का मूल्य और उनके प्रति आकर्षण बढ़ जाता है। बन्धनों बन्ती हैं और सम्पत्ति मुक्तानुप्राप्त होती हैं। जिस अष्टाचार पर नियन्त्रण करने के उद्देश्य से विवाह-संस्था बनायी गयी थी वही धूर्त में पनपता और फैलता है। जैनेन्द्र समाज और परिवार को मर्यादा अथवा समाज हित पर आधारित न करके व्यक्ति-व्यक्ति के हार्मिक प्रेम और समर्पण पर स्थिर करना चाहते हैं। उनका विश्वास है कि प्रेम ही कामुकता आर्थिक स्वाधीन तथा हिनक महत्त्वाकांक्षा पर विजय पा सकता है। नीति-नियम आदि मर्यादा बना करने में समर्पण सिद्ध होते हैं। बन्धन में अस्वस्थ-नशा भी प्रेम और परस्परता के साम्य से जीवी हो सकती है, कुछ मर्यादा से नहीं। इसलिए परस्परता ही नीति है नैतिकता और स्त्रीलता है। परस्परता के विपरीत जो है, सब अनैतिकता और हिना है।

### पुंजीवाद-समाजवाद

पुंजी का बाद बनना जब आरम्भ हुआ? एक समय था जब एक धार भ्रम

और दूसरी ओर बाणिज्य ही समाज-मूल्य थे। उस समय को व्यापार-बाणिज्य द्वारा कार्यों-करोड़ों बटोरते थे उनका समाज-मूल्य गण्य था। पूँजी का बाढ़ बनना उस दिन आरम्भ हुआ जिस दिन पूँजी को समाज-मूल्य मिला और पूँजी पैदा करने की स्पर्धा जन-साधारण में पैदा हुई। पूँजीपतियों ने विकासशील मूल्य विज्ञान का सहारा लिया। उद्योगों का सुनपाठ हुआ। राज्य-सरकारों ने उद्योगों पर कृपा का दस्त त्यागकर उनमें समीप बसि लेनी आरम्भ की और व्यक्तिगत पूँजी के रक्षण और विकास के लिए कानून बनाये। उद्योग उत्पादन और बाणिज्य मानव-मानसिकता पर छा गये और नर्म अर्थात् नैतिकता के माथ ढँक गये। समय आया कि पूँजीपति सरकार में पहुँचा और सामन्त के स्वाम पर स्वयं विधायक बना। सत्ता पूँजीपति के हाथ आ गयी। समाज की सुविधाएँ पूँजी के आचार पर मिलने और छिने सभी। पूँजी ही व्यक्तिगत पारिवारिक सामाजिक पारस्परिकता का नियमन करने लगी और हर समस्या के आर्थिक पहलू को हम सर्वाधिक महत्त्व देने लगे। इस अर्थ-मानसिकता को ही जेनेन्सजी पूँजीवाद का नाम देने हैं। उनका मत है कि पूँजीवाद से समाजवाद तक पहुँच जाना इस अर्थ-मानसिकता से छुट्टी पा जाना नहीं है। अतएव बीच यह अर्थ-मानसिकता है जो उपर्युक्त दोनों ही बाहों का समान आचार है। पूँजी से प्रेरित व्यक्ति हो या राष्ट्र दोनों की विचारमा एक ही पट्टी की होनी और दोनों ही नैतिकता और पारस्परिकता को लाँचकर चलने। जेनेन्स समाजवाद को राजकीय पूँजीवाद (State Capitalism) कहते हैं जिसके पास अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा और ईर्ष्या-क्षेप का बाठाकरण पैदा करने की क्षमता आ जाती है। जेनेन्स बशिक के हाथ में चलन और कानून का पैना घुम नहीं मानते। राज्य का बशिक और पूँजीपति बन जाना उनकी दृष्टि में कम्पास का काहूँ नहीं बन सकता। आज पूँजीवाद और समाजवाद में जो अन्तर माना जाता है—अर्थात् व्यक्तिगत आर्थिक प्रयास की स्वच्छन्दता और उसका सरकारी प्रयास में विस्तृत हो जाना—उसे जेनेन्स बहुत महत्त्व नहीं दे पाते। वे सत्ता के केन्द्रीकरण से भी ग्रहण नहीं हैं। विकेंद्रित और अनुशासनात्मक शासन को ही वे नैतिक मान पाते हैं। उनका निश्चय है कि परम्परा से विमुख स्व-निष्ठ अहं चाहे व्यक्ति का हो या संगठन का समस्याएँ ही पैदा करता है। विज्ञान की छवि में राष्ट्रीय सह-कारिता को जो दुर्बल बना दिया है यही हमारी आज की प्रथम बड़ी समस्या है।

### अथ का परमार्थोक्ति

आज विकासकाय उद्योगों और अन्तर्राष्ट्रीय बाणिज्य पर टिकी हवाई अर्थ व्यवस्था इतनी बलित हो गयी है कि वह साधन न रहकर साध्य का स्वरूप के बुद्धी

है। अर्थ-मानसिकता इतिहास के प्रवाह में हमें मिलती है और विरल की राजनीतिक-कूटनीतिक समस्या ऐसी है कि सुषुप्त, कमिष्ट समाजवाद सबको अलग पाप ( Lesser Evil ) के समान अनिवार्य लग उठता है। अस्तित्व-रक्षा का प्रश्न आज सबसे बिफट है और विज्ञान ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि अर्थ और राजनीति के क्षेत्रों में केन्द्रित सामूहिक प्रयास के बिना गुमराह नहीं रहा है। इतिहास के बेम को लौटाया नहीं जा सकता। पर एक बात की जा सकती है। यह यह कि नैतिकता को अर्थ-मानसिकता के प्रतिपक्ष में से हटाकर उसे अर्थवाद का एन्ड-गोल्ड बना दिया जाय। हमारी आर्थिक योजनाएँ मात्र 'स्व-अर्थ' से प्रेरित न होकर 'पर और परम अर्थ' से प्रेरणा प्राप्त करें। राष्ट्र मात्र राष्ट्रीय हित के आधार पर मोल-भाव कम-बिकम और शीत-यौव न करके समस्त विश्व का हित सोचें। यह तनी होना जब व्यक्ति 'परम अर्थ' की शिक्षा लेंगे और उसका राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों में अन्वेष करेंगे। अर्थ-नीति और राजनीति को परस्परता की प्रेम-नीति पर बकाय बिना स्वार्थी द्वेष, गुणा के बातावरण को बरसा नहीं जा सकता। जैनप्रभू का विश्वास है कि अर्थ का परमार्थीकरण राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी असम्भव नहीं है। जो भी देश ऐसी पहल करने के लिए काम बड़गा यदि उसमें सिर्फ एक जोश ही न होकर समग्र और सही की सही व्यवस्था ( Right Assessment ) की समझ और कुछ कर मुनरने का साहस होना तो उस घाटे में नहीं खूना बड़ेगा। विज्ञान इस दिशा में मानव की पूरी सहायता कर सकता है। उसने महापद्म केना-न के पाना यह मानव की अपनी नैतिकता पर निर्भर करना है।

### वैज्ञानिक अध्यात्म

जैनप्रभू ने 'वैज्ञानिक अध्यात्म' नाम का प्रयोग किया है। मैं समझता हूँ जैनप्र-दयान पर यह नाम ठीक बैठता है। आत्मिकता अर्थात् पारम्परिकता को लक्ष्य मानकर चमत्कार और वैज्ञानिक तर्कों का आत्मिकता के विकास चम में प्रुप्त उपयोग करना ही वैज्ञानिक अध्यात्म कहला सकता है। ब्रह्म की समझता यह की अमता दोनों की उपेक्षा—ये तीन अस्तित्व के सबसे अधिक वैज्ञानिक रूप हैं। इन तीनों का परस्परता और अहिंसा के लिए उपयोग हो। पूर्ण व्यावहारिक अध्यात्म और उसका लक्ष्य हो सकता है। जैनप्रभू का यह प्रमथदी अध्यात्म अनुमान है और मूल्यवान् अध्यात्म की तरह चमत्कार को रक्त निष्कृत और जीवित नहीं करना बरन् उसे एक स्मृत्य रक्षित प्रदान करना है और आत्मिक दम्पियों को गोकता है। यह मानव के सामने व्यक्तिगत आध्यात्मिक सामाजिक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की योजना प्रस्तुत करता है। मानवता के साथ बर एक उच्च नैतिक लक्ष्य स्थापित करना है और उसकी मानवता को असीम-अवाप बनकर



भौतिकवाद और विज्ञानवाद पर आसक्त होने की प्रेरणा देता है। जैनवाद की विचारणा गांधीवाद का वैज्ञानिक अध्ययन करती है और उसकी मूल गहन प्रेरणाओं को बौद्धिक और व्यावहारिक तल पर ले जाती है। भौतिकवाद और विज्ञान को 'परे परे' करना आसक्तिता से इनकार करता है। क्योंकि ये दोनों भी जगत्वात् की ही देन हैं। जैनवादी का मत है कि इन दोनों से जब खाना व्यक्ति-वैतना के नीचे ब्रह्म की सत्ता को अमान्य ठहराना है। विज्ञान और अध्यात्म जब परस्पर सापेक्ष बनकर धुके-मिलेने लगे उसका फल यही हो सकता है कि राष्ट्रों के बीच परस्परता और प्रीति बड़े पुष्टों की सम्भावना कम हो और एक विश्व-संस्कृति का विकास हो।

## निवेदन

जैनवाद के विचारों और उनकी अहिंसा में कोई पलीतता छोड़ना चायद संभव नहीं होगा। मुझे सम्येह है कि कोई भी विचार ऐसा है, जो पहले किसी न किसी रूप और प्रसंग में प्रकट न हो चुका हो। यौक्तिकता इसी बात में समझी जानी चाहिए कि विचारक ने विचार के किस पहलू पर कितना और किस उद्देश्य से बल दिया है। जैनवाद ने अहिंसा का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, जिससे आज के बौद्धिक मानस में उसका सापेक्षतावादी और परस्परतावादी पहलू उभर सके। उनके विश्लेषण के इसी तथ्य ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया है। जैनवाद की विचारणा के इसी परत को मैंने प्रस्तुत उपाध्याय में पाठक के सामने रखने का तुच्छ प्रयास किया है। वही एक हो सका है जैनवाद-विचारणा का सार संक्षिप्त पर स्पष्ट, अमिश्रित रूप में रख पाना ही यद्यपि मेरा उद्देश्य रहा है, पर मुझ अपनी सफलता में महत्ता संभव है, क्योंकि जैनवादी की विचारणा इसी गहन और संक्षिप्त है कि उस पर कसम मुझ बालक की धारण नहीं उठानी चाहिए थी। फिर भी जो यह साहस मुझसे बन पड़ा उसमें अनेक बाबूजी का प्रोत्साहन और उनके मुझमें प्रेम ही कारण है। जो भी त्रुटियाँ अथवा अनधिकार-बेजगह इस प्रयास में मुझसे बन पड़ी हों उन्हें क्या मैं आपा कहूँ कि माध्य विद्वान एवं पाठक क्षमा करेंगे।

यहाँ एक अन्तिम निवेदन यह करना चाहूँगा कि इस 'तथ्य और हम' ग्रंथ में जो भी प्रत्यक्ष मैंने किये हैं, वे विद्युत् मित्रासा-भक्त ही नियम हैं और उनका उद्देश्य जैनवाद के अन्तर्गत ही उनकी विचारणा को निकाल पाना ही रहा है। प्रत्यक्ष में निहित कोई भी विचार अनिवार्य रूप से मेरा नहीं समझा जाना चाहिए। मुझे पार आ रहा है, परन्तु ही प्रत्यक्ष मैंने किया था 'मैं ईश्वर का नहीं मानता। क्या आप मानते हैं?' पर एवन की ईश्वर की मर्जी पर छोड़ सकूँ, यही मेरे हृदय की अरुण कामना है। अस्तु।

दिल्ली

प्रकाश-संस्कृति, २०१८

—चौरेन्द्रकुमार गुप्त

प्रथम खण्ड

परमात्म

- १ ईश्वर
- २ आत्मा व्यक्ति कर्म भाग्य
- ३ प्रतिष्ठा भविष्य
- ४ इन्द्रात्मक सौतिषवाद और वर्ग भेद
- ५ व्यक्ति विद् तन्त्र यन्त्र
- ६ प्रजापत्य मातृसंवा साम्यवाद
- ७ वैज्ञानिक अध्यात्म

## ईश्वर

### ईश्वर और प्रकृति

१ मैं ईश्वर को नहीं मानता। क्या आप मानते हैं?

—मैं सबसे बिना और कुछ भी नहीं मान पाता हूँ।

२ तब क्या आप प्रकृति को जबका 'मैटर' को नहीं मानते हैं?

—मान सकता हूँ पर उन्हें अनौद्वार मानने की आवश्यकता मेरे लिए नहीं है।

३ ईश्वर प्रकृति से पैदा हुआ या प्रकृति ईश्वर से?

—ईश्वर शब्द की ध्वनि में ही है कि वह पैदा नहीं होता। फिर किसीमें से पैदा होने का सवाल ही नहीं है। वह केवल है। इस तरह वह अनारिज्य या आदिकारण है। पर कारण ऐसा कि कार्य उससे बाहर नहीं हो सकता।

४ इस बात को तनिक और स्पष्ट कीजिये।

—जब होने के अन्तर्गत-स्वयं को ईश्वर मानना होगा।

५ तब क्या मैटर भी ईश्वर है?

—अनौद्वार नहीं है।

६ ईश्वर और प्रकृति में, आपके मतानुसार, अद्वैत मानना होगा या द्वैत?

—अद्वैत-द्वैत भ्रम-स्थूल पावर में दो हैं जैसे रस और फल दो हैं। मात्रा अद्वैत का द्वैत का रूप पहना देनी है।

७. क्या प्रकृति और ईश्वर में किसी प्रकार का बिरोध है?

—अर्थात् बिरोध पूर्ण में छिड़े हो सकता है?

८. किसी वस्तु ने मुझसे कहा था, जिस प्रकार जल से बिजली पैदा हो सकती है वर बिजली से जल पैदा नहीं हो सकता, उसी प्रकार स्थूल प्रकृति से ईश्वर अपवा केतना उत्पन्न होती है, वर नुहम ईश्वर से प्रकृति पैदा नहीं होनी। इस विषय में आपका क्या विचार है?

—उन वस्तु ने विज्ञान की प्रक्रिया को देखाकर कहा होगा। चिन्-मूर्ति की प्रक्रिया गुरु से स्थूल की ओर है।

६. तब क्या सृष्टि और विज्ञान की प्रक्रियाओं में भेद है ?

—काफ़ी। विज्ञान के आविष्कार जितने हों उतने ही रहते हैं। जैसे मिथु मुभा ठिठा और अन्ध में बूढ़ होकर भूल्यु में मिरा जाता है, जैसे सब विकास या ह्रास की परम्परा विज्ञान के उपकरणों में नहीं मिलती।

पढ़ा जिसमें, इश्वर उसमें

१०. विज्ञान को ही सब माननेवाले और ईश्वर का निवेद्य करनेवाले को आप कैसे विश्वास दिलायेंगे कि ईश्वर है ?

—विश्वास दिखाने की आवश्यकता नहीं है। यदि सब समुद्र में गिरती है। तो तब विश्वास सब ईश्वर में पहुँचता है। विश्वास में हम अपने को छोड़ दें, तो ईश्वर के सिवा पहुँचने के लिए हमारे पास कोई गति नहीं रह जाती है। किनारे पर रमकर ही हम अपनी मायका का इस या उस उत्सव देव या लीन, का नाम दिया करते हैं। अर्थात् मेरी दृष्टि में पूरेपन व मानना जिसे थका कहते हैं, काफी है। तब किसमें यह प्रश्न ही नहीं रह जाता। जिसमें भी है वही पर्याप्त है। वही स्वर है। ईश्वर का एक नाम तो है नहीं। जितने नाम सब उसीके हैं। उन नामों के बढक रहने से ही दिक्कत होती है। अथवा असम्बन्ध विचारों में भी दुबिधा होने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

निवेद्य व या मकार में कठिनाई इतनी ही है कि विश्वास पूरी तरह वहाँ बस नहीं पाता। निवेद्य के प्रति भक्ति नहीं हो सकती। लेकिन यदि कोई ऐसा प्रतिमापसी है कि मकार की भाषा में उसका विश्वास पूरा प्राप्त हो जाये तो वह विश्वास भक्ति-वादा हो सकता है। 'निधि' क्या ईश्वर की ही परिभाषा नहीं है ? फिर निधि के मार्ग से ईश्वर की स्तुति क्यों नहीं हो सकती ?

जिसमें हर वो एक है

१. तब ईश्वर का स्वरूप क्या है ?

—स्वरूप किसी दूसरे को छोड़ कोई एक निर्दिष्ट ही नहीं सकता। इसीसे ईश्वर स्वरूप है। मुझिया हम सबकी है कि अपने मन का स्वरूप उसका पहना से। यह जन्तु मुझिया ईश्वर के सिवा नहीं अभ्यस्त मिल नहीं सकती। उस रूप में शीघ्रता पायी ही आवश्यकता है। ईश्वर ने वह समझा भी हमें दे दी है। लेकिन मन रूप वही से प्रगटे हों उसका अपना क्या रूप कहा जा सकता है ? या तो अरूप वही मान्य रूप वही।

मैं अपने लिए यह समझमें ले लेता और मान लेता हूँ कि जिसमें हर को एक है, वह ईश्वर है।

## अद्वैत-द्वैत

१२ इस अद्वैत की स्थिति क्या है ?

—स्थिति की कल्पना परिस्थिति के बीच हुआ बरछी है। बीसा वहाँ कुछ सम्भव नहीं है। इसलिए अद्वैत को धारणा से व्यय मानना चाहिए। धारणा में उतरते ही उसे द्विज मिल जाता है। अद्वैत में बात हमारी जा नहीं सकती। बातें ही लो जायगी। बात ईत में टिकती और चकती है। अतः मैं अनुभव करता हूँ कि अद्वैत के लिए जब नस्ति ही हममें हो सकती है तब दर्शन और विवेचन का क्षेत्र ईत तक है। पार जान के प्रयत्न में तत्त्वज्ञान अपने साथ सम्पाद और व्यभिचार का आचरण करता है। तत्त्व-विज्ञाना ज्ञान में से चकने को बाध्य है। यह बुद्धि की मर्यादा है। वहाँ ज्ञान ज्ञेय में जोड़ा नहीं। वहाँ ज्ञाता यह नहीं जान ज्ञेय बीसा उसके लिए बचे ही नहीं ऐसी जो कुछ सत्य की स्थिति है उसमें तत्त्वज्ञता ठहर नहीं सकती।

## हर बी-यन का इनकार

१३ आत्मा और परमात्मा के बीच अद्वैत के विषय में आपका क्या मत है ?

—अद्वैत हर को के सर्वथा बी-यन का अवकाश है। कुछ ज्ञान के आपसी बी-यन का नहीं। जैसे जड़ और चेतन उसी तरह बीबात्मा-परमात्मा उसी तरह सत्य और असत्य रूप-अरूप साकार-निराकार—आद्य त्रिगुणी ईत की कल्पनाय अवस्थाएँ हैं अद्वैत में सबका समाहार है। आपके प्रश्न को देखते हुए कहा जा सकता है कि परम अद्वैत (परमेश्वर) बीष के साथ त्रिष तरह एक है, बीसे ही एक है जड़ के भी साथ। ईश्वर की परमता में ईत को अवकाश नहीं। ईत का स्थान हमसे है। लेकिन यह सब जहाँ से अगम जो है सो उस तट से दूर ही हमें बात को रचना चाहिए। जाने जाना बूझ जाना है। यह बात धारा सम्भव नहीं है।

## इस में अद्वैत

१४ जीवन के व्यवहार में कब-कब पर हमें ईत का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में आपके अद्वैत का इस संसार में क्या स्थान है ?

—ममत्ता के समार में तो लक्ष्य कोई स्थान नहीं है। अद्वैत के सम्बन्ध में त्रिगुणी 'ममत्ता' वही वह तो सम्भव ही नहीं है। पर अनुमति और प्रतीति में ईन म मूले हुए भी अद्वैत अवश्य हमारे भीतर यह सजना है। क्या यह सब नहीं है त्रि

बिना नहीं होता परस्परता में निककर बुभानुगुमित ही होता जाता है। बहिर्मा के मुख में भी सर्वोप है।

सृष्टि ईश्वर में से

१८. यह सृष्टि कैसे सृष्टि में आयी और इसका बीजाव किस प्रकार हुआ ?

—विज्ञान इसकी लोभ न है। उसने कुछ कल्पनाएँ भी इस बारे में हमें दी हैं। मैं समझता हूँ कि विज्ञान की बात को हमें स्वीकार करना चाहिए। ब्रह्माण्ड के और सृष्टि के बारे में विज्ञान क्या व्याख्या देता है वह साफ़ आप मुझसे सुनना नहीं चाहते। मेरा उम्मीद बहुत अधिक ध्यान भी नहीं है। पर विज्ञान की अन्तिम-से अन्तिम लोभ इस मेरे विश्वास से उल्टी न होनी कि सृष्टि सब ईश्वर में से है। मेरा काम उस अन्ध से बच जाता है और उसे मैं बंदूक की मानता हूँ।

इसी की दूसरे पक्षों में कहें, तो अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक ज्ञान रखकर भी रहस्य जैसा कुछ रह ही जायगा। इस तरह अन्ध और भक्ति विज्ञान की दूरक ही हैं, बिरोधी नहीं हैं।

सृष्टि समस्त है। जिस गये में से उसका उद्भव हुआ उसके तल को पाना हमारे लिए असम्भव है। असम्भव इसलिए कि हम सृष्टि के अंग हैं यानी जन्म पा गये हैं और मर्न के बारे में अनुमान ही रख सकते हैं प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं पा सकते। जो फिर भी प्रत्यक्ष और निस्संशय है वह यह कि सृष्टि स्रष्टा की सीता है। बीजा न होता तो हममें जीवन के आनन्द की अनुभूति न होती।

उसने बनायी—उससे बनी

१९. सृष्टि ईश्वर से उत्पन्न हुई या उसे ईश्वर ने बनाया या वह स्वयंभूत है ?

—‘उसने बनायी’ ‘उससे बनी’ ये दोनों बातें हमारे मन में ही अन्ध बिना पड़ा करती हैं। यह हम पर है कि बिना हमें कान-सा जाता है। लेकिन उस बिना की सहाई हम तक है स्रष्टा तक वह नहीं पहुँचनी। आगे कि सीतामय और सीतासे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। सीता में कृत्य का भाव है यी और नहीं नी। ‘उसने बनायी’ इसमें कर्तृत्व है और ईश्वर की अपेक्षा है। ‘उससे बनी’ यह स्वभाव है, इसमें जैसे ओषा की भाव-पकता नहीं। स्वयंभूत का भाव भी इसमें समा सकता है। सृष्टि और स्रष्टा में हम अपना अन्धे बयों न मानें कि बीज में ‘बयो’ ‘कैने’ आदि प्रत्यक्ष सम्भव न रह जायें। सृष्टि समस्त है बयों न मानें कि स्रष्टा ही उस का मैं समझ है। कठिनाई बननी होती है कि सृष्टि बीजायी अन्ध है अन्ध उसकी बिना गता और बिनागता है। अन्धय न्म समय इस भावात्मा में स्रष्टा की एकता और

अव्यक्तता सीढ़ी नहीं पाती। तो यह कि एक अनेक कैसे हुआ और अनन्त एक क्योंकर है, इसका हम बिस्मय-मस्त के रूप में ही क्यों न अपने में घाटें और सहें कि उसके रहस्य-पुस्तक का सारा स्वम्भन पाते रहें। जीवन ऐसे प्रसन्न और प्राप्तिमन्त रहेगा। उसमें निश्चिन्ता अभी रहेगी और अभीष्टा विरहित होकर हमें सदा उन्मुख बनाये रहेगी।

## सगुण निर्गुण

२० 'ईश्वर ने बनायी' को न मानकर क्या हम आस्तिकता को मुख्य कुण्डित नहीं करते ?

—नहीं बिल्कुल कुण्डित नहीं करते। बल्कि भगवद्गीता को उसकी आस्तिकता को पबल्लत और अलण्ड करने के प्रयास में हम देखें कि वह 'मे' की भाषा कर्तृत्व की धारणा सहज पार होती जाती है।

अभी! हाथ के इतिहास के महात्मा गांधी को लें। उनसे बड़ा आस्तिक कौन होगा ? लेकिन अन्त में 'ईश्वर सत्य है' की जगह 'सत्य ईश्वर है' कहता उन्हें अधिक मान्य और प्रिय हुआ। अबाहरलात नेहक जैसे उनके साथी इसका भाग्य नहीं समझ पाये। कैसे समझते ? फिर भी वक्तव्य में गहरा सार है। वह यही कि सत्य में 'कर्तृत्व' का आरोप नहीं रहता 'ईश्वर' शब्द में आने-अनजाने कर्ता का भाव आ जाता है। लेकिन ईश्वर की जगह सत्य को रखने से गांधीजी में क्या समिक भी विधिकता आयी ? आस्तिकता क्या डीकी होती माधूम हुई ? नहीं बँसा नहीं हुआ। बल्कि सत्येश्वर के प्रति उनका समर्पण असीम और अनन्त होता ही चला गया।

सत्य निर्बैयक्तिक है। इसलिए कठरा यह रहता है कि उसके साथ समन सम्बन्ध सामासिक सम्बन्ध भावात्मक सम्बन्ध नहीं बन पाता। सम्मन यह भी रह जाता है कि सत्य के नाम पर हममें स्वार्थन-भाव भक्ति-भाव बहो बल्कि एक स्वत्व और अहं भाव हो। यानी वह माना हुआ सत्य हमारे ही अहं का प्रतिष्ठ रूप हो। यह ठोस ईश्वर कहने से एकदम बच जाता है। उसमें अनिवार्य एक दास्य भाव प्राप्त होता है। अहं की सीमा उसमें गल जाती है और फिर शुरुआत है। यह भावक और नाम-भान जीवन को सम्पन्न व स्वस्थ करता देना गया है। इसलिए सम्पन्न में ईश्वरत्व को मिटा देने का मैं क्षामी नहीं हूँ। काम-भाव में सगे सामान्य मनुष्य के लिए ईश्वर बहुत उज्योगी और आवश्यक होता है। उस संज्ञा के महारे परम से हमारा निजी व सामासिक सम्बन्ध बना रहता है। वे परीक्ष-पूजा द्वारा अनन्तात्मक समष्टि से बनना पाता जोड़ पाते हैं और हम तरह अपनी निजता से ऊँचे उठने और पार जाने



की राह पा जाते हैं। कारण अनन्तानन्त की एक में अक्षय को लब्ध में मूर्त और व्यक्त देख पाते हैं।

वैसे-वैसे उस व्यक्त मूर्त और सगुण से एकारमता पाने की कोशिश होयी वैसे ही वैसे व्यक्त अव्यक्त मूर्त अमूर्त और सगुण निर्गुण बनता जायगा। साधना साधक को आकार का सहारा देकर पार निराकार में उठाती ही जायगी। इस प्रकार साधना शीघ्र आस्तिक अनायास वैज्ञानिक होता जाता है। पूजा-प्राथना से जाये अपने प्रत्येक आचरण में वह जो परमस्वर वा दर्शन और अनन्तारण चाहता है, वो जान पड़ता है कि उसने दर्शन-ज्ञान में अनायास सत्य का स्वस्म उत्तरीतर स्थापित में उपपाठित और आधिकृत होता जाता है। सत्य की उस भांति भाषी नहीं उठाती वा सकती वैसे मूर्ति की उठाती वा सकती है। सत्य अमूर्त रहा है इसलिए मन्दिर में मूर्ति-पूजा से जो सहज सन्तोष सम्भव है वह सत्य-पूजा में अनुपलब्ध रह जाता है। यहाँ यहूदी विविधा की आवश्यकता होती है। कारण अनुक मन्दिर या मूर्तिवाला ईश्वर उपस्थिति से पठ जाता है सारे विश्व में फैल जाता है तब उसको पाना न पकड़ना मुश्किल होता है। उसकी आराधना भी मुश्किल होती है। यह ध्यानि-जानिया का नाम है। मूल्य उस राह अपनी विधा भी मूल वा सकता है। इतना कि मन्त्रा उससे जो जाय और मार्ग तक उसकी दृष्टि से कट हो जाय। मूर्ते लगता है कि बाब यही ही रहा है। सगुण रूप में हम उसे मान्य कर नहीं पाते। इस तरह अव्यक्त की बेसी पर से जब कि ईश्वर खण्डित होता है, तब सत्य उसकी जगह प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। कारण सत्य के प्रति सर्वस्वार्थ का भाव पाना अव्यक्त दुस्साध्य है। इनीम एक प्रकार की नास्तिकता फैली बीजती है और वैदिकता वैसे बीजकारी हुई है। इसलिए सत्त्वा तक क का में बने की में तनुपित नहीं मानता। विमुक्त अबका खन होकर सत्त्वा समष्टि समग्रता से धर्म अनापान उतारने होता है। व्यवहार में उससे सम्पाद्य रूप को बाहर से तोड़ने की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं अहंभ्य और प्रतिक्रियात्मक है।

### विज्ञान और इश्वर

२१ विज्ञान यद्यपि अबका ज्ञान को ही जो अन्तिम यत्न कर रहे हैं उसीकी उपासना में बलविल रहते और ईश्वर का नियोजन करते हैं, उन्हें आप क्या कहते—  
आस्तिक या नास्तिक ?  
—उपासना में स्व-सहज की जगह स्वार्थ की दृष्टि हो तो नास्तिक। लेकिन अधिकांश ऐसा ही नहीं पाता। फिर नहीं मुक्त प्राथना नहीं होती प्रतिन मूर्ति

फूटती। इस नमन से मावनाओं का जो एक ऋजुता प्राप्त होनी है, हुन्य को जो सम्कारिता प्राप्त होती है, निरे बौद्धिक अनुसन्धान में व्यक्ति को उसमें बंथित रह जाना पड़ता है। यों कहिये कि उस ज्ञासना में विमान की सुगन्ध मिश्रित है, मस्तिष्क पुष्ट प्रखर होता है, दिम सूखा रह जाता है। अर्थात् मूल वह को संस्कार नहीं मिलता। व्यक्तित्व को वांछित नहीं प्राप्त होता। प्रेम मुखोत्पन्न है और ज्ञान-विमान का सहारा लेकर भीतर ही भीतर अहं और कष जाता है। मस्तिष्क की तीक्ष्णता के साथ सब व्यक्तित्व को चार मिलनी है और सामाजिक सम्बन्धों में स्वर्ण अधिक काम करने लग जाती है। उन्नति बढ़ती है, सन्तुष्टि घटती है। आज की मानव-सम्यता का दृश्य कुछ यही है। विज्ञान के जोर से हम ग्रह-उपग्रहों के पास पहुँच गये हो सकते हैं पर पड़ोसी से दूर हो गये हैं। विज्ञान के चिन्ता न पड़ोसी को उड़ा दिया है, उनकी आवश्यकता को जैने तत्त्व कर दिया है। परिणाम क्या है? परिणाम यह है कि मानविक रोम और विकार बढ़नी पर हैं। एक मूना बन और अकल्पन सम्म व्यक्ति को बेरे रखने लगा है, जिससे छुटने के लिए वह नया रोमांच और अपराध (Thrill) में सरग होता है। सम्पत्ति न सीमा तथा वन न माना आविष्कार किये हैं। रोड-रोड नयी बिजली सामने आती जाती है। मानों सम्म आदमी अपने को पैस भी हो, कुछ बेर के लिए मुखा हासना चाहता है। उमर पैस की बुनिया है, जिससे हर क्षण वह अपने को यात्र रखन की मजबूर है। हांग बरा भी जो नहीं सकता। जो छिर कुछी तरह उस क्षण चाहिए, जब वह अपने को जो जाने होगा से बेहोश हो जाय। अपने को एकदम छोड़ दे और वहीं तनिक सेमाले न रख। यह जो आदमी तरेड़ जाकर हो बन गया है—विमान से तब दिन से मूना, ऊपर से मर्यादित भीतर से निरंकुश व्यवहार से सम्म आजाता से जगती—वह आज के उत्कर्ष का विदूषक क्या इसी तरह से नहीं है कि मन के मुनाओं में उड़कर हमने अपने को ऊँचा मान लिया है और उस मन की वही समर्पित करने की अकल्प से हम बेगबर हो रहे हैं। ईश्वर से आत्मार्पण की उन्नी यहूदी आवश्यकता की पुनि होती है। मानव की वह आवश्यकता आज अमूर्त है, अनूप है और उन्नति के मन में उसको महमा और हठात् मुनाया जाता है। यन्त्र पुर्मापार पैदा कर रहा है और इस तरह उत्पन्न कर की अकल्पन हमारे सम्मन्न कर्ष करे करने सिम आ रही है। कुरान नहीं है कि अपने भीतर के गहर अनाथ पर नियाह काम करें पायद वह करते हर भी लगता है। इन बात में उन्नति अपने की उत्पन्न करने हूँ अन्त में मुझ में आ कृती है और लोग चकरा गये हैं। मानव पायद मन में उठ गया है, मस्तिष्क उन्नति का बेम जब भी है और सम्पत्ति की महापक्ष तीव्रान्वी हो रही है। किन्तु विज्ञान के उत्कर्ष के महारे हम वही आ गये हैं जहाँ आने चाह बन्ध रिगार्ड देती है।

की राह पा जाते हैं। कारण अगस्त्यान्त को एक में अक्षय को अक्षय में मूर्त और अक्षय देख पाते हैं।

जैसे-जैसे उस अक्षय मूर्त और सगुण से प्रकारमयता पाने की कांछिष्ट होती जाती है, जैसे अक्षय अक्षय मूर्त अमूर्त और समुच्च निर्गुण बनता जायगा। साधना साधक को आकार का सहारा लेकर पार निराकार में उठाती ही जायगी। इस प्रकार साधना-धीरे धीरे आन्तरिक अनायास वैज्ञानिक होता जाता है। पूजा प्रार्थना से जागे अपने प्रत्येक आचरण में वह जो परमस्वर का दर्शन और अनुभूति चाहता है, जो जान पड़ता है कि उसके दर्शन-ज्ञान में अनायास सत्य का स्वयं उत्पत्ति उत्पत्ति में उद्घाटित और आविष्कृत होता जाता है। सत्य की उस भांति आखी नहीं उठाती या सजती जैसे मूर्ति की उठाती या सजती है। सत्य अमूर्त रहता है, इसलिए मन्दिर में मूर्ति-पूजा से जो सहज सम्बन्ध सम्भव है वह सत्य-पूजा में अनुपलब्ध रह जाता है। यहाँ गहरी विविधा की आवश्यकता होती है। कारण अमूर्त मन्दिर या मूर्तिवाला ईश्वर उपस्थिति से उठ जाता है। शारे विश्व में फैल जाता है तब उसको पाना ब पकड़ना मुश्किल होता है। उसकी आराधना भी मुश्किल होती है। यह ध्यानिपूर्ण-ज्ञानिया का काम है। गृहस्थ उस राह अपनी दिशा भी चुन जा सकता है। इतना कि अज्ञा उससे छा जाय और मार्ग तक उसकी दृष्टि से छुप्त हो जाय। मुझे लगता है कि आज बड़ी ही राह है। सगुण रूप में हम उसे माय्य कर नहीं पाते। इस तरह अक्षय की बेटी पर से जब कि ईश्वर उभरता होता है तब सत्य उसकी जगह प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। कारण सत्य के प्रति सर्वस्वार्पण का भाव पाना आवश्यक हुआ है। इसीसे एक प्रकार की नास्तिकता फैली बीसवीं है और बीसवीं जैसे बीसवीं हुई है।

इसलिए सत्त्वा तत्त्व के रूप में धर्म की मैं अनुचित नहीं मानता। विमुक्त अक्षय सपन होकर सत्त्वा सगुण सम्प्रदाय से धर्म अनात्म उद्योग होता है। व्यवहार में उसके संस्वापन रूप की बाह्य से तीव्र की आवश्यकता नहीं है। वह सर्वोच्च अहंभाव और प्रतिक्रियात्मक है।

## विज्ञान और ईश्वर

२१ विज्ञान धर्म अक्षय ज्ञान की ही जो अन्तिम धारणा कहते हैं। उसीसे उपासना में वस्तुवित्त रहने और ईश्वर का निवेद्य करते हैं उन्हें आप क्या कहेंगे—आस्तिक या नास्तिक ?

—उपासना में सब-सेवन की जगह स्पर्श की वृत्ति हो, तो आस्तिक। किन्तु अपिनाश ऐसा ही नहीं पाता। फिर नहीं मृत्ता प्रार्थना नहीं होती अन्ति नहीं

कूटती। इस नमन से भावनाओं का जो एक झुजता आर्द्रता प्राप्त होता है वृद्ध को जो संस्कारिता प्राप्त होती है निरे बौद्धिक अनुमान में व्यक्ति को नमन बर्चित रह जाना पन्ना है। यों कहिये कि उन उपामना से विभाग को सुराक्ष मिलनी है, मस्तिष्क पुष्ट प्रसर होना है, बिल सूना रह जाना है। अर्थात् मूक गुरु को मस्का नहीं मिलता। व्यक्ति का दासिन्व नहीं प्राप्त होता। प्रेम सुराक्षा है और ज्ञान-विज्ञान का सहारा लेकर भीतर ही भीतर वह और बस जाता है। मस्तिष्क की संश्लेषण के साथ सब व्यक्ति का घाट मिलनी है और सामाजिक सम्बन्ध में सर्वां अपन काम करने लग जाती है। उन्नति बढ़ती है, मस्कृति घटना है। आज की मानव-सम्पत्ता का वृद्ध कुछ बड़ी है। विज्ञान के जार म हन ग्रह-उपग्रह के पाम पर्व्वे गय हो सकते हैं पर पड़ानी स दूर हा गये हैं। विज्ञान क विज्ञान न पड़ोमी का उदा दिया है, उसकी आवश्यकता को जैसे सम्म कर दिया है। परिणाम क्या है? परिणाम यह है कि मानविक रोग और विकार बढ़ती पर हैं। एक सूना पन और अविमान सम्म व्यक्ति को घरे रहने लगा है जिसम छूने के लिए वह मरा रोमांच और अपराध (The Ill) में घग्ग सेवा है। सम्पत्ता न सीमा मरा देने के माना आविष्कार किये हैं। रौद्र-रौद्र नयी विजियां सामन आर्षा जाती है। माना सम्म आदमी अपन को जैसे भी हों, कुछ कर के लिए भुसा कालना चाहता है। उपर पैस की बुनिया है, जिससे हर खय वह अपन को याद रखने का मकसूर है हमारा भी तो नहीं सफ़ता। तो फिर कूसरी तरह उसे लग चाहिए, जब वह अपन को भी डाल हीय से बेहोश हो जाय। अपन को एकदम छाड़ दे और वहीं उनिक खेमासे न रहे। यह जो आदमी तरेड़ साकर हो बन गया है—विमाय स तैज दिव से सूना ऊपर म मयदिन भीतर अनिरंकुष व्यवहार स सम्म आशाना न अपनी—यह आज क उत्तर्य का बिग्न क्या इनी बजह से नहीं है कि मन के मुकाबा में बढ़कर हमने करने का ऊँचा मान लिया है और उस मन को वहीं सुर्माँत करने की अकुरन से हन बेगबर हो रह हैं। ईश्वर से आत्मार्पण की उची गहरी आवश्यकता की पुनि होती है। मानव की वह आवश्यकता आज अपूर्ण है, अनृत्त है और उन्नति के मर में उनकी मरमा और हठान् भुनाया जाता है। यन्त्र भुनापार पैदा कर रहा है और इस तरह उन्नत मन की मन्त्रापन हमारे मन्त्रत बर्ग की बहाये लिय जा रही है, कुरमन नहीं है कि अपने भीतर के गहर अभाव पर निगाह डाल मनें पापद वह करते कर भी समता है। इस बाड़ में उन्नति करने का उन्नत करली हूँ मन में पुड में आ कूटी है और लोग बकरा गये हैं। मनय पापद मन में रठ गया है मनिन उन्नति का बेग अब भी है और एकरास की घड़ापड़ तैयारिनी ही रहा है। निन्तु विज्ञान के उत्तर्य के सहारे हम नहीं आ दये हैं, जहाँ आये राह बन्द दिगार्न टीनी है।

उस बेम में एक ऊबम और बढ़ा कि सर्वेनाथ स्पष्ट है। इससे सोचने विचारनेवालों के मन बिग गये हैं और वहाँ गम्भीर मनन मचा है। सिर्फ 'करने-परने' वाले व्यस्त हैं और उन्हें झीटने की सोचने की ताब नहीं है। अन्यथा सिद्ध है कि उमति का रूप एकादी रहा है और व्यक्ति के भावे वंश को सूझा छोड़ गया है। मास्तिक प्रवर बना है, हृदय सूखने को लग्न रह गया है। बर्म हृदय का विषय है और ईश्वर उस हृदय की मीय को भरता है।

मास्तिक का आवश्यक लग्न नम्रता और निर्गुणता है। विज्ञान अथवा यज्ञ-ज्ञान की उपासना में जिनको यह झुकावा दी स्वार्थ माय दिया उन्हें तो मास्तिक ही कहना चाहिए। क्योंकि उपासना की बेदी वहाँ दृश्य नहीं है, उस पर कुछ अवश्य विराजमान है, जिसके समक्ष वे नत मस्तक हैं। नतमस्तकता का यह प्रसाद उस शेष में बिरछे ही पाठ है। जो उस प्रसाद से बंचित हैं और अधिकार बंचित हैं, उन्हें मास्तिक कहने से सख पर खोर पड़ता है। ईश्वर का एक रूप नहीं है सब रूप उसीके हैं। बृक्ष में पत्थर में जब उसे पूजा जाता है तो ज्ञान-विज्ञान के निमित्त से क्यों नहीं पूजा जा सकता? प्रफुल्ल नमन का प्रत्यर्पण का है। बीस उपासना में से वह आवश्यकता पूरी नहीं होती ऐसा देखने में आता है।

## आत्मा, व्यक्ति, कर्म, भाग्य

### बिनासवाद

२२ क्या वास्तव में कीटों से जन्मता मानव का विकास हुआ ? क्या आप विकासवाद के अनुसार जीव-मृत्ति को और सम्यक्ता को निरन्तर बिनामोम्मुक्त मानते हैं ?

—हाँ जन्मपा समय जन्म टूटरेगा। सब अर्थ ही मट्ट हा जायगा।

विज्ञान व मृत्ति जन्म के बाद में यह मान्यता कि जन्म में को-वर्णन बाहि हुए और वहाँ से जन्मः पगु-पत्नी-मनुष्य अस्वाभाविक नहीं है।

### चेतना विकासशील

२३ तब दो संस्कृति के विकास के लिए शरीर का विकास अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ और आत्मा अथवा चेतना नगण्य सिद्ध हुई।

—क्यों यह अर्थ क्यों हुआ ? विकासवाद यहाँ तक में समझता है चेतना का नगण्य नहीं मानता। पृथ्वी का शरीर-वर्णन अधिक अन्तिम व निष्पत्ति है, ता क्या चेतना भी उतनी ही उन्नत नहीं है ?

आत्मा और देह को दो मानकर चेतन से माया व बुद्धि का सुविधा हाजी हा पर वे उस तरह असम्य हैं नहीं। जैसे दो किनारों से एक लकी को हम निर्दिष्ट करते हैं वही ही बात वहाँ माननी चाहिए।

२४ यदि आप आत्मा को भी विकासवाद के अधीन स्वीकार करते हैं तो पीछा में जो उसका रूप वर्णित है उसका क्या ठेस नहीं पहुँचती ?

—आत्मा करने परन्तु रूप में परमात्मा है। नाम माया में आत्ममहा वा व्यक्तिगत सम्बन्ध में भी अनुप्राप्त किया जाता है। व्यक्तिगत चेतना या आत्मा विकासवाद के अधीन है, यह कहने की बजाय दो क्यों न कहिए कि यह 'बिनासशील' है। तब अधीनता निट जाती है, सहजता आ जाती है। हाँ, केवल बिनासशील है।

## आत्मा असीम

२५ इन्द्रियों मन बुद्धि आदि क्या उस चेतना अथवा आत्मा की सीमाएँ निर्धारित नहीं करती? उनकी अपनी भी क्या सीमाएँ नहीं हैं?

—यै सीमा बनाने नहीं। मिटान की तरफ़ चटना चाहता हूँ। इन्द्रियों का अपना अपना विषय तो स्पष्ट ही है। बाँह की सीमा है कि वह मुन नहीं सकती। शरीर की यह कि वह देख नहीं सकता। लेकिन आगे मन और बुद्धि के व्यापारों के सीमा-निर्धारण के विषय में कुछ कठिनाई होती है। उनका क्षेत्र व्यापक है। उन संज्ञाओं की सीमा अस्पष्ट होती। अथवा वे संज्ञाएँ टिक नहीं सकेंगी। वह सीमा आप किसी पाठ्य-ग्रन्थ में से छाँट पा सकेंगे। पर मुझे जो कहना पड़ता है वह यह कि सीमाएँ काम आती होती हैं। व्यवहार से आगे के राज्य में उनकी स्थिति बिगड़ जाती है। यहाँ तक कि खरम ही हो जाती है। ज्ञान-मस्तिष्क का व्यापार तो भी कुछ जटिल-अस्पष्ट देखा जा सकता है। घड़ी में स्थान भी उन्हें ज्ञान-अज्ञान मिला है। पर आत्मा को उस तरह कहीं एक जगह जोड़ा-देखा नहीं जा सकता है। व्यक्ति में है तो समुक्त स्वभाव पर नहीं। सब कहीं है। विश्व में है तो भी सब कहीं है। उसे इनकार तो किया जा सकता है, लेकिन किसी एक जगह या स्थान में स्थित नहीं बताया जा सकता। मेरा मतलब है कि मन बुद्धि इन्द्रियों का जो अपेक्षाकृत स्थिति प्राप्त है, व्यापार यदि बन्द रहा है, तो मूक में उस सम्बन्धानन्द के कारण जो स्थिति से व्यतीत है, या कहो कि सर्वत्व और सर्वण है।

## हर साम्यता ईश्वर का एक रूप

२६ बुद्धि को ही जो अन्तिम सर्वव्यक्तिमान् तत्त्व मानते हैं उनके विषय में आपकी क्या कहना है?

—वे भी गलत क्यों हैं? लेकिन फिर उन्हें 'जीवन' को ही एक व्यापक तत्त्व बनाकर मानना होता है। हम कुछ भी मार्ग लेकिन उस साम्यता को कुछ-न-कुछ आधार देना होता है। जैसे हर मानने के साथ साम्य होता है, कुछ अवशिष्ट बचा ही रह गया है। अन्त में भ्रष्टा की आवश्यकता होती है। परमेश्वर की साम्यता मानो इसी कठिनाई से एक तरह आपसी गार पाता है। जिसका उस कठिनाई का अनुभव न हो, उसे ईश्वर तब जाने की सम्बन्ध कोई आवश्यकता नहीं है।

अन्त में जिसको मानना पड़ता है वहीं तो ईश्वर है। इस तरह हरण की अन्तिम साम्यता को हम ईश्वर का ही एक रूप क्यों न कह दें। ऐसे बुद्धि और भ्रष्टा की अगमन हमारा कंठिए बन्द जाती है।

## अमादि चित्तप्रवाह

२७ कुछ विशेष तत्वों का संश्लेष जीवन और विश्लेष मरण है। इस माय्यता से क्या भाव सहमत है?

—अन्य और मरण को कर्मदा कुछ तत्वों के एकत्र होना और बिखर रहने का परिणाम ठहराकर जो आत्मा को मानने से झुट्टी पा जाते हैं वे भी क्या गम्य करते हैं? मुझे उस तरह की माय्यता आस्तिकता से आवश्यक रूप से विरोधी नहीं जान पड़ती। कर्म हैं जो पूर्व एवं पुनर्जन्म नहीं मानते हैं। इससे उनकी आस्तिकता में झुट्टि नहीं आती।

व्यक्ति चेतना का एक दिन उबल है और दूसरे अमुक दिन अस्त यह अत्यन्त स्पष्ट है। आत्मा को व्यक्तिमत्ता के रूप में नित्य और सनातन मानना अनिवार्य क्यों हो? शक्तिये यही मानिये कि चित्तस्थ अनावि नहीं है, बल्कि फलित है अमुक संघटना का परिणाम है। लेकिन यदि फलित में प्रकट है तो भी क्या यह मानने में आपत्ति की जा सकती है कि वह चित् बीजबद् विद्यमान ही था?

व्यक्तिमत्-सन्दर्भ का मह-मत् चेतना का ठीक ही है कि भावि है और अस्त है। लेकिन उस चित्-प्रवाह को अनावि मानने में क्या दोष है जो फलित और विकसित होता हुआ सामने ही प्रत्यक्ष है?

## जन्म-मरण-जन्म

२८ सब ऐसी स्थिति में पुनर्जन्म की माय्यता का क्या महिष्य रहेगा?

—मैं महिष्य क्या जानता हूँ? पिता भी उसकी क्यों? मादमी नित्य जीता मरता बीत रहा है। पुन-पुन जीता व पुन-पुन मरता है। यह सामने का नाम का देह लीजिये। पलभङ्ग में हर साक्ष इन्हें पले शङ्क जाते हैं। लेकिन हर साक्ष नये पल फिर आ जाते हैं। अब कुछ भी कहिये चाहे कहिये कि यह बूत ही हर साक्ष नया जीवन पाता है चाहे कहिये कि पले फिर-फिर कर नये पलों के रूप में उसी बूत के शरीर के जन्म पर जन्म सेते जाते हैं। माया हम तथ्य को धीरे चाहे वह सत्य ही है और मन जैसे चाहे मान करता है। पर जान पड़ता है कि दूसरी ब्रह्मणा कुछ बेडगी समेगी। हर पला मरकर फिर-फिर बूत पर नवी कोरस के रूप में जन्म लेता है दस रूप में पुनर्जन्म मानना अनावश्यक रूप आयगा। प्रत्यक्ष और सत्य यह प्रतीत होता कि बूत ही प्रतिवर्ष नव जन्म सेता है और नये पात्र निभा जाता है। उगी मोनि मानव-क्षेत्र में भी दृष्टि कुछ हमारी सामान्य और समग्र बननी आ रही है। समाज और जगत् हम व्यक्तिप्यों के जीने-मरने के द्वारा अपने को गिद्ध और सम्पन्न कर रहा है यह मानना कर्मका अविनाश गुण्डर और शायर लगता जाना



है। जन्म-मरण व्यक्ति योग्यता हो लेकिन हम भोग के द्वारा मानते हैं कि समष्टि मीठा को ही व्यक्ति और समुद्र कर रहा होता है। व्यक्ति अपनी स्वयं-सिद्धि में ही साम्य का साधन है यह मान सकें तो दृष्टि हमारी बरक जायगी और साम्य विचार में सिर्फ साम्यक सन्दर्भ मिल जायगा।

### व्यक्ति-कर्म और समष्टि

२९. आपकी इस विवेचना से कर्म-फल और व्यक्ति की महत्ता का सिद्धान्त क्या दृष्टिगत होता नहीं बीजता ?

—दृष्टिगत होता हो पर साथ ही महत्त्व भी पा जाता है। मेरा कर्म मुझसे पार जब समझ से जुड़ जाता है, तो उसका महत्त्व कम होता है या बढ़ता है ? पाप मेरा ही हो तो मुझे छोटा लग सकता है। लेकिन यदि मुझे लग कि वह जगत् भर से जुड़ा है, सबको कष्ट पहुँचा रहा है, तो वह पाप मेरे ही सिर्फ बहुत बड़ा हो जायेगा। इस ढंग से देखें तो कर्म का फल और व्यक्ति का महत्त्व घटता नहीं है बल्कि गुणानु गुणित हो जाता है जब कि समष्टि का सन्दर्भ उसे प्राप्त होता है।

जो बीज इस बिजि बटती और बटती है वह व्यक्ति और व्यक्ति-कर्म की बहुमन्यता है। मुझे समझा है कि व्यक्ति और उसका कर्म ह्रास और क्षुद्र फलवासा होता है ता इसी कारण कि वह मह की तुच्छता में जुड़ा होता है। अहं से कूटने पर व्यक्ति के और उसके कर्म के फल और महत्त्व के कम होने के बजाय उनके बृहत् और विराट् होते जाने की ही सम्भावना अधिक है।

क्या यह नित्य का अनुभव नहीं है कि प्रार्थना में अपने की प्रथम मानकर परमेश्वर की महिमा याद में लेने से व्यक्ति छोटा नहीं उठे महत्ता में उठता हुआ अपने को अनुभव कर जाता है।

समग्र और समष्टि में अपने को जीन करने के द्वारा व्यक्ति बित्सार और व्याप्ति ही पाता है। यदि इस तरह एक ही साथ जानना वह अन्त भी हाँता हुआ पा रहा हो तो उसीमें उसे अपनी परिपूर्ति का आनन्द भी अनुभव होता है। वह 'मैं' का अन्त ही इस 'मैं' की मुक्ति है।

### जैसा करेगा, वसा भरेगा

३०. आम मादमी की जो आम धारणा है कि 'जो जैसा करेगा, वैसा भरेगा' उसका आपकी विचारणा में क्या मूल्य है ?

—यह धारणा मामूली तौर पर हमें बुराई से बचा सकती है। हम जो भर रहे हैं वह हमारे ही किये का फल है—ऐसा सोचकर हम दूसरों पर दोष डालने और दोष

सामने से बच जाते हैं। लेकिन ऐसा बहुरंग जल हम दूसरे के दुःख के प्रति विमुख होते हैं, जो करने साध पाठ करती हैं। यह सम्भव नहीं है कि दूसरे का दुःख-सुख हमें न छूए। बाहर की धर्मी-धर्मी हमें अब छूए बिना नहीं रह सकयीं तब साधना के सुख-दुःख से हम अपने को बन्द करके कैसे रह सकते हैं? यानी हम सिद्धान्त की उपयोगिता यह है कि हम अपनी जिम्मेदारी दूसरों पर न डालें खुद ही उठावें। लेकिन यह जिम्मेदारी उठाने की समझ हममें बनी ही जाती चाहिए और हम अनुभव सिखना चाहिए कि बोध नहीं है, मेरा है, बुराई की बड़ बन्ध में मुझ स्वयं में है। ऊपर का मुख साधक नहीं एक भाव में हमारी मदद नहीं कर सकता। इसलिए उसे सर्वानन्द ही मानना चाहिए।

### कर्म सिद्धान्त एक सापेक्ष सत्य

११ कर्म-विरोध स्थिती दूर तक हमारी बाधों को, हमारे भावी मोक्षों को प्रभावित करता है इस विषय पर चिन्मित्र प्रकाश डालें और हमारे ध्यान में कर्म सिद्धान्त का जो इतना महत्त्व बताने है उसका जो कुछ प्रस्ताव करे।

—कर्म-सिद्धान्त गुप्त है, इसलिये सत्य भी है। किन्तु छुपना नहीं एक है यहाँ तक धुंधला है।

हाल का उदाहरण लें। सामाजिक विचार ने यह सब स्पष्ट कर दिया है कि अपनी गरीबी के लिए गरीब है। जिम्मेदार नहीं है। बल्कि अधिक जिम्मेदार माना जाने वाला बर्बर है। यह विचार लोगों की मन-बुद्धि में उतर चुका है। मैं मानता हूँ कि कर्म-सिद्धान्त के सत्यता को गुप्त की मर्यादा ल जाये लीखकर उसे सामाजिक भाव और कृत्य का आशय बना लिया गया है। इनसे उसकी सम्पत्ति भी बड़ी समान हो गयी। दुनिया को ऐसा भासूँ हुआ कि मार्क्स तथा दूसरे सामाजिक विचारकों ने कुछ अपेक्षा मध्य उन्हें दिया है इस कारण उनकी प्रविष्टि भी हुई।

बाद रहना चाहिए कि सापेक्ष सत्य एक ही अनुप्य का भाव है। यही नहीं कि वह मानव-सापेक्ष होता है बल्कि यह भी कि वह देव-मानव-सापेक्ष होता है।

सत्य-सिद्धान्त की यह सापेक्षता और अनसमता कुछ जगह है जो वह हमें योग्य के बजाय बीबने लभ आता है। परम सत्य परमेश्वर है जो सर्वथा अपरम हाथर में प्रत्येक सत्य और कर्म में सुख है। जिस कर्म में जाते सत्य माना जा सकता है। यहाँ तक कि भगवान् के द्वारा भी सत्य माना जा सकता है। वह परमेश्वर की कर्माध्यक्ष है क्योंकि जान-अनजाने हर कर्माध्यक्ष समीप प्रविष्टि मध्य के लिए जानी है। अब तनिक कर्म को मध्यमें। बाँट कर्म बिना अलम्ब्य-मध्य के सम्भव ही नहीं होता। बिनाके लिए करने से दूसरा कुछ है ही नहीं ऐसे परम अर्थ में कर्म की स्थिति नहीं

है। वह अकामकामी और परिपूर्ण है। अतः समस्त कर्म स्व-परता या परस्परता में से उत्पन्न होता है। अब हम दो ओर-ओर के बिन्दुओं में किसी अपेक्षा से कर्म का निदान और अनुसन्धान करें?

### कर्म असम्बद्ध, सामष्टिक

अमी की बात कीजिये। मुझे सबसे पत्नी पर क्रोध आया। क्रोध क्यों आया? क्या पत्नी से वह सर्वथा असम्बद्ध था? नहीं असम्बद्ध नहीं था। क्रोध के दाह और ताप का भोग मुझे मिलेगा यह ठीक। लेकिन पत्नी तक वह दाह और ताप क्या नहीं पहुँचिगा? मेरा क्रोध मुझे ही सताये यह हा नहीं सकता। इस बात में दूसरे को भी शामिल होना होता है।

कर्म-सिद्धान्त व्यक्ति को अपने में पूरी इकाई और घटक मानकर अपना कर्म निर्माण करता है। किन्तु क्या व्यक्ति अपने में पुरा घटक है? सत्यता में ऐसा सिद्ध हो नहीं पाता। सम्भवों से शून्य कोई नहीं है। वैसे सर्वथा निस्संग स्थिति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। कोई या कुछ है तो रोप के साथ और बीच है। केवल स्वतः कुछ हो नहीं सकता जो नहीं सकता चिह्न भर सकता है। ऐसी अवस्था में कर्म सिद्धान्त के बाद को बहुत अधिक ओर से कसकर पकड़ने और बाँधने से हम असुख अत्र-अत्र पर उतर जा सकते हैं।

सब यह कि मेरा पाप मेरा मैंक सारी दुनिया को मैला करनेवाला है। वह मेरा ही नहीं है। मुझे ही कष्ट नहीं देता सारे जगत् के कष्ट का कारण होता है। अपना मानकर मैं धामद अपने को धामा भी कर जाऊँ, पर वह धामा इसलिए सूखी पड़ जाती है कि पाप मुझ तक सीमित नहीं रहता वह अपना बाँध बहुत ओर फैलाता है।

मुझे ज्ञान पड़ता है कि दृष्टि और विचार के उत्तरोत्तर सामाजिक और सामष्टिक बनाने का समय आया है। स्वयं अभ्यास का यह तकाबा है। अन्वेषा माने हुए अनेक धर्म और दर्शन समय का साथ देने में असमर्थ बनकर टूट जायेंगे।

अनीति मित्रता के सम्बन्ध में जीवन-व्यापार को अब पूरी तरह समझा और तोला नहीं जा सकता। वह व्यापक मिलेगा नहीं। मन्त्रों अब परस्परता का बना होना और विचार की उगी अनुक्रम से जाने बढ़ना हीगा। अन्वेषा विचार प्रतिगामी बनेगा और मुक्ति में लौपने के प्रयास चयन में आयेगा।

### व्यक्तिमत्ता का स्वीकार-अस्वीकार

३२ समाजवाद ने जो व्यक्ति को पूरी तरह समाधि-लीन कर दिया और व्यक्ति

यह उद्यम की सत्ता व्यक्तीकार कर दी, यह उसने ठीक हो किया। फिर पूँजीवादी और स्वातन्त्र्यवादी लोग उन्हें यत्न क्यों बताते हैं ?

—आप देखेंगे कि 'समाजवाद' के साथ व्यक्ति की व्यक्तिमत्ता घट नहीं रही बढ़ रही है। यह 'करने' का प्रश्न नहीं 'होने' का प्रश्न है। चीन 'करने' को बोधित से व्यक्ति की अस्मिता कहेगी और मजबूत होगी। समर्पण में से ओ चीन भाव होमा रही स्थायी और प्रतिक्रियाशील होमा। वह समाजवाद जो राज्य और कानून के जोर से व्यक्ति-उद्यम को छोड़कर पचा देता जाएगा अपने बीच और बाहर माना प्रकार को राजनीतिक समस्याओं को जन्म दिये बिना नहीं रहेगा। व्यक्ति को समाज में उठरोतर चीज पाने की पद्धति हिंसा नहीं सहिंसा है। मजबूत राज्य के रूप में राष्ट्र को हम एकजिह्व और मजबूत करते हैं तो माकूम होता है कि एक ओर जब कि जीवन की प्रफुल्लिता और मौलिकता कम होती है तब दूसरी ओर राष्ट्र की सामा पर सुरक्षा-व्यक्ति को राज्य-संयोजित करने की आवश्यकता उत्कट हो जाती है। साथ ही अन्तरंग एकता भी वैधानिक और पालित होने से नाम-रूप की होती है भावापन्न नहीं हो पाती। भारत की एकता क्यों आज संकट में है ? क्योंकि आत्मय उसे विभाग का है वह राजनीतिक है इसीसे ऊपर है सहज और भीतर नहीं है। फिर साम्यवादी सिस्टम दो-एक जगह चल रहा है, वहाँ पीछे में क्या जाता है ? यही कि तब जब कि प्रबल बना है तब आन्तरिक और बाहरी शत्रु उससे घाल नहीं हुआ है। उत्पादन के क्षेत्र में जो संघर्षता मिली है, आपसी सम्मेलन के अथवा लोक-नीति के क्षेत्र में यही विफलता बन गया है।

पूँजीवाद की ओर स उद्यमों यही आपत्ति तो आत्मरक्षा की वासना से बनी हा सकती है। यह सच है कि विज्ञान की तरफकी के साथ समाज का आज का रंग-रंग नहीं चल सकता। पूँजी में जितना बल बढ़ता है, पूँजीवाद का घटता उतना ही बढ़ा होता जाता है। मुझे नहीं लगता कि समाजवाद उनका इलाज है। बल्कि समाजवाद और साम्यवा पूँजीवाद के परिणाम और प्रतिद्वन्द्व हो सकते हैं। इलाज यदि है तो यह कि बल कम में से हटे और जन में आव। समाज और साम्य के नाम पर अन्धश्रद्धा दोनों बाद इसल बेगबर, बलि विमुक्त हैं। वे बल के मूर्खान्तरण को मोचने हो नहीं। व्यक्ति-मे-व्यक्ति इस अर्थ में बल के स्वान्तरण की साधने हैं कि बुद्धि का गिराना और प्रीतिपरित्यक्त को उठाना है। इनके राजनीति अशक्त-बदल जाती है समाज का सम्मेलन-मूर्खों में गहरा अन्तर नहीं आता मूर्ख नहीं मानता। समाज और साम्य बाना बाने में पूँजी का निरुप का और राज्य का बल बढ़ता है। अर्थात् मानव शक्ति की ओर से देखें तो पूँजी का प्रबल मानव के द्वारा समझाए पूँजीवाद से जो पैदा हुई वे दूसरे बाधों से हट नहीं हुई, बल्कि मानव शक्त-

कर और व्यापक और बिकट ही हो गयी हैं। साम्य और समाज के बाह में छोड़-नायक सोच-नियन्त्रण के काम से इतने भर जाते हैं और वहाँ इतन चुक जाते हैं कि जान पड़ता है, व्यापक उनका हादिकता के लिए खोप नहीं रहता सिस्टम के लिए ही संयत रह जाता है। उससे सामाजिकता समाज में नहीं बढ़नी न समता बढ़ती है, बल्कि तन्त्र और यन्त्र का मानव पर दबाव ही बढ़ता है। दबाव के नीचे मानवता खिलती नहीं मानो मुरझाती जाती जाती है। उस समय प्रतीत होता है कि मूल्य नीति से जैसे सस्ते पड़कर समित में केन्द्रित हुए जा रहे हैं।

मानव-समाज के इस विकास पर बर्बाई मेरे मन में से नहीं जाती। बल्कि अनुभव होता है कि उसकी एकांगिता सतत पैदा कर रही है। आवश्यकता अनुभव होती है कि शक्ति-बल के समस्त नैतिक बल का उदय हो और वह पतवार को हाथ में लेकर सम्यता की रैया को संभाले।

### एक लक्ष्य आत्मोपलब्धि

३३ ईश्वर का इस सृष्टि में क्या प्रयोजन रहा? तमस्त जीवों के जीवन का, विभेदकर मनुष्य का क्या लक्ष्य है?

—प्रयोजन को अपने से बाहर देखना उचित नहीं। जीव का प्रयोजन फलित होना और फल का प्रयोजन जीव छोड़ जाना कहा जा सकता है। इस तरह प्रयोजन सबका आत्मोपलब्धि हो जाता है। मनुष्य में तो अपूर्णता और अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट ही है आत्मोपलब्धि की भाषा अतः वहाँ स्वयं संयत हो जाती है। ईश्वर में किसी स्पृष्टता अभाव या द्वन्द्व की सम्भावना है नहीं। इसलिए वहाँ प्रयोजन को आत्मोपलब्धि से अधिक आत्म-कीर्ति कहना सही जान पड़ेगा।

मानव-जीवन का लक्ष्य हम तरह मानव में अन्तःस्थ है। उस अन्तःस्थता की व्याप्ति और विस्तार ही असल लक्ष्य ठहरता है। यह भाषा वही भी उतनी अस्पष्ट नहीं छेनेनी। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्षण अपने में अभाव और आकांक्षा का अनुभव करता है। उनसे मुक्ति आत्मोपलब्धि में ही छिड़ होती है।

### आत्मोपलब्धि ध्यातिलगत आर्द्रा नहीं

सब यह है कि सृष्टि के विषय में भी लक्ष्य की आत्मोपलब्धि की भाषा में ठहराना ठीक होमा। आत्मोपलब्धि क्या? इसका समझने के लिए हमें अपने से बहुत दूर जाना नहीं है। स्वल्प को परस्पर में यत्नि और जिनगी भाषा में उतार पाते हैं, उसी रीति से पर को स्व में देग पाते हैं तो उतनी ही उपलब्धि और समाधान का अनुभव पाते हैं। यह रूप के साथ एकता की अनुभूति आत्मोपलब्धि का स्वरूप है। अपने

को पाना सबको पा जाना है। कारण अपने को हम रोप में ही पा सकते हैं भयभीत किसी विधि पा नहीं सकते। स्वाभिमान में हम बन्द होते हैं मुक्त होते हैं प्रेम में। इसलिए आत्मपक्षि कोई वैयक्तिक आदर्शमान नहीं है बह एक ही धाम सामाजिक और समष्टिपरक है।

## भाग्य, ईश्वरेच्छा

३४ क्या कोई ऐसी शक्ति है जो भाग्य अथवा ईश्वरेच्छा बनकर हमारे मन, हमारी बुद्धि, हमारे कर्म और हमारे पुन-पुन के विचार-प्रवाह के साथ विभक्त करती है अथवा उन्हें पूरी तरह नियंत्रित एवं अपने बंध में रकती है?

—यह तो साफ है कि हम ब्रह्माण्ड में कब से भी कम हैं। जिससे ब्रह्माण्ड बनता है, वह शक्ति अवश्य मेरे 'मैं' की नहीं हो सकती। ऐसी निर्व्यक्तिक शक्ति को स्वीकार करने से बचना अहंकार में रचना ही माना जायगा। संज्ञा अब हम उसको जो चाहें—कास कहें अकास कहें इतिहास कहें भाग्य कहें विधाता या विधान कहें या सीधे पाहें तो परमेश्वर कह दें। उसके अंगीकार में अभिमान से मुक्ति मिलती है, बुद्धि को एक स्थिति प्राप्त होती है। उसके बिना बुद्धि अज्ञ विभ्रान्त हो जाती है।

## भाग्य-विधान और मनुष्य

केवल मुख्य प्रश्न यह है कि भाग्य-विधान और मनुष्य का सम्बन्ध क्या है? मेरा मानना है कि जैसे मनुष्य विधान से स्वतन्त्र नहीं है, वैसे विधाता भी मनुष्य से स्वतन्त्र नहीं है। मनुष्य सहयोगी है उसमें अन्तर्भेदना होने का अर्थ ही यह है। राम कह, जो सब जही राम हुआ हो। परमेश्वर के लिए भारत में राम नाम ही चलता है। सन्निपात ही उस व्याप्त सत्ता का स्वरूप ही बनता है। उस सन्-चित्-आनन्द की अनुभूति हमें हर क्षण प्राप्त होती है। हम सचेतन हैं, इसका आशय ही यह है कि जो चित्-शक्ति ब्रह्माण्ड में संसरण कर रही है, उसका संज्ञात्मक रूप ही हमसे सद्गुण है। हमारी चेतना उसकी सहभागिनी सह-योगिनी है। ब्रह्माण्ड में जो राम रहा है हमारे हृत्पिण्ड में भी रम्यमाण है। हमारे 'मैं' के मान के नीचे कुछ मते निहित्य हो पर 'मैं' का बीस होने पर बही तत्त्व सक्रिय हो जायेगा। तब जान पड़ेगा कि व्यक्ति स्वयं भी विधाता है, विधान के साथ वह सम-स्वर है। तब उसकी सीमा असीम में भिड़ जायगी और उसका संसार अपोष ही बनेगा।

### मनुष्य कीड़ा-कन्धुक नहीं

बिघाटा या भाग्य के हाथों मनुष्य कीड़ा-कन्धुक के समान है यह उपमा भेन भाव की है। ज़ेबेन वलें तो माकूम होगा कि भाग्य स्वयं हमारे द्वारा अपने को सम्पन्न करने को बाध्य है। अन्यथा वह है तक नहीं।

### भाग्य हमारे वज्र में

सृष्टि के प्राणियों में यदि अपनी-अपनी चेष्टा न हो तो क्या कल्पना की जा सकती है कि इतिहास या विकास अपने को अपने में छे निष्पन्न कर लेगा? इस प्रकार की कल्पना निराश्रित असम्भव है। अर्थात् यदि कोई नियम काम कर रहा हो तो वह प्राणियों के भीतर से ही काम कर पाता है, दूसरा उपाय उसके पास नहीं है। और यदि हम प्राणी चेतन हैं, तो बिघाट के हाथ में निष्चेतन उपकरण बनकर नहीं रह जाते बल्कि अवश्य चित्त-प्रक्रिया में सहकर्मियों होते हैं। चेतना उनकी पड़ है सचेत ही नहीं हो पायी है जो भाग्य का रोना रोते हैं। भाग्य जब और कहाँ तक हमारा है, हम उससे बिघाटा भी क्यों नहीं हैं? रोना जब रोते हैं तो हमीं रोते हैं भाग्य कैसे इसा सकता है? इस तरह अपनी चेतना का अपमान करना है यह मानना कि भाग्य हमारे प्रतिप्रतिकूल है कूर है। सब होगा' हमारे वज्र में है भाग्य के वज्र में बिलकुल नहीं। वह तो जो है सो है, प्रतिकूल-अनुकूल हमारे लिए ही बनना दोष रह जाता है। और आत्म-प्रतिकूल द्वारा हम परमात्म प्रतिकूल होते हैं एवं आत्मानुकूल होना ही बिघाट-सत्ता से समरथ होता है।

### व्यक्ति की सीमा

३५ जब आप मानते हैं कि सब समान रूप से सचेत हैं और सबमें ईश्वर वर्तमान हैं, सब व्यक्ति का व्यक्तिगत अनेक सीमाओं से बेबा क्यों है? क्या ये सीमाएँ ही मनुष्य का भाग्य नहीं हैं?

—दूसरे पक्षों में प्रश्न हुआ कि सबमें अपना-अपना 'अहं' क्यों है? सीमा बिना 'अहं' हो नहीं सकता। सीमा वह एक ही साथ स्व और पर की हुनी है। उस सीमा से स्व-पर-भिन्नता की अनुभूति होती है। स्पष्ट है कि इस भेद के कारण ही हममें रोग मरणा इय का तारतम्य अनिवार्य होगा है। उसका अनुभव हम अहं के द्वारा ही पाने हैं। अर्थात् सीमा हीना हमें स्थिति देना है और उसी सीमा का दुःख हममें प्रति और चेष्टा उत्पन्न करना है। सीमा की मर्यादा की हम तरह यह बड़ी महती मार्भयता है। उस सीमा को हम हठानु मर्जीकार करते हैं ता आसय है कि हम उसे बाहर की ओर ट्रेन्ने हैं और 'स्व' के द्वारा हठानु 'पर' पर बनाव माली है।

यही हिंसा कहलाती है और भावना चाहिए कि यह वस्तु, हिंसा सृष्टि-विधान के अनुकूल नहीं है। सीमा को स्वीकार करके जब हम उस मित्रता की व्यापार भूमि में स अन्व के प्रति प्रेम की प्रेरणा पाते और उस ओर उन्मुख होते हैं तब सीमा बनायास जुकती और फँसती है। तब अनुभव होता है कि व्यक्तित्व हमारा प्रयास हो रहा है। मैं आपकी भाषा मान लेता हूँ कि सीमा हमारा भाग्य है लेकिन इसके आगे यह भी समझ लेना है कि स्वोक्ति क आचार पर प्रीति प्रेरणा में उस सीमा का अग्रगण्य में कोप-विस्तार करते जाना उस भाग्य की सम्पन्नता है।

**अह, द्वन्द्व, विवेक**

३६. अह का आचरण स्वयं क्या है? बुद्धि और हृदय से विशेष समय विशेष हितकर काम लेना क्या व्यक्ति के बल का है? कुछ गिने-बुने अवतार धारण ऐसा कर सकते हों, पर आम आदमी अपनी इस विवशता को कैद कर क्या करे? —अह वह, जो मुक्त-मुक्त को अपना करके मानता है। वह घड़ीर में स्थित किसी अवयव या भाग से तृप्त नहीं है। अनुभूति देनेवाले अवयव-गण हृदय और मस्तिष्क माने जाते हैं। उन दोनों के अपने व्यापारों का भी पृथक्करण किया गया है। लेकिन यहाँ उसमें हमें नहीं जाना है।

व्यक्ति के भीतर मिलने अङ्गोपाङ्ग हैं, वे सब मिलकर एक तनाव की स्थिति प्रार्थना में बनाये रखते हैं। इसीको चैतन्य या जीवन कहा जाता है। एक ईश और इन्द्र सदा हमारे भीतर कार्य करता रहता है। सोते समय भी वह नहीं सोता। साँस रुक भी जाय और हृदय की पड़कन को भी थोड़ी देर के लिए रोक दिया जाय लेकिन यह प्राण-गति क्षणिक के लिए भी रुक नहीं सकती। उनके रुक जाने का नाम मृत्यु है।

इस इन्द्र के भीतर विवेक काम करता है। विवेक से शून्य मनुष्य ही नहीं सजता। इतर आग्नि और चरंच मानव को लक्ष्मि के तमर अवशारी पुरुषों का लक्ष्मि विवेक सबमें ही अनिवार्य है।

इस विवेक के कारण ही यह भाषा सम्भव बनती है कि क्या हम सर्वथा गबन है या विनय भी है? इस भाषा में यह स्वीकार कर लिया जाता है कि हमारे व्यक्तित्व में स्तर है और एक स्तर हमारे के अर्पण होकर काम करता व कर नरता है। यह मानने में कोई बाधा नहीं कि हाथ या सिराता है। स्वयं नहीं दिमाग के अर्पण होकर लिपता है। दिमाग कहता ही तब भी हाथ विवश बना रहूँ और व निभ दो यह स्थिति रोग की कहलायेगी। हाथ कीर्तता है, उल्टा तक नहीं ता मानने



है कि रोग है, जिसका आशय यह है कि विभाग और हाथ के बीच का सम्बन्ध-सूत्र (स्नायु) कहीं बिगड़ गया है। व्यक्तित्व के अङ्गीपाङ्गी में ही जो परस्पर विवाद और विग्रह बेसा जाता है, अक्सर जो यह बेसा जाता है कि हम चाहते कुछ और कर जाते कुछ हैं तो यह इन्क की स्थिति ही है। जिसमें ये मल-मयला जो जम्मा मिलता है। बिबेक भी इसी स्थिति में सम्भव और संज्ञत होता है। बिबेक फिर वहाँ सबान् साता है।

### मानव यथापूर्वक विधि से समुपेत

मैं मानता हूँ कि होता यह है जो होनहार है। यह भी स्वीकार करना मेरे लिए अशक्य नहीं कि विधि का केव्द किसा रखा है। लेकिन विधि का प्रयोग केवल मानव-प्राणियों पर होता है, मानवों का उसमें केवल उपयोग होता है, यह मैं नहीं मानता। विधि-विधान में मेरा मानना है कि विधि का मानव का साथ संयोग का सहयोग है। बिबेक अबका बद्यवर्ती नहीं है बल्कि मानव अपने पूरे बद्य के साथ विधि से समुपेत है। उस बद्य का समुपेत बद्य स्वच्छिन्न-मूर्च्छित होकर अपने को असंग आसकर बिबेक मान के तो बूझती बात है। अन्यथा यह सम्भव है कि मृत्यु में भी मानव अपनी सार्वकता बेके और उसे स्वेच्छा से अपनाये। ऐसी मृत्यु मुक्ति बनती है। कारण विधि और व्यक्ति का वहाँ योग पूर्ण आराधन्य स्थापित होता है।

### सत् में उत्पत्ति-व्यय निरन्तर

३३. अभी यह बात स्पष्ट होने से यह मयी कि व्यक्तित्व की वाली मन बुद्धि आदि दक्षिणों की अर्थात् भाष्य की विपरीतताओं का और जीवन में मयी-मयी उदक-पुनत होने का आप क्या कारण मानते हैं ?

—कारण के लिए बहुत दूर जान की आवश्यकता नहीं है। 'है' की कोई निष्क्रिय स्थिति नहीं है। 'है' ही 'होता' रहता है। एक सूत्र है 'उत्पादम्यप्रमोक्षयुक्तं सत्'। सत् में उत्पत्ति और व्यय प्रतिपल होता रहता है। गतिशून्य स्थिति कोई होती ही नहीं। चित् में उसी स्पन्दनशीलता का भाव है। चित् विपुल की भाँति सहस्राता रहता है, मानव का चित्त भी तत्रूप सहस्राता करता है।

### मानव सृष्टि क्रम से निरपेक्ष नहीं

यह तो सृष्टि के क्रम में जो हलन-चलन गमित है उसकी बात हुई। इसको मानव निरपेक्ष भी बेसा जा सकता है। बिन्धु मानव उसमें निरपेक्ष यह नहीं पाता। उसके

अन्तरङ्ग में जो हृदय-बलन होता रहता है, वह रोप से सर्वथा बिछड़ा नहीं होता। अतु गर्मी-सर्दी की बलन नियम से होती है और मनुष्य पर तदनुकूल प्रभाव परिणाम डाले बिना नहीं रहती। यह स्थिति व्यक्ति और विधि के तात्त्विक की अपेक्षा से है। मनुष्य की कठिनाई वहाँ से नहीं बनती। बल्कि वहाँ से तो प्रेरणा ही आती है।

### अन्तर्बिग्रह और कसह धुम के लिए

जो वस्तु मनुष्य के लिए समस्या बनती है, वह है अपने भीतर अनुभव में मानवात्मा अन्तर्बिग्रह और कसह। इसी अगह यत्न और साधन की आवश्यकता होती है। पुष्पावर्ष और बेघटा का यही पर उपयोग है। मन बुद्धि इन्द्रिय नाम से जो व्यक्तिगत के तीन स्तर हम मानते हैं, उनमें समरसता और एकाग्रता आ सके, तो समा-धान आन पड़ता है। अन्यथा क्रोध भावमय होता है। इन विविध स्तरों से अलग और इन सबमें व्याप्त आत्मा की भी एक संज्ञा है। कहा जाता है कि मन बुद्धि इन्द्रिय आत्मा के अनुगत होकर काम करें, तो सब व्यापार मुक्ति का साधक हो जाता है, अन्यथा बाधक होता है। मूल भाषा से समता है कि जैसे ये तीन अथवा विविध स्तर कुछ अपने में स्थायित्व भी हों और आत्मा से स्वतन्त्र हों। मनुष्य की यह बनाबट, जिससे वह संयुक्त और समग्र नहीं बल्कि विभक्त और विविध अनुभव करता है, अन्त में धुम के लिए ही है। ह्रास का नहीं वह विकास का साधन है। पद्य में बीबी विभक्तता व समस्या नहीं है। वह प्रसन्न नहीं है जिसमें से विवेक को काम करना पड़ता है और जिसके कारण स्वकृत्य का बोध प्राप्त होता है। यह स्व-बोध ऊँचे जाकर वाचा भी बन जाता हो लेकिन यही व्यक्ति को स्रष्टा की महिमा व परिभा भी देता है। मनुष्य के द्वारा जो स्थायी मूर्ति का काम हो जाता है वह इसी तीव्र आत्मव्यथा और आत्मनुद की बीरता पर सम्बलित अर्णों में होता है। उन अर्णों में कि जब विवेक भागी इन्द्रावस्था से पार जाकर प्राण क्षेत्र में व्याप्त और मुक्त हो जाता है।

जीवन में जो पम्प्रीर संघट अनुभव होते हैं वे बाहरी बाधाओं के नहीं होते बल्कि पोर पान अन्तर्बिग्रह में से उठे हुए हात हैं। देश-दास्य-नुद हर पड़ी हममें छिड़ा रहता है। विमता और व्यपता के अनुभव इसी मुक्त-स्थिति के तत्कालीन परिणाम हुआ करते हैं ऐसी भरी प्रतीति है। ●

## प्रतिभा, भविष्य

### पूर्वजन्म के संस्कार

३८ क्या आप नहीं मानते कि व्यक्ति जो कुछ भी बनता है, क्या ग्रहण करता है, वह जन्मोपरान्त ही। जन्म के पहले से वह कोई संस्कार व्यवसाय प्रभाव लेकर नहीं आता। —नहीं। जैसे समय में मैं किसी एक खज ग्रह, जिसका मास वर्ष आदि की कोई कटी हुई अज्ञा स्थिति नहीं मान सकता जैसे ही समय के सन्दर्भ से सर्वथा विभिन्न किसी सपना कटे एक व्यक्तित्व की स्थिति नहीं मान सकता हूँ। जन्म में आया प्राणी जीवन-संस्कार साथ नहीं लाया तो साथ लाया क्या? जो तत्त्व मिले क्या वे निर्मुक्त थे? उनमें अपना कुछ न था वह मानना सम्भव नहीं। माता-पिता का और तो और, सन्तति की संस्कृति-सूत्र पर प्रभाव भिन्न है। माता-पिता जैसी तरह स्वयं आनु-वंशिक प्रभावों से सर्वथा मुक्त नहीं होते। इस तरह आज जन्म में आया व्यक्ति इन कड़ियों के द्वारा समष्टि-इतिहास से पूरे आत्म से ही जुड़ा रहता है। ऐसा न होता तो वैदिक-विज्ञान नृत्त-शास्त्र आदि सम्भव नहीं हो पाते। यह किसी तरह नहीं माना जा सकता कि एक-दोनों अपने में कुछ कुछ नहीं रखते। अतः चेतना का आरम्भ जन्म पानेवाले जीव से मानना वैज्ञानिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। आरम्भ वहाँ से व्यक्तित्वता का है चिद्भूतता का नहीं। यह स्वीकार करें, तो जनमे हुए जीवन के साथ व्यवहार करने की एक नयी मूस प्राप्त होगी और उसकी अमुक मर के ही छवि में डालने का स्वात्-युग आग्रह मन्द होगा। हम जानते हैं कि ऐसा आग्रह होता है और प्रतिभा लगभग उस आग्रह का झोह टगती हुई प्रवृत्त हुआ करती है।

### प्रतिभा चेतना का उत्कथण

३९ अज्ञातकारण प्रतिभाप्राप्तिजों के बारे में जो आनुवंशिक परम्पराओं से मुक्त बीछते हैं आप क्या कहते हैं? वे प्रतिभाएँ वर्तमान वातावरण की प्रतिक्रिया में से कूटती हैं या किसी Cosmic Power (अलौकिक सत्ता) की दैन होती हैं या पूर्वजन्मों की साधना का परिणाम होगी है?

—बिस्को प्रतिभा माना जाता है, उसका नियम स्थिर करना कठिन है। मगर यह कि नियम में बंधती नहीं इसीसे तो उसे प्रतिभा कहते हैं। फिर भी एक बात निस्संशय कही जा सकती है। वह यह कि अयुक्त वेग और बिस्फोट उठने ही दबाव का फल होता है। अतः हमें कहीं क्या कुछ पटित होना रहा कि जिसका परिमाण स्वल्प वह प्रभा कमकी जिसे प्रतिभा मानना पड़ा कहना मुश्किल है। अच्छा यह है कि हम प्रतिभा के जन्म को अशौकिक शक्तियों से जोड़ें ही नहीं व्यक्तिगत पुण्य और साधना के सन्दर्भ में ही उसे समझने का प्रयास करें। इस तरह तत्त्व ईश्वरीय से मानवीय तल पर कुछ समझने योग्य बन सकता। यदि वास्तु को हम दो शक्तियों से समझना चाहें एक उत्कर्ष और दूसरी अपकर्ष शक्ति तो प्रतिभा का उस स्थिति का फल मानना होगा जहाँ उत्कर्ष अपकर्ष पर प्रबल होता है। इस क्षण में जोड़ होने की आवश्यकता है, भौतिक के समक्ष इसको चिन्तात्मक और आध्यात्मिक क्षेत्र कहा जा सकता है। राम-रूप्य प्रागैतिहासिक और बुद्ध-यीशु-मोहम्मद ऐतिहासिक हो गए, लेकिन गांधी तो समकालीन माने जा सकते हैं। उनका हृदय और चरित्र को शौकिक हेतुओं की भाषा में समझा या रखा नहीं जा सकता है। फिर भी पदार्थ-क्षेत्र में उनका प्रभाव सुमान्तरकारी हुआ तो क्या? आधुनिक स्वतंत्र शैक्षिक क्षेत्र के अध्ययन और उपलब्धि के लिए अध्यात्म आज की विभूति और प्रक्रिया को जोड़ना-समझना हितकारी होगा। जीवन के अध्ययन को वह समझ बनायेगा। नहीं तो पदार्थ का विज्ञान हमें सम्पन्न करके भी चेतना के क्षेत्र में ठस्ते विपन्न करता चला जाएगा। मानो मामूम होता रहेगा कि उपरति विपत्ति है और सम्पत्ति सङ्कट है। तब उस सम्पत्ति को प्रकटकर आदिमत्ता में लौट आने की वृत्ति भी पनपेगी और बहुत से मेसकों और ओमी में आज वह समझ दिखाई दे रहा है। निश्चय ही यह प्रान्त और प्रतिक्रियात्मक वृत्ति है। लेकिन वस्तु-क्षेत्र की एकाङ्गी उपरति प्रश्न की अस्थिरता और विवेक की क्षमता सिरने तो और नहीं तो क्या होना चाहा है।

## प्रतिभा और पूर्वजन्म

४०. अब क्या आप प्रतिभाओं की उत्पत्ति को पूर्वजन्म के संस्कारों से जोड़ना पसन्द नहीं करेंगे ?

—पूर्वजन्म की जब हम बातें हैं तो भावना से छूटि है। उससे कुछ प्रमाण नहीं मिलता है, निश्चयी को एक न्यायान-मा मल मिल जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि जीवन का और चेतना का आरम्भ मेरे जन्मे जन्म की पट्टी में नहीं है, बिना में और समय में वह सदा से प्रवाही है। इसलिए आज जो पढ़ना म भीतर

है उसका अतीत व भविष्य से सम्बन्ध नहीं है ऐसा तो माना ही नहीं जा सकता। जीव-विज्ञान प्राण-विज्ञान इस अजस्रता के अभाव में असम्भव हो जायेंगे। लेकिन पूर्वजन्म एक ऐसी वारसा है जो वर्तमान को अतीत से नहीं भिन्न करती बल्कि मेरे 'मैं' को मेरे ही अपने जन्म के कास से पार और परे ले जाती है। वही वारसा जो बीच में माना अधिकांश किसलन के मार्ग को खोल देना हो जामा।

मैं फिर चाहूँगा कि ईश्वर के चमत्कार के रूप में प्रतिभा की देखने से यदि हमें संतोष न होता हो तो उसे व्यक्तिगत गुणों से सम्भवसाम से सामना-परामर्शता आदि से जोड़कर ही समझें। पूर्वजन्म आदि पर टाकने से हम अपनी जिम्मेदारी से एक तरह से बच जाते हैं, जो घुम नहीं है।

### सति-पूर्ति का सिद्धान्त

एक और रूप में भी इस तरह की विवेकताओं का समझा जा सकता है। मैंने एक भूमे कादमी को देखा जो गाँव में घर-घर पानी पहुँचाया करता और इसी पर अपना गुजारा चलाता था। दूर-दूर अलग-अलग सब घरों को जानना वहाँ से अपने आप ठीक जगह से बड़ा ठठा लाना फिर एकदम कुएँ की जगह पर खड़ा होकर, झुककर, रस्ती बालकर पानी लींचना और फिर सब बड़े यथास्वान पहुँचा जाना—यह सब काम बिना बाँध के कैसे किया जा सकता है, मैं शक तक समझ नहीं सकता हूँ। सिवा इसके क्या कहा जाय कि बाँध न होने हैं उसमें यह प्रतिभा पैदा हो गयी। अस्तर देना जानना कि जो 'हल' से कम है, वही 'जल' से बड़ बने हैं। नाटे और छोटे कद के लोग विमलस्य बन गये हैं, घरीर से हीन हैं वे बुद्धि से प्रवीण बन उठे हैं, बुद्धि में मन्द हैं वे घरीर से मस्त दिखाई देते हैं। जर्नाल पेटना के क्षेत्र में यह 'सति-पूर्ति' का सिद्धान्त जैसे काम करता दिखाई देता है। प्रतिभा के उदय के पक्ष में यह सम्भव हो सकता है कि सब और से प्रकाशन के मार्ग बन्द होने के कारण किसी एक दिशा में स चेतना फूटी और अस्मृत चमत्कार दिना उठी। चेतना को विकसित न दिया जाय वह संवहीत होती रहे और फिर मानो सूक्ष्म चितना मार्ग उसके बहिर्गमन को भिजे तो क्या वहाँ उन्मट मति और शैव नहीं आ जायगा?

मैं मानता हूँ कि कुछ इस रूप में प्रतिभा को समझें तो संयम की सीढ़ का नाम भी हमें हो सकता है।

### खण्डा प्रतिभाओं का विकास-क्रम

४१ आपके इस उत्तर से मेरी तृप्ति नहीं हुई। अन्धे का उदाहरण आचार्य

## प्रतिमा, बहिष्य

भौतिक प्रतिमाओं को नियमित कर सकता है। पर महान् जड़ता प्रतिमाओं का बिरतेवज्ज उतके बस की बात नहीं।

—परम पुरुष को ही बचे हैं, जिन्हें हम प्रतिमावादी मानते हैं त्रिनेत्र मुग और इतिहास प्रकाशमान हो उठे हैं तो उस प्रकार की सम्भावनाएँ भरकर उन्हें ताम और स भेजा गया होया यह मानना परमेस्वर पर पलायन का दोष आसमा हा जायना। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि नर से वे ही लोग नारायण बने हम जैसे तो इमर नर-पुत्र बने बैठे हैं। क्या यह माना जाय कि भगवान् ने हमें नर से पनु बनाया है? यह किसी तरह से भी नहीं माना जा सकता है। इसी तरह नर से यदि कोई नारायण बनता बीजे तो उस सबका भी मार भगवान् पर आसमा स्वयं अनेन पृष्ठ जाने का बहाना कहलायेगा।

परमेस्वर सर्वव्याप्य सत्य एवं सत्ता है। सम्भावनाएँ सब वहीं हैं और अनन्त हैं। भगवान् पञ्च-वट में व्याप्य और विराजमान है। अर्थात् परम पुरुषों में जो किमुनि और वेदना का वैभव प्रज्वलन्त बीजने में जाया वह सबीका व्यक्त रूप है, जो इन सबने नीतर अव्यक्त और मुक्त हो सकता है। अर्थात् हमारे भीतर भी सम्भावनाएँ अनन्त हैं। कहना यही होगा कि उन्होंने उन सम्भावनाओं को प्रकट होने दिया हमने उन्हें बचा रखा है।

अहं निजता और विजयता के बीच द्वार

मेरे मन में यही बिज उठता है। हम सबके पास अहं है। वह द्वार है त्रिनेत्र में हम अपने से बाहर जाते हैं बाहर से फिर अपने में लौटते हैं। त्रिनेत्र उस द्वार को नेत्रों द्वार उल्टे दिया है वह निमित्त भर पड़ गया है और उसके द्वार मानो अनन्त सम्भावनाएँ बाहर मुक्त होकर पिल उठने को बिज हा आई हैं। एव ही पुण्य पुण्यात्तम बने हैं। अर्थात् उम्हारे अपने को सर्वथा गुप्त बना दिया है और परम वेदना ही उनका माध्यम से मूर्त और प्राप्य हा उठी है। वे स्वयं भजन स मानो भगवान् हा बल हैं। उनका व्यक्तित्व में से एवम्-वेदना प्राण हुआ है। केविन हम प्रायः अपने 'मैं' को गुप्त बनाने से उन्नी और चला करते हैं मानो मैं का फुसने और फुलाने रख है। स्वयं बनना केविन कि हमका परिचय क्या होगा? मातिय कि जो 'हम' होय के लिए है उनी दलीज को हम मान में गहराई तक ल जाने हैं—नर बना नर-मन रखा या कि दली गूदा दल जायना ? यही हुआ करता है। अहं माय को हम अपने में गहरा उठाया है। अवेदन और अवेजन पर भी उन चीने हैं। ऐसे हमारे ही भीतर की सम्भावनाएँ उजड़ी और जड़ बनी रहनी हैं गुप्त नहीं पाती। उनका पल हम भुलान है कि मैं न माने

भीतर घुट रहा हो बाहर न जा पाता हो। इस रेंगे और बूटे जीवन को लेकर छटपटाते रहते हैं और पहचान नहीं पाते कि हमी हैं, जो अवरोध और रोक बने हुए हैं। अम्यमा चित्प्राय जो भीतर है परमोन्मुख है और अनायास मुक्ति में उठने को बाधुर है। हमारी अभिरूपास प्रवृत्तियाँ अपनी ही अन्तरबेधना पर अत्याचार करनेवाली होती हैं। मानो हमीं स्वयं अपनी दुश्मनी ठान रहे हों। जिसकी हमने धपना चेतन माना बुद्धि-बिभेक माना उसीके द्वारा अपने अन्तःस्व को हम दाबते और डींठते हैं। समझते हैं, यही पराक्रम है, कर्मधूरता है परावर्तता है। लेकिन एक यह होता है कि हमारी निजता से हमारे भीतर की विस्मृता एक और कट जाती है। गरुटा नाचयनता को बाध बैठती है। ऐसे घर रहीं दम्भी अभिमानी बकता है और नहीं जानता कि यों वह केवल मानव से मानव बन रहा है। मानता है वह फँस रहा है और फूस रहा है पर अन्तर में वह कसता गँठता और संकरता जाता है। कहीं तो उसे मुक्त और व्याप्त बनना था कहीं वह निरी पाँठ बना भीतर कसमसाता है। मैं इसीलिए बाहरी कर्म का कायल नहीं हो पाता हूँ। उसी भाषा में कर्म सही और शुभ होना चाहिए, जिसमें वह अन्तरंग से अनुकूल और प्रेरित हो। रोप में रामद वह भास और पंचाल है।

मेरे मन में मानसिकता और उसकी प्रक्रिया का यही चित्र उठता है और इसी भाषा में मैं अकतायी और नवन पुष्पों का भेदाभेद समझ पाता हूँ।

### प्रतिमा और देश-काल

४२ तब तो आपके कथनानुसार प्रतिमाओं का जन्म और उनके द्वारा संसार में होनेवाला वास्तव्य-अवास्तव्य उद्बेलन-आन्दोलन भाव *chance* (संयोग) का परिणाम हुआ, काल-विशेष की परिस्थितियों का प्रतिमाओं की उत्पत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं रहा और तबनुसार हिन्दू-दर्शन की 'घरती पर पाप बढ़ने पर भयवान् द्वारा अपने नुर्खी सहित अवतार लिये जाने का सिद्धान्त' एकदम झूठा बढ़ गया और आपकी उपपत्ति में इस ऐतिहासिक तथ्य से भी मेल नहीं लाया कि प्रतिमाएँ जकेली नहीं आती, अपने साथ अपने सहयोगी लेकर आती हैं।

—नुम्हारे प्रश्न की मैं इस रूप में सैता हूँ एक कि प्रतिमा का क्या समय या युग की माँग से सम्बन्ध नहीं होता? दूसरे, कि प्रतिमा क्या एकाकी है, सामूहिकता के साथ नहीं है? इतिहास के तथ्यात्मक आन्वेषण जो प्रतिमा में से निकले हैं, क्या समूह के योग से बिनाल से बिनालतर नहीं बनते गये हैं।

## घटक कुल से स्वतंत्र नहीं

इन प्रत्तियों के मूल में एक भ्रान्ति है। वह यह ब्रह्ममूल बात कि कहीं भी कोई एक इकाई अपने में अलग हो सकती है। वास्तव में ऐसा है नहीं। सत्य कुछ है एक है अपरिच्छेद है। इससे यह हो नहीं सकता कि कुछ हो और सब तक उसका प्रभाव न पावे। या वह सब उससे कारण में ही न हो। यात्री बटनायास से काल और वेत जुड़ा हुआ है। काल जिसके विस्तार की हम अनुभव में पाते हैं। वेत जिसके विस्तार की हम आँखों से देखते हैं। इन दोनों से अलग किसीकी भी सम्पत्ता नहीं की जा सकती।

नेकिन कुल और अक्षय को हम पा नहीं सकते। उसे समस्त में जाने के लिए अधिष्ठ को हम निमग्न होते और अक्षय को सत्ता में लेते हैं। ऐसे बटकों—सत्तों की सृष्टि होती है।

## शेष कुल

हम-तुम जैसे कुछ आरम्भ आदमी आरम्भ इस दुनिया में हैं। सब अपने में अक्षय-अक्षय और व्यक्त है। अनुप्य की ही तरह फिर दूसरे अक्षय पद-वक्ती और जीव जन्तु हैं। फिर अक्षयिणी हैं। जन्म भी अन्त उत्पन्न है। इन सबको लेकर पड़ती एक है। वह फिर अपने में एक यह है और और-अक्षय की उत्पत्ति है। सूरज इसके केन्द्र में है। नेकिन ऐसे-ऐसे अक्षय सूरज अपने पक्षियों की लेकर तारों की तरह ब्रह्माक्षय-परिभ्रमण कर रहे हैं।

जब यह जो हमने अपने बीच अलगपन माना है, गुप्त गुप्त रहे हो मैं कह रहा हूँ और हम दो हैं—यह सब इसलिए कि हम परस्परता को समझें पार्वी और उस परस्परता की ही यह से समझता में मुक्त हों।

## ‘मैं’ आरम्भ का बिन्दु

मानी ‘मैं’ वह बिन्दु है जहाँ से हम चलते हैं चल सकते हैं। बिन्दु माना हुआ है पर वही से अर्थ का आरम्भ होता है। ‘मैं’ सच नहीं है, यह ही शुरू में ही हमने स्वीकार कर लिया है। पर वही सार्वभौम में व्यवहार में सच बन जाता है, अपर ‘मैं’ में से हम-तुम ‘इस’ ‘उस’ की ओर बढ़ते हुए कुल में जा मिलने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

## प्रतिभा एकाकी, निरपेक्ष नहीं

आर जो विचार दिया, वह इस ‘मैं’ के तट से दिया गया विचार है। देव-माता



से वह छूटा हुआ हो नहीं सकता है। प्रतिभा एकाकी न अलग-थलग हो नहीं सकती है। क्या भाग कोई हो सकती है। जो आसपास गर्मी न रहे? या वह यों भी हो सकती है जब जलने को कुछ सामग्री न हो? कोयला है, ईंधन है तो काम प्रकट होती है। इसी तरह इतिहास और युग जो सामग्री प्रस्तुत करता है, उसमें ही आवश्यकता के बराब में से ही तो प्रतिभा प्रकट होगी। अर्थात् युग-निरपेक्ष उसे मानने की आवश्यकता नहीं है। न वह देश के विस्तार में परस्परता से निरपेक्ष रह सकती है। अर्थात् प्रतिभा हो ही नहीं सकती जिसमें से मानव-सम्बन्धों में एक अन्तिम पंखी चमकती-मूटती हुई न दीखे। किन्तु बटना के, इतिहास और समय के सम्बन्ध में प्रतिभा को देखने की कोशिश से उसकी ऊर्जा और ऊँचा अपने से दूर जाती जाती है, हम जैसे उसकी पुकार और माँग से छूटकर हलके हो जाते हैं। मैं उस रिमाइन्ड का अवसर अपने को या किसीको नहीं देना चाहता। हम क्यों न समय का दायित्व स्वीकार करें और काल में घमिष्ठ चुनौती का उत्तर देने काये बहें? इसी उत्तर देने के उत्साह के लिए प्रतिभा की व्यक्ति-बटक के सम्बन्ध में समझने का प्रयास ऊपर किया गया था। अपने में अन्तर्भूत चेतना के स्तरों के द्वन्द्व और द्वेष की भाषा में हम उसे समझने और रखेंगे तो प्रतिभा हमसे दूर की चीज नहीं बनेगी। कितनी अधिक जानी-पहचानी मालूम पड़ेगी! अतिशय चमत्कार, संयोग आदि सब्यसुरे नहीं हैं। विस्मय का भाव उनमें है और वह भाव हमें ठाढ़ा रखता है, नम्र और गह्वरीय बनाता है। ज्ञान के दम्भ और स्वयं के लिए हमारे पास अवकाश नहीं छोड़ता। इसलिये प्रतिभा की ईश्वर की देन और उसीका चमत्कार कहें तो बाधा नहीं है। पर उसमें से हम वास्तव्य ही प्राप्त करें, अपना बचाव नहीं न खोजने लग जायें।

### भविष्य-वाणियाँ

४३। वर्तमान से भविष्य एकदम कटा हुआ अलग नहीं माना जा सकता है। उस भविष्य की ओर पहुँचने और उसे पहले से जानने के अनेकानेक प्रयास हुए हैं। इसमें नामा विचारों भी पड़ी हो गयी हैं। यह भी देखा जाता है कि भावी वर्तमान पर कुछ आभास और छाया डाल गया है। दूर से आनेवाली भाँपी का पत्ती सहज भाग पा जाता है। हमारा घग्ग रडार दूर का बता हमें यहाँ तक पहुँचा देता है। यह-विज्ञान, ज्योतिष शास्त्र हैं ताम्रिक शास्त्र भी माना जाता है। उनके आधार पर या कभी स्वतन्त्र भी भविष्य-वाणियाँ होती हैं और सही भी निकलती हैं। इन सबके सम्बन्ध में आपका क्या अनुमान है?

—हमारी इन्द्रियाँ धन के समान ही हैं। करोड़ों-करोड़ मील दूर का धूर

मात्र हमारे पास है, इसलिए ही कहा जाता है। इसी तरह अनुमान और अनुभव के द्वारा हम अपने सम्बन्ध की व्याप्ति काल में भी मतीत और भविष्य की ओर बना और बढ़ा पाते हैं। यानी हम काल-वेध में हैं, पर काल-वेध की दृष्टि में नहीं हैं। बल्कि उनके प्रति खुले हैं। इसलिए काल में और देश में हमारा उत्तरोत्तर विस्तार और प्रति हो यह तो अवश्यम्भावी है। हमारा ज्ञान-विज्ञान उस दिशा में हमें बढ़ाये बिना यह नहीं सकता।

लेकिन मैं ईमानदारी जरूरी समझता हूँ। उसमें अपनी मर्यादाओं की पहचाना जाता है। रात में सपने में हममें से हर कोई आसानी से आसमान में उड़ जाता है। लेकिन आसमान में सबकुछ में उड़ा ले जानेवाला बामुयाल हमें सपने में से नहीं मिल गया। जिस बड़ोर विज्ञान में से बामुयाल ज्ञान हुआ वह सपने की ओर से मानो ठीक जस्टी बीच है।

### भविष्य से निर्माण का सम्बन्ध

हम वर्तमान में हैं। भविष्य में हमें पहुँचना है। अपनी सम्पूर्णता के साथ बड़ा यदि पहुँचना है, तो इसका आशय यह कि भविष्य के प्रति हमारा सम्बन्ध और पूरा सम्बन्ध प्रयास और निर्माण का है, अनुमान और अवधान का नहीं है। मुझे उन सब विद्याओं में विश्वस्तरी नहीं है जो भविष्य की वाद केला और बढ़ा देना चाहती हैं। उनमें मुझे विज्ञान की साधना नहीं कुछ ध्वनन की टिमिलन जान पड़ती है। भविष्य के प्रति स्वत्व सम्बन्ध निर्माण का होना चाहिए। दिवा-स्वप्नों में जिन भविष्य की रचना होती है वह अस्वत्व निरस्त है। आदमी चाहता है और अस्वर उसके लिए मेहनत करना नहीं चाहता। इन मनोभाव में वह धाम्य के बार में उत्तुंग होता है। उस प्रकार की उत्तुंगता व आगुस्ता की समाधान देने या उसका काम उगाने के लिए बहुत सारी अर्थ-विचारों हमारे बीच में पैदा हो जाती हैं और कम पड़ती हैं। उनमें भी-बहुधा और मन-अवस्था होता है। उनका ग्रामा प्रत्या भी अमादा या खपता है। लेकिन मुझे उनमें कम नहीं है।

### भविष्य अज्ञात-अज्ञेय रहे

भविष्य माने का है या नहीं कि हम उनमें जाने को हैं। इसी बुद्धिवा और गन्दर्पना के लिए ही भविष्य की अज्ञात और अज्ञेय रहने दिया गया है। इसमें से पुर्याय को जन्म मिलना है। अज्ञात और अज्ञेय को न मत्त मरने की अवस्था को बढ़ना की अवस्था करना चाहिए। आधुनिकता में उसे प्रगतिता व विनम्रता के साथ गहरा हो जाता है। वे जो सम्पूर्ण भविष्य की अवस्था जान बनाने पर गुप्त है उसी

अनुमान-विद्या व वचना-विद्या के प्रति मेरे मन में तनिक भी स्पर्धा नहीं है। मुझे यह नास्तिक-ध्यापार जान पड़ता है। जिसे प्रत्येक क्षण अपने पुकारों से हमें बनाते जाना है। उसको पहले से ही पूरी तीर पर जाल बँठना मानो उसे बनाने की चुनौती से मुँह चुराना है। भाष्य ऐसे वह है जो हम बनाते हैं। जो बना नहीं सकते हैं वे ही उसे जानने के चक्कर में रहते हैं। भविष्य का हमें एक-एक पट खोलते और उभाड़ते जाना है। इसीमें प्रयत्न का सौम्य और साफ़स्य है। भविष्य और हमारे बीच में जो व्यवधान है वह अनिवार्य है और मंगलमय है। उसका बाहर न करना सौम्य का बाध करना है।

### सितारों का भाष्य हमारे पास

इतिहास के महापुरुष ने हुए हैं जिन्होंने भाष्य का सामना किया है और परम एवं निर्भीक विस्वास के साथ उसकी अजेयता में झूठे चले गये हैं। सौम्य का यही सफल है। उन्होंने भाष्य और भविष्य से पहले से कोई बाधना और वचन नहीं भरया है। बल्कि जो भी हो चुकी बाँधों से उसे आत्मिगत में लेने की तैयारी में चक पड़े हैं।

जो सितारों में है, क्या हममें भी नहीं है? इसलिए यह क्यों न कहें कि सुर नक्षत्रों का भविष्य और भाष्य हमारे पास है। ●

## द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-भेद

४४ डार्विन के विकासवाद से आप बहुत दूर तक सहमत होखे थे। मार्क्स की समाजमूलक वैज्ञानिक ऐतिहासिकता के विषय में आपका क्या मत है ?

—डार्विन क्या आस्तिक थे ? क्या उन्हें यह प्रिय हुआ कि कोई उनकी जीव का आदर करे और आस्तिक भी बना रहे ?

**कास-गति को समझने का तर्क-शुद्ध प्रयास**

मार्क्स के ऐतिहासिक विकासवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में मेरे लिए कोई बाँकने या आपत्ति करने की बात नहीं। इतिहास और कास-गति को समझने का यह तर्क-शुद्ध प्रयास है। उस रूप में मुझे उसमें कोई खोट नहीं दिखाई देती। विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का बिना और विचार मार्क्स ने हेमेल से किया कहते हैं। अन्तर यह कि हेमेल के विचार की भूमिका आन्तरिक थी और मार्क्स की भौतिक। विकास की इस द्वन्द्वात्मक चारणा में मुझे दो काफी समाधान प्राप्त होता है। उसमें एक कैंस फुलकर हो जाता और फिर बढ़कर एक होता है—यह अर्ध और द्वैतवाद की समस्या कुछ बुझियत होती-थी मालूम होती है। उसमें मानो तप्य पड़ता है और अपम से समस्या सुगम बनती है।

**मार्क्स-बर्न सत्य से नहीं, समाज से जुड़ा**

कास के इतिवृत्त की यह समझ अपेक्षाकृत तटस्थ वृत्ति में से मार्क्स को प्राप्त हुई। लेकिन तटस्थता नहीं समाप्त हो गयी जहाँ उन्होंने उसे बतदान से जोड़ा। सब उसमें इच्छामात्र डाल दिया गया। वर्तमान के प्रति हम कोय सर्वथा निस्वर्ग नहीं होते इसीलिए सामने सदा कर्तव्य-अकर्तव्य का प्रस्न रहा करता है। इतिहास में से समस्त घटना-शक्ति का एक सूत्र निगत हो फिर उस सूत्र के सहारे कर्तव्याकर्तव्य के प्रस्न को टाल या साँव-बापें ऐसा बन नहीं सकता। ऐसा जब हम करते हैं तो मानो बरने साथ कुछ जोर-जबरबस्ती कर जाते हैं। भौतिक प्रस्न किसीके अन्दर सर्वथा समाप्त नहीं पाया जाता। इसीलिए बहु तत्त्व-पर्यन्त जो मानो खड़े बनावदव्य और व्यर्थ

या और कोई पा से तो उसका अभिमान मनमें से नहीं निकलता। इस मूलभूत इन्द्र का कुत्त ही जीवन का सार है और मुन उसे फेंक देने में नहीं प्यार से अपना लेने में है।

### मार्क्स-लेनिन और नैतिकता

४६. कर्तव्याकर्तव्य के प्रश्न की उपस्थिति को आपने ऊपर अनिवार्य बताया है। जब हम एक मत अपना धर्म को पूरी तरह ग्रहण कर लेते हैं तब संका और प्रश्न की स्थिति समाप्त हो जाती है। जब रहती है, तब या तो हम बेईमान हैं या वह मत धर्म, सिद्धान्त झूठा है। संका ही जब अनिवार्य नहीं रही, तो आपकी नैतिकता की भी स्वप्न न रहा। यही मार्क्स व लेनिन ने किया। छोड़ने को समाप्त करने का उन्होंने एक मार्ग कोमा और उस पर अज्ञा-विश्वास व लगन के साथ चले। तब नैतिकता उनका मार्ग क्यों रोके और उन्हें वह-अप्य क्यों करे?

### दो मोटरें

—मार्ग पर चलने की दो विधियाँ हैं। मान को दो मोटर-माफियाँ हैं, जिनमें एक पर ड्राइवर है दूसरे पर नहीं है। पहली बाड़ी एक डब में चलेगी क्योंकि ड्राइवर के सामने वह प्रश्न होगा कि क्या दाएँ-बाएँ मोड़े बैग को अधिक करे हस्ताक्षर। दूसरी गाड़ी के लिए कोई प्रश्न होना ही नहीं। तो क्या हम यह मानें कि दूसरी बाड़ी ब्यादा और अच्छा सफर तब करेगी?

### विवेक-शून्य अज्ञा

तो यह ड्राइवर मनुष्य के अन्दर का विवेक है। अज्ञा-विरास में उस विवेक को भस्म कर दिया जाय वह सम्भव नहीं है। जब यह किया जाता है तो एक ऐसी कटुता को जन्म मिलता है, जो स्वयं मरण को हावती है। इपसी! इसलिए है कि उनमें मोक्ष व लक्ष्य नहीं रह जायी है, जो जीवन का मध्य है। पत्थर इर्लाक्षिए टूट जाता है कि वह कठोर है। हवा का किसी तरह नहीं बाँटा जा सकता है।

### प्रश्न अज्ञा की सुराक

मर्खी अज्ञा मलासह का रूप कभी नहीं लेती। वह अज्ञा जो प्रश्न को बन्द कर है सम्बन्धी नहीं। बल्कि प्रश्न तो अज्ञा की सही सुराक है। उस बराबर प्रश्न का

मीजन बेकर पुष्ट करते हैं। तभी वह यथा स्वस्थ व समर्थ रहती है, अन्यथा सुस्तकर कड़ी पड़ जाती है और बड़ हो जाती है।

मस्तावेश टकराकर टूटेगा

जो माक की सीब सीबा चलेगा वह टकराकर जरूर टूटे और गिरेगा। वह बिबेक से धूम्य हो जायगा जैसे दूसरी मोटर-गाड़ी ब्राइबर से धूम्य पी। मत जब हमको मर देता है, तो हम अपने में इतने बेमुच हो जाते हैं कि दूसरे में टकराये बिना नहीं रहते। दूसरा भी अपने मत में बेमुच हो तब तो बात ही क्या है। तब टक्कर ही टक्कर रह जायगी गति कोई न कर पायेगा। इसका आसप यह कि हममें और हमारे मत में दूसरे के लिए बचकास हो तभी हम बड़ सकते और गति कर सकते हैं। गति कभी हो नहीं सकती। जन्मा इंजन चल सनटा है, जब कि नीचे पटरी बिछी हो। यहाँ तक तो जलो बिस्वास से बिद्या का निर्वोस हो जाता है, जैसे रेल की पटरी से इंजन का मार्ग बन जाता है। लेकिन ब्राइबर की अपाई बिबेक की तब भी जरूरत रहती ही है।

मार्क्स-लेनिन बिबेकधूम्य न थे

मार्क्स और लेनिन के मार्ग में कर्तव्याकर्तव्य के प्रस्न नहीं बड़े हुए और बिबेक की आवश्यकता नहीं हुई, यह समझना सही नहीं है। बल्कि कहा जा सनटा है कि जिस अंध में अन्ध ने उनके बिबेक को आसप, स्नेहपीस और वर्तव्यपीस बनाये रखा वहीं तक उनको सफलता मिली। ऐसे बहुमम्यों को आप-हममें हैं कौन नहीं जानता है जो अपने से ही डटे-भरे रहते हैं, किसी भी वे बना नहीं पाते और जगत् विफल होते हैं। उनके अहंकार को बिस्वास बहना बठिन है।

मूकतमा

प्रस्न ही प्रस्न लेकर सघायपीस बने रहने का समर्थन यहाँ आप न मानें। संघ-मारमा तो बिनास पाता है। लेकिन मूकतमा की गति उससे भिन्न नहीं होती और मूकतमा वह है जो मर्ह में बन्ध होया है।

भौतिक हन्द् गति-उपगति के डिग्न अन्तिमपय

भौतिक हन्द् क्यों आवश्यक है, यह आपने पूछा है। उत्तर है कि गति और उपगति के लिए आवश्यक है। गति की प्रक्रिया ही हन्दात्मक है, अन्यथा मयेन गति सम्भव नहीं है।

गति पशु में देखते हैं मछीन में देखते हैं। दोनों का वेग वर्तनीय होता है। पीछे बीड़त बाव और आगे-आगे बीड़ते हिरन को टटस्व होकर देखें तो बिज मनोरम लगेगा। लेकिन जब मन में उचित होता है कि बाव हरिण 'पट' बीड़ रहा है हिरण बाव 'से' बीड़ रहा है तो उस गति का सौन्दर्य सहसा लुप्त हो जाता है और आनन्द समाप्त हो जाता है। कारण गति वह अन्वी है, गुपहीन है विवेक का प्रकाश वहाँ नहीं है।

कमान से छूटे तीर को सीजिये बन्धूक की गोली को सीजिये आब के प्रक्षेपणास्त्रों को सीजिये। इस गति के वेग का भका बाधनी क्या मुकाबला कर सकता है? पर इस गति में सब ही स्वयं में क्या किसी उपगति को भी देखा जा सकता है? नहीं। क्योंकि उनके पीछे नैतिक इन्द्र की ध्वजा नहीं है। आदमी सदियों को बेपटा और साबना से मार्ग-चेतना को बाक-भर भी ऊँचा उठा जाता है तो इसको हम संस्कृति की उपगति कहते हैं। वेग यद्यपि वहाँ नहीं है, और मनुष्य इस अपह पशु से कितना पिछड़ा है फिर भी जो उसे उपगति मानना पड़ता है सो इसलिए कि वह घोर नैतिक संघर्ष में से निष्पन्न हुई होती है।

मानवोत्कर्ष है ही वह, जो नैतिक इन्द्र की प्रक्रिया में ऋकित होता है। वही उत्तमविश कासकर्म में उद्गरी है। नहीं तो आवेगमय संसावात मानव-इतिहास में आया ही करते हैं।

### नीति-विमुक्त चेतना प्रबुद्ध नहीं

अपनी ही नली में पटी कल की बटना को सीजिये। मासूम नहीं लागड़ा धुक कंठि हुवा वा। पर इधर मूँह से गाली निकली उधर आदमी जो जाठ-बल करम आने बड़ चुठा वा पलटकर आया और पटापट गालीबाक को उसने पीटना धुक कर दिया। अब यह भी हां सचता वा कि व्यक्ति दूखत होला वह गाली मुक्ता टहण्या पीने बलकर आता और मुक्कटाकर परस्पर में आपी सलबटी को निकालकर मैनी का बागाबरम बना देता। इन दोनों में पहले स्थान पर लेडी देखी जा सकती है, दूसरे में सम्मरला। लेकिन मनुष्यता की सार्थकता दूसरी जगह है।

नैतिक को दुबा देनेवाली चेतना की प्रबुद्ध चेतना न कहकर आधिष्ट चेतना कहना होना। असल में वह विवेक-विमुक्त होने से बलिष्ठ बघा होनी है। मुक्कटा वा सहज बाव वहाँ होता ही नहीं। वा तो काप होना है वा उपेक्षा होनी है।

### मानव का सञ्जन न हो

असल में सर्वकर संकट यही है। आन्ध्र और सिद्यान्त के माय पर हम अपने मानस

को ऐसी ब्रह्म पहुँचा सत है कि मानव का उन्मथन हमें खलता नहीं। नैतिक भाव स्पष्ट इसलिये है कि मानव का लक्ष्य और उन्मथन न हो। जिस गति में हम मानवोन्मथन कर जाते हैं वह किसी भी मनु-सिद्धान्त अपवा आदर्श के अनुरूप में हो, मानवोन्नति नहीं है यह स्पष्ट हो जाना चाहिए।

मानव का बाह्य निश्चित रूप से भयन वादियों को उस बारे में अज्ञातमान बल्कि उदासीन और उद्बुध बनाने का काम करना है। यह मनरा वहाँ से भी हो, उससे बनना होगा।

## शोषक-शोषित

४७ आर्थिक, धार्मिक, मानसिक एवं आत्मिक जीवन के सभी स्तरों पर मानव मुझे दो वर्गों में बँटा दीखता है—शोषक एवं शोषित। क्या आप इसे तथ्य नहीं मानते? इन वर्गों के उन्मथन के लिये और बग-बेहता की स्थापना के लिये आप क्या उपाय प्रस्तावित करते हैं?

## शोषण की जड़

—ब्रह्म न मूलतः मानव-समाज स्त्री और पुरुष नाम के दो वर्गों में बँटा हुआ है। कहते हैं हर व्यक्ति में दोनों तत्त्व मौजूद हैं। उनके अनुपात की अधिकता से स्त्री भयना पुरुष हुआ करते हैं। अब मनोविज्ञान में दो धार चलने हैं—Sadism और Masochism। इन दोनों धारियों के बीच भी हर व्यक्ति में है। हमारे नाम के लिये, अर्थात् विचार के अकालन के लिये, हम मौनिक वर्ग में से चलना अधिक विचलनशील होना।

मान धार्मिक शोषण माने सब वर्गों का एक व्यक्ति है, मनमिष पूर्व-ति। उसका परिहार पुरुष-का-पुरुष शोषक-वर्ग का ठहरता है। स्त्रीन हमें क्या मानस वि-धर की हालत क्या है? वहाँ पति द्वारा पत्नी का शोषण बढ़ जाने से चल रहा है। मरणा है बल्कि होता ही है। तथ्य यह है कि जब हम 'शोषण' को सामाजिक वर्गों में विस्तार हम करने हैं, तो परिणाम राजनीतिक बन जाता है। अर्थात् बग-बेह की बुनियाद पड़ती है। उस तरह शोषण की जड़ ह्रास या आनी है, जहाँ से नहीं मानना है।

## इमित भी शोषण

मैं यह कि आदर्श अनुभव में उभर, तो वह ठीक तरह करने की किसी वर्ग में रहा नहीं सहा। समानि करोड़ों की बोल करने ऊपर अनुभव करता है और करने



गति पशु में देखते हैं मछीन में देखते हैं। दोनों का वेग वर्धनीय होता है। पीछे पीछे बाप और आगे-आगे बीड़ते हिरन को तटस्थ होकर देखें या चित्र मनोरम समेगा। लेकिन जब मन में चर्चित होता है कि बाप हरिण 'पर' बीड़ रहा है, हिरण बाप 'से' बीड़ रहा है तो उस गति का सीमर्य सहसा लुप्त हो जाता है और मानस समाप्त हो जाता है। कारण गति वह मन्वी है, मुग्धाहीन है, विवेक का प्रकाश नहीं है।

कमान से छूटे तीर को लीजिये वन्दुक की गोली को लीजिये आज के प्रसेपनास्त्रों को लीजिये। इस गति के वेग का भला आचमी क्या मुकाबला कर सकता है? पर इस गति में सच ही स्वयं में क्या किसी उप्रति को भी देला जा सकता है?

नहीं। क्योंकि उनके पीछे नैतिक इन्द्र की ध्वजा नहीं है। आचमी सविदा की बैप्टा और साधना से मानव-चेतना को बास-भर भी ऊँचा उठा जाता है, तो इसको हम संस्कृति की उप्रति कहते हैं। वेग यद्यपि नहीं है, और मनुष्य इस जगह पशु से कितना पिछड़ा है फिर भी जो उसे उप्रति मानना पड़ता है सो इसलिए कि वह और नैतिक संघर्ष में से निष्पन्न हुई होती है।

मानवोत्कर्ष है ही वह, जो नैतिक इन्द्र की प्रक्रिया में से फलित होता है। वही उत्कृष्ट कालक्रम में ठहरती है। नहीं तो आधेयजन्य संसाधन मानव-इतिहास में आया ही करते हैं।

### नीति विमुख चेतना प्रबुद्ध नहीं

अपनी ही मछी में घटी कम की बटना को लीजिये। मालूम नहीं समझा शुक कैसे हुआ था। पर इन्कर मूँह से वाली निकली जबर जादमी जो बाठ-बस कदम जाँचें वह चुका वा पलटकर आया और पटापट गालीबासे को उसने पीटना शुरू कर दिया। अब यह भी ही समझा जा कि व्यक्ति बूझता होता वह वाली गुनवा ठहरता धीमे चलकर जाता और मुसकटाकर परस्पर में आयी सलबटों को निकालकर मैत्री का वातावरण बना देता। इन दोनों में पहले स्थान पर तेजी देनी जा सकती है, दूसरे में मन्वरता। लेकिन मनुष्यता की सार्वरता घुमरी जगह है।

नैतिक को उबा देनवासी चेतना का प्रबुद्ध चेतना न कहकर आविष्ट चेतना कहना होगा। जगल में वह विवेक विमुख होने से समित बसा होती है। मुक्तता का सहज भाव नहीं होता ही नहीं। पर तो जोय होता है पर उल्लेख होती है।

### मानव का लण्डन न हो

जगल में भयंकर संकट नहीं है। आदर्श और सिद्धान्त के नाम पर हम अपने मानव



को अपने से दीन-हीन के ऊपर बैठा हुआ पाता है। किसी स्तर पर भी कोई उन नीचे और ऊपर के दोनों बजाओं से मुक्त नहीं है। गैता चीनी पर दीबठा है, बकिम अनु-मायियों का मिथना दबाव उस पर है यह बही जानता है। बमों के बीच में ही इस हिंसा-तरंग को बिछाड़ना बनाकर देखना मानो उस अपने से पूर आसन्न देखना है। इस दर्शन से सम्भव ही सज्जा है कि धोपन मिटाने की अपेक्षासा हम या व्यक्ति स्वयं धोपन का कारण बन गिरने। अधिकांश ऐसा ही हुआ है। अमुक दमित बयं क्रान्ति के और से जब आस्था-बयं बन बैठा है तब मासूम हुआ है कि बही धोपक बन गया है।

### धोपन अधिक व्यापक

बमों में और उन स्तरों में ही धोपन नहीं है बरिक्त उससे अधिक व्यापक है। यानी परस्पर सम्बन्धों की प्रणालियों में समाज के सारे टाने-बाने में वह रचा हुआ है। इकाई बयं या श्रेणी को मानना राजनीति के प्रयोजन के लिए काफी हो बिचार और विज्ञान के लिए काफी नहीं है। वह इकाई सर्वथा ठगपनी और मानी हुई है और निरमप्रति के व्यवहार में उसका सामना सम्भव नहीं होता है। जो प्रत्यक्ष और अनुभूत है, वह वैयक्तिक घरातल पर है और व्यक्तिगत सम्बन्धों के द्वारा प्रकट होता है। उनके ऊपर हाँकर जिन इकाइयों की चारणा हम जमाते और जिन पर फिर अपने सामुदायिक व्यवहार को चलाते हैं वे सापेक्ष चारचाएँ होती हैं। उनमें सरलता को पकड़ और बाँध रखने की अपेक्षा से हित के बजाय बहिन होने लगता है। सरलता उनकी सापेक्ष है और उस अपेक्षता और मर्पास को कभी भूलना नहीं चाहिए।

### धोपन हिंसा है

अहिंसा को परम बयं अंगीकार कर लेने से लोक-जीवन की यह आवश्यकता बना-बान सिद्ध हो जाती है। तब श्रेणी और वर्ग की चारणा भी मदद कर जाती है, मुकाना नहीं कर पाती। धोपन के लिए कुछ दम्य हिंसा है। वह इनका धूम और व्यापक तरंग है कि अमुक राजनीतिक क्रान्ति या धुमरे तरंग के प्रोपाम से उसका निशान के समाधान ही आयगा यह मानना अपने को निरर्थक बढ़का के भरमा सेवा है। बही कठिन और पुर्ण्य और जीवनम्यापी साधना है यह हिंसा से लड़ना और अहिंसा की मानव-सम्बन्धा में प्रतिष्ठा करना। जब उस पर चले तो मासूम होना कि धोपन को समाप्त करना कोई निरा आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है, बकि उनके बयं रूप में बहुरूप और अपरिग्रह रूपों में भी अनिवार्य होते हैं।

## मिटाना हिंसा को ह

अमुक बर्ग या सेमी का सम्मूहन ऊपर की बात के बाद आपनो आवश्यक नहीं दीखेगा। सम्मूहन जब हिंसा का होता है, तो वह किसी का नाश नहीं करता है, सिर्फ उमक सम्बन्ध में पड़ हुए जहर को ही समाप्त करता है। जहर मिटने पर अन्तर और भेद भी प्यारा हो जाता है। अन्तर ही बीच में अगर न हो तो स्नेह और प्रेम क सञ्चार के लिए भी अवकाश नहीं बचता है। प्रेम क नाते बड़ा-छोटा और ठीक नीच भी यदि हो तो अखरेगा नहीं। बल्कि जीवन को समुद्र और सम्पन्न करता जान पड़ेगा। मैं को कैसे इतने रोका जा सकता है कि वह बटे की अपने स ज्यादा चिन्ता करे और उसका मुख के लिए अपने को निछावर करती रहे। प्रेम की बन्धना मति नहीं है, दृष्टि नहीं है। प्रेम में हम अपने को नीचे और प्रेम-पात्र को ऊँचे पर ही रखकर सम्योप पाते हैं। हम तरह किसीका भी सम्मूलन आवश्यक नहीं ठहरता है। बल्कि एक भी बिचिबता व बिचिबता को कम करना जगत् की रोमा को कम करने जैसा हो जाता है। अहिंसा का आचार यही है। अनिष्ट हिंसा है। मिटाना उसको है। दुस्मनी मिटान के लिए जब-जब दुस्मन को मिटाया गया है, तो पता चला है कि दुस्मनी बड़ी है, मिटने जरा भी नहीं है। मिटाने की उस इच्छा में ही भ्रान्ति है, दोष है। अपराध है उस दृष्टि में जो रोग क मूल तक नहीं जाती सिर्फ ऊपरी चिह्नों को मिटाने में से गौरव के केत्री है। इतिहास में आप ब्रिटेनमा कि एनी अचूरी इच्छा को लेकर चलनेवाले अन्तिकारी कुछ ही दूर चलने पर फिर पीछे मोपवादी अवनरवादी घामनवादी बुनियाबाज हो गये हैं। तुलना में जिसको अन्ति की आम मृत्यु के लज तक उनी तरह जल्दी रही है, उसको देखिये और समझियेमा तो यह अन्तर स्पष्ट ही आयेगा।

## वपहीनता क्या है ?

वर्षहीनता से आपका क्या आगाय है ? क्या यह कि जमी सब खेत एक ही काम करिये एक-से मकानों में रह्ये एक-सा पाना आयेगे ? तो यह बिज मनोरमता के किए हो सकता है सम्मबता के लिए नहीं। स्पष्ट है कि जीवन क बिचिब ध्यानार रह्ये। मन्त्री वर्षहीनता में किनी व्यक्तिब की सम्भावनाएँ बच न होंगी और मन अनी बिलगपता में मिलने का अवसर पायेंगी। वहाँ जो हंसा वह यह कि पैसा रहा बी ता उममें व्यवहार को मुगम करने की ही चस्ति होवी। उसस अपिब किनी बबाब या अभाब को मुष्ट करने की शक्ति नहीं रह्यी। इमी प्रकार राज्य या घासन यदि हंसा तो व्यवस्था की बुनिया जिन्ना ही हंसा दमन वह नहीं आयेगा। हिंसाकरण जैसे अज्ञ-रास्त्र-मैत्र्य एपादि के सहारे की जरूरत रहे न होगी।

हिंसा की शक्ति और उसका साधन उसी ही मात्रा में जरूरी होते हैं, जितना समाज के पास अहिंसक शक्ति का भयाव होता है। बगहीन समाज वह समाज होगा जो प्रेम की शक्ति से चलेगा और किसीको मानने का अवकाश न होमा कि वह शोषित या शोषक है। सब परस्पर पूरक अनुभव करेंगे और परस्पर की पूर्णता में सहायक होंगे। इस समाज को बर्गहीन कहा देकर यह मानना कि कोई विविधता वहाँ कम होगी बर्गहीनता को न समझना है। आज का शासक या शोषक-बर्ग क्या चैन से रहता माना जा सकता है? चैन से यदि वह रह सकता है तो तभी जब सत्य सारा समाज उसके प्रति प्रीति या विश्वास रहे। और यदि यह प्रीति या विश्वास हो तो क्या शासक अक्सर वैसा रह जायगा? वह पूरी तरह संभल बना हुआ बीजेगा।

कहने का आशय यह कि बर्गहीनता के लिए बर्गों को मिटाना नहीं है बल्कि सम्बन्धों में उस सहयोगिता और स्वस्थता को लाना है जिसमें बर्ग-वैतना ही अनावश्यक हो जाय। बर्ग-वैतना वैसी चीज जहाँ अकारण और असम्भव होगी उसी समाज को बर्गहीन कहा जायगा।

### मानव-प्रकृति और बर्ग-भेद

४८. आपके उत्तर से स्पष्ट ज्ञात होता है कि आप सामाजिक बर्गों एवं विभेदों को मानव-प्रकृति में निहित परस्पर विरोधी बृत्तियों का व्यवस्थित परिणाम मानते हैं। पर जो मानव-स्वभाव की बृत्तियों की ही सामाजिक बर्ग-भेदों का परिणाम देखते हैं, उनके लिए हिंसात्मक क्रान्ति का पीवच अनुचित क्यों ठहराया जाय? —अन्दर और बाहर के बीच कौन पहले है कौन पीछे कौन कारण है कौन फल, इसके विवाद में पड़ना अनावश्यक है। वह ऐसी तार्किक बर्षा है जिसे जीवन में उड़ान अनावश्यक किया जा सकता है। जिसकी जैसी श्रद्धा हो ठीक है। आवश्यक यह है कि श्रद्धा से गति निकल और वे गतियाँ परस्पर को विकल्प न करें।

### परिस्थिति और मानव-मान

हिंसक क्रान्ति बर्गभेदों का अधिकार कोई बात तो भी कम नहीं कर सकता है। कम इसलिए नहीं कर सकता कि उन्हें एक अन्तर की विचारणा पसन्दी है। लेकिन हिंसक क्रान्ति हिंसा को दूर नहीं कर सकती इसको बर्तान के लिए बड़े तर्कों की जरूरत नहीं होती चाहिए। परिस्थिति से वैतना चलनी और उगजनी है यह मान भी न तो परिस्थिति क्या सिर्फ स्थान भेद का नाम है? 'अ' ऊपर है 'घ' नीचे है, क्या 'अ' को नीचे लाने से और 'घ' को ऊपर कर देने से मान लिया जाय कि परि

स्थिति बरस जाती है ? मैं मानता हूँ कि परिस्थिति का सार-सत्य यह नहीं है कि कौन कदा है। उसकी वास्तविकता तो इसमें है कि जो-जो नहीं है। उनके बीच का प्रवृत्तमान है। उस समूची परिस्थिति का परिवर्तन स्वाभाविकरण मात्र से नहीं हो पाता है। राजनीतिक क्रान्ति उसको महसूस देती है और जहाँ-जहाँ अब-अब क्रान्ति राजनीतिक ही रह गयी है। वहाँ यह होने के साथ ही विप्लव भी गयी है। टिकी है तो तब जब यह राजनीतिक से आगे सामाजिक-सांख्यिक होने की ओर बढ़ी है। अर्थात् केवल स्वाभाविकरण से आगे उसने मानव-सम्बन्धों पर ध्यान दिया और उनके बदल को काटा है। मानव-सम्बन्धों की भूमिका पर जब भी आप उठते हैं तो वेसोंगे कि स्वान का विचार ही पर्याप्त नहीं है, मनीषाओं का भी विचार आवश्यक है। मानो मन में पड़ा हुआ हेतु तब उत्तम निरर्थक नहीं रह जाता। कर्म के द्वारा मन की प्रेरणा का बाहर की स्थिति के साथ सम्बन्ध बूझता है। कर्म कोई ऐसा ही नहीं सञ्चाल को केवल स्थिति-परिस्थिति से बच जाय और कुछे छिदे पर मानव-मन में उसका सम्बन्ध आये नहीं। हर इतिहास हर सिद्धान्त हर साम्य मानवों के साम्य से सम्पन्न होता है और इसीलिए मानव-मन के साथ उसका सम्बन्ध जाता ही है। परिस्थिति से बचाकर किसी एक की नीति से नियुक्त मान लेना बस नहीं सञ्चाल और बजाते हैं तो चलने से लाली नहीं। सञ्चाल।

### हिंसा और अहिंसा व्यवहार में

हिंसा और अहिंसा के विचार को तात्त्विक भूमिका पर हम न ले। वहाँ तो सब दाता जा सकता है। उस दातने से मुस्मान भी कुछ नहीं होता। लेकिन प्रत्यक्ष व्यवहार में अहिंसा और अहिंसा की बात का तात्त्विकता में बसताकर उस सम्बन्ध में उद्गमन में निरपेक्ष हो जाते और हिंसा का उचित और अनिवार्य उद्गार होते हैं। तो एक तरह हम नया वा सञ्चाल लेते और पूरी तरह सञ्चाल और जाग्रत होने से दबने हैं। अपन प्रति और इतिहास दूसरों के भी प्रति अन्याय किये बिना हिंसा वापकर्म को अपनाया और उठाया नहीं जा सकता। बहने के सम्बन्ध हैं दिनम पूरी सञ्चालन में ऐसी कार्य-नीतिनामा की विविध दिया गया है। उनमें हरण में यह चीज बिना नहीं रहता कि विम प्रकार अतिराशियों को अलग प्रति अन्याय करने हुए अपना पड़ता है। नीति के व्यक्ति मुक्त नहीं है। हिंसा कार्यनामा में जब यह पड़ता है, तब माना उसे हाना मुक्त होकर ही अपना पड़ता है। परिणाम विदरता का गिराव होकर अन्त में उनके अतिराश को हाना और बिपन्नता पड़ जाता है। ऐसा नहीं भी होता तो वे बह बस आते हैं और भीतर बगमनाम पड़ते हैं।

महोँ हिंसा के उपाय से होनेवाली क्रान्ति को मुक्ति और शांति का द्वार में नहीं मान सकता हूँ।

### आक्रान्ता-आक्रमण

४९. यदि शोषक और शोषित की बराबरी आक्रान्ता व आक्रमण की रण रिया बाय तो मे समसता हूँ समस्या में ऐसी तात्कालिकता का प्रवेश हो जाता है, जिसका समाधान व्यक्तता के बात नहीं रहता और मनुष्य के लिए सत्य चठाने के सिवा और कोई मार्ग नहीं रह जाता। गांधीजी ने शोषक का सामना तो किया आक्रान्ता का सामना करने का मौका उनको नहीं मिला। इस स्थिति पर आपका क्या कहना है?

—शोषक हिंसा का व्यापक व सुष्ठम स्वल्प है। उसकी चर्चा तो ऊपर आ ही गयी है। आक्रमण मे स्तूक रूप में ही हिंसा बीजती है। क्या आपके प्रश्न का माध्यम यह पूछना है कि आक्रमण का जबाब महिंसा से कैसे दिया जाय?

### गांधी पर आक्रमण

गांधीजी को चर्चा से बाहर भी रस सकते हैं। यों आक्रमण तो उन पर सीधे भी हुए, बचन से हुए, साठे से हुए, मौली से हुए। उस सबके उत्तर में गांधीजी ने जो किया वह उनकी जीवनी से जाना जा सकता है। कहा जाता है कि अन्त में मौली गाने पर उन्होंने हाक चौंकाकर 'हे राम' कहा। ईसा के बारे में भी कुछ बीसा ही सुना-सुझा जाता है। लेकिन इन विशिष्ट व्यक्तियों को मेम से प्रश्न को विशेषता के नाम पर कुछ आगे से दूर कर दिया जाता है। ऐसे वह समझा नहीं सिर्फ हट जाता है।

### आक्रान्त की मन-स्थिति

आक्रान्ता में सिर्फ आक्रमण करते हुए व्यक्ति का बिना मन में उठना है। मानो आक्रान्त और आक्रान्ता ये दोनों परस्पर सम्मुख और संपुर्ण होते हैं ता प्रथम आक्रमण की क्रिया और क्रम में। पर वास्तव में ऐसा नहीं होना है। आक्रान्त व आक्रान्ता के सम्बन्धी का रण कुछ इतिहास हुआ करता है। परन्तु से उगम सम्बन्ध बने जाते हैं। इन सम्बन्ध में माना प्रश्न की उत्तर नहीं हो सकती हैं। अन्तर ही यही होना है, कभी कभी यह भी हो सकता है कि सम्बन्ध का इतिहास कोई नहीं है अतस्मात् आक्रमण हुआ है। मान सीजिये कि रेल के डिब्बे में आप बसते हैं और सिर्फ सूट की इच्छा से कोई एयरमैन्स अपरिचित आप पर हमला करता है। इन अनेक उदाहरणों में आपकी

प्रतिक्रिया विप्लव-मित्र हो सकती है। यह निर्भर करती है पहले तो इस बात पर कि बाप क्या है। यानी आक्रान्त जिसको कहा गया है, वह क्या है? फिर वह निर्भर करती है आक्रान्त के साथ के उसके सम्बन्ध पर।

## मनुष्य में विचारशीलता है

अहिंसा के पास हिंसक आक्रमण का कोई जवाब नहीं है। यह मान लेना व्यक्ति को हिंसा में बन्द कर देता होगा। लेकिन हम देखते हैं कि प्रकृति में मनुष्य अहिंसा है। सिंह हारा है। आक्रमण सिंह करता है और वह उसी एक विधि को जानता है। मनुष्य यदि घेर पर विजय पाता है तो इसीलिए कि वह आक्रान्त नहीं है, उससे कुछ अधिक है। घेर को खत्म करने के अलावा भी घेर के बारे में मनुष्य कुछ सोच सकता है। यह अतिरिक्तता ही मनुष्य का बल है और यह निश्चय ही हिंसा का बल नहीं है। मनुष्य के पास केवल हिंसा का बल रह जाता अगर वह घेर से सिर्फ डर ही सकता है। हिंसा बही है और उसनी ही है बितना डर है। मनुष्य घेर के सम्बन्ध में डर को पीत भी पाता है। परिणाम यह है कि वह घेर को लेकर सरलता में खेद भी निभा सकता है। सरलता के खेल से आगे की भी कहानियाँ हैं। वास्तव घट जाएँ हैं जब मनुष्य ने घेर को मारने की भाषा में सोचा ही नहीं है, बल्कि सामकरी उसे अपना साथी बना लिया है।

## प्रेम की निमग्नता

प्रश्न में हम यह मान लेते हैं कि बचना जरूरी है मृत्यु से डरना जरूरी है। इन डर के नीचे होकर प्रश्न का विचार करने से जान पड़ता है कि मुकाबले के लिए हिंसा का बल अर्थात् प्रत्याक्रमण ही उपाय रह जाता है। डर के रहते सबसुख उपाय नहीं है और उसे अमान्य में निश्चय नहीं होनी चाहिए। वह डर और भी मनुष्य और निष्क्रियता है, जिसमें से हिंसा की हिम्मत तक नहीं निकलती। निष्क्रियता तो बढ़कर है ही लेकिन निष्क्रियता की शक्ति नहीं है। सबसे पहली निष्क्रियता प्रेम में ही आती है। गानी-नीगा की कहानियों में निष्क्रियता का बड़ी रूप है। वह कोमल रूप है, उजाला का उसमें रस भंड नहीं है। उससे उत्तरकर या निष्क्रियता दीगयी है वह कड़ी पड़ी जाती है। बड़ा या सरलता है कि उसमें उसी मूल्य भाषा में प्रेम की जगह अन्त में अपना दूसरे दूसरे में मय मिलता जाता है। इस सिरे पर प्रेम की निर्मलता और दूसरे सिरे पर मय की वास्तविकता के बीच में माना प्रहार के स्वरूप है, जो आक्रमण के उत्तर में सम्भव बन सकते हैं।



## निबरता का मूल अहिंसा में

आक्रमण डर में से होता और डर पीटा करने के लिए होता है। यह स्पष्ट है कि डर ही है जो उसे जीत या हरा नहीं सकता। निबरता से ही कुछ जबाब दिया जा सकता है जो आक्रमण को जबाब बीसा माझूम ही। हिंसक प्रत्याक्रमण में भी कुछ बस में निबरता का समावेश होता है। बारीकी से देखेंगे तो माझूम होना कि यह निबरता अहिंसा में से आती है। डर और होता है तो कायर बनता है। नीचे हममें कुछ जान होती है, तो वह डर को छुकर फिर उस हिम्मत के रूप में आगे टेंसती है। यह जान मूल में प्रेम है।

स्त्री भी कायर होती है, लेकिन बच्चे की ममता को छुकर बार का जबाब देने की बिकेरी उसमें आ जाती है। बच्चे की जगह व्यक्ति में कोई दूसरा प्रेम भी काम कर रहा ही सकता है। अर्थात् कुछ ऐसी वस्तु, जिसमें व्यक्ति की अपनी जान की परवाह कुछ बन जाती और मीठ की बाजी आसान हो जाती है।

## सोम-प्रेरित आक्रमण

आक्रमण सोम में भी होते हैं। छोटे-मोटे नहीं बड़े-से-बड़े इतिहास के आक्रमण तक सोम में हुए हैं। बिबेता जिन्हें कहा जाता है वे छोटी प्रेरणाओं से नहीं जम्मा मरणा जागाएँ उन्हें बसाती हैं। यही तक कि यही नहीं कि भय और सोम उनमें नहीं दीपता बल्कि नियंत्रता और निर्लोभ दीप आता है। अलेक्जेंडर के पास जगदगाँ के पास क्या कमी थी? जिसका भय या किस्सा सोम था कि वे दूर-दूर तक बाबा बोलते बने गये? उनकी जय-यात्राओं का भय-सोम से आइता मुद्रित हो जाता है। भय और तेज है धीर्य और धीर्य है जो उन्हें आक्रान्ता बनाता है। महा हिंसा की बाढ़ पर मामी वे ऐसे बड़े हुए जम्मे हैं कि हिंसा उन्हें खूनी ही न हो! वे जैसे इतिहास से ही घरे हुए हैं और परासक्ति से बस रहे हैं।

## भय और हीनभाव

मैं उन बड़े उदाहरणों का विवरण नहीं जाऊँगा। उनको अनुमति दाय में पकड़ नहीं पाता हूँ। लेकिन काम में भय का असर रहता है और मरणावादा के नीचे बह का हीनभाव पापव दुबना हुआ होगा या सरगा है। आक्रमण नहीं है कि यह हीन-भाव व्यक्ति को रेंडर हो सम्पत्ति को रेंडर भी हो सकता है। महान् जगताएँ इसी बराब के नीचे जान करती हैं उद्गीत पीरन घड़ी। स जग्य सिता है और घड़ी से महिम्न विषयमात्र सृष्टि पाता है।

पहले क प्रतीक है चक्रन तो दूसरे मास की प्रतिमा है चक्र। समष्टि के प्रति व्यक्ति में यह जो अभाव व्यवस्था है उसको प्रम और भक्ति से भर पाता वह मन से उबर जाता है। परिपूर्ण भक्ति में भक्त स्वयं में भगवत्-रूप होता जाता है। इस अन्तरात्म को भरने के लिए प्रम का प्रमाण विद्युत चित्त का प्राप्ति नहीं होता वह मानो समित और समशीत अपने अहंकार को लेकर हठरथ उभर उठाइता और पछाड़ता हुआ बोड़ता फिरता है। जाने वह क्यों लम्प रहा है और विमम लड़ गया है? मानो समित की और विस्तार की अनन्तता उससे भेकी नहीं जाती। डर हुआ है और वह उस डर में ही य सारे उत्थात करने को बिछा ही जाता है। मूक्य नाम और मूक्य भय हुआ ही है उसमें जो अकारण आक्रमण करना दीगता है। इस हिमा में उस को हिमा दीगनी ही नहीं जैव वह स्वयं म बन्ना है और व्यवहार की विचाराओं म वही उन्मील ही बना रहता है।

### अहिंसा यहाँ विकल

इतिहास की ऐसी निर्वैदिकता व्यक्ति का आक्रमण में बचने का उपाय कोई अहिंसा प्रत्याजना या बचाव म ही भवता है न हुआ है। ऐसा लगता है कि वैदिक व्यक्ति एतिहासिक क आग बेवार हा गयी है और यह अनर्थ मही है।

### हिंसर महाशक्तियों की पराजय

इस ऐतिहासिक महाशक्तियों का प्रकट बलवासे व्यक्ति का लल में जो भवनी ही अनन्तता का डर और अपने ऊर्ह की अमरता का खोज विद्यमान हुआ है उस कारण उन्हें बल म हाता भी पन्ना है। लैम वरुन हैं आत्मे के हारने हैं। पर शास्त्र के स्वयं अनुभव वरुन होंगे कि व अन मे ही हारने हैं। जब उस लिंग जब देवी रह नहीं जाती। ऊर्ह की सीमितता उन्हें बाटती और गनी रह जाता है और चापे आत्मे का दम अभाव विस्तार उन्हें सीमितता मान्य हुआ है। यह हार उन्हें अन्तर दीष्ट रहता है और उन्मील के सग वरुन है। ललिन अन्तरात्म के मामले दार आ जाता है डायाविनिम जिम वान्नेट म हो पर न द म म ता और भी मही होगा, ली भवनी ही हार लल के लिए उम रम और मवायन-म है आती है।

अन्तरात्म रहता है "मै दम सभ्यता मान्य हूँ। बन्ना का चाहता हूँ?"

डायाविनिम बन्ना है "यह कि दम एक ठरक गह हा दूर छोड़ दो।"

अन्तरात्म मरुत रह जाता है। जैसे लल अनुभूति भीतर लल उसे कोष जाती है।

समता है उसे और कुछ नहीं करना है बस एक और हट जाना है। रूप को दुनिया के लिए छोड़ देना है।

डायोजेनिस् का यह निर्दोष क्या अलेग्जेंडर को परास्त नहीं कर गया? अगर डायोजेनिस् में बार्धनिक सटस्पता ही न होती बल्कि कुछ की अनुकम्पामय ममता भी होती तो अलेक्जेंडर विजेता से विजित बन गया होता कि नहीं यह अनुमान की बात है। लेकिन परिपूर्ण प्रेम की निर्भीकता और निर्दोषता के समक्ष दुर्ज्ञान-से दुर्ज्ञान आकांक्षा परास्त हो सकता और परास्त होकर बन्ध भी हो सकता है ऐसा मैं मानता हूँ। ●

## व्यक्ति चित् तन्त्र यन्त्र

५० पूँजीवादी और साम्यवादी इन दो विरोधी समाज-संगठनों को ध्यान में रखते हुए बताइये कि समाज में व्यक्ति का क्या स्थान निश्चित है और समाज के महिष्य में उसका क्या योगदान होना चाहिए?

**दोनों व्यवस्थाएँ भ्रूक्षत अभिन्न**

—भाई, ये दो छाबनियाँ हैं। छानो हाथ की खाबप्यकता ये दोनों मोर के समाज-मस्यानों की राज्य प्रधान बना रखा है। एक में ती दुल्हर अधिकार राज्य के पास माना जाता है। दूसरे में वह बाउ उन तरह स्वीकृत नहीं है, लेकिन अधिकारी यह मन्तर बिचन के मून और नाया का है। पूँजीवादी सम्यक त्रिस्तो कहन है उनमें माना जाना है कि व्यक्ति को अवसर है, अपनी मूल-मूल से वह काम कर सकना और उसका मन रख सकना है। दूसरे साम्यवादी मस्यान में माना जाता है कि काम और काम का वह व्यक्तिगत अवसर नहीं है। हाँ, काम का बाह्य-अन्तर हो सकना है, लेकिन मत्तापाटी व्यवस्था में अवसर पर मत्ता का निम्न और निम्न है तो दूसरी जगह वह नियन्त्रण पूँजी का काम कर रहा होता है। मत्ता की बुना स हमर जो अवसर निम्न मान पड़ता है हमर कुछ बना अवसर पूँजी व बाय क निक जाता है। सर्वथा स्वतन्त्र अवसर और समान अवसर बीना बीन दोनों समाज-व्यवस्थाओं में पायन है नहीं।

**समाज के मुख्य आधिकार**

व्यक्ति का स्थान उन दोनों में ठीक वही और जितना है, उस निम्न व निम्न बगैरी यह मान लेना चाहिए कि बिचने का और उन्मान काम मूल्य दत्ता में जितना है? बगैरी इन का यदि मुख्य हो और हमारे काम के मन और बिचन की निम्न बगैरी प्रमुख और उन्मान-मान हा, तो मुझे प्रतीत होता है कि व्यक्ति का मूल्य पर-पर बगैरी-रह जायगा। अर्थात् व्यक्ति अवसरिता और मानन का स्थान रागा साम्य नहीं बनगा। समाजिक मूल्य आधिकार रहेंगे तब तक व्यक्ति केन्द्र में

मही का पायेगा किनारे रहेगा। व्यक्ति वहाँ सिक्के में तुल्य और विक सकेगा। केन्द्र में तन्त्र होगा और व्यक्ति उसमें नग्ना यन्त्र होगा। सामाजिक मूल्य यदि उत्तरोत्तर नैतिक होने की दिशा में बढ़ेगा तो व्यक्ति केन्द्र का स्थान प्राप्त करता पायेगा। तब उस आचार पर सत्यान और व्यवस्था में भी मौलिक परिवर्तन होगा।

### व्यवस्था विज्ञान से बहुत पीछे

आज की व्यवस्था का रूप विज्ञान की प्रगति के साथ मेल नहीं खाता। ऐसा मामूम होता है कि विज्ञान आगे बढ़ गया है। व्यवस्था का तन्त्र उसने मोल्य नहीं बना वह पिछड़ा और ओछा रह गया है। विज्ञान ने सम्भव वह किया है कि कुछ घण्टों में भरती के इस छोर से उम छोर तक पहुँच जाइये बात बीटे-बीटे कर सीजिये हास-वास वृत्त-समाचार सब यही का यही प्राप्त कर सीजिये इत्यादि। बुनिया को विज्ञान ने हमारे अनुभव तक में सचमुच एक उपग्रह बना दिया है। सत्ता और शास्त्र में ही माना करते थे कि भरती बड़ापद का एक रूप है। अब यह नित्य अनुभव और नैमित्तिक जानकारी की बात हो गयी है। कफिन व्यवस्था मानव-जाति की राष्ट्र-राज्य की सर्वसत्तात्मक इकाई की चारणा पर ही गड़ी है। हर राष्ट्र राज्य के पास अपनी विशेष नीति है अपना स्वदेव-सम है, अपनी कौशल और अपना विपदा है। विज्ञान ने बुनिया को एक किया है व्यवस्था ने बुनिया का अनेक में बाँट रखा है।

### राष्ट्र-राज्य में व्यक्ति शून्य

पूँजीबारी करिये या साम्यबारी राष्ट्र-राज्य की चारणा वही भी मन्त्र नहीं है। राजनीति कूटनीति और उनसे अर्ध-नीति उसी आचार पर चलायी जाती है। मनुष्य उस व्यवस्था में वही तक स्वातन्त्र है, जहाँ तक राष्ट्र और राज्य की आवश्यकता उसे स्वतन्त्र रखता वह सबका है। कफिन राष्ट्र राज्य स्वयं में एक ऐसी चारणा है कि यदि वह आवश्यकता नहीं रही तो वह राजराज्यीय आवश्यकता कफनी दुर्ग मनुष्य-मात्र को अपने भीतर पीच लेगी। वास्तव मिथ्या की आवश्यकता की कीर्ति सोमा नहीं होती। तुल्यता अमल होती है। छोटे-बड़े-छोटे इस आने निर्वाण को अधिकतम मात्रा तक बढ़ाना चाहता है वही भी रहता नहीं चाहता। सम्भव और घनाद्व होता राष्ट्र की माया में उसे अपना एक और कल्प आन पड़ता है। उर्वीम से फिर साम्यविस्तार आदि की बातें सुनी हैं। सम्भव नहीं है कि राष्ट्र बारी सम्पत्ति और समृद्धि का आपन हमें उपर न के पास। उपनिवेशवाद और

विचारक के मन में सफाई होने का बोध है जिसमें वस्तु प्रत्यक्ष और मन  
मूल्य है।

### परमाय अथ का आधार बने

उन पढ़ना है कि अन्तर्-दृष्टि मानव ज्ञान को अन्तर्-दृष्टि में स प्राप्त  
करनी होती है यदि हमको विज्ञान की दृष्टि के साथ रहना है। नहीं तो विज्ञान के  
मार्गों मानव ज्ञान अन्तर्-दृष्टि ही सुपन बनायेगी आन्तर्-निष्पन्नता ज्ञान से  
नहीं निकलती।

### व्यक्ति ब्रह्माण्ड का केन्द्र

मैं व्यक्ति का ब्रह्माण्ड का केन्द्र मान सकता हूँ। कारण व्यक्ति चिन्तन है।  
कन्द्र का चिन्तन में मान लन स माय ब्रह्माण्ड उर्ध्व और विनय हो उठता है। वह  
निम्न और उर्वरमान बन जाता है। पर नाशका का प्रतीक ही जाता है। प्रत्यक्ष  
को सम्भावनाएँ पवित्र समता है और उनके बीच अन्तर् का सम्बन्ध बनाकर एक हो  
जाता है। व्यक्ति और व्यक्ति स बात को ब्रह्मण्य योग का सम्बन्ध होता है और  
स्वर्ग के स्थान पर सृष्टार का मन्त्र उरवता है। व्यक्ति को केन्द्र और व्यक्ति  
स मा उमक अन्तर्-दृष्टि का केन्द्र विना मानवाका मन्त्र-द्वारा ही अन्तर्-दृष्टि  
मान सिद्ध होगा ऐसा मन्त्र विश्वास है। मैं समजता हूँ, इसी का चिन्तन और  
माय-द्वारा कहना चाहिए।

### व्यक्ति की बुद्धिमत्ता

५१ व्यक्ति-चिन्तन को ब्रह्माण्ड का केन्द्र मानने की बात विद्वत् मान-स्तर पर  
तो सही हो सकती है पर व्यवहार-स्तर पर यह बुद्धि-युक्त नहीं लगती। कारण  
कि नीचा घिसने ही अपने लोभ ओह अथ अथवा बहुस्वाकांक्षा का मायमत्तर  
व्यक्ति बुद्धि हो उठता है और अपनी सत्ता को स्थायी बनाने के लिए वह पूरी  
जागरूकी से नीति-धर्म नीति-विचार सबका पूरा उपयोग करता है और सहित  
सब करने संयुक्त को भद्रबुद्ध बनाये रखता है। उल्टी यह अमन्य बलि उमक  
व्यक्तित्व का उठना ही वास्तविक अर्थ है जिसका कि हन स्थाय निर्मोह आदि  
बुद्धिपूर्ण। फिर समाज और तन्त्र के पीछे भी तो व्यक्ति ही हमारे व्यक्तियों को  
बुद्धिमान और काटता बीच पड़ता है। और ऐसा साक दोषता है कि समाज या  
तन्त्र के निक नाम है कर तो व्यक्ति रहा है। ऐसी स्थिति में आर क्या समाधान  
प्रस्तुत करते हैं?

—प्रश्न में क्या आप पूर्वापर विरोध नहीं देखते? व्यक्ति को केन्द्र ठहराया जाय तो इससे आपसे लगता है कि उसमें समायी असत्-भूतियों को भी समर्पित मिल जाता है। दूसरी तरफ आप ही मानते हैं कि समाज या समूह को बाह्य सीमा मान्य किया जाता है वही भी भीतर असत् में किसी एक व्यक्ति की ही निष्ठा-मतिष्ठा होती है। इस तरह आप दोनों ओर संकट बसता पाते हैं।

### आदर्श बाहर नहीं, व्यक्ति चित् में निहित

मुझे लगता है कि व्यक्ति को आदर्श में नहीं व्यवहार में ही केन्द्र मानना अधिक आवश्यक होता है। आदर्श-लोक में केन्द्र तो क्या व्यक्ति को मिथ्या तक मानें तो चल सकता है। परम और चरम आदर्श का ही नाम तो भगवान् है। वह अलम्ब है। जब यह व्यक्ति नाम का देशकालावय को लक्षातिगण्य दीखता है तो वह सचमुच अपने-आप में सत् कैम हो सकता है? इसीलिए सबसे बड़ा असत्य बहुकार है। ऊपर जो कहा गया उसमें आप पावेंगे कि जब मानव-व्यक्ति को ब्रह्माण्ड का केन्द्र मानना बताया है तब उसका भी केन्द्र अन्तःकरण बताया जा। वही परमेश्वर का निवास माना जाता है। वह अश्रित और अलम्ब है बट-बट में व्याप्त और प्राप्त है। विश्व की चिन्मयता ही जैसे चित् में प्रतिबिम्बित प्रतिध्वनित और प्रतिवृत्त होती है। व्यक्ति-चित् के बिना नहीं तो निवृत्त की चिन्मयता अनर्थक और अननुभूत रह जाती उसका अर्थ और अनुभव हमें अपने चित्-केन्द्र में ही प्राप्त होता है। उससे अलग कहीं किसी दूसरे माने हुए आदर्श में सत्य को बिछाने के मोह और मायह में से सदा अनिष्ट फलित हुआ है। जिसको आदर्शवाद कहा जाता है वह यही प्रवृत्ति है। आदर्श को बाहर कहीं देखने से भरोशिका की सृष्टि होती और फिर सारी बलि मृत-तृष्णा में मायते हरिण की तरह बीधलायी और भ्रमायी बन जाती है।

### क्रान्तियों के भूख में यही भरोशिका

इतिहास में यही अभिन्नतर देखा जाता है। आदर्शवाद की लीक में सामूहिक भाव ने जाति और देश चल पड़ते हैं और राह में मानव व्यक्तियों को भीड़ के बाट उगारने आते हैं। ऐसे मुठों के समय क्रान्तियों के समय उन्हें निश्चय रहना है कि वे मोरच का नाम कर रहे हैं। पर पीछे प्रतिक्रिया आती है और होप जाता है। ये जो मानव इतिहास में रह-रह कर तीव्र ज्वर के बुलबुल पड़ित हो पड़ते हैं वे आगिर क्रिम आचार पर सम्भव होता है? आचार उनके नीचे उस आदर्श का रहता है, जिसको मानव-चिन्तन से स्वतन्त्र और निरपेक्ष प्रतिपदा लेकर स्थापित कर लिया गया था।

## साम्यवाद का आधार भी यही

आज का साम्यवादी और समाजवादी विचार क्या है? वह ऐसे ही आधार की प्रतिष्ठा का प्रयास है, जो मानव-चित् से स्वतन्त्र है। जहाँ सत्य की उपस्थिति इतिहास में मान ली जाती है अन्तःकरण में नहीं। व्यक्ति का समर्पण मानो समूह में पड़ जाता है अपने-आप में व्यक्ति असमर्पित और अनुचित हो जाता है। तब बहुमतवाद (Conformism) जैसे धर्म हो जाता उत्पादक अपरम। तब सत्य का स्वयं मताधिक्य के पास आ जाता है और इक्ष्वाकु के पास इतना अधिकार पहुँच जाता है कि सेव समवास व्यर्थ और अनर्थ ठहर जाये। इस पद्धति से बाद आती विचार घुट की और संस्था की चक्ति को इतना बड़ा आसते हैं कि पुण का विररकार होता है, पुरस्कार और सत्कार के लिए बड़ी संस्थान-संस्था का संगठन रह जाता है।

## बौद्धिक विचारवाद का संकट

मनुष्य को केन्द्र में मानने से यह सब संकट सम्भव बन जाता है। सच यह है कि बौद्धिक आदर्श-विचार में ही यह संकट समाया है वह विचारवाद की सृष्टि करता है। बाप पिरोह को उपजाता है और तब दलबन्दी आत्मी को उत्पत्ति का मीठा सूत्र मासूम होने लगता है। वह सत्पुरुष बनने की जगह 'सदस्य' बनता है और उसीमें कृतकृत्यता मानता है। बौद्धिक विचार हमको हमसे दूर किसी आदर्श की मटक में छाड़ देता है जो फिर नहीं नहीं मिलता और जिससे असक प्यार भी नहीं बुझती। चित् की और चित्तबान् प्राप्ती को केन्द्र मानने का आशय यहाँ वि व्यक्ति अपने को उत्सहित न करे, उपलब्ध करे। मेरा सचमुच मानना है कि समष्टि की प्राप्ति 'रानेटरी' से नहीं होगी। यों भी राकेट बाँव तक जाता है सूर्य तक भी जाय लेकिन उसके द्वारा चन्द्र और सूर्य का ज्ञान आधिर प्राप्त किसको होता है? उसीको न जो पछी पर है स्वयं है और जिसने राकेट आसमान में भेजा होता है। वह पति जो केवल बाहर की ओर होती है असल में कौकी हुई है। पति प्रमति वह है, जो चित् से जुड़ी रहती है और अन्तःप्रेरणा से औन्नत्योव होती है। आदर्श का बाद में सामासिक सूत्र मानो टूट जाता है और चित् विभक्त बन जाता है। चित् को अप्रमाण और उस कारण मानव-व्यक्ति को केवल साधन मानने की धूल में सब लुप्त हो जाता है जिन्होंने मानव-वैतना को अज्ञाना और विचलित ही विद्या कस्तकार नहीं दिया।

मनुष्य टिबता है, मारे जासते हैं

आपने डीक कहा है कि संस्था अपना सामुदायिकता के नेत्र में होता व्यक्ति ही है।



इसीलिए कहा गया केन्द्र व्यक्ति है। कारण वास्तव और सम्भव यही है। दूसरी संज्ञाएँ धारधारमक ठहरती हैं और भावावेश के साथ उनकी सत्यता भ्रमकली-भ्रमती है। मनुष्य टिकता है नारे बढकते हैं। बाव नये-पुराने बनते हैं मनुष्य सनातन रहता है। मनुष्य कसीटी है और सब बाव उस पर कस परस और फँके जायेंगे। बार के लिए जब मनुष्य बनता है, तो समझिये हास्य वह होती है, जहाँ गाड़ी भोके को सींचती है। पर धसक म गाड़ी सिंचने की है, भोका सींचता है फिर भावा बाहे कुछ हो। बाव की पंक्ति में ही कम और अन्य भा जाते हैं। वे यदि बीर्य होते और दूटते हैं तो सभी जब मनुष्य उनके बीच से गायब हो जाता है।

### मानव-चेतना विभक्त

अब आपकी पहली बात कि मनुष्य का सर्वथा समर्पण कैसे हो सकता है। उसमें क्या कुछ असह्य है ही नहीं? कितना तो असह्य और अनिष्ट उसमें भरा पड़ा है। कहाँ उसके प्रमाण और उदाहरण नहीं हैं? गुसस कौन होता है? बानव-रासस कौन बन जाता है? यह सब होते हुए वह आपका मानव-व्यक्ति क्या है जो कसीटी और केन्द्र बन सकता है? यही प्रश्न है न?

मानना होता कि मनुष्य में स्तर है। उसकी चेतना बँटी हुई है। वह एकीकृत और एकचित्त नहीं है। इसी कारण हम कहते हैं कि अमक मनुष्य मनुष्य नहीं है। उसकी चेतना बिगड़ जाती है चित् एकवचन विघटित हो जाता है तो उसी मनुष्य को तात्का बाहर हम सींचने में बन्द कर देते हैं कहते हैं, वह पागल है। मनुष्य अमनुष्य हो जाता है, अब कि अपने ही चित् से वह विविध चिन्तित बनता है।

### पर मनुष्य है अन्तःकरण

चिन्तु मनुष्य का मूल्य इसमें है कि उसमें चित् है, अन्तःकरण है। मनुष्य का उस चित् में सम्बन्ध होता हुआ विगड़ा-बिगड़ा तो जहाँ मात्रा में मूल्य तन्त्रित और नष्ट हो जाता है। उससे उल्टे मनुष्य अपनी अन्तःचेतना से कितना मुक्त सपुनः अभिन्न बनता है। मूल्य उसका बढ़ जाता है। पूर्ण आरमणित और आत्मचान् पुण्य में सबका माना आत्मदर्शन होता है। समस्त सद्-वर्णन प्राप्त होता है। मानो वह एक न ही सब हो, व्यक्ति न ही समष्टि हो। उस पर म महाना नारायण भाव हो जाता है।

कारण प्रत्येक के परम अभ्यन्तर में बहीता है, जो सब ओर गब नहीं है। उस अन्तःकरण के साथ व्यक्ति-चेतना का पूर्ण मीग हो, तो व्यक्तिगत उसकी सीमा नहीं, उल्टे उसका प्रकाश बनता है।

## मनुष्य को केन्द्र में लो

पूँजीवाद-साम्यवाद आदि सभ्यों के समक्ष यही कहना आवश्यक और अर्बकारी बात पड़ता है कि मनुष्य को केंद्र में लो। उसको अपनी बर्मे-धारणा और कम-विचार का मध्य-बिन्दु बनाओ। फिर वा कार्यक्रम निकलगा लाभ देगा। अथवा राज्य का बड़ेगा और बसकर ही बसता रहेगा। अनुभव में मुख म आयगा न बतना को बत प्राप्त होगा। हमारी रीति-नीतियाँ अर्थ-नीतियाँ समाज-नीतियाँ राज-नीतियाँ बहुत बौद्धिक बनी जा रही हैं। वे आदमी को लोय बाठी हैं। अतिरिक्त के आधार पर उसका कल्याण किया जाहती हैं। ऐसे एक बड़ा बिभ्रम पड़ा हो जाता है। आदमी क भले क सिध् उस ईवन बनाकर पुत्र की भट्ठी में लोका जाता है। यह प्रक्रिया अब तक बनी आयी यह तो लोय है। लेकिन विज्ञान न अपने करम के साथ भी हमारी व्यवस्था की प्रक्रिया यही रही तो बिम्बुल भी लोय नहीं है यह पहचान लेने की जरूरत है।

५२ क्योंकि सभ्यों मनुष्यों में से कोई एक ही चेतन्य चित्ता है और उनमें से कमठ व्यक्तियों की संख्या तो और भी कम होती है इसलिये आन्तरिक नियन्त्रण के अभाव में नीति व्यवस्था शासन-तन्त्र का बाह्य-नियन्त्रण क्या अनिवार्य नहीं है? यदि है तो आप विभिन्न तन्त्रों में से किसको अपना समर्थन प्रदान करते हैं?

## शासन और अनुशासन

—आत्मानुशासन की कमी उन्नी मात्रा में प्रशासन प्रदान शासन को आवश्यक बनाती है। समाज में आत्मानुशासन छत्तरोत्तर इतना वर्तमान और वरमान हो सता है कि केन्द्रित राजतन्त्र की जरूरत न रह जाय। उन्नी स्वयं और बाधा म मानव-समाज बड़ा हो रहा है। इनका आणय यह है कि शासन को अधिकारिक अनुशासन का रूप लेने जाना चाहिए। शासन बहु ओ लक्ष द्वारा चन्द्रित होला और मना और सम्प्राप्त का पुच्छ-बस जरूरी पाता है अनुशासन का अर्थ यह कि शासन बिचन्द्रित और व्यवस्थायक होता जाय और इस तरह चन्द्रित-रक्त से नीति-यन्त्र हान की ओर बले। राजकारण और राजतन्त्र के सम्बन्ध में प्रशासनारम्भ चन्द्र के उपकरण से बम और अनुशासनारम्भ नीति के साधनों से अधिक बलते हैं।

## महत्त्व तन्त्र के रूप का नहीं

भाषा से वास्तविकता व्यक्त होने के साथ डेढ़नी भी है। इसी कारण भाषा में निम्नी लक्ष को बच्छा-बुरा ठूरा देने से काम कुछ ऊपर से आमान हीना हो, पर मसल में बटिना बटिनी नहीं है। प्रजातन्त्र कोरुतन्त्र अधिनायक-तन्त्र राजतन्त्र आदि-आदि

राज्य प्रचलित है। भारत अपने राज्य को गणतन्त्र कहता है। इंग्लैण्ड के राज्य का कुछ विशेषण के साथ राजतन्त्र माना जाता है। लेकिन जर्ना पत्नी है कि वहाँ राष्ट्रपति का स्थान और अधिकार ब्रिटिश राज से भिन्न है कि भिन्न है? बहुत भ्रम में राज्य और बिचि का ही फेर है, नहीं तो दोनों की ही स्थिति एक है।

राजनीति के साथ व्यवहार बदलने और वहाँ प्रभावशाली होने के लिए यह जरूरी नहीं है कि उस मापा से ही रखा जाय और उसके पार और पीछे न देखा जाय। अराजकीय व्यक्ति राजनेता से भी जागे राज-छाया व द्रष्टा बन सकता है। राजनीतिक राष्ट्रावली की सत्यता बहुत सीमित है। असल में वह प्रयोक्त्र-परिमित है। उससे जागे उसमें असन्निध्य है नहीं। गांधीजी ने जाभी सही एक एकच्छत्र भारत के राजकारण को बताया और जागी में रामराज्य बाल रखा। राज्य बनाया उसे सँवारा और समाजा लेकिन राज्य सम्मुख सदा राम-राज्य ही किया। राम-राज्य से किसी राज्य-विशेष का बिच मन में नहीं बनता है। जैसे राज्य वहाँ कोई भी हो सकता है, आवश्यक इतना भर है कि एक भी अपने को उस राज्य में समित बीन और खुशी अनुभव न करे, हर कोई अपनी बात कह सके और वह बात सीधी सीध के कान तक पहुँच सके। तो जहाँ राजा और प्रजा के बीच आसमीयता का सम्बन्ध है, उसी राज्य-व्यवस्था की बेहतर मानना चाहिए। कमिस्तर या कमिस्तर या अमीरक बौरह नामों से कुछ अन्तर नहीं पड़ता है। चुनाव की पद्धति से माना जाता है कि प्रजा ही राजा बनती है जो ठीक काम नहीं करता है उस कुछ साल बाद हम फिर चुनने से इनकार कर सकते हैं। इस तरह समझा जाता है कि यदि मुक्त होती है ऊपर का दबाव उस पर नहीं आता है। इंग्लैण्ड में राजकुल मौजूद है और अनुभव होता है कि यदि उससे बँध होती है, बहुत अस्मिर नहीं हो पाती राज की सत्ता के कारण एक स्वरता बनी रहती है। जिनका कम्युनिस्ट राज्य कहते हैं, चुनाव वहाँ भी है लेकिन एक अनेक नहीं हो पाते एक ही बना रहता है और समय-समय-पर-परिचय राज से शासन में चुना जाता और बायबॉर बायमे रचना है। वहाँ व्यक्ति-पूजा (Personality Cult) को गिराकर भविष्य-राज्य की पद्धति बनी है फिर भी उसकी अभिप्रायकवाद कहने तक की दूररी को सुविधा है। रूप न डिपेंडेंटर को स्थान नहीं दीयता फिर भी डिपेंडेंसिय बपत्ती की दीयता है।

## राज्य और नीति-बल

सब से यह है कि यदि जहाँ जमी भी पद्धति से चुनाव से या रुझि से असंख्य जनों के बात से सर्वाज बनता है उत्तर कुछ गिनती के लोगों के पास पहुँचती और वहाँ से किसी एक के पास मान की जाती है, तो ऐसे दण्ड-राज्य के संस्थान का निर्माण

होता है। ऐसा राज्यतन्त्र संस्कृति का यन्त्र नहीं रहता। व्यक्ति की जगह यदि बचस नहीं नीति केन्द्रित हो तो तन्त्र नीतिक और सांस्कृतिक बन जा सकता है। यों कहिये कि तन्त्र की नाम से नहीं काम स परख होती है। परख इसमें है कि कितने आदमक बहु दण्ड-बल से काम करता और किस बांध तक नीति-बल स चमत्ता है। यहाँ नीति ही बल है बहु राज्य शासन-निर्भर नहीं हागा, बरकि बहु विरवास-निभर हो सकेगा। इस पद्धति का राज्य नीतिक और मनोव्यापी हाता है वही विविधाना व्यक्तिनिष्ठ बनता और कानून क दण्ड से प्रशासन चलान को बाध्य हाता है। गाँधीजी के पास यही बसौटी थी और इन्हीं दिशा में बहु समाज और राज्य का ठठना चाहते थे। पर शासन का न रहकर सेवा का हो जाय उसक आस-पास सर्व और मोरब के बिह्व न रहे मज्जा और अधिकारता के पुन दीर्घ तो मानना चाहिये कि राज्य-राज्य से हम राम-राज्य पर आये हैं। व्यक्ति प्रधान और नीति प्रधान राज्य की व्याख्या में जाने स अन्य सूत्र हाथ लप सकते हैं, जो तन्त्र की बिधि क सम्मन्ध म भी प्रकाश हैं। लेकिन बहु जमी प्रश्न से दूर की बात ही जायगी।

### आधुनिक तन्त्र रजोगुण प्रधान

आज जिस सम्प्रदा के जर्जल बिद्व का राजनीतिक मानम बल रहा है, वही सब तन्त्र दण्डाविचार और हिंसा-बल को अपनाकर बड़े हुए हैं। हिंसा का बिना कम व्यापक उन्हें उपयोग में लाता पड़ता है अन्तर हाता ही है। बुनियाद और विधान सबना एक है और बहु व्यक्ति-परक है। सब जगह आप देखिये कि रासिक बृत्ति (Kinetic Energy) से प्रेरित व्यक्ति ऊपर पहुँचते हैं सात्विक का पीछे और नीचे पटना पड़ता है। आज का राजा और राज-भारण रजोगुण प्रधान है। गाँधीजी उसे सत्त्वगुण प्रधान बनाता चाहते थे। बिवास अन्तः जमी दिशा में है और पूर्वाचारी तन्त्र हो या साम्यवादी तन्त्र सबको क्रमशः उस दिशा में उठने जाना है। दृष्टि बल उस सारांश पर होगी तब तन्त्रवाद जतना प्रमथ नहीं दीगगा प्रमुग्ध स्वयं मनुष्य को मिलनी जायगी।

### विज्ञान और राज्यतन्त्र

५१ विज्ञान और यन्त्र ने जमीन राज्यतन्त्रों को अन्य दिने में वही तक योगदान दिया है? क्या सत्ता के केन्द्रीकरण में इसका पुरा हाथ नहीं है? उत्पादन एवं संहार की शक्तियों की सुरता के मुख का-ता बल लेकर क्या विज्ञान ही आज के मनुष्य को अभिभूत और विकर्तव्यविभूत करता नहीं जा रहा है?

## बोनों का विकास अभ्योन्यासित

—समय में हम सब साथ चसते हैं। यानी राज और विज्ञान दोनों एक विकास के अंग हैं। विज्ञान और उसकी गति से उत्पन्न नये-नये यन्त्र और उनसे सम्भूत उत्पादन-विधि में आज की राज्य-व्यवस्था को कगिस्त रूप दिया यह कहना मझत नहीं है। लेकिन यह कहना भी उठता ही सही छहरेगा कि विज्ञान-सृष्टि य-उत्पादन न को बप लिया उस निर्धारण में राज्य-व्यवस्था भी बारबीमूत रही। अन्यान्यासित भाव के बीच में से मानव-समाज बड़ रहा है। मैं स्वयं समय वृष्टि के पक्ष में हूँ, जो केवल राज्य-शासक की परिधि में ही राज्य-सम्भ का विचार नहीं करती। अब समय है कि समय जीवन की अपेक्षा में इन चीजों की देखा आय और वृष्टि को सम्भक बनाया जाय।

## विज्ञान सकीज मन के हाथ पड़ा

विज्ञान से यन्त्र मिले। यन्त्र से प्रचुर उत्पादन की सुविधा मिली। अपने-आपमें यह मानव जालि के स्थिर बरदान बन सकता था। लेकिन यदि अमिछाप भी बन गया तो इस कारण कि हमने विज्ञान की विभूति की मानवीय मानस से नहीं जातीय और राष्ट्रीय बासना में अपनाया। विज्ञान ने तो सिर्फ पैसाव की सुविधा हमें दी थी। उसमें उपनिवेशवाद का प्रयोजन हमने अपने मानस से डाला। मूक में परम-भाव हला तो हुत साधनों से हम दुनिया में दूर-दूर पहुँचते लेकिन परस्पर देखी-बिदेगी नहीं बन रहते। हमारा स्वराज भाव ही नहीं एक फँस जाता यानी बिन्दु हमारा वंश बन जाता। लेकिन वह नहीं हुआ। विज्ञान न जो फसाव दिया वह संकर और सिद्धे मन के हाथ पड़ गया।

अनु-शक्ति आज प्रगट हुई है, लेकिन यह बाध्यता नहीं में आती है कि उससे बन बनें बड़ी बनत जायें बच-गुच में ही हो तो हमारा उपयोग हो। मरय मानना है कि विज्ञान की बार न को एनी बाध्यता और बिचसता नहीं या सवती है, या हमारे प्रयोजन और हेतु को छाटा करे। युद्ध की आवश्यकता विमान नहीं पडा करता है। पायव हा मकता है कि युद्ध की आवश्यकता हमारे मानस में पहले पैदा होती है और उस तजी में मैं स्वयं विज्ञान गनि पाता हूँ। एक हिटलर सामन न दीप पर पहुँचकर अनेक बज्ञानिकों को साधन सोंपकर यह सगता है कि बमुक दिना में मोय करो और अमुक फन मिजसकर दो। वैज्ञानिक राज्य नहीं बनाते, बल्कि राज्य की आवश्यकताओं के काम आते हैं।

## हमें विज्ञान का बिम्बु बनना है

यहां बही अपनी पहली उपपति को ध्यान में रगता हूँगा। परिस्थितियों

में से अपने मानस का अमुक निर्माण हम आकांक्षक मान लें तो काठ-पट्टि के हथ निरखेउन साबन बन जात हैं। लेकिन अनुप्य रहने हम पूरी तरह यन्त्र बन नहीं सकते हैं। हम अनुभव करत हैं हम बर्ता हैं सपना हैं। हमने स्वप्न है कल्पना है विचारयता है। हम माय्यामीन क्यों माय्य-विधाना है। ऐसा मोरब मनुष्य के पाम न हवे, तो वह अपने का मनुष्य नहीं मान सकता पण बन जाता है। इसलिए कहना होगा कि विज्ञान के भी हमें प्रभु और विमु रहना है। विज्ञान मात्र का केवल मात्र देना, लेकिन यन्त्र स काम हम वह सोगे या हमें केना है। यन्त्र के काम हम स्वयं जाने सग जायें यह कैसे सम्भव है? और यदि यहा अनम्भव सम्भव बनता है, मनीन मनुष्य का उपयोग तय करने बनती है। तो इसमें मनुष्यता की संचर हानि जाती है।

### मानव-चेतना अवस्था

आपके प्रश्न के उत्तर में यही कहना होगा कि आज हम मानवास्था की आबादनता है, जो दार्शनिक विधानाओं के पार देने और दार्शनिक उद्योगा एवं राजनीतिक बाधों को अपनी ओर से संस्कार ब दिया है। मानव-चेतना अवस्था है अविशेष है। मुम निश्चय है कि वह चेतना अपने अन्तरगत पटल को छ और छुहरावगी तो वह दार्शनिक राजनीति और अर्थनीति के पास में बिरेगी नहीं स्वयं उनका मुक्त करती हुई उठेगी। ●

## प्रजातन्त्र, मार्क्सवाद, साम्यवाद

### प्रजातन्त्र की योग्यता

५४ यह सोचना कि मानव नीति पर बलता तो तन्त्र को ऐसा रूप मिल जाता और कि मानव को तन्त्र का बस नहीं, स्वामी होना चाहिए वह क्या मनमाना विचार ही नहीं है ? मेरा प्रश्न है कि मानव की, तन्त्र एवं तन्त्र की वर्तमान परिस्थिति में क्या प्रजातन्त्र को ही आप सर्वोत्तम एवं सर्वश्रेष्ठ तन्त्र नहीं मानते और क्या उसीमें आप मानव को सर्वश्रेष्ठ से बचाने की योग्यता नहीं पाते ?

—सभी विचार जाकांजा और असन्तोष में से जन्म पाते हैं। लेकिन उस कारण वह व्यर्थ नहीं बन जाते। हम व्यतीत का विस्मरण करते और विद्यमान में कुछ नष्ट और अस्तित्वों का अनुभव करते हैं। इसी विवेक में से भावी का विचार और निर्माण करते जाये सकते हैं।

प्रजातन्त्र के भीतर का यह भाव सही और स्वाधीन है कि प्रजा से अन्तम और ऊपर बैठनेवाला राजा नहीं होना चाहिए। पर यह स्थिति उत्तरोत्तर प्राप्त करनी है, प्राप्त है नहीं।

### प्रजातन्त्र स्पर्धामय उन्नति के अयोग्य

सांस्कृतिक व्यवस्था में अच्छाई इसनी है कि मूल आदर्श सुतरा रहता है। लेकिन तन्त्र भिन्न और भग्न जाय और अन्तर की असंतिष्ठत यह ही कि भीतर-ही-भीतर राजकीय और शासकीय मानव पनपे तो मेकस प्रजातन्त्र नाम होने से उसको बढ़िया नहीं ठहराया जा सकता। तन्त्र के रूप में अधिक सम्भव है कि प्रजातन्त्र उत्तम सुवर्णि और सगम न ही, उनमें कई तरफ की रींघें रहें और कुल मिलाकर एका राजा और एकचित्तता न आ पाये—तो उन्नति की दृष्टि में यह प्रजातन्त्र तन्त्र ही उस राष्ट्र का भाग निरसन से रोकेवाला ही जायगा। हमारे देश-देशों कई प्रजातन्त्र सैनिक अधिनायक-तन्त्र बन गये हैं तो इसी कारण। आज राष्ट्र की गणतन्त्र और प्रमुख-सम्पन्न (Sovereign) मानकर हम स्पर्धामय उन्नति करना

चाहते हैं तो तन्त्र का प्रजासत्तात्मक रूप अवश्य चिन्तित होगा। केन्द्रित और एकमुट रूप सक्षम निकलेगा।

भाज की उन्नति स्पर्धात्मक है। हर राष्ट्र अपनी उन्नति चाहता है। सबकी उन्नति रचना ठाना मुश्किल है। सबकी नोचिदा है कि निर्माण बड़े आयात की जरूरत पड़े। सब मधीन-प्रधान और उद्योग प्रधान होना चाहते हैं। सबमें मंडियों को पाने और पकड़ने की होड़ है। सबकी अलग मुद्रा है और सबकी व्यापार-नीति स्वार्थ हित की दृष्टि पर चूमती है। इस प्रवृत्ति और भावसंयुक्तता के मधीन राजसत्ता को एक बड़े व्यापार-तन्त्र का रूप में उठना होता है। यदि मानव-सम्यक्ता का स्वर नहीं रहा तो प्रजातन्त्र का कोई अर्थव्यवस्था नहीं है। वह प्रजाकी शासन में रहे यादगर्भ पर भी रहे, लेकिन वास्तविकता में उसे झुठलाया जायगा। वर्तमान सम्यक्ता में झुंझती गति नहीं है।

मानव को सर्वताय से बचाने की योग्यता नामधारी प्रजातन्त्र में नहीं हो सकती। इनका ही नहीं बल्कि उसके उससे बिनाश को निमग्नग मिल सकता है, यदि अनिश्चयता और मन्त्रता उसका लक्ष्य बना रहे।

### अहिंसा-धर्मों प्रजातन्त्र से ही आशा

बिनाश को वह प्रजातन्त्र रोक सकेगा जो अहिंसा की अपनी निश्चित नीति मानेगा। तबतक अपनी जय-रचना बनायगा शास्त्रात्मक-निश्चयता से तत्परिणाम-स्वरूप मुक्त होगा और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बैगर्ड (Unilateral) निश्चयता का संकल्प लेकर आये जायेगा।

हम देखें कि वह प्रजातन्त्र राष्ट्रराज्य से भी अधिक जगत् के समस्त स्वयं मानव राज्य के तन्त्र का समूचा पेश कर जाता है। सामन का रूप बही अनुशासन है। वह केन्द्रित कर्म-एवं-व्यापार-तन्त्र नहीं है जन-विश्वास के आधार पर स्थित सक्षम नीतिगत है। राज्य मानो बही कैवल अन्तर्करण है, सहायता नहीं है। ठीक रूप उसका धीर और कम होता जाता है। व्याप्त महत्त्व समझा बढ़ता जाता है। मही तब कि सामन-मुक्त समाज का रूप उभरे जयगर्भ प्रकट हो जाता है।

प्रजातन्त्र इन निम्न में बिनाश या सब तब बिनाश ही न बचपा। यदि स्वयं मानवता को परिणाम-प्राप्त होगा। अन्यथा अन्तर्गत बढ़ती अन्तर्गत मीठा ही दृष्टि और बिनाश फिर शास्त्र-शक्ति के आधार को बूझगा। आपत्तिक स्थिति यही निम्न रही है। तब और प्रजातन्त्र दोनों साथ चलते हैं तो गूढ़ चलता है। और गूढ़ चल नहीं सकता। इसलिए एकदम निश्चित है कि अहिंसा की गूढ़ी भावों का



माने की हिम्मत से और तत्पर आभरण से ही प्रजातन्त्र भावी का तन्त्र हो सकता है। नहीं तो नहीं।

### अहिंसात्मक राष्ट्र की सफलता

५५ क्या आपको राम में वर्तमान परिस्थितियों में कोई राष्ट्र-स्पर्धात्मक राष्ट्र नीति को त्यागकर और तत्कालित अहिंसात्मक नीति एवं निःशस्त्रीकरण को अपनाकर अपना अस्तित्व बचाये रख सकता है? अकेला जूहा जिसकी के घसे में घड़ी बांधने बसेया तो मृत्यु के मुख में ही आया।

### वही सबको बचायेगा

—अपने को ही नहीं साथ सबको भी ऐसा ही राष्ट्र बचा सकेगा। लेकिन राष्ट्र को अपने घरेलू में बैसा होना होगा। सिर्फ राजनीतिक आघाबाव में से यह बोधना नहीं आ सकती। उसको अपना अर्थतन्त्र नीचे से उसी प्रकार उठाना और बनाना होगा। आज के अर्थ-आल में राष्ट्र परस्पर ऐसे अनुबद्ध हैं कि सब धूमिले तो बिरब मुद्र में तटस्थ तक कोई नहीं रह सकता।

एक नहीं तो आपकी कल्पना में सब जूहे मिलकर बिल्ली को जकर पैर कर सबत मानूम होते हैं। लेकिन सब कभी नहीं मिलेंगे अगर मिलेंगे और बिल्ली को कभी काबू कर पायेंगे तो सभी जब सबमुख कोई एक अकला जूहा बिल्ली के नसे में घड़ी बांधने बड़ने का साहस बिछायेगा। भय से भी अधिक साहस संक्रमक होता है।

### साहस भी संक्रमक होता है

भय संक्रमक होता है यह आप जानते हैं मैं जानता हूँ। लेकिन विरबास और साहस उससे भी संक्रमक होते हैं यह भी आप-हमको जानना चाहिए। तीली एक और नहीं-सी होती है उसकर भस्म होनेवाला जंगल बियाबान और बयानक होता है। तीली की आग क्या अपने पर सरमाकर जंगल के भयानकपद से डरी रह जाय? वह नहीं ही पाता और तीली जंगल को जला डालती है। बिल्ली के सामने जूहा तो भी है, भयानक अग्निबाण की घोरता के सामने तो बीड़ी की मुल्लग उतनी भी नहीं है। अरे, जपु के जमाने में एक की और अल्प की सम्भावनाया स हम अनजान बने रहेंगे? उनसे बूढ़ मॉरिये? अब तक सामद यही होना आया है। 'बहुत' का मरोमा किया है बस की बस समता है। आइस्टीम के मुख में आग रोस की है और समष्टि को जपु में ला दिया है। अग्नि में है वह रिण्ड में भी

है। यह तब आध्यात्मिक से भीतिक हो गया है। उस मनु के जमाने में आप यह क्या कहने बैठे हैं कि एक राष्ट्र अपनी आर से यहल नहीं कर सकता। यहल एक की ओर से ही होगी। फिर दूसरों को एक-एक कर उस पाँउ में आना जरूरी बनना या सकता है।

## मानव-नीति और मानव प्रतिनिधि

आज इस और जनरीका की दो छावनियाँ हैं। शिक्षा-मामेसम हुए हैं और हा रहे हैं। निम्नस्वीकरण की चर्चा निरन्तर है। साम्ति दानो महादम चाहते हैं। अधु-राष्ट्रों का निष्पयोग चाहते हैं जिसन चाहते हैं। राष्ट्र-मना दोनों ठाक बच्छे सच्चे और बहादुर हैं। लेकिन बच्छे एक-दूसरे की तरफ गर्त के साथ हैं। 'हम कछे हैं अगर तुम भी कछे' 'हम जितना करें, उतना करो' 'तुम करके दिखाओ ता फिर देखना हम क्या कर दिखायें' इत्यादि। मगर यह गर्त के साथ मानना सच्चा मानना नहीं है। क्यों न बहादुर लोग पूरे और कम तीर पर नहीं मान पाते हैं? इस अधुरेपन का क्या कारण है? कारण है कि वे राष्ट्र-नेता हैं। राष्ट्र का प्रतिनिधि एमा ही मके वो मानवता का प्रतिनिधि और मानव-नेता भी हो तो क्या बह भी चले रहेगा? रात किमके साथ रहना? रात किमके बिनाफ रहेगा? आज का हमारा अन्तर्राष्ट्रीय धन राष्ट्र-मति निधियो राष्ट्र-नीतियों और कूटनीतियों का धन है। मानव-नीति और मानव प्रतिनिधि किसी राष्ट्र में और उसके द्वारा अन्तर्राष्ट्र में प्रमुनता पायेगा तो इस दुस्म दुस्म दिगई बेमा। पर गामय उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए। ५६- वर्तमान परिस्थितियों में अहिंसात्मक अर्थ-नीति और राज्य-नीति को अप-माने के लिए एक राष्ट्र को क्या करना होगा यह किंचित् स्पष्ट न स्पूक रूप में समझाये।

## मनोभाव और जनोत्साह की पुँजी

—यह काम मुश्किल है। मेरे हाथ में राष्ट्र कोई नहीं। राष्ट्र की बनना का केकर ही यह काम करने कम जायें तो मरगा बनेगा काम नहीं बनेगा। दोनों में अन्तर होता है। मछे में मयित में और बिज्ञान के काम कम जाना है। काम न बन एक गया और अनिश्चित लग्न सामने आता है और बहतरह होता है मनुष्य। उसके अमार में मरगा भण्णूर मही होकर भी लग्न पड़ सकता है। और यह भी देना गया है कि मरगा नहीं है और बचन और निगमन पुनः न आवर कमजोर कर दिया है। केन का लेन एमा ही है। इसलिए आपक प्रश्न के कारणन के

भी पहले मैं मनोभाव और जनोत्साह की पूर्वी माँगता हूँ। जब आपने प्रश्न का रूप बन जाया है कि वह जनोत्साह कैसे उदय में आये कैसे प्रकट हो?

समिधा की आकृति ?

मैं आकाश में सूरज हूँ। वह मूर्तिमान् अग्नि है। लेकिन सूरज से हमारे काम-काज नहीं होते। उसके लिए अपने पास से बिजगारी प्रकट करनी होती है। उस बिजगारी को पाने के माता उपाय निकले हैं। कल एक जापानी बन्धु यह अपना मिचोटे-माइटर मेरे यहाँ भूत गये। सवा यह उनकी जेब में चूँका होमा। बल पर बिजगारी से आता है, बाकी समय जेब में छोपा पड़ा रहता है। तो मैं उस बिजगारी की बात ही कर सकता हूँ। अपने बर्ष को, अर्ध को, कामना-आकांक्षा को समिधा की तरह हाथ में लेकर स्येय की आत्मा और उसके प्रेम में स्वाहा करते हैं तो बिजगारी पैदा होती है। मूलतः वह चाहिए। फिर उस अड़स बूझ फूटना या समूह राष्ट्रीय और आर्थिक कार्यक्रम की पुष्पित और फलित करता हुआ उठेगा। यह उसकी विधि और स्वरूप के बिना कं लिए हमारे पास गाँधीजी का उदाहरण और साहित्य है।

५७ समस्त यत्न-विज्ञान मुझे गृहस्था की तरह अन्योन्यायित प्रतीत होता है। कोई भी दुर्घटना सारे काम को विचलित एवं अष्ट कर सकती है। क्या आप किसी भी ऐसी दुर्घटना की कल्पना कर सकते हैं—यदि ऐसा कभी हुआ, तो इन नवीन राज्य-तन्त्रों की क्या स्थिति होगी? क्या बुनियाद फिर कुछ मध्यम युग ( Pre-medieval Period ) में नहीं लौट जायगी?

—यत्न विज्ञान के फल हैं। यन्त्रों का प्रयोजन बरत सचता है और बरमेमा। उन अर्थ में अमूर्क बीज का कारणता पुनः अनावश्यक होकर पतन हो सकता या दूसरे बीज तैयार करने लग सकता है। लेकिन विज्ञान स्वयं पतन हुआ ऐसी किसी परिस्थिति की मैं कल्पना नहीं कर सकता सिवा इसके कि आरम्भ ही खरम हों जाय।

विज्ञान भट्ट नहीं होगा

विज्ञान ने यन्त्रा की प्रक्रिया दी। लेकिन उन यन्त्रोंको हम किस काम में लायें यह नियम विज्ञान में है नहीं बल्कि हमारी मानसिकता और सम्मता में है मात्र। वह मानसिकता और सम्मता दृष्टी यह तो माफ़ सीगता है। कारण यत्न को वह नगराचार्य और मेहाचार्यक कामनाओं की पूर्ति में बढ़ाती और सवाती है। लेकिन सम्मता के गिरने से स्वयं विज्ञान क्यों गिरेगा? बरत सम्मता मित्री

सम्पत्ता प्रीक सम्पत्ता रोमन सम्पत्ता आदि उठीं और गिरीं।<sup>१</sup> लेकिन उनके साथ समुक्त जातियों का उत्कर्ष और गौरव भले क्षुप्त होता चला गया हो ज्ञान मल्ट नहीं हुआ। वह हाथों-हाथ उत्तराधिकार के रूप में केवल स्थानान्तरित होता गया। मानव-जाति के पास केवल वह सुरक्षित ही नहीं रहा बल्कि संवर्धित भी हुआ।

### चेतना पीछे नहीं लौटेगी

वस्तु-विज्ञानों को मानवताओं (Humanities) के साथ चमत्ता हुआ। उनमें जब परस्पर सम्बन्धन विकसित होना ही होगा। लेकिन संकट का परिणाम और अन्त सिवा इसके कुछ नहीं होना कि उसको पार करके मानव-जाति फिर नये सम्बन्धन और समन्वय की ओर उठे।

मविष्य यों अज्ञेय है। यही उचित भी है। इसी कारण उसके प्रति हमारा दायित्व पुष्कार्य और निर्माण का बना रहता है। लेकिन अब तक के अतीत की प्रक्रिया का समझने से मविष्य के सम्बन्ध में विश्वासी बना जा सकता और मन में मुक्त रहा जा सकता है। तूफान इससे पहले भी मानव-जाति के साम्य ने कम नहीं भोगे हैं लेकिन मानव-चेतना टूटी नहीं है, निरन्तर बढ़मान रही है। मुझे विश्वास है वर्तमान सम्पत्ता के विकट संकट का काल भी पार होना और विज्ञान का योग अनिष्ट से दूरकर जाने हुए के साथ हो जमेगा। चेतना को पीछे नहीं फँटना है, जाने ही बढ़ना है। हमारा कुछ सम्भव नहीं है।

५८. मेरा प्रश्न यह था कि सत्ता का जो निपुण केन्द्रीकरण और उसके प्रयोगन में जो उत्कर्षाव दृष्टिगत होता है क्या वह यन्त्र द्वारा हो प्रेरित नहीं है? विज्ञान तो मल्ट नहीं हो सकता। पर क्या इन यन्त्रों से भी मानवता का पीछा कभी नहीं छूटता? साम्यवाद का जो स्वरूप आज सामने है, वह यन्त्रों की ही रेल है इससे आसको इनकार क्यों है?

### चेतना प्रधान, यन्त्र गौण

—आपने प्रश्न से मेरे मन में यह प्रश्न उठता है कि यन्त्र किसकी रेल है? जिस मानवित्व का वह रेल है और जो उनका उपयोग करती है उसको मैं परिणाम भर मानकर यन्त्रापीनता को अनिवार्य स्वीकार नहीं करना चाहता। अब भी मैं मानता हूँ कि मानव यन्त्रापीन ने अधिक यन्त्रावृद्ध है। एसा न हो तो रेल में हम बँटें नहीं बल्कि उनके नीचे पिमा करें। यन्त्र की स्वयं-मत्ता नहीं है यह मैं स्पष्ट रोगता हूँ। इसलिए चेतना को पहले और यन्त्र को बाद में रतना चाहता हूँ।

मानव-सामग्री से काम चला होता है और मनुष्य चलाता मानवता की बाबर से है। इसलिये मानवता का यहूद कोक-मेता के लिए उत्तम गण्य नहीं रहता।

धर्म को जगह मिलेगी, छावनियाँ टूटेंगी

मानव-यक्ष कम्मुनिज्म की वैज्ञानिकता में प्रवेश पायेगा। ली क्या रासायनिक प्रक्रिया होगी कहना मुश्किल है। मार्क्सिज्म ईश्वर के और धर्म के लिए जगह नहीं छोड़ता। कम्मुनिज्म में उनके लिए जगह रखनी पड़ जाती है। राज्य के रूप में बिल्कुल सम्भव है कि धर्म को प्रथम और सहायता भी देनी पड़ जाय। राज्य को कम मानवतात्मकता के सहारे की जरूरत नहीं होती? धर्म इसमें बड़े काम आ सकता है। धर्म का भेद होने पर साम्यवाद क्या जीव बनेगा यह सोचने की बात है। एक तरह वह धर्महीनता का धर्म है। वो धर्मों का भेद न जान नहीं होता। लेकिन जरूरी हो जाय तो क्या होगा यह अनिश्चित ही जाने। मुझे लगता है भेद तो अनिवार्य है। एक ही किनारा सभी होता नहीं है, दूसरा हो सभी प्रवाह बीच में सम्भव है। जीवन को भी रोस्ट चाहिए ही। बार और प्रतिवाद एकान्तिक किनारे खड़े कर के पर जीवन उन्हें किनारे ही रखता है। जब बार की कट्टरता ओछी और जड़री पड़कर हमसे छूटती जीवन की स्वीकार्यता हममें जायेगी तो सह-अस्तित्व से जाये सहकार-सहयोग के रास्ते ऐकान्त्य की ओर हम बढ़ेंगे। पर जब छावनियाँ टूट जायेंगी समाज मानव-समाज होगा और विज्ञान बढ़ी-स-बढ़ी दूरी को नष्ट कर चुका होगा।

पूँजीवाद और साम्यवाद

६२ छावनिओं का त्रिक आपने ऊपर किया। छावनियाँ बिना में इस समय हो रही हैं साम्यवादी और पूँजीवादी। इन दोनों भीतिकवादी अर्थ-प्रणालियों के बीच जो विरोध है वह क्या कैवल सैद्धांतिक ही है? उससे अधिक कुछ नहीं?

दोनों में बुनियादी अंतर नहीं

—“सैद्धांतिक” और “वैज्ञानिक से अधिक” प्रश्न के हम चार्जों का भाग्य में टिक नहीं समाता। सैद्धांतिक मूलगत और बुनियादी को भी यह लगते हैं। लेकिन उन दोनों प्रणालियों में जो विरोध अपना विग्रह है उस अपना बुनियादी में नहीं मानता। इसलिए सैद्धांतिक भी में नहीं बढ़ना चाहेंगे। बल्कि उसे व्यापक अधिक बढ़ना चाहिए। पूँजी नियामक तत्त्व के रूप में दोनों जगह व्याप्त है। साम्यवाद को अतिरिक्त वैज्ञानिक-पूँजीवाद नहीं नहीं बढ़ा जा सकता? साम्य-

बायी जिन्हें कहा जाता है, वहाँ भी समाज-व्यवस्था का नियमन सिक्के से होता है। पूँजीवादी व्यवस्था में छाया पूँजीपति एक से अधिक हो सकते हैं। साम्यवादी व्यवस्था में समस्त पूँजी का पति एक है और वह राज्य है। सब यह कि पूँजीवादी व्यवस्था स्वतन्त्र व्यवस्थावाले देशों में भी पूँजी अपने ही द्वार से कम होया न मोग बन्त में एक द्वार में सघहीत होने की ओर बढ़ रही है। बहुतों बाहिए कि इसी प्रवृत्ति का सर्वान्त रूप साम्यवाद है। पार्लियामेन्टरी डिमोकसी में अनेक दल हुए हैं क्योंकि अनेक स्वार्थ होने हैं। ये दल बमग बटकर मुख्यता में दो रह गये हैं अर्थात् प्रमुख स्वार्थ की पक्षियों में सघटित हो जाते हैं। यदि एक दल बहुत बल हो जाय तो बिरोधी स्वार्थ को बहु दिना सघता और सर्वाधिक पक्ष के रूप में ऊपर आ सघता है। यदि राज्य को ही जीवन का कन्त्र बनना है, जिसका आग्रह है निरुक्त का केन्द्र बनना तो एक दल और एकसुत्रवासी व्यवस्था अधिक निरापद मन्त्री जायगी।

### व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का नारा

यों एक ओर नारा है व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का भी। दूमरी ओर का उद्घाप व्यक्ति को अभाव के मय से मुक्ति देने का है। विकास और घूमे रहने के लिए व्यक्ति यदि स्वतन्त्र है, तो वह स्वतन्त्रता की विश्वमता ही है। अभीर बनने की स्वतन्त्रता दूसरे सिरे पर घटीर बनने की स्वतन्त्रता रह जाती है। इन नाम और तक पर साम्यवाद अपने सम्मन्ध में निर्भ्रम हो जाता और राज्य को घूरी तीर पर निजामत संस्था बनाने का समर्पण का जाता है। दूमरी ओर स्वतन्त्रता को आरक्ष-स्वनि मन्नेवाला कहता है कि 'राज्यसत्ता ही अधिक बलाव भरने और मोहन-बलन देने वाली हो तो स्वाधीन केन्द्र पुरण का क्या होगा? राज्य मालिक होया तो देश की उसके अनुगत बन कर रहना होया। स्वाधीन चिन्तन और स्वाधीन-जापना की प्रस्था न प्रोत्साहन की नामची उक्त राज-निर्वाचित समाज में से मिल नहीं पायगी। मनुष्य इसलिए वहाँ मनुष्यता के बंधन की दृष्टि से बीन-बीन और सघ-माघ म रह जायगा।

### दोनों छोरों परधान, तन्त्र-प्रधान

हवादि तर्क दोनों ओर से एक-दूसरे के लिए निए जाते हैं। कुछ बड़ी प्रचीन होता कि दोनों में बिनी और व्यवस्था-मण्डन गीन और मनुष्य प्रबल है। तन्त्र कहता है कि दोनों परधानाएँ तन्त्र प्रधान है और दोनों ही उक्त सम्मता की अघ रूप है, जो छरीर रचना की प्रधान और मनीषाव की द्वितीय स्थान देती है। इस मून के

मानव-सामग्री से काम लेना होता है और मनुष्य जसता भावना की भाव्य से है। इसलिए भावना का पहलू कोक-गता के लिए उतना ममम्य नहीं रहता।

**धर्म को जगह मिलेगी, छावनियाँ टूटेंगी**

भावना-युक्त कम्मुनिज्म की वैज्ञानिकता में प्रवेश पायगा। तो क्या राज्यात्मिक प्रक्रिया हमें कहुना मुश्किल है। मार्क्सिज्म ईश्वर के और धर्म के लिए जगह नहीं छोड़ता। कम्मुनिज्म में उनके लिए जगह रखनी पड़ जाती है। राज्य के तन्त्र में विस्तृत सम्भव है कि धर्म को प्रथम और सहायता भी देनी पड़ जाय। राज्य को कम भावनात्मकता के सहारे की जरूरत नहीं होती? धर्म इसमें बड़े काम आ सकता है। धर्म का मेक होने पर साम्यवाद क्या बीज बनेगा यह सोचने की बात है। एक तरह यह धर्महीनता का धर्म है। वो धर्मों का मेक ब साल नहीं होता। लेकिन जरूरी हो जाय तो क्या होना यह भविष्य ही जाने। मुझे लगता है मेक तो अनिवार्य है। एक ही किनारा कभी होता नहीं है, दूसरा हो तभी प्रवाह बीच में सम्भव है। जीवन को भी दो तरह चाहिए ही। बाद और प्रतिबाद एकान्तिक किनारे लड़े कर सें पर जीवन उन्हें किनारे ही रहता है। जब बाद की कट्टरता ओझी और अपूरी पड़कर हमसे छूटेगी जीवन की स्वीकारता हममें आयेगी तो सह-अस्तित्व से आये सहकार-सहयोग के रास्ते ऐराज्य की ओर हम बढ़ेंगे। पर तब छावनियाँ टूट जायेंगी समाज मानव-समाज होया और बिज्ञान बढ़ी-से-बढ़ी दूरी को मट कर चुका होया।

**पूँजीवाद और साम्यवाद**

६२ छावनिओं का तिक आपने ऊपर किया। छावनिओं फिर में इस समय हो ही है। साम्यवादी और पूँजीवादी। इन दोनों नीतिरवादी अर्थ-व्यवस्थाओं के बीच की विरोध है वह क्या केवल सैद्धांतिक ही है? जससे अपिष्ट कुछ नहीं?

**दोनों में बुनियादी अन्तर नहीं**

—“सैद्धांतिक” और “वैज्ञानिक से अधिक” प्रत्येक के इन पक्षों का आशय में ठीक नहीं समझा। सैद्धांतिक मूलगत और बुनियादी को भी यह एकते है। लेकिन उन दोनों प्रणालियों में जो विरोध अपना विग्रह है उसे उतना बुनियादी में नहीं मानना। इसलिए सैद्धांतिक भी मैं नहीं बटना चाहिए। बल्कि उन शाब्दिक अधिक कहना चाहिए। पूँजी नियामक तत्त्व के रूप में दोनों जगह व्याप्त है। साम्यवाद को अतिरिक्त केन्द्रित-पूँजीवाद क्यों नहीं कहा जा सकता? साम्य-

बादी जिन्हें कहा जाता है, वहाँ भी समाज-व्यवस्था का नियमन मित्र स होता है। पूँजीवादी व्यवस्था में शासन पूँजीपति एक से अधिक हाथ में है। साम्यवादी व्यवस्था में समस्त पूँजी का पति एक है और वह राज्य है। सब यह कि पूँजीवादी व्यवस्था स्वतन्त्र व्यवस्थावाले देशों में भी पूँजी अपने ही ओर से कम हाथ में और राज्य में एक हाथ में संघीकृत होने की ओर बढ़ रही है। कहना चाहिए कि इसी प्रवृत्ति का उत्कर्ष रूप साम्यवाद है। पार्लियामेन्टरी डिमोक्रेसी में अनेक दल होते हैं, क्योंकि अनेक स्वार्थ होते हैं। ये दल अलग-अलग घटकर मुख्यता में दो रह जाते हैं अर्थात् प्रमुख स्वार्थ दो शक्तियों में संगठित हो जाते हैं। यदि एक दल बहुत प्रबल हो जाय तो बिरोधी स्वार्थ को वह मित्र शक्तता और सर्वाधिकारिता के रूप में उत्पन्न हो सक्ता है। यदि राज्य को ही जीवन का केंद्र बनना है जिसका आगम है विश्व का वैश्व बनना तो एक दल और एकलव्यवादी व्यवस्था अधिक निरुपेक्ष नदमी पावगी।

### व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का मार

यों एक ओर मार है व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का भी। दूसरी ओर का उद्घोष व्यक्ति को अभाव के भय में मुक्ति देने का है। बिनाय और मृत्यु रहने के लिए व्यक्ति यदि स्वतन्त्र है, तो वह स्वतन्त्रता की विवशता ही है। अमीर बनने की स्वतन्त्रता दूसरे सिरे पर गरीब बनने की स्वतन्त्रता रह जाती है। इस नाम और ठेके पर साम्यवाद अपने सम्बन्ध में मिश्रित हो जाता और राज्य को पूरे तौर पर निःशक्ति संस्था बनाने का समर्थन पा जाता है। दूसरी ओर स्वतन्त्रता को आदर्श-व्यक्ति माननेवाला कहता है कि 'राज्यसत्ता ही यदि अभाव भरणे और जीवन-भरण देने वाली हो तो स्वाधीन-जता पुरष का क्या होगा? राज्य मर्दिन होगा तो प की उसके अनुगत बन कर रहना होगा। स्वाधीन-चिन्तन और स्वाधान-आपना की प्रस्ताव प्रोत्साहन की मांगों को उस राज-नियन्त्रित समाज में वे दिन नहीं पावगी। मनुष्य इसलिए वहाँ मनुष्यता के वैभव की दृष्टि से हीन-हीन और सद-मादम्य रह जावगा।

### दोनों ओर प्रथान, तन्त्र-प्रथान

इसलिए ठेके दोनों ओर नए-दूसरे के लिए निने जाते हैं। मृत नहीं बनना होता कि दोनों में किसी ओर व्यवस्था-मण्डन दौग और मनुष्य प्रथान है। तन्त्र पड़ता है कि दोनों ओरलाएँ तन्त्र प्रथान है और दोनों ही उस सम्बन्ध की अपेक्ष हैं, जो शरीर-रचना की प्रथम और मनोमय की नित्यीय स्थान देती है। इस मूल क



मानव-सामग्री से काम लिया जाता है और मनुष्य बसता मानवता की भाव से है। इसलिए मानवता का पहला लोक-मेता के लिए उठना गगन्य नहीं रहता।

धर्म को जगह मिलेगी, छावनियाँ टूटेंगी

मानव-यश कम्प्यूनिज्म की वैज्ञानिकता में प्रवेश पायेगा। तो क्या साम्यनिक प्रक्रिया होगी कहना मुश्किल है। मार्क्सिज्म ईश्वर के और धर्म के लिए जगह नहीं छोड़ता। कम्प्यूनिज्म में उनके लिए जगह रखनी पड़ जाती है। राज्य के रूप में बिल्कुल सम्भव है कि धर्म को प्रथम और सहायता भी देनी पड़ जाय। राज्य को कब मानवतात्विकता के सहारे की जरूरत नहीं होती? धर्म इसमें बड़े काम आ सकता है। धर्म का मेक होने पर साम्यवाद क्या जीव बनेगा यह सोचने की बात है। एक तरह यह धर्महीनता का धर्म है। जो धर्मों का मेक न साम नहीं होता। लेकिन जरूरी हो जाय तो क्या होगा यह अनिष्ट ही जाने। मुझे क्षमता है मेक तो अनिवार्य है। एक ही किमार्ग कभी होता नहीं है, दूसरा हो तभी प्रवाह बीच में सम्भव है। जीवन को भी थोड़ा चाहिए ही। बाद और प्रतिवाद एकान्तिक किनारे लड़े कर से पर जीवन उन्हें किनारे ही रखता है। जब बाद की कट्टरता मोठी और अभीष्ट पड़कर हमसे छूटेगी जीवन की स्वीकारता हममें आयेगी तो सह-अस्तित्व से आये सहकार-सहयोग के रास्ते ऐकान्त्य की ओर हम बढ़ेंगे। पर जब छावनियाँ टूट जायेंगी समाज मानव-समाज होगा और विज्ञान बड़ी-से-बड़ी दूरी को मष्ट पर चुका होगा।

पूँजीवाद और साम्यवाद

६२ छावनिषों का त्रिक आपने ऊपर किया। छावनिषों विश्व में इस समय दो ही हैं साम्यवादी और पूँजीवादी। इन दोनों धीतिरवादी अर्ध-प्रमानिष्यों के बीच जो विरोध है, वह क्या केवल सैद्धांतिक ही है? उससे अधिक कुछ नहीं?

दोनों में बुनियादी अन्तर नहीं

—“सैद्धांतिक” और “सैद्धांतिक से अधिक” प्रश्न के इन राश्यों का आपस में टिक नहीं समझा। सैद्धांतिक मूलगत और बुनियादी को भी कह सकते हैं। लेकिन उन दोनों प्रमानिष्यों में जो विरोध अपना बिगड़ है उस उठना बुनियादी में नहीं मानता। इसलिए सैद्धांतिक भी मैं नहीं कहना चाहूँगा। बल्कि उन वास्तविक अधिक कहना चाहिए। पूँजी नियामक तरब है रूप में दोनों जगह व्याप्त है। राज्यवाद को अतिरिक्त वैश्व-पूँजीवाद क्यों नहीं कहा जा सकता? साम्य-

बायीं किन्तु कहा जाता है, वहाँ भी समाज-व्यवस्था का नियन्त्रण निम्न म होता है। पूँजीवादी व्यवस्था में साम्य पूँजीपति एक स अधिक हो सकते हैं। साम्यवाद व्यवस्था में समस्त पूँजी का पति एक है और वह राज्य है। सच यह कि पूँजीवादी व्यवस्था स्वतन्त्र व्यवस्थावाले देशों में भी पूँजी अपने ही चार से कम हाथों में और अन्त में एक हाथ में सघृहीत होने की ओर बढ़ रही है। कहना चाहिए कि इसी प्रवृत्ति का ठोका रूप साम्यवाद है। पार्लियामेन्टरी डिमोक्रेसी में अनेक दल हान हैं, क्योंकि अनेक स्वार्थ होते हैं। ये दल अलग-अलग घटकर मूल्यता में दो रह जाते हैं अर्थात् प्रमुख स्वार्थ दो पक्षों में संगठित हो जाते हैं। यदि एक दल बहुत प्रबल हो जाय तो विरोधी स्वार्थ को वह निरास करता और सर्वाधिकारि का रूप में उभर आ सकता है। यदि राज्य को ही जीवन का केन्द्र बनना है, जिसका आशय है निष्क का केन्द्र बनना तो एक दल और एकच्छत्रवाली व्यवस्था अधिक निरापन्न समझी जायेगी।

### व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का नारा

यों एक ओर नारा है व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का भी। दूसरी ओर का उद्घोष व्यक्ति को अभाव क मय में मुक्ति देने का है। बिनाम और मुक्त रहने के लिए व्यक्ति यदि स्वतन्त्र है तो वह स्वतन्त्रता की विवशना ही है। अमीर बनने की स्वतन्त्रता दूसरे मारे पर गरीब बनने की स्वतन्त्रता रह जाती है। इस नाम और तक पर साम्यवाद अपने सम्मेलन में निर्भ्रम हो जाता और राज्य को पूरी तीर पर नियामक संस्था बनाने का समर्थन पा जाता है। दूसरी ओर स्वतन्त्रता को आत्म-निर्भर माननवाला कहता है कि 'राज्यमत्ता ही यदि अभाव पाने और भोजन-वस्त्र दान बाँटी हूँ, तो स्वाधीन-ता पुरष का क्या होगा? राज्य व्यक्ति होगा तो ईश को उनका अनुगत बन कर रहना होगा। स्वाधीन-चिन्तन और स्वाधीन-भाषना की प्रेरणा व प्रोत्साहन की मागगी उन राज-नियमित समाज में सदिश नहीं पायी। मनुष्य इसलिए वहाँ मनुष्यता के वैभव की दृष्टि से दीन-हीन और अद-मान्य रह जायगा।

### दोनों शरीर-प्रधान तन्त्र-प्रधान

इत्यादि ठोके दोनों ओर से एक-दूसरे के लिए दिए जाते हैं। इस नहीं प्रतीत होता कि दोनों में किसी ओर व्यवस्था-भंगन गीत और मनुष्य प्रयत्न है। उन पड़ता है कि दोनों पारस्परिक तन्त्र प्रधान हैं और दोनों ही उस सत्यता की भाँख हैं, जो शरीर-रचना को प्रथम और मनोभाव को द्वितीय स्थान देती है। इस मूल क

बिन्दु और कोण से देखें तो पूँजीवादी जबका साम्यवादी व्यवस्थाओं में जो अन्तर विद्यमान रहा है, वह संस्कृति की दृष्टि से उतने महत्त्व का नहीं रहा जाता।

मानव चेतना के लिए जो मूल प्रश्न है वह यह कि आन्तरिक स्नेह-स्पर्श को जीवन के बाह्य परिवेश से कितना बचकाया और सहारा प्राप्त होता है। अगर समाज परस्पर स्पर्श के सम्बन्धों से जगता है तो मानवीय मुक्तियों पर धीरे पड़ता है, बौद्धिक अस्मिता आती है। मन में परार्थभाव मन्द होता और स्वार्थभाव तीव्र पड़ता है। यह परिस्थिति हर धोको परस्पर में छाप करती है संयुक्त नहीं करती। एक की सम्भावनाएँ मानो दूसरे को अस्त करने की शक्ति पर ही उद्यम में आ सकती हैं। अर्थात् आर्थिक विचार समाज के परस्पर सम्बन्धों को परिपूर्ण कर नहीं सकता। वह यदि किसी समुदाय को सम्पन्न करता भी है तो इस शक्ति पर कि समस्त प्रतिस्पर्धा के लिए कोई दूसरा समुदाय हो जिसको परास्त करना हो।

### साम्यवाद एक आर्थिक विचार

पूँजीवादी विचार प्रकट में ही आबिध है। साम्यवादी विचार भी सर्वथा आर्थिक है। उसकी मूल प्रेरणा आर्थिक जुगहासी है। कुछ की आर्थिक सम्पत्ति के प्रति आकांक्षा और सम्पत्ति के वर्तमान भीक्षकों के प्रति विरोध जमाने से उभरा काम करता है। साम्यवादी राज्य ने सामने पूँजीवादी बेरा अमर न हों तो मालूम होता है कि उलाह का आधार वहाँ नहीं रहा जाता। इस प्रेरणा को प्रतिबिम्बित प्रेरणा ही माना जायगा। अर्थात् आर्थिक सम्पत्ति व समृद्धि के लिए जो मनुष्य के अन्तर स्वयं-वासना छिपी रहती है आर्थिक सम्पत्ति उसी नींव पर उसीको सहकायी हुई बढ़ती है। इसमें मनुष्य की स्निग्धता भूगर्भी और जलन आती है।

आर्थिक की जगह पारमार्थिक यदि मूल्य हों तो व्यक्ति अपने पड़ोसी की कीमत पर बह बगन का विचार नहीं अपनायेगा। अस्ति पड़ोसी को बढ़ा बनाने में दृष्टि का अनुभव करेगा। वर्तमान सम्पत्ति में उस दृष्टि का चढ़ाने की सामग्री नहीं है।

## वैज्ञानिक अध्यात्म

### सह-अस्तित्व

इस वर्तमान सम्प्रदाय के इस अभाव को पूर्ति क्या पंचमीस के सिद्धान्त से हो सकती है? क्या दोनों छात्रवियों का सह-अस्तित्व व्यावहारिक है?

### कागजी व्यावहारिकता

—व्यावहारिक तो सह-अस्तित्व ही है। मन्वा युद्ध और उसकी तैयारी को ही व्यावहारिक मानना होगा इस अर्थ में कि युद्ध के प्रयास के लिए सब देना पौकने है और तैयारी कर रहे हैं। कहा जा सकता है कि सह-अस्तित्व कागजी व्यावहारिकता है मन के गहरे में वह नहीं है।

सह अस्तित्व परस्पर के बीच रेतता को पकड़ी करता और उन मर्णा को सबसे कायम और अणिम ठहरता है। वह राज्य की सार्वभौम (Sovereignty) सत्ता को स्वीकार करता है। इस आशय में ही यह सिद्धान्त मान्य है कि वह हिंसा और आक्रमण के अधिभार को नोमिन्स करता है। लेकिन यहिना के अधिभार को भी नोमिन्स करने की ओर बढ़ता है तो वह एवमदम अस्थिर बन जाता है। तब मानव-मान आत्मी स्नेह और सहानुभूति का उभय अपमान होता है।

आज के पंचमीस का सह-अस्तित्व नेबल राजनीतिक है। इस जन कहने हैं कि संश्रुति तो वह है तक नहीं। 'बोईंग बीती बात बन गया है। इसलिए उनको बहुत धारा महत्त्व देने में वैज्ञानिक दृष्टि में भी कुछ अर्थ नहीं रह गया है।

### सह अभिरार की सीमा बांधे

आज के ही बांधा के मशाल को सीखिये। सह-अस्तित्व हो मानना है कि वहाँ जो हो रहा है दुनिया के मन्व देस भी उसका साथ बांधा अनुभव न करें। क्या जो सिद्ध में हुआ था उसका प्रति यह मानव-आज की मकरना और सहानुभूति सम्भव एवं समर्थ नहीं हुई, तो हमारा अनादिक ही मानना चाहिए, बहुत वह नहीं है। राजनीतिक दृष्टि में आशय का पुर रहना पर्म हो मानना है और चीन के दलाम्बन्धी

अधिकार के बारे में सविन्य आदि का हवाला देकर मुँह खोलने से बह बच रह सकता है। पर नैतिक दृष्टि से क्या पीड़ा प्रकट नहीं है? मौन अपमर्न नहीं है? पंचशील मानव-वर्म के अधिकार को एव मानव-सहानुभूति का जीवनवादा हो तो बह यल्लभ है। अनधिकार की सीमा बाँध बही तक ठीक है।

### शक्ति-सन्तुलन

६४ किसी अंग्रेज ने शक्ति-सन्तुलन (Balance of Power) के सिद्धान्त को जन्म दिया था। वर्तमान परिस्थितियों में इस सिद्धान्त की उपयोगिता पर आपके क्या विचार हैं?

बह प्रकृत हो सकता ह

शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त को आप प्रकृत कह सकते हैं। उससे स्थिति की समझ लेने में सहायता मिलती है। तपनू के एक पक्ष में हम सरकारों माहुरबाने एक सेर के बाट को रखते हैं, तो उस तपनू को उड़ी बराबर सब होती जब दूसरे पक्ष में उसी सीमा की दूसरी चीज हो। उस सिद्धान्त पर तपनू हमारे काम आती और रोक साग-माजी बगैरह के ठीक-हिचाब में बड़ी सहायक होती है।

इस शक्ति-सन्तुलन की नीति के उपयोग से बुद्धि प्राप्त हो सकती है कि बाट को हम हलका-मारी भी कर दिया करें, लीखते बल्ल भायी और बेचते बल्ल हल्ला। यानी सिद्धान्त जब कि प्रकृत होता है, उपयोग मनोवृत्ति पर निर्भर करता है।

उसमें से शस्त्र-समृद्धता निबली ह

शक्ति सन्तुलन के तत्त्व से यह सूझ प्राप्त हो सकती है कि दुश्मन के पास इतनी सेना है उसके बराबर जितनी शक्ति जब तक हमारे पास रखी शान्ति बनी रहेगी माना मे कम होने ही आक्रमण की परिस्थिति उत्पन्न होगी तब मुझ और अन्त में पराभव अनिवार्य होगा। शान्ति के लिए शस्त्र-समृद्धता की नीति Balance of Power के सिद्धान्त में ग निकली ही रही समझिय। उसके प्रमाण भी मात्र उजागर हैं।

इसमें नतिकस्ता, आप्यातिमकता का अभाव

मेनिन इस सिद्धान्त में तेजित सत्यता की ध्वनि नहीं प्राप्त हुनी है बह यह कि शक्ति बौद्धिक नैतिक आप्यातिमक भी होती है। हिमाव से बाहर के इस मानवीय तत्त्व के समाना ने इतिहास भरा पड़ा है। शक्ति-सन्तुलन के नियम से

जैसे यह महत्व का विचार छूट जाता है। इसलिए दक्षिण-सन्तुलन के सिद्धान्त को अर्थ-सत्य मानना चाहिए।

यह आत्मिक विभूता को नहीं गिनता

ऊपर के कथन का अर्थय केवल इतना ही है कि दक्षिण की अवस्था दूसरी भौतिक दक्षिण के समस्त प्रति-दक्षिण का अभाव उसका प्रदर्शन और प्रयोग के आश्रय के समान होगा। तब उत्पाद अनिवार्य होगा और फिर चाह दक्षिण कितनी भी गंभीर बर्बर हो उसकी प्रतिष्ठा होगी। किन्तु सच्चा और दक्षिण के सामने रहस्य और साहस का बल ठहर ही नहीं सकता बल्कि भापी और विजयी भी हो सकता है। इसके उदाहरणों की कमी नहीं है। यही से अहिंसक दक्षिण की मंडा प्राप्त की जा सकती है। अकेले ईसा ने अपनी भावना में बहिय छुकर स्वच्छामयक मृत्यु स्वकार का और प्रीतिपूर्ण यही बहिराण इतिहास की बहु कमोच दक्षिण बना कि रोम-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा और क्रिस्टेंडम का ऐश्वर्य उदय में आया। दक्षिण-सन्तुलन का सिद्धान्त इस मानवीय और आत्मिक विभूता को पचाना में नहीं छे पड़ता।

धर्म

१५. बौद्धिक तरुणाव और वैज्ञानिक यन्त्रवाद ने धर्म को बहुत से उखाड़ केना आहा है। फिर भी क्या धर्म आज की सम्यता के कुछ काम आ सकता है? क्या वह धर्मों पर अंधुल रह जाने में मानव की सहायता कर सकता है?

व्यवहार भाव से अमिश्र

धर्म आज सगठित मतवाद और पूर्वीवाद का नाम बन गया है। लेकिन अन्तिमार्थ है कि कुछ हो, यहां से हमारे हृदय को और भावनाओं को पोषण मिले। इस दृष्टि से धर्म सदा उपयोगी रहा है और रहेगा। अपन जैसे अस्तित्ववाले व्यक्ति या पदार्थ के साथ हम समझ या बुद्धि का सम्बन्ध बिटाकर व्यवहार बसा लेते हैं। पर बन्दर कुछ अधिक को भी भूरा रहती है। यह है, और अतर्क्य है। व्यवहार जिस बुद्धि-दक्षिण से चलता है उनका उत्तम मूल की इन भावात्मक (Emotional) भूमिका से अमिश्र है। धर्म उन्हीं तल की अभिव्यक्ति है। मुझे प्रतीत होता है कि आज की उन्नति से अथा आर्यो जिसके सत्य प्रकट हैं और जो अनिवार्य है जो धर्म की सम्भावनाओं को ओर ही हम मुड़े।

समाज का अन्तर्बिरोध

समाज के सम्य स्तर के नीचे आज भी एक पूरी-बी-पूरी दुनिया खोती है।

इस नरक के नियम मानी विस्तृत उल्टे होते हैं। जो 'सम्य' और 'उन्नत' विचार इस गर्मस्व नरक (under world) को कानून और जेल-कैदी के धोर से ही पीतने की कल्पना करता है वह कभी समझ न मुक्त नहीं बन सकता न मुक्ति से सपना है। यह अशोभित जगत् वासना के तल से थिपटा हुआ रहता है और उसे अबल बनने की मुविधा इसीसे हमारे समाज में उसके लिए ही जाती है। यों देखा जाय तो यह अपराधी बर्ग रागारमक दृष्टि से अधिक सम्पन्न एवं विश्वसनीय होता है। एक-दूसरे के लिए जान तक देने की तैयारी जितनी इस वर्ग के लोगों में मिलेगी उतनी सम्य लोगों में नहीं। बौद्धिक युग और सम्मता में यह मायापन्न बर्ग अनुपयोगी और निरुपेक्ष बने रहने को बाध्य है सी ही वह उस सम्मता के अस्तित्व को बराबर नीचे की ओर खींचता रहता है। सम्मता के धरीर में इससे एक महत्त तनाव अनुभव हुआ करता है। अन्त में बाकर अपने ही इस अन्त-विरोध की तीव्रता में उसकी सम्मता को फटकर गूट होना पड़ता है।

### स्वर्ग-नरक परस्पर सटे

धर्म में आप एक विचित्र बात देखेंगे। उसमें पुण्य और पाप स्वर्ग और नरक समय और सेक्त सिमटकर जैसे एक-दूसरे से सटे हुए पाश आ जाते हैं। पवित्रता को जैसे आव-पास चारों ओर से अपवित्रता बेर लेती है। उसके इस विस्मयन बुम्बकावर्ष से अरवि और भय भी हो सकता है। बौद्धिक विवेक की ही सब कुछ माननेवाला सज्जन-वर्ग इस कारण उनसे किनारा ही किन्ने रहता है। जबर दुस्स देखने में आता है कि भयंकर डाकू और बोरतम बेव्यामी मूल में धार्मिक हैं। इस दुस्स से पचरने की जरूरत नहीं है। बल्कि यह बटना हमारे लिए चुनौती होनी चाहिए कि हम उसमें की सत्यता को देखें और पहचानें।

### धर्म विचार विवेक को लाँच जाता है

दास्तोवस्की के प्रसिद्ध जगन्नाथ "बर्तस करेमेज़ोव" में बड़े माई और मोंसले माई के अन्तर के डारा जैसे सेक्क में दही स्पष्ट किया है। बड़ा एकदम पावमय दीपता है मोंसला बिडान है और तब विचार की अँधारियों में रहता है। पहला हर तरह लक्ष्मण है दूसरा गोरबालासी है। लेकिन बड़े माई की सम्भावनाएँ कहीं उज्ज्वल हैं, मोंसले के अन्तर में जैसे बाला अंधरा घुमड़ता हुआ भरा रहता है। दास्तोवस्की की रचनाएँ जिस बल से आज के धार्मिक को पीचती हैं वह यहीं से उल्लास होता है। जित्त विचार नीचे उग गह्वर में जाता नहीं है शाँखा नहीं है जहाँ आम-सी बचनी रहती है। इसलिए उग विचार के आचार पर लड़ा

व्यक्तित्व जीवन की जीव में समुचा साबित नहीं होता और टूट जाता है। हृदय की रागात्मकता को बचाकर जो सम्यता लकी होगी एकांगी रह जायगी। धर्म का इसी अणु उपयोग है। वह वैचारिकता को साबित करता है। विवेक से भी अधिक वही अन्धता की मांग होती है।

### वैचारिकता का दुष्परिणाम

मनुष्य चाहिए कि मानवता से मुक्त होकर अब विचार की प्रतिष्ठा होती है तो संस्कारिता से सम्यता छूट जाती और केवल एक सिद्धाचार बन जाती है। सम्यता इसलिए उठते-उठते मनु में इतनी खोजखोज हो जाती है कि वहाँ सन्तुष्टि न उत्पन्न हो रही रहते। संस्कारी व्यक्ति माने जानेवाले उस सम्य तथा उन्नत समाज में नीचे रहते और असहकारी ऊपर उठ आते हैं। मुख्य नैतिक और सामाजिक से उत्तरोत्तर अधिक और विप्राहुक होते जाते हैं और अन्त की नीति समाज में मान्यता पाती है।

सम्यता की इस एकांगिता और बाह्यता के लक्षण बहुत प्रकट हो जाते हैं। इसलिए धर्म की सम्भावनाओं के खिलने और कुलने का अन्तर भी मुझे बहुत दूर नहीं भासता होता है।

६६. जो धर्म मान के वैज्ञानिक मानस को आहत कर लेगा, वह केवल विश्वास का अन्धता की जीव तो नहीं हो सकता। फिर उसका क्या क्या होगा? क्योंकि केवल मतवाद और पूजावाद मान हमारे मन को सन्तुष्ट न तुष्ट नहीं कर पाते।

### विश्वास बुद्धि का पुरक

निश्चय है कि अगर वैज्ञानिक मानव धर्म की ओर झिंकेगा तो वहाँ वह न होगा जिस आप केवल विश्वास का केवल अन्धता रहते हैं, कुछ उमने अधिक होगा। लेकिन 'केवल' जोड़कर विश्वास और अन्धता में आप क्या प्रयत्न करना चाहते हैं। मैं समझ नहीं पाता हूँ। विश्वास निश्चित रूप से यह है जो भी प्री-मनी ठहराया नहीं है। एक-विचार वहाँ तक जाता है और फिर अममयता के कारण रुक जाता है वहीं से विश्वास का आरम्भ है। यह विश्वास बल देना पाना जाता है। आखिर वैज्ञानिक अपनी शोध में रुक पाता है, तो निम्न आपार पर? आप देखेंगे कि वह अन्त में केवल विश्वास है।

बुद्धि जिसको विश्वास का सहारा नहीं लगता होती है। यह विश्वास बुद्धि का पुरक होना है। वह बुद्धि को नहीं बल उमने रंग का नष्ट करना है और वह एक केवल उमने लगता अनुभूति प्रणयिता देना है।



## हर सुजनशील यज्ञानिक आस्तिक

यथा परम वैज्ञानिकों के उदाहरण आज कम हैं जो आस्तिक हैं। यह यह कि सुजनशील वैज्ञानिक आस्तिक ही हो सकता है। फिर प्रबलित धर्म से उसका सम्बन्ध हो या न हो।

## तत्त्ववाद केवल पात्र है

धर्म आध्यात्मिक वृत्ति है। धार्मिक माघ में उसे धारण रखने के लिए एक मठ आध्यात्मिक पात्र आवश्यक होता है। तत्त्ववाद या अमूर्त धर्म-दर्शन पात्र से अधिक नहीं है। पात्र न हो तो रस किसमें टिके? पर रस स्वयं पात्र नहीं है। पात्र निर्मल नहीं है यह स्पष्ट होना चाहिए। विज्ञान-मुक्त मानस रस के माते पात्र को भी स्वीकार करता हो तो इसमें कुछ भी अनहोनी बात नहीं है। रस पर ध्यान हो तो पात्र आपस में खटकेंगे नहीं न उनमें परस्पर गर्व या विवाद होगा।

## पूजा का दृष्ट

पूजावाद का भी रूप सब जगह कुछ जलग-सा बन गया है। किन्ना-काण्ड जलज-जलग हैं। लेकिन पूजा का तत्त्व जो सब धर्मों में अनिवार्य है सो तो मनुष्य के अविमान को सत्कार देने के लिए दृष्ट ही है। मनुष्य उन्नत और घुट होकर अपने और सब के लिए नाश का कारण ही हो पाता है मुग-साधन का नहीं। स्वयं मनुष्य मुक्ताने की यह विशेषता सब प्राणियों को छोड़कर केवल मनुष्य में ही मिलेगी। प्रार्थना में दीप्त भुका जाने की प्रक्रिया को मनुष्य ने अपने लिए सुविधापूर्वक और परिपूर्ण ही पाया है।

प्रार्थना से कभी किसी ने शोका नहीं है। जैसे इस पद्धति से उसके अपने स्वयं में कुछ परिवर्तन ही हुआ है बिगड़न नहीं हुआ है।

## पात्रता का महत्त्व

मान लेता चाहिए कि आध्यामी कास में जब धर्म की महती सम्भावनाएँ प्रस्फुटित होंगी तब पात्र का महत्त्व पात्रता से तनिक भी आये नहीं हो पायेगा। महत्त्व रमानुभूति का ही होगा जिन्हे व्यक्ति व्यक्ति रूप में व्यक्त न रहकर समग्रता में गुमेगा और उत्तरोत्तर मुक्त व विस्तृत होता पायेगा।

## धार्मिक अध्यात्म

१७. अपने एक दिन 'वैज्ञानिक अध्यात्म' नाम का प्रयोग किया था और उसे

## वैज्ञानिक अध्यात्म

वैज्ञानिक भौतिकवाद से निकलतम सबका एकात्म बताया था। वैज्ञानिक अध्यात्म का क्या स्वरूप आपकी कल्पना में है यह स्पष्ट करें।

### अमेर भद्रा

यह जो ब्रह्मांड है जिसका आरंभ वार नहीं समझ नहीं आता—इसका हम अपनी चेतना पर कैसे महार? उस समस्या को ठहराओ गक महार विद्वान और धर्मिष्ठ भाषा हमसे होता है बड़ी मानना चाहिए अध्यात्म का बीज है। समस्या को हम किसी भी तरह समा नहीं पाए अतः प्रत्यक्ष में ही उसे स्पष्ट दे पाते हैं। तब महारा एक गहन विचारणा में प्रविष्ट हुए जाना है कि उसे नहीं तो अपने को तो उसमें हम समझा समा न सकेंगे। हम जानें हैं कि जो समय में ठिकनेवाला एक सबका मिश्रण प्राप्त हो पाता है वही हमें समझ कर आता है। जैसे घाम में सुखी अकम्पा में पानी डाल कर पानी मिल गया हो। बूझकर यह महार हुए हम बाहर व्यक्तित्व में व्यक्त हैं ना विचारणा स्वतंत्रता और स्वच्छता का अनुभव होता है। स्व का लोकर स्वात्म्य का अनुभूति पाने की प्रक्रिया मनुष्य के विषय अनोखी नहीं है। वह ना समान है। उस समय को किसी भाषा या परिभाषा में बांध कर मन में अकम्पा के फले और स्वीकार में स्थापन करना है तो माना कुछ बाधा बरमे की मूर्ति हो जानी है। यह करने को होमने की सुविधा का निर्माण करना है।

### भेद-विज्ञान

भेद-विज्ञान का जहाँ हम अपनी व्यक्तता में लगते हैं उस व्यक्तता को होमने नहीं समझ लेते हैं तो साधारण हमको ज्ञान मिलता है जिसे वैज्ञानिक अध्यात्म कहा जाय। बिच्छू और व्याघ्र को बड़ी स्पष्टि-स्थिति में उनका बहलाना और पुनः बांध नहीं जाता जिसका कठोर बौद्धिक साधनों से अनुभव में सहारे उतारा व भाग्य होता है। हम मानना में ही साधन विज्ञान को ज्ञान मिलता है। धर्म की सदिश होती है जिसने ब्रह्माण्ड अणु में आ जाया है। भाषाएं गर में अकम्पा होना है और समष्टि का अध्ययन हम व्यक्ति में कर पाते हैं। पहली प्रक्रिया अमेर भद्रा की थी तो दूसरी भेद-विज्ञान की हो जानी है। दोनों ही धर्म में व्यक्तित्व काटी और उसे उन्मूलित करनी है।

अध्यात्म भेद विज्ञान से भागे नहीं

विषय अध्यात्म को वैज्ञानिक कहना चाहेंगे यह वह है जो भेद में मूल नहीं

मोड़ता है। बस्मिक भी प्रत्येक भेद से विज्ञान में जाकर पुष्टता पाता है। ऐसा अभ्यासबाध साम ही प्रकार बौद्धिक एवं वैज्ञानिक भी होया और उसकी धार कभी बढ़ता व विमूढता स्वीकार नहीं करेगी। बुद्धि आदमी के अन्तर्द से भेद की ओर उठरने और फैलने की क्षमता का नाम है। उससे से स्वस्थ-रक्षण और स्वाध-योग्य की कुशलता प्राप्त होती है। वैज्ञानिक हौन पर अभ्यास इस बौद्धिक और एग्निक अनुभूति की अज्ञाता नहीं करेगा बस्मिक उसका भी आदर और मान कर सकेगा। सिमीकरण से कटारावेया नहीं। बस्मिक अणु और परमाणु के भी पुनश्चरण में उठरेगा और बूबेगा। कारण वह विस्फेपन सक्षमपण का सहायक ही होगा। भेद विज्ञान अभेदोपक्रमि को सम्भव और निकट बनानेवाला होगा। इस भक्ति में ज्ञान अंतराय नहीं होगा बस्मिक सार्धक होया। वह वैज्ञानिक अभ्यास कर्म को ऐसे सन्मन करेगा कि कर्म ज्ञान में अन्धम की जगह मुक्ति लेनेवाला हो जायगा।

### भौतिकवाद

भौतिकवाद ईश्वर की आधस्यकता में नहीं रहता। वह अनादि भूत को मान कर उस आचार पर समस्त सृष्टि और इतिहास की रचना को हृदयमय करने की विधि सुगम करता है। ईश्वर में किसी समय अहं को प्रतिष्ठित करने में उसे अपनी ही अस्मिता की अप्रतिष्ठा जान पड़ती है। इसलिये ईश्वर को वह कुछ अहंवादिनों की रचना कहता और उसे सबसे बड़ी प्रवचना मानता है। चेतना सर्वथा निजीय है इसलिए सापेक्ष सत्य है, संप्राप्त और स्थित्युत्पन्न वस्तु है। इन्द्रात्मक प्रक्रिया अनादि से काम करती आ रही है और काल भौतिक विकासवाद के नियम को ही परिवर्तित करता है। मेरी-सुझारी चेतना आनुपमिक वस्तु है वस्तुनिक आसक्ति इसलिए इतिहास की निरन्तरता में बाधक और असंगत है। जो चेतना समत-हो वह स्वयं भौतिक विकास प्रक्रिया की अगमन होने से सम्बन्धी ठहरती है। चेतना एक है, मूल नहीं है। ज्ञान जन्म की गति से अधिष्ठ हो यही उसकी मायकता है। वैदिक चेतना मूल और परिस्थितियों में बनती है उन पर अटकने की बात नहीं करता और कर सकता है जो उस परिस्थिति का लाभ और भोग पा रहा है। कर्म ईश्वर नीति इत्यादि सब बातें प्रभुता का भोग करनेवाला उस भुविमाप्राप्त वर्ग का ही हुई बातें हैं उनमें उसमें अधिक अर्थ और सार नहीं है।

उपरोक्त में भौतिकवाद चेतन और अविचल पर न टिक कर बन्धु और बिन्धु से आरम्भ करता है। यह भौतिकवाद अनिष्ट नहीं समना अगर हम उसका सत्य से सापेक्ष की एक पड़ति का रूप में देखने हैं। तब वह बड़ी आसानी से मारुति का स्वरूप बन सकता है।

## समन्वय

भारत के हिन्दू धर्म को लीजिए। किस प्रकार का दयन इसमें समा नहीं गया ? मंदित है, ईंट है, ईलाईत है, आत्मवादी अमात्मवादी सभी कुछ है। ये सब विभिन्न नहीं एक कि विरोधी दयन भी भारतीय धर्म की एकता को सम्भव करने के काम आ गये। जासक को भी हिन्दी आहिन्दु-संस्कृति में यूपि के रूप में आदर मान दिया गया है।

भौतिकवादी दयन को लेकर बलमेवाने कन्वुनिस्ट-यन में ईस्वर को गिर मुकनेवाले आस्तिकों की कमी नहीं है। अर्थात् दोनों का मङ्ग प्रस्तित्व ही नहीं समन्वय भी सम्भव है।

## अध्यात्म भौतिकवाद को समा सेना

वैज्ञानिक अध्यात्मवाद भरे विचार में भौतिकवाद को अपने में सामानी में लया और समा में एकता है। असहिष्णुता की आवश्यकता उनको तो अनिवार्य बनी रह भी सकती है जो अन्तिम रूप से भेद में धडा रखता हो। वा भेद द्वारा भी बनेद साधन कर सकता है, वह असहिष्णुता के प्रति ही असहिष्णु ह्वाया—अर्थात् हिंसा की चुनीली के प्रति उत्तर, प्रकर और प्रबुद्ध अथवा वह सर्वथा निराश और नष्ट होगा। यह अध्यात्म किसीके लिए प्रतिपक्ष न बनेगा यद्यपि उस द्वारा हर उस पक्ष का स्वतन्त्र और विनम्र होना जो अपनी पक्षता का नष्ट रखता और इस तरह मानव की और मानवता की समझना को खरित करता है।

धर्म से आत्र अकम्पीय यह भी है कि वह भाषना में रहता और क्रिया से विमुक्त होता है। वह निष्क्रिय इसलिए निर्भीक है। वह स्थिति को न ईंटना है और पनि से विपरीत है। स्थिति-नीत्यक होने में मान्तिवादी वह रह नहीं जाता।

## भेद-विज्ञान द्वारा पुष्ट अध्यात्म

मैं मानता हूँ कि अध्यात्म जो अन्तर में बौद्ध गारता है जो अर पर आभिन्न राजनीतिक आदि प्रवृत्तियों का आश्रय और सहज्य नहीं कर सकता अविध्य व निर्माय के काम का नहीं है। पर वेद में जो आदरपूर्वक आ मनना और इन तन्त्र उन पर प्रबुता या मनना है उन समाज-विज्ञान व राज विज्ञान में पुष्ट अध्यात्म के हाथ में पुन अविध्य की बागदोर धीरती है। धर्महीन राजनीति विपष्ट व बीच मङ्ग कर पाये में अयमर्थ होती है। प्रतिउन्मी का समाज करना अन्तर निरा पम्पी हो जाता है। इन तरह स्वयं तोह-नष्ट के हाथिन्ध में वह निरर्थ और अहताय होती है। धर्म-धडा में प्रेरित राजनीय और सामाजिक प्रगतिता में

सौर-संग्रह की समता कहीं अधिक होगी क्योंकि प्रतिवृत्ती को निर्भय रखने और उसे महयोगी के रूप में जीत सकने की कला उसे सिख होगी। विरोध में से भी वह हृदय तक पहुँच सकेगी और जनेकता में से एकता की भूमिका को ऊपर उठाकर ला सकेगी।

### अध्यात्म और जग-बन्धु में अविरोध

गांधीजी की बटना हार की है। वे महात्मा कहे जाते हैं। महात्मा इसलिये कि जाने अक्षय वह का उनके पास अस्तित्व नहीं रह गया था। लेकिन वे बैरिस्टर थे। बैरिस्टर को विद्वहों के बीच से स्वाय की कोशिश पड़ता है। यह काम विद्वहों और उनके कार्यों की आखिरीपूर्वक मीमांसा प्रस्तुत करने के आचार पर ही हो सकता है। जग-बन्धु को सहानुभूतिपूर्वक समझने और उसका प्रवर्तन करने की शक्ति यदि न होती तो सिर्फ महात्मापन उन्हें भारत का एकलव्य राजनीतिक नेतृत्व नहीं दे सकता था। जग-बन्धु को प्रपञ्च और माया कहकर टाल देने और उससे किनारा करके अपनी शान्ति और भजन-मनन को असुख्य कर रखने वाले किसी सम्य के पद का वह झोक-संग्रह नहीं हो सकता था। गांधी महात्मा यदि बने तो युद्धों में से और बार-बार की जेल-यात्राओं में से बने और अन्त में गान्धियों से प्राय वेदक उनके महात्म्य की पुनर्निर्माण और पुनर्निर्माण हुई। लोक-नेता और युग-निर्माता का उनका यह रूप सम्भव हुआ तो तब जब भेद में से अनेक को उन्होंने सामा और जीवन-विज्ञान से अध्यात्म-स्थापना की लक्ष के लिए भी विरक्त और विमल नहीं होने दिया। तभी हुआ कि गांधी आत्मिक और भौतिक दोनों क्षेत्रों में एक समान विमु और विजेता बन सके।

### भौतिक-आत्मिक दो नहीं

भौतिक और आत्मिक दो हैं उसी अर्थ में जिनमें नदी के तट दो होते हैं। पानी है नदी रूप नहीं बनी है तो दो किनारे होते हैं। किन्तु दोनों नदी के प्रवाह-स्वार्थ से सीतम और एकजिन बने रहेंगे। किनारों का नाश नहीं है और उनका ही है जिनकी नदी सूखती है। परम विद्वानी के लिए मूल पदार्थ रहना ही नहीं सब विमय बन जाता है। या कहो कि स्वयं अपना आत्म अर्ध-मायमी की भाँति उनके पास सर्वथा यथार्थ बसुषु हो जाता है। हम जनता की अधिकतम 'एन्टीपेन्ड अवस्था' में से ही मैं मानव जाति की सम्भावनाओं का प्रस्तुत होगा हूँ।

६८. क्या आप नहीं जानते कि अध्यात्म व नीतिकला दोनो अलग-अलग कोनों

ये एक ही ईश्वर की जोड़ व उपलब्धि के अर्थ आते हैं? तब क्या वहीं भी उन दोनों का मिलन सम्भव नहीं है?

## बोनों बो तट

अगर कहा जा कि व दो तट हैं। स्नान नदी में होता है और दोनों में व किसी तट से उतर कर स्नान किया जा सकता है। इस तरह नदी में व दोनों तट सहज मिले ही हुए हैं। इसीको दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि जब तट प्रवाह है प्रवाह में पानी है, तट दो रहने ही वाले हैं। प्रवाह के स्पर्श व माध्यम के अतिरिक्त वे कभी आपस में मिलनेबाध भी नहीं हैं।

## घाव अनुभूति में खोता ह

अर्थात् घाव की समाप्ति बिना अवकाश प्रतिवाह से कभी सम्भव हो नहीं सकती। प्राचीन में और जीवन में पहुँचकर घाव टिकना नहीं स्वतः ही किनारा बना किनारे रह जाता है। शब्दों द्वारा हम जिसे अभिव्यक्त करते हैं उन अनुभूति में अनेक है तो अभिव्यक्ति में भेद है। गुड़ खाकर अगर एक 'मीठा' और दूसरा 'बर्षिया' कहे तो वात के मार में अन्तर नहीं है, स्थिति में अन्तर अवश्य रहता है। इसलिए जो अविच्छिन्न आत्मा-आत्मा कीर्ति को लेकर चलता है व्यवहार से आगे बढ़ने पर शब्दार्थ और भाषा व शब्दों में हमारा ही उसे मध्यम की उत्पत्ति सामने दिखती है। जो मधुसूत पाना चाहता है, 'अर्हन्त' को टिकाना-जिनाना नहीं चाहता वह शब्दों पर अग्रगता नहीं है बिना में समय और समस्त नहीं खोता है बल्कि भावनामय द्वारा परम्परापरायण की चेष्टा करता है। शब्दों के पीछे के भाव में उतरने के साथ वे अनुभूति उसे सहज होती है।

इस प्रकार मनुष्य यदि उन पर आपस में आना जाना तो वैयक्त अर्हन्त की व्यक्त करते हैं। बिना जाने में है तो अर्हन्त के कारण। अन्तर्गत सब बाद उसीको पाने और देने की योगिता में बने हैं जो परम सत्य है। दुर्भाग्य वह अन्तर्गत और अन्तर्गत है। अन्तः सब रूप स्वरूपवान् होता है जब कि विविध पदार्थ हैं तब प्रेम के भाव के फिर उसी एक में समाहित होती हैं।

## भेद अनेक परस्पर पूरक

यह एका और अविच्छिन्न अन्तर्गत में से ही दीप्त सकती है। तब बुद्धि को यह अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए कि पापा के प्रवृत्ति अन्तर्गत को न पहचाने अपर्याप्त अन्तर्गत का उन्मूलन करे। अर्थात् मनुष्यों के रूप अन्तर्गत की पहचानना और उनका

सोच-समझ की समझा नहीं अधिक होगी क्योंकि प्रतिद्वन्द्वी को निर्भय रखने और उसे सहयोगी के रूप में जीत सजने की कला उसे सिख होगी। विरोध में से भी वह हृदय तक पहुँच सकेगी और अनेकता में से एकता की भूमिका को ऊपर उठा कर ला सकेगी।

### अध्यात्म और जग-बन्ध में अविरोध

गांधीजी की घटना हाल की है। वे महात्मा कहे जाते हैं। महात्मा इसकिए कि करने असमर्थ जहाँ का उनके पास अस्तित्व नहीं रह गया था। लेकिन वे बैरिस्टर थे। बैरिस्टर को विपरीतों के बीच से स्याम को खोजना पड़ता है। यह काम विपरीतों और उनके कारणों की आधारपूर्वक समझने और उसका पुनर्करण करने की क्षमता यदि न होती तो सिर्फ महात्मापन उन्हें भारत का एकच्छत्र राज नीतिज्ञ नेतृत्व नहीं दे सकता था। जग-बन्ध को सहानुभूतिपूर्वक समझने और उसका पुनर्करण करने की क्षमता यदि न होती तो सिर्फ महात्मापन उन्हें भारत का एकच्छत्र राज नीतिज्ञ नेतृत्व नहीं दे सकता था। जग-बन्ध को प्रपञ्च और माया कहकर झल देने और उससे किमार्थ लेकर अपनी शान्ति और सज्जन मनन को अक्षुण्ण कर रखने-बाधे किसी सन्त के बंध का वह सोच-समझ नहीं हो सकता था। गांधी महात्मा यदि बन तो दुर्गों में से और बार-बार की जेल-यात्राओं में से बने और अन्त में मोक्षियों से प्राप्त लेकर उनके महात्म्य की पूर्णावृत्ति और पूर्णसिद्धि हुई। लोक-नेता और युग निर्माता का उनका यह रूप सम्भव हुआ तो तब जब वेद में से अमेर को उन्होंने साया और जीवन-विज्ञान से अध्यात्म-शासना को अन्ध के लिए भी विस्मय और विमुक्त नहीं होने दिया। तभी हुआ कि गांधी आत्मिक और मौनिक दोनों क्षेत्रों में एक समान विभू और विभेता बन सके।

### भौतिक-आत्मिक दो नहीं

भौतिक और आत्मिक दो हैं उरी जग में विभवे नदी के तट दो हल हैं। पानी है नदी सूख नहीं गयी है तो दो किनारे होये ही। किन्तु दोनों नदी के प्रवाह-स्पर्ध से जीवन और एकजिन बने रहेंगे। किनारों का नाश नहीं है और उनका ही है जिन्नी नदी सूखती है। परम चिरवासी के लिए मृत पश्चात् रहना ही नहीं सब विस्मय बन जाता है। या कहो कि स्वयं अपना आत्म अर्ध-नामकी की मति उनके पास नकसा पञ्चवत् बस्तुवत् हो जाता है। इन चीजों की अविच्छेद अन्तरेष्ट अवस्था में से ही मैं मानव जाति की सम्भावनाओं का प्रस्तुत होगा हूँ।

१८. क्या आप नहीं मानते कि अध्यात्म व भौतिकवाद दोनों अल्प-अल्प दोनों

ये एक ही ईश्वर की छोड़ ब उपलब्धि के लक्ष्य चलते हैं? तब क्या कहीं भी उन दोनों का मिलन सम्भव नहीं है?

**दोनों बों तट**

ऊपर कहा था कि वे बों तट हैं। स्नान नदी में डोता है और बोंनों में से किसी तट में उतर कर स्नान किया जा सकता है। इस तरह नदी में वे बोंनों तट सहज मिले ही हुए हैं। इसीको दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि जब तक प्रवाह है प्रवाह में पानी है, तट बों रहने ही वाले हैं। प्रवाह के स्पर्श के माध्यम के अति निकट वे कभी आपस में मिलनेवाले भी नहीं हैं।

**बाद अनुभूति में जोता है**

अर्थात् बाग की समाप्ति विचार अथवा प्रतिबाध से कभी सम्भव हो नहीं सकती। प्राचीन में और जीवन में पहुँचकर बाद निवृत्ता नहीं स्वतः ही किनारा बना किनारे रह जाता है। शब्दों द्वारा हम जिसे अभिव्यक्त करते हैं उस अनुभूति में अमेर है तो अभिव्यक्ति में मेर है। कुछ लाकर अगर एक मीठा और दूसरा 'बड़िया' करे तो बाग के सार में अन्तर नहीं है ध्वनि में अन्तर अवश्य रहता है। इसलिए जो अभिव्यक्ति जानी-मानी चीजों को लेकर चलता है, व्यवहार से भावे बढ़ने पर गद्यार्थ और भावार्थ के बारे में हमारा ही उसे मनुमेर की उत्पत्ति सामने दिखती है। जो मनुमेर पाना चाहता है 'अहंभाव' को टिकना-बिडाना नहीं चाहता वह शब्दों पर अटकता नहीं है विचार में समय और समझ नहीं खाता है बल्कि भावार्थपाह्न द्वारा परस्परोपलब्धि की चेष्टा करता है। शब्दों के पीछे के भाव में उतरने के चल में महानुभूति उस सहज हाथी है।

इस प्रकार मनुवाद, यदि उन पर आपस में आसक्त हो जाय तो, केवल अहंकार को व्यक्त करते हैं। विचार शब्दों में है तो अहंकार के कारण। अन्धमा सब बाद नीची पाने और देन की योगिता में बने हैं जो परम सत्य है। इसीसे वह अपर और अरुण है। अन्ध-मह-अन्ध स्वच्छान् होकर जब कि विविध पड़ते हैं तब इन के भावे के टिक उम्मी एव में समाहित होत हैं।

**मेर अमेर परस्पर पूरक**

यह एकता और अभिव्यक्ति भेदा में मे ही दण्ड सकती है। तब बुद्धि को यह अनि चार्न नहीं मानना चाहिए कि भाषा के प्रकट अन्तर को न पहचाने अपना उस अन्तर का उत्पन्न करे। अर्थात् मनुवादों के मूल अन्तर को पहचानना और उनका



पुनर्जनन कर सकना बुद्धि व व्यवहार के लिए उपयोगी होता है। बुद्धि की यह क्षमता कम या गलत होने से थड़ा बसवती होगी यह समझना भ्रम है। भेद-विज्ञान की सूक्ष्मता प्रतिभा में जितनी अधिक होगी अभेद-थड़ा उतनी ही स्थिर और सटेज हो सकेगी। बुद्धि द्वारा जाना जानेवाला भेद और थड़ा के द्वारा अनुभव में जानेवाला अभेद परस्पर पूरक और अभिन्न हैं। इन दोनों में विमुखता पैदा होने देना जीवन का ह्रास करना है।

६९. तब इन दोनों में से कौन मार्ग व्यक्ति को सच्ची व स्वाधीन शक्ति प्रदान कर सकेगा ?

शक्ति मानसिक संघटन में

शक्ति मार्ग में नहीं है बसनेवाले के भीतर छुपा भोत है। अज्ञान में शक्ति हमारे भीतर और बाहर की एकता का प्रतिफल है। हम अन्दर कटे-बँटे रहते हैं व्यक्तित्व में स्तर रहते हैं और चेतना उन विविध स्तरों पर हल्कों में घिर और घुपकर समय एक क्षीण होती रहती है। यदि चेतना में उच्चतम और प्रश्रियाँ न पड़ें तो जीवन का ऐक्यत्व प्रकट हो उठता है। हीनता और हीनता मानसिक विघटन का फल होता है। यह विघटन आगे बढ़कर विक्षिप्तता का जन्म देता है। दूसरी विधा में यदि संघटन या सुगठन होता जाय तो अस्मिता क्षमता और शक्ति का उदय होता है।

अन्तःप्रवृत्तियों का एकीकरण

प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में यह एकीकृतता और एकाग्रता जाना चाहता है। कुछ व्यक्तित्व हमें दिखाया देने हैं, वे नहीं हैं जिन्होंने किसी न किसी प्रकार बहु धीम और अन्य अमुक मात्रा में छाया है। अमुक विचार, मन आदर्श या आसक्ति के पीछे जिन्होंने अपने को होम दिया है, एक उसी समय में बाँध दिया है, ऐसे लोग बहुत कुछ कर पाते हैं। बुद्धि व क्षमता अन्तःप्रवृत्तियों के इसी एकीकरण का नाम है।

निःस्वता स्व भावता

दो टांग चला करने हैं अन्तर्मूर्ती और कश्चिर्मुर्ती। ये दोनों कृतिप्रां और प्रवृत्तियाँ अन्त में एकता भावन के लिए ही हैं। जो अन्दर में एक बनता है बाहर के भाव भी उसका सामग्र्य बनता है। या बाहर के प्रति अपना सम्बन्ध सही बनाना है वह अपने अन्दर में धाम्य और तप्त बनता है। अर्थात् एकता किसी

विशेष में, बन्धन में सिद्ध नहीं हो सकती है। न वह व्यवहार से निरपेक्ष है। व्यवहार परस्पर के सम्बन्धों के आधार पर बनता है और व्यक्ति ही सांसारिक एकाग्रता इन सम्बन्ध-सूत्रों के द्वारा बाह्य प्रभाव और सद्भाव उत्पन्न करने वाला नहीं रह सकती। व्यक्ति जो विश्रुत बनता है वह इसी प्रक्रिया से। कोई मनुष्य में बड़ा हो, इसका अर्थ ही कुछ नहीं। ऐसा बड़प्पन एकाग्रता का नहीं भाव होता है। जहाँ के लोग में गहरे फँसे हुए प्राणी ही विश्रुत माने जाते हैं। आप किसी पापकृत्य में जाकर व्यक्ति सब अपने को परमात्मा मानते हैं। नहीं तो बादशाह, नवाब राजा बने रहें। यह शक्ति-भाव ही सीमा है। इतना विरोध में एक वह निश्चय भाव सिद्ध किया जा सकता है, जिसमें न एक भ्रमण का है, न स्व-पर में क्रांति की अनुभूति हो। यह अवस्था व्यक्ति-निरपेक्षता की परमावस्था होती।

### स्वप्न-गत, विचार-गत अहं

इन पर से वह प्रकट होना चाहिए कि व्यक्ति चित्तप्रता और निरुत्कारता के साथ है। लेकिन नहीं ऐसा बीजोपा कि अहंकार प्रकट नहीं हुआ है। उन्हे पुण्य विन्यास हुआ है और वही व्यक्ति के दर्शन प्राप्त हुए हैं। इतिगम के प्रगति और प्रपञ्च विरोध को क्या निरुत्कारी न? अनेकवर्ण, पञ्चवर्ण के प्रतिनिधित्व निरुत्कार स्वप्न अहंकार से मुक्त से? किसीक सिद्ध भी उन्हे नष्ट और निरीत मानना कठिन होता। अहंकार की भाषा में उन्हें मुक्त और इन नष्ट इतिगम की निरुत्कार उन्हे साथ एकीकृत, मानना नवम्बु मन्त्र नहीं है। इतिगम की निरुत्कार उन्में से प्रकट हुई वह उन् अर्थ में अचलित भी थी। निरुत्कार भी अचलित यदि निरुत्कार कन हुई और दीर्घा तो क्यों? मैं यह कहूँगा कि एक अमुक विचार या स्वप्न या कल्पना की प्राप्ति के मानना उन्हे के कारण उनका व्यक्तित्व का एक अलग-अलग प्रकट होना या और वही उनकी प्रभुता व विभुता का कारण बनना। अहंकार उन्में उनका स्वप्न न उन्का विचारगम और अचलित हो गया था। एक अर्थ में उन्में भूमि का भी अन्त भीतर गया निरुत्कार था। अन्तों और के उन्का इतिगम पर केन्द्र प्रकट हो गया और उन्का अन्त पर उन्का अन्त हो के अन्त हो के ही पर अन्त पर अन्त निरुत्कार में के ही अन्त पर अन्त था।

### पुनः संपूर्ण व्यक्ति में हिमा नहीं मिलेगी

हिमा में अन्त से अन्त है कि अन्त पर अन्त अन्त में के अन्त पर अन्त अन्त में अन्त से अन्त अन्त अन्त है कि अन्त पर अन्त अन्त अन्त

के लिए वहाँ सबकासा नहीं रह जायगा। दुस्मन के रहने की जब तक सम्भावना है तब तक मुक्तता में कुछ भुटि ही मागनी चाहिए। जो प्रेम में समा और रम गया है, उसमें और मास या पर मास कहाँ रह जायगा? अतः एक दूसरे प्रकार के पुस्य भी मिश्रते हैं और इतिहास उनके प्रभाव का साक्षी बनता है। पहले प्रकार के सूर-बीर लोप बढ़ते चले गये बाबाओं को काटते-पिछाते चले गये और उन्हें यह लगा ही नहीं कि वे हत्या कर रहे हैं। माता के हिंसा-अहिंसा से उन्हे ये और किसी अपर सक्ति के प्रभावशील आचरण कर रहे थे। 'मारना' इस शब्द की संयति ही जैसे उनके पास न थी और किसी प्रकार की बुद्धि-बुगुप्ता उन्हें इस इत्य में नहीं प्रतीत होती थी। उन दुर्दान्त मर-सिंहों की तुलना में ईसा और गांधी जैसे पुस्यों को लीजिए। मारने के शब्द और विचार से ही माता के लोप काँप जाते हैं। जैसे मारने के भय से ही उन्हें भय हो। मरने से अवश्य उन्हें डर न था। जान पड़ता है कि पहले प्रकार के पराक्रमी पुस्य मारने के सम्बन्ध में निडर रहे, तो हम आधार पर कि सारा डर उन्हें मरने से लगता रहा। इस सत्यता की साक्षी उन समीके जीवन में अवश्य मिष्ट पायणी। चंपक जी के उन बीससायें प्रमत्तों को क्या तो सुनिदिष्ट ही है जो मौत से बचने के लिए उसने किये। दूसरी ओर ईसा-गांधी को अपनी मृत्यु के बारे में अवश्य निर्मयता यदि प्राप्त हुई, तो सामक इस आधार पर कि भय की सारी लगना उन्होंने ईस्वर, पाप हिंसा के प्रति समर्पित कर दी थी। सब चिन्ता दूसरे के कण्ठ की इससे अपने मृत्यु-कण्ठ के प्रति भी सामक निश्चिन्तता।

### हिंसा का मूस भय में

मूस प्रतीत होता है कि हिंसक पराक्रम बुनियाद में अपने डर में से निकसता है। अपना डर मूस में समुक्तता नहीं विभक्तता का परिचायक है। अर्थात् सम्पूर्ण समुक्तता ईस्वर और प्रेम में ही प्राप्त हो सकती है। वह जो सभी दूट नहीं किये नहीं एसी बुद्धता हिंसक नहीं हो सकती। हिंसक बुद्धता कट्टर होती है लोभ उसमें नहीं होता। इसमें बुद्धता भी वह नब्बी नहीं होती। ऐसा बल मरना अपने से अधिक बल से डर जाता है। इस बल से प्रबल माने जानेवाले व्यक्तियों के समस्त माना उनका पुनः-सम की हत्या का पुस्य आये तो क्या होपा? क्या वे अधिकतर रहे सकेंगे? उनके मन से उत्तर निकलेगा कि धारण में जितने मित्रपूह के लोभ हों उन्हे स्वयं और स्वकीय की मौत पर निश्चय ही वे उतने ही उद्विग्न हो जाते। दूसरी ओर गांधीजी के बारे में यह सीखा भी नहीं जा सकता कि स्वयं उनके पुषों की उनके सामने पड़ी थी दी जाती तो गांधी उनका डिगते!

## कठोर ही दूरेगा

इससे यह मान लिया जाय मैं तो मानता ही हूँ कि मानव-व्यक्तित्व की व्यवस्था पुनरुत्थान में नहीं कोमलता में ही सम्पन्न हो सकती है। कठोरता में से जिन्होंने एकाग्रता को साधना चाहा ऐसे उग्र तपस्वी और उष्मट पुण्य भक्त मर चुके हैं। क्योंकि गहरे में उनमें कहीं दरार और सरेख पड़ गयी हुई रहती है।

## मुक्त मानव

जिनको इतिहास ने और मानवता ने मुक्त माना है जिन्हें अबतक तब तक कर मनुष्य की बातुर अज्ञात वृत्ति नहीं पाती है जिस पर कष्ट पर कष्ट बात पड़े हैं और जिनसे उत्तर में मिठास पर मिठास मिलती गयी है जिन्होंने बलिदान दिया नहीं है, विस-विस अपना ही बलिदान दिया है वे पुरुष ही उन निष्ठि के परम वृष्टान्त बने हैं जिसे पूर्ण योग (Complete integration of personality) कहा जा सकता है।



- १ पराजित नापैत्व
- २ अर्थ-विचार राष्ट्रवाद
- ३ यह हिमावासी संस्कृति
- ४ प्रेम-परिवार
- ५ सिवला उपनिधि और नीति
- ६ अर्थ-क्षेत्र में मूर्खों का संकट
- ७ अर्थ का परमार्थीकरण
- ८ अर्थ और काम
- ९ साहित्य और काम

## पराजित नारीत्व

### विदेश-यात्रा

७० विदेश जाने से पूछ गया कुछ गया जाने का उत्तर आपने मन में एता एता ? क्या आपकी जिज्ञासा की तुलति इन यात्राओं से हुई ?

—एक उल्लेखनीय थी जिसे जिज्ञासा से अधिक यात्री की मामनी चाहिए। मान की खोज में मैं गया ऐसी बात नहीं है। असल में तो हरबार कुछ-न-कुछ सफलता है। उन उपलब्धियों की बात छोड़ दें तो मेरे मनोभावों में कोई गहरी खोज या जिज्ञासा का भाव नहीं था यह मुझ स्वीकार करना चाहिए। यात्राओं में मैं लोगों को और दूसरी वृत्तियों को बहुत ध्यान देता हूँ। इस सब ऊपर ही मैं और परिचय को कोई उपलब्धि नहीं माना जा सकता। मुझे लगता है कि यात्रा वह अधिक गुमकायी और हितकारी होती जिसमें घरीर बाह्य चल रहा हो पर मन न चलता रहा हो। जब सुविधा होती इस बात की कि सम्बन्ध व्यक्तियों से हादिक हों, बात-बात आत्मीयता पमपे और सब जगह सहजता हो। मेरे साथ किसी भी यात्रा में अब तक ऐसा नहीं हो पाया है। बर्दा और दुर्ग का ही सम्बन्ध बना रहा है जो हलका होता है। कोई यात्रा स्वकीयता उमम में नहीं फलित हुई है, जो उपलब्धि मानी जा सकती और मानस को होना और सम्पन्न करती है।

### राष्ट्रीय अभिविवेक और सम-उदर

७१ मानव सब जगह एक है। पर उसकी संस्कृति और सम्प्रदाय में भारी विभिन्नताएँ बुद्धिगत होती हैं। इस सम्प्रदाय के प्रभाव में जिन देशों में आप गये उन देशों से क्या आचनाएँ आप लेकर आये।

—मेरी सजा तो बिगरी नहीं बल्कि पुष्ट हो गई कि दम्पत्य सब जगह एक है। लेकिन विभिन्नता इतनी सामने आती गयी कि सजा से अपनाया गया अमशानक सम्प्रदाय विदेशों के बारे में मुझे मन्द नहीं कर सकता है। लोग सब जगह एक हैं

है, लेकिन सभी जगह उनमें अपना-अपना राष्ट्रीय अभिनिवेश भी है। वही कुछ बढ़कर बिरोध और संशय बन जाता है। उनके अधीन होकर चलने से विभिन्नता कुछ ऐसी भी हो जाती है कि परस्पर की सम्पन्न करने की जगह उस्ते विपन्न कर डाले। योरोप के देशों में और वह हुआ सब कहीं वह रही है, मुझे अनुभव हुआ कि सम्पत्ता का जो दौर चल रहा है, उसमें पुष्टपक्ष ऊपर और प्रमाण है स्त्रीत्व का योग मर्याद और यथाभाषा से कम है। भारत की धर्म प्रधानता में मैंने ऐसा अनुभव नहीं किया था। पश्चिम की या नहो जमाने की वास्तविक सम्पत्ता कर्म प्रधान इतनी जान पड़ी कि धार्मिक भावना का समय पर समुचित संयोग उसे नहीं मिला तो वह अपने को दा जादवी और सबको भी व्यस्त व्यस्त कर डालेगी। कर्म का ऊपर मान्य हुआ और धर्म का डर। डर का ही यह फल मानना चाहिए कि कुछ बग बहा अब भी बुरी तरह धर्म में बिपटे और घरेलू सेते दीपते हैं।

पूर्व भी उसके चक्कर में

७२ जो ऊपर आपने कहा वह क्या पूर्वीय देशों के बारे में भी उतना ही सच है, जितना कि पश्चिम के यूरोपीय देशों के बारे में। अर्थात् चीन अथवा जापान में भी क्या आपने कर्म-ऊपर को ही प्रधान पाया ?

—हुआ मैंने कहा पश्चिम से उठकर वही दुनिया में वह रही है। पूरब के देश अपने अभिष्ठान से अभी उलझ गये हैं, ऐसा तो नहीं है। पर खतरा है और एक एक कर उनका पीछे लड़खड़ाते-से बीघते हैं। अर्थवाद उसी कर्मवाद का रूप है और हमारा भारत भी राज्य-स्तर पर उस चक्कर में बीगता है।

७३ इस कर्मवाद अथवा अर्थवाद के मूल में गये राजकीयवाद हैं अथवा धर्म हैं अथवा इस ऊपर का कोई बिरोध मनोवैज्ञानिक व धार्मिक कारण है ?

—जो भी होता है सब ही अकारण नहीं होता। एक अनिवार्यता उसके पीछे होती है।

विज्ञान निहित स्वाधों के हाथ पड़ा

मानव-बुद्धि को निरन्तर बिबाध पाये जाना था। ही नहीं मरना था कि समय पर उसमें से बिज्ञान की निष्पत्ति न हो। उस समय धर्म भावना में इतनी मूस-मूस म पायी गयी कि वह बिज्ञान को मगाल म और उसका उपयोग और निवारण करे। धर्म को बुद्धि और बुगलता जलमी तो वह समूह अथवा राष्ट्रवादी निहित स्वाधों के हाथ आ गयीं। उन्होंने धर्मों का बिनिधीय साधा। औद्योगिक स्पर्धा पैदा हुई। अनिवार्य जन्मे। जायात-निर्वात का बम सहज आवश्यकता में टूटकर

## पराजित गारीश्वर

साम और शोषण से पुड़ गया। परमार्थ बीच में से ओझल हो जाता। उस स्वार्थ पूरुष और पैतृक लोक-मानस पर जा छाये। विज्ञान ने जो भीर जि सुविधा दी है वह भागों इस समूह-स्वार्थ के अधीन होकर रह गयी। परम प्रतिनिधि जनों में भूत-भूत नहीं देखी गयी कि वे विज्ञान की इस विद्यात उपलब्धि को सही उपयोग में लाया करें। परार्थ के इस गृह्य कर के समझ मानो उन पारमाधिक्यों को आत्मरक्षा और आत्मप्राप्त की मूर्खी। वे ठरसबा और दगल बा में बिपरत-नाते बन गये। स्वार्थ के हाथ मगटन और प्रगति आयी। ठार जो कहा वह भापा ही है। उससे से निजी निश्चिन कारण-कार्य का बिठाकर विज्ञाने का मेरा आघय नहीं है। इतिहास की व्याख्या एवं नहीं अनेक हो सरती है। वह व्याख्या भीतिर हो सरती है। जाने तो आरिभ भी की जा सक्ती है। केनि सम सबकी वहाँ सगति नहीं है। जिस मति चाह हम इति हास से अपनी दृष्टि और रचि का सम्बन्ध बना-बिठा मक्ठ है। उस इतिहास के पट की बनावट को स्पष्ट करने से अधिक मुझ रचि है बतमान के जागामी मविष्य में काम बढ़ाते जान की प्रधिष्या मे। तत्काल से स्वतन्त्र और निरपदा भूतकाल में मुझ रम नहीं है न मावी की बस्यनाओं न का बीटने का मरा बग है। ऐसा भी क्यता है कि भूत और मावी न शरय केन की आवश्यकता बतमान के प्ररनों की परेपानी स बचन की लातिर होती है। बचाव उस प्ररनों स बतमान स बाहर कही है नहीं। बचाव-छा जो माकूम होता है वह निष्ट बहुमाव है। इसी कारण बमशेन भुक्शेन है और भुक्शेन मुद्र-राय है। मुद्र न विमुग जो पमें है वही दर्शन बनता है। शार्मिक बनकर मान्य मोखा हाने से छुड़ी हो जाती है। यही शायनिवता का लतरा है।

बापका प्रन एक तरह बर्न और तर्क के बाद वे तिर्य निमन्त्रण है। मैं उसमें नहीं जाता चाहता।

### वस्तुवादी मृणा प्रतिधिष्या

प्रवाद-मजिब वस्तुवादी मृणा मश प्रतिधिष्या जान पड़ती है। बर्तनी का मादना समये नहीं जिना परामम है। लीपीजी मे भयत्र की दही बग कि मुम वीं नरी पदवाने कि हिदुमाम को गुन्म राये के बाने मुम जान की गुल्न बना रहे हो। उसका आशय करना गुम्हाग इसलिए भी पदना चर्च है कि मुम मा आशय बनी। भारत के प्रति पीछे हागा पण्यमाने प्रति चर्च है। अन्तिम भारत की कुर्पा का नाम लेकर आये की प्रवचना मे न हागा। अर्थात् प्र



बीड़ और बिस्तार-कैलाश की प्रकृतिवासी सम्प्रदाय प्रतिस्पर्धात्मक है। मनुष्य की आत्म व परमार्थ सिद्धि उसमें नहीं है। अपने लिए आत्मी जब दूसरे की नीमत में सेता है, तब वह बढ़ता नहीं है सिर्फं परिग्रह बढ़ोछता है। इसमें जो जोर है, वह बुझार का है। स्वात्म्य की क्रिया नहीं है, विकार की प्रतिस्पर्धा है। मूल में उसके हिंसा है। और इस प्रतिस्पर्धा को अहिंसा की मौखिक छत्रिम्पता से छेदना और शांत करना होना दूसरी गति नहीं है।

### उत्सर्ग भोग आलोड़म-विमोड़म

७४ यूरोप के साथ आत्मी के जीवन पर साथ वहाँ की इस हीड़मय सम्प्रदाय का क्या प्रभाव पड़े है?

—वह समझकर कहाँ है और फिर कहाँ के जैसे के और से वहाँ जैसे हो, कुछ धीरे सेना बाहता है। इसमें वह एक-दूसरे पर कटता-सपटता है, नॉचता चरोंचता है और इस उद्गम सुखोपमोच में अपने की जो जोड़ा-बहुत मूल पाठा है, जो उसको मुच मानता है। इसमें मबिच सहायता देती है और पाप-बोध उस में चीघता सता है। जिस सामान्य में मिक्का बन्ध हो जाता है इसलिये मसाधारण और अपसाधारण में से उस पिछ का निर-मया आभिष्कार करना होता है। व्यवस्था अत्यन्त सम्य है, लेकिन वह मूल में इसलिये जान पड़ती है कि भीतर आत्मनिक स्वच्छन्दता के बबकात को मुक्त मुर्छित और मुसरम रये। हृदय में उसके उत्सर्ग भीन है, कलेवर में व्यवस्थित संयम है। यह बाहर का नियन्त्रण और शासन-अनुशासन जिसकी प्रतीक राजनीतिक सत्ता है—उस स्तर पर जो बराबर हुकन चलन आन्धोडन आगेडन मचा रहना है जो इसी कारण है। अन्दर की बेबेनी का दबाव बाहर की सत्ता को शांत कैसे रहने दे सकता है? सत्ता यदि इस या उस देश की कुछ काल स्थिर रह भी पाती है तो जब जब यहै पैमाने पर युद्ध की आरांका को जन-मानस में बिघनमान कर दिया जाता है। युद्ध की समाजना के सके एक देश मिक्का भी रहता है, नहीं तो उसके बिबिध तत्त्व व पथ स्वर्ण और विग्रह में मानस की धात में व्यस्त बने रहते हैं। एक युद्ध के मिन दूसरे में आपस में ही जो घनु बन रहने हैं जो भी इनी कारण। ह्यो मात्र प्रेयसी

ह्री ना पत्नी और माना का रुड इस जीवन-विशाल में मुझे पीछे पड़ गया दिखाई दिया। प्रेयसी और विनोदिनी ना क्या ऊपर आ गया है।

मुझे माक दिया जाय लेकिन ऐसा लगा कि हनी का सम सम्प्रदाय में

छावोप नहीं रहता है, केवल उपयोप रह जाता है। वह केवल नाम में है, गिनती में नहीं है। धायव वह गिनती वह भी इसी कारण रही है। प्रचुर सामग्री यन्त्रों से उत्पन्न की जा रही है। तब स्त्री के रूप में भौष्य सामग्री भी प्रचुर हो तो मानो वह अनुकूल ही है।

५५. क्या यूरोप की स्त्री पर भी आप केवल प्रोप्या होने का आरोप लगाते हैं? अर्तन्तु सम्पत्ता में यहाँ स्त्री की संभावनाओं को उन्मुक्त कर उसे पुरुष के बराबर पद व गौरव दिया है। तब उसके विषय में आपकी ऐसी बाराचा क्यों और कैसे बनी?

नारीत्व नहीं गौण

—यों तो स्त्री स्वतन्त्र है और दानुमन बराबर है। सामाजिक परम्परा की दृष्टि से भी उतनी सीमाबद्ध नहीं है। लेकिन योरापीय जीवन का मूल्य और मान पैदा है। आर्थिक दृष्टि राजनीतिक से कुछ बाँधी है और यह मानना होगा कि जहाँ विप्लव और स्पष्टी उपति के मूल्य कम पाये, वहाँ पुरुष को कुछ सुविधा हो जाती है। योरापीय सम्पत्तापीन समाज-जीवन में कुछ सही घटित हुआ है। नारीत्व के पुनः उपति और कम्पाई की आयाभाग में जानों नीच रह गये हैं। मानो कोमल युवों से सम्पन्न नाटी का उपयोग यह हो कि वह आर्थिक और सामाजिक बराबरी में सवे हुए पुरुषों की उत्साहित व प्रसन्न रहे। उनके अहंभाव को बैठाये और बहुकण्य रहे।

कर्मवाद में पुरुषत्व प्रधान

अगर मैं एक घर का उदाहरण किया था 'कर्मवाद'। वह कर्म-मरता और संघर्ष परामर्शता पुरुष में अहंभाव को दृष्ट और सक्रिय रखती है। परिवार की सत्ता में पुरुष का अहंभाव जगह जगह पर लक्ष्य लाता और परिष्कार पाता रहता है। परिवार की सत्ता और उस छल की नीतिरता परिषद में हस्त हीनी जा रही है। पारिवारिक अनौजुति स्थिरता जाती है। माँग वहाँ के जीवन में है चालना की पति की स्थिरता से अधिक अस्थिरता की विप्लव बचाव से मोन-जीवन कर्मोन्मुख रहे और पूरता हुआ बराबर उपति करना जाय। इस आन्तरिक दबाव में वे ही कड़े युद्धों की भाष-यन्त्रता का निर्माण होता है। जान पड़ता है कि व्यक्ति कर्मठ और योद्धा हो, तो अधिक सन्तोषी है। सामान्य साम्य पारिवारिक हो तो अनौजुति अस्थावृत्त कम हो जाती है। इन बरत्नों से उस प्रकार की जीवन विधि में पीरय प्रदान स्थान पा जाता है और स्त्रीत्व के लिए अनुकूल योग स्थान रह जाता है।

### अर्जन-क्षमता में स्त्री योग्यता

बैठने में स्त्री स्वाधीन सीधेगी। पर अर्थ की अभीलता उसे बचा ही देती है, जब वह व्यक्ति बनती है। वहाँ हर स्त्री या पुरुष व्यक्ति बनने को समझ मजबूर है और इस तरह व्यक्ति नियमन के अधीन हो जाता है। पारिवारिक होकर स्त्री को एक व्यष्टिगत मिश्रता है और अस्मय निज की भाषा में उसे नहीं सोचना होता। व्यक्तिगत चिन्ता में उसे नहीं पड़ना पड़ता। सब उसका मान वैयक्तिक गुणों की अपेक्षा से होता है, अर्जन की क्षमता के हिसाब से नहीं। व्यक्तिपरक जीवन होते ही अर्जन-क्षमता की अपेक्षा में हर व्यक्तित्व का मुख्य निर्दिष्ट हो जाता है। स्पष्ट है कि इस बीड़ में स्त्री को पुरुष से समकक्ष नहीं बल्कि योग्य स्थान स्वीकार करना होगा। योग्य ही नहीं, बल्कि कुछ अधीन स्थान भी। अधीन न कहकर जब उसे स्वतंत्र कहा जाता है, तो उसमें केवल भाषा और भाव का सौन्दर्य देखना चाहिए, अधिक नहीं।

७६. अर्थ एवं बराबरी पर आधारित इस व्यवस्था में सब जातकी राय में क्या साम्य-धर्म को यहाँ कोई भी स्थान नहीं रहा है? स्त्री का रूप प्राचीन वैश्य के बहुत निकट पहुँच गया है?

### नारी-भाँस का विषय

—प्राचीन वैश्य को मैं नहीं जानता। लेकिन ईश्वर्य की बात है। वहाँ राह के एक बिंदु पर भाव न जाने कितना गान्धे सब है। एक रात बन्द गयी है, जहाँ जाना हुआ तो बहुत सीमा मानस हुई। नारी-भाँस के विषय की दृष्टि से वहाँ मैंने पहले नहीं देखा था। दुपरे समझी जा रहे भी थे। गान्धे सब के कुछ मासिकों को इकट्ठे बुलाकर बात की तो उन्होंने बताया कि यह सब व्यवसाय समाज की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए जरूरी है। इस डम से अनिष्ट को कुछ सीमित और स्वामीय रखने का उपाय हो जाता है। नहीं तो वह समाज की रणों में प्रवेश कर पाय। यह भी बताया कि ईश्वर्य बहुत समय से जहाजदारी का औद्योगिक क्षेत्र है। इसलिए काफी जनसंख्या यहाँ रही है। वित्त की ठरती हुई बहना चाहिए। भूगोलजन की इसे अनिवार्य आवश्यकता है। नगर की उद्योग मुक्त आबादी के हिसाब में हम यह व्यापार चलाते हैं। बाहरी सीमा दृष्टि से यहाँ बराबर मौजूद रहते हैं कि मनीषिनीय का साधन न हो, तो उत्पाद का दर बना रहे। नगर की समृद्धि के लिए यह भी जरूरी है कि गाँव दुनिया से बहुत राशियों को बाह्यष्ट करे और व्यापार बढ़ाये। व्यापार की उन्नति के नाते धर्म ही जाता है कि अतिथियों का भी बढ़ावे रखा जाय।

आपना नाच-भी सिकोइला कोरी मायबता है। जीवन को उमम बढोर पदाय होना पड़ता है।

परिमयी घेइपाएँ भी

उन लोगों ने यह भी बताया कि ऐसे अकरनमन्द जन्मियों की मायबता भी हो जाती है। बायेज में पढ़नेवाली सड़कियों को पीर के लिए पैसा मिल जाता है। आप रिश्तमय न मानियेगा कि पत्नियाँ जाती हैं और सबर-भबेरे पनि आरन उन्हें छे जाते हैं। कुछ इसमें उन्हें सहारा ही होता है।

कोरम-कोर फनाइबाओ

यह हालत भारत में बड़ उहछों में भी हो सकती है। लेकिन भारत अलग बही है।

प्राचीन भारत की बरबस में समझता हूँ निम्न की। उस संस्था में मौल्य क्या सत्त्व के तत्व भी पायद कुछ रहे हो सकते हैं। पर कथ क तम पर यह भारत कोर कमाईबादी की मायबता आज की सम्पदा का कण है। उस दबाव के बीच पारिवारिक वैधियता जैसे टिकणी, में रंग नहीं पाता।

उद्योगवाद और परिवार

७७. ऐसी स्थिति में सामान्य कहां जाता बल पाता है? इन पर आपने ऊपर प्रकाश नहीं डाला। कुछ भी हो, इस स्थिति को स्वयं प्रभ के नाम पर मान लेना नहीं का सकता।

—स्त्री-पुरुष के बीच अविषमता का कण है समिति। उसके लिए बिबाह की परिवार की व्यवस्था है। पानु की-भी मुविषा स्तुम्य आनि को नहीं है। मनन सिनु पन्न पर बलन अममर्ष होजा और उस पानन-पुनन का आवा-पनना हंटी है। इसके लिए माना प्रजीया के बाद मानन आनि में अविषमता मात्र एक विषय आभिठ परिवार-व्यवस्था स्वीकार की है। जहाँ इतिप्रधान ममात्र है वहाँ तो यह परिवार-मस्या केन्द्री और कपी होजा गयी। मनुष्य परिवार नाम तौर में भारत में रहन ही अस्तित्व और पणित हुआ है। 'आत्मन' की परिमिदियों में हम घेइपा पर दबाव पड़ता है। परिवार की मनुष्यता कम्ती है बर उस पार के छे छोटा होजा आता और अन्त में पति-पत्नी गरु विमिद भजा है। भारत की आ मरती है उस परिस्थितियों की जब हर युवगाय दुःख में जीन हो रि बर मैमिद बने। उस पन-महन का इस छानियों और बैरनों का रण न दबाव

है। स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों से जो संतुष्टि हो, उसके लिए जलप बैरक या गर्सी खादि हो सकती है। वह बिकट समस्या आज खमी खापी नहीं है। लेकिन कर्म भाव और अर्पणभाव इसी तरह हम पर सवार रहा, तो धायक आ भी सकती है।

प्रेम बिश्वास बिलुप्त नहीं

अगर से आप यह न मान लीजियेना कि प्रेम बिश्वास और बफाकारी का भाव नहीं साम्प्रत्य में रहे नहीं गया है। नहीं मानव-स्वभाव के से गुण नष्ट कैसे हो सकते हैं? तब तो मनुष्य का ही नाश आ जायगा। लेकिन जिस प्रकार का अनैतन्त्र राज्यतन्त्र और समाज-तन्त्र नहीं अपने बीच उपजा लिया गया है। उसके दबावों में से क्या बिकार फलित हो रहे और हो सकते हैं यही देखने की बात है।

मैं भारत या भारतीय की दृष्टि से ही विचार नहीं करता हूँ जब कहता हूँ कि वह गली खंभी है, जाने बक जाती है।

अपारिवारिक सेक्स-जीवन

७८. (अ) इस विह्वल एवं अपारिवारिक सेक्स-जीवन से क्या मानव के मन पर बचाव कम हो पाये हैं? (ब) इससे क्या व्यक्ति वास्तविक मनोरंजन एवं तृप्ति पाता है? (स) क्या आर्थिक बचाव के नीचे कुछ मनोवैज्ञानिक कारण भी नहीं रहते जो मानव को इन आकषणों की तरफ खींचते हैं? (द) ऐसे उपनोपों का मानव-चेतना पर क्या प्रभाव पड़ता है?

—(अ) ऐनिक सम्बन्ध अपने को ढाँटने और इस प्रकार भरने की आवश्यकता में से पैदा होता है। पत्नी से यह प्रयोजन साधा जाता है, तब पुत्र के जन्म मात्र को उसकी पूर्णता नहीं मिलती है। जय-विजय की वासना और वेष्टा का अन्वेषण विवाहित अवस्था में कम है। हाँ चाह से यह भी निकाली जाती है उसमें अधिक सार्वकता प्राप्त पड़ती है।

—(ब) तृप्ति सींगी उन सम्बन्धों में प्रतीय होती हो लेकिन भरी नहीं होती। कारण समर्पण की अनुभूति नहीं होती।

पसे से मिला आहूँ स्नाह दियाव

—(स-द) आर्थिक और मनोवैज्ञानिक से एक ही वास्तविकता में आर्थिक और सामाजिक की छिदे हैं। इसलिए इनमें आपस में क्रिया-प्रतिक्रिया चलती ही रहती है। आर्थिक में मानसिक कारण होता है और मानसिक में आर्थिक भी

वाग्विवाद होता है। इसीसे दो प्रकार के कार्यकर्ता भी बनने लगे हैं। जो परिस्थिति की ओर से सुधार का उद्यम करते हैं, वे सामाजिक मानव सेवा की ओर मनेष्ट रहनेवाले सांस्कृतिक। मन शांति रहता और सीधा है। सम्बन्ध (सेवक ब्रह्मविद्या) जैसे भीतर से स्पष्ट हो जाती है। जब मैं ऐसा रहने पर सब व्यक्ति बाहर की ओर बढ़ता और सम्बन्ध खींच लेता चाहता है। पता न रहने पर वह विवाद की गहराई में उतरता अनुभव करना है, विवाद में से ही यदि ब्रह्मता और मानवता के सम्बन्ध से कोई सम्बन्ध बना लेता तो सब मनुष्य पूजा है। जैसे 'दर्शन' कला आदि की सृष्टि ब्रह्मविद्या इसी मनुष्यता में से हुई है। ऐसा पास होने पर यह कम सम्भव बनता है और जैसे वे जोर पर ही सम्बन्ध उत्पन्न के लिए लगे रहते हैं। वह सम्बन्धहीनता सिद्ध होती है और आत्मी पीछे उगा-सा रह जाता है। कुछ दिनोंकर वह वा समर्थ नहीं हो पाता है। जैसे 'उन्मील' में से बहुधा लीनकर टीका और कथा ही बनता है। यह प्रति फिर वैयक्तिक संपर्क और उपरि को प्रेरित करती और स्वीय के प्रति पौरुष में प्रयुक्त की सामना करती है।

### सेवक और समग्र जीवन

७९. मैं यह जानना चाहता हूँ कि सेवक मानव-मन बुद्धि हृदय एवं सम्बन्ध-संस्कृति से सम्बन्ध बनाता क्या या नहीं? यदि हाँ तो उसकी समग्र संस्कृति पर क्या प्रतिक्रिया होगी? योरा में जो सैन्यसम्बन्धी अर्थव्यवस्था और पकड़ गयी है उसका बड़ा ही समग्र संस्कृति पर और मानव के समग्र व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ा है?

### वाम जीवन-मूल

—वाम (वैयक्तिक) जीवन-मूल में ही है। भारत गिनाने के तारों को बर्णन पण्डित की महत्ता के बहिष्कार। मूल पर पुनः एक अर्थ से ब्रह्मन्त ही होता है।

### नैतिक-मननिक

मननिकता एक प्राथमिक नहीं है। सामाजिक है। अर्थात् ब्रह्म विचार में हम उसे बाहर की एक शक्ति है। सुधार की अनेका से ही नैतिक-मननिक की गृहीत होती है। मानव ब्रह्म के विविध अनुभव-समर्थों की निरन्तर-रूपी शक्ति होने के कारण नैतिक-मननिक की सेवा व प्रारण भी बड़ा विषय होती है।

## सार्वकता देने में

इससे स्पष्ट हो जाना चाहिए कि स्वतन्त्रता देने में सापेक्ष होती है। देने में यह निरर्थक पड़ जाती है।

प्रकृति ने यद्यपि हमें मैं के साथ पैदा किया है। पर एकान्त और एकाकी नहीं बनाया है। सम्बन्धों के बीच हमें सिरका गया है। मैं की अनुमति उन सम्बन्धों की स्वीकृति की सुविधा देती है। इससे अधिक मैं का काम नहीं है। अधिक जो होता है वह इससे बेकाम और कुकाम हो जाता है। उसे अहंकार कहते हैं।

## स्वतन्त्र और प्रेम

केवल मैं का प्यार केन्द्र हम बसते हैं। इसको स्वतन्त्र कहिये। इसमें से बेसी गयी स्वतन्त्रता मानो देने की ही बीज रह जाती है। देने से उसका सम्बन्ध छिन्न भिन्न हो जाता है। उपति यह बनती है, जो स्व की निजता और पृथक्ता के आधार पर होती है। व्यक्ति के मैं को पुष्ट करती है। उसके चित्त में से कर्तव्य के बन्धन को छिन्न करती और अधिकार के दावे को ठेक करती है। इस मनो-मात्र से जब स्त्री-पुरुष परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं। तो मानो दोनों अपनी आजादी एक ही साथ खोना और रखना चाहते हैं। खोना तो बिबाह के विधान के बराबर होकर चाहते हैं, रखे रहना अपने अहङ्कृत आदर्श के बचीभूत होकर चाहते हैं।

## अनुबन्धन नहीं, अनुरंजन

कोई सम्बन्ध या दुनिया में कोई घटना ऐसी नहीं है, जिसकी परिणति या परिणाम न हो। प्रत्येक सम्बन्ध एक प्रकार का अनुबन्ध भी होता है। अनुबन्ध को हम, बीच में पैसे को लाकर, सम्बन्ध होने से थोड़ा बचा लते हैं। मानो उस प्रकार उसे समय में सीमित कर देते और परिणाम के सम्बन्ध से बचा लेते हैं। अनुरंजन इसीको कहा जाता है। दोनों ओर मन का अनुबन्धन नहीं होता सिर्फ अनुरंजन होता है। दोनों अनुरंजन के नाते मिलते हैं तो मिलते हैं। देव ब्रह्मा आमाव और अजयकी बने रहते हैं। यह सुविधा किसीको कम नहीं करती मानो अनुरंजन देकर दोनों को बड़ा जाती है।

## पर एक उत्सव

साधारणतया यह आसानी अनुरंजन या रिश्ता परस्पर स्वातन्त्र्य देनेवाला होता है। केवल मारे में कहीं थोड़ी उत्सव भी पड़ जाती है। यह उत्सव इस कारण

कि वन कोई स्वयं कटा छंटा नहीं होता और पूर्व और पर में एक छाया का मूक रहना ही है। वन इस मूक की मूर्ति बनता है या उसमें विपरीत बनता है। लेकिन यह पूर्वोक्तता, यह परम्परा यह कर्मफलता का तत्त्व किसी तरह भी निष्पन्न नहीं हो पाता।

### भक्तिक की सृष्टि

टीक इसी जगह नैतिक की सृष्टि होती है। मान लीजिये 'ग' मित्र और धर्मपात्र हो गया, या नहीं भी हुआ तो 'ग' और 'क' बन गयीं। बीच में पैदा हो आकर वन को मानो उस पैर के नीचे से दूधने लग में बाँधकर हमन अलग कर दिया। बाविल वही वस्तु अब किमी और रह गयी जाती है। भक्ति परिणाम और अवशिष्ट बचा ही रहता है। इस तरह समझा उत्पन्न होती है।

### भक्तिक की समाप्ति असम्भव

मैं नहीं मान सकता कि बाविल के नीचे से नैतिक को मराना दिया जा सकता है। बर्बाद कर देकर यह तो हो सकता है कि अनुभव को सामान्य बनाने दे रहे और सम्बन्ध की स्थापना और पवित्रता देन में उस बचा लें। लेकिन व्यवहार के तन पर ही यह हो सकता है, वेनता के तन पर बचपा बदल्य है। सार सत्य की स्थापना हो, या दूसरे भाषणों के तन्तों का सहाय हो वेनता में से नैतिकता को और विवेक के बलि को नग्न नहीं किया जा सकता है। उद्योग का ही या स्वयंसेवका का हो, कोई बड़ा यह काम नहीं कर सकता।

मानविक दोषों की कड़वी के नीचे इसी अगव्य माधन की चोटों को मानना चाहिए।

### साम्यवादी देशों में पारिवारिकता

८१ तिन देशों में साम्यवाद है उन देशों में जो पारिवारिक नैतिकता एवं सेवा की चक्रेतमता क्या उठी तार पर है जिसका स्वरूप आने के लिए भक्ति दिया है? वहाँ पारिवारिक स्नेह क्रियेकारी और संघर्ष-विघट आदि की क्या स्थिति है?

—साम्यवादी देशों के बारे में अधिभारदूक में विचार नहीं वह करता। वहाँ मा मित्र देशों की मित्र स्थिति हो सकती है। कम और चीन को अवसरवादी बना है। साम्यवादी व्यवस्था के आरम्भ की दृष्टि से दोनों देशों में प्रत्येक दृष्टिकोणों का अन्तर है। सोवियत साम्यवादी व्यवस्था में पारिवारिकता का रूप और प्रभाव दिया जा रहा है। लेकिन कम की यह है व्यवस्था में बलि की अवस्था



है, चीन के लिए वह बृद्धि समस्या बन गयी है। इन कारणों से पारिवारिकता के सम्बन्ध में भी दोनों के रूखों में कुछ अन्तर हो तो कुछ अचरम की बात नहीं है।

मैंने जो ऊपर कहा उसका सम्बन्ध जीवन विधि और जीवन-दर्शन से विशेष है। मेरा मानना है कि साम्यवाद पाश्चात्य-सम्प्रदाय में से निकला है, उसका अंग है, उसीका उत्कर्ष है। राज्य की जब हम केन्द्र में लेते और अधिकाधिक महत्त्व का बना देते हैं, तब जन बीयम पड़ जाता है नियम और जन पहला हो जाता है। इस दर्शन के नीचे हमेशा सम्भव है कि लोगों के आपसी सम्बन्ध प्रयोगन को लेकर झुंझें और उससे पहले बने बिना भी चल सकें। वह व्यवस्था जहाँ पारिवारिक सम्बन्धों में बिखरा और जनता बड़े कुछ बड़ होनी चाहिए, जहाँ अन्न का मुख्य धन से प्रथम और स्वप्रतिष्ठ हो। साम्यवादी व्यवस्था उस आदर्श का नाम लेती है सही पर सही है नहीं।

### अपराध-वृत्ति

८४ इन साम्यवादी देशों में भरपेट जीवन व स्वच्छन्द विहार के द्वारा अपराध-वृत्ति को क्या एकदम समाप्त नहीं कर जाता गया है? यदि नहीं तो जहाँ अपराध की क्या स्थिति है?

—अपराध के लिए उत्तेजना और अवसर जहाँ कम है। भरपेट भोजन तो है, लेकिन काम के आकार पर है। इसलिये फास्यु चीजों के लिए समय और मुविबा चरनी नहीं है।

## वर्ग-विचार और राष्ट्रवाद

### जाति और वर्ग

८५. योरप के समाज में जो विभिन्न वर्ग हैं, उनका आधार जातीय व जातिक  
आधिक है अथवा आर्थिक ?

—जातिक ही बहुता चाहिए। जैसे प्रादेशिक भाषना भी सब जगह मौजूद है।

८६. तब वहाँ जातीयता एवं वर्गों की क्या स्थिति है ?

—वर्गों की प्रभावता नहीं है और जातीयता को राष्ट्रीयता और प्रादेशिकता  
का आधार मिल गया है। तासी वर्गों जातीय और परम्परा के नाम  
पर उठा जा। लेकिन उस जातीयता को राष्ट्रीयता का आधार बना लिया  
गया था।

८७. क्या वहाँ जातीयता और वर्गों का राजनीति पर कुछ भी प्रभाव बाकी  
बचा है ?

### राष्ट्रवाद प्रधान

—हाँ प्रभाव तो है। लेकिन राष्ट्रवाद सब जगह प्रधान है। साम्यप्रधान  
अवस्था में राष्ट्रवाद अपने बिना रह नहीं सकता। सोशलिज्म और कम्युनिज्म  
राष्ट्राधारित नाराएँ नहीं हैं। लेकिन सोशलिज्म मेहनत बना और कम्युनिज्म  
का भी मेहनत का देता था सकता है। किसी-न-किसी प्रकार जातिक और  
जातीय नाराएँ इन राष्ट्रवादों को अपना बल दे जाती हैं।

### आर्थिक वर्ग

८८. विभिन्न जातिक वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों का वहाँ क्या स्वरूप है ?

—साम्यवादी देशों में तो नियम से झुमकों में बसुता या राज्य की धमि ही  
प्रधान है। आर्थिक स्तरों व वर्गों में समुल्लेख उची ओर से माथ रखा जाता है।  
वे वर्गीय स्वार्थ इन तरह गठित नहीं हो जाते कि सीधे बिचड़ में आ सकें। इन

प्रकार के व्यक्ति-संघर्षों और समूह-संघर्षों को बचाने का काम करने के लिए सब देशों ने अपनी-अपनी व्यवस्थाओं का निर्माण किया है और वे कुछ विभिन्न भी हैं। बर्न एच हित-सम्बन्धन का प्रश्न फिर भी सरकारों के लिए एक जीवित प्रश्न बना रहता है। फ्रांस में विंगो से पहले फ्रिन्की जल्दी-जल्दी सरकारें बन-गिर रही थीं। कुछ मिलाकर पश्चिम के देशों की समाज-व्यवस्था में स्थिरता के तत्त्व कम और अस्थिरता के ही अधिक हैं। इसी कारण राष्ट्रीय स्तर पर विवाद का डर बना रहता और दास्तावन की संवारी करते ही रहना पड़ता है। यह मूलतः उस जीवन-चरण के कारण है, जो वहाँ लोक-मानस को संघातित करता है और जिसमें स्वतन्त्र प्रधान है, परन्तु प्रयोजनार्थ है। इस आधार पर नयी उत्पत्ति बर्न नहीं के सफ़ेदी स्वर्ण और विवाद की उत्पत्ति जरूरी होती है।

### मजदूर-आन्दोलन

८९. पश्चिमी देशों में मजदूर-आन्दोलनों को किस प्रकार नियन्त्रित रखा गया है? वहाँ ट्रेड-यूनियन आन्दोलन राजनीति को फ्रिन्की बुरा लग प्रभावित करती है? —ट्रेड-यूनियन आन्दोलन में साम्यवादी विचार का आचार है। समाज और साम्य दोनों ही एक्को के हामी और नारी रक्त इस क्षेत्र में काम कर रहे हैं। समाजवादी ट्रेड-यूनियनिस्ट राष्ट्रीय सरकारों से मेक रखकर बसते हैं और साम्यवादी बहुविध उत्पन्न करने में विश्वास रखते हैं। यह विवाद राजनीतिक है और विभिन्न देशों की राजनीति के हिसाब से उसका स्वरूप भी भिन्न है। भ्रम और भ्रमिक की समस्या एक सीमित रखने का उद्योग समाजवादी विचार की ओर से होता है। साम्यवादी भ्रम-हित में ही उसे राजनीति से अलग करके नहीं देखना चाहते हैं। स्पष्ट है कि साम्यवादी देशों में ट्रेड-यूनियनवादी नीति बचर है, तो साम्य की ओर से है। साम्य पर उनके बचाव या प्रभाव जाति का प्रश्न नहीं उठता है।

### सफल व्यवस्था

९०. परस्पर अविश्वस्त धोरण की पश्चिमीय व्यवस्था क्या उसकी पूर्वीय व्यवस्था का मुकाबला कर पा रही है? क्या धीरे-धीरे पूर्वीय व्यवस्था पश्चिमी के ऊपर हावी होती नहीं जा रही है?

—पूर्वीय व्यवस्था साम्यवादी है। उसका आशय कि वहाँ सत्ता बितरी हुई नहीं है और साम्य भी बिगरे हुए नहीं है। एक साम्य और आर्थिक के नीचे नव शक्ति एक मुट्ठी में बाँधकर जुन नहीं है।

ठीक वही हाल पश्चिमी योरोप का नहीं है। वहाँ उस प्रकार का कैलीकरण न होने से सत्ता की मर्याद सखी हुता और एवता से काम नहीं कर सक्ती और कुछ समय छेटी है।

इसलिए आज की होड़ में और बीड में पूरब की ब्यवस्था कुछ आगे बिचनी और अधिक सन्नद और ब्युत्पन्न दिताई देती है।

### साम्यवादी मूड और राष्ट्रवाद

९१ बनिचनी देशों में तो राष्ट्रवाद प्रसर है ही और वे एक बाड़े में घिरे बगुनों की तरह बसपर सीव मारते ही रहते हैं। पर क्या साम्यवादी मूड में भी राष्ट्रवाद को समाप्त किया जा सका है?

### वर्ग विचार

—राष्ट्रवाद बहु भाषा है, बिध पर दुनिया की ब्यवस्था बन रही है। भासमें वे एक बिचार लिया जिमने बताया कि समाज राही रेताबो से प्रापेदिनताओं में बीटा नहीं है, बकि वही रेताओं से बयों-स्तारों में बीटा है। उतन बहु दुष्टि की जिममें पड़ोसी जकरी तीर पर हुमात माई और बिध बड़ी एता बनि बहु अमर पूनीपति हो, ती बुसन और छोपक बना बीगता है। दुनिया के मजदूर एक हो जाबों—इस आवाज में यह मान लिया गया है कि देव बिदेस की रेताओं से मजदूरों की जमात बीटी नहीं है। बहु एवता की आवाज की और उममें अनर का बनिम एवता जमात की थी और जमातन मजूर होने के नाते। इतसे जो मजदूर न थे उनमें बीर ही गये और एक होने के माने उन सब बीर मजदूर जमाती से जुने के लिए एक होना बन गया। इस बिचार ने देव बिभाजन को मिटाया तो वर्ग-बिभाजन से दिया। बाणी लड़ाई नहीं मिटी बहु बासन रही।

### वर्ग विचार राष्ट्र-सीमित बना

इस नये वर्ग विचार के आचार पर पहले अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद और फिर बना राष्ट्रीय साम्यवाद बना और हैस उममें एक जगह बनि और परस्पर अपना भा गोने हुए जान भी पड़े। केबिज उस प्रान्ति के एक राष्ट्र कम से सखन हुन और राग्य का रूप लेने ही जान पड़ा कि ब्यवस्था न कम पर राष्ट्र को परधानता और मानना ही जरूरी होता है। समाजवाद राष्ट्रीय हुना साम्यवाद राष्ट्रीय हुना और अन्तर्राष्ट्रीय और गार्बमीय प्रान्ति को प्रापदिन साम्यवादी हुनामी

प्रकार के व्यक्ति-संगर्षों और समूह-संगर्षों को बचाने का काम करने के लिए सब देशों ने अपनी-अपनी व्यवस्थाओं का निर्माण किया है और वे कुछ विभिन्न भी हैं। बर्म एन्ड हित-सन्तुलन का प्रश्न फिर भी सरकारों के लिए एक जीवित प्रश्न बना रहता है। फ्रांस में बिनास से पहले कितनी जल्दी-जल्दी सरकारें बन-गिर रही थीं। क्रुस मिलाकर पश्चिम के देशों की समाज-व्यवस्था में स्थिरता के तत्त्व कम और अस्थिरता के ही अधिक हैं। इसी कारण राष्ट्रीय स्तर पर विग्रह का डर बना रहता और संस्थान की सीपारी करते ही रहना पड़ता है। यह मूलतः उस जीवन-दर्शन के कारण है, जो वहाँ लोक-मानस को संघामित करता है और जिसमें स्वयं प्रधान है, परस्व प्रयोजनार्थ है। इस आधार पर बनी उन्नति चैन नहीं ले सकती स्वार्थ और विग्रह की उत्पत्ति जरूरी होती है।

### मजदूर-आन्दोलन

८९. पश्चिमी देशों में मजदूर-आन्दोलनों को किस प्रकार नियंत्रित रखा गया है? वहाँ ट्रेड-यूनियन आन्दोलन राजनीति को कितनी दूर तक प्रभावित करती है? —ट्रेड-यूनियन आन्दोलन में साम्यवादी विचार का आचार है। समाज और साम्य दोनों ही संघों के हामी और जारी बल इस क्षेत्र में काम कर रहे हैं। साम्यवादी ट्रेड-यूनियनिस्ट राष्ट्रीय सरकारों से भेस रखकर चलेते हैं और साम्यवादी अनुविधा उत्पन्न करने में विश्वास रखते हैं। यह विग्रह राजनीतिक है और विभिन्न देशों की राजनीति के हिसाब से उसका स्वरूप भी भिन्न है। भ्रम और धमिक की समस्या तक सीमित रखने का उद्योग साम्यवादी विचार की ओर से होता है। साम्यवादी भ्रम-हित में ही उसे राजनीति से अलग करके नहीं देखना चाहते हैं। स्पष्ट है कि साम्यवादी देशों में ट्रेड-यूनियनवादी बीज अगर है, तो घासन की ओर से है। घासन पर उसके बनाव या प्रभाव आदि का प्रश्न नहीं उठता है।

### सफल व्यवस्था

९०. परस्पर अविश्वस्त योरोप की पश्चिमीय व्यवस्था क्या उत्तरी पूर्वीय व्यवस्था का मुकाबला कर पा रही है? क्या बीरे-बीरे पूर्वीय व्यवस्था पश्चिमी के ऊपर हावी होती नहीं जा रही है?

—पूर्वीय व्यवस्था साम्यवादी है। उसका मान्य कि वहाँ सत्ता वितरित हुई नहीं है और मानव भी बिगड़ हुए नहीं हैं। एक संरक्ष और आदेश के भीगे नव पश्चिम एक मुट्ठी में आकर जुट रही है।

ठीक यही हाल परिचयी योरप का नहीं है। वहाँ उस प्रकार का वैयक्तिकरण न होने से सत्ता की मशीन उतनी ज़ुलता और एकाग्रता से काम नहीं कर सकती और कुछ समय केठी है।

इसलिए आज की होड़ में और बीड़ में पूरब की व्यवस्था कुछ आये जिसकी और अधिक समझ और व्युत्पन्न विचार्य बनी है।

### साम्यवादी मुठ और राष्ट्रवाद

११. पश्चिमी देशों में तो राष्ट्रवाद प्रचल है ही और वे एक बाड़े में घिरे पगुओं की तरह बरस्पर सींग मारते ही रहते हैं। पर क्या साम्यवादी मुठ में भी राष्ट्रवाद को समाप्त किया जा सता है?

### वर्ग-विचार

—राष्ट्रवाद बहु मायार है, जिस पर दुनिया की व्यवस्था चर रही है। मार्क्स ने एक विचार दिया जिसने बताया कि समाज सभी देशों में घ घाटेपिघटाओं में बँटा नहीं है बल्कि सभी देशों में बर्गों-स्तरीयों में बँटा है। उसने बहु बुद्धि दी, जिसमें पड़ोसी ज़रूरी ठौर पर हमार भाई और भिन्न नहीं रहता बल्कि बहु जगह पूँजीपति हो तो कुसम और घोषक बना सीगता है। दुनिया के मजदूर एक ही आर्मी—इन आवाज में यह मान लिया गया है कि देश-विदेश की देशों में मजदूरों की जमात बँटी नहीं है। यह एकरा की आवाज की और उसमें ज़रूर या केवल एकरा जमात की भी और जमातपन घमुर होने के माते। इसमें जो मजदूर न के उनमें बीर ही बने और एक होने के माने उन सब पैर मजदूर जमातों से लड़ने के लिए एक होना बन गया। इस विचार में देश विभाजन को मिटाया, तो वर्ग-विभाजन के दिया। यानी लड़ाई नहीं मिटी वह नामक रही।

### वर्ग विचार राष्ट्र-सीमित बना

इस नये वर्ग विचार के आधार पर वर्ग आन्तराष्ट्रीय समाजवाद और फिर जगह राष्ट्रीय साम्यवाद बना और देश-जगह में एक जगह जाने और जगह बनाने के होते हुए जगह भी बड़े। केवल एक जगह के एक राष्ट्र जगह में जगह होने और जगह का जगह में ही जान बड़ा कि व्यवस्था के तल पर राष्ट्र को पृथक्ता और मानता ही जगह होगा है। समाजवाद राष्ट्रीय हुआ साम्यवाद राष्ट्रीय हुआ और आन्तराष्ट्रीय और मार्क्सवादी जगह के आधिकारिक मान्यता हुआ

क्रान्ति के क्षीर्ण से मिरकर क्षुब्ध हो गया। राष्ट्रीय रूप में इस क्रान्ति को बाँधने और जमानेवाला स्टाबिन क्षीर्णत्व हो गया। यानी मये बर्न बिषार ने परम्परागत राष्ट्र-विचार की बुनियाद को अपने अनुकूल पाना और बनाना शुरू कर दिया।

## राष्ट्र राज्य सर्वोपरि

साम्यवाद कर्म के क्षेत्र में बिचाररमक (माइक्रोकोजिकल) दृष्टिकोण और संकल्प को ऊपर साठा है। वह नयी बफादारी पार्टी की बफादारी पंथा करता है। भारतीय साम्यवादी भारत से भी ऊपर समुद्र बसन्त बफादारी को महत्व दे सकता है। लेकिन साथ ही प्रत्येक देश का साम्यवादी यदि वह निरा नारद्वारी नहीं बना रहना चाहता। राजनीति में सक्रिय प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है, तो राष्ट्रीयता को उसे स्वीकार करना ही पड़ता है।

इस तरह राष्ट्र सब कहीं उस इकाई के रूप में मौजूद है जिसको केन्द्र विश्व-व्यवस्था बल रही है। व्यवस्था ही नहीं विश्व की मानसिद्धता भी उसी आधार पर चलती है। राष्ट्र सर्वोपरि (साबरेन) है, राष्ट्र राज्य साबरेन (सर्वोपरि) है। पंचशीत सह अस्तित्व (को-एक्सिस्टेंस) यूनो इसी तथ्य को बसति है।

## आधार अन्तर्राष्ट्रीयता, मानवता नहीं

इन सब राष्ट्र राज्यों की 'साबरेटी' को केन्द्र मानव-वातिकालेसी में पड़ती आयी है। मुझ हुए है और पहले विश्व-युद्ध के बाद 'सीब माफ नेचरल' बनी है। वह युद्ध नहीं रोक सकी तो दुनरे युद्ध के बाद यू०-एन० का निर्माण हुआ और अब यू० एन० के रहने-रहते युद्ध की टीमारियाँ जोर-शोर से हो रही हैं और कभी उसकी पड़गड़ाहट तक सुनाई दे जाती है। कारण जैसे सीब माफ-नेचरल बैसे ही यू० एन० मूल में राष्ट्र-राज्यों की साबरेटी की ही स्वीकारता पर गड़ी है। यदि साबरेन राष्ट्र-राज्य है तो मुनिषा होने या अमुनिषा होने पर पड़ोसी पर हमला करने से उन्हें कौन रोके और कौन रोके? अन्तर्राष्ट्रीय संस्था स्वयं प्रति-अनुलग्न के तरह पर निर्भर गड़ी है और नीति भी निष्ठा पर चल नहीं सकती। उसका निर्माण ही सक्रिय की भूमिका और स्वीकारता पर हुआ है। नीति को ध्येय में सिद्धा गया है, बुनियाद में नहीं। राष्ट्र-राज्य के प्रतिनिधि मिश्रकर जन्तु राष्ट्रीयता को बनाते हैं। मानवता के प्रतिनिधि वर्गगत और निष्ठागत होते हैं। इन छिपे मानवता का प्रतिनिधि राजनीतिक व्यवहार में कोई रहे नहीं आता। मानवता किसी संस्थागत रूप में हमें प्राप्त नहीं है, न मानव-नीति साबरेन का में कहीं

प्रतिष्ठित है। इसलिए विरम के स्तर पर जो पड़ति चल्ती है वह राजनीति और सत्तिनीति ही रह जाती है। ये परिणाम राष्ट्र-उद्यम-सावटेरी व एतद् सम्बन्धी राजनीतिक पारनामों के कारण प्राप्त होते हैं और उनमें से निकलना नहीं हो पाता।

अपि राज्य से भेद्य

सब यह है कि समूचा वह जीवन-व्यय प्राप्त है, जो जीवन-मूल्य को इस तरह प्रस्तुत करता है कि जन जन से बढ़ जाता है, राज्य अपि के ऊपर आ जाता है, सत्ति नीति पर हावी हो जाती है। वहाँ औपपन्न है, दृष्टि की बूझ है और उन राष्ट्रकी निस्तार आनेवाला नहीं है। कारण यदि मूल्य सत्तिमूलक ही रहे होते तो पशु म कर्मा मनुष्य बनने की आवश्यकता न होती। पर मनुष्य बना है, तो स्पष्ट है कि उन मूल्यों का विकास राज्य की दिशा में नहीं नीति की दिशा में है, और बल में राज्य को धेष्टतम नहीं अपि को धेष्टतर माना जाना है।

मानवीय राष्ट्र

राष्ट्र का काम हमें उस दिशा में बढ़ने से रोकना है, वह बाव नीति को राज्यपर कर देना है। इसलिए वह राष्ट्र विरम-व्यवस्था के सही विकास में साधक होना जो अपने लक्ष्य और स्वत्व को सांस्कृतिक और मानवीय स्वल्प देकर उस आधार पर सर्वथा निरस्त बनना जो अपने भीतर सच्चा समयावमूलक अर्थ-रचना और समान रचना उदाहर विरम की राजनीति के अंग में आयेगा। वह राष्ट्र होगा जो अपने लिए बोकले समय सारी मानव-जाति के लिए बोल रहा होना और उनका स्वाध केवल परमाप में आती आहुति दे जाना होगा।

गांधी की राष्ट्रीयता

मैं प्रतीति है कि गांधी भारत की राष्ट्रीयता की बड़ी संस्कार है रहे व और उस राष्ट्र-सत्ता से फिर के मानवता की एरता के अविश्वसनीय आगा रखत व। उनको निरक्षय का कि निराश्रयता का आरंभ यहाँ से होगा और भय-साय का बल इस आत्म-निर्भीरता से टूटेगा। बाहिर है कि इस दृष्टि में राष्ट्र की एक अविरोधी और पूरक भावना हमको प्राप्त होती है। उनको लेकर रसा की पाँच जल्दी नहीं रह जाती और सीमा रसा बना की ही मुक्ति देती है यहाँ की फाड़ने की सक्ति रही देती है। १९ राष्ट्रवाद को व्यवहार में आने अविचार्यता माना है। तब उसके पुनरि



नाम भी अनिर्धार्य हैं और आज स्पष्ट दृष्टि पड़ते हैं ऐसी अवस्था में विस्फोर्ति का भविष्य क्या है? क्या नय और स्वाधों के समुत्पन्न पर बहु विकी रह सकती है?

### राष्ट्र स्वार्यण करें

—जही व्यक्ति को मानकर भी व्यक्तिवाद को बचाया जा सकता है। आसिर प्रेम सम्मन ठमी होता है, जब हममें स्व का भाव है। वह माध ही जब अभाव बन जाता है कष्ट दे जाता है बोझ सुना और एकाकी-सा मान्य होता है जब स्व का अविमान ही बार हो जाता है स्व के अर्पण की इच्छा होती है और पर के प्रति आत्म-निवेदन में तृप्ति और पूर्ति प्रतीत होती है। व्यक्ति के होने का अन्त में यही समर्पण है कि इसी प्रकार वह प्रेम की अनुभूति को पाता और व्याप्त होता है। राष्ट्र का राष्ट्रत्व, जैसे कि व्यक्ति का व्यक्तित्व आत्मार्पण में से और समुद्र और सम्मन बनेगा। स्व को छेकर, अविमान और अहंकार को छेकर, जो हम चेष्टाएँ करते हैं, वे आसिर अस्तुत्पन्न की समझी जाती हैं। राष्ट्र को छेकर राष्ट्रवादी अविमान उची तरह का अस्तुत्पन्न है। राष्ट्र-भावना यदि सचमुच परिपक्व हावी तो स्व की जगह वही दायित्व दिखाई देना और घेरी का स्वाम बनता सेमी।

### भारत की एकता का रहस्य

ऊपर इसी अवास्तविक और अव्यावहारिक अवस्था की बात कही है। आप अपने इस भारत को ही लीजिये। आज तो एक विधान है और एक शासन है, लकिन क्या कमी यह सुविधा इतिहास में भारतवर्ष के पास ही सकी है? राजनीतिज्ञ दृष्टि से साधक ही कमी भारत एक और अलग रहा है। लेकिन इतिहासकार बतलाते हैं कि आज दुनिया में कोई संस्कृति जीवित है और अपनी परम्परा से अविच्छिन्न है तो वह भारतीय है। वह कीन भारत है जो हजारों-हजार वर्षों से अटूट और एक बना बना आया है? जिसके अन्दर गिरगिर दूट पूरा मुड़ बिपह होने रहे हैं, फिर भी जो समुत्पन्न में अहिम और अथल बना रहा है जो सज्ज है सनानन है, वह मान्य क्या है? भारत का वह भय क्या है? इन प्रश्न के उत्तर में किसी पुस्तक विधान या व्यक्ति का उल्लेख नहीं किया जा सकता है। किसीने उसे बाहर से या ऊपर से एक बनाकर नहीं रखा है। बीना होता तो एकता छिन्न-भिन्न हो गयी होती। अलग नहीं रह पाती। निरन्तर जो बह प्राण बान् और प्रबुद्धता रही तो इन कारण कि वह भीतर से आरिक्त गुण की तरह मानव-जीन के रूप में नहज धर्म के रूप में स्वीहन और अनीहन हीनी बनी

रही। भारत का भाव आधिकार से स्वयंसेवकता से औद्योगिक मशीनों में अनुभूत और प्राप्त बना रहा। राज्य के रूप में मूर्त वेगने की निर्भरता कोई नहीं रही। राष्ट्रों की नीति यहाँ भी और देशों की तरह खुलकर आपस में लड़ती भवइती छी। मारकाट मचाती और गून-गुगुना करती रही। सज्जन अपनी समानता वर्च-नीति की निर्भरता के कारण भारतीयता का कुछ नहीं बिगड़ा। वह मनुष्य बनी बनी पड़ी।

### राष्ट्र आत्मिकता में खेंचेंगे

इसलिए आपकी वह बात कि राष्ट्र होंगे तो राष्ट्रवाद होंगे और वे सब बाद होंगे तो विग्रह अक्षय्य होना—युने मान्य नहीं है। बातों की स्पृहा और तरबारी होने पर विग्रह और युद्ध को टाला नहीं जा सकेगा, वह तो सपना में आता है। पर राष्ट्र अपना एक अक्षय्य बन्ध और रूप पैदा करके उस सहारे ही जीने का उपाय देखने लगेगा वह अनिवार्य नहीं जान पड़ता। अस्तित्व की उभर जीवनी सब अस्तर से मन भर जायगा। जीता में नमी आपकी और मन में प्रेम पड़ेगा नव उच्छ्वासला की जगह बल्लभ में भवार्ता और दीप्त का प्रवेश होया। स्वयं की सार्वभौमता सब हमें प्रथम और परिचय में प्राप्त पड़ेगी। स्पष्टा त्रिभुज है, उन्हीम परस्परता फूटती और जायेगी। वह मैं समझ ही नहीं अनिवार्य मानता हूँ। अनिवार्य अपने और सबके इस अनुभव के आधार पर मानता हूँ कि स्वयं की हम सब ही बढ़ाते हैं बढ़ाने जाते हैं, उस हूँ तक कि अब वह स्वयं व्यर्थ हीन जाये और उस सबकी विचित्रता करकों में निछावर करने का अर्थ ही एक अर्थ रह जाय। वहाँ स्वयं प्राप्त पड़े वही वरभावे जान पड़े। सब अर्थ सब वही सबका सृष्ट हो जाय। वह सब सबने जीवन में आता है। राष्ट्रों के जीवन में भी जाये बिना न रहेगा। हो नहीं सक्ता कि विपत्ति व्यर्थ हो विपत्ति व्यर्थ हो और जीवन बल्लभ-बल्लभ प्रेम की गंगा के बल्लभ तक न पहुँच जाय। वही राष्ट्रवाद की वह बल्लभ अक्षय्य हीनी अब फिर सज्जन की अक्षय्य वह निव मुखायता। और अपने और दूसर के बीच के अक्षर पर मुरझा की पीठ नहीं सज्जन बल्लभ आत्मिकता में दोनों ओर की वही हृद बाँह के बीच कीज मात्र में गलबरा एकत्रय मूख हूँ जायगी।

### वाणी-नीति व्यावहारिक

जगता नहीं है पर बल्लभ अनिवार्यता है। ठीक मात्र के निव वाणी की समता है और भारत के प्रमाणमशी केवल में समता निदा है कि एक ही बल्लभ वाणी में न जाने निदा जाय। लेकिन इसी वेद में अक्षय्यों की समता और समानता

के हटने के बाद अंग्रेजी साईं माउंटबेटन को भारत के पहले गवर्नर जनरल के तौर पर रहना प्रिय माना जा। कारण ये इसमें गांधी और गांधी-नीति। गांधी नीति आसमान में नहीं ठेठ राजकारण में बनी थी क्योंकि व्यावहारिक थी। जाये की बुनिया की राजनीति जैसे-जैसे कच्ची है अवस्था में पकती और समस्त अपनायी जायगी गांधी-नीति की व्यावहारिकता देख सकेगी और उसको अमल में लेना और छतारना चाहेंगी।

उस नीति और उस दृष्टि में व्यक्ति अपने को परिवार के हित में परिवार समाज के हित में समाज देश के हित में देश बिस्व के हित में आहुति देने में अपनी उन्नति देखेगा। सब एक की उन्नति दूसरे की अवनति पर खड़ी होकर मुस्कुराना भूक जायगी बल्कि इस कुरूप पर खर्च खायेगी और दूसरे की उन्नति में ही अपनी उन्नति देखेगी। ऐसा चण्डबाव हो सकता है, बर्ष होमा। अगर नहीं हो सकेमा, तो मान लेना होगा कि मानव पशु है अज्ञ और निचिष्ट नहीं है और नबिप्य बीसा भी कुछ नहीं है। सब ईमान से सब ह्रास से लेना पड़ेगा। ●

## यह हिंसावादी संस्कृति

### हिंसा-अहिंसा

१३ इतिहास इस बात का साक्षी है कि अहिंसा हिंसा के अन्वयकार में ज्योति की तरह जमरी तो बकर, पर जमरी कुछ ही देर के लिए, और उसका सम्यह मानव मन में स्थिर न रह सके। एसी अवस्था में क्या अहिंसा और प्रेम का आनन्द चरमस्व सपना पुरु हो सकेगा और संसार वर्तमान की जीवन सम्भावनाओं से सुरक्षित बच सकेगा ?

—सपना पुरु कभी न होगा। लेकिन सपना सकेन जरूर देखा रहेगा। सपना बहकर जब उस संकेत को भी हम टाकते हैं तो सड़क को ही निगमन देने हैं।

### अहिंसा का अभाव हिंसा का समयन नहीं

हिंसा अहिंसा किसी निरिच्छ स्व और इत्य के नाम नहीं हैं। यदि हम मानव की यदि और उसके विज्ञान को हिंसा से अहिंसा की दिशा में न मनें तो इसी क्षण सब कुछ कार्य और अजेय हो जाता है। सम्पूर्ण अहिंसा का अन्वहार करना ठीक में यदि स्पष्ट नहीं हो पाता है तो इसका अर्थ हिंसा का समयन नहीं बना होता चाहिए। मनुष्य में से पशुता बचने पड़ने के लिए कुछ धार रखनी बानी जायगी। इनमें से पशुता को समयन नहीं दिन जाता है। बल्कि पशुता में निपुण बननी ही मानवता का लक्षण बनी बनी जाती है। इतिहास में हिंसा का अन्वहार विख्यात। लेकिन अगर वह अगर थोड़ी देर के लिए भी बने तो उस जीति को इतिहास फिर मूक नहीं सकेगा है। उस जीति के रूप में मानता रहा इसीमें इतिहास के लिए शांतिना और भावा के तरफ दिग जाने हैं। अपहार को जीति का अभाव ही हम मान सकते हैं। अन्ततः निरम नहीं हो सकता। अन्ततः अन्ततः ही निरम रहे हैं।

### पुर्खों के पीछे अनिवाय मिसल

स्वयं पुर्खों के रूप को ही लीजिये। उनका रूप विद्यालय से विद्यालय और बिन्दु से बिन्दुतर होता गया है। लेकिन सूक्ष्मता से देखें कि इस विद्यालय और बिन्दुता के पीछे कुछ उसके नियम और नियन्त्रण भी अन्तराष्ट्रीय स्वीकृति में विकास पाते चले गये हैं। मुख में ही सही दुनिया के बीच ऐसे एक दूसरे के परिचय में आये हैं। बिस्व-व्यवस्था जैसी चीज प्रकट हुई है और यह दर्शन सबको मुग्ध हो गया है कि सब परस्पर अन्तर्प्रभावित और अनन्य निर्भर हैं। सारे बिस्व का शरीर अब अपने को एकजिह्व और एकारम अनुभव करता है। एक स्थल पर क्षति प्रकट होने पर जैसे समस्त शरीर में से रक्त उस ओर बौझ पड़ता है। हिंसा के रक्त रजित वृक्षों के पीछे जो हवात यह एकता और एकचित्ता पटित और सम्पन्न होती चली जा रही है उसे हम सहसा देखा-भगबेदा कर बैठे हैं। हिंसा फूटती और फूटती है, वह बीखती है। अहिंसा बलवत् भाव से जो हमारी परस्परता को अनिष्ट, व्याप्त और ठोस बनाती जा रही है, सो उसका केदा हमारी बाह्य इन्द्रियां सहसा से नहीं पाती। उसको प्रज्ञा की आँखों से देखना होता है। यह प्रक्रिया अनिवार्य यद्यपि अदृश्य रूप से मानव-जीवन के इतिहास में से घटित होती चली आयी है। ऐसा न होता तो इतिहास कमी का बन्ध हो गया होता।

### अणु-बम से अहिंसा का पाठ

आज अणु-शक्ति प्रकट हुई है और उसकी पहली शायकता अणु-बम के रूप में हमने पहचानी है। बाहिर है कि भीषण संहार-शक्ति उसमें है और वह हिंसा का शरभ उपकरण है। लेकिन इस आधिपत्य से दुनियां मुसी जायें देख आयी है कि मन की शक्ति विद्वत् किंचित तरह सारे संसार को ध्वस्त कर सकती है। अर्थात् हिंसा का भाव कितना घातक और अहिंसा का विचार कितना आश्चर्यक है। जो धर्मशास्त्र और साहित्य-दर्शन इतने काल से मानव-मन के निरट प्रत्यक्ष नहीं कर पाये थे हिंसक बड़े जानेबाड़े इस आवृण के आधिपत्य से यह पाठ बिना मानस के मन में एक ही साथ उतार दिया है। अर्थात् इतिहास में से हिंसा नहीं निरस्तगी है, बल्कि अहिंसा के विचार की अनिवार्यता मित्रस्ती है, यह देखना कठिन नहीं होगा चाहिए। बाह्य-दर्शन भी हिंसा जैसे अन्तर्-मन की अहिंसा को पाठ के रूप में प्रस्तुत करने को ही बनी हो।

### हिंसा का अगौरव बढ़ा है

बुद्ध ईसा सापी हमें इतिहास में ज्योति की भाँति चमककर लफट हुए आग पड़ते

है। पर ज्योति उन जगतारी पुरुषों की भाषा के भाव बसी ही गयी होती तो उनके नाम मात्र रोष बच बँने रह जाते? बहु ज्योति मानवता के हृदयों में अपनी फिरमें छोटे बिना अस्त हो गयी होती तो स्मृति किस सहारे उन ज्योतिर्मयता को संजो सकती? अतीत जीव ज्योतिरित मानकर इतिहास में स उनकी वर्तमानता को निद्राया नहीं जा सकता है। यह कि मनुष्य अपनी हिंसा की भीरता से सबसे भीर भयभीत है, उसकी अहिंसक प्रकृति को ही दर्शाता है। हिंसा का भीरक कर्ता घटता जा रहा है। उस पर बलिक अवीरक इलाका बड़ गया है कि हिंसा पर उठनेवाली सत्ता और शक्ति को बिद्व-मृत के भावे अपनी कंडिपत और मज्झाई देनी होती है। जैसे यह प्रहोच हा कि बहु पुन है इसमें सजाई देना गुरु से ही बकरी है। इसकी मानव प्रेता में अहिंसा के भाव की व्याप्ति से अनिरिक्त पुनरा और गया कहेंगे।

९४ विज्ञान ने मानव-मनों को फड़ा और पुष्टों का सुजन दिया थापकी ही यह बात आपके उपपुस्तक नाम से उत्पत्ती पड़ जाती है कि विज्ञान के उपकरणों ने विश्व-मानव में प्रेम और अहिंसा की अनुभूति को बड़ एवं प्रगास्त दिया। इस विरोध का क्या कारण है?

### विज्ञान बिद्वेपण ह

—विज्ञान बुद्धि की बहु छटस्य प्रक्रिया है, जो समर से बूढ़ की तरफ चलती है। मन्वय और पुनककरण उसकी पद्धति है। इसमें एक को दूसरे से विम पहचाना जाता है। विज्ञान इन तरह सदा भेद-विज्ञान है। इसलिए विज्ञान स्वतः अनेक स बान्ता नहीं रगता है। मिथ्या को अमन्कार विज्ञान दिखाता है, पुनस्वरण द्वारा पावे मय मम की फिर लीटाकर जीवन के संरिप्ट उपयो में उन्नत के द्वारा ही दिना पाता है। अर्थात् विज्ञान बिद्वेपण है जीवन की आरप्यता उसमें से संरिप्य भाव लेती है।

### जीवन संलेपण ह

विज्ञान के उपकरण और आनुष जैसे-जैसे आविष्कृत होने चल मय के परने नाम नामक बुद्धि के हाथ पड़े। यह भी कहा जा सकता है कि नामका के वेद और दबाव में मे बुद्धि की प्रेरणा अवेष्ट हुई और अवा-जया आविष्कार बरनी बनी गयी। निमेलिटी बाव की मरर आठ ह्य-म- यनी आरप्यता जीवन मन्वय की और बुद्धि के बिद्वेपण न प्राप्त तर्पों को संरिप्य जीवन की संरिप्यनिर्दि में मिना मना। विज्ञान मुद्र की आरप्यता के दबाव के नीचे केना रहा और

पीछे जाकर ही रचनात्मक और विनाशक कामों में जाया। बुराई में से बचकर हम भलाई फलित होते देखते हैं, पर वह भलाई बुराई को नष्ट नहीं बना देती। फिर भी उस भले फल को अपना कर हम बुराई के इतना भी ही सेते हैं। विज्ञान का अपने-आपमें भला या बुरा ठहराने का कुछ बर्न नहीं है। हवा को गोरा या काला क्या कहा जाय ? लेकिन एक को दूसरे से भिन्न समझने की विविधता ही सही काम देती जब साथ ही अमिश्रता की भूमि और यज्ञ प्राप्त बनेगी ? वह भूमि जीवन की ही भूमिका है और उस अज्ञात मानव-मन कभी साक्षी नहीं हो पाता है। वही जीवन का समाप्तन बर्न है। वैज्ञानिक सहर में से भी जो जीवन का निर्माण निकाल लेता और हिंसा में है अहिंसा की और गति साथ लेता है वह जीवन बर्न मानव धर्म एक क्षण के लिए भी छोटा नहीं है। और मानव जमीनी चौकड़ी में अपने सब उत्पातों के बावजूद मानवता में उठता और बढ़ता आया है। मनुष्य की ओर से जो बर्न हुआ है, उसके प्रति कोई समर्पण या समझ का भाव नहीं देखना चाहिये। केवल मानवोत्तर ऐतिहासिक विचार नियम को ही पहचान लेना चाहिए। ९५ योरोप ही वर्तमान संस्कृति का जनक है और उसकी समस्याएँ आज तक विश्व-जीवन को प्रभावित करती आयी हैं। आप क्या मानते हैं यह संस्कृति केन्द्र अब बदलकर अमरीका जाता क्या है ?

### यूरोपीय सभ्यता की घुरी स्थानान्तरित

— सक्ति की घुरी अवश्य स्थानान्तरित हुई है। संस्कृति वह बहिर्मुख की सक्ति प्रधान थी। इसलिये यह मानने में बाधा नहीं है कि उसका प्राय केन्द्र भी हूँ गया है। अमरीका और रूस आज सबसे प्रमुख देश हैं। दोनों ही अगह उस सभ्य सिष्ट, पारबंद और बुनीजीवित सभ्यता का महत्व गिरा हुआ बीकता है। दोनों ही अगह सामान्यता का आधार बढ़ा है और व्यवहार का अनुमदन पसन्द किया जाने लगा है। अधियों के बीच रहनेवाली मर्यादा अपनी महिमा खो रही है। स्थिति से गति की गरिमा बढ़ती जाती है। स्थानबद्ध 'लैबलार्ड' की कल्पना पुनर्जन और भीम पड़ गयी है, इपर-उपर नामा सभ्यक रहनेवाला 'इटर प्रेन्सुअर' अधिक महिमान्वित हो उठा है। आये और अन्तर इस स्थानान्तरण के साथ घटित हुए ऐसे जा सकते हैं। लेकिन उस सभ्यता का मूलभार बदलता नहीं है। वह अपीधित और राज्य वेन्द्रोन्मुख है जिसकी चर्चा पहले जा ही गयी है।

### उसका अन्तर्बन्ध अरम सीमा पर

अमरीका और रूस में अधिव्य का गुणाधिनियम अधिक है हमरा उत्तर छान हो

बाय तो शायद संकट ही टल जाय। बीड़ का अण्ड नहीं जाया है और बानी जिसके हाथ रही है, यह निर्णय देने का अवसर नहीं है। यह कह सकते हैं कि रस में वैचारिक दृष्टि से यदि पारचात्य सभ्यता की व्यवस्थितता का रूप उभरा है तो अमरीका में सभी के मुक्त प्राण-पल का स्वरूप देखने में आता है। जैसे वह सभ्यता अब इन्ड में आती है और फँटाव के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। मुझे लगता है कि वह सभ्यता कगमग अपना रीय दे चुकी और घल घल चुकी है। यह हमसे अपने आन्तरिक अर्पण का चरम है और यह रोग बीजता है उसे से ही बँटेगा।

१६ 'सभ्यता को से बँटेगा' इससे आपका क्या तात्पर्य है? क्या इस पारचात्य सभ्यता का अर्थ हो जायगा। यदि हाँ, तो कित्त कब में?

सभ्यता फट जायगी

—सभ्यता बीड़, बानी फट, जायगी। उसमें से नये निर्माण की सामग्री प्राप्त होगी। उसके 'प्रकार' के बारे में कुछ भी कहना असम्भव है। लेकिन दुइतर और उच्च तर सभ्यता का मूल नये निर्माण को प्रारम्भ करनेवाला होगा। पश्चिम के कई मनीषियों ने यह विचार प्रकट किया है। स्पेन्सर का 'डिविजन ऑफ़ रि बेस्ट' संस्कृतियों का इतिहास का एक महान अध्ययन है। पश्चिम की सभ्यता अत्यन्त प्रगत होने के निमित्त है, इस निराश का वहाँ प्रतिपादन है। टायन बी के नये रूप में भी कुछ ऐसी ही प्रारम्भ प्रकट की गयी है।

१७. इस सभ्यता के स्वतन्त्र ईर्ष्या काँति और अर्थनी कुछ नया देकर इस सभ्यता को बचाने की समता क्या अब नहीं रखते?

—ऐसा माहूम होता है कि नया कुछ यदि माना जा फटने की प्रवृत्ति को रोक सके तो चापद फटाव के बाद जायगा। वह तब जो इस सभ्यता को उठाने और निकटतम वाले रूप रहा है जब स्वयं अर्पण होकर समय में पीछ पड़ा था रहा है तो नया कुछ उसके विपरीत पर ही कार्यवाही हो सकेगा।

इसलए और काँति को से तट

ऐसा जान पड़ता है कि हर स्थिति के से तट होने हैं। एक जिस मर्यादा करने है और जिसमें से सभ्यता की रेंगा और परिधि का निर्माण होता है। दूसरा जिसे उभरा अन्त पास बिन्दु-पल रहा जा सकता है। वहाँ निष्पत्तिता से अन्तिम मर्यादा होती है और तब और प्रारम्भ की प्रारम्भ वहाँ चुली उठी है। परन्तु को यदि मर्यादात्मक तो दूसरे को उन्मत्तक रहा जा सकता है। दूसरा प्रारम्भ



मोममुख होता है। इसमें से आवरणों को तोड़ने और मुक्त करने की वृत्ति निकलती है। मुरझाएँ आवरणों की सृष्टि करता है। इन दोनों को केन्द्र बभ्रुक संस्कृति सम्यता के रूप में उत्तरोत्तर प्रकाशन पाती है। इंग्लैण्ड और फ्रांस के स्वभावों में जैसे ये दो तट मूर्त हो जाते हैं। इंग्लिश स्वभाव नियम-प्रधान है तो फ्रेंच मानव्य प्रधान हो कर प्रकट। अब इस सर्पावृतता और अमेरिकी भोगोन्मुखता के तर्कों को व्यस्त करते हैं। जर्मनी कुछ बीच में पड़ने के कारण गंभीर और मनमग्रीस रहा और कहा जा सकता है कि सम्यता को वहाँ से वह तत्त्व प्राप्त होता रहा, जो दिखाव देता है। लेकिन कुछ मिलाकर यह उत्पत्ति बौद्धिक और पुस्तिकी की और मानवता के लिए आवश्यक मन-मस्तिष्क विस्तार-विभाग के संयोग को नहीं साध सकती थी। आज यह प्रकट है कि विज्ञान से जब बाहर के जन्म और मंगल निकट आ गया है, तब अन्दर से पड़ोसी दूर पड़ गया है। बिबाह में मिलने पर भी पति-पत्नी के बीच मिलाप नहीं हो बने रहते हैं। बाहर को मिलाने की समता ही जैसे अन्दर को बाँटे रखती है। यह अन्तर्विरोध सतह पर आ गया है और हमीशे कहना पड़ता है कि घायब अब उसकी आयु वा नहीं है। जीर्ण होकर उसके फटने का समय है और गनीम के अम्युष्य का।

### एशिया और अफ्रीका

९८ एशिया और अफ्रीका का पुनर्जागरण इस सम्पत्ता के संस्कार में क्या सहयोग देता आपको बीज पड़ता है?

—एशिया अफ्रीका और इस तरह के दूसरे भागों का सहारा कुछ दूर तक ही सहायक हो सकता है, आगे वह बाधनाक है। कारण ये संघर्ष और घारघाएँ अन्त में राजनीतिक हैं। जब वह एक मानव-अमूह की एकता की प्रकट करती है सही है लेकिन जब उनके विवाद की बलति समती है, तब उनमें एक सात्कारिकता रह जाती और इसलिए एक भ्रान्ति पड़ जाती है।

अभी तक तो एशिया और आसकर अफ्रीका के इस विदेशी प्रयास के हमने अपील से कि तन्त्र में भी परछाया से। अब राजनीतिक रूप से ही सही स्वतन्त्र होते आ रहे हैं। लेकिन स्वतन्त्रता कमजोर सभी जगह जन-मानस में उस रूप में उत्तर रही है, जो पारंपार्य विचार में से आया है। वह सार्वभौमिक और मुरझाएँ रूप है। वह अविरोधी नहीं विरोधी है पुरस्कर्ता नहीं भावक है। स्वतन्त्रता की इस धारणा के अपील निर्माण पाकर मैं नहीं समझता कि एशिया और अफ्रीका के इस मानवता की कुछ अधिक सहा कर सके।

## स्वतंत्रता का अहङ्कार

भावी बलीय युग का निर्धारण तब से मानना चाहिए जब स्वतंत्रता की मह बारगा बहुर मधुरी और जोड़ी साबित हो आयी होगी और स्वतंत्रता की नयी कल्पना का उदय जन-मानस में हुआ होगा। इस कल्पना के अधीन अल्पम बाँट रखनेवाली पीढ़ी की पंक्ति किसी भी नीचता के को व्यर्थ के बिलबाद-नी लय आवेगी और पड़ोसी की ओर वह बहिष्कृत मानव के घड़ाभाव में बढ़ेगा। आज तो वह बात कुछ बर्ष और व्यवहार में बाहर नहीं हुई-नीचता बढ़ती है क्योंकि स्वतंत्रता का अर्थ ही महङ्कार है नाकनीत नहीं। यों तो आज भी अनुभव में आ गया है कि स्वाधीन जैसी अवस्था नहीं कोई स्थिति ही नहीं है जब परस्परगोपीन हैं। फिर भी हमारी व्यावहारिक समस्या आनेवाली राजनीति अभी उस अनन्य वागवा पर जिस राष्ट्र राज्य की लारेंटी कहने हैं कम रही है। उस अनन्य पर जगत् का समुदाय अर्थ व्यापार कम रहा है। आवाग-निर्माण खनिज-महायुग मधुरीय-विनिर्माण सब उसी बुनियाद पर चलाने आ रहा है। खनिज और खनिजता सम्पन्न और विपन्न उपग्रह और विपन्न देशों की सृष्टि होती है। इस प्रकार अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध के बनने हैं जो हासिक नहीं हैं केवल महाजनी हैं। वे मानवीय सम्बन्धों की विषय और विषय बनाने हैं। इस कारण जहाँ हासिकता हो सकती थी वहाँ दृष्टीनि का प्रवेश होना है और निष्पत्ति की जगह दोष होन लगना है। वे पारम्परिक सम्बन्ध-मूख गोप्य की प्रभावितियों के बीच पर जो काम माने हैं जो उसी राष्ट्र स्वतंत्रता अधिकार आदि मन्त्राचारवालों के कारण जिस पर सम्य विचार की इकारन गड़ी है। अधिक समय नहीं कि पना कम आयवा वह विचार ही नम्य नहीं अनन्य है। कम-में-कम आभासी मानव-मन्यता की दृष्टि ने तो अवश्य ही वह निष्पत्ति रह गया है।

## भावी संस्कृति युग से उदय होगी

कम-में-कम भारत के पास उस राष्ट्रीयता का आधारवा जो इन वर्षों में सम्बन्ध का बहिष्कृत मानवीय वा। भारत की भी आज की राजनीति में वह विचारवाय मूलवाय मान्य होना है। गोपीजी के समय और अनुभव में वह बीच ठहर जायी और भारत के राजकारण का हाथ में ले सकी ता एमिया क दम देय न अवश्य कुछ जाता हो सकती है। ऐतिहासिक भारत पर ही सब चीजें बनी हैं। न दावी पर मेरु आदि का व्यवहारवाही ही है। फिर मानना है कि विचार माने दये देनों में वह मानवाय बनमान की ओर है कि उस आधार पर उनका राष्ट्रीय राजकारण और अर्थ-कारण निर्माण पावर गया हो जब तो अविध्य का एक प्रदर्शन हो

सकता है। लेकिन एशिया और अफ्रीका के सब देशों के इतिहास और स्थिति का मुझे पता नहीं। फिर भी भ्रष्टा मेरी है कि जहाँ जन का अभी नहीं बल्कि जन का ही बोकबाछा है ऐसे पूर्व की ओर से जनावांछित भावी संस्कृति का उदय हो सकेगा।

९९. पूर्व की परम्परागत चेतना को टुकड़ाकर चीन में जो नव निर्माण हो रहा है, उसको विश्व-संस्कृति के लिए आप किसनी दूर तक शुभ मानते हैं ?

राज्य प्रधानता अविश्वसनीय

—मैं ऊपर शक्ति के अधिष्ठान हैं बचने और बननेवाले समूह में फटाव के बीच देखे बिना नहीं रह पाता। बहूतेरी अच्छी बातें साम्यवादी तब में मुझे दीखती हैं। वहाँ जन के लिए अधिक स्वातंत्र्य है और तब जन का नहीं सत्ता का होने से जीवन-निर्वाह की स्थिति अधिक सुगम और सुरक्षित हो सकती है। लेकिन राज्य प्रधानता से बचकर समाज की वास्तविकता की अवस्था कैसे प्राप्त होगी यह मेरी समझ में नहीं बैठता है। इस सम्बन्ध में शायद दो मत नहीं हैं कि राज-मुक्त समाज अधिक उपयुक्त होता है और सामाजिक अथवा राजनीतिक प्रगति की बड़ी बिधा होनी चाहिए। मेरी भाशा है कि साम्यवाद से पूर्वतर कोई दूसरी प्रक्रिया हो सकती है, जो दृष्ट बिधा में के जा सके और जहाँ साम्य के समान सामन भी मुक्त प्रीति के हों। सरल-सेवा के न हों। इस प्रकार का प्रयोग राष्ट्रीय विमान पर अभी नहीं हुआ नहीं है। लेकिन उत्तमम्बवी प्रकाश अवश्य गांधी से प्राप्त हो गया है। लेकिन उसकी चर्चा यहाँ नहीं की जा सकती है। चीन में शिम महा-शक्ति के ओर से देश का काया-पकट किया जा रहा है उसमें केन्द्रित राज्य और सम्यगन्ति का योग है। इसीसे पूरा आश्वासन मुझे बहाने नहीं प्राप्त होता है।

साम्यवाद हार्दिक नहीं

चीन उसी साम्यवाद में से प्रेरणा लेकर काम कर रहा है, जिसमें से उस ने अपनी प्रगति का और फिर राज्य-व्यवस्था का निर्माण किया। ऊपर से प्रवृत्ति या सक्रिय है कि प्रेरणा का सोन अमिश्र होने से दोनों देशों में भी अभिप्राय ही होगी। कुछ दूर तक सीसी अमिश्रता देखी भी गयी लेकिन अब शान्ति बनी-भिषा नजर आन लगी है। चीन और कम में बहुत बड़ा अन्तर यह है कि चीन की समस्या आबादी की अभिप्राय है, कम की समस्या उसकी नहीं है। प्राकृतिक और मानवीय नियमों से दोनों देश एक दूसरे के परिपूरक हो लगे हैं और गुणा पड़ा साश्चेरिया का इतना बड़ा भूभाग चीन के योग से हरा भरा और जग-गुना हो सकता है। पर-

साम्यवाद की एकता से यह बात समझ बनेगी ऐसा नहीं होना पड़ता। कम-बोम-मैत्री राजनीतिक से आगे हार्थिक और आर्थिक विद्या में बढ़ने में अतिसर्य आग पड़ती है। जो मैत्री को इस तरह अन्तर्बीज तक पहुँचाने उठे नहीं रोका देता है वह बाद मानवता के स्वर्णिम मणिप्य को जैसे सा पायेगा यह सोचने की बात हो जाती है।

### जीनो जीवन की अटल माँग

आज तो सीमान्त को लेकर हिन्दू-बीन समस्या आ गयी है। मेरा मानना है कि साम्यवाद के ही कारण यह समस्या नहीं बन गयी। सामक बूझा भी कोई होता तो भी बढ़ती हुई साठ करोड़ तक आ गयी, और आप भी बढ़ती आनेवाली, जनसंख्या को लेकर क्या करता? उत्तर में साइबेरिया की तरफ तो कम्युनिस्टों कीबार पड़ी है शक्ति-पुर्बी विद्या में अगर कोई पुनराइय हो तो साम्यवादी चीन उबर बड़ हो रहा है। फिर भारत आक हिमास्य यह जाता है। जनसंख्या का बचाव आगिर उबर न पाय तो कियर पाय? जीवन की इन अनिवार्य और अन्त मोर्चों के बीच चीन को चलना पड़ रहा है।

### साम्यवादी विश्वास पर ओल

चीन के साम्यवादी होने से यदि यह मुविषा नहीं होती है कि स्व करने निर्दन प्रदेन में उतरी अतिरिक्त जनसंख्या का स्वागत करे, तो इसके अवर्य ही साम्यवादी विश्वास पर ओल पड़ना शुरू हो जायगा।

### अन्ति अन्ततः जिम्मेवारी

यै बहु जानता हूँ कि विश्वास कुछ भी रहा या खरता है और उसके मैग में चुनौती मिले हुए कुछ दूर तक जाने भी बड़ा आ खरता है। अन्ति की महाप्रात्मक आबदन गता की इस ओल में बुरा तक कर जाना आ खरता है। मुनीसिनी-स्टिटनर और कैनिन-स्टातिन अलग-अलग राजनीतिक गणधारों की लेकर घातन को छुट्ट खरते और उसकी अपह अपना घातन बना-बिना खरते हैं। यहाँ तक तो जीनो फिर बाहे बिछी नाम या बाद पर हो, मने में नाम है जाता है। फिर कुछ दूर तक बाहरी आक्रमण की आरंभ विरोधियों के मय और होय आनि की बाहुन-मार आि बर्म प्रेरणा की बेटाये रण खरती है। कैनिन आगिर तो जीवन की ही महाप्राएँ निगराने की नाबने होती है और हर अन्ति अन्त में जिम्मेवारी बन गयी है। घातन को निरुकर लुप्त घातन बन बैठने के आग रस आता है, तो नन्त उगरी पीड़ा भी ओड़नी पड़ती है।

## प्रेम-परिवार

१०० परिवार की संस्था का समाज-व्यवस्था तथा मानव-सम्पत्ता के विकास में क्या मूल्य है? योरेण ने इस मूल्य को कितनी दूर तक माप्यता की है?

### परिवार की उत्पत्ति

—परिवार इतिहास में ठीक किस बराबर हमें प्राप्त हो गया मेरे लिए कहना कठिन है। लेकिन काफी प्रागैतिहासिक समय से मनुष्य ने परिवार के रूप का आविष्कार कर लिया और उसे अपना किया होना। पहले युग के रूप में रखा जाता था। एक नेता होता था और उसके नीचे समूचा समूह इकट्ठा रहता था। उसमें सबके सम्बन्ध स्वीय की बनते और अच्छे से से उत्तरे अपेक्षा परस्पर के प्रति नहीं होते थे। यह अवस्था खानाबोशी की रही होगी और सेती जगते ही विवाह परिवार का गया होना।

परिवार बड़ा प्रयोग है जिससे मानव-जाति टिकी है और सम्पत्ता को विकास का आधार मिला है। इसने हमें युग की जगह व्यक्ति को दिया और परस्परता की धारणा उत्पन्न हुई। मैं मानता हूँ कि जिसे हम समाज कहते हैं उसका भी आधार यही है। कुछ से निपटकर जब हम व्यक्ति की पहचान तक आये तभी समाज की धारणा की सृष्टि हुई। तभी धर्म-नीति कर्तव्य-कर्म आदि की सृष्टि हुई।

### स्पर्धामूलक विज्ञान का उदय

पश्चिम के देशों में सर्वाधिक है और सेती की अनुकूलता भारत जैसे देशों की अपेक्षा कुछ कम है। स्वास्थ्य और बलिष्ठता आदि की सुविधा कम नहीं बल्कि वहाँ कुछ अधिक ही मानी जा सकती है। ऐसा तो बड़े ही सरलता था कि व्यक्ति भाव का और फिर परस्परता की धारणा का उदय वहाँ न होना। लेकिन सम्पत्ता का योग दृष्टि और दृष्टिमूलक रहन-सहन ने राधा अधिक घनिष्ठ होना है। पश्चिम में व्यक्ति-मानस पर अपेक्षाहीन अधिक दबाव पड़ा और होने-होने विज्ञान का उदय

वहींके मानस में से प्राप्त हुआ। प्राकृतिक परिस्थितियाँ वहाँकी इतनी अनुकूल न थी और यही स्थिति पीछे आकर बौद्ध और बौद्धिक विकास में सहायक हो गयी। आरिक्त चिन्तन-मनन कृषिभूमक पारिवारिकता के बीच पड़ता हुआ रहा लेकिन स्वयंभूतक विज्ञान-शास्त्र कठिन परिस्थितियों के दबाव के तले उद्भूत हुआ।

### व्यक्तिमत्ता पश्चिम की बने

ग्रीक और रोमीन से से आये बृहत् उद्योग ने सारे पश्चिमी समाज को बौद्धिकता में डूबा उठाया तो उससे व्यक्तिमत्ता को सहायता हुआ और पारम्परिकता हृदय से अधिक व्यवस्था और व्यवसाय के नियमों से मचनवासी बीज बनती चली गयी। जिसको प्रशासन की वहाँ बहु शक्त बड़ी लेकिन मूल में व्यक्तिमत्ता ही प्रतिष्ठित होती गयी। कुछ पहले तक भारत में बड़े-बड़े आधीमान मकानों में भी स्नानघर नहीं होते थे। निम्नता (प्राइवैसी) की कल्पना ही कम थी। कमरे के साथ ही बाथरूम बानी बाराण्ड ठेठ पश्चिम में आयी है। अर्थात् मूल में व्यक्ति-मानस स्वयं स्वतन्त्र होकर रहना और बढ़ना सीखा है जिसमें से जीवन की माहुरिकता और प्रयोगशीलता की प्रेरणा मिली है। इन दृष्टा में बर्ग की स्थिति में बदलना है उनका पसन्दना नहीं हुआ जिसका कि कम विस्तृत हुआ जिसका गति से सम्बन्ध रहता है। समनशीलता वातावरणता पश्चिम में विज्ञान पायी गयी। प्राचीन एक बेबीनी अनुभव होनी और उनको लेकर व्यक्ति दूर-दूर के लिए निरन्तर पढ़ता। उन वृत्ति के साथ परिवार की भावना उनकी भाषा प्रयोगार्थ नहीं रचना बनती थी। समाज को चलनघीस रहने की बाध्यता भरती में इनकी पढ़ी बड़े नहीं बाल बनता था।

### भारत की पारिवारिकता

भारत की देखिये। परिवार मुक्तिपूर्वक अनन्त भाषा प्रयोगार्थ वहाँ रचना रहता। उनकी संरचना हजारों वर्षों तक अद्विग और अटूट बनी चली आयी। उसे किसी विषय या प्रयोग की आवश्यकता में बाहर बहुत सीढ़ता नहीं पड़ा और बाहर से आकांक्षा बनकर जो आये उन्हें अपनी विस्तृत कृषिभूमक पारिवारिक स्थिति में बहु समानता बना गया। जो कुछ भर इन रूप में पश्चिम और पूर्व में देखा जा सकता है। लेकिन इन भर भी वे भारतीय अर्थों को बहुमाने रखने से ही उनका वास्तव मूल्य समझा जायगा।

१०१ वहाँ की अर्थ-व्यवस्था में, बहुरि परिवारों के संघटन को कितनी दूर तक प्रभावित किया है?

**मुद्रा के महत्त्व से जीवन में फटाव**

—परिवार के भीतर जितना अर्थ विचार नहीं जाता उतना ही ऐस्य रहता है। आज भी ऐसे घर हिन्दुस्तान में हैं जिनकी संपत्ति-संख्या सी तक होगी। लेकिन घन उनके पारस्परिक सम्बन्धों के बीच फिर भी कहीं देखने में आता ही नहीं है। सब व्यवस्था केन्द्र से होती है और सब वहाँ एकत्र होता है। यह तक सम्भव है कि इस परिवार में कमानेवाले केवल दो हों लेकिन खर्चने के मामले में वे दो घर से अलग या बिलेय नहीं होते हैं, एकत्र परिवार में जोड़े-खे रहते हैं। यह हास्य यहाँ भी धीरे-धीरे कम होती जा रही है और संयुक्त परिवार टूट रहा है। कारण है, मुद्रा का जीवन के विभागों में अविकासिक प्रवेश और प्रसार। जीवन इस तरह बंटा और बँका होता और व्यक्ति-मानव नीतिनिष्ठ से अधिक स्वनिष्ठ होने की ओर बढ़ता है।

**व्यवहारिक सम्बन्ध प्रवाही**

पश्चिम का अर्थ-जीवन उद्यम और उद्योग की बहुतायत से अधिक चतनशील है। उसके भी पास वहाँ अधिक दूत है और गति के पैर का भी छन्द उत्तम है। वैवाहिक और पारिवारिक सम्बन्ध उसी हिसाब से वहाँ अधिक प्रवाही हैं और उठने एक-दूसरे को रोकते-बाँधते नहीं हैं। हिसाब की वहाँ अधिक प्रतिष्ठा है और पति-पत्नी के बीच में अलग-अलग जाते होते हैं। आप अलग और कुछ खर्च भी अलग होते रह सकते हैं। वहाँ की संस्थाएँ—उदाहरण के लिए स्कूल होटल रेस्तराँ आदि इसी प्रवृत्तियों के प्रभाव हैं।

**मुसाफिर और गृहस्थी**

में अभी भी योरप गया, ती कुछ पंद्रह सेर सामान भेरे पास था। हिन्दुस्तान में कुछ दूर चक्कर के लिए भी अधिक सामान साथ लेना होता है। बारम्बार योरप में यह चतनशीलता अपनी स्वीकृत है कि व्यवस्था संयुक्त रहनी पड़ी है। वहाँ जादवे विस्तर पाउयेगा लौकिया-साबुन भी मिलेगा इत्यादि। यहाँ सब सामान साथ रखा ही हो गुजार है। वहाँ जादमी मुसाफिर है वहाँ पुरानी है। वहाँ मानस होता है कि वहाँ जाये वहाँ घर आपसी मिलेगा। ट्रैवल एजेंट आपको निर्मित्र करते हैं, आशस्त करते हैं दायित्व लेते हैं कि सब पयद आपसी सब

मुनीता देंगे। जब मैं चेक-बुक रखिये और बेबड़क लिखल पड़िये। अपनी पहचान के कुछ कागज-पत्र जरूर पास रखियेगा बाकी आवा-पत्रताओं के बारे में आर साथ चेक-बुक रखकर निश्चित हो सकते हैं। पैसे के खर्च बचन में बावनी को एक-दुसरे के साथ बँधे रहने में बहुत आसानी कर दिया है। मित्रता मित्रता से बढ़ी है चम्पना है, पारिवारिक सम्बन्ध की उभी हिम्मत से दृढ़ बने रहने की आवा-पत्रता में सुधार होना जाता है। धर्म और नीति सामाजिक और व्यावसायिक स्तर पर आ जाते हैं और अर्थ प्रदीपन में उनका नियमन होने लगता है।

### नतिकता का मित्र मान

जीवोपार्जन क्षमता और जीवोपार्जन उद्यमवाद का सम्बन्ध पारिवारिक नैतिकता में कुछ उलटा है। ऐसा मान पड़ता है कि उद्यमवाद के जीवन के लिए नैतिकता का मान कुछ बढ़ता हुआ होना चाहिए। पारिवारिक से अधिक उसे वैयक्तिक होना चाहिए। यह अन्तर आर्थिक उपद्रव और विकास के साथ प्राप्त हुआ माना जा सकता है।

१०२ यह भी तो सत्य है कि परिवार की संस्था में भारत के व्यक्ति-आत्म में जो घुटन संदीर्घता और कड़वा रस की है वहिष का व्यक्तित्व उनसे उत्तीर्ण है इसलिए वहिष के परिवार का हीवा अत्यंत अधिक होते ही, पूर्व की अनिश्चित अधिक व्यावहारिक, आर्थिक एवं लक्ष्य है। आप इस विषय में क्या कहते हैं?

### भारतीय परिवार बिगड़ रहा है

—व्यावहारिक है, पर आर्थिक और कड़वा है यह माना जा सकता तो ठीक और धर्म युद्ध की परिस्थितियाँ नहीं बनी होनी चाहिए थी।

निश्चय ही कुछ भिन्नतर भारत का समाज-सम्यक् मूल्यवत्त में अधिक धर्म और अनिश्चितता नहीं हुआ है। धर्म के धर्मों का वैयक्तिक, निम्न से ही में परिवर्तन हो रहा है। देवता-देवता आजीवन होना नहीं अनिश्चितता बन जा रहे हैं। ऐसी ही धर्म में भीतर। बार बढ़े-बढ़ होना हैं और बनने ही और की मात्र बढ़ता है कि धर्म का करनेवाली कदम लड़कियाँ उनी हैं और रते। इस अन्तर की रचना-अन्तर नहीं किया जा सकता। इससे स्पष्ट है कि भारतीय विधि की श्रेष्ठता के विचार पर यह और बढ़े रह जाना भी सम्भव नहीं है। मानना होगा कि जीवन का कदम या रीति कदम या रीति कदम या विधि धर्म गुण ही बढ़ के से स्वतन्त्रता की बार कीड़ पड़ा।



उत्पत्ति जिसको कहा जाता है उसे असत्य मिथ्या और माया कहकर उधर से ओत मोड़ने की सलाह मैं नहीं दे सकता। जबस्य कुछ सत्यांश ही होना चाहिए जिसके बल पर यह उत्पत्ति जीव और जान रही है। अपनी किसी मानी हुई भेष्यता पर मूढ़ भाव से अड़े रहने का कोई समर्थन नहीं हो सकता है। अड़ने का वह हठ बैग में टिकनेवाला भी नहीं है।

### पश्चिमी व्यवस्था सहज प्राकृतिक नहीं

लेकिन उत्पत्ति को स्वयं यदि एक दिन अवनति और अयोगति नहीं बन रहना है तो उसकी भी सावधान होना होगा। अभी तो वह उत्पत्ति उस ओर से असावधान है। लेकिन यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि व्यावहारिक व्युत्पत्ति जो राजनीतिक-कूटनीतिक दृष्टता तक उठती चली गयी है अब स्वयं अपने से परास्त है। वह बिच में पड़ गयी है। इसलिये स्वयं उस व्यावहारिकता के पुनर्निरीक्षण और पुनर्मूल्यन की आवश्यकता है। वह उत्पत्ति निरवयव ही रह गयी है प्राकृतिक नहीं है और एक दुर्गम और अप्राकृतिक तनाव की शीतल है। हमारा अर्थ-मूलक विकास अर्थ के तट तक आ पहुँचा है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। इसीसे नये अर्थ-विचार की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। सावधानी के अभाव में अर्थ स्वार्थ से जुड़े बिना नहीं रहेगा। स्वार्थ के बृद्ध और राष्ट्रव्यापी होनेवाले से स्वार्थता से मुक्ति नहीं मिलती है। किसी अन्तर्राष्ट्रीय संघ से बुनिया में एक अभिमतता प्राप्त सामंजस्य राग भी हो जाय तो भी स्वार्थता की भूमिका ने एक राष्ट्र की छुटकारा नहीं निकलेवाला है। सोचना होना कि क्या वह सम्भव है कि अर्थ ने ही परमाय की प्रतिष्ठा हो। परमाय पारिवारिक स्वार्थ का नाम नहीं है। भारत की पारिवारिकता पारिवारिक स्वार्थों का विग्रहमूलक अवलोकन बन गयी होनी परमाय के सम्बन्ध से वह व्युत्पन्न हो गयी होनी तभी उस पारिवारिकता को दृढ़ता पड़ा। परिवार यदि एक स्थापित स्वार्थ का नाम बन जाता है तो समाजवादी भारत अर्थात् सामाजिक स्वार्थ उसे हा देगा। तात्कालिक उत्पत्ति सामाजिक भेद समाजवादी व्यवस्था सोशलिस्टिक पैटर्न आदि नाम लेकर जाती है। परिवार समाज भवन की ईंट न हो बल्कि बाधा हो तो वह कैसे टिकेगा? लेकिन स्न के प्रयोग ने यह भी दिखा दिया है कि इकाई के रूप में सीधे व्यक्ति को लेकर कलेक्टिव के विमोचन से साम्य समाज बनेगा यह प्राप्त करनेवाला है। परिवार की पवित्रता और अर्थपता का स्वीकार फिर नये सिरे से नयी शक्ति की करना पड़ा। अब अगर कहीं परिवार पर शक है तो उस पर अवलम्बन रखने की बात है तो उन कम देश में हो सकते अधिक हैं।

अर्थ परमार्थ से जुड़े

परमार्थ कोई हवाई आदर्श-कोक की चीज नहीं है। उसमें स्वार्थ का साम या नाश नहीं है। उसमें एक ही साम व्यक्ति की व्यक्तित्वता और परिवार की पारिवारिकता को अन्वेषण है। परमार्थ बड़ोसपन से गुण हो जाता है। बस वह इस पदोम पद को लीकने का अन्वेषण कभी नहीं देता है। अर्थ इस परमार्थ से जुड़ वह देगा और उम्पाय होकर ही न रह जाय तो यह प्रतियोगिता का अन्त न रहकर सहयोग का सामन बन जायगा।

यह उपरति चिन्तनीय

आज की उपरति में बहुत निपुणता है बहुत विचलनता है। संदिग्ध हम यौनिक मूल्य की जननमानता है। वहि बहु उपरति मय के ध्यान में प्रीति के मूल्य की अति चार्दना से व्युत् और निष्पन्न बनी रहती है तो सकट सामे बिना नहीं रह सक्ती। और कहना हीमा कि महरों में उठनेवाले बड़-बड़ मजिमी के बं हीन लामोलाय की छाया में कर्मचारिणी कुमारियों को बनावेवाले वे होम्लन और अपमयाने अनविनत में रैस्तर की-भोमा के नहीं बल्कि व्याधि उपाधि के चिह्न है। हरे के बजाय उन पर बिस्तर की आबधमकता ही मक्नी है। अगर साम्य जीवन में उनमें बिनमे हमें हमारा भोजन प्राप्त होना है यह महरा गृहार विषय और बिदुष है तो सचमुच यह नहीं टिकनेवाला है। और उपरति वह जो उन्हें ऊँचा उठाने जाने में बेमुष है, जल्दी मिट्टी में गिरकर धूँ की गानेवाली है। अगर वह गहरी मिटरा जामीन मन के आचार से छूट जाता है। लम्ब उमका नष्ट हो जाता है किफ खोपम में उनकी समता रह जाती है। ऐसे निक्के का गैर बाजीपर के गैर की तरह बहलनेवाला ही सक्ता है टिकनेवाला नहीं।

१०३ परिवार की संस्था में प्रेम की वृत्ति के विज्ञान परिष्कार में चितानी दूर तक सहयोग बिबा? क्या उसने परिवार के नाम पर सामलिक गुणियों अधिक देना नहीं की?

संपत्तिमूलक बिबाह

—परिवार सामाजिकता के महज विज्ञान में हर्ष प्राप्त हुआ। उनका प्रयोजन या हि व्यक्तियों की परम्पर पूर्ण में वह महापक हो। निविन बिबाह जिस माया में लम्ब और सामानिमूलक बनता गया उनी जग में वह गठि भी बनता गया जो व्यापक लम्ब में झुलकर एकरस नहीं हो पाती थी।

बिबाह और प्रेम में अन्तर

प्रेम मूल जीवन-मक्ति को वह मक्ने है। वह उपरतीय बनाने के निग आग को

अपने बुरे में और बीये में सीमित करके रखना पड़ता है। वैसे ही ब्याह भाँति सम्बन्धों में प्रेम को नियोजित करके फलप्रद बनाया जाता है। नियोजन के प्रयोजन को लाँचकर जब ब्याह स्वयं प्रेम से जनन बना बैठता है, तब जीवन-शक्ति का ह्रास होता है। झुंटाए जन्म लेती हैं राग-दोक उपजते हैं और हत्या-मुठ भाँति की जाबरदस्ती बन जाती है।

आज यह बड़ी समस्या है कि ब्याह द्वारा बनी हुई परिवार नामक संस्था को कैसे सारा और सुसारा जाय कि जीवन की द्रुत गति के साथ उसका मेल बना रहे। मेरे मन में सन्देह नहीं कि ब्याह प्रेम से टकरायेगा तो उसकी कृशाल नहीं है, फिर उसका भविष्य नहीं है। प्रकट में ही इस कारण सम्पत्ति-सूखक से उसका अभिष्टान सहयोग-मूलक होता जा रहा है। जुए के दाँव पर जब भी कहीं-कहीं पत्नी को चढ़ा दिया जा सकता है और वह हार-जीत में जा सकती है। लेकिन यह बहुत अन्यायपूर्ण घटना है और समाज के अन्दर से बाहर हो गयी है। जीवन जैसे-जैसे द्रुतता पकड़ता जाता है वैसे ही वैसे आवश्यक होता है कि सावधानी हर व्यक्ति को न हो सारी हो। यह सहानुभूति और सहयोग से ही हो सकता है आईनकानून से नहीं। नियम-कानून के बल से अन्तर्भावना संघटन टिक तो सकता है पति-वैराग नहीं पकड़ सकता है।

### परिवार का योगदान

परिवार का सम्बन्ध में बहुत योगदान है। हम अर्थ में कि उसने व्यक्ति को सहनशीलता, सम्यक् धर्म और परस्परव्यक्तम्बन का पाठ दिया है। आदमी के पास जो चीज़ी निजता है उनके बहुर की बहुत कुछ घुमकर कम किया है। लेकिन उन निजता में ही जो जाने और दूर तक जाने की सम्भावनाएँ हैं उनको भी बन जाने मन्द किया है। पूर्व और पश्चिम की उन्नति में जो हम अन्तर देखते हैं, उनमें बहुत कुछ यह पारिवारिकता भी कारण है। दोनों जगह उन्नति के अन्तर को घायल कृष्ण-संस्था की स्मरण के अन्तर से समझील देना जा सके। लेकिन यह दूमरा प्रसंग है।

१०४ आज की अत्यन्त स्वर्णात्मक समाज-रचना में परिवार का क्या रूप हो कि उसका पूरा उपयोग मानव-मानस करता रहे तक?

### परिवार टार ह

—अत्यन्त और स्वर्णात्मक समाज का जन धीरे-धीरे नीतिमूलक और गहरीपार तक होना पारया। हम बिनाम में बहु परिवार नष्टकर होना जो प्रेम की करने

में बन्द करनेवाला न होकर खोलनेवाला हो। परिवार-संस्था का यही समर्थन हो सकता है। परिवार वह अभिष्टान है जिसके द्वारा व्यक्ति आशान प्रदान में समर्थ होता और इस तरह समाज के प्रति जाग्रत और जनयोगी होता है। परिवार के कारण वह नागरिक बनता है। परिवार द्वारा है जहाँ से वह बाहर समाज में प्रवेश पाये और जहाँ से फिर समाज का प्रवेश उसके व्यपार ही। एकाकी व्यक्ति सामाजिक और नागरिक बनने की आवश्यकता से मुक्त रहता है। वह चाहे तो सम्म-संस्थाही बनापरिच बन जाय नागरिकता के उदय का अवकाश उसके पास नहीं है।

### प्रेम और कलम में विरोध

परिवार का यह महत्त्व और प्रयोजन नष्ट हो जाता है यदि उसका द्वार स्वागत भाव से बाहर समाज के प्रति न खुला रहे। इसीलिए सङ्गृहस्थ का बाह्यमय स्वरूप अतिथि है। 'अतिथिरेवो भव' यह सूत्र सामाजिक की प्रतिष्ठा में ही बन सकता है। आज अमरावतों में छानेवाली कहानियाँ मेहमान को ही सबसे बड़ा दुस्मन बतलाती हैं। हृदय से चलेनेवाली गृहस्थी हो तो अतिथि देवता होता। वही गृहस्थी पैसे के हिसाब से चलेगी तो मेहमान भुमीवत होता या नहीं तो निकार होता। सफ़ाई की और बढ़नेवाले घरानों में मेहमान जाने-जाने निकार होता है। कारण मेहमान में मे निकलनेवाले काम पर ही वहाँ ध्यान रहता है। अतिथि देवता का स्वागत रखे वह कल्पना जिस गृहस्थी में सकार होती है वही है जो उन्नति की पति क माय न केवल निम्नी जा सकती है बल्कि उमरी दिग्ग को भी नहीं रण सकती है। अर्थमूलक और स्वत्वमूलक गृहस्थी पश्चिम में विचार चुकी है। वह समय का साथ नहीं दे पायी और टूट गयी। विवाह से 'अतिथिरेवो भव' वाला गृहस्थाश्रम भी प्राप्त हो नरता है, यह कल्पना परिचय के पास की नहीं। परिवार यह है कि वहाँ के जीवन में बड़ी संकरता है, स्वयं उनके अपने मानों के मुताबिक बड़ा व्यभिचार है। कारण निश्चिन्त विवाह की परम्परा और प्रतिष्ठा मौजूद है साथ ही कलम में प्रेम के मुक्त भाव की भी स्वीकारता है। इस तरह वर्ष और कलम में विरोध दीगता है। इस विराय क बीच गुली ईमानदारी न होकर एक तरह की गुफा-छिपी है और स्वयं वहाँ के समाज के नीति-मानों के अनुसार इसे व्यभिचार बतला पड़ता है।

विवाह की बेबी पर प्रेम हो

गृहस्थी ऐसी हो सकती है, जो व्यक्ति को परस्पर पुनः पताय एवं परत न

बनने दे। परिवार की सामकता ही इसमें है। यह समी हो सकता है जब विवाह की बंदी पर स्वयं प्रेम ही। बेटी पर विवाह को बिठाते और माया करते हैं कि प्रेम पुजारी बनेगा तब उत्सन्न लड़ी होती और संकट पैदा होता है। प्रेम परमेश्वर से मिलता है और वह मनुष्यता की मूल पूँजी है। विवाह अपनी व्यवस्था में मनुष्य में सिरजा है और वह मूलभूत के समुपयोग की विधि का रूप है। विवाह प्रेम को प्रतिष्ठित करने के बजाय जब क्षणित करता है तो वह अपने पाँव पर स्वयं कुम्हाड़ी मारता है।

**परिवार विश्वासमूलक है**

फ्रांसीसी मौरियाक बड़े माने हुए लेखक हैं। यहूदी धार्मिक भाष्यकार हैं। पारिवारिक सम्बन्धों का बड़ा सूक्ष्म और घाह्य विमर्श उनके साहित्य में है। लेकिन मैं हम यह क्या—उनके लेखन में यह देखकर कि मानो कुटुम्ब बहू है जहाँ सबसे एक दूसरे पर पीते हैं मानो एक-दूसरे को खाते हुए पीते हैं। जैसे मूल में वह सम्बन्ध हिंसा का ही प्रेम का न हो। लेकिन उनके विमर्श में असत्यता और अवधारणा भी नहीं है। मेरी उनसे साक्षात् बातें भी हुईं। मेरे इस विस्मृत प्रश्न को उन्होंने अमान्य भी नहीं किया।

तो मेरा कहना है कि परिवार हो सकता है जहाँ सम्बन्धों में हिंसा की जगह सहिष्णुता हो। वह परिवार टिकेगा कारण विवाह और प्रेम के बीच जहाँ टकराव न होना बल्कि सामंजस्य होगा। विवाह और परिवार की यह वारसा सम्पत्तिमूलक व मित्र विश्वासमूलक होगी और दोनों मुक्तिदायक होंगी। ऐसा बहुस्तम्भात्मक होगा जिसमें सामाजिक मोड़ की ओर बढ़ना अनिवार्य और सहज होता चला जायगा। भारतीय मूल्य का आधार बही था। आज तो उसका अपसाप हुआ है। विहम्बना और प्रवचना लड़ी हो गयी है। मूल में अपिचार की वामना न की कर्तव्य-धर्म की वारसा भी। इस बीच बर फिर हम लड़े हो सके तो परिवार सम्बन्ध समाजवाद से जाये समाज धर्म का मुक्त समाज का आधार-स्थम्भ बन सकेगा।

## सिक्का, सन्नति और नीति

### सिक्का

१०५. वर्तमान अर्थ-व्यवस्था की नींव उस दिन पड़ी जिस दिन वस्तु-विनिमय के स्थान पर मनुष्य ने सिक्के को अपनाया। सिक्के ने औद्योगिक ज्ञानि से पूर्ण की कृषि और सामग्री व्यवस्थाओं को तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन को क्या दी-दान दिया ?

! उत्पादन उपयोग से नहीं, राजनीति से जुड़ा

—सिक्का एक में अपने मूल्य का छोक था। चापसी वह बहुत पीछे जाकर बना। रुपये के सिक्के में पहले चाँदी नहीं सोलह जाने की होती थी। उस अवस्था तक सिक्का पदार्थ विनिमय का साधन था। और मानवीय आवश्यकता में उतनी दूर नहीं चला गया था। औद्योगिक विकास ने एक नयी चीज पैदा की और उत्पादन मानवीय आवश्यकताओं से छूट कर इच्छार्थता के विचार से जुड़ गया। इसमें से एक विचित्र चक्र का प्रवर्तन हुआ। उत्पादन की नीति उपयोग में रैन स्वतन्त्र हो गयी और वह राजनीति में जुड़ गयी। परिणाम यह कि अन्न की आवश्यकता का विचार कम-बहुत की आवश्यकता में पीछे पड़ गया। इसका सारी जीवन विधि और मानसिकता पर प्रभाव पड़ा। आज का अर्थ चक्र मानव-नीति में कुछ इतना स्वतन्त्र और विपरीत होकर चले सकता है कि अंगुल लाने का उपाय नहीं है। मुझे जान पड़ता है कि नीति-विचार वही मजल ही सकता है जो राज्य की नीति तक प्रभाव गने अथवा अर्थ चक्र निर्मित रहेगा और मानवता आर्थिक परिस्थिति को छू पा बदल नहीं पायेगी।

### व्यय और विमृष्ट दोनों मिश्र

उपाय-व्यय आरम्भ होने से पहले सिक्के की दक्षिण ममात्र में उतना अवर्ध नहीं कर पायी थी। रैन उनका विनियोग करना था। लेकिन वह ममात्र का एक अवयव

या केन्द्र न था। मनुष्य के भुज-अवयुज परस्पर जुके हो सकते थे एक व्याप्त हिताधी पक्षि जीवन को घसे हुए नहीं थी। महाजन ही बैक था और उसके स्वयं अच्छे-बुरे होने का प्रमाण आस-पास पड़ता था। निर्ब्यक्तिकता कम में नहीं पड़ी थी और सामन्त और विद्वान् आदि अर्धोपायेन में सत्पुण्य नहीं होते थे। उनमें बहिर्-आपार के प्रति बसिक एक अगौरव का साथ रहता था। सामन्त बड़ा दुष्ट को ऊँचा मानता था विद्वान् विद्या को सर्वोपरि समझता था। वैश्यत्व और विमुक्त ये दो बल्य बस्तुएँ थीं और वैसे से एक बड़ी पक्षि समाज को बना पाती थी। वैसा प्रसङ्ग माध्यम और बाह्य होता था और जीवन की सेवा अधिक करता था सेवासन उतना नहीं करता था।

सब सिक्के ने जीवन को सम्पन्न किया

कहा जा सकता है कि सिक्के ने उस काल में जीवन को व्यक्त और सम्पन्न करने का काम किया। कुंठाएँ और वृष्णाएँ पैदा करके इतना विपन्न नहीं किया। उस समय वह मानो साजी था हावी नहीं हो पाया था।

अब भ्रम का सत्य पूँजी में निहित

औद्योगिक उत्पत्ति ने वैसे के चक्रन को बहुत तीव्र कर दिया है। समित में इससे बेहद पक्षि जा गयी है। भ्रम में से सत्यता छठकर जैसे पूँजी में विद्यमान हो गयी है और अर्थनीति राजनीति बन आयी है। राज्य से अर्थ जुड़ गया है और इस कारण पुस्तार्थ जो कि परमार्थ का ही दूसरा नाम था राजकीय और राज नीतिक बन उठा है। इसमें मानवता और पारमात्मिकता की परम हानि हुई है और परमेश्वर का आसन राष्ट्र और राज्य ने लिमा है। पर यह प्रसंगान्तर हो जायदा और उस चर्चा को यहाँ छोड़ा जा सकता है।

करेन्सी सुविधा की चीज थी

१०६. सिक्के का स्वयं कागजी करेन्सी अब से बीटी, तो उसने मानवीय और सामाजिक जीवन में क्या उत्पन्न किया की?

—यों तो विकास के साथ परस्पर विरहास और साथ वा मूल्य बढ़ते जाना चाहिए। सिक्का ठोस पानु से अब मोठ-ठुन्डी ठक भाया, तो हम मानो उस विकास की गिया में उल्टे पड़े। त्रिद्व और साथ ही मानी आज धन है। इसमें जीवन मुगम और बेपवान् हुआ है। मूल्य स्तुतता से मूल्यता तक बढ़ा है। और ये सब विकास के प्रमाण होने चाहिए।

बहु स्वार्थी वासनाओं के हाथों पड़ी  
 अर्थात् अपने-आप में कायबी मिश्रके का बसत मुनीति की बीज है। तन्निम सामाजिक  
 मूल्य जो हमारे नहीं उठ हैं मानसिकता नहीं उन्नत हुई है तो यह कायबी हृष्टी  
 परब की मुक्तिता उम वाचनाओं के हाथ पर गयी है जो परमाणु का नहीं स्वाय  
 का ध्यान रखती है। हिमाच धायण का अरुण यन्त्र बन जाता है तो होय गणित  
 विज्ञान का न होकर लोकमान्य की अमस्कारिता का मानना चाहिए। विज्ञान के  
 अग्नि सम्भावनाएँ हमारे हाथों दे दी हैं। अणुआत्मिक और अनात्मन वागों ही  
 नियाओं में उनका उपयोग हो सकता है। हमारे लोक-जीवन में वे पारमार्थिक  
 मूल्य की जो हानि हो चली और मूल्य स्वयं का आर्थिक और स्वायिक बन गये  
 हममें होय यन्त्र और विज्ञान का नहीं देखा जा सकता। बहुतों काहि कि बौद्धिक  
 विकास मानव के हार्दिक विकास के साथ-साथ नहीं चला बरम् कुछ स्वतन्त्र और  
 निरलोह हो गया। बौद्धिक सम्पन्न उम हाथों में आ पड़ी जिसके हृदय अयोग्यता  
 मुनरहूत नहीं थे। धायर ऐसा ही होता है। दायित्व धीरे-धीरे कमपडा है। धारम्भ  
 में हर लचीलता वाचना के हाथ आकर पड़ती और सहारक होकर प्रकट होती है।  
 विचारकता बाध में उनमें पड़ती है। कन् प्रकट होने के साथ कच्चा और गट्टा  
 होता है। पककर मीठा होने में समय लगता है। अणु-यन्त्र का आविष्कार  
 रचनात्मक समय पाकर होगा। पुरुष में तो सहार करता हुआ ही प्रकट  
 हुआ है।

बड़ी-बड़ी संस्थाएँ अमनों

कायनी बसत के बड़ी-बड़ी संस्थाएँ सम्भव हुई हैं। सबसे प्रमुख तो उनमें स्वयं  
 राज्य है। राज्य विद्यालय के विद्यालय बन रहे हैं और अरुण-तरुण में आये नील  
 पत्र की मन्त्राओं में अज्ञ बन रहे हैं। जली गये दम धन और अमल्य तक प्रति  
 बट्टेन कायपी। उम महा-यन्त्र के विज्ञान के सहारे बिज का अम-ध्याहार आज  
 चल रहा है जिसमें उत्तम दम और की बाउ उम धीर तक पहुँच जाती और आरम्भी  
 पुर दम होने के कुछ बच्चे में उम काने तक पहुँच जाता है। हार्ड-वार्डाले बन रही हैं।  
 हर पड़ी अमल्य प्रकार के मन्त्रेण प्रति-मन्त्रेण दम मूल्य में वे मर्दा-वर्दा बन जा रहे  
 हैं। मन्त्रियाँ और मीने ही रह गई हैं। आये बच्चे में आरम्भी पात्रा के निज दुनिया भर  
 में सब आरम्भक दिवसेमस हो गये हैं। मूखताएँ बट्टेन जाती हैं। पट्ट मर मर्दा  
 ध्याहार उम सिक्के से नहीं चल सकता है जो पात्र की जिह में भारी अक्षय दमा  
 पड़ा है। बल्कि तभी सम्भव हो पाया है, जब वह काय जिज्ञा मूख हो गया है  
 और हिमाच की बिदा की जहाँ उन्नती ही लक्षित और उन्नत हो जाती है। निरन्त्र



कारपोरेशन बैंक कम्बाइन्स फर्म्स इत्यादि संघटनाएँ अग्यवा विकास या नहीं सकती थीं।

पर यह उन्नति श्रृणात्मक है

यह सब उन्नति मानव-जाति के जमा जाते वर्गों की या सकती तो कितनी प्रसन्नता की बात थी। पर अबस्था यह नहीं है। अधिकांश उसका श्रृज लाते क्षिप्तता पड़ता है। हर समय देश की राजधानी का नगर जाज मानो बिस्व का प्रतिबिम्ब हो उठा है। सब वर्गों और देश के मजदूर वहाँ आपको मिल जायेंगे। ये नगर सब सार्वभौम हैं बिस्व-नगर हैं। मानव जाति का यह संगम कितना जानम्बवायक हो सकता था। लेकिन जरा अन्तर कायें तो भाङ्ग्य होता है कि भीतर दाँव पात चल रहे हैं। कूटनीतिक चक्र हैं पक्षपात हैं युष्तचर हैं और इन बड़े नगरों की अधिकांश रोजक इन कूटनीतिकों से बनी हुई है। सब मन की चक्का लगता है। अन्तर यह सब बिस्व-मापरिकता हार्दिक और मुक्त हो सकती। सरकारी के बजाय यह विकसित लोक-जीवन का प्रतिबिम्ब होती तो क्या ही बात थी।

अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास बढ़ेगा

मैं यह मानता हूँ कि अन्तर्राष्ट्रीय मूला के क्षेत्र में परस्पर विश्वास और बढ़ेगा। अन्तर्राष्ट्रीय समय के बजाय सहानुभूति और स्नेह हीगा तो जगत् की अर्थ रचना कुछ भिन्न होगी। मूला विनियोग की प्रणालियाँ बढ़ती हुई होंगी और जाज जो पर स्तर व्यवहार इत होकर भी जगह जगह रज और बिभक्त धीरा पड़ता है वह रोष और बिभाजन बीच में से अनावश्यक हो जायगा। विश्वास और गमित अवस्था इतना समज हो गया है कि वह बिस्व की एकता और बिस्व-मानवता को समझ सक। वह जस सबकी बरम्परता को मुनियोजित और व्यवस्थित रण सकता है। ये प्रणालियाँ बढ़ी आसानी से अब में आ सकती और स्वरूप या सकती हैं, जिनसे जागनिक व्यवहार सुवम और सरल हो जाये। मूला इतनी प्रबलमान बन सकती हैं कि सीधे हर व्यक्ति से उसका सम्बन्ध जुड जाय और किमीको राग्य प्राची होने की आवश्यकता न बड़े पुरुष परम्पर की प्रीति और पुरुषार्थ आपन के माज ही माना मूला से मज्जत हो जाय। जाज की राजनीय मूला में यह सामर्थ्य नहीं है। उसकी सामर्थ्य केरु न चलती और नहीं बिमुना प्रभुता का धाव दिये रहती है यही तरु कि परिधि पर रहनेवाला जनसामान्य अपने को सर्वथा अनमर्थ और अमहाम अनुभव कर आता है। मूला न थम और पुरुषाय में इतर राजनीय-अर्थ में आ टिचने न उसकी सार्वभौम क्षमता में यह चुटि रह गयी है। यह क्षमता उत्तम

आ सकती है। अगर हमारा समाज विमान और नीति ज्ञान उभ आधिपत्य तब हमें के आये जहाँ सिक्का धर्म में और इस तरह जन में जुड़ जाता है।

## सिक्का जन से जुड़े

हो सकता है कि सिक्का न जन में जुड़ने की प्रक्रिया इनकी मौलिक है। कि वर्तमान समय का आधार ही हमारे दिग आये और इस समय के सोच को ही मिलता पड़ जाय। लेकिन आगे करनी चाहिए कि यह आमूल उन्मुखन जल्दी न होगी और महज विकास के द्वारा हम अपनी अन्तराष्ट्रीयता को उनकी राज्य-रचना और अर्थ-रचना को, मानवीय सुन्दर में परिपठ कर सकेंगे। तब राष्ट्र परस्पर में सुरक्षा न बचाव परस्पर में पूरकता लायेंगे और हमारी करेनी तदनुकूल एकी कृत सुख और सहायक होगी। आज की मुद्रा प्रणाली देशों की परस्पर सुरक्षा की सुविधा के लिए है। जब वह आवश्यकता निर्जीव हो जायगी तो मुद्रा प्रणाली को ही नया संस्कार मिलेगा और वह अर्थ रचना धनी धनी प्रकट होगी जो परमार्थ से युक्त होगी और मानवता की अग्रगण्य मानेगी और बनायेगी।

## बेकारी, निर्धनता

१७७. उत्पन्न व्यापार और विनिमय के सर्वोत्कृष्ट लाभों के वर्तमान एहते भी बेकारी, निर्धनता और अविद्यास की समस्या क्यों संसार के सामने निरन्तर उपस्थित है? जितना भी विकास होता है मानो समस्या बढ़ती ही जाती है। इसका आस क्या कारण मानते हैं?

## सूखा बाढ़ का ज्ञान

—एक बात बहुत बुरा तो न मानोले? प्रश्न तुम्हारे कुछ लगे ही रहे हैं कि मुझे ज्ञान मांगते हैं। वह मेरे पास है नहीं जोई। ज्ञान भी सामान है जो बनेर जाता है जैसे बरखा हो जो जोड़ा जाता है। वह परिच्छेद है। कम-से-कम मुझे उसकी नहीं उसमें छत्ती की चाह रहती है। मुझे लगता है जब बीज को सुख कारण-कारों की कड़ी में बीटा देना चाहते हो। बाढ़ हो में बाढ़ की प्रक्रिया को सुगुणित तुम्हारे सामने देन कर ई। एक एक में मैं उस काम में इनकार करना चाहता हूँ। कारण यह नहीं कि मैं मानता हूँ कि कोई दा घटना ज्ञान में गपन सम्बन्ध में बाध नहीं है। बल्कि इसलिए कि जिसको को ज्ञान करना न ज्ञ को जानना ही जाना है। मेरे लिए प्राथमिक यज्ञ है अपना उभ रम्पी का रहन देना। काम करना जो काम जिसको के रूप में बिगड़ने को राजी नहीं है। विनियम के अनुसार

रहना चाहिए। उसकी सीमा वहीं आ जाती है जहाँ उससे संक्षिप्त दर्शन बुझने-बिखरने लगता है। आनन्द के साथ ही होता है कि मुझा काठ हो जाता है। आनन्द के लिए वही अनुमति नहीं है। विज्ञान की बात दूसरी है।

मेरा ब्राह्मण-रूप भव्य बने

अब तुम्हारी बात छे। ब्राह्मण रूप बीसा तो यह कमरा नहीं है जहाँ तुम बैठो। लेकिन कल्पना करो मैं हस्तिना का बादमी हूँ और यह ब्राह्मण-रूप ही है। अब उत्पादन वितरण और विनिमय की अत्याधुनिक मुद्रिका से यही तो होना कि इस मेरे ब्राह्मण रूप में अमरीकी अमरीका के साथ से बड़िया-से-बड़िया और बुरा सूरत से लूबसूरत चीज आसानी से आ जायगी और सब जायगी। उस सबसे यह जरूरी कैसे बनता है कि मेरा पड़ोसी मुझा और बेकार न रहे। ब्राह्मण-रूप भव्य हो सम्पन्न बनता आ सकता है और सम्पत्ति के विकास का सोचा विचार हो सकता है। लेकिन ब्राह्मण-रूप की सोचा चीज को और दूरि कमठे जाने से कैसे रोक सकती है? अधिक-से-अधिक यही हो सकता है कि वह ब्राह्मण-रूप अपनी भी-योमा की सम्पत्ति लेकर ईश्वर और वास्तव्य का उपासक और वर्ण्य बने और इस राह स्वयं में विह्वलना और अविशेष बन जाय।

एक विवक्षता

परिस्थिति ऐसी है कि मेरे पास दस-बीस लाख रुपया बड़ी आसानी से फासलू पड़ा हो सकता है तो कोई बड़ह नहीं कि मैं उस रुपये से अपने आस-पास बड़िया से-बड़िया मान न जुटाऊँ, या प्रेयसी के लिए बैराकीमरी मेंट न खरीदूँ। यह विवक्षता कि मैं बीमा न करूँ अपने आस-पास अभावग्रस्तों में उस पन को पहुँचा दूँ आदिर कहीं से आ सकती है? क्या वह राग्य व अवस्था कानून से आ सकती है? कानून रुपये की बीजसी कर सकता है और उसे राग्य चीज भी सकता है। लेकिन मुझमें पड़ोसी के नाम अपने को बाँटने की प्रेरणा कैसे बात मचना है?

मन की वृत्ति

अर्थात् आर्थिक क्रिमी कार्यक्रम और विकास का उत्पादन वितरण-विनिमय-उपकरण की किसी प्रकार की उन्नति का सम्बन्ध सीधा उन मुगीबनों से नहीं है, जिनमें दोन-दूरि कैसे हुए हैं। मन की वृत्ति मेरी अपनी ही और है तो बन्धु-गन मुद्रि पाशों के साथ मैं यही कर सकता हूँ कि उन्हें अपनी आर गीर्ब और अपने पान जुटाऊँ। इनच इनमें मुझमें हीजियार और प्रवीण निरुत्थता है तो सक्रमारा

देखता हूँ कि हाथ सब मुनिया उधर चली गयी है, मैं ठगा रह गया हूँ। हाथ में भूखा हूँ और बेहाल हूँ।

### स्पर्धात्मक सम्बन्ध

स्पर्धात्मक सम्बन्धों पर जब तक हम लड़ते हैं तब तक मरी सत्यि नहीं रहेगी जिसमें हमारे की बचनति है। मेरा उठना इसी बात पर होगा कि हमारे को गिरना हो। सम्पूर्ण देश सम्पूर्ण नहीं हो सकते जब तक मशी बनने के लिए वे विपन्न देशों को न पायें। उत्पादन मान खींचिये कि मूब ही बढ़ता जाता है। एक मिमट में दुनिया में बितने बच्चे बढ़ते हैं उससे खाया मोटरें बढ़ जाती हैं। तो हिंसक बतलायेगा कि जीवनमान भी मानव जाति का बस खूब उठ जानेवाला है। कारण जनसंख्या में मोटर मस्या बढ़ गयी है। लेकिन आज भी दुनिया में जितनी मोटरें बन रही हैं उनके आंकड़ें ल ता विस्मय होना। लेकिन मोटर से मानवार्थी प्रुतता बपकता बेग कितनी के जीवन का प्राप्त हो रहा है? और भी मोटरें गुगा गुगुनिठ होती जायें तो उनसे अपने-आप में भूख और अभाव भिट आयेंगे यह मानना बढ़ी भारी प्राति है।

### पदार्थ और मन

अन्त में प्रश्न पदार्थ और मन कसही सम्बन्ध पर आकर टिकनेवाला है। इन सम्बन्ध से ध्यान को हटाकर पदार्थ क परिमाण पर ही उसे केन्द्रित कर देने से मालूम होना है, मन वहींरा वहीं रह जाता है। सम्पन्नता बढ़ती बबरप है, लेकिन उसी माना में दूसरी और विपन्नता को बढ़ा जाती है।

### मानव-नीति

बहु दृष्टि से कहती है कि पहल मक्की अकरत सामक बाल बना लो बम फिर सबसे बराबर बोटिंग का नाम ही रह जायगा बोरी हिमारी नाबिठ होती है। पर मैं हम क्या करते हैं? मेहमान आता है, ता जितना है चाय बोट लेते हैं। घर के दरवाजे पर नाटिम नही लगाते कि अतिरिक्त की सीपारी की जा रही है। आर सपना से बचिक लो जान तब तक मेहमान हूपया मन्नीप रने। एता करना गुरुत्व-नीति नही है मानव-नीति नही है बोई की नीति नही है। बस्कि बाइनी मृत्यु बट है ओ मेहमान को मुग देन में स्वयं कष्ट पाकर इनायत का अनुभव करना है।

उत्पादन आर्ति की योजनाओं में इन मानव-नीति और नीति का प्रवेश न होना,

तो आँकड़ों बेहद आकर्षक और सही होने पर भी मानव-समस्याओं का निपटारा न होया न होया।

### कम में सुख पाने की वृत्ति

कम में भी सुख पाया जा सकता है। इस अनुभव को स्वीकृत और सुलभ बनाना होया। अर्थात् वह मनोवृत्ति पैदा करनी होगी जहाँ व्यक्ति स्वयंसे से सामान कम करने में आनन्द पावे। आज तो वह वृत्ति दुर्लभ बन गयी है। मालूम होता है, सुख का सामान के साथ सीधा सम्बन्ध हो गया है। तब क्या कारण रहता है कि हर कोई घन को अपनी ओर न खींचना चाहे? और अगर प्रवाह यही हुआ तो सबसे सुमीचे की अनह बैठा हुआ घासक-बर्ब फिर क्यों न अपने स्वाम का काम उठावेगा? इस तरह सारे समाज में एक तनाव पैदा होता है। आपाधापी बढ़ती है। और मात्र कितना भी अधिक हो मानो कूट-सचोट के लिए वह उतना ही कम होता है। मन और मांस के सम्बन्ध को जब तक स्वच्छ और स्वस्थ नहीं बनाया जायगा, तब तक मांस की बढ़ाती मन के मेल को बढ़ावेवासी भी हो सकती है। यही उस अन्तर्बिरोध के मूल में है जिस पर आपका प्रश्न जाकर टकराता है।

### साम्यवादी देशों में गरीबी, बेकारी

१९८८ साम्यवाद ने जो स्वर्णात्मक मानसिकता की समाप्ति कर परिष्कृत का सन्-विस्तार किया, उससे क्या साम्यवादी देशों में गरीबी और बेकारी का समूलोन्मूलन हो पाया? क्या आज इस साम्यवादी अर्थ-प्रक्रिया में सम्पुष्ट है?

### असन-बसम की सुबिधा

—समूलोन्मूलन उन देशों में विषमता की जड़ों का हटो सका है, ऐसा नहीं है। अपिच्छ-रिबी का भी कल्प मने नहीं देता है। स्थिति पहले से सैमली अवस्थ है। असन-बसम की प्राथमिक आवश्यकताओं के बारे में सचमुच अधिक सुरक्षा प्राप्त हो गयी है और अभाव मिटा है। साम्यवाद की इस क्षमता में से ही उनकी सफलता निकली है और वह आज का सबसे व्यापक दाव बन गया दीक्षता है।

### सम की प्रचुरता मिले

वह हम प्रथ से बता कि जिसके पास अधिक और अतिरिक्त है वह अनुचित ही नहीं अधिक अमपिष्ट है और कानूनन छिन जाना चाहिए। छिनकर वह उनमें बँट जायगा, जिसने पास सम है और अभाव है। सम के पान अभाव रहे और अमहीन के शत्रु

प्रचुरता हो जाय वह अन्याय जिस हथकंड और पाइपन् के बल पर सदिया से होता आता आया वह ईदगारवाद धर्मवाद नीतिवाद का जो मत्ताभोगियों ने अपने स्वार्थ-साधन के निमित्त जसग में रखा हुआ था।

## शोषक श्रेणियों गिरें

उन शोषक श्रेणियों को गिराकर बहुसंख्यक शोषित समाज अपने को मुक्त करे और अपने कामकाज स्वयं हाथ में लेकर संसार के लो मही इतिहास का इन्त है। आरम्भ में राज्य जैसे एक नियन्त्रक केन्द्र की आवश्यकता होगी कि धीरे-धीरे मनुष्य का मानव इतना सामाजिक बन जाएगा कि नियन्त्रक मस्या बीच में स्वयं ही मुरझाकर समाप्त हो जायगी।

## आत्म रक्षा की समस्या

यह बात मुग्धवस्तुता है। उन्हें की भुक्ति न थी। केवल साम्यवादी दान्ति के इन में घटते ही प्रश्न बन आया कि वह राष्ट्रीय रूप में रह और गयी जाय या सार्व-भौम हुए बिना दान्ति का राष्ट्रीय रूप भी टिक नहीं सकेगा। चारा बार की पूंजी वाली व्यवस्था की परिस्थिति के दबाव के नीचे साम्यवादी अर्थ-रचना बड़ी व्यथना में अपने पैरों गाढ़े होने की कष्टा में लगी है। इसमें उसे बड़ा झुटना पड़ रहा है और लगातार मुरझा के प्रश्न को सबसे प्राथमिक और जीवन-मरण का प्रश्न मान कर उसी पर सबसे अधिक ध्यान देना पड़ रहा है। इस अर्थ-व्यवस्था में सामरिक और नागरिक मुविधार्य सैन्य और सैनिक आरक्षणताओं में प्रथम बनने का अवसर नहीं पा सकी। यह दबाव साम्यवादी देशों में स्पष्ट देगा जा भरना है। उनमें नीचे बहों की जनता को उद्यत समझ और एक आवेग में मना सनक बन रहना आवश्यक होता है। इन परिस्थितियों में प्राथमिक अभावों में जा मुरझा उन सामान्य की मिथनी भी है उनका मृत्यु बायी कम हो जाता है।

## छोटेनेवालों का अक्रुश

लेकिन मेरे मन में एक दूसरा सवाल भी उठता है। अनिश्चित और अनुशासित मन का बागुनन छोड़कर अनगणना में बांट देने की बात तो श्रिय और न्याय नहीं है। सैनिक बागुन के ओर में वह छोटेने का काम करनेवाली जमान के लिए भी क्या कुछ बहुत है? राज्य अपिरात है तो राज्य-धर्म में परि म और प्रभाव हो तो क्या हो? ईश्वर-धर्म-नीति का महत्त्व तो मृत्यु में फिर पुन होना है उस सैनिक को धर्म करनेवाली सरसा समाज में रह नहीं जानी। जब एक गार्मि

और मंच सब राज्याधीन और अनुगामी बन जाते हैं। तो यह क्या है जो चीन-बाकों (विस्पोजेस्वर्ज) को सीमा में (विस्पोजेस्व) रहे ?

स्टालिन का जो रूप पीछे प्रकट किया गया उससे जान पड़ता है कि विस्पोजेस्व का यह कार्यक्रम सत्ता के उत्पन्न को मजबूती से एक हाथ में केन्द्रित किये रहने के आधार पर ही चला सका था। ये, अर्थात् नियन्त्रण करनेवाले राजकीय उत्पन्न भुरगाने और समाज में उत्तरोत्तर अन्तर्भूत होने में तो नहीं आये। बल्कि उनके स्वयं में पीन-पुष्ट और समाज पर भारी बनते जाने की बीमारी बढ़ती ही चली गयी।

**नयी समस्याओं को जन्म मिला**

हमारे घट्टों में भूस और बेकारी के सवाल को एक हद तक हल करने के सम्मोपाय में से साम्यवाद ने नयी तरह की समस्याओं को जन्म दे दिया है। ये समस्याएँ कम विषम नहीं बीततीं। साम्राज्यवाद की आवश्यकता तो पहले के राष्ट्रवाद की रही हो लेकिन साम्यवाद को भी भाझूम होता है कि एक नये प्रकार के विस्तार-वाद की आवश्यकता रखती ही है। मानव-जाति के लिए यह विस्तारवादी अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद कुछ अधिक आस्वाशन का निधित्त नहीं बन रहा है।

**उन्मूलन समूल नहीं**

इसलिए मुझे इसमें शन्देह है कि बहूँ बीघनेवाला उन्मूलन समूल है या वह सामाजिक सन्दर्भ में उन्मूलन भी है। साम्यवादी कान्ति राजनीतिक और तात्त्विक क्रान्ति से माने और यहूरी कोई मानसिक कान्ति मुख्य कान्ति, भी है वह देखने की बात रह जाती है। आगामी इतिहास में से यह निज या अतिज होना आयगा। ●



## अर्थ-क्षेत्र में मूल्यों का सकट

### देशों में सहयोग

१०९ मात्र बिना के सामने अधिक दुष्टि है वो ही प्रश्न है । विभिन्न देशों के सामने बिना को कायम रखने का प्रश्न, २ अविच्छिन्न देशों के सामने बिना को पकड़ने का प्रश्न । इस समस्याओं के समाधान के लिए विभिन्न-विच्छिन्न देशों के वार्षिक सहयोग एवं सहजता का जो अंशमान स्वरूप है, क्या आप उससे मनुष्य हैं ?

### देश में वो तात्पर्य सरकार और जनता

—प्रश्न में एक शक्ति है । उसको स्पष्ट करने बिना बचना नहीं होना । प्रश्न का देश क्या है ? देश का मतलब सरकार हुआ करता है । सरकार एक बन्ध है, गूठ है और उसका अपना स्वार्थ भी है । इन तरह दो देशों के स्वार्थों में पृथक्ता ही नहीं होती बिना और बिरोध भी हुआ करता है ।

देश का दूसरा भाग्य वह जन-साधारण है जो समूह भू-नीमा में रहता है । माटी दुनिया पर वह जनता छिपी हुई होती हुई है । मैं मानता हूँ कि इस तमाम मानव जाति का स्वार्थ अलग है । वह अलग स्वार्थ ही परमाण्व है । इस तरह मूल स्वार्थ सब देशों का एक और अविरोधी ही जाता है । सरकारी स्वार्थ इन देशों का परस्पर बिरोधी हो तो हमसे अमहोली क्या बात है ?

राजनीतिक दुष्टि देशों को लोगों को मानव शक्ति और मानव-जनता को सरकारों के हाथ समझने-बुझती है । नहीं हमारे व्यापक व्यवहार की पड़ती है । जमी पड़ने पर कहा जानेवाला अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार बनता है ।

### मूल मानवीय दुष्टि

यह मानकर भी कि कोई और बरिदाती जगह-व्यारी व्यवहार-व्यपार के लिए हमारे पास मुक्त नहीं है दुष्टि एक अवयव मूल-मानवीय हो सकती है और उस नीतिक व्यवहार को भी उसके अनुसार और अपनी बनाने का बाधक लगा या बनता



है। यह दृष्टि सरकारी लग्न को अमुक भू-लग्नवासियों के हित और स्वार्थ के प्रति निधि के रूप में स्वीकार करेगी लेकिन उन उन देशों की अर्थ और विदेश-नीति को यह जनता के मूल-हित से अविरोधी रहेगी।

### विकसित, अर्धविकसित, अविकसित

अब कुछ देश विकसित पाये जाते हैं कुछ अर्ध-विकसित कुछ अविकसित। ठीक यही हाल मेरे कुटुम्ब में देखा जा सकता है। तीन बरस की मास्तिन है जिसे अविकसित कहिये सत्रह वर्ष की कन्या अर्ध विकसित तीस वर्ष का पुत्र विकसित और मैं पचपन स अरब और पार जान पर विप्लव। इस कुटुम्ब में परस्पर यह सरवमता मिलती है, तो क्या बापस में कुछ अमीरी-गरीबी भी पैदा होती है? कर्मचार और साहुकार बनता है? धान्य अन्न-अन्न जगह और अन्न-अन्न घरों में भी रहते हैं। रहन-सहन की विधि और स्तर में भी अन्तर होता होगा। लेकिन पुत्र के पास मूट हो तो क्या मुझे अपने बोली-पुर्त में आपत्ति होती है या मूट में उसे गर्व होता है? या हमारे बीच विषमता होती है?

### अर्थ-रचना का मानवीय आरम्भ

मुझे लगता है कि अर्थ रचना का मानवीय आरम्भ ही सचता है। उस आरम्भ के साथ हम देखें कि हमारी मूल आवश्यकताओं की उत्पादन विधि में बिभेन्नता या स्वावसन्धी भाव आ गया है। आज पीछे के बल पर अरब में सप्त सम्मर पार है मकरन पीटी बिस्फुट पीम नैण्ड मूट्स बनीरह पर बड़ आराम और ठाट स रह जेता हूँ तो सम्मर ही लगता है कि अर्थ विचार के मानवीय आरम्भ के बाद यह तरीका मुझे अर्थ और आहम्बर-अरा जान पड़। सम्मर है वह पान-गड़ोग के घाय मिल-बुल कर मरे घान पीने पहनने आदि का काम जमे और बही अविन प्रिय भी मानूम पड़े।

हमारे यहाँ सोने का भाव एक सी वालीन है बही सारा हांगवान में पचास में मिल रहा है। अभी मर्ग में मकब पाँच हजार में मोन्-माही मिल रही थी जो रिस्मी में तेरह हजार में नम स हाथ नहीं जाती। जिन दिना भारत में अकाल न लागों टपाटा मर रहे थे मुता मया कि अमीरों में आज ममम में फेंटा गया था। यह सब हम बारब नहीं रि जागम में बुरी है यालायन के साथम नहीं है यदि। नहीं बिमान में बुरी दूर कर दी है और सब साधन गह्य कर दिने हैं। लेकिन फिर जो यह तमारा चम्पा है, भी हम चाम्प कि हम मीम मरवारो में चलने हैं अर्थ-नीति उत्पादन-नीति व्यापार-नीति मरवार-नीति न चम्पा करती है।

## अर्थनीति की पाशविकता

हर देश के लिए निर्वाण को आयात से बढ़ाए रखना जरूरी है। अल्पसंख्यक देशों को भी माना जायदा। इस नीति पर चलने से युद्ध की परिस्थिति सहा बनी और बननी रहनबाकी है। कभी बट नहीं मक्ती। अभाव हुआ तो सब वही अपनी मक्ती बना के प्रयत्न में दीहें और भरे-भरेंगे। निर्वाण सबका बड़ा है। भास सबको गराता है। लपन व मिहान स तो बारगानों की उपज ही नहीं आनी है। काम के मिहान से उपज पकरी जाती और अपने-आप बहनी है। उस भास की नहीं तो के आकर बेब हासना है। नहीं तो उपज का पत्र ही इपर फाकन और बहार हो जायदा। अर्थान् यन्त्रोपयोग अभाव क्षेत्र के मानव के विकास में दिक्कतमी नहीं रात मक्ता है। उसकी दिक्कतमी मक्ती में है। इस नाते बिबमिन अर्थ-बिबमित और बिबमित देशों का आपसी सम्बन्ध आता पाशविक बानी राजनीतिक बानीनिक और कन गोपय-नीतिक बना रहता है। एकिन का आकर्ष इस परिस्थिति में से उत्पन्न हुना है और बिनी स्वस पर लुनिक स्थिति भग हुआ कि वही अन्तर्राष्ट्रीय मक्ती की घटाएँ उमड़ कर फिर आनी हैं।

## जीवन-स्तर का सब-सोह

अबिबमित देश अपने पर अरिबन होने स्थानि मानन और हीन आचारन बनन है। तो सामर हमना कि सम्मना के सम्मके में उन्हें यह बनाया है। जीवन-स्तर का उठने का एक सब-सोह सम्मता न वेसा कर दिया है। गुरु सम्म है इस पंजाब का- पहली आबम्बता है कि यह भापा बाल दूटे। कनों माहब महन में रहने में मैं मैं न रहूंगा कुछ ऊँचा हो जाऊंगा? या भिर्फ स पड़ी में रहने में नीचा हो जाऊंगा? आदमों को आदमियन से छोड़कर हैमियन से ओग कि आदमियन पनी और हैमियन के नाम पर बाकी मत्र किबुन्निना की बीमन बनी। इस बहनी हुई सम्मता की बीमन के बल पर सम्मता का व्यापार फन रहा और मुनीबन कीन रहा है। सम्म है यह देश जो बिबमित माने जाते हैं। लबिन अब दबट होना कि व सम्मता सम्मता की ही नहीं। बिबि सामर सम्मता की तो आत्र का दुटिमन अर्थान् मक्तामान ही बचन आदता। तब क्या सम्मता कि रिपता ही बसा दीन जाय।

## अन को गुणों से प्रेरित नीति

का देना जाता है सब की? छोटे और अबिबमित देश आरम में पिन्तर लान् मक्ता सामर में अब दबटते जा रहा है। अबर नहीं है कि रिब-स्थिति का मक्ता बान् अनीन-गनिया की आर मक्ता हुआ रिगन है। मक्ता मक्ता बान् रि

सब कार्यवाहियों के बाबजूद जन को जन से ऊपर आना ही है सत्ता के भी ऊपर आना है। अर्थात् केवल जन की संस्था के, जन-ता के परिमाण (क्वांटिटी) से बचनेवासी नीति सरकारी बना करनी है। नहीं जन के गुण (क्वालिटी) से बचनेवासी नीति होगी जिससे प्रतिष्ठा जन-जन को और मानव-मानों को मिलेगी। तभी शान्ति-मुख-सहयोग पुंवान से आये देशों के आपसी सम्बन्धों में स्थान पायेगे।

### धर्म-नैतिक अर्थ-रचना

अर्थ की बारम्बार हमारी बेइज्जत बनी हुई है। अर्थशास्त्र की बुनियाद में यह मान्यता है कि इन्सान स्वार्थी है। परमार्थ के अंश को कोई कल्पना ही उस शास्त्र के पास नहीं है। मुझे समता है उस नींव पर खड़ा अर्थशास्त्र अपना खेल देख चुका। समय समय आया है कि वह समाया समेटे और अपनी छूटान उठा ले जाय। उठाकर कहाँ ले जाय ? नहीं माछ को कहाँ के जाना नहीं है, उसकी तो माँय है। लेकिन छूटानवासी की दिमाग में से उठा ले। सब विकास एक दायित्व हो जायदा और अधिकतम समझे जानेवाले देशों के प्रति विकास प्राप्ति में जो होया वह लोग नहीं कर्तव्य का भाव होगा। मेरा मानना है कि मनुष्य की गहराई में पड़े इस धर्मनैतिक भाव की बुनियाद पर नयी अर्थ रचना का आरम्भ हो सकता है और पाषाण की प्रयत्न उसीका मूलपाठ था।

### सरकारी मनोवृत्ति से मुक्त सहायता

११०-तब क्या आपका कहना है कि जब अमरीका जो अरबों की सहायता अधिकतम अर्थव्यवस्था देशों को दे रहे हैं, वह बिजबाउट स्टिगम नहीं हैं ? —वह ही नहीं सकता कि जगह वाली हो और बापु भरने उसे न दीं। इसलिए यह अरबों-उरबों की मानी जानेवाली सहायता प्राकृतिक नियमों में ही अनिवार्य है। उस दृष्टि से वह आवश्यक और उचित भी है। लेकिन जो निवारणीय है, और इसलिए जो अनुचित भी है वह है स्टिगम पीछे हाथ में रखने की वृत्ति। जम रीता और रुझ की ओर से मैं कुछ नहीं कह सकता। लेकिन उनके मनोभाव चाहने पर भी गूढ़ नहीं हो सकते। गूढ़ नहीं हो सकते इसलिए कि सहायता सीपी जनता में नहीं आ रही है, सरकार से आ रही है। देश की सीमाओं को पार करती हुई जनता में जानेवाली सहायता के उदाहरण हाल के इतिहास में भी कम नहीं हैं। मूषात ने आकर नहीं प्रलय उपस्थित कर दिया है, भयंकर बाढ़ आ गयी है, या महाविषमण्ड अभिवाह हो गये हैं या कोई दूधरा प्राकृतिक बौन उपस्थित हुआ

है तो सब ओर से सहायता वह निश्चयी है। इसमें सिद्धि नहीं कोई नहीं रहे। प्रीति सहानुभूति का संकेत ही काम करता रहा है। लेकिन ठीक यही है, जो सरकार के लिए सम्भव नहीं है। कम की आधुनिक सरकार ही सच होती है। अमरीका की समारोहिक हो सकती है पर सरकारी मनोवृत्ति से दोनों स्वतन्त्र न पानी जाये तो दोष किसे दिया जाय? दोष सिस्टम में सम्पत्ति के धरीर में ही है ऐसा मैं मानता हूँ।

**दोनों को प्रभाव-क्षेत्र चाहिए**

१११ जहाँ कुछ आर्थिक सहायता का प्रश्न है, क्या वस्तु और अमरीका की मनो-वृत्तियों में कुछ अन्तर भाव पाते हैं? इसमें कितनी दृष्टि कम कूटनीतिक और अधिक मानवीय है?

—अन्तर पाना और समझ जाना मेरे मन और क्षेत्र का नहीं है। सरकार की दृष्टि में कम अधिक केन्द्रित और नियमित है। अमरीकन के भाव बलनवाला भाव और यदि हम कारण वहाँ कुछ बिदेय हो, तो मुझे विस्मय न होना। लेकिन कम के पक्ष में एक विचलता मैं अवश्य देखता हूँ। वह ब्रिटिश परिपाटी की कूटनीति और राजनीति की लौक पर नहीं है। उसने प्रगति की है और कूटनीतिक राज में नयी पारम्पर्य भी बानी है। स्टामिन भी के सुरक्षित मूल्य है। सुरक्षित के व्यवहार में मानो कूटनीति आसमान से बरती पर और बरबार से पर-बार में आ गयी है। कम के व्यवहार का रंग-रूप गुत्ता है और मानव्य से भरपूर है। वहाँ की महायुद्ध एसी कम मानव्य हीती है कि ऊपर से आ रही है। मानो वह बरबार में मानी है। लेकिन यह अन्तर धीर-नरीके का है। मूल में मूल लाना है कि दोनों की अर्थ-क्षेत्रों में प्रभाव-क्षेत्र की आवश्यकता है। दोनों को समस्त राष्ट्र-क्षेत्र में वेचन रख ही नहीं चाहिए, बल्कि जन-आपन का बल भी चाहिए। उन्निवेश बाद साम्राज्यवाद विचारवादी प्रभाव-क्षेत्रवाद इत्यादि एक ही विषय की आवश्यकता है उनके धोषक नहीं है। आवश्यकता यदि धर्म भाव की है तो वे सभी राष्ट्र अन्तर्गत भाव के धोषक हैं।

**क्या परमाणु-नैति अ-व्यावहारिक है?**

११२ आरने अपनी अवनीति को जिन धर्म पर आपत किया है क्या वह अव्यावहारिक नहीं है? धर्म क्षेत्र में जोते ही सम्भव हो, पर अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में स्वार्थ के संकेत की कितने परिवर्तित दिया जा सकता है? मेरी समझ में ईसा होना अवसर है।

नहीं, वह व्यावहारिक

—नहीं व्यावहारिक में नहीं मान सकता। तुम स्वयं घर में उस व्यावहारिक देखते हो। तिरुट्ट इतना है कि घर से बाहर व्यावहारिक वह कैसे बने ? अगर हम यह मानते होते कि जो नीति घर में चलती है, वह घर तक ही बन्द रहने के लिए है, तो हमारा विकास रुक गया होता। विकास का अर्थ ही यह है कि हमारा स्वभाव बढ़े और इतना हो कि ससार हमारे लिए घर हो जाय। जाने-अनजाने हम उस तरह गति करते ही जा रहे हैं। ज्ञान-विज्ञान इसमें हमारी मदद कर रहे है। विश्व-मानव और विश्व-कुटुम्ब आज काव्य का घर नहीं है, बल्कि व्यावहारिक बन गया है। विश्व-नगर तो इस समय भी कदम माने जा सकते हैं क्योंकि वहाँ विश्वभर के देशों ने लोग रहते-सहते बंध जा सकते हैं।

**छोपन एक ठोस वास्तविकता**

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अर्थनीति में जो आज स्वार्थ और छोपन का भाव होता जाता है वह मेरी भावना या किसीकी कविता या तीमरे के उपदेश से छुमंतर ही आया। इन्ध और मुद्रा द्वारा होनेवाला छोपन एक ठोस वास्तविकता है और उसका मुकाबला केवल भावना से नहीं किया जा सकता। इसीसे कवि आदर्शवादी उपदेशक आदि लोगों की जमल होती रही और अपना चमचा बसाती रही इतने से बिछेप अन्तर नहीं आया।

**अर्थ समूह राजनीति से जुड़ा**

ऊपर जो कहा उसका आशय अर्थ छोपन की बुराई की कस दिलाकर बताने का विचार नहीं था। सिद्धि यह स्वीकार कर लेना हीगा कि अर्थ-नीति अन्तर घर्मे नीति से भिन्नकर नहीं चलेगी तो अच्छा अर्थ सिद्ध नहीं होता अनर्थ ही होता रहेगा। इसका तात्पर्य यह कि वह अर्थ-दृष्टि बहुत अन्धी अपर्याप्त और अपयार्थ बन गयी। आज भी उन दृष्टि की बदलावों का प्रयत्न हो चला है जो अर्थ से विभिन्नय का ही काम नहीं लेती बल्कि बिमुता और प्रभाव विस्तार का काम लेती है। आज अर्थ-दृष्टि पूरी हुई है राजनीति में। हमने अर्थ जननकारी बन रहा है। यह विमुक्त भाव इस बल्कि अभिप्राय है कि वह अर्थनीति राजनीति के बजाय अर्थनीति से जुड़। आज का व्यापारी राज-मत्ता की ओर देगता है और वहाँ से बचा-आम रत्ता है। पहले का व्यापारी लोक-मत्ता में रक्ता और उसका प्रार्थी होता था। वह लोकनीति के माप रत्न की आशय था। उसे अपने व्यवहार में धार्मिक होता ही रहता था। महारज और राज यह दोनों एक थे। प्रामाणिकता में हटना या गिरना उसका

अपने मन की बात न थी क्योंकि उसका अधिष्ठान लोकनीति में होता था। लेकिन जब अर्थ का योग राजनीति से हो चला स्टेट ट्रेडिन्ग में दिलचस्पी लेने लगी सरकार ने अपना कारोबार बढ़ाना और फैलाना शुरू किया तो राजनीति कम-नीति से हटकर स्वयं प्रतिष्ठ मूल्य बन गयी। राजसत्ता सर्वोपरि सत्ता हो गयी। तो लोक-मूल्य भी गुणों से हटकर द्रव्य पर आ गया और अर्थ परमार्थ से हटकर समूह-स्वाय स आ गया।

**द्रव्य और द्रोह मूल्य न माने जायें**

कारमीयता और पारिवारिकता की सत्ता ही एक परिधि हाजी है। हरएक की पहचान और पगल उस परिधि पर ही है। परिधि से केन्द्र की ओर स्नेह का सम्बन्ध होता है और वहाँ दूसरे में स कमाने और पीचन के बजाय उसको देने और उसका काम आने की भावना हम रखते हैं। परिधि के पार हममें परापन और गैरियत का ही नहीं बल्कि उससे आगे बढ़कर द्वेष और द्रोह का भाव तक हाता है। यह भाव बिल्कुल ही यहाँ तक तो सम्भवता और यथार्थता है लेकिन वह द्वेष और द्रोह मूल्य ही बन आम जिन और समर्पित मान लिया जाय तो संकट का कारण होता है। परम परमार्थ आज ही हमारा स्वार्थ नहीं बन आया। लेकिन इसीलिए पुरपाय की आवश्यकता है। जीवन की साधना में निश्चय ही वह अतन्त्रिय धन-माध्य और समय-माध्य है। लेकिन जो बात आज और अभी हो सकती है, और निश्चित रूप से अवश्य हो जानी चाहिए, वह यह कि परिधि से बाहर भी द्वेष और द्रोह का सम्बन्ध को उचित न ठहराया जाय उसे मूल्य न मान लिया जाय।

**मूल्य का संकट**

ऐसा होने से फिर व्यवहार की भुटि के लिए तो आपार रह जाता है लेकिन मूल्य निश्चित हो जाता है, तो इतने भर से संकट में कुछ समाधान के तत्व हो जाते हैं। स्वदेश-विदेश स्वाति-विजाति स्वमत-विमत में किसी भी हालत में परस्पर संहार और विनाश की नीयत और बैसा आचरण उचित नहीं है यह विज्ञान धर्म नीतिक है। हमारा व्यवहार हम विज्ञान से क्यों जुड़ नहीं सकता है? विज्ञान और व्यवहार में अन्तर तो रहेगा ही भुटिया व्यवहार में अनन्तराल तक न रहती बनी जायें यह अममक है। लेकिन ये विज्ञान की भुटि क्यों बने? एसा होता है, मूल्य की घटा उठ जाती है विज्ञान गिबिस ही जाता है तब का सफट मूल्य-मकट हो जाता और बढ़ बढ़ा ही बिगड़ होता है। अर्थात् अर्थशास्त्र ही उस भुटिदा पर गता है जो अर्थ को नीचे राजनीति न जाइती और धर्मनीति से मोरती है। ममत्त विचार उनी पर बन देता और उनी ओर बढ़ा जा रहा है। इसके विरोध में दूसरा मन्द-वर्दन

आता है जो पीछेको छुना हराम ठहरता है। यात्री अर्चकी वह दृष्टि समाज में दो प्रतिबल्लुस क्रिया प्रतिक्रियाओं को जन्म देती है। एक और निष्ठान्त विम्वर मुनि दूसरी ओर सरबपति बनने के प्रयास में ख्या भरणपति।

**पैसा स्नेह का माध्यम**

मैं नहीं मानता कि पीछे में यह अनिष्टता रहना अनिवार्य है। वह घोषण का उत्तर ही नहीं स्नेह का भी माध्यम हो सकता है, और अर्च-प्रवासियों में प्रबलमान का उत्तर है, स्नेह है कि स्वार्थ है यह हमारी मानसिकता और मूकनिष्ठा पर निर्भर करता है।

**मूल्य मुद्रा में नहीं, अम में**

आज सेठ में यदि राज पैदा होता है, तो बेटीहर के पास ही पाने के लिए वह जुट नहीं पाता है। अर्थात् वस्तु मुद्रा के और से किसी हुई वहाँ पहुँच जाती है जहाँ अम नहीं सिक्के की शक्ति है। महलों के अन्त-पुर से लगाकर मीठोमीठ तक सगमरमर और इसी तरह के पत्थरों का पर्व मिलेगा। पर अपार धान्य और माना अर्जन वहाँ मौजूद है। पर जिस घरती ने धान्य दिया है, उससे समझकर रहनेवाले अमी के पास ही उसका बाग नहीं है। क्यों ऐसा होता है? कारण है अम-शक्ति जिसकी पीठ पर है ध्याय-व्यवस्था की सत्ता-शक्ति। यहि मनों में अम प्रवाह हो तो यह हो सकता है कि महल में रहनेवाली रानी अल्प की अपह अपने भोग की संख्या पचपन कर दे और शेष एक भोग की अपने प्रयत्न से वहाँ पहुँचाना चाहे वहाँ भोग है नहीं निष्ठान्त अभाव है। लेकिन यह भावना का प्रसन्न है। पर यदि मूल्य ही मुद्रा से हटकर अम की ओर वह जैसे तो अमिक की अम स्वतः मिलेगा और राज्य उसकी हवा पर होगा।

अर्धदास्य अर्धदृष्टि और अर्धनीति में वह शान्तिकारी परिवर्तन आ सकता और लाया जा सकता है जिसमें मूल्य अमनिष्ठ हो और लक्ष्यपन्थ एवं तन्निमित्त मुद्रा का मूल्य हो। मार्क्स ने कुछ वह दृष्टि दी लेकिन उस भले आदमी ने उपकार वृत्ति के बघीभूत होकर उस राज और राजनीति से ऐसा जीका कि परिणाम उसका अपुरा और ओछा ही रह गया। सामन्यमुक्त समाज की अपह दास्यबद्ध समाज का दूर्य उपस्थित ही आया।

**गणित की अकृतार्यता**

अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय आदि किसी भी व्यवहार में होनेवाला स्वार्थ-मूलक यचित तब करलेगा जब स्पष्ट हो जलगा कि मैं सब स्वार्थ परस्पर अनुबद्ध

हैं और परमार्थ को ध्यान में नहीं लेंगे तो स्वयं अपनी ही हानि करते हैं। यह दर्शन धर्म से प्राप्त होगा रहा है, वर्तमान संकट और आगामी युद्ध के निदान में स्वयं राजनीति द्वारा भी प्राप्त हो सकता है। आर्थ का अर्थ-गणित कूटनीति की भूमिका पर उलटा फल आता दिखाई देता है। अमरीकी सरकार महायुद्ध में आता है और सहायता नहीं कर पाता। सत्य के द्वारा कूटनीतिक तर्क पर उमीका भाषा में बदल दिया जाता है। यह उस गणित की अकृत्यता का ही प्रभाव है। कूटनीति जैसे स्वीकार कर रही है कि अर्थ-व्यवस्था में ऊपर किसी सोच-भावना की भी आवश्यकता है।

आगतिक भाव, स्वप्न नहीं

मुझे प्रतीत होता है कि अर्थ स्वयं करने विकास में स्वाय भाव से इनमें ऊँचे डट जायेगा कि परमार्थ की कारणता आर्थिक और धर्म के बीच की सम्पत्ति न रहकर आर्थिक व्यवहार की मंता बन जायेगी। तब राष्ट्रों की उत्पत्ति और व्यापार की नीति कुछ भिन्न स्वरूप ले जमेगी और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा के पार जाकर आधुनिक उत्पत्ति और आवश्यकता के सम्पर्क में नये मनुष्योप-युग का सूत्रपात होगा। राजकीय और राष्ट्रीय आर्थिक कुछ दिनों की नीम मालूम होते हैं। अन्दी ही व क्षीण हो जायेगी और अन्तर्राष्ट्रीय की अमल आधुनिक भाषा में सोचना-करना सम्भव होगा। यह स्वप्न नहीं है विज्ञान से बननेवाली परिधि बनियाँ हूँ उभर ही न आ रही हैं। १९३ अपने ठीक कहा कि विज्ञान हूँ आधुनिक बुद्धि है। सोचने की प्रेरणा दे रहा है। पर साथ ही देशों में एक मुकाबले की कूटनीति अर्थनीति और राजनीति भी तो बनन चुकी है जो अब बाह्य विरोध-कराये पर बानी खेर देने को तयार है। राजकारण को दोष है तो उल्टे से हमलिये नहीं बनेगा क्योंकि राजकारण अनिवार्यता है। ऐसी परिस्थिति में जनमान से बाजिज्ज नबिज्ज तब बहुचने के लिए कुछ ठोस प्रस्ताव प्रस्तावित करें।

राजकारण द्वारा संस्कृति सम्पन्न

—राजकारण का योग नहीं देता है। बल्कि उल्टे में यह मान पड़ता है कि राजकारण के द्वारा गहृति करने को सम्भव करती है। जनमान के प्रति असन्तोष का मनुष्य बसमान का बाट नहीं बल्कि भविष्य का आवाहन है। राजनीतिरचना से हम बिदेसी या विदेशीय बहकर विभीषे प्रति राय मन्त्र है, या भी पर एत सजीव सम्भव की निजामी है। यह जो करने ही बहकर में है, बिम्ब जैसे विभी देन के अन्तिर से भी बहकर है यह इस योग के साथ न अनन-आन बसा एता



है। इसलिए उसे उन्नत नागरिक तो हम नहीं कह सकते। राजकारण आगे बढ़ता है और, चाहे नकारात्मक रही अपने हों या अपनेपन की परिधि से बाहर भाकर कुछ सम्यग्ब तो स्थापित करता है। इस दृष्टि से उन माने गये संजन पुरषों के लिए मेरे मन में प्रशंसा का भाव उदय नहीं होता जो अच्छे तो हैं पर अपनी अच्छाई में इतने मुट्ट और बन्द हैं कि बाकी दुनिया से बेखबर हैं। राजकारण की यह बेतना ही है जो उसे अपने में गूँह नहीं गड़ने देती है बल्कि उसे सक्रिय रखती और युद्ध तक में उतार लाती है। यह सचेष्टता और पराक्रम ही है जो राजकारण के प्रभाव को पीछे है।

### बहादुरी को बढ़ाया जाय

बहु सात्विकता संजनता चारित्र्यशीलता यदि राजनीतिक प्रभाव के आगे मन्द पीसती है तो इसी कारण कि उसमें विक्रम-पराक्रम के वर्णन नहीं होते हैं। बल्कि राजनीति में कुछ आत्ममुट्टि रखने का अवसर है क्योंकि आत्ममुट्टि का अवसर नहीं है। अतः राजकारण को युद्ध में नहीं कहता हूँ बल्कि उसमें नहीं डूँडता हूँ। पर यह तो कहना ही पड़ता है कि राजकारण जितना है उससे अधिक सगमधीक पराक्रमधीन और समझ कहीं नहीं हुआ। मुझे जान पड़ता है कि राजकारण यदि अपने ही प्रति अधिक न्याय करेगा अधिक चावित्वधीन होया तो उसकी नका रात्मकता कम होगी जायगी। पर हम कारण ठेकसिना बटेगी नहीं बढ़ेगी। मैं मानता हूँ कि राजकारण के धीरे पर बहादुर ही पहुँच सकता है। साथ ही उसे कुशल होना पड़ता है। जो कुशल है पर बहादुर नहीं है वह छोटी पर नहीं पहुँचता। कुशलता बुद्धि का गुण ही सकता है पर बहादुरी आत्मा का गुण है। मैं जो कहता आ रहा हूँ वह यही कि इस बहादुरी को और बढ़ाया जायगा तो वह स्वयं अहिंसक हो जायेगी। अहिंसक होने के साथ कुशलता भी बढ़ेगी क्योंकि बुद्धि तब जावेगा ते मुक्त रहकर काम कर सकेगी।

### राजकारण धर्म-नीति में से क्षमता ले

राजकारण का दिग्ग-परिवर्तन यदि चटित होना तो वह स्वयं उनके भीतर में जायेगा किसी बाहरी आध्यात्मिक या नैतिक आदि बने जानेवाले स्तर से नहीं। इसलिए केरे गार्डन, मै, रिड्जी, प्रमोद, का, कारेल, स्मोले, वेल्स, बैटल, ब्रान, होम, १, गुरुबाई और अन्तर्द कोई भी अलग न राजकारण की संस्कार नहीं दे सकती। राजकारण भी अवयवना और बीच-बर्तन की प्रवृत्ति में गेही अध्यात्म निर्धार्य और निष्प्राप्त हो गया है। विशेष में राजकारण का प्रभाव उनना ही प्रबल होना चला गया है। राज

प्राण त्रिन समस्याओं से युक्तता है, जिन विम्वेशाश्रितों का उन्माद  
 'मासने और सेकने की क्षमता यदि बर्मेनीति में से ही नहीं आती तो  
 ही कि राजनीति बर्मेनीति से क्यों न निरपेक्ष और उपेक्षापूर्ण बन जाय  
 अपनी जगह पर अपने को ऊँचा माने तो कारण हो जाता है कि राजनीति मुदाबसे  
 अपने को ऊँचा रहे। सब यह कि वह बर्मे नहीं वह परिपूर्ण बर्मे-नीति नहीं जो  
 हन-सहन की भौतिक समस्याओं और उनसे उत्पन्न विग्रह-विम्वेश की घटनाओं  
 में मुँह मोड़कर दिखाता होती है। बर्मे का क्षेत्र समाज है जगह नहीं। आप खुले  
 में से स्वच्छ हुआ लीजिये स्वास्थ्य और स्फूर्ति वहाँ से लीजिये। यदि उस  
 उपार्जन को उपयुक्त करने का क्षेत्र समाज है। वह आप नहीं है। है तो उसका  
 उपार्जन अनिष्ट है, जो फिर सबके काम नहीं आती। वह बर्मे नहीं है। है तो बर्मे  
 जो व्यक्ति को इसलिए उठाता है कि वह औरों के लिए बेकाम हो जाय।

पारमार्थिक श्रद्धा सत्तार में उतरे

आपने पूछा है कि ठोस उपाय बनाया जाय। वही ठोस उपाय है कि पारमार्थिक  
 मंडा को आर्थिक कार्यक्रम में उठाया जाय। अर्थात् पारमार्थिक यदि और वृत्ति  
 के साथ आर्थिक एवं सांसारिक समस्याओं में उतरे और वहाँ अपनी पारमार्थिकता  
 को कर्षे और उनका क्षेत्र प्रकट करे। इस प्रत्यक्षानुष्ठिति में सत्ता को बूझें और पायें।  
 सत्तार में स्वयं निरखें। एक नाम निश्चय कर लें कि सत्तार में अलग किसी स्वयं  
 को नहीं बनाना है और अपनी सृष्टि से विलग कल्पना को नहीं खोजना-बाना है।  
 इस प्रकार हम बर्मे से दिखाता नहीं लेगा और सब वह बर्मे बर्मेन रहने का बर्माय  
 बर्मेन काटता हुआ दिखाई देने लगेगा।

प्रेम आक्रमणशील हो सकती है

विविधता की विवक्षिता यह है कि विवक्षित-व्यवस्था बुद्धि की विरोधता समझी जाती  
 है। बर्माई निरपेक्ष उदासीन और सुष्ट बर्मा यह सचता है। जिस आने बर्मा  
 है और बर्मे को ही है। प्रीति और स्नेह तो निमटे रहने का लिए ही है। नहीं,  
 प्रेम आक्रमणशील हो सकती है और स्नेह की व्यापकता में लय करने में न निराकर  
 दूर-दूर जा सकते हैं। यह विवक्षित की व्यापकता, प्रेम की व्यापकता बहुव्यवस्था न बर्माई  
 वैश्वमय और वैश्वान हो सकती है। इस प्रस्ताव में ठोस मंडे कुछ और नहीं  
 मूला है।

## अर्थ का परमार्थीकरण

११४ आपने पहले कहा कि पारमार्थिकता के आचार पर सांसारिक समस्याओं को सुलझाया जाय। आप पारमार्थिकता के आचार पर वर्तमान अर्थनीति की पब्लिश-प्रचाली को किस विधा में और किस प्रकार ढोड़ देना चाहेंगे ?

पूँजी की विश्वास सत्त्वा

—आज व्यापार मार्ग और पूर्ति के सिद्धान्त पर चलता है। अगर सी आइमी बेरोजगार है और किसी रोजगार की सिर्फ़ दो आवृत्तियों की जरूरत है, तो मम की दर नीचे चली जायगी। काम कम है, आइमी ज्यादा है तो काम में ह्रास होता जायगा आइमी सस्ता होता जायगा। पूँजीवाद सिद्ध करते हैं, उससे नीचे नहीं पूँजी का गणित है। पूँजी को केन्द्र मानकर हमारी संस्थाओं का निर्माण होता है और पूँजी के आँकड़ों से सारे हिमाचल को बिछाया जाता है। स्टाइल-स्टाक कम्पनी का मतलब है पूँजी को शामिल होकर इकट्ठा करनेवाले लोगों का समुदाय। एक कम्पनी ने अन्तर्गत ही सकता है कि मजदूर को छात्र काम करते हों और पूँजी में कुछ पचीस-तीस साझीदार हों। तो वो छात्र मजदूर, और उनके ऊपर समसिद्धि हो हजार बाबू केवल नियुक्त बेतन पायेंगे लेकिन बाकी इन पचीस-तीस पूँजी के साझीदारों में करोड़ों का नफ़ा बँटा जाता जायेगा। आज के हिमाचल की प्रभावशाली से क्या पानेवाली व्यवस्था यह है। इसमें कहीं अवैधता और हिंसा नहीं देखी जा सकती बल्कि मार्क्स को मजदूरों का उपकार समझा जा सकता है। जिस देश में और भी बड़े-बड़े बेरोजगार हों वहाँ कुछ को रोजगार देने का काम क्यों करता है ? कम्पनी करती है। उस कम्पनी की ओर से उपकार के लिए दान-सत्ते में अलग बन भी दिखाता जा सकता है। यह सब अर्थव्यवस्था एजेंट या बाइरलर की देश देश में होता है। यह एजेंट या बाइरलर देश में लगायी गयी पूँजी के आचार पर बनती है। हम व्यवस्था में मुश्किल हुई है कि उद्योग बड़े-बड़े जगें और चले। बन-बीजक दुनिया की बड़ी है और तरह-तरह के माल-जमाव से जो आज सम्य-नृसिंह परिवारों के घर बड़े-बड़े मिलते हैं, वो सभी औद्योगिक उद्योग के कारण सम्भव

हुआ है। लेकिन उद्योग के माध्यम से समस्या में से समस्या भी बन रही है। उन मानवीय समस्याओं को धर्म और पूँजी की समस्या कहा जाता है। बड़े कारखानों में एक लैबर यूनियन, लैबर ट्रेड्स लैबर आधिकार जैसी चीजें हुआ करती हैं। इइंजनों और मशीनों का इतिहास धर्म-पूँजी के शोष को सामने लाता है। हिंदू और स्वयं बन गये होते हैं जो संगठित होकर वर्गों का निर्माण करते हैं। पश्चिम के मार्क्स ने इन पूँजी की विनाश व्यापक समस्या का बड़ा अन्धा और वैज्ञानिक बिन्दुपथ दिया है। उनका ग्रंथ 'मैनिफेस्ट' शायद ही बन गया है। पूँजी के विनाश की प्रणालियों की बहुत सोचकर उसने जानबूझ कर है। अन्त में उस वैज्ञानिक शोष-प्रवण ने यह पार निष्कर्ष है कि पूँजी की संस्था शोष का शोषण है। वर्णन कुछ को अन्त और अधिक को गरीब बनाने की यह वृत्ति है।

### मार्क्स की साम्यवाद-प्रमुखता

मार्क्स की इन शोष पर पहले बौद्धिक और फिर एक राजनीतिक आन्दोलन मड़ा हुआ। उस शक्ति से दुनिया के काफी हिस्से की व्यवस्था में आम बदलाव आने लगे। पूँजी का स्थान पहले-पहल ही रहा है। लेकिन उस कारण उद्योगों में कभी नहीं आयी बल्कि बढ़ावा दी हुई है। कम-से-कम मार्क्स के सिद्धांत को आदर बनाकर जो साम्यवादी हुईं उनमें पचीस-तीस साल में उद्योग की दृष्टि से बेहतर रिपोर्टें देना बन को दुनिया का सबसे धर्मशायी देश बना दिया है। इस विचार में हिमायत की जो प्रमोटी काम में लायी गयी उसमें क्राइस्ट स्टारक सम्पत्ती के लिए बचवात नहीं था। उसमें पूँजी लगाने वाले बलग-बलग लोग लायी गये के लिए नहीं थे। बल्कि एक वैज्ञानिक ध्यान का और बड़ी सहायिका दी थी। इन शोष के अन्त विचार-सोचने वाली और तदनुकूल संस्थाएँ पनपीं। मुझे लगता है कि उस हिमायत में साम्यवाद की प्रमुख होबैडा, जो राजनीतिक शक्ति के लक्ष में जैसे एक महा-समस्या का उत्तर हो गया। शक्ति-सम्पत्ति का लक्ष्य बना बना और यह नये प्रकार की अर्थ-व्यवस्था दुनिया के लिए चुनौती का विषय बन गयी। साम्यवाद यदि प्रमुख बनता है तो शक्ति तभी हो सकती जब या तो दुनिया एक राज्य हो, या साम्यवाद पुराने और परमार्थ का ही नाम हो। मैं समझता हूँ कि राष्ट्र और राज्य एकाएक समाप्त नहीं हो सकते लेकिन सर्वोच्च अवस्था हो सकता है। विश्व के हिंदू में सर्वोच्च राष्ट्र और राज्य का रूप बना हुआ। इसकी बहाना को धर्मोत्तर बनमाने में आता है।

पारमार्थिक राज्य का स्वरूप

मार्क्स के महात्मा गांधी की राजनीति और अर्थनीति माने सभी रूप की ओर

बच रही थी। मार्क्स में से सर्व सत्ताधिकारी राज्य को जन्म मिला। नाबीजी ऐसे राज्य की कल्पना कर सकते हैं। साम्य अपने रूप में उसका निर्माण भी कर रहे थे जिसकी सत्ता नैतिक हो, साम्यतिक हो ही नहीं। उसका उदाहरण अभी इतिहास में कोई मिलता नहीं है। इस्लाम के पैगम्बर हमरत मुहम्मद की खिलाफत साम्य वैसी ही संस्था थी और उसकी अर्थनीति का अध्ययन होना चाहिए। वैसे राज्य और राज्य का कोई अलग अपना अर्थ या स्वार्थ नहीं होया, परमार्थ में ही उसे अपने लिए पुस्तार्थ का अवकाश बीबेबा। तब अर्थ प्रणालियों का किस प्रकार का क्या रूप होया यह अभी स्पष्ट नहीं है। लेकिन इसका निश्चित है कि भ्रम की कीमत पर पुष्ट होनेवाला जन और प्रजा की कीमत पर चकित पानेवाला राज्य वहाँ नहीं होगा। सिक्का भ्रम से जुड़ा होगा और राज्य उसी तरह प्रजा से जुड़ा होगा। इनके बीच घगित और व्यवस्था की जो प्रणालियाँ होंगी उनमें प्रवाह भ्रम की ओर से सिक्के की ओर और प्रजा की ओर से राजा की ओर बहेगा। आज ऊँचाई पर जन है और राजा है। भ्रम और प्रजा की ओर जैसे वहाँ से क्या-युक्त जीवन बहकर जाता है। तब जीवन का स्रोत भूमिक जन या प्रजाजन में होया और उसकी भूमिका ऊँची होगी। सत्त भूमिका से व्यवस्था और घगित की प्रणालियों द्वारा वह जीवन धनिक-जन और राज्य-जन को जीवित रहेगा। स्पष्ट है कि तब यह प्रभु-वर्ग न होकर सेवक-वर्ग होया। लेकिन समाज अहिंसक होने के कारण वह स्वेच्छा से सेवक-वर्ग होया। आत्मिक दृष्टि से समस्त होने के कारण कम से नुसी और समुष्ट रहना पानेया। तुष्ठा-वासना उसमें कम होनी इससे सभामात्र में ही उसे आत्मनुष्टि पान पड़ेगी। यह कुछ स्वप्न जैसा आज तो लप सकता है, लेकिन स्वप्न में भी यदि उन समाज के आदर्श की हम साथ रहना चाहते हैं जो शासनमुक्त और भेची-मुक्त (स्टेटलेस एण्ड क्लासलेस) होया तो उसका उपाय पुँजीवादी अर्थ और राज्यवादी राज्य के पारमार्थीकरण के सिवा दूसरा नहीं है।

### पारमार्थीकरण

उस पारमार्थीकरण के हिसाब का आरम्भ यह होगा कि मनुष्य की प्राथमिक भोज भरण-नोपन की आवश्यकताएँ आहार-निर्मर नहीं होंगी। वैज्ञानिक-प्रदीर के सिद्धान्त से स्वतन्त्र होंगी। वह प्राथमिक आवश्यकता अर्थात् भोज-धन्य में से अनावात पूरी होंगी। अर्थात् भूखा रहने न रहने कामिन्दा रहने न रहनेकी शक्ति आरवी से कहीं भी दूर न रहेगी वह हर एक के पास आ जायगी। फिर हम मूल इकाई, अर्थात् नृजनगीत मानव की उदाहता से जीवन-साधन जन लोपी के पास भी पहुँचने जो शादीरिक दृष्टि से किंशित अवश्य है। जैसे सिगु, बुद्ध आचार्य, रवि

कलाकार, नेता, दार्शनिक, वैज्ञानिक, विद्वान् आदि। व्यवस्थाकागणित अन्वय एकात्मक सञ्चालन है जो स्वार्थ-व्येष्टि से अधिक परार्थ प्ररिक्त हो। आज भी लोकमत से नहीं तो आर्म-कानून के जोर से स्वार्थ को बटाकर आवश्यक परार्थ का प्रवेश गणित की प्रभावशाली में कराया जाता है। अर्थात् माँग-वृत्ति के प्रवृत्त सिद्धान्त को सन्तुष्ट और मुनस्कुट करना आवश्यक होता है। सांस्कृतिक चेतना समाज-व्याप्त होगी तो हिमायत सुख होमा और विवका समकल को छीन कर नहीं उठा से या मरेगा। दक्षिण अमेरिक की उदारता और स्नेह के माध्यम के रूप में उस कल को दूर-दूर तक पहुँचाने में सहायक होमा। महात्मा गांधी ने अपने रचनात्मक कार्यों में इसी मानवीय हिसाब को दक्षिण चिया या और जारी के क्षेत्र में करोड़ों का व्यापार भी चलाकर दिखाया था। व्यापार और पूँजी-आज के मटे कम-से-कम अर्थ कापन पर चढ़े और अधिक कतिन को जीवन-निर्वाह के लिए अबाधक मितता रहे यह उनकी कोटिस्त थी।

इसी आधार पर आमे बैंक आदि की आर्थिक प्रणालियों का विकास होता जा सकता है, जिससे राष्ट्र राज्य परस्पर सम्पूरक बनें प्रतिस्पर्धी होने से बच सकें।

## गणित का रूपान्तर

११५. आपके उत्तर में सर्वनीति के आधार गणित को कित दित्त में और कते आध परिवर्तित कर देना चाहेंगे यह बात नहीं आ पायी। इस समस्या पर ठनिक प्रकाश डालें।

## स्वकेन्द्रित गणित

—आज के विविध सिद्धान्त के नीचे अलगगणित नाम करता है पहले तो यह अर्थ मूलक और पन-व्येष्टि है और दूसरे स्वार्थमूलक और स्वकेन्द्रित। देने के ऊपर सबसे देने का नाम रहना है, जिससे हाथ में हिमायत है यह अपने साथ में ही सदा गणित को अमात्रा और फैलाता है।

## चार प्रकार के पुरुष

इस नामवारी विविध-वृत्ति के व्यक्ति को बँट्य रहते हैं। कुछ दूसरी वृत्तियों के भी पुरुष होने हैं जिन्हें बँट्य नहीं कहा जा सकता। उनको धर्मिय आश्रय रहना होता है। धर्मिय का मुख्य मध्य नहीं होता न उस प्रकार है गणित में दूसरी गति होती है। यह वैहिमायत चलना है और आज-काल का आधारही होता है। नाम से यह नाम की अधिक महत्त्व देना है। फिर आश्रय प्रवृत्ति का पुरुष अपने प्रति नाम

वी गया, मान भी देने की विन्या नहीं करता। वह देने की भाषा में सोचता और पीठा है। अर्थात् वह अपनी कम आवश्यकता रखता और दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति की बात अधिक सीखा करता है। हिसाब के लिए उसका मन में विस्तृत स्थान नहीं रहता और वह चौकड़-बाजी होता है। तीसरे प्रकार के भी व्यक्ति होते हैं जिनकी हिसाब में बुद्धि नहीं चलती वे श्रम और सेवा करना जानते हैं और एका में केवल इतनी अपेक्षा रखते हैं कि उनका जीवन-मापन होता रहे। यह शूद्रभेदी हिसाब से औंधी नहीं होती सिर्फ उससे अनवगत होती है।

### असाधमानता काज का अवसर

समाज इन सभी तरह के पुरुषों से बनता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय-वृत्ति के पुरुष इस समाज की श्रेष्ठता के भाग होते हैं। वे समाज के भूषण और शीर्षक बना करते हैं। इसी तरह चौथी श्रेणी के लोग बहुत उपभोगी और सहानुभूति के अधिकारी होते हैं। अब एक हिसाब हो सकता है, जो आज की संस्था का है, कि हिसाब सम्बन्धी बसावधानता की अवसर मानी और उसका पूरा-पूरा काम उठा लो। इस हिसाब में ब्राह्मण और क्षत्रिय-वृत्ति का पुरुष ठगा जाता है, वह बाटे और पछतावे में रहता है। यदि लोक-मानस में यह ठगी का हिसाब बैठ जाय तो उस समाज में मानवोचित वृत्तियों का अवमूल्यन होता है। इस हिसाब में श्रम का भी दोषण होने लगता है और श्रमी अपने श्रम-कर्म में हीनता और विषयता का अनुभव करता है। हिसाब की दशात इस प्रकार के सम्म-समाज में सबसे औंधी चीज बन जाती है और उस समाज को सदा तान और संकट की अवस्था में रखती है। संकट अवस्था में मूर्खों का संकट होता है और एक विभ्रम और नास्तिकता की जन्म मिलता है जब देखा जाता है कि सज्जन बरिष्ठ है, दुर्जन परस्म है। हिसाब की यह प्रचाली जो छात्र को प्रथम और अन्तिम मुख्य मानकर चलती है शिव की काज का आघात बनाती है। इस तरह परस्पर सम्बन्धों में महदा अविराज और संतप्त पैदा हो चलता है और समाज खर्व हो जाता है।

### हिसाब की स्वच्छता

मेरे मन में स्पष्ट है कि कैसे वे अधिक देने की भाषना रखनेवाला व्यक्ति समाज के लिए अधिक मूल्यवान् है। यदि वह हिसाब से उत्तीर्ण है तो यह उसका मनुष्य अभिनन्दनीय है। मैं मानता हूँ कि सही हिसाब वह होगा जहाँ विनिमय में अर्थात् बाजार में रहनेवाला हिसाबी व्यक्ति उस असाधमान पुरन की भी विन्या ओढ़ेगा और उचित हिसाब के बारे में बुझा साधमान बनेगा। हिसाब-विषयक असाधमानता

का हक जब सबका होगा और वैसे अपने हिमाब में उन सबके हक का पूरा ध्यान रहेगा तब वैसे का बही-खाता सही समझा जायगा। मुलते हैं, पहले भारत में महाजन की यही लूबी थी। दूसरे के हक की पार्स-पार्स वही बही-खाते में जमा मिनती थी और महाजन उसको चुकाकर ही चैन पाता था। हिमाब की यह गम्भीरता समाज के लिए बड़ी सहायक होती थी और महाजन के भरोसे इतर सब वर्ग के लोग अपना-अपना काम निश्चिततापूर्वक करत बसे जाते थे। हिमाब में पढ़न और गपने की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं आन पड़ती थी। मानो वैसे उनके आधुनिक हित की सुरक्षा का स्वयं दायी होना था। तब निश्चय ही लोगों में स्वातन्त्र्य-भाव इतना बढ़ता हुआ नहीं रहता था और समाज भाव की हानि नहीं कर पाता था।

### स्वार्थी गणित समाज का राजरोग

हिमाब में दूकानदार हाहक के हित का ध्यान रहे यह कोई अनहानी बात नहीं है। आज की व्यापार-नीति इस भिन्नान्त को पहचानती जानी है। इसी पहचान की यदि गहरी सचाई में उगारें तो जान पड़ेगा कि हिमाब की वे प्रथास्त्रियां लूनी और बहुरसमी हैं स्वयं हिमाबी का मनमें आज नहीं है जो दूसरे की हानि पर लाभ करने का सामर्थ्य देनी है। इस प्रकार देखें तो अर्थनीति अर्थ-नीति छ दूर नहीं पड़ती है और अर्थ-व्यापार जीवन-व्यापार की सम्मिश्र और समुच्च कर मचना है। हिमाब की तो आवश्यकता होती ही। उसके बिना व्यक्तित्व की स्वाधीनता और स्वावलम्बिताही लतरे में पड़ जायगी। तब केवल राग-द्वेष बीज में रहेंगे और मनना बगुना स्वाधीनता आदि के लिए अवकाश नहीं रहेगा। हिमाब से व्यवस्था आती है और सबकी स्वतन्त्रता सुरक्षित रहती है। लेकिन हिमाबी बुद्धि स्वार्थी न बन तो वही हिमाब की प्रगतियां धोरण की नास्त्रियां बन आती हैं और हिमाब के मूलों में जैसे तब बगं दूसरे के गून से मोटा होता या मकना है। अल्पमाय ही हिमाब के मूल हैं जिनसे सारे समाज के शरीर में समान और मनुजिन रक्त संचार होता रहे मज्जा और शरीर के सब अंगोंशों को स्वस्थ और मज्जम बनाने रक्त मचना है। शरीर के उस रक्त प्रवाह को जान क्या कहियेगा, विमल अंगो पाय तो बने रहते हैं और नव्य हृदय को काजी रक्त पहुँच नहीं पाता है। वह हिमाब जो यह बगना है बीषा है और मानना होगा कि आज का अल्पनिन उग राजरोग में प्रम है।

११५- क्या आज कुछ प्रकार का लक्ष्य है कि आगामी इन बारम्बार अर्थनीति में वर्तमान आर्थिक संस्थाओं की, उदाहरणार्थ बैंक, एकाग्र-व्यवस्था बीमा, मनी-विन सम्मित्रियों और आयात-निर्वाह आदि को क्या क्या स्वस्थ प्राप्त होगा ?



## ब्रितीय संस्कारों का संस्कार

—आज तो मुझे यह पता कम पूरा स्पष्ट नहीं हो पाता है। व्यवस्था राष्ट्र-राज्य की भारणा पर बल रही है और राष्ट्रों का सम्बन्ध परस्पर स्वार्थमूलक है। मूल में प्रतिस्पर्धा है। फिर भी सहयोग तो अनिवार्य होता ही है। इन दोनों आवश्यकताओं के अन्तर्गत हमारी ब्रित-संस्थाओं का निर्माण और विकास हुआ है। फिर देश की आन्तरिक विषमता और व्यवस्था का भी अर्थनीति पर प्रभाव पड़ता है। राष्ट्र जब परस्पर परिपूरक हों, उनकी सीमाएँ सुविधा के लिए होंगी निषेध-अतिषेध के लिए नहीं रह जायेंगी तब करेंगी का, स्टाक-एक्सचेंज का वीटिंग आदि का स्वरूप और जगत तो अवस्थ होया। पर परिवर्तन की रेखाओं को निर्दिष्ट करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। मैं उस बारे में कुछ अतिरिक्त भाव से जगाई हूँ। पर अब भी वर्ल्ड-वैक पैंटी संस्थाएँ काम कर रही हैं। निरपेक्ष ही वे पूरे अर्थ में विस्व-वैक नहीं हैं। लेकिन इतना तो है ही कि वह संस्था राष्ट्र-सीमित नहीं हैं। राष्ट्रों के सहयोग से बनी हैं और उनके परस्पर सम्बन्ध की भाषा में सोचती हैं। उनके पीछे अमुक राष्ट्र-हितों के सुब यदि हों तो धीरे-धीरे माना जा सकता है कि वह जितना कम होगी और जो हित अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वजनीन है उनका आधिपत्य और ध्यान बढ़ता जायगा। आज की अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्र-हितों के समझौतों पर टिकी है। तब मानो हितों के समझौते से जाने हितों की एकता अभिप्राय होगी राजनीति की आवश्यकता कम हो जायगी अनुदृश्यता का भाव अधिक होगा। इस आवश्यकता और अनिवार्यता के नीचे ब्रितीय प्रजातियों और संस्थाओं को जो संस्कार प्राप्त होना उसकी स्वरूप रेखा यदि मैं आज न वे सच, तो यह कोई चिन्ता की बात नहीं है। सब यह है कि वह स्वरूप देने का काम तब तक कुछ अपवार्थ ही होगा, जब तक उसकी पचार्थ करने का अवसर ही नहीं आ पहुँचता है। मेरा विद्वान है कि वह अवसर पीछता से पास आ रहा है।

## ब्रितीय सहायता

११७- द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद ब्रितीय सहायता अधिकतम पैसों की अर्थव्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण अंग बन रही है। यह जरूरतों की ब्रितीय सहायता क्या आपकी पारम्परिक अर्थनीति की ओर एक रुझान नहीं है?

## हम इतिहास के साधन

—वे जाने-बूझे ही जान-बूझकर नहीं। वे जाने-बूझे का अर्थ यह कि मानव ज्ञान का विज्ञान अनिवार्य रूप से हमें परम्परा के विचारों की ओर ले जा रहा है। यह

हो नहीं सकता कि समय के साथ और विज्ञान की उन्नति के साथ हम एक-दूसरे में अधिक विश्वसनी न हों और एक-दूसरे के अविश्वसनी न आये। अमरीका का ही उदाहरण लीजिये। यह कहना मुश्किल है कि यह स्वार्थ से मुक्त है। लेकिन पहले यह मुनरी इन्स्टीट्यूट के अधीन था। अब उन्नति वही उसी नीति के आधार पर हुई और अमरीका यन्त्रि-सम्पन्न होना चला गया। सकीन स्वार्थ की दृष्टि से आज भी तर्क हो सकता है कि क्या यह मूल सिद्धांत-नीति ही उसका लिए हितकर न होती? लेकिन बुद्धि-तर्क का जितने भी स्वार्थ के चक्र में रले बड़न हुए ऐतिहासिक विकास का तर्क अमोघतर सिद्ध होता है। इतिहास हमसे यह कथ देता है जिसके साथ हम साथ नही होते हैं। यानी छोटे मन से ही बड़ी बातें हमन हो आया करती हैं और हम इन तरह इतिहास कहो या ईश्वर कहो उनके हाथ के मात्र साधन सिद्ध हुआ करते हैं।

### बाता-आबाता सम्बन्ध

बुद्धियानी यह है कि जो ऐतिहासिक साध्य हमारे द्वारा अनिवार्यतया निश्च हो रहा है साधन व रूप में हम स्वच्छता से उसके अनुकूल बनें। अन्यथा भी पति होती है लेकिन यह उतनी हमारे द्वारा नहीं होगी जितनी हमारे बावजूद होती है। अन्तः यह है कि यह हमें अपने बावजूद न कम बल्कि विचार-विवेकपूर्वक हम उसके सहयोगी बने चले। आज की परम्परा की ओर बहनेवाली राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय सहायनाएँ घुम हैं। वे गुजरती हैं मरती हैं अगर पीछे उनके शक्ति मात्र ही हा राजनीतिक हिमाव न ही। यह कहना गलत होगा कि उन सहायनाओं के पीछे आज के राजनीतिक बनेना-आजाताएँ एकदम नहीं हैं। उनके कारण बाधाकरण में सम्पन्न रहना है। दाता में काम और आबाता में लोम का विचार रहना है। इन आधार पर बने सम्बन्ध मन नहीं रहने विषम हो आज हैं और आगे जाकर बानुनी और बूटनीतिक बाव-बैचों की जन्म देने हैं।

### मरद का परम करम

सहायता सब जगह आज के रूप में है। व्यवहार की दृष्टि से यह उचित है। लेकिन राजनीतिक अवेधा मन में दुखी ही तो यह आह्वान-वर्जित का सम्बन्ध उरका की आधार बना दे मरता है। अर्थ-व्यापार में यह बहुत अनुभव आता है कि वैश्य की भावना उदारता बनकर फैली और बनना जान डालनी है। वह पीटी होती है उडन नहीं होती, और आरपी आसन्नता के प्रति उडन बनकर आती है। हिमाव का व्यवहार उदारताय भी हो सकता है लेकिन इन हिमाव के पीछे उरका

घमना न हीकर निजीय या राष्ट्रीय विस्तार-भावना है, तो वह हिताब भी फंसा बन जाता है और सारी जान उसमें फँस जाती है। देहाती कहावत है 'ओछा का खसम मरब, मरब का खसम करब। यह कर्म सारे पीछे की मार देता है और बड़े-बड़े इसकी मार के नीचे सारी चौकड़ी भूस बैठे हैं।

### इन जूनों का भविष्य

जून और सहायता के ये अनुभव यदि राजनीतिक गठबन्धन न पैदा करें, तो बहुत ही गुन बरत है। लेकिन इतनी सुख है कि उसी कारण भरोसा नहीं होता। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय जून एक ऐसा भार है कि एक राष्ट्र क्षतिपूर्वक अपनी व्यवस्था बदल डाले तो उसके जुए को अपनी गर्दन से उतार फेंक सकता है। युद्ध से पूर्व और युद्ध के अर्ध अमरीका ने इसको जूनरूप का ही सहायता दी थी तो उसका क्या हुआ ? घामद वह लौटावी नहीं गयी है। कोई अन्तर्राष्ट्रीय साधन ऐसा हमारे पास नहीं है कि वो ऐसे कर्म की जवाबगी का जिम्मा उठा सके। राष्ट्र साबरेन है और यदि उसकी गयी सरकार उस कर दे कि हम पुरानी सरकार के कुरबों और जूनों का भार नहीं स्वीकार करते हैं, तो कोई उपाय बाध्यता का नहीं है। राष्ट्र इनकार करके युद्ध के लिए ठनकर उठार ही सकता है। बहर हाल युद्ध पिछले इतिहास की मिटाकर नये परिच्छेद का आरम्भ है और कहा नहीं जा सकता कि उन भारी जूनों का क्या भविष्य है जो सहायता के रूप में इधर-उधर जा रहे हैं। भारत की बात कही जाय तो उनको लारे जून पूरे तीर पर चुनने होंगे। और मुझे नहीं सपता कि उन आबार पर उठानी गयी एक-दो-तीन नम्बर की पचवाविकी योजनाएँ बुझिनाली की साबित होंगी। घामद हो कि ये ज्वीरता की सिड हों और आपे आनेवाली सरकार को क्षति-पूर्ति में लगना पड़े।

### घनाधारित उद्योगवाद का पुनर्निरीक्षण

मैं नहीं कह सकता कि वह हिताब जो औद्योगिक उत्पादन की अनिवार्यता के कारण विस्तार पाता और उसके लिए सहायता का हाथ आगे कर पुनियामर की तरफ बढ़ता है स्वल्प हिताब है। वहाँ उत्पादन आवश्यकता से दूर चुका होता है और निर्वात और लाभ के भाँटे बढ़ाव और जनघरत बढ़ाया जाता है। वह आरम्भ के कादू में नहीं रहता और गुरु आरम्भ की बेकाबू कर देता है। औद्योगिक उत्पादन और मरत के अर्थ में वह समझा आन बिच के नामने लड़ी दिताई दे रही है। कई देशों की अर्थ-व्यवस्था उनके परिचाल में उपमना गयी है और कुछ बेम दुरी तरह उनसे जुन रहे हैं। कई कर्मिणी जीवाधोल है और तेजी से उन धिक्की का

अवस्यमान ही रहा है। इन कक्षाओं से कहा जा सकता है कि पन्दी ही सामाजिक उद्योगवाद के पुनर्निरीक्षण की आवश्यकता का उपस्थित होगी और विरह के मन्दर्म में नयी अर्थनीति का विचार अनिवार्य हो जायगा।

अथ प्रथम उद्योगवाद उस सम्पत्ति का परिणाम या उद्गम है जो अर्थ-विनियोग को सामाज्य बनाकर नहीं देन सकती और इसलिद् जिसके बास्ते यह सम्पन्न है कि वह जिस और याविकी सिद्ध करने के नाम पर हमारे को जेर करने की न सोचे। उद्योग का यह नया विकसित समझे जानेवाले और अविकसित समझे जानेवाले दोनों प्रकार के ही देशों में ही सकता है। इन नये के नीचे होनेवाले वितीय हिमाश किताब को मैं सुन्दरे से वाली नहीं मानता हूँ। मारी यन्त्रोद्योगों ने पदा हुए मान के इच्छा को लेकर बना हो सकता है, या अपने अभाववास्त देन को धन-दीप्त से मानामान करने की बैनरी में भी यह नया पैदा कर लिया जा सकता है। लेकिन उस चक्र में से पान्ति की पस्तिपू नहीं बस्कि विग्रह और दुर्माव की सम्भावनाएँ प्रतिक्रिड होती दीवती हैं।

व्यक्तिगत सम्पत्ति का उपयोग

११८. अब करने के पहले क्यों न एक देश अपने नागरिकों के व्यक्तिगत धन-सामनों को किसी भी प्रकार प्राप्त करे और देश को उन्नति की ओर मति देने में उनका उपयोग करे? राजाओं, जमींदारों और पन्तियों के सहकानों में सुन्दे-बानो सबाकवित व्यक्तितगत सम्पत्ति क्यों न राष्ट्र के हित में लगे?

क्या सोर-जबरदस्ती जायज है?

—क्यों न सब जन धन राष्ट्र के हित में लगे? सबमुब इस भावना से कहीं कुछ और जबरदस्ती को भी मान्य मानकर काम किया गया है। इस पद्धति ने परिणाम भी गिननाया है। म्म चीन की तेज तरफकी में यह तरकीब बरती गयी है। मरमा चतनाऊ बुद्धि न इसके विरोध में कुछ बला नहीं जा सकता है। बरना होगा कि अगर सबमुब उन्नति की बैनी अभीरता है तो वही कर मुकरना चाहिए। राष्ट्र को नमान का ही बैनारिक म्म है क्यों न बिगने हुए सब धन जन को भरना से समुचित कर लगे और उस जापार कर सेही से भरना निर्माण शुरू कर दे? जो पोड़े-बग्न अमन्द हैं बाबत हाँ बिज्न बनें उनको सन्ने में से मात्र कर दिया जाय। आगिर प्रमैय और इतिहास सब इन छोटे-मोटे मन्त्र्यों पर रहते हैं? जबरना आता है तो बग्न हम-नुम का विचार करके बह दक जाय? क्या इतिहास भरती पति नमेट से निकलें हम खयाल में कि कोई जीव न करे? काम नहकी करने

अपने समय पर जाता हुआ ही तो जाये चकता है। अगर आसानी न भरे, अगर बन जाय तो बेचारा काल सुराह के अमाव में भूखा रहकर सूब ही मर जाय। अहिंसा का चाहना यही नहीं तो और क्या है। लेकिन स्पष्ट है कि यह सब सामसयासी है और व्ययता है।

### सीमा-रेखा पर युद्ध की स्थिति

यदि ऊपर के तर्क से सहमत नहीं हो पाता हूँ तो किसी अहिंसा नाम के सिद्धांत के कारण ऐसा नहीं है, न किसी हिमोन्वेती का प्रेम ही बाधक है। बल्कि यह कि उस पद्धति से उभर एक समस्या हल होती दीखती है, तो उससे दूसरी बिकटतर समस्या बन जाती है। यह बात ध्यान पहले भी कही गयी है। ऐसे उत्पन्न होने वाली आन्तरिक समस्या को छोड़ भी मैं पर सीमा-रेखा पर जो युद्ध की परिस्थिति बनी रहती है, उसको ओझस नहीं दिया जा सकता है। और-अवरदस्ती से बनायी गयी स्थिति को और-अवरदस्ती से ही परिस्थिति के बीच टिकाये रखा जा सकता है दूसरा उपाय सम्भव नहीं है। व्यवहार इस अनिवार्यता से छूट नहीं सकता। सिद्धांत का यह बिल्कुल सवाल नहीं है, परीक्षण में आ रहे और लगातार पैदा हो रहे जन्म और हार्डकोरन क्यों का सवाल है। सब घाति प्रयत्नों के बावजूद क्यों सन्धि नहीं हो पाती और आधुनिक अरब निर्माण क्यों रुक नहीं पाता? हम अमोघ विषयता के वर्ग में जो तर्क बड़ा है वही तक पहुँचने की आवश्यकता है। वह और-अवरदस्ती का तर्क है और यह कि सबसे धुरू करके फिर उसका जन्म नहीं लाया जा सकता।

### कानून और जन-मन

लेकिन ऐसा एक-मन और एक-मनहीकर आत्मनिर्माण में जुट जाय यह आया और अवरदस्ती से ही बटना में आ सकती है सो क्यों? याँची के जमाने में क्या ऐसा नहीं लग जाया था कि सारा मारत रैष एकात्म है और स्वतन्त्रता पर बलि होने के लिए बच्चा-बच्चा आनुर है? साथ के लिए रंगरत भरती को कानून से पकटी बनाया जा सकता है। कानूनसिद्धांत नाम ही लगता है। लेकिन ऐन सड़ाई के मोटे पर जो बीज-कान आयेगी वह तिलाही-कीरवत-रकूँट होती जा बूँदों की अवरदस्ती होगी? अर्थात् अवरदस्ती जन को हकदूदा कर सकती है, जन की भी धापर बना कर ले, पर उससे भी उँ जन्म-मन नहीं होगा तो कुछ भी काम नहीं हो सकेगा, वह निरवय है। आधिर जिसको कानि नहते हैं, वह क्या है? राज्य का कानून एक हीना है, जमा का मन सर्वथा दूसरा हीना है। तो इनके बिचह में के ही तो बिड़ीह और

विन्दव आते हैं। अतः आवश्यक है कि राज्य को अथवा सम्पूर्ण देशवासियों का सहयोग और सम्मर्प प्राप्त होगा तो अबरदस्ती के मार्ग से नहीं स्वयं बन्दिशान का उदाहरण और मित्राल देना करने के बस पर होगा। हिमाचली के नाम पर शासन पनों पर पहुँचकर लोग प्रमुखा में भूखें सामान्य जन से टूटकर तनकाहें भोगे लेंगे तो जन-मानस आत्म निर्माण में तत्पर नहीं होगा। बस्कि सरकार की कमजोरी में तरह-तरह के करों द्वारा जमा बनस कोरगि की लूटने और मटाने में मन रखा। निरक्षर ही सब प्रजाजन और राजर्ष-कर्मचारीगा सभी आत्मदान से नुस्ते चर्चेंगे। सब करने-करने लिए छीनने और जुगने में प्रवृत्त होंगे और अन्धकार का बोझाला होगा।

### मूल्य लोह-मत

जो स्वर्ण और रत्न के खजाने सहजानों में सहे रहे हैं व करना बन नहीं समझेंगे बस्कि और दबने-दुबकने की कीजिग करेंगे जब तक उनके स्वामियों को अपनी मुरदा की बिम्बा सजायेगी। कानून ने उस बिम्बा को बड़ाया ही था सज्जा है। लाकमत में धूँध बल हो लोहमूल्य में से इस बेकाम सोने-हारे का मूल्य एकदम पत जाय और उनके स्वामियों में सर्वथा मुक्तबाध हो तो जरा भी अचरज नहीं है कि व सहजाने करना घन समझने लग जायें। जिसने महात्मा गांधी का देना और जाना है वह इस सम्भावना को असम्भव नहीं मान सकता है। हय अपनी और से मार्पी का और उस प्रकार के अचरज को असम्भव कर देना चाहेंगे तो बन्धूमरी है। नेहक चाहें तो म्प्रतिनि की यह बल सज्जे हैं। लेकिन लोच में यह जाना पड़ता है कि क्या वे गांधी की यह बलन की लोचेंगे ?

## अर्थ और काम

### अर्थ और काम

११९. कल बातों-बातों में आपने अर्थ की जड़ों की काम अथर्व वेद में निहित बताया था। इस कलन का स्पष्टीकरण करने के लिए आगे बढ़ना कठिन हो रहा है।

### प्रयत्न का मूल है काम

—मुख्य क्यों प्रयत्न करता है? जिसकी उद्योग की भाषा में 'इन्सैटिव' कहते हैं वह कहाँ से आता है? वह सब जगह करती है कि स्वयं और स्वामित्व नहीं रहे, तो प्रयत्न के लिए इन्सैटिव नहीं रहेगा। इसका क्या आशय है? आशय यही है कि प्रयत्न कामना में से निकलता है। प्रयत्न का मूल इस तरह काम है कल अर्थ। पड़ोस की ही बात लीजिये। तीन वर्ष पहले वह युवक आचार्य समझा जाता था। मनमाना अर्थ करता था काम कुछ नहीं करता था। तीन वर्ष हुए, विवाह हो गया। विवाह प्रेम-विवाह का और युवक में अब काफी परिवर्तन देखा जाता है। परमो सुन्दर और समान में अपना स्थान बनाने योग्य है। इसलिए माधुरी वर्ष में काम नहीं करता है और युवक दिन-रात पत्नी की और अपनी प्रतिष्ठा बनाने के लिए कमाई के कार्यों में लगा दीनता है। इसमें क्या आप काम और अर्थ जुड़ा हुआ नहीं देख सकते हैं?

### अर्थ की उत्तमता निष्कामता से बढ़ेगी

सूक्ष्मता से देखें तो और सब दूसरी जगह भी अर्थ के मूल में काम को देखा जा सकेगा। इसीलिए अर्थ की उत्तमताओं की कटने के लिए निष्कामता का अभ्यास मुझाया जाता है। मैं स्वयं मानता हूँ कि अर्थोत्पादन के जोर से आर्थिक समस्याओं का निपटारा न हुआ है न होगा। इस निर्णय के आधार के लिए अपने पास में स्वयं हूँ मेरा परिवार है, आठ-पाठ के सब लोग और सब परिवार है। सबका अनुभव यही है

कि आर्थिक-समस्या अपने आप में बढ़ती गयी है बढ़ती जाती है अब तक कि किसी ओर से या किसी स्तर पर निष्काम भाव नीतिभाव का भी बहुत प्रवेश नहीं हो पाता है। तुम्हा यदि मनस्त हो, तो अर्थोन्मादन को भी अनन्त परिमाण तक बढ़ाय जाता या मरना है और समस्या बनी की बनी रहनी प्यी जा सकती है। अर्थ की साथ समाधान तक पहुँचाती है अब नयी आवश्यकता एकाएक न लगी हो जाय और पुरानी की पूर्ति पर थोड़ी देर मन स्वा रहे।

## दो घटनाएँ

दो घटनाएँ मुमिये। प्रेमचन्द का नाम सब जानते हैं। स्थिति में अभाव था और चार सौ रुपये कहीं से आने की आशा थी। यह देखते-देखते अंग्रेजों हार प्यी ना आगिर दो सौ पचास रुपये आय। सब पत्नी के हाथ दे दिय गये। "चित्त है?" "हाँ भी है।" सुनकर पत्नी ने उन सब पोटों को ओर से अंग्रेजों में फेंक दिया वे उलटे हुए इधर उधर फेंक गये। क्यों ऐसा हुआ? उस विपदाबन्ध में हाई मी का तो बहुत मूल्य था। वही नाबीज बनकर क्यों निरन्कार का पात्र हुए? कारण, आगा अदिक यी बन कम था।

मेरे माय की मनु लीस की बात है। मैं पमा जानता न था। मेरे लिए पने की दुनिया निरन्त थी। अगवार ने बताया। अंग्रेजों की विताव को पाँच सौ का इनाम मिला है। मैंने सोचा माँ की खुसी होगी। माँ ईरान रहा कम्पनी थी कि इस अनहाने लड़क का होमा गया मैं खुद ईरान था। घर आया तो माँ न बहा "मुता है इनाम मिला है, वही है ना।" मैं क्या जानता था कि बिक घर का चुबा है। तैर, मायूम हुआ तो माँ ने कहा "यह हुए पाँच सौ तीन सौ और ला। बहू की खुशियाँ जो बनी थीं।" बानी इनाम पर प्रेमप्रता का बीजा ही न आया "गलटा रोना पड़ गया। कारण मुन कृपना न था कि बाकी तीन सौ वही न बँडे सब अर्थेन। अर्थात् स्वप्न में भी बाहर की रत्न एकाएक घर में आ पड़ी तो भी यदि हर्ष की प्रमह स्नेह हुआ तो क्यों? कारण यही कि अर्थ स्वप्रतिष्ठ बन्नु बही है। बहू इन्हा मायमकता से मुदा है और मुन-मुन देने की शक्ति उसे बही न मिलती है।

## अप सत्तावाद के पीछे कामोद्दीपन

११० यह तो हुआ, पर अर्थ की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को लक्ष्य में आर बँडे वहाँ जोड़ पायेंगे?

—स्वस्थ के पात्र लेखन है। राष्ट्र का पात्र बहू बहू है। वही न? अर्थिक कामना रोना के पात्र है। इन्पर बहने मैंने यह कहा थी है कि वर्तमान कामना पुष्पिनी



है और उसे भोग की चाह रहती है। उस सम्मता की मानो माँग है कि नारी प्रतीक परार्थ हो कि जिसे वह पीते मथित और दमिस्त करे, इत्यादि। अर्थ का अन्तर्-पट्टीय व्यापार उस सिद्धा से क्या सुम्प देखा जा सकता है? करोड़ से अरब और खरबपति बनने से जो भावना हुआ दीक्षता है, उसके मनोमानों में जाइये। स्त्री जैसे उसके लिए नाकाफी हो अपनी प्रभुता वह विस्तृत क्षेत्र पर छापी हुई चाहता है। मानो चाहता है कि एक उपनिवेश का उपनिवेश नीचे ऐसा बिछा हो कि जैसे भोग्य स्त्री। आर्थिक और राजनीतिक साम्राज्यवाद में कामोन्मीषण देखने में मुझे तो कोई विरोध कठिनाई नहीं होती। यदि यह उद्दीपन वहाँ से लिये रहता है, तो हमारी घारी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एकाएक नया स्वरूप के सकती है। जिस दर्शन और भाव के लचील हमारी अर्थ और राजनीति चल रही है उसमें सेक्श और भोग की निरुचय ही मुक्त से अधिक प्रतिपन्न है। आवश्यकताएँ बढ़ती हैं, और बढ़ती जानी चाहिए। जीवन-स्तर मित्रता उठता है, आदमी उलगा नफा होता है। अर्थ और सत्ता के मान से व्यक्तित्व का मान है। यदि कारणार्थ क्या बतलाती हैं? मुझे सचमुच समता है कि हमारे दर्शन में पीस्य का एकांगी भाव रहा है, नारीत्व का सम्मुखि योम नहीं रहा। मानव-शक्ति करीब-करीब समान भाव से स्त्री-मुख में बँटी हुई है, लेकिन हमारे आदर्शों और नीतियों में इन दोनों तत्त्वों का समानुपात नहीं है। इसीसे प्रेम से अधिक काम का महत्त्व है और उसीका स्थिति पर विचार है।

### नारीत्व का समीचीन योग

नारीत्व का समीचीन योग ही तो केन्द्रित राज्य-व्यवस्था कुछ पूर-व्यवस्था के निरुद्ध जायगी और राज्य-सैन्य की आवश्यकता कुछ कम होनी। आज तो जहाँ देखिये सेना की महिमा के दूर्य है। सिनेमा में बड़ी राष्ट्रीय उत्सवों-यवों में बड़ी। मानो जल्ताह का सपाय राज्य-दर्शन और सैन्य-प्रदर्शन है। बहुमन हितक सम्मता के प्रतीक है और अन्तर्राष्ट्रीय अर्थनीति को भी इसके आनुपातिक रूप में ही देखना मानना होगा। १९१ मर और नारी में शारीरिक बिभेद से बढ़कर तात्त्विक अथवा आर्थिक बिभेद मानना क्या अर्थवार्थिक नहीं? मुख्यत्व को अनिवार्य रूप से हिंसापरक और भोपी और स्त्रीत्व की अहिंसापरक और भोग्य मानकर क्या हम नहीं चल्ती नहीं करते?

### मर-नारी में निगूढ़ अन्तर

—मर और नारी में शारीरिक भेद मर मानना बल्कि अर्थवार्थिक है। यह मर को मन में पृथक मानने जैसा हो जायगा। अनुभव से ही यह स्पष्ट है।

इसके अर्थ यह नहीं कि मानव की दृष्टि में दोनों में भेद-समानता नहीं है। लेकिन यह अर्थ है कि स्त्री यह नहीं है आ पुरुष है। ऐसा न होता तो बरम्बर पूरक न हो सकते थे।

### पुरुष निर्गुण, स्त्री सगुण

हिमा-अहिमा में नर-मायी का समस्त दातृपक्ष देवता सचमुच गलत है। मायी में हिमा अहिमा दोनों की उत्कटना देनी आ सकती है। यदि उन दोनों में तरलमत्ता और पृथक्ता है तो चायद इस अर्थ में कि पुरुष निर्गुण और स्त्री सगुण साबित है। निर्गुण सगुण सगुण अहिमा। सगुण और अहिमा में विरोध नहीं है पर यदि एतत्त्व है तो तनाव के साथ। अर्थात् यह एकता हमेशा मायना और मायबानता से मायी जाती है। वह सहज नहीं है परम सत्य और पुनःप्राप्य है। काम में इतनी शक्ति इतनी अनिवापना और अनोपना इतनी वाग्ण विनाई देती है और हार्द अक्षर का प्रेम परम वृद्ध और कुरविवम्प इतीने बना हुआ है।

### भोगी और भोग्य में अन्तर

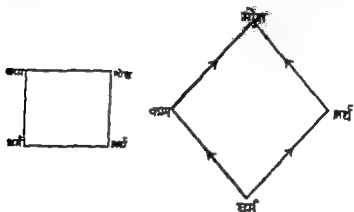
भोगी और भोग्य का बोझ अन्तर तो स्वीकार करना होगा। पुरुष में सबकेन्द्र बिन्नी प्रधान है। स्त्री अनेकाहृत आकर्षित्व होती है। एक पुनःप्राप्य देने देगी थी 'दि अक्षर भेद'। स्त्री के बार में थी और स्त्री ही उसकी शक्ति थी। मरिगा तम्र थी और अनुजरी थी। मायी पुनःप्राप्य में यह पाव व्याप्त था कि स्त्री को गुणों के साथ अन्त को पुरुष में दोषम मान देना चाहिए, क्योंकि वह दोषम है। पुनःप्राप्य के लोचक में अन्त का भाव वहाँ यही द्वितीय था। जना भी अन्तर पुरुष स्त्री में न मानें तो जैम मूर्ति का शम्प्य नहीं गुणना है उसका शम्प्य नहीं मिलता है। इस रूप में जैम कुछ पता लगना है कि क्यों जीव-मूर्ति मूल में ही दो लिंगों में बँटी हुई बनी है।

१२२ अर्थ की जड़ें काम में आपने दिखायीं, पर क्या और शहरे आकर मोस में वे नहीं हैं? अब धन काम मोस के अनुभूत का क्या तारनम्प आप समझते हैं?

### चार पुरपाप

—माया की चर्चा नहीं की जा सकती। नकर शिगावा काम है वह मुमान्द मरिग की माने नहीं देगा। मस तो दूध भी लगता है कि आ मरिग का शम्प्य क्या वह सभी मरिग तक पहुँचा नहीं। शिगाव में बनी शम्प्य जना शिगाव चमराव नहीं देवता में शम्प्य के काम में करने की बचना ही है। बरि और दाम्निद

ऐसे ही लौन हुआ करते हैं। बादरों और स्वप्न की गलत धारें हैं, जैसे पाने-पहुँचने की संघट में नहीं पड़ते। इसलिए मजिब और मोल की बात से आप खुद भी बचिये मुझे भी बचाइये। चतुर्भुज की बेलना ही हो, तो मैं उस उल्टा पड़ा देखता हूँ



सामान्यतः चतुर्भुज का चित्र 'अ' सामने आता है। चतुर्भुज के ही चित्र में मुझे इन चारों पुरुषार्थों को बेलना होता है, तो 'अ' चित्र के रूप में ही देख पाता हूँ। धर्म मूल भाव और मूल दृष्टि है। वही अर्थ और काम इन दो छतों की ओर जीवन को विस्तार दे और वही दृष्टि फिर दोनों को परस्परलेशा में व्यवस्था देती हुई मुक्ति में समाहित कर दे, तो मानो चतुर्भुज का दृष्ट परिपूर्ण हो जाता है। धर्म एक अक्षय्य भंडा है। धन्य को व्यवहार पर लाते हैं, तो विवेक का रूप बनता है। और उसका समय अर्थ और काम से क्याकार पाया हुआ होना या विसार आना है। इस समय विस्तृत हौस में फिर एक एकल अर्थात् मुक्ति की ओर उन्नति होती है। दूसरे शब्दों में मोक्ष में अर्थ और काम का परिहार नहीं है बल्कि समाहार है। अर्थ-काम की कोई अनिश्चित अगुप्ति और दृष्टि योग प्राणि में अल्पराय और काम ही बननेवाणी है। यानी मोक्ष में अगुप्ति किसी प्रकार की नहीं रह सकती है। पर यह चार पुरुषार्थ के चतुर्भुज रूप की बल्यमा इंगित नहीं है कि भाव और मैं उस पर अर्थ या धर्म को उनी चित्र से नाचें। वह तो निरर्थक बुद्धि के महारे के लिए है। उससे अधिक महत्त्व देना भूल करना होगा।



## साहित्य और कला

### पश्चिम का साहित्य

१२३। हम साथ-साथ हट गये हैं। पर अब फिर पाश्चात्य प्रदेशों में लौटना होया। न जानना चाहता हूँ कि पाश्चात्य-साहित्य पाश्चात्य सम्प्रदाय की राशनोनिज सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं को किससे समाधानपूर्वक प्रस्तुत कर रहा है।

### बुद्धिमत्ता और बुद्धिमान साहित्य

—साहित्य वहाँ की मानसिकता को सचमुच पूरी तरह प्रतिबिम्बित करना है। समस्याएँ जब वहाँ साफ उठती दीखती हैं, तब यह कहना बज्रि होया कि समाधान का आधान भी वहाँ उठना ही स्पष्ट है। केवल रोय का नाम स्वयं उमरा निदान और समाधान है यह भी बहुत ही तक सच है। मानसोत्थार और मनोविराग में हमी निदान को नाम में लाया जाता है। अन्दर की पीठ का बाहर केतन में बाहर व्यक्त हो जाना ही मानी गुप्त जाना है ऐसा मनोवैज्ञानिक कहते हैं। इस दृष्टि में सच ही पाश्चात्य-साहित्य बहुत कीमती और मर्मदशी है। बिचटित मानस का बिच वहाँ भरपूर उभरा देखा जा सकता है। यह ही बेचनी है और यह ही समाधान है। एन्डिक्ता के प्रति एक साथ उभरी ही बनी अनुरक्ति और यह ही विरक्ति है। गायन का मरोका है और उभरा ही उमकी व्यर्थता का भी निरचय है। बन्धा जो पत्नी पीड़ी तक के सेगलों को बामे हुए भी दूटकर बिगड़ गयी है। मृत्यु गी मय है और आत्मी का जाना बिच पानी की हम्मी लहराती साह पर बैसे हूँ छन सेगलों-हुराओं गम्भीर म हिम्मा-कम्मा बगना-बिगटना रहना है बीना ही हो गया है। राशनोनिज में एक बन्धु म्भिर मानस होनी है और यह है पुनः। अन्यथा यह बिभीरिका भी रन मानी जा रही है। तत्काल में भी आज समाज प्रदान बन गया है। और घन का भी मरी उपयोग कहा है कि उनका शा का अधिद-ने-अधिर रम मीका जा मरे इन्धरि। मैं उस साहित्य के नास्तिक स्वर को बहुत महत्व देता हूँ। बहुत उसका इन बात में है कि सबसे प्रति उममें मेडि का चीन है। यह देना

बला और परबल जाता है, फिर निर्लेपपूर्वक फेंक दिया जाता है—यह कहकर कि यह नहीं है। अचरम में प्राप में बुध्य में कृत्स्नित में शराव के मत्ते में, बुद्धि के मय के सहारे उतरकर हठात् सब मुझकर, मुक्त आस्य से वहाँ बिलसा और रमा जाता है, अन्त में यह पाने के लिए कि नहीं यह भी नहीं है। इस दुर्लभ प्यास और बुध्न्ति चाहस पर मेरे मन में सहानुभूति और प्रसंसा होती है। वह मानस है जो बनी-बनाई राह को नहीं लेता। सब भी है कि मुक्ति के लिए बली राह पर चलने से नहीं बसता। सब राहें बाहर हैं भीतर के लिए अपनी ही खोज से राह बनानी और चलनी पड़ती है। आत्मा कभी दूसरे की नहीं पापी या सकृप अपनी ही पापी होती है। वहाँ कोई राह नहीं रखी सब भीतर निविड़ और आकीर्ण होता है। पश्चिम का लेखक अच्छे अच्छे ऐसी ही जगह पहुँच गया है। वह अपने आत्मे सामने है। सहारे जान-बुझकर उसने सब पीछे छोड़ दिये हैं। न परम्परा है न पन्थ है न विरवात। वह है और विन्दपी है। पास के दिव्यग्न को भी फेंक दिया है। तफर का कोई लक्ष्य साम नहीं छोड़ा है। और दोनों एक-दूसरे से जूम रहे हैं, विन्दपी उसको नहीं बकसना चाहती और वह विन्दपी को नहीं बकसाता। जीने-मरने की यह बाजी है और एक-दूसरे के आहर-उपचार का यही सवाल नहीं है। मानो परिदृश्य हो बया-हया का प्रबल न हो। इस घोरता में से मैं मानता हूँ प्रकाश निकलेगा। अवेरा है और निविड़ है, इन्हीसे है कि उर्ध्व उगया। मन्बन पहर दे रहा है पर अन्त में अमृत ऊपर आवेगा।

अस्लील, बीमस्त को घोरता

अस्लील बीमस्त कृत्स्न अवल की सीमा-रेखाएँ यदि गोपी सी जा रही हैं, तो यह भी मेरी बुद्धि से अनिष्ट नहीं है। क्योंकि भीतर बड़ा नास है बनी प्यास है, और बड़ी लक्ष्मा है। उसकी भीमत्त है और सब नहीं है। उसकी पाह को महने के लिए जो निकला है, उसे फिर बया करने को रह जाता है। एना सजता है कि बीमसी मशी के गुरुने से पहले ही उठ जानेवाले बीमोबस्की के भीतर भी यदि घोरता भी तो उसे सहारने के लिए मझा का सारा भी था। आज अपने मरक को सेतने के लिए बीमस्त के पास वह बाध भी नहीं है। फिर भी वह मुझकर है हक की लक्ष्मा है और उसने पहले दाने की उग ताब नहीं है। मैं इसको भय विविध का मूचक मानता हूँ। हर से मुझकर दर्र बया दबा नहीं बनता।

साहित्य बक 'पाह'

अवस्था के क्षण में अमृत को राख प्राण है और ममता प्राण है। उसकी बाध



उससे पहले जो है, वह वैयक्तिक और सामाजिक समस्यामाय होती है। उनके आधार पर साहित्य व्यवस्थापक होता है उन्मायक या नवगाहक नहीं होता।

पीड़ा में से शांति, पाप में से आत्मा

गहन मन्थन में स किंच भव्य भविष्य या उपलब्धि की आशा की जा सकती है ? मुझे समझ है पीड़ा में से ज्ञान और पाप में से आत्मा प्राप्त होता है। मनुष्य यदि पहचानेगा कि पाप में गहरे से गहरे गिरकर भी कुछ है उसमें जो निष्ठा नहीं है, पहचानेगा कि आवसी पाप नहीं है, तो एक नया दर्शन उसे प्राप्त होगा। उस मुक्त की हत्या या कानून की हत्या ध्वंस दीक्षा आयेगी वह बेवकूफी मातूम होगी और कानून अपराधियों से समाज को बचाने का दायित्व ओझड़ नहीं बैठेगा बल्कि उन अपराधियों को समझ में उतारेगा और उनके लिए अस्पताल की व्यवस्था करेगा। आज जो राज्य के कानून के धोर से हमने दुनिया को अच्छे और बुरे, उजले और काँध सही और गलत उत्तम और अधम सरजन और दुर्जन पूर्य और पामर आदि में बाँटकर मानवता को दो टुक काट डाला है वह वर्ष और दम्भ खाम होगा। व्यवस्था घासन और नियन्त्रण की मूर्हतान न होगी, वह सीपार से उल्टी हुई आयेगी। जोर आज जोर है, कम मातूम हो सकता है कि वह बेचारा और मूसा था। मुन्सिफ के लिए जो मुजरिम है माँ के लिए वही बेटा होता है। उस भव्य भविष्य में जिसकी आन बाध करते हैं, मैं करता हूँ मुन्सिफ में माँ का रिश्ता हो सकेगा। अबर्त् विर्क मुन्सिफ और हाकिम होना बन्द हो जायगा क्योंकि मुन्सिफ भरती निपाहों में गुद मुजरिम होगा और शास्ता स्वयं में आत्मानुसाधित होगा। वह भव्य भविष्य कभी नहीं जानेवाला है अगर साहित्य यह दिखाने में बचेगा कतपदेवा असमर्थ होगा कि सत्य और दुष्ट दोनों में मनुष्य है, गरी और वैसा दोनों में गरी। हजारों वर्ष पहले मीना ने यह कहने का साहस किया था। आज राज्य राज्य के मुँह से नहीं निकले हैं संस्कृत भाषा के नहीं हैं तो बना इसीलिए पश्चिम के साहित्य की भास्त्रिक बहकर वर्ष मानने का हक किसीको हो सकता है ?

**कम्युनिस्ट साहित्य तत्प्राप्त वर**

१२५ पाश्चात्य-साहित्य के बारे में जानने जो कहा गया वही कम्युनिस्ट-साहित्य के बारे में भी साथ है ?

—नहीं उन देशों के साहित्य के बारे में स्वयं उन्हींको प्रकाश होने लगी है कि वह अधिक मुनिरिक्त है काशी नकाशमक और प्रस्तात्मक नहीं है। जिसको बड़ा जायगा सीठरा जायगा (बर्ने इन्वेन्शन) वह इसमें कम है। मय वही बना-बनाया है

गौर मित्राना-मधीन्ना उतनी तीव्र नहीं है। इन दोनों में प्रयोगजनक है। समग्र में सामाजिक और लौकिक है। मानो साहित्य तार्क्य और तानुगत है। प्रतिभार गौर प्रतिभा के रूप में बहु स्वतन्त्र मूर्तियों की तौज में नहीं चलता। उस क्षण का रोम जो समय और युग के दायित्वों के अधीन नहीं है, जो हृद्यार्थ है जीवन का मूलार्थ है, उसकी सम्पुष्टता साम्यवादी लोगों के साहित्य में उतनी प्रगट नहीं है। साहित्यकार के राष्ट्र-निर्माण आदि की मूर्तिपरि अग्रता है, और बहु दम मीप से मुक्त नहीं होता। वहाँ का जीवन उसकी इस अग्रता में घेरे ही रहता है। उस पूर्ति की आशा में उसे गहन-गहन की मग्न प्रकाश की मुक्तिपार्थी भी देना है। राज्य की और में इस जीवन के सु-आयन ही प्रस्तुत नहीं होत प्रत्यक्ष विविधता और प्रविष्टि का आकाशरम भी उसके लिए मुक्तिगत रहा जाता है। जन जीवन किसी समाजवादीक दृष्टि के सामने और उस व्याप के द्वारा आ-म हार्थ में सम्मिलन होने की सम्भावना दृष्टि नहीं रखती। लोकमान्य के निर्माण एवं निष्पत्ति के रूप में उसका काम चलता है, अपने पहले दूसरे और चित्त की पाहू केने की उसकी भाव-धरना उन्हें नहीं रखती है। ही दार्शनिकों की कल्पना कीजिये। एक त्रिभुज के बोरे-पै (प्रयोगशास्त्र) में वैज्ञानिक छोट-प्रयोग में रहता होता है। दूसरा त्रिभुज असमान में विषय रोगियों के सांसारिक उद्वार में काम चलता है। कम्पनिस्ट देश के साहित्यकार के मूर्त में मानो यह भी-साहित्य और सामाजिक दूसरा काम है त्रिभुज की भावना-विषय उसकी गिता और आकाशरम है। व्यक्तिगतता के लिए वहाँ अपना अकाशरम नहीं है। इसलिए त्रिभुज आत्मिक पहलूया कहा जाता है। वह भी-रम के साहित्यों में कम मिलेगी। अग्निता रहस्यमयता कम होगी। सत्ता प्रवृत्तिमयता और उद्वेग रोगिता अधिक होगी। कारण उसका सम्पूर्ण मयन-गमाय में विद्यमान है और अपने उत्पन्न विगी अग्निम माल के प्रति सम्पूर्ण होने की छद्म कम है।

### कम्पुनिस्ट-साहित्य और भारतीय रस-साहित्य

१२६. कम्पुनिस्ट-साहित्य की इन स्थिति में और हमारे रस-साहित्य की स्थिति में क्या कुछ दूर तक समानता भाव नहीं पाते?

—उत्तरीय होने के लिए जो भी है वह स्वतन्त्र एक बोले पर आ जाता है। विद्या और उद्योग दोनों साहित्य और वैज्ञानिक मग्न रहने और मग्न करने का साहित्य मूल की दृष्टि में एक स्तर पर आ जाता है। जन वर्ग प्रसार और विज्ञान की दृष्टि में भी। मनो बहु राग हेतु बन जाता है। यचना 'पौर-मग्न' की जाती है। हमारी साहित्य अमक प्रयोग की पूर्ति को हस्त-मनकर मृष्ट होता है, हमारे अपने-अपने छोर पर नयी-नयी विधाओं में रीति करना उभरी होता है। अन्तरी



और उक्ति की सुविधा यहीं से पैदा होती है। नयी-नयी तरकीबें निकलती हैं और एक स्वतन्त्र जसा सौन्दर्यवाद के नाम पर जन्म पाती है जिसके नीचे पम्पीर जमीन्दा नहीं होती। मुझे प्रतीत होता है कि जिसमें केवल जीवन-शोष और सत्या-मुत्थान की स्तुति है ऐसा साहित्य असंगुण्य न होगा पर वह रसवादी भी न होगा। इन दोनों रसों में अन्तर यह है कि एक रस से मन भरता है और दूसरे से भरता ही नहीं। वह रस अनन्य और स्वामी होता है। उसमें आपके लिए सब-सबाबिकार का अवसर रहता है। जैसे रस वहाँ से कभी लाली नहीं होता और जोड़ पुराना बासी नहीं पड़ता। रसवादी बस्तु का रस जाब ताजा है जब वह बासी पड़ जाता है। यह कहिये कि रूप-स्तरवाला वह रस है जिसको बदलते और पसन्दते रहना बकरी होता है। गुबारमक रस किञ्चित् अल्प होता है और वह उतना ही स्वाधी बनता है। 'फॉर इफेक्ट' होनवाली रचना चाहे इष्ट उसका मनोरंजन ही अवसा व्यवस्थान स्वामी मान नहीं पाती। कारण कर्ता और शीकता के बीच इस हेतु का एक व्यवधान पड़ रहता है। ऐव्य नहीं रहता। रचना मानो बनायी जाती है, वह स्पष्ट नहीं होती। जो कृत है और कालि है, वह मानो केवल और पाठक के बीच सम्बन्ध बनाकर भी अन्तराय रहता है। अतः उस रस में आत्मीयता परिपूर्ण नहीं होती है। जहाँ प्रयोजनीय गान है, वहाँ आत्मदान नहीं है। यही कारण है कि रस की कसौटी पर बाही रचना हमकी तुच्छी है और लाल की कसौटी पर उप-देय-आदेशवासी रचना आत्मनाम की अपदा में लबा मोड़ी रह जाती है। मनो-रंजन और शिक्षण दोनों ही उपयोग हैं। रसवाक पहले को प्रभावता देना तो समाज-वाद दूसरे को प्रमुख रहता है। दोनों के बाद जब तक प्रयोजन मन में रहते हैं परस्पर पूरी तरह समन्वित नहीं हो पाते और उनमें कुसकतापूर्वक सम्मुख साथे रहने की बात सोचनी पड़ती है। मृजल की एक तीमरी बिबा है जहाँ प्रयोजन-विचार के लिए असम में अवकाश ही नहीं रहता। जहाँ प्रेरणा आत्म-व्यथा में से आती है आत्म-विनिर्जन आत्म प्रकाशन में पूर्ति पाती है। इस जगह यदि रस और प्रभाव का अनावान एवम एवं समन्वय हो जाता हो तो विषय नहीं है। हेतुपूर्वक दिया गया कुछ भी बिपवी (अव्यय) और बिपय (आव्यय) के तारात्म्य नहीं ला सकता है। कारण इस आत्मप्रयण में बहुत कुछ पीछ पीछ दिया जाता है और हेतुमत् किञ्चित् ही दिया जाता है। दमन उतनी लुप्ति और मुक्ति की निमी और प्रान्त नहीं होती।

रस निश्चय की भाग्य में बड़ी मीमांसा हुई है। मर्म है उनका बिपवी का मनार्थम हाग बिपय में मीमांसा और अभिप्राय पाना। मृजल के द्वारा होनेवाली यह माधवा पटन के द्वारा मानी फिर उन छोर में हम और प्रविष्ट होकर आती है। अर्थात्

सांसारिक विषय द्वारा विपरीत की अनुभूति का आस्वादन पाता है। यों वृत्त पूरा होता और स्व-मनोरंजन का उद्भव और मरहट्ट बनता है। यह प्रक्रिया बीच में हेतु और प्रतीति के आन में अनिवार्य नहीं रहती और निरूपण हेतुसम्यक् सागर-कल्प में साक्षात् बनता है।

### सांसारिक दुःख और दोस्तीपियर

१२७ सांसारिक दुःख और कला इनमें से आप साहित्य के लिए किये किये आध्यात्मिक और उपवीची मानते हैं? दोस्तीपियर में आपका आन के-से पुरोपीय केन्द्रों की-सी दुःख नहीं की। सब क्या उनकी रचनाओं को आप आन की सब मामों से हीन मानते हैं?

—दुःख और कला में ही मयज में को वृत्त की चीजें नहीं हैं। कला को सब हम आगीधर करते हैं, बनाने-कराने नहीं है। तो वह अनुरोधों की ही और सबबनन अनेकन स्तरों को छोड़नी हुई अनुरोध में सहरे पंक्ति है। इसीको दुःख कहिये। बुद्धि का बरमा इनका बाधक नहीं है और वह अन्तर्गत के मन की नहीं है। बरमा। बुद्धि मयज नहीं होती हुई-नहीं में बँटी होती है। कहिये कि वह प्रियत्वा का हिमन होती है। कला में जैसे होरन टिक मयज नहीं है वह पचाप हो जाती है। अनुरोध हम विपन्न कला का का के केना है। यों नक कि वह विपन्न रहता ही नहीं। हमारे सामने में उद्भव-मोरी-मवा में कीरियों के विपन्न में म जो वा निजा वह उद्भव की आगीधरानि में बड़ी मयज था। हम क्या में निजा मयज क्या मान है कि बुद्धि से कला सहरे मय में जानी है और सहरी मयज का जानी है।

दोस्तीपियर मयज मयज मयज केना का मयज है। ही कला की दृष्टि में आपका कला-के-कम अनुरोध। हम कारण दोस्तीपियर में केही विपन्न है कि मयज में के मयज के मयज के मयज में है। केवल आध्यात्मिकता की दृष्टि में उक्त आध्यात्मिक में आध्यात्मिक भी मान निजा का मयज है। आध्यात्मिक में उक्त मयज धरती में नहीं मयज है। आध्यात्मिक विचार मयज में उक्त विचार केना मयज मयज है। आपका के अनुरोध केना नहीं है। कुछ अनुरोध मयज का अनुरोध, मयज मयज का दान के मयज है। केवल मयज भी दाना विपन्न-मयज के अनुरोध मयज आध्यात्मिक मयज है। अनुरोध को के मयज उक्त मयज मयज का है।

### पुरोपीय कला

१२८ क्या पुरोपीय कलाओं में आप साहित्य की ऊपर किये प्रक्रियाओं को का

और उक्ति की सुबियाँ यहीं से पैदा होती हैं। नयी-नयी तरकीबें निकलती हैं और एक स्वतंत्र कला सौन्दर्यवाद के नाम पर जन्म पाती है जिसके नीचे सम्मीर अमीन्दा नहीं होती। मुझे प्रतीत होता है कि जिसमें केवल जीवन-सोप और सन्ध्या-मुसम्मान की स्तुति है ऐसा साहित्य रसयुक्त न होगा पर वह रसवादी भी न होगा। इन दोनों रसों में अन्तर यह है कि एक रस संभ्रम भरता है और दूसरे से भरता ही नहीं। वह रस अनन्य और स्थायी होता है। उसमें आपके लिए नव-नवाविष्कार का अवसर रहता है। जैसे रस वहाँ से कभी जाती नहीं होता और ओत पुराना वासी नहीं पड़ता। रसवादी वस्तु का रस मात्र ताजा है कल वह जाती पड़ जाता है। यह कहिये कि कम-स्तरवाला वह रस है जिसको बरकते और पकटते रहना जरूरी होता है। गुणात्मक रस किंचित् अल्प होता है और वह उतना ही स्थायी बनता है। 'फोर इफेक्ट' होनेवाली रचना चाहे इष्ट उसका समीरजन हो अथवा व्यवस्थापन स्थायी भाव नहीं पाती। कारण कर्ता और भोक्ता के बीच इस हेतु का एक व्यवधान पड़ रहता है अन्य नहीं रहता। रचना मानो बनायी जाती है, वह स्पष्ट नहीं होती। जो कृत है और कारित है, वह मानो लेखक और पाठक के बीच सम्बन्ध बनाकर भी अन्तराय रहता है। अतः उस रस में आत्मीयता परिपूर्ण नहीं होती है। जहाँ प्रयोजनीय धाम है, वहाँ आत्मधाम नहीं है। यही कारण है कि रस की कमीनी पर वासी रचना हलकी तुल्य है और लाभ की कमीनी पर उप-देश-आवेष्टवासी रचना आत्मलाभ की अपेक्षा में सदा ओछी रह जाती है। मनोरंजन और शिक्षण दोनों ही उपयोग हैं। रसवाद पहले को प्रधानता देता तो समाज-वाद दूसरे को प्रमुख रखता है। दोनों से वाद अब तक प्रयोजन मन में रखते हैं परस्पर पूरी तरह समन्वित नहीं हो पाते और उनमें कुशलतापूर्वक समुत्पन्न साधे रखने की बात सोचनी पड़ती है। मूल्य की एक तीसरी विधा है जहाँ प्रयोजन-विचार के लिए अलग से अवकाश ही नहीं रहता। जहाँ प्रेरणा आत्म-व्यवा में से आती है, आत्म विचर्यन आत्म प्रकाशन में पूर्ति पाती है। इस अवह यदि रस और प्रभाव का अनाधान एवम् एवं समन्वय हो जाता हो तो विस्मय नहीं है। हेतुपूर्वक विधा गया कुछ भी विषयी (मन्त्रक) और विषय (माग्नेट) में तारागम्य नहीं ला सकता है। कारण इस आत्मप्रपण में बहुत कुछ पीछे गेह दिया जाता है और हेतुगत किंचित् ही दिया जाता है। इसमें उतनी गृप्ति और भुक्ति भी तिमि और प्राप्त नहीं होती।

रस निदान की मात्रा में बड़ी सीमाया हुई है। यथैव है उनका विषयी का महाभोग द्वारा विषय में सीतना और अभिप्राय पाना। मूल्य के द्वारा होनेवाली यह मापना पटन से बाध मानो किंतु उस छार में इस आर प्रविष्ट होकर जाती है। अर्थात्

सांसात्विक विषय द्वारा विषयी की अनुभूति का आनन्दन पाता है। पों ब्रुन पूरा होता और सम-संचार का उद्भव और संचालन करता है। यह प्रक्रिया बीच में हेतु और प्रमाणन के आगे में अनिवार्य नहीं रहती और निरूपण हेतु स्वयं साधारण करण में बरबाद बनता है।

### आत्मनिक दुरेव और दोषसंपिपर

१२७ आत्मनिक दुरेव और व्यापक दुर्गम में आप साहित्य के लिए बिने अधिक आवश्यक और उपयोगी मानते हैं? दोषसंपिपर में साधारण मात्र के-से यूरोपीय लेखकों की-सी दुरेव नहीं की। तब क्या उनकी रचनाओं को आप मात्र की रच नामों से हीन मानेंगे?

—दुरेव और व्यापक केरी समझ में वो बुर की चीजें नहीं हैं। व्यापक को जब हम अपेक्षाएं करते हैं कलने-कराहने नहीं हैं ता वह अपेक्षाएं होती और अक्षयन अक्षयन स्तरों को छोड़ती हुई व्यक्तिगत में गहरे वीछी है। इसीको दुरेव कहिये। बुद्धि का बरमा इनका बाधक नहीं है और वह अक्षयन के लक्ष को नहीं भेद पाता। बुद्धि समझ नहीं होती ही-नहीं में बँटी होती है। कहिये कि वह द्विजिह्वा या द्विगुण होती है। व्यापक में जैसे दोषन टिक सक्ता नहीं है वह व्यापक हो जाती है। एम्मीर हम चिन्तन व्यापक का रूप में लेता है, यहाँ तक कि वह चिन्तन छाया ही नहीं। हमारे सामर्थ्य में उद्धव-ओरी-नवा में बीजियों में बिन्दु में न जो पा लिया वह उद्धव की आनन्दनिक में बड़ी बरता था। हम व्यापक में निरा दमक क्या मान है कि बुद्धि में व्यापक गहरे मर्म में जाती है और गहरी लक्ष्यता पा जाती है।

दोषसंपिपर साधारण सबसे स्वयं लेखक माने जा सकते हैं। हाँ दुरेव की दृष्टि में साधारण कम-से-कम व्यक्तिगत। हम बरतन दोषसंपिपर में लगी विवेचना है कि बरतन में वे सचन मोर्चनिक लेखकों में हैं। लेकिन आत्मसाधना की दृष्टि में उन्हें आत्मनी में अनादरपक भी मान लिया जा सकता है। साधारण न उन्हें प्रथम माने में नहीं गया है। आध्यात्मिक विचार मात्र में उनमें विनाश लेता हुआ बन सकता है। साधारण के अनिवार्य लेखक नहीं हैं। कुछ अज्ञानिक रचना बना आत्मनिक नरा प्रकृत्य हर बात से जाने हैं जैसे कुछ लक्ष्य भी आनन्दनिक-नवा के प्रति एक लक्ष्य आध्यात्म मान जाते हैं। दोषसंपिपर को वे क्या उनमें नहीं मान पाता है।

### यूरोपीय कलाओं

१२८ क्या यूरोपीय कलाओं में आप साहित्य की ऊपर बरतन प्रकृतियों को बन

मान्य पसंदें हैं? श्री आर्टों का जो काफ़ी मजाक इधर बनाया गया है, क्या उससे आप सहमत हैं?

—हाँ कलाओं में भी तत्संगत प्रमाण देना जा सकता है। बात यह माकूम होती है कि प्रवीजनवाले वर्ष से काम नहीं चलता यह अपूरा ज्ञान पड़ता है। बीच में ही उसरा सहारा छूट जाता है। इससे यह अर्थ (मीनिंग) टूट रहा है। कुछ भिन्न कर जो सहसा इस सब होने-हवाने में कुछ भी अर्थ नहीं पकड़ मिलता है तो बिच होती है कि मानो वर्ष-हीनता ही अर्थ हो। मानो सबके अपने-अपने होने में अर्थ गमित हो। यह अस्तित्ववाद (एग्जिस्टेंसलिज्म) समन्वित अर्थ की आवश्यकता को मानो समाप्त कर देता है। उसे इतना अधिक छिटका देता है कि जैसे कुछ होने में किसी एक अर्थ जबबा माब का होना वैसा मानना-बैपना मूल्यता हो। रूप पहले सुन्दर होकर कला में उतरता था। रूप क्या है, सुन्दर क्या है, यदि यह प्रश्न लगे हो जायें प्रतीतियों के अन्तम कहीं हम उन्हें पा ही सेंता चाहें तो क्या परिणाम होना? जो होया वह परिणाम कलाओं की आधुनिकताओं में नजर आ रहा है। रूप का रूप के रूप में माना ही बीसे जनमीष्ट हो गया है। जाहति अनाहति बन जाती है मुमक अतमक बनता है। सब कुछ अनिर्दिष्ट होता है और यह आप पर निर्भर करता है कि आप उसमें अर्थ देखें रूप देखें आकार देखें गुजरता देखें या चाहें तो इस सब चीजों का अभाव देखें। कलाहति मानो तमक इस्तिए है कि आपकी निश्चिन्ता को विम्व मलित कर है और वही केवल प्रश्न की पृष्ठों को दृक्बुद्धता छोड़ दे। मान सीखिये चित्र का धीरंक है मुखरी। तो मानो सबती ही है जो चित्र में नहीं मिल सकती है। क्या यह मुखती का मुख है, लेकिन फिर बस कहां है? इत्यादि प्रश्न उठने जाग हैं और चित्र उठाने में ही उनकी मल्ल कर सकता है, बुझाने में नहीं। जिसका कहा जाया है सबजेक्टिविज्म उनकी मूल्य अनिसायता कलाओं में कबाचिन् इमजिना आयी हो कि चाहती सामाजिक व्यवस्थाओं में औपजे रिजिबिज्म की अनिसायताओं से काम पड़ता है। पश्चिम का कलावाद प्रतीत होता है उस पश्चिम के ही बन्धुवाद और समाजवाद की प्रतिक्रिया में हो यह रूप लेकर उठा है। साप्य इतरा जग्य भी समान लीज गे हुमा। व्यवहार में नियम-संयम की प्रणिप्य है तो कला में अ नियम और अ-नयम की उपागता हायी। व्यवस्था सामाजिक है तो अव्यवस्था को कलात्मक होना होमा। समाज और राज्य यदि समूह को विभते हैं, तो कला निगाल्य व्यक्ति की उपागता में लपकी। सामाजिक और राजनीतिक प्रयत्न एगता को अनेक के मग्मिसन के द्वारा माबना चाहेंगे, तो कला हर एक-एक की निजता को बिगराहर मानो परमाणु द्वारा अलिन ऐरर को प्रतिप्यिज करेगी। यह दो विरोधी गतिया पश्चिम में जोर जोर में चलीं।

एक का खीर दूसरे को बनायास खोर पहुँचाता रहा। समाजवाद की सामूहिकता और कलावाद की एकाकितता दोनों पन्थ साथ-साथ पनपे और साथ ही साथ समाज और भाव से बढ़ते चले जा रहे हैं। पाँच तीन वस आदि की गणना के साथ अमृत वर्षीय मुनिदिक्षु कर्म-योजनाओं के समस्त बसा की यह बिरोही भाषुनिकता है जहाँ सब उल्ट-पल्ट और गड़बड़गड़ हो जाता है। स्टील का कारखाना वहाँ ऐसा चीन सकता है कि चीनी हो और फिर उन दोनों में एक नया आकर बैठ सकता है! ऐसा वहाँ हमकिए हीता है कि अमल में हो नहीं सकता! स्टील का कारखाना सोपड़ी से अनवेक है हमीसे दोनों के जमघट को चित्र में होना पड़ता है। मैं इन भौतिकी गणित और आत्मिकी कला की क्रिया प्रतिक्रिया में स्वास्त्र के लगान न देख पाऊँ, तो क्या आप मुझे बोल दिये ?



तृतीय खण्ड  
भारत



- १ सांस्कृतिक सम्मिश्रण
- २ जातीय राष्ट्रवाद और गांधी
- ३ समाजवादी भारतीय प्रजातंत्र निर्माण
- ४ हमारे दल और नेता
- ५ भाषा का प्रश्न
- ६ अन्नकल्याण और अन्नसुरक्षा
- ७ शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में सामाजिक नीति
- ८ प्रादेशिक समस्याएँ
- ९ सरकारी कर्मचारियों का प्रश्न

## सांस्कृतिक सम्मिश्रण

### भौगोलिक नहीं सांस्कृतिक

१२९. आपकी बुद्धि में भारत एक भौगोलिक इकाई मात्र है अथवा इस नाम के साथ एक सांस्कृतिक तस्वीर भी जुड़ी हुई है?

—भौगोलिक इकाई के रूप में भारत स्थिर नहीं रहा है। उसकी सीमा हटती बढ़ती रही है। अभी लाहौर उसमें नहीं है कभी काबुल उसमें था। फिर भी सहर्यौं वर्षों से भारत के नाम पर कुछ अभिनिष्ठ और अज्ञान बना आया है। वह भौगोलिक नहीं सांस्कृतिक ही रहा हो सकता है।

### अटूट, अडिग

१३०. सांस्कृतिक भारत की कल्पना क्या है?

—उसे सम्पूर्ण कल्पना देना कठिन है। उन सार की आवश्यक और मानविक रहना चाहिए। सामाजिक संस्थाएँ, दिनमें यहाँ का पारस्परिक जीवन कल्प और व्यवस्थित हुआ है वे चरित्र और आदर्श जो यहाँ के मानव को संस्कार देने रहे हैं संस्कृति के मूल को बरखाते हैं। कल्पना उस पर बँध गयी होती तो घायल राजनीतिक आपातों को वह संस्कृति बनने में अमा नहीं सकता थी। घायल सब वह टूट-र बिगड़ जाती जैसा कि और राष्ट्रीय संस्कृतियों के साथ हुआ है। हिंस्र सभ में वह जड़ नहीं पायी सभी वह अटूट और अडिग बनी रही। घायल कुछ मृत्यु का स्वीकार और व्यवहार उनकी निरन्तरता को घामे रहा।

### मिश्रित संसिद्ध

१३१. सब क्या आप भारतीय संस्कृति को एक संसिद्ध और मिश्रित संस्कृति के रूप में ही देख पाते हैं? वे कल्प क्या थे, जो भारतीय संस्कृति को घामे रहे?

—हाँ वह मिश्रण और मेलन के ऊपर से जुड़ना क्या नहीं था। उनमें किसी विविधता और विभक्तता की हानि नहीं हुई। उनमें हिंसा का प्रयोग नहीं हुआ।

हिंसा मित्रनी रही व्यवहार-व्यापार के क्षेत्र में रही हो सकती है। मूर्खों के स्वीकरण में यह प्रयोग नहीं पा सकी अज्ञा को लक्षित नहीं कर सकी। विभिन्नता को कम न करने की इच्छा रखते हुए जो एकता की अनुमति है उसकी ठेठ भारतीय कहा जा सकता है।

### तटस्थ संप्राहक वृत्ति

भारत को लोगों ने हिन्द कहा है। हिन्द सिन्ध से निकला है जो नदी का नाम है। वहीं सिन्ध हिन्द बना। हिन्दू-यम में एक शास्त्र एक देवता एक प्रवर्तक या अवतार नहीं है। शास्त्र बनते चले गये और देवता बढ़ते चले गये। कोई ऐसा मत विचार नहीं जो वहाँ न मिश्र जाता हो। आवश्यक इतना ही रहा है कि वैदिक पूँजी के प्रति आदर रहे। इस मूल विषय के साथ जो भी आता है, वहाँ स्थान पाता रहा है। अर्थात् आग्रह पर उस संस्कृति का निर्माण नहीं है आग्रह फिर मत का हो अपना मौलि-रीति का। ऐसा मान्य होता है कि आपसी रहन-सहन के विकास और अभ्यास के क्रम में से उस संस्कृति का निर्माण होता चला गया है और किसी बौद्धिक प्रतिपादन और लौकिक नियन्त्रण का आरोप उस पर नहीं हो पाया है। मानो एक तटस्थ संप्राहक वृत्ति और वृत्ति उसके पीछे रही है। ऐसे व्यक्ति वहाँ होते रहे हैं, जिनके पास अपने अलग स्व का भाव नहीं था जिनकी कामना सबको परस्परता में समा लेने और अपने को सबमें समा देने की थी। चापद भारतवर्ष की परिस्थिति और उसका जलवायु इन वास्तव्य और अवास्तव्य के अनुकूल हुआ। जो हो, मानव चेतना की सब प्रकारकी अभिव्यक्ति का समावेश और संग्रह करने उस वादी के प्रति परिचय और आदर को जीवन का वहाँ मूल मान मान लिया गया है। वेद भारत की विधिपूँजी है। किन्तु वेदों में संग्रह है उस सब कुछ का जो प्रापति हामिक काल से भारत-भूमि में अनुपपन्न हो सिरजा और रहा। उनमें महिम्न भाव है तो माधुर्य और गुच्छ का भी वर्णन है। जैसे भगवत् और ब्रह्म में कोई भेद नहीं करना गया है, सबको अजीवारभाव में आदर में ले लिया गया है।

### पर की स्वीकारता

यह पर के प्रति उदारता और स्वीकारता का भाव उन सम्प्रदायों में भी व्यक्त हुआ जिन्होंने वहाँ रचना पायी। परिवार का जितना सम्बन्ध भारत में रीनता उनका विरह के विभी और दय में नहीं। तीर्थ धर्मशास्त्र महावर्त प्याऊ, अतिथि मद्यन परिवारा मस्यामी म सब कारणों और मस्यामें भारत को निजी है। परिवारिक और मस्यामी कोई विनयन व्यक्ति न था। वे 'प्रियम' नहीं थे समाज की विभाजि

में उनका लिए स्थान था। गृहस्थ के धर्म का परिपाक ही मन्याम में होता था। जीवन का यह मध्य विचार, जहाँ धर्म और काम एक-दूसरे में घुटकर अलग दिशाओं में नहीं चलाते हैं। भारतीय संस्कृति के आधार में देखा जा सकता है। स्वयं परिचार की कल्पना यहाँ घर्माघिन है। विमान सौविक और ऐतिहासिक नहीं है। पति-पत्नी परस्पर सुविधा और सामाजिकता के विचार में ही अनुबद्ध नहीं है। बन्धु-मान में आगे भी इस सम्बन्ध की व्याप्ति है। इस भाँति ऐतिहासिक पारम्परिक में ऐसे जोड़ दिया गया है कि उसका आधार स्थिर नहीं पाता है। कर्म के बीच धर्म की बुनियाद है और इसलिए कर्म उनकी स्पष्ट सगढ़ वेदा नहीं करता है। माना वह परम्परा परिपूर्ण बना रहना है। स्व और स्वकीय की परिधि पर पर और परकीय की उत्पत्ति यहाँ अस्पष्टनीय ही होती है। मय और आगम का कारण नहीं बनती है। अनिधि देवता है। कल्पना यहाँ एक गयी है कि जो जिस रूप में समस्त है क्या पना कि मयकाम ही उस रूप में प्रकट हुआ है। इस प्रकार मनुष्यमात्र जीवमात्र के लिए एक सम्प्रदाय और सदा की बुद्धि यहाँ पतपती रही है।

### विकास हासिक

इनका आशय यह नहीं कि जीवन का पदम और काल परम यहाँ अनुपस्थित रहा है। वह तो सम्भव नहीं है। मारनकर्ष में जैसा इतिहास बनाना है कार्य लोग ज्ञाने और ज्ञान के लिये ज्ञाने ज्ञान तो प्रकृति का माय उन्हें वह सब मुक्त करना पडा हुआ जो रहन-सहन की सुविधा जुटाने में आवश्यक होता है। विन्तु इस सब प्रयत्न का नीच प्रकृति के प्रति भाव उनमें मयर्ष म अपिह विष्मय और मययोग का रहा। इसी तरह जिन आदिम लोगों में उन्हें मुग्ध के ली गई उनके प्रति भी भाव मानो पीरे-पीरे स्वीकृत हुआ बना गया है। जान पड़ता है कि एक विशेष प्रकार की निस्वार्थता उन आदि-पुरखाओं का मित्र हो गयी जिन्होंने यहाँ के जीवन को बुनियाद दी। उन निस्वार्थता का कारण उस जीवन का विकास इनका निर्बाध और शांति होना बना गया कि विपक्ष और समन के बीच रहने तक नहीं पद और उस संस्कृति में मयर्ष और मययोग की शक्ति बहादुर जापन और विद्वान् रही।

### इस्लाम और इसाईधर्म

१३२ पर ऊपर आने जिन संस्कृति का विशेषण दिया है वह मात्र हिन्दू आनीय संस्कृति मात्र ही जानी जानी है। भारत में दो विशेष और बड़ी संस्कृति और हैं जिन्हें इस्लामी और ईसाई-संस्कृति कहा जाता है जो तत्कालिन भारतीय संस्कृति के मूल्यों एवं संस्थाओं को स्वीकार नहीं करती। सम्प्रतिक

भारतीय संस्कृति क्या इन तीनों के भारी संनिध्य स्वरूप का आधार लेकर ही विकसित नहीं होगी ? क्या आप इन तीन धाराओं का मिश्रण सम्भव समझते हैं ?

### बिदेही राष्ट्रवाद

—हो हिन्दू-भाषीय नाम सही ज्यों में उसनी पधार भारतीय हैं, यह कहता कठिन है। इस्लाम और ईसाइयत दोनों में एक निश्चित और एकाग्र धर्म-धन्दा थी। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि एक अमुक आवेष्ट भी उनके पास था। भारतीय भूमि पर मैं मानता हूँ कि इस्लाम आया तो धीरे-धीरे उसका आवेष्ट बह बला और जीतने से अधिक उसकी हिलचली होने में होने लग गयी। उस समय से मान लीजिए कि संस्केपन की प्रक्रिया भी जारी हो चली थी। मार्टीन-रिस्ती में एक से सम्बोधन चलते थे। पूर्व-उत्तर सम्मिश्र होने लगे थे। अनेक ऐसी धार्मिक विधियों ने जन्म पाया था जिनमें हिन्दू-मुस्लिम साथ होते थे। यह प्रक्रिया रुक गयी जब एक नये कर्मवाद ने प्रवेश किया। उसको मैं ईसाइयत नहीं कहता हूँ। ईसाइयत यहाँ उससे बहुत पहले आ चुकी थी और उसने कोई समस्या उत्पन्न नहीं की थी। आज भी केरल में ईसाई हैं जिनको अहिन्दू कहना मुश्किल होता है। खान-वान रीति-नीति रहन-सहन, यहाँ तक कि स्वयं बिराजा भी कुछ ऐसा रूप लेता गया है कि उस तक को अहिन्दू कहना आवश्यक नहीं है। यह महागत वस्तु ईसाइयत से कुछ भिन्न थी यह एक (बिदेही) राष्ट्रवाद था। राष्ट्रवाद का इससे पहले भारत के जीवन में प्रवेश नहीं हुआ था। मतवाद तो थे और भी दूसरे प्रकार के मानवीय आग्रह-वादों से भारत का सामना होता रहा था। लेकिन अंग्रेजों के आने से एक नया स्वार्थवाद आया जो हिल-मिल रहने के लिए तैयार न था। उसको यहाँ की सम्पदा सान समुन्दर पार के जानी थी। इस नये उत्थ के प्रवेश ने सम्भव की उस प्रक्रिया को जैसा रोक दिया। यदि केवल विजातीय होता तो शायद यह तरह घटने-घटने यहाँ के अभाव जीवन में समाकर धुल सजता था। लेकिन विजातीय से अधिक वह विदेशीय था। अर्थात् उसे अपने भीषोलिक स्वरेय का गवाह था। इस तरह मानवीय स इतर एक भीषोलिक वेग विवेक विचार यहाँ घर करने लगा। समकाले महारे स्वजातीय और विजातीय स्वमन और विमन के साथ भी सोने-मोने मानो जाम उठे और सम्भव की पावन प्रक्रिया में भग आ गया।

### हिन्दुत्व, हिबोत्व, गांधी

हिन्दू जिसको मान कहिये उसमें यदि इतनी सामप्रशयिता आ गयी है और उन कारण इतनी असमर्थता आ गयी है कि इस्लामी और गिजातीय धाराओं से भेद न

हो सके बनबन ही बनी रहे तो मैं मानता हूँ कि भारतीयता में अब भी वह समता है कि इन बाराओं को ऐसे समा से जैसे सागर नदियों को समा लेता है। मुसलमानों का सम्प्रदायिक नहीं था और मेरी आशा है कि आनेवाला हिन्दूत्व साम्प्रदायिक न होगा। हिन्दू का सम्बन्ध मतवाद से आज यदि जुड़ गया लगता हो, तो हिन्दू के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। पहले हिन्दू-संज्ञा भूमि से जुड़ी हुई थी, आज यह स्थिति हम हिन्दू-संज्ञा की मान सकते हैं। जो हिन्दू वह हिन्दू। यह भी नहीं तो जो हिन्दुस्तान का वह हिन्दुस्तानी। सब कोई ही—हिन्दू हिन्दी हिन्दुस्तानी भारतीय ! मुसलमान है कि भारत में स वह रचना होनी जिसका मूल मानवीय आधार होता। मानवियता की ओर से कोई सीमा और सीमांतता उस पर न होनी भूमि और सब का लेकर ही मर्यादा होनी तो होनी। यह भारतीयता न केवल इस्लाम और ख्रिस्ती धारा को बल्कि इनके इतर दूसरी धार्मिक अड्डाओं का भी उची आधार और भारतीय भाव से अपना सकती जो उसमें हिन्दू-सम्प्रदायों के लिए है। हिन्दूत्व यदि मान संकेता और मैं समझता हूँ आगे-पीछ माने बिना न रहेगा, कि गांधी उत्तक युगीन अवधार के तो स्वयं हिन्दुत्व में वह समता जा जायगी। गांधीजी ने कहा मैं हिन्दू हूँ हिन्दू का हूँ। लेकिन दुनिया के सब लोगों और भाषों ने कहा कि तुम हमारे हो। मेरी आशा है बल्कि विश्वास है, कि आपसी हिन्दुत्व हिन्दीत्व और भारतीयत्व गांधी को आधार में लेता और इन तरह बिंब-मानवत्व का प्रतीक हो सकेगा।

### इस्लाम की बफाबारी

१३३ मैं समझता हूँ कि इस्लाम को हिन्दुत्व में घुल-मिल न सके, इसका कारण विदेशी राष्ट्रवाद ही नहीं है। इस विवेक की उन्हें अधिक पट्टी है। आपस इस्लाम को माननेवाले भारतीय प्रथम तो भारत के प्रति बफाबारी न रहकर भारत के प्रति बफाबारी होते हैं यह एक कारण है। और दूसरे यह कि जिसका जीवन क्रिस्तात्मक आदेश है वह इस्लाम भारत में आया उतना आदेश कोई भी अन्य जानि अपने साथ नहीं लायी। इस आदेश ने भारत की टांगी पर जो घाव किये हैं वे समझता हूँ अब तक वे भर नहीं आते तब तक इन को संसृष्टियों का मिश्रण अतन्मय है। बड़ा आपदा विश्वास है कि इस्लाम के माननेवाले अपनी मूल बफाबारी को भर में और भारत की टांगी के घाव भरने ?

### राजनीतिक समता अछूरी

—इस्लाम की राजनीतिक समता को मैं बहुत अछूरी मानता हूँ एक बात।

दूसरी बात कि संस्कृति दी होती ही नहीं। पाराएँ दी होती हैं, पानी बो नहीं होते। मरियों के पानियों में फर्क हो सकता है फिर भी पानी एक होता है।

जैसे महरी बाज़िर होंगी वो कहाँ होंगी? मानस से जबिक गहराई कहाँ नहीं है। बेदा और भूमि में गड़ी चीजों की गहराई उठनी नहीं माननी चाहिए।

### इस्लाम की फतह

इस्लाम का जोश बाज़ हममें आछोचना पैदा कर सकता है। लेकिन जरब जैसे पिछड़े और गये-बीछे देश में से यह स्फूर्ति और उद्यमबना जयी इसको इतिहास का बहुत बड़ा जमत्कार मानना चाहिए। मैं जैसे मानूँ कि इतिहास राजनीतिक हेतुओं से जमता है। सायब हेतु उसमें जबिक गम्भीर, जबिक व्यापक होते हैं। सायब वे हेतु ऐतिहासिक जावतिक 'कॉस्मिक' होते हैं। भारतवर्ष में बिबिध की समता में सायब लक्ष्य की एकता को जो बिबा था। परमेस्वर माना बैबताओं में बिबतरकर मानो हमारे जीवन और भ्यबहार में से अनुपमिषठ हो बछा था। उस समय बहदत और बूत-सिफ्ती को लेकर इस्लाम भारत में आया। कौन जानता है कि परमेस्वर को क्या इष्ट था। यदि हिन्दू-भारत में कही कुछ जीवन बैतम्य का बभाव न होता और इस्लाम में पूरक लक्ष्य के कुछ बंध न होते तो सम्भव था कि इतिहास दूसरा होता। पर यदि यह बटना भटी कि इस्लाम ने फतह पायी यहाँ इस्लामी राज्य हुआ तो इसमें भारत का परामज ईश्वर को इष्ट न रहा होगा। बल्कि यह इतिहास भारत की सम्पुति में सहायक ही बनने के लिए आया होगा।

### इस्लामियत का पानी

हिन्दू का पहला और अन्तिम कर्णम्य यदि हिन्दुत्व के प्रति है और मुनक्तमान का समझे यवे इस्लाम के प्रति वो दोनों ही इस्लाम से बिमुक्त होते हैं और दोनों के लिए आपन में दो बज रहने का ही बाप बाप रहता है। पर यदि भविष्य है तो अभिबाप ब्यापी नहीं होनेबाछा है और दोनों को लीज बिना है कि उनका पहला ईमान और पहला धर्म मनुष्य के प्रति है। उनका बर्तन उनका बिबबाज और ईमान उनका बाब और मत यदि इनमें महायक होते हैं तो ही के छहरने है। अन्यथा समय की बति में छहरनबाले नहीं हैं। ऐसा होतो हिन्दू और मुस्लिम इन दो बाताओं में बहनबामी मन्त्रितियों का पानी बिमत्तर एक नहीं होना यह मैं नहीं मान मज्जा हूँ। यदि उनमें पानी है तो मैं जानना बाहूँगा कि बाज़िर बह बापगा नहीं अपर बापर में बाकर बापस में बिमेलगा ही नहीं? दोनों पाराएँ बूझ जायेगी बिट जानीगी बापर बापह रनेकी कि पानी उनका अलग-अलग ही बजा रहे बन्त तर नहीं

मिने नहीं। आवश्यक है कि दोनों में पानी इमानियत का हो और इमानियत एक होयी।

## स्फूर्ति का स्रोत

इस्लाम को माननेवाला भारतीय भारत से अपनी स्फूर्ति लाता है तो बुरा क्या करता है? स्फूर्ति तो उपयोगी चीज है। जीवन उसमें समर्थ होता है। प्रश्न यह है कि क्या वह स्फूर्ति और जीवन-सामर्थ्य वापस जाकर भारत में ही खर्च होनी है? अफ़स और मुसलमान में यही फर्क था। मुसलमान का देश भारत था तीसरा देश था। उस तीसरे देश में भारत को मुक़द़ान क्या था? यम-भाब आत्मी नहीं थे भी प्राप्त करे, लाभ तो उसका आस-पास के समुदाय को मिलता है। भार क्या इस कारण कि ब्रह्मपुत्र का स्रोत तिब्बत में (और आज चीन में) है तो उसके बल का अराबि और विद्वामी मानेय? मन्त्र यह कि चेतना जहाँ नहीं अपना लिए स्फूर्ति प्राप्त करे, वह घुम ही है। यम का और स्फूर्ति का स्रोत अमुक प्रांत प्रदेस या देश में स्थावर होकर रुड़ा हो यह मोह मूढता का ही है। टॉल्स्टॉय और दाम्ना विस्की में यम और स्फूर्ति लेना क्या घरे लिए इस आपा पर नाबायत हो जायगा कि भारत भूमि पर उनका जन्म नहीं हुआ था? भूमि का महारथ स्वयं व्यक्ति में होता है। उनकी व्यक्ति और दाम्ना से ऊपर बढ़ा देना भारी दमनी है।

## राजनीति का इस्लाम

धर्म और राजनीति में बड़ी अलग है। पाकिस्तान इस्लाम के कारण बना मरिद बापदे-आडम विभा धर्म की धृष्टि में विगने मुसलमान में यह स्वयं मुसलमान में धृष्टि। इस्लाम के नाम पर बननेवाली राजनीति से बँबा हुआ पिरा हुआ जा है बड़ी दाम्ना यम है यह समझना मन्त्र को न मनझना है। हिन्दू धर्म के बारे में भी भारी भ्रम होगा अगर हिन्दू-महासभा का उनका धनी-धारी समझ बिना जानगा। भारत प्रदेस में भी कुछ इस तरह की भूल समझी है। राजनीति में न इतिहास के माप और मन्त्रों को देखना कभी गलत नहीं होता।

## इतिहास की सीढ़ों में उधेड़िये

धार्मिक-महासभा इस्लाम में ज्यादा राज नीति का दम नहीं माना जा सकता कि यम पर बुर्बानी बनने की धृष्टि उसमें उजाग रही? दूसरे का बुर्बानी में भी जानी बुर्बानी की संजारी अच्छी होती है। उन बुरा बुर्बानी का मन्त्रदम नहीं नहीं है या इस्लाम के नाम पर हुए धार्मिक का दूसरे धर्मों के नाम पर भी हुए रहे। इनकी धर्म



पोसना और उनके बाब पोसना चाहें तो पीसे जाइये। लेकिन तब इतिहास की चीजन उभेइये आप पीछे जा रहे हूँ। मध्य की तरफ जाये बढ़नेवासे नहीं कहे जायेंगे। तब यदि आप वैष्णव हैं और मैं जैन हूँ तो वे अमानुषी लीमाएँ आम कर हमें उद्धिम कर छोड़ेंगी, जो जैन और वैष्णव अबका हीन और वैष्णव आदि दलों में अपना छाण्डब कभी अतीत-काल में बिखाती रही थीं। इतिहास और पुरातत्त्व उनको जमा भी सकता है, लेकिन उस अध्ययन का साम इसमें है कि हम उसकी मूलता समझें और उससे बचें। यदि राम-इष से ऐतिहासिक तथ्य को अपनाकर वहाँ से अपनी मानसिकता की रचना करेंगे तो हम अपने प्रति ही अत्यास कर रहे हूँ। वैष्णव और जैन राहते यदि मुझकी और आपकी परस्पर बर्बाद करने में कोई कठिनाई नहीं हो रही है तो क्या इस बात के साथ कि उस प्रकार के इतिहास के सब पाब भर चुके हैं? पाण्डुपन क्या जाये बिना पति-पत्नी के बीच भी नहीं घटित हो जाता करता है? उस हीन रोप और घृणा की दाद कीजिये जो इन निकटतम सम्बन्ध में साथ में उदय पाकर मानो सब भस्म कर डालने पर उठाऊ हो जाता है। लेकिन एक ही साथ बाध फिर किंतु तब वह सू-मन्तर हो जाता है, पति पत्नी आत्मियन में आ जाते हैं कि पता ही नहीं चलता। साथ पहली हालत में इतना पहला मामूम होता है कि जैसे कस्य-कस्यान्त तक नहीं घरेगा। अपने ही शप बह सब इतना जड़ से उड़ जाता है कि उस पर यह यकीन जाना मुश्किल होना है। प्रेम भाव और हिंसा भाव की इन निकटस्थता को व्यक्तिगत सम्बन्धों में हम रोज देखते और भोगते हैं। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण से उनकी प्रमायना और वर्णना को भी समझ पाते हैं। लेकिन जातीय और राष्ट्रीय पैमाने पर उन हिंसा को देखकर हमारी ज्यादा मानो लो जाती है। लेकिन मैं आपसे कहना हूँ कि इतिहास के मर्म में जायेंगे तो जाना देर मर्ने कि व्यक्ति-मानव जाति-मानव और बिस्व-मानव में कोई बहुत अन्तर नहीं होता है। एक ही मित्रान्त एक ही नियम यही और वही काम करता है। मनुष्य समझ लिया करता है कि राज नीतिरु और विपत्तारमक हेतुओं से घटना जगत् चल रहा है। लेकिन जरा गहरे जायगा तो वह पहचान पायेगा कि उनके हेतु तिरफ उग सब ही मज हैं अर्थात् उन हेतुओं के द्वारा बहुकर्म-समर्थ होना और इन प्रकार विधाना और विधान के हाथों मानव मित्र होता है। अथवा उन हेतुओं के लिए आत्मनिक प्रक्रिया में नहीं स्थान नहीं है।

**मुसलमान अपिह हादिक**

यों जान मुझसे पूछना चाहें तो मैं कहूँगा कि इस्लाम के सहारे मुसलमान आज भी

अपि हासि और भावुक है। उपरि विचार और हिमाय के अतिरेक से हिन्दू अपि स्वस्थ और स्वनिष्ठ है।

### षम निरपेक्षता

१३४ नये भारत में जो आर्थिक और औद्योगिक प्रगति हो रही है और उसके नीचे जो एक सर्व-सम्प्रदाय-निरपेक्षता पक्ष रही है, वह किसकी दूर तर राष्ट्रिय सांस्कृतिक सम्मिश्रण एवं सम्मिश्रण को प्रेरित करने में समर्थ है ?

**धम्म-समादर, धम्म निरादर**

—धर्म-निरपेक्षता क दो स्वरूप हो सकती हैं। एक तो वह जो धर्म-धर्म-समादर में मे जाती है। दूसरी जो धर्म की उपेक्षा में से प्रकट होती है। मुझे प्रतीत होता है कि धर्म के बिना व्यक्ति लौकिक से फिर जाता है। लौकिक का बिना नहीं बन पाता। यह धर्म प्रत्येक की आन्तरिकता में सम्मिलित रहता है। लेकिन रहन-सहन के इच्छा होने के कारण तत्त्व-दर्शन और प्रार्थना-युक्त की विधियों को लेकर सामुदायिक भी हो जाता है। विश्व का साथ मानव-समाज इन तरह पाँच-सात धर्मों में बँटा हुआ है। वे बुद्धिमानों लोग भी आ धर्म-निर्भर जाने को नहीं मानते उसमें उत्तीर्ण मानते हैं। जाने-अनजाने अमुक भाषा में अमुक धर्म-अमुकधर्म में एक-एक होने हैं। मैं जान हूँ आप माननी हैं, वे मुस्लिम हैं चाहे ईसाई हैं इत्यादि पटना महा मन के निर्भय में नहीं बननी। मानो जन्म की और जन्म-पान की स्थिति में मनुष्य बनी हुई होती है। जो धर्म-निरपेक्षता हम धर्मापेक्षा और बाल्यविरता में विमुक्त और अनादिकाल होकर लौक-वस्तुत्व करता चाहती है वह उसी सत्य नहीं हो सकती। कारण वह ऊपर की तरह के काम-काजी आत्मी को लेती है उसकी अभ्यन्तरता को हिमाय से बाहर छोड़ देती है। अर्थात् वह पूरे व्यक्तिगत का मान नहीं उठा पाती।

### सौरभ्याद से मनष्यता का उद्गम

श्रीगुरुदेव की आज्ञा और आदेशानुसार हम सभी कार्यक्रम में विचार में आधुनिक विचारों में बहुत महत्त्व देते रह पायेंगे। इसमें भी आधुनिक विचारों का भी अधिक प्रभाव पड़ा है और उनका उपयोग भी हो रहा है, लेकिन भौतिक और आधुनिक उन्नति हमारी नींव है।

बन्धु और बर्म पर अब एकापी जोर पड़ना है तो बानर्सीय युवां व शक्ति जेसा यातावरण में बज हो जाती है। कुछ जेसा-भी होने लगती है। इस कारण कुछ

मिलाकर मनुष्य और मनुष्यता का हास होता है। धर्म कई हैं और सम्प्रदायों में बँटे हैं। इसलिये उन सबसे एक-साथ किनारा करके जो कोनवादा (सेक्चुरिज्म) सुरक्षा बनाकर बसना चाहता है उसके पहरे में उन धर्मों के प्रति समान तटस्थता नहीं होती है बल्कि एक प्रकार का समान विराधर होता है। जिसमें समानता आदर की है उपेक्षा की नहीं है वह धर्मशास्त्र-सम्पन्न कोनवादा अधिक कार्यकारी हो सकता है।

## गांधी और नेहरू

आपका प्रश्न वास्तव भारत की स्थिति को मन में लेता है। तो इन दोनों दृष्टिकोणों को स्पष्ट करने के लिए दो नाम समझ लें। गांधी और नेहरू। गांधी भी व्यावहारिक और राजनीतिक थे लेकिन मुख्य धर्मशास्त्रज्ञ थे। चौड़ी रसते थे अपने का ध्यान करते थे। लेकिन धर्मों और सम्प्रदायों का परस्पर पाल लाने में उनसे अधिक काम कौन कर पाया है?

## सांस्कृतिक सम्मिश्रण

१३५. पिछला प्रश्न वास्तव कुछ उत्पन्न गया। मैं यह जानना चाहता हूँ कि भारत के नये जन-जीवन में जो एक बौद्धिकता, एक वैज्ञानिक प्रयत्न-वैतना और सर्व-मान-सिद्धता बन रही है वह क्या इस समस्या के समाधान में कुछ योगदान दे सकेगी?

## सम्मिश्रण की व्यग्रता निरर्थक

—समस्या सांस्कृतिक सम्मिश्रण की आप मानते हैं न? सिन्ध और ब्रह्मपुत्र का क्या हम सम्मिश्रण चाहते हैं? मार्ग दोनों के अन्तर्गत हैं। सोड और मज्जा में दोनों आज भी एक हैं। दोनों हिमालय में बहुत पास-पास में निकलती हैं और अन्त में मगर में जा मिलती हैं।

मैं मिलाने की कोशिश में कुछ बहुत अप नहीं देखता हूँ। मिलाने में अक्सर अपावाह को एक बनाने की कोशिश की जाती है। वह भेदा बहुत एकता को मज्जा नहीं पहुँचाने वाली है। ऊपरी राजनीतिक समझौते भीतर दोनों की दुर्भेद और दूरी का प्यो का तर्क छोड़ जात है। यहाँ नहीं पशु की भाव ध्यान में रखनी होगी जिसको मैंने भारतीय मनुष्य की विशेषता कहा था। अर्थात् विविधता के प्रति उसमें अर्थ है नहीं ॥ सर्वोच्च विविधता के नीचे एकता और अनुभूति है।

## पुनरुत्थान के सहारे मिश्रण

जीवन नीचे में जा मिलना पड़ना हुआ जाता है वह बहुतन मज्जा को बनायाम

माना सम्बन्धों में मजबूती बिना नहीं रहता। सम्बन्धों का यह माना यह निश्चिन्ता पटितता उनका यह सम्बन्ध बढ़ता ही जाना जाता है। जिसका आप सम्बन्धों का सम्मिश्रण कहते हैं, वह भावनात्मकता में होता है। बाहर, रूप प्रत्यक्ष में तो माना अमेर में अधिक भेद-विभेद और उनका भेद-विज्ञान बढ़ता है। विज्ञान की प्रगति बुद्धि की प्रगति दिखा हमने क्या है कि हम सुदृढ-मे-मूढ का भी पुनरुत्थान कर पाते हैं। जिसका भावनात्मक भाव जायगा बुद्धि की भेद-प्रगति बढ़ती ही जायगी। अनु-विज्ञान आज परमाणु तक पहुँचा है और उनमें भी मजबूती दिखाना भी तो देख पा रहा है। मेरे की इस तीव्र प्रगति में मेरी माना अमेर भाविपुन होना आ रहा है, इस अर्थ में कि धन और उद्योग नहीं रह गया है। हमने की बात है कि हम तरह दिग्धम स्वयं पुनरुत्थान व महारे मजबूत सम्बन्ध होता है।

### सम्मिश्रण के प्रयास

अपने उन प्रयासों को याद दिमान की जरूरत नहीं होती चाहिए, जो जान-बूझकर इस सम्मिश्रण के लिए किये गए हैं। अकरर का यह सम्बन्ध में याद दिया जा सकता है। सामाजिक दृष्टि में हिन्दू मुस्लिम विवाह द्वारा धार्मिक और नास्तिक दृष्टि में तरह-तरह के सम्मिश्रण सामर्थ्य और नीति-नीति के प्रचलन द्वारा उनका करना सीने लगाही चलाना चाहिए। क्या कुछ उनका एक हुआ ? सम्मिश्रण उब उब किया जाना है वह ऊपर में होता है सीधे सीधे अनिवार्यता में म मानी जाना। अनु-अविज्ञान उनका एक उभरता ही जाना है।

### धर्म-परायणता द्वारा एकता

आज एक बात देखियेगा। धार्मिक हिन्दू और धार्मिक मुसलमान व्यवहार में जैसे एक समान मजबूत बन जाते हैं। एक मन्दिर जाता है दूसरा मन्दिर जाता है। मजबूत इस विधि में दोनों अन्त और उभर तरह अन्त सामर्थ्य में बनते हैं। अन्त एक तरह और एक समान जाता है। दोनों अन्त सामर्थ्य बनते हैं। मजबूत धर्म भाव में हम मजबूत हिन्दू और इस्लाम अन्त ही मिल जाते हैं। भावना में बाहर, काला मजबूत हिन्दू और मजबूत-बाह्य व साम पर, उन दोनों का दिग्धम का बाह्य-विचार एक मजबूत बनती है।

तो विज्ञान और काम की मजबूती और विज्ञान में मजबूती ही हम अन्त-मजबूत मजबूत में और मजबूती में एक-दूसरे के निश्चय-निश्चय में मजबूत है यह मजबूत ही है।

## प्रयासों की बिकसता

१३६. फिर भी यह आवश्यक है कि भारतीय द्वेष और घृणा को कम किया जाय। इसके लिए क्या प्राचीन पौराणिक पद्धति का ग्रहण लाभप्रद नहीं होगा? प्राचीन पुराणों में धार्मिक एवं सांस्कृतिक कथानों को इस प्रकार परस्पर मिलाया और गुंथा गया कि विरोधी सम्प्रदायों के लिए पुराण समान रूप से मान्य एवं पुरस्कृत गये। क्या इसी प्रकार के कुछ ग्रन्थ नहीं रहे या सकते जिनमें भारत के सभी विभिन्न वर्गों के उत्थ और धार्मिक मान्यताओं का समावेश हो और जिन पर सभी ईमान ला सकें। अकबर और पोंबी को बिफल हुए, भिरी समझ में इसलिये कि विभिन्न वर्गों को विश्वास का एक समान आधार दे न दे सके।

## हृदय के तार के प्रयास

—गांधी और अकबर के प्रयत्नों की भूमिका में एक नहीं मानता हूँ। पौराणिक प्रथा जिसको आपने कहा वह ठीक है। लेकिन यह काम कैसे हुआ और किन्ने किया? मुझे नहीं प्रतीत होता कि यह काम वास्तव या सौकरनायक द्वारा हुआ था। भावनाशील पुरुषों के द्वारा यह काम अजायास होना चला गया। सम्झा चौड़ा आयोजन और बुढ़ाव उनके पीछे नहीं था। ऐसे प्रयत्न हो सकते हैं जो पहरी आराम-मंठा में से न आवें लोक-प्रयोजन के तत्त्व पर ही हों। मेरा हम जयह् मायह् यह है कि हृदय में से निकले हुए प्रयत्न ही हम क्षेत्र में फलदायक होंगे। केवल प्रयोजन के हेतु किया गया काम सफल नहीं होगा। अर्थात् जो स्वयं एक धार्मिक कार्य है केवल लौकिक नहीं है उसकी मिथि में वह सौकर-कर्म या संपन्न कर्म उपयोगी होगा जिसके मूल में स्नेह की बिजगता होगी।

## मात्र परिचय निष्फल

कत्रक परिचय से काम नहीं चलता है। बल्कि उम्मे घृणा का काम भी उनमें लिया आ जाता है। एक कथु न बड़े परिचय से अरबी भाषा पढ़ी और कुरान का पहला अध्ययन किया। अच्छे-अच्छे मौलवी उनका हस्ताक्षरी ज्ञान पर दग रह जाने थे। मित्रिन यह सब बिछा हम काम आयी कि व हस्त्याम के प्रति अवमा और हय ही स-वनमर फैमान रहे। सम्पुनस मौलवी भी ऐग मिल जाने है कि जिनदी बिछा उहे हिम्न + निनट नहीं लाती है बल्कि विमुग बनाती है। केवल एक-दूसरे के बिचय का बोध बायी नहीं है। समय में यह उसका फल भी ला सकता है। जो आवश्यक और मूलभूत है वह यह कि पहले पर क लिए हममें स्नेह और आदर हो। स्वयं व प्रति राय कम होगा टीक उनकी ही माना में पर के प्रति द्वेष भी कम होना चायना।

पर को परस्पर में देखकर बिना भी जानेगे वह सब जानकारी गैरियत को मिटाने वाली नहीं बढ़ानेवाली होगी।

### गैरियत के सम्बन्ध

छुपन में एक कहानी एंथ्रोपनीत्र की पढ़ी थी। कभी दोर क पाँच में उसने बाँग निकाला था। कई दोर भूने रके गये दोर क सामने अब मुझ के दोर पर एंथ्रोपनीत्र को डाला गया तो दोर में उसको पहचान लिया। ओय अब सारे अबन्धे में रह गये देखकर कि दोनों का परस्पर साह कर रह हैं। मैं करने मन में पूछता हूँ कि एंथ्रोपनीत्र में पूछा जाता कि दोर कम्हा बिना का पूछ किनी बड़ी थी कहीं पदा हुआ इत्यादि तो क्या वह कुछ भी बना मरना या? लेकिन गिराई के ज्ञान को देखें। वह जब वैज्ञानिक अभ्यसन करता है दोर की एक-एक बात को पहचानता और परगना है तो वह ज्ञान बाहिर उसको गिराई ही तो बनाना है दोर के ज्ञान उनमें कोई अनेकन का भाव तो नहीं पैदा करना। दोर और गिराई का सम्बन्ध अनेकन का नहीं है, गैरियत का है। अर्थात् परस्पर-परिचय आदि स्वयं में उस दृष्ट में महायक नहीं होता है। होता है तो तब जब पहले भावना उस प्रकार की जाय चुकी होती है।

### गम्भीर घमनाव अनिष्टाय

भारत के बेतकदर राज्य की ओर में हम प्रकार के प्रयत्न हो रहे हैं। वे गुप्त हैं उदयोगी हैं। लेकिन गुप्तता और उपागिता वह कम्बनी नब हावी अब बागाबाग में गम्भीर घमनाव भी होना। केस्कुन्गिम्स आबन लोहाणी है अगर हवा उसमें मरी होगी तो निरुद नाने के प्रयत्न हाते रहेंगे और दूरी भी बढ़नी रहेगी। शरण बडि-आसार हान्य में ममानान्तर चलता है। पदों हृदय की बन्तु है।

### गांधी और अकबर

१३३. ऊपर आपने गांधी और अकबर के एकाग्र-युक्तों की भूचिरामों का मित्र मित्र बनाया है। वर में उनको लगभग एव मानता हूँ हम दृष्टि में कि दोनों ही हिन्दू-मुस्लिम-राजा को स्पष्ट करने में और पारस्परिक मित्र को मित्रने में अग बग रहे। इन बिन्दु को तनिक और स्पष्ट करें।

### महामा और दाहनाह

—अकबर स्वयं राजक था। गांधी का सम्बन्ध सामन में दा बागद की पद-नीति

के कांग्रेस के द्वारा था। अकबर ने उस रूप का निर्माण किया जिसमें उन्हें आशा थी कि हिन्दू-मुस्लिम-संगम हो जायगा। गांधी में उस प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं दिखा। उनके आश्रम में जैसे जिस-जिस प्रकार के लोग आते वैसे वैसे प्रयत्न में उसी विधि के मजम-स्तबन शामिल होते वैसे वैसे। यह नियोजनपूर्वक नहीं हुआ। परिस्थिति की और हमस की आवश्यकता के अनुसार हुआ।

गांधी के एकतासम्यगी प्रयत्न मानो तपस्वा और तितिलता को प्रगाढ़ से प्रभावित करने की ओर चले गये। साथ ही कर्म-सौच में कांग्रेस को वे उस प्रकार की प्रेरणा दे गये। ऐसा कोई प्रयत्न उनके द्वारा नहीं हुआ। वहाँ वेद और पुराण का मित्र-मुखा स्फुरण निकालने की चेष्टा की गयी थी। न मस्जिद मन्दिर के समन्वय की बात तबमें बेटी जाती है। गांधीजी का प्रयत्न महारमा का है। अकबर का साहूसाह का है।

### सेटफार्म और साधना

बकल दोनों हुए, तो सब यह कि सम्पूर्ण रूप से सफल कभी कोई होता ही नहीं। तदमी में डेप देव रहे ही बना जायगा जिससे दुस्कार के लिए बचकास रहे। किम हीन-इसाही की बिकसता वही बीज गांधीजी के लिए कही न थी क्योंकि 'सा प्रयत्न न था। हिन्दू-मुस्लिम विरोध की जो ज्वालाएँ फैलीं थीं कांग्रेस के हिन्दू-मुस्लिम-एकता कार्यक्रम से उस कांग्रेस-मौल की कूट ही निकलती चली गयी। वह विहास घुटा है और उसके कारण बुरे हैं। यह तो निस्सन्देह माना जायगा कि वह बिकसता गांधी की भी है। लेकिन उसका निदान में गांधी-कांग्रेस के सम्बन्ध में बिकर बैरता है। गांधी का धर्म भाव कांग्रेस के पास अगर कदा कर्मवाद बनकर हुआ तो अवश्य भुटि गांधी में भी रही होगी। कांग्रेस ने एकता को ज्येष्ठार्थ माना साधना नहीं बनाया। गांधी साधना में न एकता मित्र किया चाहते थे। जिस राजनीतिक अभाव भी और साधना की बात ही उगे भगवत थी। कांग्रेस ने बिकसता गांधी की बिकसता नहीं है। यह भी नहीं कहना है। लेकिन गांधी का न प्रयत्न के प्रति दृष्टिकोण अकबर न और कांग्रेस ने भिन्न था। यही इन समय में लिए संभव था है।

### राजनीति ऐवय भूमि

इ. ८. यद्यपि अर्थ राजनीति और समाज इन तीन स्तरों पर विभिन्न सम्प्रभाव के भूमि पर लगे होते हैं। फिर भी यह भूमि ऊपरी है आन्तरिक नहीं। क्या तब वर्ग और शक्ति की किसी ऐसी ऐवय-भूमि की ओर लगे हुए हैं जिस पर सभी बिरोधी धर्म एक होने की ओर लगे लगे हैं?

ऐक्य धर्म में, बाहर नहीं

—वह भूमि ईश्वर के गिवा घूमती नहीं है। आज भी सपनाग मभी अनुभव करते हैं कि ईश्वर, गॉड अस्माह एक है। कुछ पहलू ऐसा अनुभव नहीं या भीग व नव मुच तीग व। लेकिन उत्तरोत्तर ज्ञान पढ़ना रहा है कि तीग नहीं सहप-मह्य नाम और सागों-बरोड़ों अन्तर ईश्वर में विमीन हो जात हैं। परम एकता नहीं है।

धर्म वह है जहाँ व्यक्ति स्मरण प्रतिस्मरण पुनः प्राप्ति जाति के द्वारा अपना सम्बन्ध उमी एक स बनाता है। अतः धर्म से बाहर ऐक्य नहीं मिलनेवाला नहीं है।

धर्म स्वयं अनेक है। लेकिन पहचान गये हैं कि व आपस में कुछ नव उम एक में ही है। अनेकता सम्प्रदायों की रूढ़ि भी जमी जाय तो हानि नहीं है बगलें कि वहाँ धर्म भाव हो। क्योंकि धर्म भाव होने पर एकता की अनुभूति के द्वारा अनेकता स्वयं सुन्दर और आदरात्मक बनती है।

### सध-बद्ध स्वाय

धीरम-स्वबहार की लोकोपमिष्ठा पर हर एक की व्यक्ति और सामरिक बनकर आना पड़ता है। इस तरह प्रकटन वहाँ सब समान हो जाते हैं। लेकिन हम देखते हैं कि यह काफ़ी नहीं होता। कारण सर्वबद्ध स्वाय सम्प्रदाय की आड़ में ही और उस साम्प्रदायिता का पूरा-पूरा काम उठाया करने हैं। अभी हाल के अपने अनुभव की बात कहता हूँ। जैनों के वा सम्प्रदाय वैमनस्य में मानो उलझ ही पड़े व बड़ी परमागरमी की। लेकिन दोनों पक्षों के सर्वमान्य स्वीकृत देता एक अणु टिके से एक घाती में लाने से एक बम्पनी में जाते-शर से। दोनों के लिए साम्प्रदायिक फ्याव माचन-लप होना वा दोनों ही इस तरह बरोम्पति बनकर आराम में बराबरी के मित्र बन पाने से।



शक्ति के योग से जिस प्रकार जीवता रहा है, वैसे ही सस्त्रास्त्र-सज्जित सैन्य-शक्ति से भागे जाकर यह श्रम और नीति-शक्ति कहीं बिजयिनी सिद्ध होगी।

**पाकिस्तान क्यों बना ?**

पाकिस्तान क्यों बना ? उसके पीछे अरबों जीवन का और बिकान का ठोस काम कर रहा होना। हम आज बीहते हैं तो कैसे ? तरवार बड़ा बाता है तो क्यों ? मान घण्टी से ऊपर उठता और भाव मागता है तो किस कारण ? इन सभीमें फल इति मे उल्टा दीखता है। मान के पंच हवा की नीचे दबाते हैं और मान ऊपर उठता है पांच घण्टी को पीछे धकेलते हैं आदमी भागे बहता है हाथ पानी को पीछे फेंकते हैं तो ही तरवार आगे जाता है। अर्थात् मन के प्रयत्न में सब का फल भाग ही प्राप्त हो जाता है। कांग्रेस को राज्य चाहिए था। गांधीजी के नेतृत्व में तप-त्याग से बस की सृष्टि हुई। स्वराज्य उस बल से तनिक निकट आता बीधा तो मामूली हुआ कि कांग्रेस के समकक्ष होकर इतर से सीप बछ्छी जा रही है। करम कांग्रेस ने किया था फल सीप को भी मिलता गया। ताकत कांग्रेस की बढ़ती, तो डीक उठनी ही सीप की भी बढ़ जाती। कांग्रेस को स्वराज्य चाहिए था। सीप भी स्वराज्य चाह निजली। दोनों को स्वराज्य कैसे मिलता ? इसलिए एक के दो राज्य बने।

**क्रिया-प्रतिक्रिया**

गांधीजी शुरू से बताते हैं कि मत चाहो मत चाहो। कर्म की अकर्म बनाकर करा। लेकिन वह बात काम की थी ही जब कि काम-याम के बीच सुनी जाती। परिणाम आज कि हिन्दुस्तान-पाकिस्तान है। क्रिया प्रतिक्रिया का सिद्धान्त काम करता है और उनका हमारे आहूते न-आहूते से कोई सम्बन्ध नहीं है।

**सकाम अहिंसा**

भाग्य में समन्वय मित्र होता क्या गया क्योंकि उसका दर्शन और वर्तन बर्बरक था। गांधी की सारी अथक कमप्यना अकर्म से आती थी और इसीसे समाज भी होती थी। कांग्रेस ने अपने पाप निराकार को जाने नहीं दिया। उनका कर्म मरान रहा। अहिंसा भी मरान रही। हिन्दू-मुस्लिम-संघना भी मरान रही। तो सरा मना के घरायश पर क्रिया के समन्वय प्रतिक्रिया की भी होना था।

**कांग्रेस हिन्दू बनी**

क्या कभी कांग्रेस हिन्दू थी ? एक बात के लिए भी नहीं थी। लेकिन व्यवहार के

निरा बांधव को 'हिन्दू' बनना हुआ क्योंकि सीम को 'मुस्लिम' बनना पड़ा। हम हम क्यापि में साम्यवादिता के नाम पर ऊपर ऊपर लड़ना चाहेंगे जैसी हिंसा नहीं होती है तो कम न्यायवादी बनना। इस और हमें प्रयत्नों में ही अतीवमत्त आ चुका है। वह प्रयत्न सब मंजूर हो जाता है। सब से बात बराबर होने पर मन्त्रा सम्पत्ता निष्पत्ता आदि सबकुछ दुर्बलता के ही नाम हो जाते हैं। अगर हम सब को बनाने की हिम्मत न करें तो अहिंसा में हमारा ही लज्जा है। इसीलिए जीवन राजनीति में जैसे दिखाई देता है कि अहिंसा एक छलना है वह निर्दोषता है पराजय को अपनाना है। मेडिन अगर मृत्यु व प्रति निर्भयता हो और इन हालात में सब का अपना सब हीमला हो तो उन सब माय सब के लीर पर बनने वाली अहिंसा में बड़ी कोई राजनीति नहीं है। बटनीति नहीं है। एक तरह सारी नीतिमत्ता उनमें समा जाती है। आज जिस 'पीछ बन्द मुकदमा मामलामीठीमुम्मान' की नीति माना जाता बूट और मच्छ नीति कहा जाता है, मानो वह महज ही जाती है बटनीति नहीं रहती। बटनीति में मुकदमा और मुम्मान में मेड जी नहीं है और सब जो रहता है तो मुकदमा छिटाकर पीछ रहना पड़ता है। गांधीवादी निष्पत्तना में सारी बाजी सामन गोल भी आ सकती है और मुम्मान के साथ सबे मुकदमे को भी समझ एवं दिया जा सकता है। अर्थात् जीवन राजनीति का सब गांधीनीति में अविद्यमान नहीं होता बल्कि सबका सब और प्रयत्न होता है। और वह है सब। सब के सब म क्या कोई भी बड़ा सब हुआ है। हो सकता है? सबका सब में उमीका सामन और माय सबर जाने म हिंसा म निर्बलता की प्रतीति का अवधान किसीक लिए नहीं रह जाता। सब से छोटी अहिंसा हा है जो निर्बल ही जाती है और इससे राजनीति के लिए अविद्यमान और सबका समझी जा सकती है।

### पड़ोसी मित्र बनने

पाकिस्तान और हिन्दुस्तान आज दो हैं और सब एनोमल क प्रकार में उनकी राजनीति और दिशा-नीति मुक्त नहीं हो सकती है। दोनों की वे राष्ट्रनीतियाँ आ अपने सब सब म विचारण रहती हैं, दोनों का अपने बनान रहती। अभी का समय सब विपरीत होने मित ही है कि सब बनकर रहे, तो वह सब की बात को भूल जाने म आसता। केवल एक सब को माय सब में वह आसता और सब सब के माय बनना आसता हमारी और सब का सब है।

एसी राष्ट्रनीतियाँ दो में परस्पर के प्रति सब मंजूर। हिन्दुस्तान के लिए पाकिस्तान सब में सब का सब बनना होता है। सब सब म कुछ सब नहीं है। सब

निर्मर कर रहा है उनके परस्पर सम्बन्धों पर। परस्परता में ही इष्ट या अनिष्ट की सम्भावनाएँ होती हैं। भारत की और पाकिस्तान की परापट्ट-नीतिमाँ सही नीति पर नहीं और बड़े मुठबन्द स्थापों हैं। अटकी न रही तो घायर दोनों अनुभव करें कि वे एक-दूसरे के लिए संकट से अधिक संरक्ष भी हो सकते हैं। दोनों के ईत का आरम्भ अवश्य इतना अधुन हुआ है कि भविष्य में दूर तक उसके परिणाम सायब चुन नहीं पायेंगे। लेकिन प्रेम की शक्ति अपरम्पार है और बरसों की भ्रातिमाँ क्षमकर में कटती होती गयी है।

### गांधी की आन्तरिकता

१४० गांधीजी ने किन शाय्यताओं के असीन विमाजन को अपना आतीर्ष प्रदान किया? ऐसा करते समय उनकी मन-स्थिति क्या रही? यदि ही सके, तो इस बार आप कुछ स्पष्ट प्रकाश डालें। क्योंकि वे समझता हूँ कि इस स्थिति और परिस्थिति की अनुमति गांधी-नीति को समझने के लिए अनिवार्य है।

—बहुत संदिग्ध काम है यह दूसरे के अन्तरंग में उतरना। गांधीजी की आन्तरिकता सिध पर इतनी गहन है कि यह और भी कठिनाई उपस्थित करती है। अधिक-से-अधिक उस सम्बन्ध में अनुमान ही ही सकता है।

### धर्मनीति प्रमाण

गांधीजी को मूलतः में सच्चा आधमी मानता हूँ। सब से विपना किसी कीमत पर उन्हें मान्य नहीं हो सकता था। सत्य के प्रयोग की राह में ही राजनीति उनके जीवन में आयी। राजनीति आयी राजनेता का वाचित्व और बर्न नहीं आया। भारत के जीवन में अन्यायस उन्हें ऐसा राजनीतिक नेता बनना पड़ा कि छुटकारा न था। किन्तु इस सारे प्रयोग में उनके लिए बर्ननीति ही प्रदान रही। उन्होंने साफ कहा भी कि मैं धार्मिक आदमी हूँ राजनीतिक नहीं हूँ, राजनीति बर्न के स्वास के बिना निरा छल और छद्म है।

### कांग्रेस और गांधी-नीति

भारत का राजनेतृत्व उन पर परि आता ही चला गया, तो यह कांग्रेस-नेतृत्व के निमित्त था। कांग्रेस ने बहुत कुछ त्याग दिया गांधी के इन नेतृत्व का साथ भरनाये रगने के लिए। कांग्रेस का बुरा काम भारत की स्वतंत्रता दिखाना था। वहाँ तक ही गांधीजी का काम उसके लिए रंगत था। उससे अधिक गांधी की पर्य नीति, उत्प-दशन आदि में जाने का वाचन के लिए कोई प्रयाजन और हेतु न था।

गांधी और कांग्रेस के इस सम्बन्धका इतिहास अध्ययन की वस्तु है। एक क्षण पर आकर गांधीजी को अनुभव हुआ कि उनका व्यक्तिगत कांग्रेस के कामकाज पर भारी तो नहीं पड़ जाता है। इसमें उन्हें हिंसा का श्रेय दीया जा। इस अनुभव पर ध्यान जाते ही कांग्रेस पर से उन्होंने अपना बोझ हटा लिया उसकी सरस्वता से भी अलग हो गये।

हिन्दु भारत की यह राष्ट्रीय-कांग्रेस-गांधीजी के मार्ग-दर्शन में बानो समस्त राष्ट्र के ब्रह्म गुरुत्व और पराक्रम की प्रतिनिधि बन जायीं थी। वह दम से नहीं अधिक हो गयी थी मानो स्वयं में राष्ट्र की प्रतीक बन पयी हो। निश्चय ही राष्ट्र की राजनीतिक भागा-भागना का सेहचक्र कांश्च पर था। राजनीतिक बनना अपने बान सभी बर्ष उनमें युक्त-विक्रम करते थे। इस तरह कांग्रेस पर राष्ट्र का नेतृत्व बर्षान् भारत का राजनीतिक नेतृत्व दायित्व के तौर पर बनिबान होकर आ दिया था।

हिन्दु गांधीजी को राष्ट्र के प्रत्यक्ष में ही बनना था। उनमें ही बीना था उनमें हो करना था। राजनीतिक नेता का यह इसमें बाधा ही डाल सकता था। यह नाम मानो उन्होंने पूरी तौर पर गांधि का मान दिया और समस्त गये राष्ट्र बर्ष से अपने को अलग कर लिया।

राष्ट्र के प्रति दायित्व

मे यह समझता हूँ कि स्वयं के मन में उन्होंने मानव-धर्म बर्षान् धर्म-धर्म के प्रति अपना सर्वस्व और दायित्व स्वीकार लिया। सारी बधरायी उसीके प्रति गयी। यह नेता से अधिक दहीर का बर्ष हो जाता है। कुछ दहीर ऐसे होते हैं जो आये नेता और राजा बनते हैं। गांधीजी की दहास स्वयं में एक मुख्य की कोई मजिद उनमें नहीं थी। उनका अल्प से कोई कम और प्रयोजन नहीं था। बीजा का दम उन्हें नर्वस्व का और सभी किसी समय अपना जग हो ता भी सदा और लोग के स्वीकार की सम्भावना उनमें नहीं पड़ गयी थी।

भारत को आत्मा के प्रतिनिधि

इन ही स्वयं के अध्ययन की समझता उग्न करती है, अपर देव-विचारण की दुर्बला के राष्ट्र को इस समझता चारते हैं। जाने बाहर सत्य-बर्षा बनने अमर बीजता करने न-करने का दायित्व राष्ट्र की ओर से गलती करने ऊपर नहीं ले सकते थे। उनकी ओर से यह कांग्रेस का ही बर्ष का और गांधि की ओर से बराबरारिदी पर यह निष्ठा आ जाता था। वे लोग राष्ट्र के हिन्दु वह एक बाई और दिन माना एक बाई गांधीजी उतकर्म थे। उनका बाये और बाया

ये सर्वथा मुक्त थे। उस दृष्टि से वे राजनीतिक नेता से अधिक भारत की आत्मा के प्रतिनिधि थे। इतिहास में क्या कभी हुआ है कि आत्मा का प्रतिनिधि देश का राजनेता या राजनीतिक धाम्यविधाता हो? नहीं हुआ परन्तु केवल गांधीजी के सम्बन्ध में यह समझने में कठिनाई होती है। कठिनाई इसलिए होती है कि महारमा से पहले हम उन्हें राष्ट्रमता और राष्ट्रपिता के रूप में मानते और अपनाते हैं। मानो उपयोगिता के उस सम्बन्ध से और अपने रामभाव में से हम उन्हें देखते हैं। अतः कांग्रेस के सम्बन्ध में गांधीजी के सर्व-समर्थ नेता रहते हुए भी जो देश-विभाजन हुआ उसका सारा बीष उन्होंने यावे डालने से हम बच नहीं पाते हैं। नेहरू पटेर आबाद अगर बैठबाए मान भी यथे से तो कब गांधीजी का यह बय नहीं था कि उस किये को अनकिया कर दें और अपनी बात बला लें? क्या ऐसा कभी सम्भव हो सकता था कि कांग्रेस इन तीनों के कारण गांधी का साथ न देती? न देती तो भी क्या था? गांधीजी को तो अपने ईमान के साथ रहना था। क्या उन्होंने नहीं कहा था कि अगर डिपण्ड का सिद्धान्त जिन्ना का है तो एक राष्ट्र ईमान भेरा है। फिर नेहरू पटेर आबाद का यह क्या मोह था कि गांधी ने अपना ईमान छोड़ दिया? गांधी की या तो यह कमजोरी थी या पहला कील उनका सच्चा न था या फिर राजनीतिक बुद्धिबाद के कारण देश विभाजन में सहारा और स्वीकृति देना उन्होंने सही समझ लिया था। इन सब अनुमानों से बचन का साधारणतया मार्ग नहीं रह जाता है। पर उनमें से किसी-को अपनाने की आवश्यकता मेरे लिए नहीं है। कारण उनका स्वयं राजनीतिक नेता के दामित्य को स्वीकार करके सब नहीं सकता था। और वह स्वयं का पहर पीते जाना तिम-तिम अपने को भारत जाना यह डार ही बीना और इस जगत् का कुछ भी अपना न मानना सत्य की ही मर्यादा सर्वस्व मानना। भारत का राजनीतिक स्वराज्य राजनीति की सामयिक समर्थता से अधिक मत्ता क्या था? बाविर उसका नाम अपने कन्धों सेना ही कांग्रेस की था। गांधी को तो मिनिस्टर बनना कभी था नहीं। इसलिए राजराज जिन्को सेना है पैगला भी उन्होंने हाथों रहन देना होया। यह सबक आज हमना स्पष्ट था कि सामर्थ्य रहने हुए भी कांग्रेस को उस मार्ग से उन्होंने मोड़ा नहीं। बल्कि उसने अपने समर्थन ठक दे दिया उस अनिष्ट को जिसको उसके बुने हुए नेला लोग दृष्ट मानने लग गये थे।

गांधी की सलाह

मन जानते हैं कि गांधीजी ने कांग्रेस को मन्त्रह ही कि वह एक ही आपद् रग कि अनेक लोग अपनी प्रमुता को केर-भारत से पीरन हट जायें हममें विजयुल

देर न लगायें। फिर इसमें यदि यह प्रथम पैदा-होता है कि राज्यस्यवस्था भाषित  
किसको सौंपकर वे जायें और कायस-लीग के बीच इस बारे में कोई मत-भेद  
हो नहीं पाया है तो कायस को यह देना चाहिए कि सत्ता की बागडोर लीग के ही  
हाथ में छोड़ जायें। हम हास्य में अंग्रेजी प्रभुता को यहाँ से कोरम भर्त्ता छुटी  
कर सत्ता चाहिए। पूरी विविधता लीग बना लेता भी कोई हर्ष नहीं है। लीग से  
मुक्तमाने उल्लसने की बात फिर पर की पर में यह जायगी। विदेशी साम्राज्य  
को बिदा हो ही जाना चाहिए। यह सलाह कांग्रेस की बुद्धिमानों के पास नहीं इतरी।

कांग्रेस हिम्मत में कर सकती

लेकिन हमने उत्तरकर कायस के बुद्धिमानों को भोग जी वे। वे राष्ट्रमग्न न स्वीकार  
से तब भी सहमत नहीं थे। गांधीजी ने अनेकों की पूछ डटोलकर मान्य किया  
कि क्या वे अपने विरुद्ध पर कुछ हैं, क्या वे हिंसा करने और कायस के नेतृत्व को  
हाथ में लेकर जागे बड़े? अगर कायस की आज इच्छा कमती उनकी बात  
रख ले और राष्ट्रमग्न अस्वीकार कर दें तो क्या वे क्या हाथ में लेंगे? कांग्रेस  
के भीतर में बीता आश्रयन गांधी का किसी आश में नहीं प्राप्त हुआ। तब गुरु  
की बुद्धिपूर्वक उनका लिए क्या हाथ में लाया जाय या बिना इसके कि काही राजनेता  
जिन यह जाना चाहते हैं, गांधी उसका द्वार तोलकर वह 'एकमत' और मुँह  
मोड़कर बात अंग्रेज अंग्रेजी मूर्ती बाँटकर यह पर पाँच-पाँच चलें। बड़ी उग्रता  
किया। आपकी याद होगा कि हमने बाद एक क्या मूल उनके मुँह में निकला।  
बहुधा कि हृदयमें ही दो हई है कि वह ही नहीं हो पाय। उस दिग्ग की एका  
कर के इन बुद्धि और अहिंसक कि उन्होंने बीरतर होठे हुए भी यह दिखाया  
कि 'अने मुक्तमान आइनों में मिलन आऊँगा तो क्या मैं पायपाय न कि  
रकनेवाला हूँ? वे तो मेरे भारत के माया भाई हैं।

बोल नहीं टूटा

मैं मानता हूँ कि इस प्रकाश में आर मया मचें कि बीग गांधीजी का मयपन  
विभाजन का मिता और बीग भी नहीं टूटा। मयपन मान्य अंग्रेजों में म  
मिया बीग ईतर-मय में मिता और मयका टूटा। इसका प्रमाण राज कि  
न हाथ में नहीं टूटा है।

बंगमोर

१४१ जिस समय बंगमोर-युद्ध आरम्भ हुआ, गांधीजी जीवित थे। क्या आपकी

राज में कांग्रेसी सरकार की कश्मीरसम्बन्धी नीति को भी गांधीजी का समर्थन और आशीर्वाद प्राप्त था? गांधीजी के मत और कांग्रेस की नीति में इस विषय पर फ़ितीहा अन्तर था?

**गांधी ने आशीर्वाद दिया**

—हर राजनीतिक समस्या पर कांग्रेस को उस समय गांधीजी की जरूरत नहीं हुआ करती थी। कश्मीर पर हमले का प्रश्न जबबय ऐसा था जिसमें गांधीजी के नैतिक समर्थन का बस कांग्रेसी सरकार के लिए जरूरी था। गांधीजी ने भारतीय सेना की कश्मीर-यूथ के समय अपना आशीर्वाद दिया कहा कि वहाँ रस्ता में मर जाना सौटना नहीं। सेना और सैनिक को समर्थन जब कि उनके मन में नहीं था तब यह वहाँ स्पष्ट था कि सघन-सैन्य का स्वधर्म रस्ता में आवे बढ़कर बलि हो जाना है। जिन्होंने शास्त्र किया है, उनके लिए शास्त्र का उपयोग है तो यही कि वह रस्ता के काम आवे। अपना स्वधर्म गांधी किसी पर ज़ाब नहीं सकते थे। कश्मीर के सवाल को संयुक्त राष्ट्र-संघ में भेजने के बिसाफ उन्होंने कांग्रेस को सलाह दी थी।

१४२ गांधीजी शास्त्र सेना और हिंसा को कितनी दूर तक एक राज्य के लिए अनिवार्य मानते थे? क्या वे हिंसाचार के पुनित्त-एकसाध का भी समर्थन करते?

**सेनारहित राज्य**

—गांधीजी क्या करते, क्या न करते इसकी जर्बा से बचना चाहिए। वे ऐसे राज्य की कल्पना कर सकते और करते थे जहाँ सघन सेना अनावश्यक हो जाय। उस हासत पर पहुँचने तक वे स्वयं कांग्रेसी सरकार को यह सलाह देने को तैयार नहीं थे कि वह अपनी सघन सेना को बखेर दे। अर्थात् वे मानते थे कि यह हासत अगर से नहीं आवेगी किसी हिमागी निर्भय में से नहीं आ जायगी बल्कि भीतर से अनुकूल सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था बनपायेंगे तो उसके परिणाम स्वरूप ही यह इष्ट फ़सित हो सकेगा। सही बुनियादी काम में वे लगे भी हुए थे। १४३ क्या यह उचित ही नहीं हुआ कि भारतीय जीवन के उस विनिष्ट अय में गांधीजी हमारे बीच से छठ गये? गांधी-हत्या के विभिन्न कारणों और परिणामों पर क्या आप प्रकाश डालने की कृपा करेंगे?

**‘बमजोर’ गांधी की हत्या**

—मगवान् की मृष्टि में अनुचित कुछ होता नहीं है। हमारी इनके घर्मी में यों

बहिष्ते कि जो होता है, उसे अनुचित मानकर समय से बरे हटा देने के बजाय ममता के द्वारा उसके कारणों में जाने का प्रयत्न चाहिए।

गांधीजी को लोग यहारया और इस लिहाज से क्रोधित-वृद्ध मानते थे : हिन्दुओं को लगता था कि मुसलमान के प्रति वे पक्षपात रखते हैं, रिमायत करते हैं। उनका मन रखने के लिए ऐसी राह चल जाते हैं जो हिन्दू और मुस्लिम के बीच नहीं-नहीं ब्याप की नहीं है बल्कि हिन्दू के प्रति ब्याप और मुस्लिम के प्रति श्यायतिरेक की होती है। ऐसा उनकी अहिंसा-नीति के कारण होता है। इसी से समय पर के दुर्घट बचते और भुज जात हैं। ऐसा व्यक्ति दुनिया के कामकारी मामलों में बैठा ही ठीकतरा ही ठीक है। राष्ट्र और जाति का स्वामिमान उनके हाथ में सुरक्षित नहीं रहे सजता।

गांधीजी की हारया हुई, तो यह जानने पर कि ह्यारय हिन्दू है लगभग सभी के मन में हुआ था कि ब्याप यह कोई ब्याप का राष्ट्रपार्थी होगा। पर निजमा यह मायुराम विभावक बोझ।

राष्ट्रपार्थी गांधी को समझ गये थे

राष्ट्रपार्थी लोगों ने जो कष्ट उठाये थे उन सीम और दोष में वे जो भी हारय निजमा कम जाना जा सजता था। उनमें से कोई गांधी का ह्यारय होता तो बात सीधी सीधी। लेकिन ऐसा जो नहीं हुआ यह मेरे विचार में इसलिये नहीं हुआ कि दिल्ली में राष्ट्रपार्थी को गांधीजी को पात से दोगने बचने का अवसर मिल गया था। इस बरा से अवसर से भी उन्होंने राष्ट्र परबान लिया था कि ब्यारया ममता जानेबाल अहिंसक गांधी के अवसर ब्या आत रती है। अपने प्रभाव में गांधीजी को निर्बल और बावर मानने की वही उम्मा बना उनमें नहीं रहे जाती थी।

राष्ट्र (?) गीहसे

लेकिन गांधीजी को केवल दूर से और रिमाय से जाननेवालों का दो बों का उम्मा ब्यावर्त्तमी दूर बैसे होती? वे गांधी के काम इजालि नहीं ब्या वे कि लयी के भुज से बरे रती थे। यह मन उनका माने रिबाना से से संदार होता था। मन उनके लिा लगती था लगती गांधी लगती था। लन्दे से उन भुज को पाता था और इजालि बट ह्यारय बोझे व मन में ह्यारय की ही नहीं ब्या दुम्य का बारी था। मरनेबाला ब्याप का मजमुम का गांधी निजल ब्या अपने उम्मा दुम्य ह्यार अवसर ह्यार का ह्यार मन ब्या ही इनमें गीहसे ब्या के?



मोडसे में जो अवाक्य में बक्तव्य दिया उससे भी साफ हो सकता है कि हत्या द्वारा उसने तो पुण्य-कर्म करवा जा रहा था। कानून हत्या समझे तो समझे और अपना काम करे। कानून में अपने हिसाब से मोडसे को फाँसी दे दो और मोडसे अपने हिसाब से दाहीव होकर मर गया।

**राजनीतिक हत्या क्या पुण्य ?**

गांधी-हत्या का कारण शायद इस तरह स्पष्ट हो जाता है। राजनीतिक हत्या का अर्थित्व जब तक जन-मानस में रहेगा ऐसी हत्या असम्भव न बनेगी। कारण यह मायारव कोब या बरसे के भाव से होनेवाला करल-गून नहीं है। यह तो वह है जिसके बारे में विमान एक पुण्य-कृति का भाव बना के सकता है।

**गांधी-हत्या का प्रभाव**

ऐस हत्या का परिणाम तत्काल तो यह हुआ था कि हिन्दूवाद का मूल्य गिरा था। पर हिन्दू-साम्प्रदायिकता को तो अपने समर्थन का तर्क पाकिस्तान के जन्म में मिल जाता है। इसलिए गांधी-हत्या की बात पुछनी पड़ने पर हिन्दूवाद का उदय रुक नहीं सकता। कांग्रेसी सरकार का काम भी कुछ उस बन स चला जिससे उसके धर्म्युदय को अवरुध मिले। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के सम्बन्धों का प्रभाव सम्प्रदाय भाव पर पड़े बिना नहीं रहता। उन सम्बन्धों के हृदय तक सीठे बनने की सम्भावना स्थिति-तर्क के कारण ही बहुत अधिक नहीं रह जाती है। किसी एक ओर, शायद मारवा की ओर, से ही आशा हो सकती है कि यदि राजनीति पूरी तौर पर मानव-नीति तक उठ आये तो तनाव शान्त हो सकता और पूरा जीवनस्य सम्भव बन सकता है। पर समय समय समता दीखता है।

गांधी-हत्या का प्रभाव गुप्त हुआ था। दुनिया भर में और पाकिस्तान में लोगों के दिल द्रिप्त गये थे और गांधी जीवन का मन्देश्य जीवन उनका मनो का हत्या छू गया था। बीसी गहरी निजिदा फिर किसी कारण जाने तो मान दूंगी है अथवा जिस हल स पड़े चल गयी है उनमें गांधी का जानेवाली को सम्भावना शक्ति दीगयी नहीं है।

**गांधी के भूत स भयभीत**

१४४ ऊपर आपने गांधीजी को केवल दूर से और विमान से जानेवालों के रूप का चित्र दिया। आपने कहा कि वे तोच गांधीजी के भूत से डरे रहने थे। हत्या

इत उक्ति पर और स्पष्ट प्रकाश डालें और बतायें कि मोहसे ऐसे चित्र लोगों का प्रतिनिधित्व करता था ?

—जिन्होंने गांधीजी को मुसलमानों का दोस्त और हिन्दुओं का दुश्मन माना ऐसा मानकर तुम संघर्ष-निवारण के लिए गांधी के पास नहीं आये और दूसरे अपनी माय्यताओं का कट्टर बनाते चले गये। मोहम को उन सबके मानस का स्वामी हो रहना चाहिए। इसमें आधे बहु बर्ग बँट गया था। इसमें राजनीति का रस ही जान और मैं उससे मुक्त रह सके हूँ।

## हिन्दू राष्ट्रवाद

१४५. और साबरकर आदि के हिन्दू-राष्ट्रवाद के विषय में आपका क्या मत है ?

क्या यह राष्ट्रवाद भारत के लिए उपयोगी है ?

—किसी भी प्रकार के सम्मेलन का समर्थन मेरे पास नहीं है। बार स्वयं मैं एक बन्द भाव है और जिस भाव के साथ सम्मेलन है उनके अर्थ को भी कुछ बन्द बना देना है। राष्ट्रवाद जातिवाद मनवाद में भाव के कारण राष्ट्र जाति मन आदि सब भाव मानो कुछ कटकर अलग और बन्द बन जाते हैं। सामान्य भाषा प्रवाद के वै नहीं रह जाते। सभी एक प्रयत्नवाद भाव बनना था। वह प्रयत्न सामान्य भाषा की नहीं थी उसकी अन्तर्गत विविध परिभाषा हो गयी थी। इस तत्त्व का पूर्वार्थ राष्ट्र मानो कुछ बन्दन (एकवचनपरिग्रह) को बनना लगा है। हिन्दू-राष्ट्रवाद का जैन उसको और नैकरी परावर्ती दे देता है। हिन्दू-राष्ट्र में आरम्भ में कोई विश्व भाव नहीं था। भाव-राष्ट्र या हिन्दू-राष्ट्र उस समय एक अमूर्त सौर जीवन का भाव था। आज राजनीति बन्धन मगर और प्रवृत्ति हो गयी है तो उसने राष्ट्र की भीमोक्ति मना को प्रपामना दे दी है। वह भाव मानो उस और भी एकांगी बना दिया जाता है। इसलिए कुछ दिनांक हिन्दू राष्ट्रवाद वह भाव देना है जिससे जितने मेरे मन में तनिक भी आशय नहीं है।

## जातीय राष्ट्रवादों की उत्पत्ति

१४६. हिन्दू राष्ट्रवाद अथवा अहिंस-राष्ट्रवाद अथवा अन्य जातीय राष्ट्रवादों की उत्पत्ति और उसके विकास की जिम्मेदारी आप विद्वानों के समक्ष पर डालते हैं अथवा उनका सोच अपने ही परिधि और आसक्ति के अर्थ में करते हैं ?

—कारण मना जिम्मेदारी डालना है। अर्थ इसी इन्द्र डाला प्रवृत्ति और निन्दित होता है। अर्थात् आत्मनिष्ठ बनना और बाह्य परिस्थिति के द्वारा दाना दाना के बीच में में पटना और निन्दित करने का नहीं है।

योद्धे ने जो अनाकल्य में बकलक्ष्य दिया, उससे भी माफ हो सकता है कि हत्या द्वारा उसने तो पुष्प-कर्तव्य करना चाहा था। कानून हत्या समझे तो समझे और अपना काम करे। कानून ने अपने हिसाब से योद्धे का फाँसी दे दी और योद्धे अपने हिसाब से गद्दीब होकर मर गया।

### राजनीतिक हत्या क्या पुष्प ?

गांधी-हत्या का कारण शायद इस तरह स्पष्ट हो जाता है। राजनीतिक हत्या का औचित्य जब तक जन मानस में खोबा ऐसी हत्या असम्भव न बनेगी। कारण यह सामारण कोष या बंदसे के भाव से होनेवाला कस्त-नून नहीं है। यह तो यह है जिसके बारे में विभाग एक पुष्प-वृद्धि का जवाब बना ले सकता है।

### गांधी-हत्या का प्रभाव

यह हत्या का परिणाम तत्काल तो यह हुआ था कि हिन्दूवाद का मूल्य मिट गया। पर हिन्दू-साम्प्रदायिकता का तो अपने समर्थन का तर्क पाकिस्तान के जन्म में मिल जाता है। इसलिए गांधी-हत्या की बात पुरानी पड़ने पर हिन्दूवाद का जबरन नहीं सका। जासूसी सरकार का काम भी कुछ उस रूप से चला जिससे उसके सम्मुख को अवकाश मिला। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के सम्बन्धों का प्रभाव सम्प्रदाय भाव पर पड़े बिना नहीं रहता। इन सम्बन्धों के हरेक तर्क पीछे बनने की सम्भावना नियति-तर्क के कारण ही बहुत अधिक नहीं रह जाती है। टिप्पणी एक और, शायद भारत की ओर से ही जाया हो सकती है कि बहिः राजनीति पूरी तरह पर मानव-नीति तक उठ आये तो तनाव घाला जा सकता और पूरा गीयवस्य सम्भव बन सकता है। पर उत्तर समय समता बीगता है।

गांधी-हत्या का प्रभाव गुप्त हुआ था। दुनिया भर में और पाकिस्तान में मोवा के दिन जिस गये थे और गांधी जीवन का सम्पूर्ण जीवन उनका मनी का हृदय धृ बयां था। पैनी मारी निनिता फिर बिनी कारण प्राप्ति ती बाव भूयति है सम्प्रदाय जिस रूप में बीज चल गयी है उसमें राष्ट्र को घटनेवाली को सम्भावना जाग्री दी जाती नहीं है।

### गांधी के भून से भयभीत

१४४ ऊपर अपने गांधीजी की रचना हुए हैं और विभाग से जाननेवालों के वर्ग का त्रिक विद्या। आपने बड़ा कि वे तोय गांधीजी के भून से बने रहने थे। हृदय

इस उक्ति पर और स्पष्ट प्रकाश डालें और बतायें कि मोडसे ऐसे बिज सोगों का प्रतिनिधित्व करता था ?

— जिन्होंने गांधीजी को भुमलमानों का शत्रु और हिन्दुओं का दुश्मन माना ऐसा मानकर यह संघर्ष निवारण के लिए गांधी के पास नहीं आये और दूर से अपनी मास्यताओं की कट्टर बजाते चले गये। मोडम को उन गबन मानम का लक्ष्य ही कहना चाहिए। इससे आगे वह बर्ग कौन क्या था इसमें राजनीति का रम हो आप और मैं समझ मुक्त रह सकते हैं।

## हिन्दू राष्ट्रवाद

१४५. और साबरकर आदि के हिन्दू राष्ट्रवाद के विषय में आपका क्या मन है ? क्या यह राष्ट्रवाद भारत के लिए उपयोगी है ?

— किसी भी प्रकार के बन्धन का समर्थन मेरे पास नहीं है। बन्धन स्वयं में एक बन्द मास है और जिस मास के साथ संगत है उसका अर्थ का भी कुछ बन्धन बना देता है। राष्ट्रवाद आतिवाद मतवाद में बाद के कारण राष्ट्र जाति बन आति मास मासो कुछ बटकर असम और बन्धन बन जाते हैं। सामान्य भाषा प्रयोग के से नहीं रह जाते। अभी एक प्रयतिवाण राष्ट्र चलता था। वह प्रयति सामान्य भाषा की नहीं थी उसकी अरती बिगिण परिभाषा हा गयी थी। समान्य बादपूर्वक राष्ट्र मानो कुछ बन्धन (एकवचनविधिम) का अपना स्था है। हिन्दू-राष्ट्रवाद का र्थ उसका और भवती घगबली दे दता है। हिन्दू-राष्ट्र में भारत में कोई पिछ मास नहीं था। भारत राष्ट्र का हिन्दू राष्ट्र उस समय एक समुद्र लोच-जीवन का नाम था। भारत राजनीति दान मुक्त और प्रत्य ही गयी है वो उसका राष्ट्र की भौगोलिक सत्ता को प्रधानता दे दी है। बाद जादर मानो उस और भी एगोयी बना दिया जाता है। इसलिए कुछ मित्रावर हिन्दू राष्ट्रवाद वह मास दता है जिसके लिए मर मन में तनिक भी धारणा नहीं है।

## जानौय राष्ट्रवादों की उत्पत्ति

१४५. हिन्दू राष्ट्रवाद अथवा अस्तिवा-राष्ट्रवाद अथवा अन्य जानौय राष्ट्रवादों की उत्पत्ति और उनके विकास की क्रियेदारी आप बिदारी सामन पर डालने हैं अथवा उनका स्रोत अपने ही बाधिक और मोसहनिज जन जीवन से दाते हैं ?

— कारण मास हिन्दुगी हाता है। अर्थात् एमी इन्ड द्वारा प्रत्य और मिद हाता है। अर्थात् आतिरि केना और बाध परिस्थिति दन दाता दबाता व बीप में न बना और मिद बनिज हुआ जानी है।

राष्ट्रवाद स्वयं एक राजनीतिक भाव और सम्प्रदाय है। शासन में उसकी स्तुति राखी है और वहीं उस सम्बन्धी प्रतिक्रिया भी जग्य होती है। अर्थात् बिदेसी शासन में भारत में राष्ट्रवाद के लिए कारण उपस्थित किया और उसको प्रबलता दी। भारत का स्वराज्य सामने आता दिखाई देने लगा तो मुस्लिम राष्ट्रवाद और हिन्दू-राष्ट्रवाद की उत्पत्ति का कारण बन गया। जब शासन का सपना बुरा वा स्वराज्य के योग की कल्पना मीन थी केवल उसके लिए बलिदान की बात ही ध्यान में आती थी तब वह स्वराज्य हिन्दू या मुस्लिम नहीं दीमता था। उस समय के दोनों बिना भेद भाव के उसके लिए अपनी कुरबानी देने जाते थे।

अपने बीच में ही हम प्रेम पाते हैं जिसमें स्व में पर के लिए समर्पण का भाव होता है साथ ही पर भी पाते हैं जिसमें स्व में पर के नाम की इच्छा होती है। ये दोनों भाव हमारे भीतर से आते हैं और बाहरी बलाओं के अनुसार बदलते-बदलते हैं। राष्ट्रवाद के जग्य में इन बाहरी बलाओं की राजनीतिक इतिहास में वे जो भा परता जाता है। लेकिन केतना के बीच में तो आप मान ही लीजिये कि विनम्र बर्तन भाव जहाँ आत्म-विसर्जन की प्रेरणा काय करती है संस्था की सृष्टि करना है और सर्व कर्मभाव राजनीति की रचना रचता है।

विभाजन में अंग्रेजों का हेतु

१४७. भारत को विभाजन तक पहुँचा देने में और उसके सामने-आये इतना विभाजन की स्थिति पैदा कर देने में अंग्रेजों ने क्या स्वार्थ सोचा? क्या उनके मन में भाग प्रतिलोभ की भावना ही काम कर रही थी अथवा कुछ और भी था? —अपने जाति अंग्रेज व्यक्ति की तरह कोई एक पटक नहीं है। अर्थात् जातीय अन्तरापक्ष जैसा कुछ राष्ट्र सामने नहीं है। पालियामण्ट की ही भाव वह स्वान द मानने है या पालियामण्ट के भी प्रतिनिधिकरण प्राइम मिनिस्टर को। तो यह विभाजन लेबर-पार्टी के प्रधानमन्त्री एटली के काल में हुआ था। उनका पूर्व के शर्मा को या किसी भी दूसरे प्रधानमन्त्री के पूर्व के शर्मा को लिया जाय तो बड़ा सब भला ही भला दिखाई देगा। अर्थात् मन्त्र मन्त्र जैसी भाषा और जैन हेतुओं को सामने रखकर काम किया करता है। लेकिन वह मन के बहुत पारे अथवा ही बुरा करता है उसके पीछे बहुत कुछ पड़ा रहता है जो शर्मा को परत में नहीं आया करना और अवचेतन बना जाता है। इसलिए अंग्रेज जाति के हेतुओं को बाँध देने का काम मुसलमान या किसीको करना नहीं चाहिए। एक भगवान् ही है जो सब जानता है।

इसीलिए यह घटना इतिहास में निश्चय भारत के नहीं नहीं मिलती कि संघर्षी राज हारकर हुआ था भी एक अग्रिम मातृ-वेष्टन को इन देश में स्वच्छता में बनना पड़ता 'राष्ट्रपति' बनाया। यह सम्झना सम्भव हुआ गांधी के कारण। भारत का स्वराज्य-मुक्त गांधी की अहिंसक नीति से जो लड़ा गया उसका ही यह आदर्शपरम परिणाम आया। सामक अग्रिम में क्या अनिष्ट और कल्प काम करता रहा था इसमें जाने की आवश्यकता नहीं है। हम सब अपनी छोटी-मोटी सम्पत्ति बनाकर स्वातन्त्र्य में रहा करते हैं। न्याय और स्वतन्त्र छुटना और छिन्नता है तो सब अनुभव कर सकते हैं कि क्या बीतता है। उस स्वातन्त्र्य को बचाने के लिए हम जाने क्या-क्या तर्क और उपाय नहीं रख सकते? वह सब खेल शायद अग्रिम में लेना हो और दुश्मनों वाली हो, तो कुछ भी अनगुन और अनहोनी बात नहीं है। वह राज और मोह जाने जाने भी न मिटा हो स्वयं देश-विभाजन में भी वह काम कर रहा हो, तो भी कुछ बिस्मय नहीं होना चाहिए। राजनीतिक तथ्य तो ऐम भी सामने आये हैं कि स्वराज्य के बाद भी वह दुष्प्रवृत्ति छिने छिने बनना काम करती ही रही है। उस सबक ऊपर यदि जातीय कर में अग्रिम में बनना चाहिए शायद सीधा और एक तरह स्वच्छता में भारत को स्वराज्य बिना तो हम 'प्रधान' की अहिंसक-मंडलि में अग्रिम गांधी-नीति का प्रभाव रहा। यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि उस नीति के कारण शायद-हस्तांतरण में बिधि का और मन का सीमन्त रहा पर उस हृदय और घटना की अनिवार्यता केवल नीति में के नहीं बन आती वह तो मनुष्य शक्ति में से ही उत्पन्न हुई। अर्थात् भारत देश में ने वह शक्ति प्रकट हो सकी थी जिसने उसके राजनीतिक स्वराज्य को रोचना अग्रिम न बन का नहीं रहा। उस शक्ति के प्रादुर्भाव का अग्रिम सम्भव राजनीति में गांधी नीति के आविर्भाव में था इसे किसी तरह हनकार नहीं बिना जा सकता। गांधी इनीशियल महात्मा के अनिश्चित समझ-सामिन्तों और लोक-मताओं के लिए अग्रिम और अनुग्रह के बिना हो जाते हैं कि नीति ही उन्होंने नहीं दी बल्कि शक्ति भी प्रकट कर दी और शक्ति ही नहीं दी बल्कि जनता शक्ति की एक मात्र शृंगार भी थी। केवल नीति में नहीं बनाया केवल शक्ति में भी नहीं बनाया। मनुष्य के अस्तित्व के भी चाहिए। यही नीति अग्रिम तरंग गांधीजी में बिना गये इनका यह परिणाम हुआ कि अग्रिम के अग्रिम में और भाग्यवायियों के अग्रिम में भी बिना ही देश बढ़ रहा था हा स्वराज्य के अग्रिम की बिधि अग्रिम कर के अग्रिम अग्रिम रहा।

प्रतिदोष एक कुतर्क भाव

गांधी मार्ग-दृष्टा के आत्मनेवा थे, राजनेता नहीं। राजकार्य के लिए उनके निरट माध्यम बनी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस। तब कांग्रेस के अवचेतन में पड़ा हुआ जो कुछ था वह रंग बाये बिना कैसे छाया ? उस स्वराज्य के साथ मुस्लिम हिन्दू राज्य की कल्पना और उन कल्पनाओं पर तर-हत्या हुई तो भीतर पड़े हुए उस विप के कारण हुई, जिसको गांधी का अमृत काट नहीं सका था। काट इसलिए नहीं सका था कि आदिमक गांधी की सामयिक हमन व्यर्थ किया था और राष्ट्रीय और कमिक गांधी एक ही अपने स्वार्थ को सीमित रखा था। उस सीमा के पार हमारे मन के जहर तक अगर अमृत प्रभाव नहीं पहुँच पाया तो वह हम पर है कि चाहें तो उन प्रभाव को दोष दें और चाहें तो अपने को अपने स्वार्थ राम की शोष दें कि उसने हमारी दृष्टि को इतना मोझा और नेता के प्रति हमारे समर्पण को इतना अभूत क्यों कर दिया।

प्रतिदोष एक ऐसा भाव है जो एक ओर से ही नहीं टिक पाता है। मन्त्रों में जो रहा तो रहा भारतीय होकर हमें तो बड़ी सीचने की रूख जाना है कि गांधी के साथ-साथ क्या हममें भी वह भाव था ? यदि अब भी उसका भव बचा हो तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षण में कामगरेन्द्र के द्वारा हम अपना पूरा ध्यान नहीं दे सकेंगे यह निश्चय मान लेना चाहिए।

पटेल द्वारा बेसी-राज्यों का विमर्श

१४८. बेसी-राज्यों की समस्या की सरदार पटेल ने जिस भाव और विधि से मुक्तसाया और जिस प्रकार उन्होंने विदेशी शासन के हथ जोहरों को निरस्त किया, उसने क्या आप सहमत हैं ? यदि ऐसा है न कर सके, तब आपकी राय में भारत की एकता का क्या भविष्य रहता ?

—सरदार पटेल की विमर्श राजनीतिक विमर्श है। उनका प्रति प्रयास का ही भाव ही गहरा है। अवश्य सम्भव था कि विदेशी कठनीति दब देती राजाओं की आड़ निरस्त होनी लगी और अन्तराष्ट्रीय में विमर्श और बाधा उपस्थित कर जाय। उन समय अनिष्ट सम्भावनाओं को सरदार के मन की धीरे-धीरे एक भाव छाया और हटा दिया। भय यह भी मानना है कि सरदार की यह सफलता मुक्तसाय हो जानी अपर कोरे राजा के प्रदर्शन के बल पर ही की जानी। सरदार में भारत का भव था ऊट-बाट एवम् नहीं थी उनके पास नहीं था। अर्थात् भारत में ही नहीं साधारण सहजता और सम्भवता के साथ चलने के कारण यह सम्भवता उनकी दिनी।

## केवल राजनीतिक विजय

आमज को आर समझें। वह आत्म यह कि राज्य की नीति में महत् मानव की नीति मिल रही, उसी सरकार को सफलता भी मिलती गी। सरकारी तो उनके पास थी ही भाष साधारणता भी उनके पास भरपूर मात्रा में थी। यह दोन सफलता के लिए मात्र मिल हुआ।

किर भी कुछ दिमाकर बिजय वह राजनीतिक थी। क्या ही अच्छा होता कि वह हमने अधिक भी होनी। अपना राजा लोग जो राजा के विपक्ष के बाद राजा ही नहीं रह सके अपने को बचिन नहीं। चुनाव अनुभव करने और भग्न बाहर देश की विचारक राजनीति में उनके प्रभावन आदि कामों में सहयोगी और महायुक्त बनने को आने आते। कुछ यदि उनमें पण्डित और परामर्श अनुभव करत रह मन में शोध पोषते रहे ता वह भाष भारत के लिए पाठ्य वाही कारण बना। गांधी के लिए सम्भव हो सकता था कि काम ऐसी गूबी में हा कि राजाओं पर स निक राजा उनसे और जाये पर कामकाज उन पर और कमक आय। वे उन कारण अनिश्चित उम्मीदी नागरिक बनें। स्थिति वह बात गण्ड आरक प्रान में आये की है।

## कश्मीर-समस्या

१४९. सरकार पटल कश्मीर के मामले में स सफलता हैं कि बहुत दूर तक अत कम रहे। यदि भारतीय कीर्ति जब बड़ रही थी, तब भाग बड़नी जानी और राष्ट्र संघ के बहाव में आकर पटल-बिराज को स्वीकार न कर सैनी तो सारे कश्मीर पर भारत का कब्जा होना और समस्या उसी न उत्पत्ती। आर हम परिस्थिति के लिए देख को अधिक विवेचार ठहराने हैं अथवा सरकार को?

—राजनीति में मैं नहीं जानेंगा। वह कबल शक्ति की नीति है। केवल यह धर्म में स जो पण्डित हाती है वह नीति भी है इसीमें दुनै स है।

## भारत की सज्जती

बड़े बड़े मध्य-राज्यगत स भारत परिस्थितियों का हलकार भारे कश्मीर पर कब्जा कर लेना और काम सक विवे राता मो मेरे लिए स विवे पर और और को बाध न होनी। अब भी मैं मानता हूँ कि भारत के मन में जो पण्डित है वह कभी कबल नहीं है। वह या स है कि कश्मीर में भारत की उमंग और समस्या के परिस्थितियों की दृष्टि पर है और सब सब के लिए है उस सब काम सज्जन में हमस अथवा मित्र नहीं हो स।



हमारी फौर्में वहाँ पहुँचीं और हैं तो उनका बल इसलिए कायम और बर्धकारी है कि पंडित मेहरू का मन इस बारे में निश्चय है कि यह प्रथम प्रयास ही नहीं, बल्कि साम्प्रदायिकता और कर्तव्यता का था। हिन्दू-मुस्लिम-विचार में अपने लिए संगठ नहीं मानते और यह तर्क कि कश्मीर में मुसलमानों की आबादी अधिक है पंडित मेहरू को उस सम्प्रदाय में उनके कर्तव्य से मुक्त नहीं कर देता है।

### म्याम का बल

म्याम का यह बल न हो तो फौज का बल आज के दिन दुनिया में मुस्लिम से ही कम कर सकता है, यह समझने और समझाने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। मुद्र-विप्लव यदि भाण्ड को स्वीकार हुआ तो अवश्य राजनीतिक स्थिति के सम्मुख की दृष्टि से बहु अनिवार्य रहा होगा। मेहरू-मटेस को वहाँ बल्य देखना पकड़ है। पाकि के नरोते में युनाइटेड नेशन्स की बात को ठुकराना भारत या पाकिस्तान किसीके हित में नहीं हो सकता था।

## संविधान, दलीय प्रजातन्त्र, निर्वाचन

### भारतीय संविधान

१५०. भारत के संविधान के विषय में आपका क्या मत है? क्या हमारा संविधान अविष्य के सिन्ही भी सम्भावित मतमें से संपूर्ण अपवा गृहपुत्रों को मुक्तमाने की सामर्थ्य रखता है और क्या इसके सहारे भारतीय शासन का प्रजातान्त्रिक एवं संसदीय स्वरूप बना रह सकता है?

### संसदीय पद्धति अधूरी

—मैंने विधान पढ़ा तक नहीं है। वह मुक्त संसदीय में बना हमीमें ला जाता है कि बहुत कुछ है उसमें जो उधार है अनिर्धार नहीं है। उसमें आरम्भ में ही भाषा है कि "हम भारत के लोग हम (संविधान) को आत्मार्पित करते हैं।" किन्तु सब यह कि संविधानों द्वारा संविधान राज्य को दिया गया था। विधान एक संसदीय तन्त्र भारत को देता है। यह संसदीय स्वरूप गांधीजी को बहुत आसमान देनेवाला न था। मैं भी मानता हूँ कि यह संसदीय व्यवस्था मानक वर्ग के लिए मार्क्सवादिक अन्त्योप को बाद-विचार द्वारा बाहर पेंक देने का सुविधानमय करिया देती है, अधिक नहीं। जोरमय का दबाव उन द्वारा अपना प्रमाण पर नहीं आना किन्ता प्रमाणक वर्ग को अन्त्योप के प्रति विरक्त बनाये रखने में मदद देता है। पानिपानेस्टरी पद्धति आज के जमाने में नाक ही बबूरी पिड हो रही है।

### संविधान बेबीर

अविष्य की दृष्टि से मान्य होता है कि कुछ समय पद्धति का निर्वास होता। कम्य निगट विधि में इतने उल्लास और पेंक नहीं है। यदि प्रगति हमारी हम और हानी है कि सामर्थ्य का तन्त्र अलग से होने की आवश्यकता हमी-हमी मिले हो जय पपात्रमय निरन्तर अमात्र-राष्ट्र में आर ही गमित और मचित हो तो मरिगत मरल म मरमर होता आया और सामर्थ्य की मरिगत मरुप्य की मरिगा का उल्लेखर अरुण्य रिज करीबी उसकी अरुण्य नहीं करीबी। आर का मरिगत भारतीय जीवन की आवश्यकताओं में से उभा नहीं किन्ता है किन्ता कि और जय के कई मरुपों पर से उतर कर लिया गया है।

संविधान का प्रश्न मेरी दृष्टि से बैसे भी बोधम है। अन्त में तो यह पात्र है। मुख्य प्रश्न यह रहता है कि उस पात्र में क्या चित्रित है ?

### संविधान बोधम, प्रथम चित्रित

संविधान की चिन्ता मुझे होती नहीं है। नीचे से प्राप्त करने यदि उपयुक्त और उभरा आता है तो फिर यह प्रश्न बहुत बिबाद का नहीं रहता कि वृक्ष का आकार क्या होना। स्वतः उसको जितना आकार सेमे दिया जाता है, उतना अच्छा है। मनुष्य ऐसे ही उदय में आती है। लेकिन आकार-अकार में भी हम सजा दे सकते और अपने मन का परिच्छेद पहना दे सकते हैं। येषां ध्यान यदि है तो इस मूल की ओर है जिसका बिचार संविधान से छूट जाता है।

### बुनाव-पद्धति में सशोधन की आवश्यकता

मुरे की बात संविधान में बयस्क बुनाव की है। मनों की बोझने की दृष्टि से बुनाव कोई बहुत अच्छी चीज नहीं है। फिर भी बायब अनिवार्य तो वह होता है। किन्तु वहाँ मौलिक मशोधन की आवश्यकता है। बुनाव में से निष्पन्न यह होगा चाहिए कि चित्त समाप्त हो बाय समाज का सम्मान स्तूपकार बनी जाय न हो। ऊपर के बर्ग नीचे के स्तर पर जब दबाव डाले रहते हैं तो बय चुसता है धन पुसता है। इसमें मानवता की हानि है। समाज का विकास समान भूमि पर (हो/गो/बो/क) होना चाहिए। इस पर हमारा ध्यान हो तो बुनाव-लेख का घटक छोटा हो बायगा पाँच-सूक हजार तक की आबादी से बड़ा बह न होना। इस छोटे लेख का यह सुनीता है कि सब परस्पर परिचित होने प्रचार, धन आर्थिक के प्रभावों को काम करने का अवकाश उभरा न रहेगा और बुनाव में चरित्र प्रभाव बन रहेगा। साथ ही यह सम्भावना भी होगी कि बुनाव के केन्द्रीय से केन्द्रीय पुरष धर्म से छूटेगा नहीं। राजा मिटे गवर्नर करे, बय करे ही नहीं तो पीरे पीरे यह आदमी कम हा जाता है और मुरग प्यास बन जाता है। तरह-तरह के आश्चर्य से उस ऊँचे उठाये गगा पगरी होता है। समाज की व्यवस्था में उस नृचिम बल का जो उपयोग किया जाता है वह नय की पीछे दाम देता है और बनावट के महरब को बड़ा देता है। नमूनी राज्य-संस्था में यह शीघ्र ममाया हुआ है और बाग्नीय संविधान उगसे बरी नहीं है। प्रष्ट है कि समाज का नयगा हमारे मन में हर के मानिद है, त्रिगमें ऊपर पीरे पर बैग जाता है। बय जी करे नी टीक है, मय बाग उभ बायब है, सब गले उगसे लिख बय है। हर में नीच बुनियाद पर मेहनती आदमी है त्रिगमें

काम मन्त्र आरामशायी का काम सौभाग्य के कारण शुरु है और दिन रात जारी है। मन्त्र में पनीना बहाना जिसका काम है। राज्य को प्रधान बनाने के पीछे जैसे सुमात्र का यही ऊँच-नीचबाना मजिद-दर-मजिद 'बटिबल' नक़्का हुआ करना है।

**प्रशासन का महत्व बढ़ा-बढ़ा**

यों संविधान में हम बचनान्न है। सचिन अर्थ-रचना ऐसी है कि गन्तव्यता में से समानता नहीं पल्लि होती। प्रशासन का महत्व नागरिक से बढ़ा बढ़ा रहता है। हमन जरा बढ़ जाने पर हर बार्ड अनवर बना चाहता है यही ठा बनने को सचिन मानता है।

राज्य का लमा सचिबान सचिब्य व सम्बन्ध में मेर मन में से आगामी को निर्मूल नहीं कर पाना है।

१५१ आपने उपयुक्त उत्तर से समुष्ट नहीं हूँ। कई ध्यान दोष हैं। क्या हमारा संविधान वर्तमान अवस्था याही के प्रशासकों पर निर्भर रहने में समर्थ है? अबका बहु प्रशासकों की कामनाओं के ह्रासों में एक निमीनामात्र है?

**प्रशासन, राष्ट्रपति म्याय, हिमाब**

—प्रशासन अर्थान् पवित्रवर्गुति। बानून को पालन बचने का काम प्रशासन का सरकार का है बनाने का काम मन्त्र का होता है। मदन या लमाया का मिस्तर है और प्रशासन-बन बहुमन्त्राले दल के मन्त्रिमन्त्र के हाथ जाता है। पादे में हमारे विधान का यह स्थान है। विन्नु मन्त्रिमन्त्र के ऊपर राष्ट्रपति है जिसका सीधा चुनाव होता है। दली में हमारा सम्बन्ध नहीं माना जाता। कि मन्त्रिमन्त्र और राष्ट्रपति का सम्बन्ध क्या सम्बन्ध है इस बारे में अभी कुछ बिबाद की स्थिति बनी है। केरिन कामाम्याया इन्फैन्ड के राजा के समान राष्ट्रपति की बेचल बेपानिक बना है। मन्त्रिमन्त्र की 'मन्त्र' का बहु विमी नियति में प्रमाण्य नहीं बन माना है।

म्यान और हिमाब जीव के विमान प्रशासन के अर्थान्न नहीं है और वे और राष्ट्रपति में जाता अधिकार प्राप्त करने है।

दल मन्त्रिमन्त्रिमन्त्र की राज-शाम के विमान मन्त्रिमन्त्र म्याय और विमान जीव के विमान रह जाने है।

**कायकारी और मन्त्र**

दली या विधान की बात। विन्नु बन्नुर्गति गन्ना इन्फैन्ड के बननी और बननी

है। अधिक सम्भव मन्त्रिमण्डल के लिए है कि अपने को सत्तावान् अनुभव करे। कारण उसके पीछे राष्ट्र का और सदन का बहुमत समझा जाता है और उसके हाम में पावर रहती है। पावर का अर्थ है जन और जन के विनियोग का अधिकार। माना नीति के जरों से प्राप्त हुई राशि और बेतनभोगी सबिसेक के लोम मन्त्रिमण्डल के अधीन रहते हैं। दूसरी चीजें बिसेक के प्रतिनिधि के तौर पर काम करती हैं। रोड-वाम और जॉब-गएल उनका काम है। जेप में देश का जन-संचालन अर्थ-संचालन नीति-संचालन सम्बन्ध-संचालन आदिका सब काम एक्जेक्यूटिव के हाथ होता है। यों कह सकते हैं कार्यकारी समस्त बल एक्जेक्यूटिव के पास है, नैतिक बल राष्ट्रपति श्याम और आडिट के पास है।

### बोमों का समुत्पन्न

नीति-बल और शक्ति-बल के समुत्पन्न पर राज्य-व्यवस्था चलती है। असमुत्पन्न हो सकता है और वह किसी भी बिगा से बा सकता है। शक्ति नीति को अमूल्य बिता सकती और उस ओर से निरुत्पन्न होने की चेष्टा कर सकती है। उमर नीति-शक्ति के रंग-रंग पर दुष्क और स्पष्ट हो सकती है। अन्त में इन दोनों पक्षों के तार-तन्म पर लोकमानस और लोकमत का प्रभाव पड़ता है।

### मुख्य चीज समाज-मूल्य

शक्ति का जोर इस नीति स्पष्ट है। मूल में करोड़ों लोगों की भावनाओं के पास चले देना जा सकता है। इसीलिए मुख्य बात यह हो जाती है कि प्रशक्ति समाज-मूल्य क्या है? समाज के अन्तर्ग में कौन बीछ है, कौन समाज-मानस को रूप दे रहा है? सेवा और समपण भाव द्वारा यदि एक बर्न जनता के मनों में पहुँचना और वहाँ अमूर्त मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है तो नयी शक्ति का उदय हो सकता है और सहज भाव से राज्य शक्ति सम्पन्न हो सकती है। इन लोकनीति में स्वतन्त्र होकर यदि राजनीति के ही वरातक पर कुछ बल-विषह चलना है तो उनकी मुठ यहाँ बर्बाद करनी नहीं है। कारण मुझे है कि येर और गुजर की लड़ाई में निश्चिन्त रूप से बहिष्क-बागी करमा बटिम है कि परिणाम क्या होगा और कौन जीनेगा। उस प्रकार के लव अनुमानों में जामा जमावदमर है। कारण वही व्यक्तिपों के बलाबल की प्रतिद्विष्टता हो सकती है जिनको पावर राजितिक्य लता राजनीति कहा जाता है।

### सविधान नहीं, मानव-तत्त्व निर्णायक

सविधान स्वा-निपण्यव नहीं रग लटना। आज भी मन्त्रिमण्डल यद्यपि बहु प्रता-

मन का जंग है। अधिकारों की ओट देना देना जाता है। डिमोरेसी एक ऐसी चीज है जिसे हमें दोष एक-दूसरे पर डालने और स्वयं बचने का पालन और ध्यान देना पड़ता है। अन्त में सम्मिलित-नैतिकी के माध्यम से ही दोष नहीं बर्खास्त हो सकते। चुनाव और बहुमत द्वारा नियुक्त अधिकारों की कृपा-कृपा नीतिमत्ता और निष्ठापरता पर निर्भर करता है। यह कि नीचे का प्रस्तावक वैन नाम करता है। यह दोष उन्हें के परिभाषा पारर की अन्त में मानवीय रह जाता है और मानव-नरक के अनुसार उसका पुनर्निर्माण होता है।

अगर समाज में यल और आत्मनिष्ठता नहीं है तो उसके प्रतिनिधि भी निर्दोष हो सकते हैं। यह प्रस्तावकों की ही बन जाये तो हमें कोई विश्वास नहीं है। टीकाकार सन् १९६१ की रिपोर्ट मन्त्रिमण्डल ऐसी भावना होती है कि सबसे समर्थ और स-माध्यम व्यक्ति मात्र सरकारी अफसर हैं। सामान्य नागरिक स्वयं में असहाय और कमजोर हैं। अफसर का पुष्टवत्ता पाते ही वह ऊँचा उठ जाता है। अफसर समाज में मानी मुद्राये जाता ही उसके बस का रह जाता है।

### नैतिक पारम्पर्यों का सहारा

विधान के राष्ट्र और नागरिकों का विश्वास है। उनका मत अन्त में समाज में बर्खास्त है। करोड़ों की जनता उस भरोसे नहीं रखती। जिस गाने करोड़ों आत्मा अपनी अस्मिता बनाते हैं वह अलिखित प्रचलित नैतिक पारम्पर्य हैं। उन मूल्य का ही विचार अन्त में नैतिक एक आदर्शनाम का माध्यम हो लेगा।

### राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री

१५२ अपने राष्ट्रपति की नैतिक बल का अनीक बनाया है और प्रधानमन्त्री को शक्तिशाली का। अन्तिम नैतिक और राजनैतिक बल का बीच अभी कुछ दिन पहले के दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए कहा है कि नीति-बल विधानी दूर तक आत्मनैतिक प्रमाणों को नियन्त्रण में रखने में समर्थ है अथवा जाने होगा?

### साम्य दलित समर्थी हैं

—यह विचार है कि अन्त में राष्ट्रिय नियम का अन्त है। अन्तिम नैतिक बल के अन्तिम पाती है। क्या आज और अन्तिम में क्या बल और बली भी रही हमा और हो सकता है। आत्म-शक्ति के अन्तिम नहीं बल्कि उनसे अन्त में अन्तिम बली है। इन पर अन्त रखी जा सकती है। अन्त में वह जो समान ही है कि अन्त में अन्त से समान मानवता और पूर्णता की ओर जा रहा है। इन बल का अन्त में अन्तिम होने की आवश्यकता नहीं है।

जन-मानस की स्वीकृति किसे ?

यह जब कि भ्रष्टा की बात है, तब जो असल और संगत है वह यह कि लोक-मानस को और कर्मक्यूह में पड़े लोक-नेताओं को स्वयं कैसा लग रहा है। अर्थात् यदि पण्डित मेहरू को अपना बक प्राइम मिनिस्टर के पास जो 'पावर' है उसमें माझूम होता है, और राजेन्द्रबाबू को प्रेसिडेण्ट के पास जो सीबी 'पावर' का अभाव है उस कारण अबसता अनुमन झूठी है तो पावर की शक्ति जीतेपी। क्योंकि उस स्थिति में दूसरी शक्ति कहीं रह नहीं जाती। यही याद रखना चाहिए कि प्रेसिडेण्ट की शक्ति सांविधानिक है और इस तरह स्वयं शक्ति-बल से पूरी तरह मुक्त नहीं है। हाँ यदि राजेन्द्रबाबू प्रेसिडेण्ट न होते जन-मानस में बैठे हुए उसके भाव्य नेता होते तब जबकि अमादुरमालजी के साथ की उनकी असहमति में अधिक और अभिमत बल हो सकता। पर उन सब अनुमान और कल्पना की बातों को छोड़ दोड़िये।

लोकनीति अकुल बनेगी

यह निश्चित मान लीजिये कि जल्द में करोड़ों लोगों का विश्वास-बल और प्रेम-बल निर्णायक होगा। भाविर इसीलिए सब राजनीतिक बल और व्यक्ति जनता की रिहाने और उनकी मानस-कल्पना की पकड़न की कोशिशें किया करते हैं। जनता समझती जा रही है कि राजनीतिक नेता बड़ हैं या आगे-पीछे राज्य पर जाना चाहता है इसीलिए घाय्य असल नेता वह नहीं हो सकता। असल नेता दायद कोई वह होना जिसका जीना-मरना जनता के साथ है, राज्य पर बैठना जिसके मन में और भाव्य में कभी है ही नहीं। नेतृत्व की यह पहचान जनता की चेतना में हो जा रही तब माना राजनीति के लिए लोकनीति अकुल भी बन आयपी जो उसे मुझ की भाषा में गीबने नहीं देगी और मुझ ठानने की क्षमता को उसमें छीन लेगी। १५३ बहुदलीय प्रजासाम्यिक शासन-अध्यापी में जितने भी दोष क्यों न हों, एक अहमपूर्ण गुण जतमें है कि जब-जब आवश्यकता होगी है, वैधानिक एवं राजनीतिक कामिया सहज अहितक रूप में होती चलती हैं। तथान्वित एकदलीय कम्युनिस्ट शासन प्रणाली में भी समझता हूँ यह मुविषा नहीं और बहूँ लोकमानस को अपनी चुनी जग नहीं मिल पागी। इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए बनाइय कि हमारा संविधान क्या वास्तव में संरक्षणीय नहीं है ?

कल्प या बगिपु

—मैं उस मुविषा को बहुत महत्व नहीं देता हूँ। उस मुविषा का अर्थ है कि यदि

## संविधान दलीय प्रजातन्त्र, निर्वाचन

नष्ट मर्यादाही को प्रजातन्त्र में जल्दी फिर नहीं देना पड़ता बल्कि दूर तक बरगुजार नाम कर मानता है। वह जल्दी चाहता न होने को है कोई बड़ी मुसीबा नहीं मानता है। प्रह्लाद हम बारबामस पर बहुत नहीं होत कम जानें कि उगव गिरा बर्गनु नहीं है बल्कि कोई बर्गनु है जो मजबूत है। अहिंसा को मुखिया में न मर्यादा में मानवीय प्रजातन्त्र का समर्थक होना मुझे मान्य नहीं है। अहिंसा या मर्यादाही नहीं है जो खोरा रणनी है कि सामने की हिंसा उसका निजान बने और गुण पूर्वक कुछ कम निर्णय और कम दूर बन।

कम्युनिस्ट तन्त्र में नेतापने का घण्टा नहीं

बुल मिलाकर मैं एक-दलीय कम्युनिस्ट तन्त्र का दमिक् प्रामाण्य और समता है कि राजनीति की स्पर्धा और राजनीति का घण्टा उस कारण समानताय का ज्ञाना है। आज क्या ज्ञान है? हर पदा-जिन्ना आरम्भी माना उस घण्टे का मानाना चाहता है बरानि बही सबसे ज्यादा फल देना मान्य होता है। पोलिटिक्स की या मानो हर विभीने लिए गुण है। जल्दी से न टिकनी निति नीमनीय और जोड़-तोड़ में आपकी जगता है कि जिलगी में रा बोरा का जाता है। व बलशर ने हमारे बीच में यह बाजारन पैदा कर रखा है। मोरिय कि रिमती मानव-जालि का नम तरह ज्ञान्य होता है। दबताम्वर हिमी काम में सा कम नहीं पात। कम जोड़-मुगु म राने है और बारे जन-मानस में ननाब पैदा बन देने है। यह मजबूर ब्यापि है कि हर जगाम काम की न मोव नेतापन की मोवे उत्पन्न में न लगे उत्पन्न को राग्ना और रोगनी दिगाने का काम ही माना मानता रहे। हमने में अहिंसा नहीं बरना है किदिना बरना है। बरदन्ना की रपारना और मुखिया के नाम पर प्रजातन्त्र जग किदिनापनी गये है। हिमी नीमिना और अहिंसा की जोर उनकी ग्ना की बन मर्ग। कम्युनिस्ट राग्ने में मिन देगा कि मदर पाम काम है हर जगामी जोर पर काम बरना है। राजनीति में गुण बरी मान्य का बन नहीं है बनी दन्त जैर काम की बनी जगता गती है। दां निमी म जग बरद गति-न न राना का में जगता है किने भगा भगुरमिना के अहिंसा काम रानम गती। नीम नीपार गन्व ऐसे है न किने न पनी ग्ना गता है के नम ० १ है अहिंसा न पनी के निमी मुद नहीं होती किने न बाग बरना बरना है। जग बरान और मज्जिम म दा जग निर्वाचन पैद म नेतापन जगम र काम को जगम जगने है। इगम जग जैमे गता गगने की नम प्रजातन्त्र नहीं गती।



प्रजातन्त्र क्या अनाधार का ही बूसरा माम रहे ?

प्रजातन्त्र यदि शिविस्ताचार, भोगाचार, बनावार और भ्रष्टाचार और समाज की तराही में अनाचार, कुत्सित और बीभत्स कुञ्ज-ईन्ध के बूझों का ही नाम हो तो मैं जमका समर्थन नहीं कर सकूँगा। सब यह कि राज्य-निर्मलता यदि बकरी हो और बकानी हो तो राजतन्त्र को एकदलीय बनाया ही सुविधा का मार्ग पीछेमा। भाँसों क जागे जो एक-एक बेरा टपकता जाता और कम्पुनिस्ट बनता जाता ॥ सो इसी अनिवार्यता के कारण। नैतिक अभिमान और उस प्रकार की शान्तिशील से शैवित्य को टिकने का पट्टा नहीं मिल जानवाछा है।

प्रजातन्त्र में प्रबल प्रवेष्टा जागे

इससे बाद यह न समझें कि लोकतन्त्र से मैं अधिनायकतन्त्र को खेष्ट कह रहा हूँ। या कह रहा हूँ वह यह कि यदि राजतन्त्र का अवलम्बन व्यापक और विस्तृत होगा तो तन्त्र की हठात् अधिनायकवाद की ओर बढ़ते ही जाना होगा। वह अहिंसा मल्ल है, जिसका मल्लव सिर्फ सत्यवाद रह जाता है। यही कारण है कि हिंसा को हमारे बीच आना पड़ता और अनुशासन की कमी को प्रशासन की वृद्धता से भरना पड़ता है। शासन वह बनेगा जिसमें अधिकाधिक व्यक्तियों की क्षमताओं का अधिक प्रयोग हो सकेगा। उनका अपभ्रंश न होया। हिंसा-अहिंसा आदि सभ्यों के मारे मरिष्य का निर्णय नहीं होनेवाला है। प्रजातन्त्र अहिंसा का मार्ग उठावे और कम्पुनिस्ट कण्ठ-नलीय तन्त्र में हिंसा का वर्णन करा दे इतने मात्र से एक-दलतन्त्र पर बहु-दलतन्त्र की विजय नहीं हो जायगी। प्रजातन्त्र को यदि टिकना है, अरन को बेतर और बढ़कर सिद्ध करना है, तो उसे अपने मीतर से उस अनुशासन को अपना हीया जो शैवित्य को समाप्त कर है और प्रबल प्रवेष्टा बना जाये।

मनमानापन बहुदलीय पद्धति का दात्र

अहिंसा का निवेष्टा की भाषा में देना और समझना बहुत ही मल्ल है। ऐतिहासिक गन्तव्य जैसी अमर प्रजातन्त्र शिविस्ताचारी पीछे। पर पापी अहिंसक से और रात उठी। के प्रमान में न था कि रात का शैवित्य एकत्र उठ गया था और प्रबल मल्ल का उममें उठ हो जाया था। मारत हैम मानो एन हुसर में दाहता हो गया था मानों केन जागी शिविस्ताके लिए भी तैयार। यह इसलिए कि पापी के पाप मन्वाधन की उजाला की और उस मीन के अहिंसा स्वयं उज्ज्वल और प्रबल बन जाती थी। सम्पाद्य किञ्च जीवन-नीति का वराम नहीं है, उमके नाम अहिंसा वेणम

निर्मिता का बहना हो रहा। वह अहिंसा अथ-अथह का माधनमान बनगी। क्या इस प्रकार की बेच्य अहिंसा की आर्पणता का आधार पर ही गांधी का अहिंसा नहीं हुआ था? विमानगी का मविष्य अहिंसा के साथ है लेकिन स्वयं अहिंसा का मविष्य मरणाष्ट की सामर्थ्य के साथ है। मृत्यु का सामन करके अपनेबान्धु साथ का आग्रह नहीं होगा साथ ही हिंसा की अग्रहणा नहीं होगी तो अहिंसा के प्रति कोटमानस में अप्रदा का भाव जागना और विमोक्षणी कैरिडिज्म का गड और बाट समझी जायगी। तब कान्त-मति में उसको सहित और उन्मेषित होना होगा। मनमानेन की मुक्ति ही ठीक वह परिस्थिति है जो बहुतांश स्थिति को देखकर नहीं होन दे सकती। इसी रोह-आम के लिए प्रजातन्त्र ने माना उगाय विप है पर मनमानान्त यति नहीं रह पाता है तो अन्त में साधार अधिनायक के तन्त्र और दण्ड का ही साधन निमंत्रित करेगा कुमरा उगाय नहीं है।

### कम्प्युनिज्म का विरुद्ध गांधी-मान

मुझसे पूछें तो कम्प्युनिज्म के साथ एक ही विरुद्ध है और वह गांधी का दम् है। दम् न बटना चाहें तो कहिय कि गांधी-माने वह दूषण विरुद्ध है। अन्य मति में नहीं देना है।

१५४ क्या आप बटना चाहते हैं कि कम्प्युनिस्ट व्यक्ति ने अपनी सभी सामग्री, सामनामों, सामनामों को सबकुछ से सामन के बरतों में समर्पित कर दिया है और बिना किसी से अन्धकार प्रजातन्त्र में ऊपर आने स्थित माने हैं। वे बर्तों सम्पत्त नहीं हैं? व्यक्ति की स्वतंत्रता और राज्य का अधिनायकत्व इनमें गड उनको विना की दृष्टि से जोर बना सामन्य देन माने हैं।

### स्वतंत्रता देने में, लेने में नहीं

—स्वतंत्रता का मीरा अर्थ सबको मान है। लेकिन मैं चाहता हूँ कि उसके बराबर और और और।

मैं स्वतंत्रता का अनुभव करता हूँ? क्या यह सब जान में है और क्या अज्ञान है? उनके ठीक पड़ी है या पुनः की स्थिति होती है। यह स्वतंत्रता के लक्षण अज्ञानी माना जा सकता है। इसी मनसर मृत्यु का का बला बला है। स्वतंत्रता में और व्यक्ति सब मान ही यह सब होता है या सब सब ही स्वतंत्रता निर्मित बन जाती है। वह स्वतंत्रता निरपेक्ष और अनवरत तक होती है। कम्प्युनिस्ट इसीसे तो बटता है कि क्या स्वतंत्रता एक ही बरोबरति के आदर्श बना देने और दीन स्थिति से बच जाता है। अन्य की ही स्वतंत्रता

है? अपने अन्दर है हम समझे तो पायेंगे कि जब तक परतन्त्र है तभी तब स्वतन्त्रता सेने जैसी चीज मादूम होती है अन्यथा स्वतन्त्रता सदा देने में है। स्व अपने पास होते ही मानो हम उसे कहीं अर्पण करने के अविनाशी होते हैं। स्वतन्त्रता के विस्तार का सर्व सिवा इसके कुछ दूसरा है ही नहीं। जितना अधिक हमारा सेप के प्रति स्नेह और सामंजस्य का सम्बन्ध है उतना ही हम स्वतन्त्र बनते हैं। जहाँ विपयता और विग्रह का बोध होता है स्वतन्त्रता वही स्वी अनुभव होती है।

### सिद्धि समर्पित होने में

कम्युनिस्ट यदि पार्सी के प्रति समर्पित होना और ऐसे अपनी सिद्धि अनुभव करता है, तो इस प्रकार उसके व्यक्तित्व की उपयोगिता अनायास लुप्त और बढ़ जाती है। जो सर्वथा स्वतन्त्र है अर्थात् जो समर्पित नहीं है ही नहीं वह अपना उपयोग देना तो किस देगा? अन्ततः तो इस तरह वह आसानी होगा मटना हुआ रहेगा यदि अपनी शक्तियों का उपयोग करता हुआ भी दिखाई देगा तो वह उपयोग शुद्ध स्वाय का होना और समाज के लिए विचार्यक होने में उल्टे बिना-तक होगा।

### समय स्वैच्छित हो

मान्य होता है या यह कि क्या कम्युनिस्ट इस को कम्युनिस्ट व्यक्ति का स्वैच्छित समर्पण प्राप्त है, अथवा किन माना में वह समर्पण स्वैच्छित है। स्वैच्छा से दिया गया समर्पण उपयोग की अर्थात् जो एक मात्र मोक्ष देता है स्वाय की सीमाओं को भी उस पर में काट देता है। अन्ततः आत्मीयता मय नहीं बाधक है लेकिन यह स्वतन्त्रता आत्मगर्भ हीनी है अनुमति की हीनी है ऊपरी दृष्टि की पकड़ में नहीं भी का मरनी। आजादाई बाधक बहुत उपयोगी होता है दूसरों के प्रति और स्वयं आत्म प्रति भी। आजा के वा होन के कारण आत्मयक रूप से उमकी उपयोगिता कम नहीं हो जाती यदि आजा में उनका अपने मन का योग हो। अति उपयोगिता उल्टे गुणानुमति हो जाती है।

### जम और तन्त्र में विग्रह

यै माना है कि कम्युनिस्ट तन्त्र की अर्थता नहीं तक है जहाँ तक यह अपने प्रति उन आधका वा योग चीज में कहा जाता है। जिस जगह जागन और बाधन वा और अनुभव ही आता है तब वही में उमकी निरन्तरता आरम्भ हो



समाज में ऐसे व्यक्ति भी हों जो नागरिक भूमिका से उत्तीर्ण हों स्वत्व-सम्पत्ति की कामना न रखते हों। प्रथम ही जिनका सम्बन्ध ही और इस तरह कुछ बिरादरी से जान पड़ते हों। इस वर्ग का प्रभाव के नीचे जो नागरिक निर्वाचन होना चाहे सही होगा और उसमें दूसरे वर्गों से पहले चरित्र को प्रधानता दी जायगी। प्रजातान्त्रिक देशों में सामान्य उस ओर ध्यान नहीं है। इसीलिए निर्वाचन प्रणाली के रहते हुए भी ऐसा अनुभव नहीं होता कि जनता और सरकार एक है और घोषण मिल गया है।

### पद्धति में आवश्यक सुधार

निर्वाचन ढाँचा सही किस्म का आदमी शासन पर लाये इसके लिए जब कि यह सुविधाजनक होना कि निर्वाचन में आने की इच्छा ही न करनेवाले लोग भी उस समाज में मौजूब हों। तब स्वयं उस प्रणाली में कुछ आवश्यक संशोधन भी किया जा सकते हैं। जैसे निर्वाचन-क्षेत्र का सीमित होना निर्वाचन के लिए स्वयं लड़े होने की पद्धति का समाप्त होना। मुमाइन्सों के नामों का नीचे से आना और सब मुमाइन्सों को एक छान इकट्ठे होकर निर्वाचनों के समक्ष उपस्थित होना। इन संशोधनों से अनिष्ट सम्भावनाओं की बहुत कुछ बचाया जा सकता है।

### सामाजिक मानसिकता का निर्माण हो

एक बार फिर कहना होगा कि महत्त्व उस वातावरण का है जिसमें निर्वाचन किया जाता है। एक इष्ट प्रकार की सामाजिक मानसिकता का निर्माण करना चाहिए। वह हमें और उन पुरुषों द्वारा होगा जो मज को ही अपना धर्म मानते और लोककल्याण से अधिक लाभ-सेवा की आकांक्षा रखते हैं। १५६- जिस एक संघर्ष और उत्तीर्ण मानस के वर्ग की ओर आने सेवित किया है उसका निर्माण और संगठन आज की अमूल्य स्थितियों में किस प्रकार संभव है? जब तक यथा न ही तब तक क्या निर्वाचन और राज-कार्य क्या रहे?

### मन मन में से आये

—मरी वरू निर्वाचन आज से भी सम्भव हो सकता है। लेकिन उमम गमय समय का उम वारण राज राज या वार भी राज दुनिया का राज नहीं होगा। जना ही है कि वरू मरी-मरी मरी हागा।

हम यह चाहते हैं कि समाज के नीचे पर जो आदमी है वह अधिकार और बने जा न हो। राजा बनना का न हो। बनि नान ही सबके दुग-रद की नम

मठा हो और विश्वास द्वारा मित्रे हुए अधिकार का करने सुशोभनीय में उद्योग न करता हो। यह दृष्टि हाथ में तब जायगा जब हमारा मन मन में न भा रहा होगा और हमारा हाथ किसी वबाव में नहीं उठ रहा होगा। मन बना ही ऐसा है कि उस पर मानवीय मनुष्यों का प्रभाव पड़ता है। अगर कृत्रिम तन्त्र बीच में न आयें और हमारा मन मुक्त हो तो अवश्य ही वह सही मायमी को छोड़ देगा।

### मन मुक्त हो

इसलिए जो किया जा सकता है, और करना चाहिए, वह यह कि मन मुक्त हो और मन-सत्ता के कृत्रिम प्रभाव में सही सही दिशा से इसर उपर जाने की शक्ति लो रहे। यह तब आसान हो जायगा जब मायमी रहने-महने की आवश्यकताओं के बारे में स्वाधीन होगा किसी निर्भरता में नहीं रहेगा। हमारा अस्तित्व ही यदि हमारे के हाथ में हो तो मन मारकर भी हम अपना मन उमर पर से दिये बिना न रहेंगे। हमारा सम्बन्ध फिर अर्थ-व्यवस्था से भा जाता है। अपनी जगह पर व्यक्ति केवल स्वतन्त्र नहीं बल्कि स्वाधीन चला और स्वाधीनी बिठना होगा उमरा मन उमरा ही निरर्थक और उचित होगा।

### सुधार जन-मन से शुरू होगा

किन्तु यदि अन्दर के मन और ऊपर के मन के बीच मन सत्ता काटि के नामा प्रभाव कम करने रहेंगे तो आवश्यक है कि उन प्रभावों के अनुबर्ती ही हमारे सामक और प्रज्ञात्मक मित्रों। देश को सही सामन मिलना है, जिसका यो योग्य होगा है। यह समझना पड़ता है कि सामन सुधरा हुआ पद विरुद्ध और बाद में जनता का सुधार होगा। जहाँ हर प्रकार की जन-मन से शां होनी जरूरत में नहीं शुरू होगी। संविधान में ता मयात्र-मानस का प्रतिबिम्बित है। जीवन यदि है ता विधान में नहीं समात्र में है। हमारे संविधान को बनाने की आद में मैं प्रान को शुरू करी कर गया। मन की आद में ही गम्यता सम्पत्ति है और गमानान का भी करीम मायन ५।

१५३. ऊपर माते निर्वाचन-व्यक्ति को सुधारने से निरु जा सुधार रूप से प्रान अनुमान और अति लोभित क्षत्र में तो लका हो गया है जो प्रान प्रान के देश और इनको सही सबाही पर उनको सम्बन्ध लाना सही विधा जा सत्ता। एनी निर्वाचन में विचारकर भारत को ध्याव में लाने हुए सत्ता विधा बना उचित है?

है, उस एक बलीय पद्धति को भी आप आयाद हितकर नहीं मानते। मैं समझता हूँ, बात मतवाला की स्वाधीन चेतना और उसके मत की मुक्तिबलता पर आ टिकती है। पर आज की वैज्ञानिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में क्या बीसा होना सम्भव है? यदि नहीं, तो क्यों न चुनावों के इस आडम्बर को समाप्त करके एकराज्य अथवा अधिनायकत्व को ही सब बेश स्वीकार कर लें?

### चुने डण्डे का शासन

—मैं तो इसमें नहीं डरता बल्कि अच्छा ही समझता। चुली हिंसा राज्य करे तो मुझे चुली होनी। चुली इसलिए होती कि राज्य को फिर इस तरह का वग्म नहीं रहेगा कि वह कल्याण कर रहा है। बेसफेयर जैसे नागा धर्मों के सहारे राज्य की वह मानने का मौका बना रहता है कि वह कल्याणकारी संस्था है और इसलिए उसका सर्वोपरि मान होना चाहिए। चुने डण्डे के शासन में इस भ्रम के बहने या बलान का इतना मौका नहीं रहता है।

### राइट माइट के अघोन

मैं सचमुच मानता हूँ कि राज्य असल में शक्ति से बसता है। शक्ति वह जब तक हिंसा की है, तब तक आपस में युद्ध ही वह उपाय है, जिससे अन्तिम निर्णय हो। मानव-जाति इस अवस्था से पार नहीं पहुँची है। सब राष्ट्रीय के पास न्याय की संस्था है। नीति-न्याय की बड़ी बायीकियाँ बड़ी मुक्तमामी जाती हैं। पर प्रथम मत्व है यह कि न्याय का निर्णय भी अन्त में युद्ध से होता है। माइट और राइट में राइट माइट के साथ रहना है स्वतन्त्र नहीं होता।

### माइट ध्येय बन जाय

क्या अवस्था हमको वह नहीं जानी है कि राइट में स्वतन्त्र होकर माइट एक व्यर्बना मिश्र हो जाये राइट ही स्वयं माइट बन जाय? मैं सभी स्वप्न के प्रति समर्पित रहना चाहता हूँ। आपका चुनाव का प्रश्न एरंडल बटुरल का प्रश्न इन स्वप्न की रात से कुछ हटा हुआ-या ही मुझे खीगता है। इसीलिए सचमुच एक-दूस का ही जहाँ बीतवाना है वहाँ की चुनाव प्रणाली को बेहतर बह दूँ यह भी मुमक नहीं हो पाता है।

### युद्ध निर्णायक न बने

एक बात बल में आती है। मान लीजिये कि बीगन जीवबमान भारतीय नागरिक

का मात्र भी दरया मामिद जिनका जैसा है। यदि कुछ एसी ब्यब या हा कि बुन मये आदमी का बेनका उमस हम दरया मामिद कम मिन्गा ता बगमा कीदिय कि बुनाब क मैनन का नब बजा हाल होगा। सम्मब हो मरना है कि न-दी धमामान की जगह मद्राटा रिगार्ड दे आय। सामन पर बुने मये आन्वी म पर मामम्य होनी बाजिय यह सिन्हा प्रम्याम और इननी जिनमिन्गना हाकी बाजिय कि और आदमियों का काम अथर ली मये म बजती बह दम कम म ही म-प्ट हो आय। मुने प्रनीन होना है कि एमा हिन म देर है कि बुनाब की ममस्या बाकी आमान हई दीनेगी। ललराय क जोर म यमि धामक बनता है ता पर अरन म्मि जन्वी पाता है कि आय-याम बैमर और ले-बर्द का पमिम-हन् रगे और हम मरन जिनता सम्मब हो मर उनका मापारण आन्वी और अरने मिगामन के बीच अन्तर बताये गये। इत ब्यबयान में बह आपन और साम आदि क प्रभाव हाब गता और हम तरह अरना सामन सम्मब एवं निर्बुध बनाना है। माने जानेबा प्रमानाग्निक राज्य भी जान-अनजाने इन प्रभावों का करने पर म साम लिय बिना नहीं रहने। स्पष्ट हो जाना बाजिय कि ये मर प्रभाव हिमाम्यक लमिने मम्ब-प रगने और अमिम बिरमेयन में आनबकारी हुवा करते हैं। यदि इन प्रभावा क बल म राज्य बनेया तो यह बीने ही मरना है कि कुछ ही अमिम निर्वाचन मरब न बना रहे और आन्वी पनुओं के धने-मै-वीने मर-बलों में पने हथियार बनान में रिगाम न रम। यह प्रगति मुम म मानवीय ली मापी आ मरेगी कि इनर भीनर मानुनिक कही जानेवाली जिननी भी प्रबुन्नी बयों न हानी रहे।

## राज्य सेबकों का हो

राज्य मया बरना बाजिया है, मेरा बरना बाजिया है तो बह मेबरा का हाता बाजिया। मेबरा बरा अरन मेम्य और मेबिन मे बड़ा बनकर रहना बर्गान्त कर मरना है? तब ता गिरावर है उसकी मेबराई को। मरब-मरक हुला ली अरगरी माबना का कनी अरने मर म ला ही ली मरना। बाज्या भी बीने उमर मग हाता मात्र-मामन ही बह होला?

मरी निमिष माज्या है कि अर मर राज्य और गुगनीनि इन म्मि की अर मरी बाज्या है मर मर ऊर के मर अन्म मरनी और मर बाज्यानर है। अमर मरन मर के मरी मरबन है और मेबन कीदिय उन्माय और अमरन का अरमर देर बुदिरा-मिया का दा ता बा बर देर दा अरन में मया लेन है। हाता हो जान बा कि घडा मे लदरन मरेबनी अमता की बिमा बरन की आरमनरना ता मरनी ही ली।



है, उस एक बलीय पद्धति को भी आप सामय हितकर नहीं मानते। मैं समझता हूँ बात मतबस्ता की स्वाधीन चेतना और उसके मत की मुक्तिबस्ता पर भा टिकती है। पर आज की वैज्ञानिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में क्या बीसा होना सम्भव है? यदि नहीं तो क्यों न चुनावों के इस माहम्बर को समाप्त करके एकराज्य अथवा अधिनायकत्व को ही सब शेष स्वीकार कर लें?

### बुत्ते डब्बे का शासन

—मैं तो इससे नहीं करता बल्कि अच्छा ही समझूँगा। बुली हिंसा राज्य करे तो मुझे खुशी होगी। खुशी इसलिए होगी कि राज्य को फिर इस तरह का दम्भ नहीं रहेगा कि वह कल्याण कर रहा है। बेसुकेयर जैसे नाना खम्बों के सहारे राज्य को वह मानने का मौका बना रहता है कि वह कल्याणकारी संस्था है और इसलिए उसका सर्वोपरि मान होना चाहिए। बुत्ते डब्बे के शासन में इस भ्रम के बलने या बलाने का इतना मौका नहीं रहता है।

### राइट माइट के मधीन

मैं सचमुच मानता हूँ कि राज्य असल में शक्ति से बसता है। शक्ति वह जब तक हिंसा की है, तब तक आपस में युद्ध ही वह उपाय है जिससे अन्तिम निर्णय हो। मानव-जाति इस अवस्था से पार नहीं पहुँची है। सब राष्ट्यों के पास न्याय की संस्था है। नीति-न्याय की बड़ी कारीकियाँ वहाँ मुकामावी जाती हैं। पर प्रथम सत्य है वह कि न्याय का निर्णय भी अन्त में युद्ध से होता है। माइट और राइट में राइट माइट के साथ रहता है स्वतन्त्र नहीं होता।

### माइट व्यर्थ बन जाय

क्या अवस्था हमको वह नहीं लानी है कि राइट से स्वतन्त्र होकर माइट एक व्यर्थता सिद्ध हो जाये राइट ही स्वयं माइट बन जाय? मैं उसी स्वप्न के प्रति समर्पित रहना चाहता हूँ। आपका चुनाव का प्रश्न एकदम बहुपक्ष का प्रश्न इस स्वप्न की राह से कुछ हट्य हुआ-सा ही मुझे दीखता है। इसीलिए सचमुच एक-बख का ही जहाँ बोकबाला है, वहाँ की चुनाव प्रणाली को बेहतर कहें, यह भी मूसल नहीं हो पाता है।

### युद्ध निर्णायक न बने

एक बात मन में जाती है। मान लीजिये कि बीसवें बीसवमान भारतीय नागरिक



## हमारे दल और नेता

कांग्रेस शोषक और विपक्षगामिनी

१६० भारत का क्या चुनाव सामने है। कितना छल, प्रपंच हुआ, हिंसा भाव का प्रवाह अब होगा और जन-जन सबसे अधिकतर सभी प्रकार का बल चुनावों की विजयवादा को पुरा करने में अपना योगदान देगा, इसका कोई अनुमान नहीं किया जा सकता। हमारे नेता इस बात में समुत्पन्न दीर्घांश कि जनक बल और बल और उन्होंने शासन पर अपना अधिकार जमा लिया। इस नीयत अन्याय और दुराचार को रोकने के लिए हमारा शासन-बल क्यों कोई ठोस और उपयोगी मार्ग नहीं निकाल पा रहा? जिस कांग्रेस ने भारत को आजादी दिलायी वही शोषक और विपक्षगामिनी क्यों बन गयी? ऐसी स्थिति में कांग्रेस का अपना क्या भविष्य है?

—क्यों मुझे कष्ट देते हो? मैं शोष किसीको नहीं सकता। शोष करने में ही मेरा परिपूर्ण विश्वास है। मैं क्यों मर रहा हूँ क्यों भी रहा हूँ? कष्टकर जिस स्थिति की बात करते हो उसका उत्तर दिया नहीं जा सकता वह उत्तर स्वयं बना ही जा सकता है। वे जिन्हें गांधी की मार है, स्वयं इस स्थिति के लिए उत्तर बनकर उठें यही एक उत्तर है अन्यथा कोई उपाय नहीं है।

कांग्रेस शासन में कूटी है

कांग्रेस क्या करे? अपने को इनकार कैसे करे? वह क्या शुरु से राजनीतिक नहीं? कांग्रेस का काम गांधीवादी बनना तो कभी नहीं था। उसका काम था भारत में स्वराज्य लाना। वह स्वराज्य आया तो कांग्रेस क्या करती? गांधी ने तो सीधे कह दिया कि राज पर किसी-न-किसीको बिठाया ही जायगा कुछ व्यवस्था देस उस सम्बन्ध में कर ही लेगा। हम सब उसे इसमें सहायता देनेवाले हैं। लेकिन मेरी माने तो कांग्रेस इस समय राजनीतिक संस्था के रूप में अपने का घटम कर से और लोक-सर्वक संघ के रूप में नया जन्म ले ले। वह बात गांधी की थी। यादव उस



गामिनी क्यों बन गयी? नहीं वह कुछ नहीं बन गयी। वह सिर्फ जिम्मेदार बनी है और शासन का निर्वाह उसकी पहली जिम्मेवारी है। इसके अलावा उसे इतर-उपर कहीं देखना नहीं है। नैतिक प्रश्न निष्कर्षों के हो सकते हैं। सिर्फ कामिक प्रश्न हैं, जो कांग्रेस के लिए हैं। बाँध बाँधो कारखाने खड़े करो बीछत बढ़ाओ। बगट बढ़ाओ पड़े तो कर भी बढ़ाओ। कुछ उठा न रखो और हिन्दुस्तान का माग और हिन्दुस्तान का सिक्का वेस-वैशान्तर में बिठा दो। इस काम में कांग्रेस और मुँदकर छपी हुई है। और जोखना अगर नहीं चाहती तो सिर्फ इसलिए कि पुसरी बातों के लिए वह अपने को फुरसत देना नहीं चाहती। आपको माबूम है हमारे प्रभानमन्त्री कब सठते और कब सोते हैं? बीबीस में बीस बच्चे तो व्यवस्था ही के काम में रहते हैं। सालभर यह बकत है और शामभर कांग्रेस का काम हो रहा है। भारत अब कीने-किनारे नहीं है मानो दुनिया के नक़्शे के बीचो-बीच आ गया है। ऐसे बकत आप कैसे पूछ सकते हैं कि कांग्रेस बिपक्षगामिनी और दोषक बन क्यों बनी?

### कांग्रेस को जमाया नहीं जा सकता

मैं मानता हूँ कांग्रेस को जमाया नहीं जा सकता। आप वह जो सो रहा हो। कांग्रेस को बिरुद्ध नहीं रही। अखण्ड में उस पर लघा सवार है। और वह करने बरने का नसा है। सबसे बड़ा करना शासन करना होता है और वह कारोबार कांग्रेस पर आया है तो वह थूक कैसे सकती है? यह नहीं कहा जा सकता कि कांग्रेसी बैस जाना जानते थे शासन करना नहीं जानते थे। अब बगट देखिये और खुद बताइये कि किस कदर शासन का काम शास से किया जा रहा है।

### नेहरू की कांग्रेस

गांधी सन् ४८ के आरम्भ में बैठ गये थे। भगवान् ने यह सोच-विचारकर ही किया होगा। भगवान् के काम में क्या यह यत्न देना न होगा कि गांधी को जीवित मान कर बका जाता। गांधी की समाधि बनाने की जिम्मेवारी अगर कांग्रेस पर आती थी और वह बनी है और बनायी जा रही है। कालों साल अभी उस पर और खर्च होगा और समाधि की शास देखन सायन होगी। उनके बुत बन गये ॥ स्वम्म बन गये ॥ सप्रहामय बन रहे हैं और साहित्य निकाला जा रहा है। मृत के प्रति क्या यह कर्तव्य न था और क्या यह लुभी स नहीं पूरा किया जा रहा है? लेकिन मृत को जीवित रखने का काम कैसे किया जा सकता था? उस जीवन के काम-बान में से गांधी की अगर कांग्रेस ने एकबल बाहर रखा है, तो शायद यह

उमने बर्द्धमाना है। जिन पूँजी से वापिस में आरम्भ किया था वह नैतिक पूँजी अगर गोपी की कमाई की तो होगी। लेकिन पूँजीवाँ के जिन गये और उग पूँजी को वापिस में गुप्त रखने अगर कुन किया है, तो इसमें कोई क्या बह गराता है? वापिस जब मेहन की है और मेहन निर्माके नहीं आये हैं। व आन के आरमी है और आरमी से भरे रहने का उन्हें हक है। आगिर ऊँचे उनके माने हैं और वे गुप्त से एमी ऊँचाइयाँ पर रहे हैं कि मानो उन सत्ता के पीछे हवा में उड़ा रह सारते हैं। आन-हम राये की इकाई इकाई में रहने हैं। मेहन की गिनती करोड़ा में चलती है। इसलिए बँस हो सरका है कि मेहन व बोर्ग गवाह आ जाय और करोड़ी राया उस पर न बह जाय। साहजकी न एक साजमहल बनाया, अब रिताम के उमाने में एक की भी कोई गिनती है? मेहन व निर्माण की एक एक चीज देगिये तो साजमहल हमियों फीक पन पाठे हैं। योजनाएँ देगिय और उनका विस्तार, आपसी बरतना बीरता जायगी। लेकिन उन करोड़ा-अरबों के अमी और राजियाँ पर मेहन की बिबेचना ऐसे चलती है जैग मोड़ियों पर परिवर्तन चपटी है। मरत मानता है कि अविज्ञान कुलीन शाहीन तलार, कर्मन्ध और एवारी मेहन बाधेन की समस्या है। और वापिस उनके वापिस देन की समस्या है।

अगला कुमाव बाधेन जीन मचती है। लेकिन इस बाधन का लक्षण देन के आय अँपरा है ऐसा मुते लपता है। उताय मिया इगव कुछ नहीं दीगता कि आरमी अरमी अगह प्रवाण बने और ईमानदारी न चड। मच रहवर बिगड बनने ग डरे नहीं और जी लपता है गुप्तरा बहे। साह उममें से राबिा निरा आ राखनीनि से बडे मही बन्वि उमबो सीमाय।

## विरोपी बल

१६१ प्रजातन्त्र में सामक बल की बिबेचपाजिना पर विरोपी बल ही अँपरा लगाया करता है। क्या आपसी राय में बर्द्धमान विरोपी बलों में कोई इनका सैराबी और बीराबी है ओ तोर-आमन की आबाव को सैवर सामक के सामन राहा हो तने और उमे लही राता अरमाने पर मजबूर कर गके?

## राय राग्य चाहते ह

—दिगुप्त नहीं है। नहीं इस बजहसे कि सब राय चाहते हैं। अन्ता कुछ हा उरनी की सर्वोदय-विचार की तरफ में। पर सर्वोदय को बह राता पदता है कि हम राय नहीं चाहते। यह हाउ-पूर्वक आराखी-उक बनता मानो मन राग्य करत विरुध मन बनकर रहता है। मच हमनी बोधिय बरते हैं और दुनिया से पन चड।

गामिनी क्यों बन गयी ? नहीं वह कुछ नहीं बन गयी। वह सिर्फ जिम्मेदार बनी है और शासन का निर्वाह उसकी पहली जिम्मेदारी है। इसके अलावा उसे इतर-उपर कहीं देखना नहीं है। नैतिक प्रश्न निटखों में हो सकते हैं। सिर्फ कार्मिक प्रश्न हैं, जो कांग्रेस के लिए हैं। बांध बांधो कारखाने खड़े करो शीकत बढ़ाओ। बबट बढ़ाना पड़े तो कर भी बढ़ाओ। कुछ सठा न रखो और हिन्दुस्तान का मान और हिन्दुस्तान का सिक्का देश-बेदान्तर में बिठा दो। इस काम में कांग्रेस आज मूँदकर लगी हुई है। और खोजना अगर नहीं चाहती तो सिर्फ इसलिए कि दूसरी बातों के लिए वह अपने को पुरसठ देना नहीं चाहती। आपकी माफ़ूम है हमारे प्रधानमंत्री कब उठते और कब सोते हैं ? बीबीस में बीस घण्टे तो अवश्य ही वे काम में रहते हैं। धानबार यह बकस है और खानबार कांग्रेस का काम हो रहा है। भारत अब कौने किनारे नहीं है, मानी बुनिया के मकसे के बीबी-बीच आ गया है। ऐसे बकस आप कैसे पूछ सकते हैं कि कांग्रेस विपक्षगामिनी और शोषक बन क्यों बनी ?

### कांग्रेस को जमाया नहीं जा सकता

मैं मानता हूँ कांग्रेस को जमाया नहीं जा सकता। याग वह जो सो रहा हो। कांग्रेस सो बिल्कुल नहीं रही। असल में उस पर तथा सवार है। और वह करने करने का नचा है। सबसे बड़ा करना शासन करना होता है और वह कारोबार कांग्रेस पर आया है, तो वह चूक कैसे सकती है ? यह नहीं कहा जा सकेगा कि कांग्रेसी बेज्ज जाग जागते थे शासन करना नहीं जानते थे। अब बबट बेखिये और खुद बताइये कि किस कबल शासन का काम धान से किया जा रहा है।

### मेहरू की कांग्रेस

गांधी सन् '४८ के आरम्भ में उठ बसे थे। भगवान् ने यह सीध बिचारकर ही किया होया। भगवान् के काम में क्या यह खल्ल देना न होया कि गांधी को जीवित मान कर चला जाय। गांधी की समाधि बनाने की जिम्मेदारी अबश्य कांग्रेस पर आती थी और वह बनी है और बनायी जा रही है। सालों साल बनी उस पर और लर्ब होया और समाधि की धान बेकन छापक होगी। उमक बहुत बल गद है, स्टम्भ बन पये हैं, संग्रहालय बन रहे हैं और साहित्य निकाला जा रहा है। मृत के प्रति क्या यह कर्तव्य न था और क्या यह लुबी स नहीं पूरा किया जा रहा है ? लेकिन मृत को जीवित रखने का काम कैसे किया जा सकता था ? उस जीवन के काम-नाम में से गांधी को अगर कांग्रेस ने एकदम बाहर रखा है, तो चापक यह

समने कर्तव्य माना है। जिस पूंजी से काँग्रेस ने आरम्भ किया था वह भौतिक पूंजी अगर यादी की कमाई थी तो होयी। लेकिन पूंजीवाद के दिन गये और उस पूंजी को काँग्रेस ने खुद नखाने अगर लुटा दिया है, तो इसमें कोई क्या कह सकता है? काँग्रेस अब गृह्य की है और गृह्य किसीक नहीं अपना है। वे धान के आसपी हैं और आसपी से भरे रहन का उन्हें हक है। आन्तर ठीके उनके मरने हैं और वे धुन न एपी ठोकाणों पर रह हैं कि मानो उन मरनों के पीछे हवा में उड़ने रह सकते हैं। धान-रूम दरय की दुकाई-हाई में रह हैं। गृह्य की गिनती कपड़ों में बजती है। इसलिए कैम हो सकता है कि गृह्य में कोई धनान आ जाय और कपड़ों सेया उस पर न वह जाय। छाहवही ने एक राजमहल बनाया अब विमान के जमाने में एक की भी कोई पिनती है? गृह्य के निर्माण की एक-एक बीज बेगिये तो राजमहल दमियों पीके पड़ जाते हैं। योजनाएँ देखिये और उनका विस्तार, धानकी बरुना बीजला जायपी। लेकिन उन कपड़ों-बरकों के मंकों और राशियों पर गृह्य की विवेचना ऐसे बनपी है, जिस मोटियों पर बरियां बनपी हैं। मेरा मानना है कि अविभाजित कुर्तान शाहीन लाल कर्मण्य और एककी गृह्य काँग्रेस की समस्या है। और काँग्रेस उनके कारण देश की समस्या है।

जगला चुनाव काँग्रेस जीत सकती है। लेकिन इस काँग्रेस की लहर देश के साथ बेमेरा है, एना मुझे लगता है। उगाय विद्या इसके कुछ नहीं बीनता कि आसपी बनपी जगह प्रकाश बने और ईमानदारी से बने। सब रहस्य विद्वान बनन न बरे नहीं और जो नगता है भुलकर बहे। धायद उसमें से शक्ति निकले जो राजनीति से बडे नहीं बल्कि धनकी सेवात।

## विरोधी बल

१६१ प्रजातन्त्र में शासक दल की विषयगामिता पर विरोधी बल ही मंजुरा समाय करता है। क्या जायकी राय में जनमान विरोधी बलों में कोई इतना सैवस्वी और जोशस्वी है, जो लोक-मालस की आबाज को लेकर शासक के सामने खड़ा हो सके और उसे सही रास्ता अपनाने पर मजबूर कर सके?

## सब राज्य चाहते हैं

—विश्वभूषण नहीं है। नहीं इस बजहसे कि सब राज चाहते हैं। जाया कुछ हो सकती पी सर्वोदय-विचार की तरफ से। पर सर्वोदय की याद रखना पड़ता है कि हम राज नहीं चाहते। यह इच्छाबुद्धि अराजनीतिक बनना मानो उन समय करके निकल मन बनकर रहना है। सम्य इसकी कोशिश करते हैं और बुनिया से पड़ जाते



है, उसकी बरखी पर नहीं रहते। दुनिया उन्हें बड़ा से बेसती है और नहीं सीख पाती कि वह बरखी पर बिना पाँव रखे कैसे चले। वे शास्त्र बेते हैं साहित्य बेते हैं, सीख और बानी बेते हैं, भेदस्थ और सचासन नहीं बेते। सीखता हूँ कि क्या बिगोषा तनिक भी पाँची नहीं हो सके ?

### कम्युनिस्ट दल

हो एक दल है। कम्युनिस्ट दल ! मैं उसका कामका हूँ। मैंबान र्म गिनती के लिए सायब वह ही है। बेख की राजनीतिक परिस्थिति में जब कोई महत्त्व सभाव आ बनेगा तो जबह भरने के लिए जो तत्त्व प्रस्तुत होया वह मानो कम्युनिस्ट है।

### हिन्दू सांस्कृतिक स्फूर्ति

राजनीतिक से असम जो अपना सांस्कृतिक और नैतिक शुकाब मानती ॥ ऐसी शक्ति मैंबान में जो है। उनमें एकजाय गिनती में ली जा सकती है। लेकिन मानस से वह और भी चोर भाव से राजनीतिक है, बही उसकी ब्रुटि है। हिन्दू के नाम पर भी सांस्कृतिक स्फूर्ति काम कर सकती और फल ला सकती थी किन्तु वह कहीं है नहीं। जो है उसमें और भी संकीर्ण राज्याकाशाएँ हैं।

### मानमती का कुलबा

इनमें हैं सत्ताधारी दल की ब्रुतियों और प्रब्रुतियों पर अंकुश बाध सके और कुछ उसमें बिबराता का भाव ला सके, ऐसा ओजस्वी दल वर्तमान राजनीति में मुझे कोई चीनता नहीं है। स्वतन्त्र-बल की भूमिका में राजाजी के जो बक्तव्य निकले उनका प्रभाव पड़ा था उन भावनाओं में बल है। लेकिन भावना-तत्त्व से बल का मानव तत्त्व उद्गत हो उस परिणाम ला सकता है। अभी तो बान पड़ता है, तात्कालिक राजनीतिक प्रयोजन के अचीन मानमती का कुलबा बटोर-बगार छिया गया है।

### प्रकाश राजनीति में नहीं होता

मुझे नहीं लगता कि प्रकाश समझे जाने वाले राजनीतिक बकों में से है। राजनीति में प्रकाश होता ही नहीं। प्रकाश उठेगा तो वह असम्भव नहीं कि राजनीतिक पर भी एक उसका सामन ला जाय लेकिन बलबाध से वह अविश्व होगा। कम्युनिज्म की शक्ति ही यह है कि वह बल से कुछ अधिक होता है वह एक बिचार होता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अब जो कम्युनिज्म की शक्ति बढ़ती हुई नहीं मानूस होती तो इसी कारण कि वही वह अपनी बेचारिक भूमिका लो बैठा है। कोरमकोर

राजनीतिक भूमिका ही उसके पास रह जाती है। राष्ट्रीय क्षेत्र में कम्युनिज्म वैधानिक शक्ति भी है। इसीलिए वह अग्रतिरोधक मित्र होता है।

## भारतीय अध्यात्म और कम्युनिज्म

‘भारत’ कुछ मिटाकर एक जीवन-विचार है। यामो एक जीवन-विधि का वह प्रयोग-प्रतीक है। धीमातिक से अधिक वह सांस्कृतिक है। उस भारतीयता में सब भी मरी जाया है। हजारों बरसों के इतिहास में वह भारतीयता विविध नहीं हुई। परम्प नहीं हो पायी है। लेकिन ठीक इस बड़ी जो संकट उस पर आया है इतिहासमय में बैसा नहीं जाया। भारतीयता का उच्छेद ही इस युग में हो जा सकता है, अगर वहाँ से समय रहते कोई प्रभाव और प्रतिभा प्रकट नहीं हो पायी। योरप की तरह से आधी सम्मिता स्वार्थमूलक है, भारतीयता परमार्थमूलक भी। परार्थ ही सकता है जिससे स्वार्थ जीत जाय। नैतिकता उस परार्थ को ही स्वार्थ के समक्ष प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करती है। इसमें केवल व्यवहार का बचाने की कोशिश में पड़ता और हारता है। लेकिन परमार्थ में स्वार्थ पर प्रहार नहीं है, बल्कि परार्थ से रक्षता योग्य है। भारतीयता इस तरह नैतिक से कुछ अधिक रही है। वह आध्यात्मिक और समग्र रही है। नैतिक आदेश उपदेश और आशा की मूर्धिका से आये धर्म-दर्शन कम्युनिज्म की बाड़ में बह जाते हैं। लेकिन अध्यात्म में उस तैज और औज केकर वह आ सके तो यह बाड़ स्वयं अपने पर लोटकर अपने को भीमने खाने लग जायगी। कारण वह आग उसमें निधनी नहीं आ सकेगी। आग स्वयं को सबको स्वाहा करने की क्षमता रखती है।

## राजनीतिक भविष्य

१६२ ऐसी स्थिति में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है, वह यह कि यदि आपानी चुनाव में किसी भी अग्रगण्यता कारणों से कांटेस हार जाय और गैर-राष्ट्र की अपराध होना बड़े, सब शासन की इस आगहोर का कीन खमासेपा और इस का राजनीतिक भविष्य क्या रहेगा?

—यह का राजनीतिक भविष्य मैंने कहा न था कि मुझे भविष्य का क्या है। राजनीति से स्वतन्त्र यदि कोई शक्ति स्वयं-प्रतिष्ठ बनकर इस बीच भारत में नहीं नहीं हो जाती है तो नैतिक की शक्ति अंत में लीन-होती। तब दूसरे दम बहाव सेने के लिए दीर्घ और इस तरह एक नृहृदय की-की परिस्थिति आ सकेगी। कम्युनिज्म सब अपहृदय में से मार्ग बड़ाता हुआ आये बड़ा है। वैसी नृहृदय की-की स्थिति एक-बार पैदा हुई, तो येरे मन में स्वाज है कि कम्युनिज्म के विधा पिर विधीक विधा

सम्भावना नहीं रह जाती। नकारात्मक भाव एकबार पैदा हुए और मड़के तो उनकी नकारात्मकता को इधर की भाँति उपयोग में ले आने की कला कम्युनिज्म ने सिख ली है। दूसरे किसीके पास वह निपुणता सिख की हुई नहीं है। दूसरे लोग नैतिक भाँति बिचारों के लिए लुके रहते हैं। कम्युनिज्म की नकारात्मक शक्ती इतनी साबित और साक्षित होती है कि वह इन पक्षों से रुकने की जरूरत में नहीं पड़ती है। यदि किसी प्रबल नैतिक शक्ति का उदय भारत में नहीं हो सकता तो राजनीति पर ही निर्भर न हो राजकारण से भी स्वतन्त्र विचका प्रभाव हो तो मेरे मन में सन्देह नहीं है कि एक बार इस भूमि पर कम्युनिस्ट-शासन का प्रयोग हुए बिना नहीं रहेगा। कांग्रेस से मेरी आशाएँ इस सम्बन्ध में टूटती जा रही हैं कि वह संस्था कर्मक्षिति से ऊपर आकर धर्म की सम्भावनाओं को पहचान और पकड़ सकेगी।

### नेहरू रोमेण्टिक

नेहरू भारत के पास अबसब एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनका सानी दूसरा नहीं है। उनकी चमक दूसरे को चमकने नहीं देती। इसलिए उनसे कुछ सहारा मासूम होता है। वह भी लगता है कि जब तक वे हैं संकट बचा हुआ है। लेकिन बीसा मने कहा कि कांग्रेस के लिए वे ही बड़ी समस्या हैं। कारण कांग्रेस उनके व्यक्तित्व से स्वतन्त्र नहीं हो पाती है न राह बदल सकती है। और नेहरू रोमेण्टिक चमक के बावनी हैं। उनके रक्त में ही यह नहीं है कि वे सेवक बन सकें।

१९३१ आपने ऊपर नेहरूजी को कांग्रेस के लिए एक समस्या और कांग्रेस को भारत के लिए एक समस्या बताया है। इस व्यक्ति का सैनिक और स्पष्टीकरण कीजिए— नेहरूजी के व्यक्तित्व, उनकी व्यवहार-नीति तथा उनके स्वभाव का विशेष ध्यान रखते हुए।

### डिमोक्रैटिक नेता, एरिस्टोक्रैटिक व्यक्ति

—नेहरू डिमोक्रैटिक नेता हैं। लेकिन एरिस्टोक्रैटिक व्यक्ति हैं। इसलिए स्वयं में वे एक समस्या हैं। कांग्रेस के लिए तो समस्या ही समस्या है।

संपन्न के रूप में कांग्रेस यदि नेहरू को अपने लिए समस्या से अधिक सम्बल मानती है, तो इस कारण कि वह कांग्रेस के पास एक अग्रितीय व्यक्तित्व है। उनको लेकर पैदा हुए कांग्रेस के अन्तर्भावस्था के प्रश्न निबट जाते या अन्त में कहीं किसी करबट बैठ जाते हैं। लेकिन इस सब घुमीठ के बावजूद कांग्रेस के लोग यह अनुभव अबसब ही करते हैं कि नेहरू उनके लिए मुबिबा से कम समस्या नहीं हैं। जितनी बड़ी वे मुबिबा हैं, उतनी बड़ी समस्या हैं।

## गांधी और नेहरू के रास्ते

कांग्रेस वह संस्था है जिसको गांधीजी का छात्र पिता या और अब भी जो जनमानस में पूरे तौर पर गांधी के नाम से उतर नहीं गयी है। नेहरू गांधी के उत्तराधिकारी है यह सब मानते हैं। कांग्रेस गांधी की संस्था थी यह सबको याद है। लेकिन नेहरू के पास अपना रास्ता है, जो गांधी का रास्ता नहीं है। वह रास्ता कांग्रेस के अन्तर्ग्रह में से नहीं आया है। नेहरू के कारण कांग्रेस ने स्वीकार किया है।

## व्यक्तिगत बलाबल

कांग्रेस देश के लिए समस्या इसकी है कि देश जान नहीं पाता कि उसे किस रास्ते चलना है। 'सोसलिस्ट' रास्ता कुछ ठीक तरह देश की समस्या में बैठता नहीं है। कम्युनिस्ट रास्ता तो भी कुछ-कुछ उसकी मन में बैठ सकता है। गांधी का राम-राम्य शीशियों के लिए कितना भी अच्छा हो, देश के मन में सुविधा से उतरा हुआ है और उसके सहारे गांधी का रास्ता उसमें बुनियाद पैदा नहीं करता। इन भीतरी कारणों से कांग्रेस अपने लिए और देश के लिए समस्या बन जाती है। वैचारिक दृष्टि से वह एक बड़े सपठन के अतिरिक्त और आज क्या है? अगर सोसलिस्ट पेटन उसका ध्येय है तो प्रजा-सोसलिस्ट और सिर्फ सोसलिस्ट भाषि पाटियाँ अलग क्यों हैं? व्यक्तिगतों के कारण अलग हैं तो हाल क्या बही न मानना चाहिए, जो मार्क्सिज्म के क्षेत्र में देखा जाता है। मार्क्सिज्म अलग-अलग जगहों और बलों में बैठता है, तो क्या राजनीतिक और व्यक्तिगत कारणों से ही नहीं? कांग्रेस का संगठन भी जो है और जिस तरह चल रहा है व्यक्तिगत भूमिका और व्यक्तिगत बलाबल से चल रहा है। वैचारिक बलवा निष्ठा की भूमिका उसके पास नहीं है।

## गांधी के नाम की पुजी

परिस्थिति वा संकट काफी कट सकता है अगर गांधीवाद और कांग्रेस का सम्बन्ध जन-मानस में स्पष्ट हो जाय। यह ही जाड़े हो जाय कि गांधी के रास्ते से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। गांधी के नाम की पुजी का उपयोग कांग्रेस अपने व्यापार में आगे नहीं करेगी, तो मैं समझता हूँ कि इससे कांग्रेस की ताकत साफ होगी। वह बट एंटर जवाहरलाल नेहरू के नाम तक आ जायगी। नेहरू ने अनमित तत्त्व सड़ बायें और मनाबदयक स्मृतता कांग्रेस-सरीर की घट जायगी। इन सबसे धापा है कि कांग्रेस का स्वास्थ्य बढ़ेगा और अन्त के रूप में उस परलगा हुआ जप मुक्त जायगा। राजाजी भूपलानी अपप्रकाश माफ अपनी-अपनी जगह आ जायेंगे और किसी भी एक की गांधी के नाम के उपयोग की शिकायत या मुनिबा नहीं रह जायगी।

आज तो उस सबके व्यवसाय की बबल से बेहूब गड़बड़ है। सब पापी का नाम लेते और गुहाई में उन्हें छेपा चठाते हैं। कम्युनिस्ट और जनसंघ इस सम्बन्ध में साफ हैं और उनकी ध्वनि इसीलिए बड़बी रही है। लेकिन येप तीनों गारा एक देते हैं, फिर भी एक-दूसरे को काटते दिखाई देते हैं। और देश बीसछाया रह जाता है। कुछ समझ नहीं पाता।

यह अनुभव किया जा रहा है कि गांधी का मन देश की बमनी के साथ बड़कता जा। वह प्रभाव अब भी देश के अन्दरग में व्यापक मात्र से बसा हुआ है। बिरोधी भी यह अनुभव करते हैं। बिरोधियों को इस ईमानदारी का काम मिला है कि वे अपनी दुकान उस पूँजी से नहीं बसाया चाहते। दुकान हम अपनी बसायेंगे पूँजी दूसरे की हो तो कानूनी न्याय से भी यह जायज नहीं है। उससे वस्तुस्थिति में पैज और सख्ती बढ़ती हो तो इसमें अचरज ही क्या है। यह पड़बड़ की स्थिति यदि नाम देश में है और एक गहरी अनिश्चितता व्याप्त है तो मुप्पता से यह कांग्रेस के कारण है। और कांग्रेस चाहकर भी अगर इस बोप से अपने को बरी नहीं कर सकती तो यह उसकी असमर्थता नेहरू के कारण है।

### राइट और लेफ्ट

देश में जो बिरोधी ध्वज गाहक चल रहे हैं और उन्हें नि बड़ा असमंजस और संकट पैदा कर रहा है। वे हैं राइट और लेफ्ट। गांधी-युग में जैसे ये सम्ब अस्तित्व में न थे। मार्क्सिज्म की ओर से ये जाये और गांधी के जीवन-काल में भी पूरी मुक्ति के साथ इन्हें बोकड़ और सींचकर अकुराने की कीचिण की ययो। लेकिन वे धमर ही न पाये। कहीं अचरजस्ती उद्यम में आते कि बही वे अस्त भी हो जाते थे। कांग्रेस-राजनीति में जैसे जवाहरलाल नेहरू के द्वारा ये ध्वज पड़े-पड़े भीतर आये। धामय नेहरू के दिमाग में अब भी वे कुछ बर्न रखते हैं और इनके सहारे वह विभाग काम करता है। गांधी से दूसरी भाषा और दूसरी पृष्ठि देश को दी थी। तब हम सत्यता और सज्जनता से आदमियों और रत्नों की पहचान करते थे। आज नये बाँट और नये पैमाने चले हैं न ? तो जैसे सत्यता और सज्जनता की कसीटी पुरानी पड़ गयी है। अब जोच राइट-लेफ्ट स हो जाती है। परिणाम यह है कि आदमी को आदमियत की फिक नहीं है। सब रहने या सज्जन बनने की चिन्ता नहीं है। नहीं उसका काम आदमी को इधर या उधर, बायें या बायें बता देनेभर से जो चल जाता है। मानव-समाज में राइट और लेफ्ट ने आकर धुज रत्नवार की पृष्ठि कर दी है। इसको रेजिमेण्टसन या आम बोली में कतारबन्धी कहिये। समाज की यह हाकत बना दी है कि 'राइट-लेफ्ट, राइट-लेफ्ट विवक मार्ग ! मानो समाज

एक फीज हो। हम नहीं जानते लेकिन बसबाब के इस रास्ते से सेनाबाब बस आया है। फिर वही से निग्रहबाब और युद्धबाब ही परम राजनीति और मानव-नीति के प्रकार बन जाते हैं। हम साब आहूँ उस रास्ते शान्ति नहीं आ सकती। उस ढंग से युद्ध का हुनर अवश्य सीखा जा सकता और सारे देश को उस स्तर पर सुमन्य किया जा सकता है।

### बिचारों और संकल्पों की गुसलट

भारत देश को अगर ठहर नहीं चलना है, तो उस सड़कदार रहना चाहिए। चलना हो तो संकल्पपूर्वक पूरी सावधानी से चलना चाहिए। अब कोई हानि नहीं है कि देश को एक डिपेंडेंसी में संयोजित और एकत्र कर लिया जाय और फिर की नौक से भ्रष्टाचार को नाश कर दिया जाय। लेकिन इरावे के साथ। उस रास्ते की तरफ अगर देखना भी हम जतन कर देना है, तो जिसकुल जकरी है कि हमारे बिचार विस्मय नहीं पेंचरमी और पेंचमेस नहीं। बसाफ और सीधे हाँ दिमागी से ज्यादा हार्दिक हों। अज्ञा का उन्हें पृष्ठ बल हो और वह निरे रोमंटिक न हों। पाँची किये भी आहूँसक रहे हों पर आग्रह कि उनके जीवन में अवकाश पा। अवकाश ही नहीं उस आग्रह का उनके जीवन में सर्वोपरि स्थान पा और वहाँ निमी तरह का समझौता वे कर नहीं सकते वे। यह बुद्धि निश्चित और साफ मनोभाव था, जिससे वे ऐसे नेता बन कि कभी समझौते में गिरकर उन्हें नीच नहीं माना पड़ा। यह उनकी अरिस्टोक्रसी उनको एकाकी रख रही और समझौते किसीका मुक-सान नहीं हुआ। लेकिन डिमोक्रेटिक वे रहे मध्यम राजनीति में आहिना को अप नावे अपने के कारण। किसी व्यक्तिगत या किसी मन का अर्थ उनसे नहीं हुआ और राजकारण में वे अपने व्यक्तित्व को पीछे और अपवस्थ रखकर हुनर का ऊँचाई और पदवी देते चले गये। यह अरिस्टोक्राटिक समाज में हैं डिमोक्रेटिक सिद्धान्त में। इसमें जोर और पाँची की जगह आपस में अन्त-मन्त जाती है। नेता की सोचविष्ट अज्ञा ही तब भी कुछ बन सकता है, मानवीय अज्ञा हो ता और नी अधिक बन सकता है। लेकिन बलों का गुसलट हो तो राम जान क्या बनेगा। १६४ कम्युनिज्म को हमसे से बहुत एक हीजा क्यों मानते हैं? यदि हमसे से कुछ माई एक विशेष रास्ते पर देश को से चलना चाहते हैं तो के चलें। आज को कम्युनिज्म और कम्युनिज्म एक अज्ञात रास्ते और संकट कर दिया गया सीधता है उसमें वे तयकरियत बलिबलिबियों की हीनता देखते हैं अज्ञात रास्ते-पैदियों की बामता? भारत की परिस्थितियों को विशेष रूप से हुए इस प्रश्न का उत्तर दीजिये।

**दक्षिण और वाम अन्दर से एक**

—जो हीना बनाकर देखता है उसकी भ्रष्टा चत्ता में है और मानो इस भाँति कम्युनिज्म की चत्ता को वह स्वीकार करता है। इस दृष्टि और दृष्टि को मैं राजनीतिक मानता हूँ और मुझे यह भी प्रतीत होता है कि कम्युनिज्म के लिए ऐसा भय अनापेक्षणीय नहीं है। वह इज्जत स्वयं दक्षिण के जोर से चमकता है। उसकी दृष्टि और दृष्टि भी राजनीतिक है और भय निर्माण, सैन्य निर्माण आदि-आदि में उसकी भी भ्रष्टा है। जिसके उपायों से बचने का कोई आग्रह उसके पास नहीं है बल्कि जिसके दक्षिण का उसके पास कुछ उपयोग है। पहला उपयोग स्वयं यह भय है। भय के आगे कृत्य तक जाने की भी तैयारी रहती है कोई बमकी ही उसके पास नहीं है।

दक्षिण और वाम इन दोनों के पीछे मानसिकताएँ होती हैं, ऐसा मैं नहीं मानता। वे एक ही चीज हैं। दोनों राज्य चाहते और सैन्यदक्षिण में विश्वास रखते हैं। लोगों के अन्तर्भाव को बाह्य लेकर उनसे प्रयोजन साध लेने के तरीके में दोनों समान हैं। संगठन और संख्या में दोनों का घरोसा होता है। बिरोध के नाश में दोनों एकमत और सहमत होते हैं। इस दक्षिण और वाम की भिन्नता सिर्फ राजनीतिक सतह तक है उसके नीचे उन दोनों में भेद करना कठिन है और अनापेक्षक है। कम्युनिज्म अगर दक्षिणपंथियों के लिए हथके समान हो जाता है, तो स्वयं कम्युनिज्म बिपक्ष को दागव और राजस के रूप में चिह्नित करके अपना काम करता है। भय से भूना उपजायी जा सकती है। भूना में से रीप रीप में से साहस और साहस में से पराक्रम के कृत्य निकाल लिये जा सकते हैं। इस प्रकार का हिंस्र पराक्रम दक्षिण-वान दोनों ही के लिए अनिष्ट नहीं रहता। इसलिए भय और भूना से दोनों अपने-अपने लिए काम उठाने की चेष्टा करते हैं।

**कम्युनिस्ट दल अन्य दलों से विभिन्न नहीं**

राजनीतिक दल पर इन तरह कम्युनिस्ट-वादी को हमारे और राजनीतिक दलों में मैं भय और विधिष्ट करके नहीं देख पाता हूँ। जब कम्युनिज्म के पक्ष में वह विधेयता अवश्य है कि उसके पास एक मुनिद्विगत वैचारिक सत्य और दर्शन रहता है। हमारे राजनीतिक दलों के पास उस भूमिका की भूमिका उठती नहीं रहती। ठीक यही स्पष्ट है जहाँ मैं स्वयं कम्युनिज्म को महत्त्व देने की नीयत हो जाता हूँ।

**कम्युनिज्म एक राज्यवाद**

विचार और संस्कृति की दृष्टि से कम्युनिज्म से मैं जुड़ भी करता हूँ। उस दल को

में अमिष्ट भी नहीं मानता हूँ। मगवान् का डर मनुष्य की सहायता करना है। पाप का डर मनुष्य की निर्धर या गलत नहीं बनाता। हम मनुष्य की डर को मैं जीवन-निर्माण और यत्ति निर्माण में उपयोगी मान सचता हूँ। हम दुष्ट में कम्युनिज्म मुझे बुलन्दबुल्ला एक राज्यवाय माहूम होगा है। विचार और इमान बहो साम्य नहीं साधन है। हम तरह सत्कारिता और मानवता को मैं बहो राज्य विचार और राज्य-अवस्था में मामची और ममिवा मान किया जाता है। मुझे यह कम बिलकुल मान्य नहीं है। राज्य की और उसके विचार को मैं किसी तरह साम्य मानने को तैयार नहीं हूँ। सारी राजनीति साधन होनी चाहिए मानवता के साम्यविक विकान के माध्य में। कम्युनिज्म में वह कम उलट जाता है और विचार-मामची मानो बहो एक स्वतन्त्र कर्मकाण्ड में होमने के लिए तैयार की जाती है। हम तरह उत्क-विचार के साथ बहो जोर-जबरदस्ती होती है और वह मनुष्यविचार न होकर बहुतायत विचार हो जाता है।

**हिंस्र कार्यक्रम मानवीय नहीं हो सकता**

मेरा मानना है कि वहाँ हम किसी भी उत्क-विचार में से हिंस्र कार्यक्रम तक आ जात है, बर्ग मने और उत्क के साथ निर्मोह और निष्कपट विचार नहीं कर रहे होत बल्कि जाने अनजाने रागासक्त होते हैं। हिंसा के समर्थक किसी विचार को मैं सम्मक विचार मान नहीं पाता हूँ। निश्चय है कि उसके पीछे कहीं कोई व्यक्तिगत इति कोई चोट बाम कर रही होती है। सांस्कृतिक और मानवीय विचार किसी तरह प्रेम से बचकर अग्रेम और हंग के समर्थन तक पहुँच सकता है, एसा मैं सम्मक नहीं मानूँगा।

वहाँ यह हान् फिर भी कर लिया जाता है उस विचार से हम सबको डर लग माना चाहिए।

**भारत का कम्युनिज्म**

१९५५ भारतीय कम्युनिज्म पर भारतीयता और गाँधीवाद का किन्ना रंग बड़ पा सकेगा और भारतीय कम्युनिस्ट बल और चीन के हाथों में एक चिनीतामाय न रहकर भारत की राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक समग्रता के प्रतिनिधि बन सकेगा। इसे क्या आप सम्मक मानते हैं?

—यह बल में छाया का प्रदन है। छाया इतिहास के हाथों पड़कर मनुष्य बड़ा बरब केल सेल जात है। बीजे भारत में एक छाया चलता है बाम-मार्ग। यह एक पंथ है और बीजे-पंथ से निकला कहा जाता है। मगवान् बुद्ध से जो बिज मन में



उपस्थित होता है, उसका क्या काम-मार्य से बननेवाले बिग से कैसे कोई वास्ता हो सकता है? लेकिन काम-मार्य बिग भाषायों से क्या उनकी परम्परा को जग में बुझ से बुझा देखा जा सकता है। इसी तरह आज कम्युनिज्म मार्क्स से उतने पवित्र मान से जुड़ा नहीं माना जा सकता जैसा आरम्भिक कम्युनिज्म था।

### भारतीय अहिंसक साम्यवाद

नियम और ठरके जीवन का चक्का है और इसमें सबको काफ़ी संशोधन हुआ करता है। असम्भव नहीं है कि कम्युनिज्म भारत की आवश्यकताओं के साथ अपना समन्वय करते-करते स्वयं गया ही संस्करण प्राप्त कर ले। भारत की भूमि में तो बक्सर ऐसा होता रहा है। कम्युनिज्म को भी स्वयं में इसकी सामयिक सफलता इष्ट है कि किसी सिद्धान्तवादी सुझाव के जोम में वह नहीं पड़ेगा और हर तरह परिस्थितियों के साथ समझौता करता हुआ काम उठाना चाहेगा। यह व्यावहारिक निपुणता आज भी उसमें समायी हुई देखी जा सकती है। कम्युनिज्म में आज व्यावहारिक राजनीति अधिक है सिद्धान्तिक सतबाव उठाना नहीं है। इस सब कारकों से एक भारतीय अहिंसक साम्यवाद जैसा कुछ निष्पन्न हो जाये तो मुझे विस्मय न होगा। गांधीजी की भावत आप जानते हैं। वे किसी शब्द का विरस्कार नहीं करते थे। सोशलिस्ट शब्द आया तो उन्होंने उसका परिहार नहीं किया न स्वयं साम्यवाद शब्द का बर्तन-तर्तन किया। उनकी आबर से स्वीकार करके जैसे मानो उनमें अपना अर्ब डाल देने का उन्होंने प्रयास किया। ऐसे शब्द मित्र जायेंगे जहाँ उन्होंने स्वीकार किया ही कि वह सोशलिस्ट है कम्युनिस्ट है किन्तु यही प्रक्रिया है, जिससे शब्दों की आपसी अनबन दूर होती और उनमें एक स्वर-सहि बन जाती है। उस सपत्ति से साहित्य और संगीत का जन्म होता है। भारतीय आत्मा की यदि जय हुई तो मुझे लगता है कि जाये-नीचे वह सामंजस्य नपकर रहेगा। साम्यवाद हिंसा तबकर अहिंसा में उठेगा और साम्य-धर्म हो जाएगा।

### कम्युनिस्ट-पार्टी में दरार

१९६६. वर्तमान कम्युनिस्ट-पार्टी में ऐसा प्रतीत होता है एक दरार पड़ गयी है। कुछ लोग पूरी तरह अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म के समकक्ष और चीन के सहयोगी बनकर चलना चाहते हैं जब कि दूसरे कम्युनिज्म के भारतीय लोककरण के विकास पर बात देते हैं। भारत-चीन-समस्या को ध्यान में रखते हुए क्या आप इस परिस्थिति पर कुछ प्रकाश डालेंगे?

## रुम्ह अनिवाय

—यह सम्पन्न और उन्नत बचाना नहीं जा सकता। सिद्धान्त एक वस्तु है, जीवन दूसरी वस्तु है। दोनों में बड़ा तनाव दिखाई दे, तो किसीके प्रति बड़ा रस्सी बाध किसीके प्रति प्रोह सहा जाय यह प्रश्न पैदा होता है। इतिहास में आप अनेक वृत्त पायेंगे। जिन्होंने धर्म प्रवर्तक हुए हैं, धर्म-विर्मों द्वारा ही उनका विरोध हुआ है। सत्य को पवित्र न कह दिया है। हमारी बुद्धि हमारा बंध है लेकिन कभी वह हमी पर सवार हो जाती है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति मनु और सिद्धान्त का नहीं छाड़ना चाहता है, चाहे जीवन स वह चिनार ही कूट जाय। भारतीय साम्यवादी दल में यह बटना बने यह अनिवार्य है। समय भी उस अनिवार्यता के लिए आ पहुँचा है। राष्ट्रवाद एक मयार्यता है कम्युनिस्ट के लिए अपनी आह्विय काँबी भी उतनी ही मयार्थ है। उस आह्वियानोबी में वह चीन के साथ है, राष्ट्र-वाद स उसका मन भारत के साथ है। चीन और भारत में बरत पड़े तो साम्यवादी भारतीय-दल में बरत पड़नी ही चाहिए। अगर नहीं पड़ती है तो प्रमाण होता है कि भारतीय-दल उस दल में रह ही नहीं गया। ऐसा हो तो भारतीय सरकार अभाष्टीन कहकर उस सारे ही दल को अस्वीकार कर दे, अर्बब बोधित कर दे, तो इसक लिए भार तीव शासन के पास बचता चर्च हो जाता है। लेकिन सम्तोप है कि बरत पड़ी है और मामूम हुआ कि भारत के प्रति बध का भाव साम्यवादी में सर्वथा अनुपस्थित नहीं है।

## स्वामीय संस्करण

जैसे जैसे साम्यवाद अपनी-जानी बयह स्वामीय परिस्थितियों का सेने-सँभालना बेस-बैन उभरे वे विविधरीपीय संस्करण मानस में कुछ भिन्न और दूर होन जा सकते हैं। आज भी हम और चीन के साम्यवादों में फायदा माना जाता है। मुझ मानूम होता है कि सम्भव यदि है तो मन में है वह जीवन में स माना है। इसलिए मनवाद को ऊँचे उठाकर बो बचता है, बहुस्वनि परिस्थिति कसाय आये-पीछे बिष्ट में आ जाता है, अन्त में उसे दूटना-बिखरना पड़ता है। जीवन की बर्त मान गति में यदि कोई टिकना और ऊपर चिरता हुआ बीकगा तो वह होगा जो शर्तों स नहीं रहता बल्कि शर्तों को अपने साथ रगता और उन्हें दयावत्यक उन्नाग में लाता है। साम्यवादी दल दल की बर्तानना में नहीं है एसा अब वह प्रमाणित कर पायेगा तो मैं मयमता हूँ भारत के साथ उमका अननेक समान्य हा जायगा। उस भारतीयता द्वारा होनवाला संशोबन उसको हृदय स माम्य होना जायगा।

## कम्युनिस्टों की चीन के प्रति नीति

१६७ यदि कम्युनिस्ट शासन पर आ जाये, तो चीन के साथ ही रहे सीमा-विवाद के प्रति उनका क्या रुक होगा क्या इसकी कुछ कम्युना की जा सकती है? यदि नहीं उन्होंने वर्तमान सरकार की नीति को ही अपनाया तब कम्युनिज्म का क्या भविष्य भारत में होगा, इस पर भी प्रकाश डालें।

—कम्युनिस्ट हुकूमत पर आकर हिन्दू चीन-विवाद के बारे में क्या रुक लेंगे इस सम्बन्ध में कम्युना को कष्ट देने की आवश्यकता नहीं है। सरकार एक मात्र तक ही लोकमत से आगे-पीछे या इधर-उधर हो सकती है। मात्र से अधिक दस-मानस और जन-मानस में अन्तर पड़ा तो उस दस की सरकार को बिरना होना। आज तो स्वयं कम्युनिस्ट इस की कान्फेन्स में भी घटित हुआ उससे स्पष्ट है कि भारतीय मानवा के विरोध में जाना नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में कोई सन्देह जन-मानस में रहा तब तक यह सम्भव नहीं होनेवाला है कि शासन कम्युनिस्ट हो। भारतका बोट उनके पक्ष में होगा तो तभी जब इस सम्बन्ध में भारत उनसे आसक्त होता। यह उस परिस्थिति में जब शासन का निर्णय बोटों से हो। कहीं गुड्डमुड में से निर्णय होनेवाला हुआ तब की तो बात ही बूझी है। तब तो कम्युनिस्ट के अलावा कोई और दस हो ही नहीं सकता जो अन्तर्गत सफलता में उभरा हुआ दिखाई दे। आज की शासन-नीति तो कम्युनिस्ट शासन नहीं ही अपनायेगी और चीनों की बात बूझी है। सीमा-विवाद के सम्बन्ध में उसकी चीन के प्रति नीति कीजी प्रतिरोध की नहीं होगी उसमें आपसी बातचीत का आचार अधिक होगा यही आदर्शक आधार भारत के मत को आज के दिन उनके पक्ष में जाने से रोके रखेगी।

## कम्युनिस्ट इस की विफलता के कारण

१७ कम्युनिस्ट-पार्टी जो भारत में बड़ी सफलता नहीं प्राप्त कर सकी इसके आज क्या कारण बताते हैं? सीमा-विवाद एक सामयिक कारण हो सकता है। पर मूल कारण क्या है जो उसे और देशों की भाँति छा जाने से रोक रहे है?

## मूल कारण गांधी

—सबसे बड़ा कारण है गांधी। उससे बोधम है स्वयं गांधी द्वारा उत्तरदायित्व प्राप्त नेहरू। गांधी प्रतीक है राजनीति में कम्युनिज्म से ठीक उल्टी नीति-नीति और विचार के। एकाएक सही मान्य होला है यह कि अगर हुकूमत को गिरा दो, क्योंकि उसके कारण अन्धम और चौपट हैं। जैसे भी बने बिना हो, क्योंकि यह तो होनेवाला नहीं है कि वह स्वयं उतरे। गिराने के लिए चेष्टा करनी होगी। इसके

मिएं सर्वहारा जनो आवा मिल जाओ और हमला बोल दो। यह ऐसा तीर-सा ठर्क बा और है जो बक्ति और शुद्ध मन में सीखा उतरता जमा जाता है। गांधी व्यक्ति हुआ जिने हमरा ही ठर्क उपस्थित कर दिया। वह ठर्क अनायास मन में उभर हो नहीं पाता। बुद्धि में न निकलता ही नहीं न बुद्धि में बैठता है। उसीको गांधी ने अपने जीवन से सही सरल और सिद्ध करके दिखा दिया। गांधी वह ठर्क है जो कम्युनिज्म के विस्तार में न सिर्फ भारत में बल्कि दुनिया भर में जमी भारी धाधा मिला देनेवाला है। वहीं उस ठर्क में स तबनुकूल जिया भी निकल आयी तो बहाव उम्मा भी बक सकता है। यानी कि तब स्वयंवा की भाषा में सोचना कम्युनिज्म की पढ़ जाय इसर से ऐसी एक अवस्थ बेहता और सत्यता जाय सकती है। गांधी के बार स्थिति में एकाएक एना अभाव आ सकता था कि कम्युनिज्म की बन आती। लेकिन एक ठो गांधी क पुत्र ने बलगाणी कापेन-मस्बा मीरूय थी दूसरे उनके आनीबादि से मनोनीत उत्तराधिकारी पण्डित नेहरू मीरूय थे। इसमें कम्युनिज्म के लिए तबनुकूल अवसर नहीं आ सका।

### नेहरू और कम्युनिज्म

नेहरू कम्युनिज्म और भारत क बीच एक अवरस्त हस्ती हैं। अवरस्त इस= लिए कि गांधी के नाम का बल उनके साथ है। लेकिन वे ही कम्युनिज्म के बलबर्धन के लिए बाड़ साबित हो रहे हैं क्योंकि नेहरू में और मज है गांधी-मन्दा नहीं है। गांधी की मन्दा की आा के बिना गांधी की उपायता बहुत बड़ा खतरा पैदा कर सकती है, इसका गायद नेहरू को पता नहीं है। सहिष्णुता विनयी भी भाषा में हो बहुगुण है लेकिन तभी जब पाम में असहिष्णुता की शक्ति उवनी ही मन्वर और तीव्र हो। विचार और मन्दा के क्षेत्र में एना कुछ भी सम्बल नेहरू को प्राप्त नहीं है। इसलिए यह मानकर भी कि गांधी क बार दूसरी रकषट कम्युनिज्म क विस्तार के मार्ग में नेहरू का व्यक्तित्व है यह भी स्वीकार करना होगा कि जिस भाषा में वह व्यक्तित्व गांधी न मुक्त है, उस भाषा में वह कम्युनिज्म के लिए अनजान तीर पर भों और सहारा बन रहा है। इर्मीन आप देखियेगा कि तब कम्युनिस्ट बांधम की निन्दा कर सकता है जब नेहरू को पहले मानो कापेस स अलग करके अपना समर्थन और बल दे के। नेहरू का व्यक्तित्व तब अपने लिए चाहिए। जग परिबापस के सगटन में नेहरू के नाम को एक बार ऊँचा और अलग कर दिया जाता है तो वह नाम कम्युनिज्म के लिए फिर बापक क बजाय साबित हो चलता है। कम्यु निस्ट यह अनुभव करना है कि नेहरू अपने व्यक्तित्व में गांधी से स्वतन्त्र हैं बांधम अलबता उस तरह स्वतन्त्र नहीं हैं। बांधम के कोय पैर में से आते हैं और भारत

बेध गांधी-प्रभाव से अब भी बड़क रहा है। इसलिए कांग्रेस उस प्रभाव से बाहर भी मुक्त नहीं बन सकती। इसलिए नेहरू का व्यक्तित्व ही यदि इतना ऊँचा और अद्वितीय बनता है कि कांग्रेस की एकता नेहरू के कारण सम्भव हो, अन्यथा कांग्रेस एक अन्तर्दिग्रह में फँसी और बिलरी हुई संस्था बन जाय तो इतने माप से कम्युनिस्ट-बल की सम्भावनाएँ मजबूत होती हैं। नेहरू के बिना कांग्रेस बेकार हो जाती है और कांग्रेस के बिना नेहरू कम्युनिज्म के हाथों बाधा की भगइ सुविधा बन जाते हैं।

### भारत की अस्त-प्रकृति

भारत की अस्त-प्रकृति उसकी धर्म-परम्परा उसका स्वल्प सन्तोष और अपरिग्रह उसका धामबाध और कृपिबाध आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो कम्युनिज्म के अनुकूल नहीं बैठते। गांधी ने मानो ये सब तथ्य अपनी महाद्यमता में मूर्त हो गये थे। कांग्रेस में वे अभी कुप्त नहीं हो गये हैं और यों नेहरू भी अब तक अहुर ही पहनते हैं, लेकिन उनका मन अब अहुर बने रहने की मजबूरी से आजाद और ऊँचा बन गया है। कम्युनिस्ट यह पहचान गया है और स्वयं चाहे भारत उसे अपने अनुकूल न जान पड़ता हो लेकिन दलगत राजनीति के अलावा नेहरू अब उसे अपने लिए प्रतिकूल नहीं जान पड़ते हैं। बसर्त कि उनके व्यक्तित्व को कांग्रेस के सम्बन्ध से एक बार ठोड़कर अलग कर दिया जाय।

### भारत का कम्युनिस्ट बनना आसान नहीं

दुमरे बसों में धर्म-संस्थाएँ प्रबल रही हो सकती हैं, लेकिन राज में बँध रहने से धर्म स्वयं इतना अटूट नहीं रह जाता है। अब उन बसों में कम्युनिज्म को अपनी राह में उसनी कठिनाइयाँ नहीं जान पड़ी हैं। भारत में धर्म संस्थाबद्ध बेबल नहीं है, वह मनो में धर फिये बैठा है। इसलिए कुछ अधिक प्रतिकूलता का निर्माण करता है। मुझे लगता है कि एशिया के दक्षिण-पूर्व के देश यदि आधुनी से गिरते गये तो भी भारत का कम्युनिज्म की ओर से पड़ना उसना आसान नहीं है।

### कांग्रेस में फूट

१९९. कांग्रेस में जो भयंकर फूट और मतभेद पैदा हुए हैं, वे देश के लिए बड़े संकट प्रद और भातक सिद्ध हो सकते हैं। आपकी राय में इस फूट को निरा देने का कोई उपाय है या नहीं? या समय की ओर ही सब कुछ बराबर करेगी?

इतनी बड़ी राष्ट्रीय लीगा में क्या कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं, जो इस नुस्खे-बिनास करनेवाले में नये प्रायः झूठ सके ?

## मेहल का व्यक्तित्व

—आहिर है कि एक व्यक्ति का कांग्रेस व पाकिस्तान मेहल का क्या है जिसको लेकर भाग्य के साथे कुछ दूर तक सामयिक तौर पर साम्य हो सकते हैं। कुछ दूर तक और चौरी तौर पर हमसिद्ध कि प्राइम मिनिस्टर हमने अधिक सफलता पा नहीं सकती। प्राइम मिनिस्टर बल के ऊपर बैठा है और एनी समस्याओं का स्थानी निवारण हृदय-परिवर्तन से आ सकता है। बल प्रधान ही, तो उस व्यक्ति-सचय के लिए संघर्ष की रीति एक स्थायी नीति बन जाती है। यहाँ उस दंग से कांग्रेस-बल के अन्दर की राजनीति और गुटबाजी कम नहीं हो सकती। गुट बनना ही पक्षि-सम्प्राप्त्य के लिए है। यदि युद्ध से अधिक दया की जरूरत होती है तो आवश्यक है कि गुटबाजी की जड़ें फेंके और पहचानें जायें।

## बाबू राजेन्द्र प्रसाद

बाबू राजेन्द्रप्रसाद राष्ट्रपति हैं और एक तरह से कांग्रेस में बल हैं। कांग्रेस की आरम्भी उपलब्धियों के निर्णय में वे सीमा बनाकर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते हैं। राष्ट्रपति की हैसियत से वे शासन के अंग हैं और उनकी स्थिति इतनी वैधानिक हो जाती है कि उनका प्रभाव का उर्वर प्रयत्नमन्त्री की महमति असहमति का प्रश्न बन जाता है। एक अक्षर आर है जब राष्ट्रपति का प्रभाव उबर गया है जहाँ पर प्रधानमन्त्री की महमति या प्रयत्नता में भी। ऐसे तत्त्वों की आर है और दोनों के मौलिक के कारण के टक से मेल नहीं बन है। नय जानने हैं कि राष्ट्रपति की मनाबुद्धि और प्रधानमन्त्री की मनोबुद्धि में अन्तर है। राष्ट्रपति पर के कारण उत्पन्न बाबू राजेन्द्रप्रसाद दम्पती है। एक-मेता होने के कारण पक्षि मेहल में वैकल्पिक प्रधानमन्त्री हैं बल्कि बाइस-बल के भी सर्वमर्क हैं। इस तरह बाइस के पास कोई युवा व्यक्ति नहीं रहता। राजेन्द्रबाबू यदि और अब राष्ट्रपति में रहेंगे तब क्या परिस्थिति उत्पन्न होगी, यह देखने की बात है। उन सम्बन्ध में मैं अनुमान करना नहीं चाहता। जो यदि आरती और म राजेन्द्रबाबू बाइस का पुनःप्राप्ति देने में सफल हो तो पाकिस्तानी राजनीति का नक्का बदल सकता है। पर ये आगे की बातें हैं जिन्हें विपत्ति में भयानक बचाव अच्छा ही दिया है।

कुछ व्यक्तित्व और उनके बल

१७० इस प्रसंग के अन्त में मे आर व्यक्तिवों एवं उनके बलों के विषय में आपने विचार जानना चाहूँगा। प्रथम श्री जयप्रकाश नारायण एवं श्री हुपकानी तथा उनका प्रजा-समाजवादी बल। दूसरे श्री राममनोहर लोहिया और उनका समाजवादी बल तथा तीसरे राजाजी और उनकी स्वतंत्र पार्टी।

दूसरी दृष्टि अपसूय

—दलों की भाषा में सोचना अर्थात् अभी तक है, जब तक कोई किम्वदन्त राजनीति से अपना वास्ता अनुभव करता है। मुझे अपना वास्ता उतना नहीं जान पड़ता। भारत के अधिपति की दृष्टि से उन पर ध्यान जाता है तो जाता है। अन्यथा वहाँ अटकना नहीं चाहता। दलों में व्यक्तित्व भी कारण होते हैं। यहाँ तक हो सकता है कि बीच में सिद्धान्त का प्रश्न ही ही नहीं केवल अहकारों का प्रश्न हो। देखने में जान पड़ सकता है कि सिद्धान्त वह बल उस दल के बहुत निकट है, लेकिन व्यावहारिक राजनीति में आप बख्तर देखेंगे कि विरोधी समूहों के दलों में स्वार्थों की आपसी सन्धि हो गयी है और चुनाव के समय मजबूत-मजबूत गठबन्धन बन आये हैं। वह सब इसलिए होता है कि तात्कालिक उपलब्धता बल के लिए पहली चीज हो जाती है और उसी भाषा में उसे जोड़-तोड़ करनी पड़ती है। जिन व्यक्तित्वों के आपने नाम किये उन पर अलग से विचार करने का कोई काम मुझे नहीं दीखता। सभी बेश के माध्यम हैं और निस्सन्देह ही विशिष्ट व्यक्तित्व हैं। लेकिन उससे आगे दूसरी दृष्टि है उनके सम्बन्ध में कुछ जानने-समझने को मेरे पास यह नहीं जाता है।

जनसंघ विभाजन-काम का फल

१७१ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उसीके राजनीतिक कम जनसंघ का वाद और उसकी राजनीति में क्या अधिपत्य आप देखते हैं?

—पाकिस्तान जब तक है, तब तक जनसंघ के पास अपने समर्थन के लिए एक बड़ा तर्क बना रहता है। अगर हिन्दू-मुस्लिम आचार पर ही हिन्दुस्तान हिन्दुस्तान है और पाकिस्तान नाम के देश-जगह से वर्णित बन गया है, तो क्या तर्क है कि वह हिन्दुओं की जगह न हो। हिन्दू-संस्कृति का नीरव न रहे और हिन्दू साम्प्रदायिकता का मड़ न बने। सम्प्रदायवादी कहनेवाले से जनसंघ की शक्ति को कापेय शतम इसलिए नहीं कर सकेगी कि और-अवस्था की प्रयोग करने के कारण एक दौर मुस्लिम साम्प्रदायिकता है उससे अपने को मजबूत किया जा। कर्म का

फल अनिवार्य होता है। और विभाजन में सहयोगी बनने के कांग्रेस-कर्म का फल यदि जनसंघ और उसकी शक्ति ॥, तो उस फल से कैसे बचना हो सकेगा ?

### राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

मुझे यह अच्छा लगता है कि जनसंघ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का राजनीतिक पक्ष है, जबकि रा० स्व० संघ स्वयं में राजनीति में समाप्त नहीं है। उससे बाहर भी उसे दृष्ट और अदृष्ट है। इस व्यापक भाव की मैं प्रशंसा करता हूँ जिसका कांग्रेस में जमाव होता या रहा है। कांग्रेस के पास जो है, सब राजनीति है। उससे इतर-इतर रचनात्मक कुछ भी नहीं है। ज्ञान पकता है, राजनीति जनसंघ को सीपकर उससे इतर कुछ कार्य है, जिसको रा० स्व० संघ अपना मानता है और उसमें वसतिष्ठ रहता है। उस इतर और अतिरिक्त कार्य का क्या मूल्य है वह बहुत बात है। लेकिन राजनीति से बहुत कुछ रोप बचता है, वह स्वयं मुझे उपादेय प्रतीत होता है।

विभाजन के आस-पास ऐसा वातावरण बना था कि रा० स्व० संघ सैन्य सत्ता में विश्वास करता है और उन-उन उपायों का अवलम्बन करता है। वह वातावरण अब कुछ बदला हुआ जान पड़ता है। तो भी यह मानने का कारण नहीं है कि अस्त्र-शस्त्र से उसका आचार या ईमान हट गया है। यदि ऐसा हो तो आज के जमाने में अधिक सम्माननाएँ वहाँ में नहीं पाय सक्ती हों। उसकी विचार पद्धति यदि मूलतः शक्ति की और राजनीति की महत्त्व देती हो और संस्कृति को एक मोर्चे के तौर पर ही रखकर बचना चाहती हो तो भारतीय राजकारण में संघ कोई बड़ा प्रभाव अपना निमील कर सकेगा इसमें शंका का कारण हो जाता है।

अरि पर उसका बल शुभ है यदि अरि साधन के साथ साध्य की जगह भी के मेता तो मैं उसमें अधिक सम्माननाएँ देव सकता। ●



## भाषा का प्रश्न

### भाषाभार पुनर्विभाजन

१७२ कांग्रेस ने प्रान्तों के भाषाभार पुनर्विभाजन को अपना एक सिद्धान्त बनाया था। पर जब सरकार ने इस आचार पर यह पुनर्विभाजन किया, तो सारे देश में एक प्रान्तीय उन्माद छठ चड़ा हुआ और जिसने ही प्रान्तों में हिंसा के बीच काण्ड बनता और सरकार दोनों ओर से हुए। प्रान्तों का विभाजन भाषा मसला किसी ऐसे ही अन्य आचार पर न करके कुछ व्यवस्था के आचार पर ही किया जाना चाहिए था। व्यवस्था में भाषा को लाकर सरकार ने देश की एकता के लिए एक बड़ा भारी संकट पैदा कर दिया है। इस विषय पर आपका क्या मत है?

### पुनर्विभाजन राजदण्ड के ओर से

—व्यवस्था की सहजता और सुविधा की दृष्टि से भाषा के आचार का निर्णय हुआ था। क्या आप नहीं मानते कि एक प्रदेश में यदि व्यवस्था और राज-काज एक भाषा के द्वारा चलाया जा सके तो उसमें सुविधा है? एक से अधिक भाषाएँ प्रान्त में चली हों तो सम्भव था कि प्रान्त भी अंग्रेजी भाषा का आश्रय लेने को मजबूर हो जाता। हिन्दी और पंजाबी इतनी दूर हैं भी नहीं लेकिन वहाँ भी लगड़ा है। इस तरह भाषाभार राज्य के सिद्धान्त में तो कोई गलती न की उससे व्यवस्था सुबह ही होती और होगी। फिर जो अनिष्ट पटा और भाषाभार विभाजन कई अप्रह्व झुल की मशियों की पार करके ही किया जा सका उसका कारण तो यह था कि हमने राजसक्ति के मरोसे काम करना चाहा लोक-सक्ति का मरोसा हमसे छूट गया। लोक-सक्ति के बल से यह होता तो देश का नफसा मरता हुआ बीसता। स्वराज्य जाने तक कांग्रेस के पास उस लोक-सक्ति का बल था। राज-मह पर चढ़ बैठने पर कांग्रेस भ्रम में पड़ गयी कि अब वह अधिक सक्तिमान् है। किन्तु राजसक्ति पक्ष-दण्ड से सम्मिश्रित होने के कारण ही यह भ्रम देने लगती है कि वह प्रबल है। यद्यपि कि उस सक्ति के ओर से कोई काम

स्वाधी नहीं होता और भाषाप्रश्न काम भी मुरिख बन जाता है। किंग समय कांप्रेस ने भाषाप्रश्न प्रान्त का निर्णय किया वह लोकप्रतिष्ठ-सम्पन्न संस्था थी। वही कांप्रेस लोक-यात्रा की सैपारी में से लोकसेवा के दल पर, यदि देश का सहज पुनर्विभाजन करती तो बंधुओं के जमाने की देश की मनमानी क्षणितता दूर हो जाती और एक प्राकृतिक विभाजन हमारे हाथ लगता। पर कांप्रेस की मूर्ख दक्षिण व लोक-प्रतिष्ठ से अपने को गिरा किया और दण्ड-प्रतिष्ठ के बल-बुते काम करना शुरू किया। तब कुछ लोगों ने अगर दण्ड के जोर से अपना प्रान्त और अपना राज्य बना देने का संकल्प उठाया तो यह उनके लिए सर्वप्रथम बात ही थी। कांप्रेस सरकार ने भी आखिर उस तर्क के साथ निर मुकामा पहुँचे उमी उम्मे के तर्क ने भाषाप्रश्न-विभाजन का मुकामला भी किया था। भाषा निरूपण एवम् कि उम्मे के जोर से किया जानेवाला या किये की अनधिकृत करनेवाला काम दण्ड-प्रतिष्ठ के विरुद्ध को बनाना में भी उद्दीष्ट करता है। कांप्रेस यदि आज भी हुकूमत से काम चलाने की रीति से होनेवाली सति की अनुमति न करे, तो अपनी ही समझी जायगी। लोप प्रकृत रूप से ही यह चाहें कि राज-प्रजापतियों में वही व्यवस्था-केन्द्र है भाषा लोकपाल की भाषा लिखी-बोली जाय। भाषाप्रश्न प्रान्त के निर्णय में इसी प्रकृत सिद्धान्त की स्वीकृति थी। उस भाषा पर होन-वाला पुनर्विभाजन यदि अग्राह्यिक ज्ञान पड़ा और चुन-बाउरी हो निकली तो वह हम कारण कि हमने प्रकृत सिद्धान्त के व्यवहार के लिए अग्राह्यिक प्रक्ति का उपयोग किया। लोक भाषा का कारण यदि चुना तो वह काम न करके गड़बड़ होना बल्कि सबकी प्रसन्नता का कारण होता। लोक-प्रतिष्ठ नैतिक होती है और मयाज में यदि वही स्वाधी और विरोधी तत्त्व हों भी, तो उनको सहज बदलना करना की जमाना समझ होती है। लोकप्रतिष्ठ एक ऐसा बल है, जो मयाज राजनिक तत्त्वों का अनायास निष्फल कर देता है। किन्तु सामने यदि राज-दण्ड हो तो मयाज-प्रतिष्ठ तत्त्वों को उभरने और बरपमान का अवसर मिल जाता है। यही हुआ और एक बहुत परिवर्तन बनिष्ठ मयाज और कष्टवादी बन गया। इस कारण उत्पन्न हुई सामनाएँ अब तक भारतीय राजकारण की रीत नहीं तन दे रही हैं।

**भाषा राजनीति का अर्थ जानो**

भाषाएँ कई बल कमरों में चलने-फिरनेवाली थीं नहीं हैं। वे तो भारती मयाज और उनके विस्तार में से प्रकृत होती हैं। भाषाओं में बरस्पर सेन-द्वैत अनिवार्य है और कोई प्रयोग ऐसा नहीं हो सकता जहाँ भाषाएँ और उनके लक्षण

१। २। ३। ४। ५। ६। ७। ८। ९। १०। ११। १२। १३। १४। १५। १६। १७। १८। १९। २०। २१। २२। २३। २४। २५। २६। २७। २८। २९। ३०। ३१। ३२। ३३। ३४। ३५। ३६। ३७। ३८। ३९। ४०। ४१। ४२। ४३। ४४। ४५। ४६। ४७। ४८। ४९। ५०। ५१। ५२। ५३। ५४। ५५। ५६। ५७। ५८। ५९। ६०। ६१। ६२। ६३। ६४। ६५। ६६। ६७। ६८। ६९। ७०। ७१। ७२। ७३। ७४। ७५। ७६। ७७। ७८। ७९। ८०। ८१। ८२। ८३। ८४। ८५। ८६। ८७। ८८। ८९। ९०। ९१। ९२। ९३। ९४। ९५। ९६। ९७। ९८। ९९। १००।

## भाषाभार



५. बीछी का निर्माण  
नहीं बैंक जार्ड  
मागरिकता ५

बाला हुआ और फिर माया की पुनर्जाति माया राजनीतिक पुनर्जाति के रूप में पड़कर बाटने और बाँटने का हथियार बन गयी। राजनीतिक चेतना और साम्य-वादिता का मर के कारण है, जिसने दुर्बलताएँ बढ़ित हुई। जय्यमा माया का आधार प्रदेश-सीमा के निर्णय की सुविधा के लिए प्रकृत और सहज आधार है।

### प्रादेशिक आत्म-निर्णय और राष्ट्रीय एकत्व

१७३ प्रदेशों की आत्म-निर्णय एवं आत्म-विकास का पूरा अधिकार होना चाहिए। पर साथ ही देश की एकता की रक्षा भी अनिवार्य है। इन दोनों विरोधी-ले दोहरे वाले दृष्टिकोणों में आवे नहीं सामंजस्य पत्ती है?

### कानून विभाजन

—सामंजस्य जनता में है। प्रदेशों की सीमा-रेखा नक़्शों में साफ़ दिखेगी परती पर बिछे क्षेत्रों में न उसे पहचाना भी नहीं जा सकेगा। इन क्षेत्रों में काम करती हुई जनता रहती है। वहाँ हम समय भी एता है। वे क्षेत्र सीमा-रेखा के बाहर पार मिस-मुल्क काम बनाने हैं। सीमा-रेखा मजबूत और गहरी उन्हें चाहिए, जिसने काम का सम्बन्ध हम से कम है कानून न ज्यादा है। यह ही सफ़टा है कि वो पड़ोसियों में ये एक बनने जिन्नी क्षेत्र के लपड़े-कैमके के लिए वो सी सील उत्तर की तरफ़ जाता है और दूसरा वो सी सील दक्षिण की तरफ़ जाता है और हम तरह बराबरी तरीके से वे दोनों आपस में दूर और बिभाषी बन जाते हैं। पर अब तक बीच में बराबरी और कानून नहीं है, और जीवन के अधिकार नाम में ये बीजें उपस्थित नहीं हो पत्ती है वहाँ तक दोनों पड़ोसी हैं और निम्ने-मटे हैं।

### सांस्कृतिक एकत्व

देश की एकता प्रदेश की अनेकता के कारण बन-बैठ नहीं जाती है। यदि एकता मजबूत राजनीतिक कानून से और सुधार नाम की संस्था के माध्यम से बीबी और इकट्ठी की हुई होगी तब अन्ततः प्रदेशों की अनेकता में वह गन्दे में पड़ जायगी। पर भारत मजबूत नहीं हवाएँ बपों से एक और अविच्छिन्न बना बना आया है यह स्वयं इतिहास स्वीकार करता है। यह अन्ततः अन्त एकता, इतिहास बताता है कि भारत के सिवा मात्र नहीं भी देखी नहीं जाती है। लेकिन हम सारे काल में भारत घायल ही कभी राजनीतिक दृष्टि से एक और अविच्छिन्न रहा है। राष्ट्रीय स्तर पर निर्भर नहीं रही, इन्हीं ने वह एकता कभी

प्रवेश पाव बिना रहें। देश के सभी प्रधान नगर बहुभाषी और कॉस्मोपोलिटन हैं। कलकत्ते में अ-बंगाळी मारवाड़ी हैं। दिल्ली में पंजाबी हैं मद्रास में तेलुगु हैं। इस तरह कोई बड़ा सहर नहीं है जहाँ इतर भाषाभाषी न हों। यदि हम एक बार भाषावार प्रान्त बनाने की प्रकृत बात में से यह सापासत और प्रान्तगत अस्मिता की वासना अपने होते हैं, तो इन महानगरों का जीवन टूटने लग जाता है और विश्वास की जगह संशय घर कर लेता है। यही सामय भारत के जीवन में घटित हुआ है। इस कारण नहीं कि भाषा का आधार लेना गलत है, बल्कि इस कारण कि जिस शक्ति के आधार पर विभाजन हुआ वह योजक नहीं विभाजक शक्ति थी। समर्पण की नहीं साधन की शक्ति थी। भीतर से स्नेह और पारस्पर्य में से वह सीमांकन नहीं हुआ था बल्कि अधिकार और श्रेष्ठ के श्रेष्ठ से बनाया था। इसलिये वह प्रतिस्पर्धी और द्वन्द्व की जगह बना। बैर और अनैक्य की भावना को वह महत्त्व कर बना। कम से बंसाळी-जासामी साब रहते जाये न। एक दूसरे को पगपाने में दोनों का बड़ा हाथ था। पर भाषा के नाम पर आप जो यड़की तो अब तक के पड़ोसी एक साथ खुशमन बन जाये। यह दुर्घटना होने से टस नहीं सकेगी अगर भाषा की राजकारण का अस्म और आयुष बनाया जमया। भाषा मिळती है और मिळानेकी। वह स्वयं भी परस्पर मिळती जावनी अगर उस पर स्वत्व का बोझ नहीं डालेंगे न उससे अपनी सत्ता की प्राचीर बाँधेंगे बल्कि उस आधिष्ठातृ की सुविधा से परस्पर आवाज प्रधान के क्षेत्र का विस्तार साधना चाहेंगे। इस उपबोझ में जाकर भाषा संस्कृति का उपकरण बनती है जैसी कि वह है।

### भाषावार प्रान्त प्रकृत

निरुचम ही सब भाषाएँ मिळकर इतिहास में से एक भारतीय बोली का निर्माण करती जायी हैं। यह मिळी-जुली बोली अमुक नाम के नीचे नहीं बँब जाती। प्रादेशिकता उसके साथ नहीं रही है। सामय उसका आधार नागरिकता रहा है। हिन्दी का जन्म उसी प्रकार हुआ। उसका विकास भी उसी अन्तःप्रान्तीय रूप में हुआ। स्वयं भारतीय विकास में अन्तर्भूत तर्क था कि हिन्दी या हिन्दुस्तानी यहाँ की राष्ट्रभाषा होती। कारण हिन्दी कोई इस या उस जगह की भाषा न थी। यह तो व्यापक पैमाने पर अन्तर्भाषीय व्यवहार की सुगमता के लिये बन जायी थी। लेकिन अब प्रकृत तर्क को छोड़कर अनेक भाषाओं की स्वकीय नेतृताओं की उत्तमन से बचने के लिये हमने अंग्रेजी की अपमाना तो माने एक असरब को भगनाया। उसका प्रभाव सभी भाषाओं की अर्ध-नेतृताओं को उद्दीप्त करने

माया हुआ और फिर माया की पृथक्ता मानो राजनीतिक पृथक्-भाव के हाथों पड़कर बान्धने और बाँधने का हृदयार बन गयी। राजनीतिक चेतना और राज्य-मन्त्रि का मर के कारण हैं जिनमें दुर्बलताएँ मरिचि हुईं। अन्धमा माया का आभार प्रवेश-सीमा के निर्णय की सुविधा के लिए प्रकृत और सहज आचार है।

### प्रादेशिक आत्म निर्णय और राष्ट्रीय एकत्व

२७३ प्रदेशों की आत्म-निर्णय एवं आत्म-विकास का पूरा अधिकार होना चाहिए। पर साथ ही देश की एकता की रक्षा भी अनिवार्य है। इन दोनों विरोधी-ले सीधे-बाँधे दृष्टिकोणों में आप कहाँ सामंजस्य पाते हैं?

### कानून विभाजक

—सामंजस्य बनना में है। प्रदेशों की सीमा-रेखा नक़्शों में साफ़ दिखेगी बरती पर बिछ बेजों में वृ दये पड़ना भी नहीं जा सकेगा। इन बेजों में मान बरती हुई बनता रहती है। वहाँ इस समय की एकता है। वे रोम सीमा-रेखा के भार भार मिछ-बुछकर काम बलाने हैं। सीमा-रेखा मरनुष और यहूरी उन्हें चाहिए, जिनके काम का सम्बन्ध धर्म से कम है कानून से ज्यादा है। यहूरी मरता है कि जो पड़ोसियों में से एक बनने जिन्नी केत के लपड़े-कैमल के लिए दो सी सीमा उत्तर की तरफ़ जाता है और दूसरा दो सी सीमा बलियन की तरफ़ जाता है और इन छछ अशांती लपड़े से वे दोनों आपस में दूर और विभायी बन जाते हैं। पर अब तक बीच में अशांति और कानून नहीं है और जीवन के अधिक भाग में वे बीचों उगमित्र नहीं हो पाती हैं, वहाँ तक दोनों पड़ोसी हैं और मिने-सटे हैं।

### सांस्कृतिक एकत्व

देश की एकता प्रश्न की अनिवार्यता के कारण बट-बँट नहीं जाती है। यदि एकता सम्बन्ध राजनीतिक कानून से और सम्भार नाम की सम्भा के माध्यम से बेसी और दृष्टि की हुई होनी छब बचप प्रदेशों की अनिवार्यता से वह लपड़े में पड़ जायगी। पर भारत में वहाँ नहीं हटारों बरों से एक और अविच्छिन्न बना बटा भाग है यह स्वयं इतिहास स्वीकार करता है। यह सम्भव असस एकता, इतिहास बताता है कि भारत के विभाजन नहीं भी देनी नहीं जाती है। केवल इस कारे काम में भारत साधर ही कभी राजनीतिक दृष्टि से एक और अविभाज्य रहा है। राजकीय लपड़ पर निर्भर नहीं रही इन्हीं वह एकता बनी

दूरी नहीं और निरन्तर कायम रही। वह एकता मन में भीगी हुई थी ऊपर के नियम से बनायी गयी नहीं थी। इसलिए ऊपरी माना जानेवाले लोगों को अपने में समझे रखने में उसे कोई विषयता नहीं थी। सांस्कृतिक ऐक्य का यही सञ्चय है। वह एकता एकक्यता नहीं माँगती। युनिफॉर्मिटी के दावे पर ओ मुनिटी होती है वह कट्टर पड़ जाती है। सह्य नहीं हो पाती। उस प्रघासन और घासन के जोर से बामे रखना पड़ता है।

### एकता विघासन की हूँ

यदि हम मूक में लोक-भावनामूलक शक्ति और पुष्टि अपनावें तो देश की एकता और प्रवेश की बिबिधता में कोई बिरोध नहीं दिखाई देगा। सकट और उल्लसत बनेगी तो तब जब हम उस एकता को प्रघासन में बाँटना और जुटाना चाहेंगे। तब राज्यों की स्वायत्तता केन्द्र के लिए असुविधा और मय का कारण हो सकती है। किन्तु यदि प्रघासन के नहीं बिबिधता के बल पर केन्द्र मजबूत हो तो राज्यों के आत्मनिर्भर की क्षमता उसके केन्द्र के लिए सुविधा की चीज हो जाती है। केन्द्र तब बहुत-सी परेशानियों और छोटे-मोटे सवालों से बच जाता है क्योंकि राज्य-घासन अपनी कबहु पर उनसे निबट लेता है।

### मैतिक केन्द्रीकरण, कार्मिक विकेन्द्रीकरण

इससे आप देखेंगे कि एक सीधा सिद्धान्त हाथ लगता है। वह यह कि केन्द्रीकरण उत्तरोत्तर मैतिक हो कार्मिक अधिकारिक विकेन्द्रित होता चला जाय। ऐसे जीवन बिबिधता भी नहीं और ऊपर का बनाव भी कम होता चला जायगा। मान स्वीकार करना चाहिए कि राज्य इससे उल्टी दिशा में बढ़ रहा है। अर्थात् उसकी सत्ता चीज की ताकत रखकर मजबूत बनती है। बिबिधता फीज उतनी बनता से दूरी ऐसा एक माना जा सकता है। जनता का पूरा बिस्वास यदि सत्ता के पास हो तो क्यों न यह मान लिया जाय कि सकट के मौके पर जनता का एक-एक आदमी मोझा बना दिखाई देगा। विकेन्द्रित राज्य-मज्जति का मैं यही अर्थ होता है और उसी पुष्टि से उसका समर्थन भी करता हूँ। विकेन्द्रीकरण का धर्म बिबिधता भर ही केवल केन्द्रहीनता तो बैज्ञानिक प्रगति के साथ उसका निमाव नहीं हो सकता। बिबिधता के हम सबको इतना मिकट का दिया है कि मानव-जाति का जीवन संरिस्त बनने की ओर बढ़ेगा ही वह बिबिधता और अनिमित्त बच नहीं रह पायेगा। इसलिए विकेन्द्रीकरण का सारांश आत्मा का बिबिधता नहीं है बल्कि अर्थो-उपागों का स्वयं-समर्थ होना है। हमारे शरीर के अनोपान बया

यह अनुभव करते हैं कि उन पर बहुत है? यह अनुभव होतां ठह है, जब व्यक्ति स्वयं होता है। स्वयं व्यक्तित्व में इन्द्रियाँ और धूमरे शरीर के कार्मकायी उपकरण बनाया काम करते हैं और किसी प्रकार के केन्द्रीय नियन्त्रण का अनुभव नहीं करते हैं। इसका आशय यह नहीं कि केन्द्र में हृदय या बुद्धि और उनके भी पीछे का यह या आत्म मूल्य या कुल है। बल्कि अर्थ यह कि केन्द्र स्वयं और प्रबुद्ध है। केन्द्र में जब कुछ भी देने का आग्रह नहीं होता है, कुछ अपरिग्रह होता है, तो अवस्था के साथ उसका सम्बन्ध समीचीन रहता है। हृदय कुछ भी रहने अपने पास रोक रखना चाहे, तो तत्काश शरीर-यंत्र विगड़ जायगा और जीवन संकट का अनुभव कर उठेगा। इसी प्रकार समाज-शरीर में भी केन्द्र जितना बुद्ध नैतिक आध्यात्मिक होता जायगा उतना जन-जन में अधिकतम और पराक्रम जायेगा और सम-कर्म में हृदय और स्नेह का योग होगा। कर्म जब ऊपर के अक्षय ने अपना मजबूती और वेतन के लोभ से होता है, तो सम में वह उल्लाह और सुजन भाव नहीं रहता है। तब सम अपने को बिकता हुआ अनुभव करने के कारण मन्द और बढ़ पड़ता जाता है। अस्व-राज्य की निर्मलता जब तक बढ़ती राज्य नैतिक और कर्म-मुक्त होने से उल्टा जन्मा वह अपने हाथ में अधिकतम एकत्रकमुनि सत्ता रखना चाहेगा। इस मोह में राज्य पायेगा कि उसे वेतन-भोवी कर्मचारियों की जमात बढ़ते ही जाना पड़ रहा है। एक की पहरेदारी के लिए दूसरे और दूसरे की चौकसी के लिए तीसरे को तैनात करना जरूरी हो रहा है। ऐसे कारणों की संख्या-बुद्धि के अनुपात में उनमें भिन्नवादा काम बढ़ता जाता है और सही समाज पर काटी है। अनुपादक अनुपात उल्लाहक सम पर हावी बन रही है। कम्युनिस्ट-पद्धति में डिक्टेटोरशिप तो मानी जाती है, लेकिन वहाँ एक अर्थ में हम डिक्टेटरीकरण का प्रयोग देखा जा सकता है। वहाँ राज्य काटी स्वायत्त और आत्म निर्णयसम्पन्न है और केन्द्र के हाथ कुछ विन चुन विषय रह गए हैं। दोष में केन्द्र का काम उनका बीच मूल विरोध का रहता है। नैतिक केन्द्र करण और सामिक डिक्टेटरीकरण की मैं सही दिया मानता हूँ। जब बार बल से हमारी राजनीतिक समस्याएँ अपनी कसी नहीं दिखाई देती और राष्ट्रवाद मानव जाति की धृष्टता में बाधक की जगह गांधी का निकलना ऐसा मरा विवदास है।

### हिन्दी और अहिंसावादी प्रवेश

१७४ भाषा उत्तर सङ्गति हो गया। मैं इस प्रश्न को भाषा के पक्ष में समझना चाहता था। बलिष्ठवादी जो यह अनुभव करते हैं कि हिन्दी उन पर बोपी का



रही है और केन्द्र को बार-बार यह अनुभव होता है कि माया का प्रश्न लेकर प्रवेश अधिक आसानी मिलते और बरतते जाते हैं इस बारे में आपका क्या कहना है? पंजाबी घुबे का मामला भी इसी समस्या का एक अंग है। उस पर भी मैं आपके विचार जानना चाहूँगा।

## हिन्दी और दक्षिण

—सबसे संगत यहाँ नहीं पुरानी बात याद रखना है कि राजनीतिक दृष्टि और दक्षिण समस्या बनती है, सांस्कृतिक दृष्टि उसकी सुलझा सकती है।

मह बात सही है कि दक्षिण में हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने के प्रति अनमनापन है संभव है। दक्षिण के प्रति उत्तर की प्रभुता का अभिमान उसमें बीज पड़ता है इसलिए प्रतिरोध भी है। यह संभव कैसे दूर हो? बह-प्रदर्शन से सहाय बह सकता है कट नहीं सकता। इसलिए यह काम राजनीति और राजनेता के बस का नहीं है।

निम्न जीवन का तर्क अपना काम करेगा ही। समिल प्राप्त या किसी दूसरे दक्षिण प्राप्त को अपने में सिमटना नहीं है, बल्कि फैलना और अपने घुमों का विस्तार करना है तो आवश्यक होता है कि वे उन माध्यमों को अपनायें जिनसे उनकी सीमितता खुले और व्यापकता आवे। बाहिर उची मद्रास में अधिकाधिक हिन्दी-फिल्में क्यों बन रही हैं? कारण किस्मबाजे को राजनीति से बांस्ता नहीं है व्यवसाय से काम है। व्यवसाय वस्तुस्थिति को अपनाता है उस पर बहाव आने की कोशिश करके नुकसान उठाने की मूर्खता नहीं करता।

## जीवन का प्रकृत तर्क

प्रत्येक भारतीय क्यों न भारतभर का हो यह इच्छा स्वाभाविक है। अपने यश और प्रभाव का विस्तार कौन न चाहेगा? एक बार राजनीतिक दृष्टि का पोलकागन प्रकट हुआ और लोगों को अपने-अपने सीधे स्वार्थ और हित रक्षण की मुबिबा हुई, तो स्वयं जीवन का तर्क उन्हें सही बिधा पर ले आवेगा। अभी तो राजनीति की प्रभावता होने के कारण स्थापित स्थापों की बन धापी है। भोगप्राप्त उच्चस्तरीय सरकारी भोग बहका और बरबसा पाते हैं। जब अंततः जाहमी अपना भला-बुरा पहचान सकेगा तो वे कुनिम समस्याएँ उसके मन की फेर नहीं पायेंगी और जीवन का प्रकृत तर्क अपना काम कर सकेगा।

### अंग्रेजी पर निर्भरता

सार्वजनिक जीवन में कुछ मुश्किल उत्पन्न होते हैं। वे बोलते और राजनीति का निर्माण करते हैं। भय से उन्हें झुंटी होती है और अन्य किसी निर्माण की जगह पास कला नहीं होती। राजनीति के ऊपर चढ़े रहने से ऐसे लोगों का महत्त्व बढ़ता और लोग का कारण होता है। यदि जीवन पर इन कृत्रिमताओं का बहाव न आये तो भाषाओं का प्रश्न दिखाई न देगा। कारण हर एक को एक-दूसरे की और बढ़ने की आवश्यकता अनुभव होगी और भाषाओं का परस्पर आपस प्रदान अपने भीतर ही लक्ष्य से ही जुड़ेगा। इस अनीष्ट-सिद्धि में अंग्रेजी ने जाकर व्यवधान डाला है। भाषा भाषाएँ अंग्रेजी के द्वारा आपस में मिलने की वक्रता से छूट जाती हैं। नहीं मिले बिना मुक्ति नहीं है। अंग्रेजी में नहीं आपस में मिलना होता। कारण अंग्रेजी से व्यक्ति बहुत बेबी और स्तर में अपना प्रभाव बनाता है, भारत से एक नहीं हो पाता। भारतभर से यह एकता साधने की आवश्यकता अनुभव रहनेवाली नहीं है और जाये-बीछे अंग्रेजी की सर्व मान निर्भरता अनीष्ट और असह्य सिद्ध होगी।

### पंजाबी भाषा

पंजाब का प्रश्न भाषा का नहीं है। उसमें कुछ दूसरे भी पेश हैं। पंजाबी सब बोलते हैं। कम तक यह उर्दू लिपि में लिखी जाती थी। पश्चिमी पंजाब में आज भी लिपि उर्दू है। मुश्किली लिपि पंजाब के अतिरिक्त और नहीं नहीं है। नाम ही बताया है कि यह गुप्त के मुख से बली है और पवित्र है। यह धार्मिक भाषना भी उसके साथ मिल जाती है तो प्रश्न पटल हो जाता है। धार्मिक अन्तर्सम्बन्ध का भाव दिखाने में रहे तो क्या हो? सिख ब्रह्मचर कीम है और उसे अपने अस्तित्व को उठाकर सत्ता में उभारने की आकांक्षा हो सकती है। पंजाबी सूबा बने तो सिलों को हर क्षेत्र में अपना जीहर फैलाने का अवसर आ सकता है। उनकी इच्छा है कि भारत की अवस्था कि उसमें कितना अवसरस्त भारत प्रेम है और पश्चिम सीमान्त पर वे देश की सुरक्षा का भार अपने कंधों से सकते हैं। वे सब स्वाभाविक भावनाएँ हैं। लेकिन जल्द देखिये कि भाषा के साथ इसमें कुछ अतिरिक्त उत्पन्न मिल जाते और बात की कुछ पेचीदा बना देते हैं। राजनीतिक दल से वे पेश नहीं करते। आखिर बल-पराक्रम के खेलों में से तो सिल कीम ने अपना स्वल्प पाया है। बल-प्रदर्शन में वह फिर पीछे क्यों रहे? इसीच्छा राजनीतिक दल पर, जहाँ बीजे दल से उलटती-मुलटती है, वह प्रश्न बिगड़ गया दीखता है।

### जीवन और संस्कृति की अस्तित्वार्थ

भाषाएँ बनती हैं मित्रता की अपरिहार्यता में से। तदनुकूल वे बिकसित पायी हैं। वे जीवन विस्तार का काम देती हैं। राजनीति का काम जब उनसे लिया जाता है तो भाषा का अपमान और मुकसान होता है। प्रकृष्ट में वे संस्कृति का माध्यम हैं। पंजाबी ये हिन्दी के प्रति बढ़ने की प्रवृत्ति न हो, यह असम्भव है। राजनीति उस सहज प्रवृत्ति पर इबाध लाती है। कितने पंजाबी केवल हिन्दी में भिन्न रहे हैं अनेक सिद्ध हिन्दी के विद्वान् हैं। वह प्रक्रिया हुए और बड़े बिना रह नहीं सकती। राजकारण में हिन्दी-पंजाबी प्रश्न चिन्ता भी बरमादा क्यों न रहे, नीचे-नीचे हिन्दी-पंजाबी का यह हैल-वेक बढ़ रहा है। इसलिए मैं आपसे कहूँगा कि प्रश्न के राजनीतिक रूप पर आप हुरान न हों वह बहुत ऊमरी है। उसके नीचे जीवन की और संस्कृति की जा अस्तित्वार्थ काम कर रही हैं उन पर मरोसा रखें। उनको बल पहुँचायें उन्हें ऊपर उधारें। सब सम्भव हो सकेगा कि सांस्कृतिक प्रेरणा राजनीतिकों की प्राप्ति हो। उस समय समस्याओं का रूप बदल से एक-दूसरे सरल प्रतीत होया और आज जो फाड़ने के काम जाती है, ठीक वे ही नीचे जोड़नेवाली बन जायेंगी। विज्ञान की तरक्की से पहाड़ और समुद्र बाँटनेवाले अब नहीं रह बने जोड़नेवाले बन गये हैं। हिमालय क्या पता एक दिन विश्व का प्रमोदीघान हो जाय और सुरक्षा की पाँठ की बात ही नहीं न रह जाय। इस जीवन की प्रगति में मन बढाने की देर है कि भाषा बाँटने से मिळानेवाली चीज बनी दीयेगी। काम वहाँ करना है, मानी मन को तबिक-सा कर दे लेना है। फिर तो समाधान वहाँ रखा ही हुआ है।

### अंग्रेजी से एक सुविधा

१७५ राजाजी को अंग्रेजी की ओरबार बकायत करते आये हैं क्या वह अन्तर्राष्ट्रीय नहीं है? आपकी राय में अंग्रेजी का भारत की संस्कृति और राजनीति में क्या स्थान अभी बाकी है? क्या एक दिन जर्मी की तरह वह भी भारतीय भाषाओं की सुधी में अपना स्थान बना लेयो?

—अंग्रेजी के जरिये भारत को सुविधा रहेगी कि वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना महत्त्व का स्थान बनाये रखे। अंग्रेजी उसके संस्कार में यादिल हो गयी है। यह भी प्रकट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कारोबार में अंग्रेजी ही सर्वमान्य भाषा बनने वाली है। इस सुविधा से भारत की अहित नहीं दिना जा सकता।

### अंग्रेजी सोकरभाया नहीं बन सकती

केवल इसके आगे उस भाषा की विधेयता भारत के हित में नहीं है। भारत

उस पराभव के कारण क्षिप्त हुआ पड़ा है। अगर अंग्रेजीवाँ लोग हैं जो येनी के रूप में बलग कटे-छँटे दीखते हैं। नीचे असंख्य जनता है, जो इस वर्ग को विस्मय से देखती रह जाती है और आसानी से उनके आतंक में बची रहती है। यह विशिष्ट-सामान्य का बर्ग-विभाजन भारत का अमिट अहित कर रहा है। यह सच्चे अर्थों में भारत को लोकतन्त्र नहीं बनने देगा। इस कारण यह तब वर्ग तन्त्र बना रहता है लोक-शक्ति भारत के राजकारण में आ नहीं पाती। भारत का आत्म-बल कर्म-बल नहीं बन पाता। परिणाम यह कि भारत पश्चिम की उन्नति की पीली गल्ल-सा रह जाता है आत्मप्रतिष्ठ नहीं बन पाता। यदि भारत के पास कुछ देने को है तो वह उसका आत्म-दान है। अंग्रेजी के द्वारा हम सिर्फ पश्चिम का अक्स दुनिया को देते हैं, अपना आत्म नहीं दे पाते। दुनिया की भी इस तरह बहुत बड़ी क्षति हो रही है। एक महादेश जिसके पास हजारों वर्ष पहले गयी हुई एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक परम्परा है जिसके पास बर्मेनीतिक क्षेत्र का अमिट अनुभव और ज्ञानकोष है वह देश मानो केवल अंग्रेजी की निर्मरता के कारण मानव जाति के सचित कोष में से एक साध जूट हो जाता है।

यह अपने देश की और मानव-जाति की हतनी बड़ी क्षति है कि राजनेता बयोगे तो एक क्षण उसे नहीं सह पायेंगे। जिसकी बेर सजते हैं उतना ही उन्हें पीछे परचाताप करना पड़ेगा। वे अनुभव करेगे कि भारत की अमंख्य जनता में से प्राप्त होनेवाला वह जो वे अजित नहीं कर पाये लोक-शक्ति से बलित और बिहीन बने रहे, उसीके कारण उन्हें एक दिन वहाँ से मिरना पड़ा। कोई भी वह जब तक लोक-भाषा का सहारा नहीं लेता स्थिरता के मान भारतीय राज्य के शीर्ष पर नहीं बैठ पायगा। और यदि किसी व्यक्ति-बल से वह वहाँ बैठना और बैठ रहना तो ठीक वही बल भारत की आत्मा को कुचलमेचाला होगा। मार्ग के पाम एक नहीं अनेक समुद्र और समर्थ लोक-भाषाएँ हैं उनमें कोई भी एक राजभाषा का स्थान न सक्ती है। सामर्थ्य की दृष्टि से अपनी लोक-भाषाओं में कमी मानना पश्चिम प्रभुता की पूजा में पड़ना और मानविक वास्तव की मिर लेना है। यह कमी मत्व नहीं हो सक्ती कि भाषा में कमी है होनी है तो कमी सग साँचा के मनों में होनी है जिसकी वह भाषा है। अंग्रेजी के द्वारा काम चकानवाला वर्ग अपनी लोक-भाषाओं में वह सामर्थ्य अनुभव नहीं करता कि राज-नाम बला सके तीसह स्वयं अंग्रेजी भाषा की आलोचना है। अंग्रेजी यदि व्यक्ति को इनका निर्भीय बनानी है कि वह अंग्रेजी का योग नहीं मानना बल्कि उसकी प्रभुता के नीचे आ जाता है तो इसीमें अंग्रेजी का दोष प्रकट हो जाता है। अंग्रेजी को यदि यह शक्ति मिली कि भारतीय जमाने अमार

तीय हो जाय अपने वैयवस्थियों से बात करने और काम केने कामक न रह जाय तो यह व्यक्ति अंग्रेजी की न थी उन लोगों के आत्म-विश्वास की बुटि में यह शक्ति थी थी। राजनेताओं की बुद्धिमत्ता कहनी चाहिए, आत्महीनता कहनी चाहिए कि वे अंग्रेजी से काम नहीं केते जितने अंग्रेजी के काम जाते हैं। यह अतिरिक्त शक्तता उन्होंने अंग्रेजी की थी है। अंग्रेजी में बहुत बड़ा सुभीता है हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियों के पास। लेकिन वे तो अंग्रेज के भी चाहते थे कि यह भाषा हिन्दुस्तानी के लिए सुविधा न बन पाये, उन्हींके हाथ की सुविधा बनी रहे। हम पश्चिम के और उसकी सम्पत्ता के हाथ खेल रहे होंगे यदि अंग्रेजी को अपनी सुविधा न बनायेंगे बल्कि अपनी निर्भरता बना लेंगे।

### राजाजी व्यामोह-ग्रस्त

राजाजी व्यक्ति यह नहीं पहचानते यह नहीं माना जा सकता। अंग्रेजी पर उनकी इतनी प्रभुता है कि उस भाषा के प्रति वे अब तनिक भी मोह की आवश्यकता में नहीं रह जाते। उस भाषा का तनिक भी आशंक उन पर नहीं है। इसीलिए केवल वे तमिल भाषा के हैं और उनकी केवली मुक्त और सहज है। किन्तु राजनीतिक व्यामोह से जो वे छूट नहीं पाते हैं उसी कारण उनमें संशय पैदा होता है। उत्तर बनाम दक्षिण की बात मन में उठते ही उन्हें अंग्रेजी में सुरक्षा मानस होती है। राजनीति की चोटों से उनका मन अस्वस्थ न बन गया होता तो वे कभी ऐसी बात कहनेवाले न थे। वे श्रुति हैं, अन्तर्ग्रह्य हैं। केवल राजनीति ने जो उन्हें अत-विस्तृत कर दिया है, उसीके कारण वह बहुत प्रभाव या विभाव उनकी ओर से जा सकता है। उस बाणी में राजाजी नहीं हैं केवल उनका भाव है। इसलिए जैसे उद्धारों पर विशेष बैठकने की आवश्यकता नहीं है।

### अंग्रेजी को भारतीय मान लिया जाय

अंग्रेजी चाहे एक वर्ग में सही यहाँ सबा के लिए रख-रख मयी है। इसलिए आत्मविश्वास की एक भाषा के रूप में उसे भी भारतीय स्वीकार कर लेने में हर्ष नहीं। साहित्य-अकादमी में उसे भारतीय भाषाओं की गिनती में रख ही लिया गया है। यहाँ बहुत कुछ नैतिक है, जो अंग्रेजी में लिखा गया है। विवेकानन्द और बाबा टी गैहक नहीं हैं, लेकिन उनका अविनाश केवल अंग्रेजी में हुआ। राजाहृष्ण ने जितना लिखा भारतीय वर्तन को लेकर लिखा लेकिन अंग्रेजी में लिखा। श्री अरविन्द भारतीय योप के अग्रतिष्ठ व्याख्याकार है,

लखिन सिद्धते अंग्रेजी में रह। मेहक भारत के बाबिप्यार में कये रह है लेकिन इस प्रयोग की भाषा अंग्रेजी है। इस सब निषि का मारण सो नहीं छूना। अनुवाद द्वारा उस अपना बनाय मूल को पराया पिन यह गळती भी उसम सम्भव नहीं है। यह सब देखकर अंग्रेजी को भी एक भारतीय भाषा मान रखन में ही सत्य का बाहर है, यह स्पष्ट है।

## उर्दू हिन्दुस्तान की है

लेकिन उर्दू की तरह अंग्रेजी कभी न हो पायी। पाकिस्तान तो कल बना है लेकिन उर्दू हिन्दुस्तान क बाहर कहीं आपकी नहीं मिलेगी। वह एकदम हिन्दु-स्तान की भाषा है। प्रवेश की नहीं है, हिन्दुस्तान की है। उस भाषा को एक अपना प्रदेश मिल यह कष्ट अगर उर्दू में हुआ (हुआ तो वा और घमद सब भी उसका कहीं अवशेष हो) तो यह अकल्पनी नहीं कहलायेगी। हिन्दी का क्षेत्र पान-अनजान उर्दू का भी क्षेत्र है और केवल पाकिस्तान बन जाने से यह सत्य बदल नहीं जाता है। बोली में ये दो भाषाएँ नहीं हैं केवल एक भाषा की दो रीतियाँ हैं। लिपि के कारण वे दो हैं, लेकिन लिपिवाला यह दोपण एक सीमा तक ही काम करता है। सत्य के बावजूद पर ही चलनेवाले पाँबीबी ने 'हिन्दी' यानी हिन्दुस्तानी का मूत्र इमीलिए दिया था। वह मूत्र पुराना पड़ गया है, लेकिन उसकी सत्यता को याद रखना भाषा के क्षेत्र में बाव भी उपयोगी हो सकता और उत्सर्जन को मुम्माने में बड़े काम आ सकता है।

१७६ वास्तुस्थिति की दृष्टि से भाषा की बात सीलह जाने सत्य है। पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर क्या यह भी सत्य नहीं है कि उर्दू की उसी प्रकार आक्रान्ताओं द्वारा हिन्दुस्तानियों पर बोर्षा पयी विष प्रहार कल ही अंग्रेजी बोयी गयी है। जो इन दोनों भाषाओं के पास अपने प्रदेश नहीं हैं वह इस बात का सबूत है कि ये लौक-आवाएँ नहीं हैं और इन्हें राजनीतिक विषयता का परिचाय हम मान सकते हैं। इस बारे में आपका क्या कहना है?

## उर्दू का जन्म और विकास

—सोपनवालों का इरादा चाहे उम प्रकार का रहा हो लेकिन हम इरादों से नहीं लड़ सकते। मेरा अपना यह भी मानना है कि मानवीय इराद इतिहास की प्रक्रिया में जिंगी बड़ हनु के हाथ वाम में ही आते हैं, स्वयं में नहीं चलेते हैं। इसलिए उम बारे में व्यथ होन की आवश्यकता किसीक लिए नहीं है। प्रश्न व्यावहारिक होकर बटना तक ही अपना सम्बन्ध रख सकता है। मैं नहीं

मानता कि आक्रमण भाषा बोध सकते हैं। आक्रमण के लिए बकरी है कि आक्रमण से अपना सम्बन्ध बनाये अन्यथा आक्रमण के निकट अपना अर्थ ही समाप्त हो जाता है। इस सम्बन्ध में से ही एक नवीनता जन्म पाती है और एक नए सम्बन्ध का युग आरम्भ होता है। उर्दू का जन्म इस प्रकार हुआ। उर्दू आक्रमण को अपने साथ नहीं लाये थे। जिस भाषा को वे साथ लाये थे और जो भाषा हिन्दुस्तान में पहुँचे से मौजूद थी दोनों के संगम में से उर्दू उठी। घरती हिन्दुस्तान की थी। उर्दू जिसको कहा गया उसकी जमीन अपनी असल नहीं है फारसी-अरबीवासी जमीन नहीं है। यहीं से खड़ी बोली हिन्दी का भी जन्म हुआ। ऊपर के तबके के लोग जो बाबसाह के किसी कदर नजदीक थे भारतीय की जमीन पर फारसी-अरबी के रूपों से काम लेते थे। सामान्य जन देसज और तत्सम शब्दों के सहारे चमते थे। यही खड़ी बोली यानी हिन्दुस्तानी हुई, जिसकी मजमिस्ती खैली पीछे जाकर उर्दू कहलायी। जनसाधारण में वही खड़ी बोली हिन्दी बनी। दोनों के नीचे घरती अर्थात् व्याकरण भाषा की भूमिका एक थी शब्दों का ही हेर-फेर था। यह उर्दू बोली हुई नहीं कही जा सकती संगम की अनिवार्यता में स उपजी ही कही जा सकती है। अंग्रेजी की बात उससे भिन्न है। उर्दू हिन्दुस्तान के लिए किसी भी अर्थ में विदेशी भाषा नहीं थी। विदेश में बोली तो क्या काटी कही समझी भी नहीं जा सकती थी। उससे भिन्न इम्किदा थी ही इम्कैण की। किन्तु अंग्रेजी को जान-बूझकर अंग्रेजी सत्तानत न यहाँ जमाना और बोधना चाहा। इससे जानबूझ कर जाकर इस ऐतिहासिक तथ्य को व्यवहार के माते हमें अपनाना ही पड़ेगा और इस पर सट होने की भी आवश्यकता नहीं है कि अंग्रेजी आज यहाँ एक जमुक वर्ष में आम चलन की भाषा है। सादर वर्ग के बीच अन्तर्जानतीय सार्वजनिकता के लिए तो मानी एक वही भाषा रह जाती है। परिस्थिति ने इस तथ्य को मान लेना ही उचित है। किन्तु बाह्य अंग्रेजी-व्युत्पत्ति का हेतु इतिहास में इसके पीछे कोई भी क्यों न रहा हो।

### उर्दू का प्रादेशिक न होना उसका बल

इन शाना भाषाओं के पास यदि अपने प्रदेश नहीं हैं तो यह तर्क क्या उनके पास में भी नहीं माना जा सकता? कब तक हिन्दी के विपक्ष में ठीक यही तर्क दिया जाता था कि वह अपन सहो रूप में कहीं भी बोली नहीं जाती। अब तो हिन्दी किसी भी प्रदेश-विशेष की भाषा नहीं है। हिन्दीभाषी राज्यों में सचमुच ही आप जनपदों तक जाइये तो उनकी अपनी-अपनी बोझियाँ मिल जायेंगी।

बस सबकी भोजपुरी बुझी राजस्थानी मैथिली आदि-आदि किछी ही भाषाएँ हैं जिन्हें उपभाषा कहना होता है। यह तर्क कि हिन्दी कहींकी भी भाषा नहीं है इतिम और बोली हुई है सचमुच गम्भीरता से दिया जाता था। मौकों से सिद्ध किया जाता था कि हिन्दी-भाषामायी बंगला मुबराती मराठी भाषियों से बसल में बहुत ही कम और नगण्य भर है। किन्तु क्या यही बल में हिन्दी का बल भी नहीं है कि वह स्वयं में जड़ित नहीं है प्रादेशिक नहीं है वह कहीं बेंची और बन्द नहीं है। वह सबको अपने में धमाती और अपने द्वारा मिटाती हुई बसनेवाली भाषा है। मैं समझता हूँ उर्दू और अंग्रेजी के साथ भी यह सङ्गठित है कि वे किसी प्रदेश-विशेष में सीमित नहीं हैं। वे भाषाएँ यदि इसी बुझिषा को अपनी बसुबिषा समझेंगी तो उस समय को क्या कहा जायगा ? एम्बो-इथियन लोग माइनारिटी के नाम पर अंग्रेजी भाषा पर अपना दावा रखें तो इससे अंग्रेजी की शक्ति और मान्यता बढ़ेगी या बढ़ेगी ?

कुछ पहले सचमुच मेरे पास उर्दू के कुछ शानी यह कहते हुए दस्तखत माँगने लगे थे कि हिन्दुस्तान की बसुबिषय में उर्दू को कोई अपना हक्का निलम्बा चाहिए। मैं धुक् से उर्दू का प्रसंस्क और हिन्दुस्तानी का समर्पक रहा हूँ। लेकिन मैंने उन्हें कहा कि उर्दू के हक में मैं नहीं समझ सकता कि एक छोटा या बड़ा हक्का पाकर आप कैसे ठसस्ती मान सकते हैं। उर्दू उस सब दूर तक जा सकती है जहाँ तक हिन्दी जाती है। आप उर्दू के होकर उसीके पीछे क्यों मुहताशी मारते हैं ? प्रदेश की माँग बन्द है तो मैं उसे भाषा के सच्चे प्रेम का लक्षण नहीं मानता हूँ।

### अंग्रेजी की अनिवायता

१७७ अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमें अंग्रेजी को लेकर ही जाना पड़ेगा इसके सिवा और कोई चारा नहीं है आपकी यह बात मेरे लक्ष्य नहीं उतरती। बस चीज आदि कई देग हैं जो जाहे प्रतिप्रतिताबस ही सही अंग्रेजी का पूरा तिरस्कार करके चलते हैं और अपनी-अपनी राष्ट्रीय भाषाओं को लेकर ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उतरते हैं। तब भारत के लिए ही ऐसी अनिवार्यता आप क्यों मानते हैं ?

### भारत में अंग्रेजी व्याप्त, सहज

—जहाँ अंग्रेजी के प्रति कभी उनका तिरस्कार 'पूर्व' नहीं हो सकता। यह ठीक है कि अंग्रेजी की निर्मलता से वे मुक्त हैं और भारतवासी जब जरूरत-जबजरत आपस में भी अंग्रेजी बोलते बीचते हैं तो उनके मन में सचमुच विस्मय और नवजात का भाव होता है। इसलिए आन्तरिक तौर पर भारत को भी अंग्रेजी के आधिप



नहीं रखना है। लेकिन आज के दिन भारत की ओर सयह आग्रह ही कि हिन्दी अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति पाये और उसी छत पर भारत अन्तर्राष्ट्रीयता में भाग ले, तो वह उपयुक्त न होगा। उस और तीन यदि अपनी-अपनी भाषाओं को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में काम करते हैं और अनुवाद का बार घुसरो पर छोड़ देते हैं तो वह उनके लिए ठीक-संगत है। लेकिन भारत में ऐतिहासिक संघर्ष के कारण ही जाहे हो, अंग्रेजी भाषा का परिचय इतना व्याप्त और सुव्यव रत है कि फिर अंग्रेजी का पान-बुझकर बर्जित करना और हिन्दी में ही बात करना अर्थात् और हठका का सूचक हो जाता है। उस प्रकार की अस्मिता को मैं उचित और आवश्यक नहीं मानता हूँ। भारत का वह इतिहास न रहा होता जो कि रहा तब प्रकृत या कि वह अपनी वैस भाषा लेकर समझ जाता और उसीके हाथ उसका आविष्कार रोप बिम्ब को प्राप्त होता। आज उसकी प्राकृतिक नहीं कहेंगे हठ-बादित कहेंगे। कल्पना की जा सकती है उस परिस्थिति की जब भारत की राजनीति में लोकजीवन का एक और प्रकाश जाता है। भारत का सब काम-काज भारतीय भाषा में होने लगता है। भारत का आत्मबोध सही-सही अंग्रेजी के हाथ हो नहीं सकता और भारतीय भाषा भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सुनी जाती और वह स्तर पा जाती है। आज वह दिन और वस्तुस्थिति नहीं है। सामान्यतया प्रतीत होता है कि वह दिन यदि बीनकर ही न जाया जाय तो स्थिति ठीक से निकट भविष्य में आनेवाला नहीं है।

**अंग्रेजी को राज्य-भाषा रखना गसत हुआ**

१७८ में समझता हूँ हमारी प्रथम भारतीय सरकार ने अंग्रेजी को राजभाषा के रूप में क्यों-कान-स्यों रखकर बहुत बड़ी गलती की। यदि तत्काल ही किसी भी एक भारतीय भाषा को केन्द्र की राजभाषा का स्थान दे दिया जाता तो पहले-पहल कुछ कमिनाई तो अवश्य होती पर तब के लिए पराधीनता का यह बम्बन टूटकर बिकर जाता और तब वास्तव्य और भारतीय लोगों/संस्कृतियों का उचित और बर्बर सम्बन्ध भारतीय जन-जीवन में हो जाता और, जिस कल आपने कहा था-आपको यह दिखायत न होती कि, हमारे कूटनीतिक विदेशों में अन्दर भारतीय रह ही नहीं पाते। वे एकदम अनारतीय बने खींचते हैं।

**आत्म-निष्ठा की कमी**

—ही उन विषय में भारतीय विचारकों ने आत्मनिष्ठता की अपने में कमी दिखायी यह मानना हीना।

सबसे भारतीय-जीवन के अन्त्युत्पन्न और बाहर भारतीय प्रतिष्ठा में बहर भाषा बापी है। अगर साहस के साथ स्वतन्त्र भारत भारतीय भाषा को अपना सकता तो हर क्षेत्र में भारतीयता का प्रकाश हो सकता था और वृत्तावर्धों में हमारे बूट नीतिक बन कुछ उसकी सुगन्ध बाहर ले जा सकते थे। वैसे आज नहीं हुआ और यह खेर की बात है।

१७९. भारतीय विषयकों में आत्मनिष्ठा की इस कमी के क्या कारण थे? किन राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में उन्हें अंग्रेजों का बरकदार रखने और इस प्रकार उसे भारतीय जन-जीवन में एक स्थायी स्थान देने पर विवश किया?

### आत्महीनता

—सबसे बड़ी बात तो यह वर्मबाद का प्रवाह है, जो वैज्ञानिक और औद्योगिक परिष्कार के क्षेत्रों से बहकर भाषा और यहाँ के सासक-वर्ग को मानो अपने आधार से उखाड़ कर ले गया। उस नीतिक-सम्पत्ता के व्यामोह में जान पड़ने लगा कि भारतीय भाषाएँ अपर्याप्त हैं अंग्रेजी समर्थ और सबल है। आज भी शिक्षावत् सुनी जाती है कि राज-काज दूसरी भाषाओं में चल नहीं सकता क्योंकि उनके पास आवश्यक शब्द नहीं हैं। विद्वत्विद्यालय के स्तर की शिक्षा का माध्यम वे भाषाएँ नहीं बन सकती हैं क्योंकि उनका ज्ञान उन भाषाओं के पास नहीं है और पाठ्य-पुस्तकें नहीं हैं, इत्यादि। यह कमीबता हमको इसलिये अनुभव हुई कि हम कुछ उमर के बर्ग के लोगों का मानस पक्ष से उस बारे में ऐसा ही बन चुका था। हमने हीनभाव आ गया था और हमने अपने को जान-बूझकर तकरा करनवालों की स्थिति में कर लिया। अब तक राज्य-स्तर पर यह प्रक्रिया चल रही है और भारतीय वर्गत्व का स्पर्ध वहाँ नहीं दिखाई देता है।

### हिन्दी का मोर्चा उबू से ठना, अंग्रेजी से नहीं

परिस्थिति के और निकट आने से स्वराज्य के समय साम्प्रदायिक भाषा न मूल राष्ट्रीय प्रश्न को हमारे सामने से तत्काश के लिए ओझस कर दिया था। भाषा के क्षेत्र में भी उस मनोभाव ने सुसीलत पैदा की। ऐसा मान्य होने लगा था कि हिन्दी को मोर्चा सर्वू से लेना है। इस तरह अंग्रेजी के साथ का हिन्दी का मार्ग हीना हो गया। उर्दू को गिराकर मानो हिन्दी गुप्त हो गयी और उच्च समय पता न चला कि अंग्रेजी से जो उस हारना पड़ा वही उसकी बगली हार थी और वह धरि राष्ट्रभाषा से आज राष्ट्रभाषा को भी पहुँची थी। हिन्दी का प्रश्न अभी से मानो राष्ट्र-स्तर से जिसककर वर्गीय और साम्प्रदायिक स्तर पर आ गया

और राष्ट्रीय स्तर पर जँघिनी जा पहुँची। इसमें बड़ा शोक मैं हिन्दी-नेतृत्व का मानता हूँ, जिसके पास समय पर कल्पना का जमाव देखा गया और निरा एक भाषा-मोह। गांधीजी ने हिन्दी को जो व्यापक परिभाषा दी थी और जिसकी बुनियाद मानकर बपौं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अपना काम करता रहा वा साम्प्रदायिक प्रभाव के प्रवाह में वह वहाँ से बिय गया। जब राष्ट्र के लिए जो एक भाषा हो सकती थी वह उसके पास से छिन गयी और खामी हारों में जनायास अंग्रेजी जा बैठी तो मानना चाहिए कि बाहर से आया वह पश्चिमी सम्प्रदाय का प्रभाव और अपने भीतर ■ उठा खण्डित साम्प्रदायिक भाव स्वदेश में बिदेसी भाषा अंग्रेजी के राज्यभाषा के तौर पर ऊपर आ जमने के खनिष्ट में कारण हुआ।

१८० क्या कभी आपके मन में यह आसंका पैदा होती है कि भाषा के प्रश्न को लेकर देश का कोई भी भाग झुठकर जगना हो सकता है जपवा हो जायगा ?

—राज्य और राज्य-नीति अगर हमारे बीच प्रधान बनी रही तो भारत खण्ड-खण्ड हो इसमें मुझे अचरज न होगा। भाषा जरूर इस काम आ सकती है क्योंकि उस पूबङ्ग संस्कृति पुषक अस्तित्व आवि का प्रतीक और प्रभाव और आयुष बना लिया जा सकता है। ■

## अव्यवस्था और अपराध

व्यवस्था के लिए पोली-काय

१८१ स्वतंत्रता के बाद आन्तरिक व्यवस्था और शांति का प्रश्न बहुत काजी बहल रहा है। कितने ही प्रतिक्रियावादी तत्त्व हुए हैं और सरकार को उनका नियन्त्रण करना पड़ा है। कितने ही मजदूरों पर सरकार ने दमनकारी कानूनी कृत्य किए हैं, जिसके परिणामस्वरूप बहुत-से लोग मरे हैं, घायल हुए हैं और जन-जन की शक्ति हुई है। भारत की राय में एक राष्ट्रीय सरकार कितनी दूर तक व्यवस्था के नाम पर ऐसे कठोर कदम उठाने के लिए जायेगी ?

लोकतन्त्रीय दामे पर सावधान

—शासन के पास पुलिस है और वह सामान्यतया प्रशासन के काम के लिए पर्याप्त होती चाहिए। अपराध के प्रति पुलिस के पास रहे अस्त्र का भी उपयोग कभी हो सकता है। लेकिन सार्वजनिक दामे पर यदि कोई ऐसे भ्रूण पड़ता है, जिसके समन और प्रतिरोध के लिए प्रशासन को पोली और काजी का सहारा लेना पड़े तो इसकी प्रशासन के लोकतन्त्रीय दामे पर सावधान मानना होगा। वह सरकार अपनी लोकतन्त्रता के प्रति अभिमान रखती है, जो सार्वजनिक दामे पर और प्रदर्शनों में पोली चलाने पर उत्तर देने को मजबूर होती है। वह प्रभाव इस बात का है कि सार्वजनिकता में सरकार के सम्बन्ध इतने प्रबल रहते नहीं हैं, जो असाधारण तत्त्वों पर भारी पड़ें और इस तरह सामान्यतया 'को एन्ड ऑर्डर' को सुरक्षित बनाये रखें। पोली और फौज का उपयोग जिसे सार्वजनिक मामलों में करना पड़ता है, वह सरकार राजतन्त्रीय अधिक है, जनतन्त्रीय कम है यह नारीय साफ है। सिद्धान्तगत नैतिक अपराधों के अविरल पोली चलाने की आवश्यकता होती नहीं चाहिए। अपराध घात और मारपीत व फौज के उपयोग की नीयत आती है, तो कहीं बड़ी त्रुटि है यह मानना चाहिए। जनतन्त्र जनता के विश्वास पर बल्लेबाजा लगता है, यह यदि सच हो तो जनता में स्वयं के तत्त्व होने चाहिए, जो 'को एन्ड ऑर्डर' को रक्षित बनाये रखें। अपराध वैयक्तिक होता है फिट-बुर बुर भी बने होते हैं तो सार्वजनिक सम्पत्ति उनके

पीछे नहीं होता और इसलिए वे जोर-छिपके काम करते हैं। खुदा ब्रह्म यदि सामने बीजे और उसके समन के लिए सरकारी छाठी-पौड़ी के सिवा कोई उपाय न रह जाय तो इसमें शासन की हार है, क्योंकि कोरे प्रशासन की बीत है। भारत में स्वराज्य माने के बाद कांग्रेसी सरकार को अनेकानेक बार पौड़ी का सहारा देना पड़ा है और इससे कांग्रेसी सरकार निर्बल बनी है। स्वयं गोली पर उतरकर उसने जनतन्त्रीय भाषा में अपनी निर्बलता प्रकट की है। इतना ही नहीं निर्बलता की राह को भी स्वीकार किया है। यदि जनतन्त्रीय रहने का उसका संकल्प ही तो इस असमर्थता को लेकर उसे शासन में उतर आना चाहिए और समाज में बहिष्कृत तत्त्वों का बल बढ़ाने में सज्जना चाहिए। ऐसा नहीं तो लोकतन्त्र जाने जनजाने राजतन्त्र की ओर बढ़ रहा होगा इसमें संदेह की पुंजाइस नहीं है। बम्ब से होनेवाला शासन राजतन्त्रीय है। लोक-विश्वास के बल से बल सज्जे-बाका शासन ही लोकतन्त्रीय कहला सकता है। सच्चा लोकतन्त्रीय शासन हिंसा के व्यापक उपकरणों के उपयोग में नहीं गिरेगा यह मान लेना चाहिए।

### विरोधी बलों की जिम्मेदारी

१८२ खुदा ऐसा हुमा है कि विरोधी राजनीतिक बलों ने धीरे-धीरे धीरे रूप में काम किया है और अपने राजनीतिक हितों को बढ़ावा देने के लिए जनता के इस या उस वर्ग को अनुचित रूप से उत्तेजित किया जबकि किसी भी एक समस्या का कुपययोग सरकार के विरुद्ध जीम पैदा करके किया है। ऐसी स्थिति में कांग्रेसी सरकार बच, कोई भी सरकार होती तो उसे नीतियों का आश्रय लेना पड़ता—कांग्रेस-नीतियों के इस तर्क से आप निश्चयी दूर तक सहमत हैं?

### गोली-काण्ड विरोधी बलों की जीत

—संकट की स्थिति थी इसीलिए पौड़ी बनी यह खीली खीली चर्चा है। चीक के लिए गोली चलानेवाला पागल हुमा करता है, शासक नहीं हो सकता। इसलिए यह प्रश्न ही नहीं है कि सरकार सफाई के कि परिस्थिति की किस मजबूती में गौली बमानी पड़ी। सफाई तो हो सकती है और होती है। इन हाथों में सरकार के पास अवश्य अपना केस होता है और उसमें एक तर्क-संपत्ति भी होती है। किन्तु प्रश्न दूसरा है और वह यह कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न क्यों हो जाती है? विरोधी बलों में यह शक्ति हो कि हिंसा करना लें तो जीत विरोध की होती है। शासन जनतन्त्रीय है तो इसका मतलब यह है कि हिंसा की वैधानिक शक्ति समाज में अपनी ओर से समुक्त बहुमतवाले बल को सीप बी है और समाज स्वेच्छा

से उससे विमुक्त हो गया है। खपर वह विमुक्त नहीं है, बल्कि हिंसा समाज में इतनी मौजूद है कि शासन की बीच हिंसा से ही उसका मुकाबला किया जा सकता है, तो अनतन्त्रता और लोकतन्त्रता जैसे शब्द फिर जाते हैं। इन शब्दों में ही समित है कि केवल वह हिंसा समाज में शेष बची है जो वैयक्तिक और छिटपुट अपराधों के रूप में प्रकट होती है। शेष उस हिंसा की आवश्यकता को सरकार को सौंप दिया गया है। लोकतन्त्रीय शासन का इसके सिवा दूसरा अर्थ नहीं है। इसलिए कांग्रेसी शासन विरोधी राजनीतिक पार्टियों को शेष दे सकता है वे शेष सही भी हो सकते हैं, लेकिन ऐसा वह करे, इसमें में ही शिख हो जाता है कि वह पूरा लोकतन्त्रीय नहीं है।

### शासन हिंसा का उपयोग

अन्त में यह स्वीकार करना चाहिए कि शासन स्वयं कुछ मिलाकर, अहिंसा का नहीं हिंसा का उपयोग है। इसलिए सच्चा और सही-बादमी शासक कभी बनेगा ही नहीं। वह जनता में ही रहेगा, उनके चिर पर नहीं बैठेगा। शासन को इस तरह जान-भूझकर अमक पतिस्थितियों में हिंसा को अपनाते की सूट रहती है। वैसा न होता तो फौज और जस्ट-सिस्टम का अर्थ ही न था। उस हिंसा को बीच और उचित भी मान लिया जाता है। लेकिन शासन-संस्था का विकास हिंसा से अहिंसा की ओर है। और सरकार वह सबसे है, जिसे सरकारण की कम-से-कम बकल होती है। मल-शासन उत्तरोत्तर दण्ड-शासन से दूर और उत्तम होता जाय इसीमें शासन की सार्थकता है। कांग्रेसी शासन को तो और भी इस प्रगति की दिशा का ध्यान रखना है, क्योंकि वह बाँबी-परम्परा और आधी-बाँध में से हुकूमत तक पहुँचा है।

### असहयोग और आजाद-अंग

१८९ पाँचवीं ने असहयोग और आजाद-अंग को सत्याग्रह के जियोप अन्त के रूप में इस्तेमाल किया था और बिधापियों को कांग्रेसी सरकार के विरुद्ध बैठा करने के लिए आकड़ किया था। पर आजाद-अंग की यही प्रवृत्ति आज राष्ट्रीय सरकार के सामने एक भीषण समस्या बन उठी है। जिसकी जरा भी अतन्त्रोप अथवा दीप्त होता है और जो कुछ लोगों को अपने चारों ओर इकट्ठा कर सकता है, वह सरकार के शास मोर्चाबन्दी करने के लिए तैयार हो जाता है। ऐसी परिस्थिति को शुभ नहीं माना जा सकता। आजाद-अंग की इस प्रवृत्ति के सम्मुख के लिए आप क्या सुझाव दे सकते हैं?

अवज्ञा बस नहीं, व्यक्त करे

—सही कहते हो। फल यह निकला है जो हम बोते हैं। अवज्ञा आत्मा-भंग इच्छाव जिन्हावाय जाति की शिक्षा देते समय हमें प्रिय लगा था। भोयते समय जान पड़ता है कि यह शिक्षा सही नहीं थी।

यह बात भी सही है कि कानून की अवज्ञा और कानून का भंग व्यक्ति के हक में शामिल हुआ तो यह गांधीजी के कारण था। कानून का मुकाबला तो सदा ही होता आया है। लेकिन उस मुकाबले को अपराध माना जाता था जोह माना जाता था। गांधीजी ने अधिकार और कर्तव्य के रूप में समाज-जीवन में इसका प्रवेश किया। यह बहुत ही बिस्फोटक तत्त्व था। गांधीजी ने उसके सहारे एक अनूतपूर्व आंदोलन भारत देश में पैदा कर दिया और मैं समझता हूँ कि तत्त्व चिन्तन के लिए नयी सामग्री भी प्रस्तुत की। समाजवादी विचार के सामने यह बड़ा प्रश्न गांधीजी ने रख दिया। मैं मानता हूँ कि ठीक यही बतलनाक चीज है, जो गांधीजी का सबसे बड़ा कीमती दान है। समाजवादी विचार व्याप और अधिकार को बहुमत के ह्रास में दे देता है। मानो इस तरह तत्त्व ही स्वयं बहुमत के पास पहुँच जाता भ्रम हो जाता है। गांधीजी ने यह बिस्फोटक सिद्धान्त दिया कि एक अनेकता जातमी भी सारी दुनिया के संगठन के खिलाफ बड़ा ही सकता है। संगठित कानून की अवज्ञा कर सकता उसका भंग तक कर सकता है। सकता नहीं बल्कि चाहिए। और जब तक एक व्यक्ति और नागरिक इस प्रकार वर्तन करता है, तो प्रगति का मूल और तत्त्व समर्थित सत्ता के पास न रहकर व्यक्ति के और व्यक्तियों से बने समाज के पास जा जाता है।

क्रान्तिकारी विचार

यह विचार क्रान्तिकारी विचार है और समाजवादी-साम्यवादी जाति सब सामाजिक विचारवाजों के लिए बेताबनी बन जाता है। मानो तमाम नीतिक विचारवाजों के सम्मुख यह अव्याप्त की प्रतिष्ठित कर देता है। अर्थात् यह विचार इस मुक्ततत्त्व की स्थापित करता है कि ऊपर से जानेवाला संचालन इसीलिए कि ऊपर से और बाहर से आता है सत्य नहीं है। संचालन भीतर से आता है और वही सत्य है। अलंकरण में यह प्रक्रिया है जिससे इतिहास बनता है और काय बनता है। उसीसे जगत्-व्यवस्था जैसे ही तो समाधान होया अवज्ञा बहुमन्यवता का सत्य अमर्य हो जा सकता है।

अवज्ञा, पर सविनय

केविन गांधी का यह अवाचित नान्तिकारी विचार भारत की राष्ट्रीय और

राजनीतिक कांग्रेस के पास आकर मानो अपना आध्यात्मिक और वैचारिक महत्त्व खो बैठे। कांग्रेस में अग्रगण्य को लिया सविनय को छोड़ दिया। अग्र को लिया अग्र को छोड़ दिया। कांग्रेसको आत्मिक फल की आवश्यकता थी और विधानियों, यमिकों सामीप्य को कर्तव्य में नहीं केवल आग्र में उभारकर बहु फल पाया जा सकता था। गांधीजी उत्तेजना से एकदम काम नहीं लेना चाहते थे। उस ठण्डी प्रेरणा बना लेना चाहते थे जो उत्पन्न और उबलकर बैठ नहीं जाती विन्दगी को अन्त तक चलाये जाती है। गांधीजी का वह सविनय और अग्र इन विरोधों पर इतना था कि अग्रगण्य और अग्र का इनके अभाव में वे विचार नहीं कर सकते थे। विनम्रता और अग्रता यह हर हाल में अपनाये रखने के स्थायी युग्म थे। उनके बिना जैसे मनुष्य को अपना प्राथमिक अधिकार भी नहीं प्राप्त होता था। कांग्रेस के लिए ये विरोध मानो केवल गांधीजी के माते स्वीकार्य थे अन्यथा वे उसके मन में नहीं थे। वे मानो राजनीतिक क्षेत्र को रोक्ने-बाँधने से प्रकट करनेवाले नहीं थे। कांग्रेस का यह अर्थ फलाकांक्षा में यह उसका मूल मूल्यों को उत्तेजना देना जब प्रतिफल में उसी पर लौट कर आ रहा है तो कांग्रेसी शासन को बड़ा अजब मामूली होता है। स्वराज्य की लड़ाई में जो राजनीतिक प्रसिद्धि लिया और इसके नैतिक अर्थ को अनावश्यक मानकर इनने छोड़ दिया वही आज के राजनीतिक परिपाक में फलता आ रहा है। इनका अग्र अग्र में मुख्य है तो जीविये युनिवर्सिटी के ये सारे जवान इन मुख्य को ठेका उठाकर इनका अग्र करने लगे आ रहे हैं। आप उस इनका अग्र को छोड़-मोली से क्या कहना करना चाहते हैं? आपको पताचल सामग यह है कि ये अग्र कौन उठाते हैं अधिष्ट हैं अधिष्ठ हैं, वे उत्पात और उपद्रव करते हैं यदि। तो आपने विनय और अग्रता को उत्तम अनिवार्य कर माना था ?

### सत्याग्रह धर्म-मुक्त

मैं मानता हूँ, या तो हमको लौटकर बहुसंख्यक विचार की न्याय्यता में पहुँचकर धामन की रीति हिंसा की धारण लेनी और विधानियों की अनुशासन-हीनता को अग्र से अग्र में रूपना होगा अन्यथा गांधीजी ने अग्रगण्य का अर्थ से अग्र के रूप में महाप्रतिष्ठापनी और विस्फोटक सत्याग्रह का जो उत्पन्न दिया उसको अपने पूरे फलितार्थ में स्वीकार करना होगा। वह यह कि सत्याग्रह धर्म है एक है कर्तव्य है लेकिन धर्म के साथ ही पूर्ण सत्य वह सविनय और अग्र ही। यह विनय और अग्रता की धर्म मानो सारी राजनीतिक अर्थ को सामूहिक मन्त्र्य से बेटी है। उसकी अन्तर्भाव्यता को अग्रकर रचनात्मकता प्रदान करती है।



विद्यार्थी राजनीति के चक्कर में

युवक-शक्ति देश की सबसे बड़ी बेन और बाती हुआ करती है। वह साफ़ हो, तब तो उस शक्ति का कहना ही क्या? वही यदि नकारात्मक बम बोमों तो दोष उन मूर्खों का है जिनसे समाज और राज्य बनते हैं। उपाय यह नहीं है कि युवकों का दमन और बचन हो। उपाय यह है कि उनमें रचनात्मक स्वप्न जाये और उनकी सामर्थ्य-सम्माननाओं को अवकाश और भाग प्राप्त हो। नैतिक बर्तनार्थों से काम नहीं चलनेवाला है। उनसे व्यक्ति बनती और बनती हो, तो वह जीवन-सर्क के प्रतिकूल हो जायगा। उनमें जो अपने प्राणों की प्रयोग में डालने की क्षमता है, खतरा उठाने का हीसबा है तो ये तत्त्व कीमती हैं। निपेक्ष और निपेक्ष में इसलिये लगे हैं कि विद्यार्थी और रचनात्मक उनके पास कुछ नहीं है। यदि आवश्यकता राजनीतिक रही और वही नीति-नीति समाज में ऊपर उठने और सफल होने की बनी रही तो विद्यार्थियों को उस ओर से किसी तरह विमुख नहीं किया जा सकेगा। बसबाव अगर हमारे राज्य को बचानेवाला है, तो मुटबाव हमारे विद्यार्थियों को क्यों न बचायेगा? जीवन एक और समय है। हम अपने लिए एक नीति रखें और विद्यार्थियों में उससे कोई दूसरी नीति चले तो यह नहीं होनेवाला है। निरवविद्यालय में वही बसेगा जो बाहर समाज में चल रहा होगा। केवल इस मुनिबा से कि हमारी उम्र कुछ बच गयी है और हम विद्यार्थी नहीं रह गये हैं ऐसा नहीं हो सकता कि हम बलबाजी और बगबाजी से बचें और नीति-पाठन और अनुपातन बाकि को विद्यार्थियों के लिए छोड़ दें। वे बाकक अन्त में हमारे हैं और हमसे भिन्न नहीं हो सकते। बाककों के लिए माता पिताओं को और विद्यार्थियों के लिए नेता-प्रणेताओं को स्वयं अपने से आरम्भ करना होगा। ऊपर राजनीति में जो चलता है, विद्यार्थी आगिरपड़-कितकरवा उमे देवने-समसने के लिए आगिरही नहीं पा पाता है? वह मूर्ख और अरु समय आयागा अगर अपने बड़ों हैं इतना भी नहीं सीखेगा कि अगर उनमें आने बड़कर नहीं दिया सकता है, तो उनका अनुकरण तो करे। इनीसे राजनीति का बोसबाला विद्यार्थियों केनीच गूब बिप्राई देता है उसका अम्मास भी करया जाता है। मुनियनबाव भावी उनने: प्रशिक्षण का अर्थ है: तब फल कुछ दूसरा भीस जा सकता है?

शिक्षा का ठावर डाँचा जिम्मेदार

१८४ स्वतंत्रता के एहदम बाव क्या नेहुक और भीलाना आबाव को नहीं चाहिए बा कि बुरानी नीकरताही केडावे पर बलनेवाली शिक्षा में अनिवार्य परिवर्तन करये

और उसे ज्विष्ट रचनात्मक एवं कल्पनाशील बनाने ? शिक्षा के इस अपरिचित पुराने डहर-डबि को और उसके माध्यम से शिक्षामन्त्री को आप कितनी दूर तक वर्तमान 'नो एन्ड जार्डर' की समस्या का कारण मानते हैं ?

—जी नहीं नेहरू और आचार्य इसलिये नहीं हैं कि मेरी और आपकी इच्छाओं से बर्से । क्या वे अपने में व्यक्ति न रहते ? क्या इतना भी अधिकार न रहते कि अपने को अपनी समझ से बचावें ?

यह हमारी नासमझी के सिवा क्या है कि अपनी समझ को हम दूसरों के कर्णों बिठाकर चला हुआ देवना चाहते हैं । यह बुद्धि का विकार जो प्रश्न को इस रूप में रखता है ।

### कस्कों का उत्पादन

नेहरू-जाजद को कृपया हम जाजद रहने दें । उसके बाव ही यह सच है कि आज की शिक्षा का ढाँचा बीया है । मुख्य यह ढाँचा यही है, जो कस्कों की बरकत के लिए ज्विष्ट हाकिमों की सूझ या और उनके द्वारा चलाया गया था । विद्वन्मत्ता तो यह है कि कस्कों की आज भी सरकार को बरकत रहती है । बेतहाशा बह गये हैं, फिर भी उनसे जनेक नुने दरकवास्तें बेटे रहते हैं और कुछ उनमें से कस्कों की बगल पाते भी रहते हैं । मुझे बताइये कि जो कर्क बतने के सिद्धान्त से पड़ते और कर्क बन पाते नहीं हैं, वे दूसरा काम करें तो करें क्या ? इसलिये बच तक वे कर्क नहीं बनते हैं, तब तक रोजवार से बाकी अपने दिमाग में फिरो करने से कैसे बच सकते हैं ? देहात के और मेहनत के काम अगर कुछ पड़े भी हुए हों तो वे उन्हें करें भी कैसे क्योंकि बाहिर अपनी पढ़ाई को व्यर्थ कैसे करें ? इतनी महत्त्व-मुसीबत और पैस के बर्ब से स्कूल-काजेश से मोहूरिरी उन्हीं सीखी है, वे अपनी शिक्षा के प्रति क्या झूठे न बनें अगर उस मोहूरिरी के सिवा कुछ भी और करने लायक ही सके ? बकरी है उनके लिए कि छात्र बढ़िया और फैनेबिल कपड़े पहनें छठी हुई मईगी बिन्दपी रखें और अपर कस्कों से मुझा जमल से माँ-बाप से इस सब चड़े-बड़े सिवास और और-तरीके के लिए पैसा नहीं आता है, तो कहीं-न-कहीं से छत्र-छित्र से जोर-जुर्म सँपसा बमावें ।

### राजनीतिक दलों के लिए कच्चा मांस

मैं नहीं मानता कि इसमें बेरोजगार युवकों की बकती है क्योंकि बाहिर पढ़ाई सिखाई वे उन्हें बनाया और संवार है । वे मामूली बेहती या क्रियान-तरीके नहीं रह सकते । पसीना बहाने का काम नहीं कर सकते । इसलिये छात्री का जो

सुमन रह जाता है, यह यह कि राजनीतिक पार्टियों के बलमबरदार बने कमलि से कम कोई बात न करें। यह तबका है, जो राजनीतिक दलों के लिए कच्चा मांस मोहय्या करता है। शिक्षा सीमे उस कच्ची सामग्री को तैयार करने में लगी हुई है, यह स्वीकार करना चाहिए। आजाद घरे नेहरू हैं। उनकी शिक्षा एक रोज उन्हें पता चलेगा कि उनके राज की जड़ों को जोर रही थी। सीमे जोरती और बलकाकर जोरती अगर तो एक बात भी थी। यह शिक्षा की दोमा भी हो सकती थी जैसे खुद नेहरू पर ईटन और डेम्ब्रिज की शिक्षा सुवोमित बन गयी। इम्पीय से पायी और इम्पीय को बुर करने के काम लायी तो नेहरू से ऐसे उस शिक्षा को एक गौरव ही प्राप्त हुआ है। लेकिन शिक्षित मुक्तों से बैसा कुछ जानकार यहाँ नहीं हो रहा है। जो हो रहा है यह यह कि जाने-अनजाने समाज और राज्य की चीजन उधेड़ी आ रही है और सरकारी शिक्षा से सरकारी सुपमन पैदा हो रहे हैं। घायर नेहरू यह अनुभव करते भी हैं लेकिन समस्याएँ इतनी राजनीतिक उनके पास रहती हैं राज नीतिक हों तभी उनमें उन्हें उस भी विषेप हीठा है। इस तरह की ठप्पी समस्याओं के लिए ठप्पा दिमाग उनके पास नहीं बचता है, न कोई ठप्पी फुरसत मिठ पती है।

### शिक्षण राज्य से स्वतन्त्र हो

उपर एक विनोबा है जो कहते हैं 'शिक्षण राज्य से स्वतन्त्र हो। राज्य की जिम्मेदारियों को वे जानते और तब कहते तो एक बात थी। उन जिम्मे दारियों में बिरे और परेधान तो नेहरू हैं। वे इसलिय कहें कि हटामो हट शिक्षण को और तो तुम दूसरे लोग इसे सँभालो तो कुछ बर्ष भी हो। लेकिन उन सब परेधानियों के बावजूब बल की और ठण्डक की कमी रहते भी राज्य की जिम्मेदारी को वे महसूस करते हैं और उसे उठाये रखना चाहत हैं। बल न दे पायें तो भी वे देखते हैं कि बेकफयर स्टेट का काम है कि देश के बालकों को शिक्षा दे और कामिस इम्मान बनायें। गिला के मिनिस्टर और संसृति-विधान के लिए कुमरे मिनिस्टर, दोनों मिनिस्ट्रियों के बजट जार्ड हस्क नहीं हैं। यह सारी जिम्मेदारी शिक्षा को राज्य पर भारी है और राज्य उसको पहचानता है। दोष हो सरते हैं कमियाँ हो सकती हैं और सबका मसबिरा और सहयोग इसके लिए चाहिए। नुटियाँ हैं तो वे हमारी हैं और हम बड़े-बड़े सवालियों के बीच हैं। आप आपोचना करते हैं और ठीक करते हैं। लेकिन अगर इरादा हो तो भाइय और नाम में हमारी मरब कीजिये।

## इन्सान का सवाल महम

इस तरह व्यक्ति में बीप नहीं है, बीप वृष्टि में है। वृष्टि यह भ्रमपूर्ण है कि राज्य के मुवाक महम मुवाक है, इन्सान क मुवाक बीपम है। आदमी का कुछ पहली और मूल वास्तविकता है, बाकी चीजें धारणाएँ हैं या बनाने से हमारी और बड़ी बनी हुई हैं। धारणाओं के पीछे एक स माया को जन्म मिलता और आश्चर्य पैदा होता है। वह वृष्टि मरीचिका के पीछे पड़े राजकारण को उपजाती है। जो एक-एक के कुछ को ओतक नहीं करती बल्कि उनका गिनती में मैठी है, वह मानवीय और यथार्थ वृष्टि है। उस वृष्टि से चीजें बन्येरी और बहामी बायेरी तब समाधान की कुंजी काम में आयी ऐसा जन सचता है।

१८५ वैदिक आदिमिक एवं आधुनिक शिक्षा के विरुद्ध, प्राचीन मर्यादाओं के नंग तथा नवीन मर्यादाओं के निर्माण में पूर्ण असमता को आप स्थिती दूर तक भारत के जन-जीवन के हर क्षेत्र में बढ़ती जानेवाली अपराध वृत्ति का विस्फोटक ठहराते हैं ?

## शिक्षा-क्षेत्र में पैसे का प्रभाव

—यै एक छन्द कहुँया कि शिक्षा के क्षेत्र में पैसे के प्रभाव न कहा जायक बाया है। उनसे गुण-विषय का सम्बन्ध बिगड़ गया है, शिक्षक-संस्थाओं का बर्तावरण फिर गया है और शिक्षा का कल्प मनों में उलट-पलट गया है। शिक्षक-संस्थाओं में स्तर बन गये हैं और बड़ आधुनिकों के लड़के एक तरह के स्कूलों में मध्यम के बच्चों में और सामान्य के किन्हीं छीवरों में ही जाते हैं। पुराने गुरुओं के आश्रमों और गुरुकुलों में वह भेद-बर्ताव नहीं सुना जाता था। पैसे की यह प्रभावता भारतीय संस्कृति के मूल्यों को ही उलट बेटी है। उन मूल्यों की पहचान सामुदायिक के रूप से समझी जा सकती है। सबसे ऊपर और बर्गोत्तम सम्पादी होता था। वह अनिवेदन और अहिंसक हुंसा करता था। स्वतः के नाम पर उनके पास कुछ न था मित्रा उसकी वृत्ति थी और परिचयन उसका काम था। सबके सुख-दुख में मिश्रकर रहना था और इसी तरह निजी सुख-दुख से उत्तीर्ण भी बना रहता था। समाज के लिए सर्वोच्च मूल्य का वह व्यक्ति था। पैसा उसके लिए निषिद्ध था और तन की तात्कालिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त न कुछ बह रहता था न फिटा था। पैसा प्रमान समाज में ठीक यही आदमी है, जिसका निजान्त बहमूल्यम ही जाता है। उनका उपयोग मुख्य तक ही नहीं पहुँचता, बल्कि इस वर्ष में अध्यात्मिक बन जाता है कि समझा जाता है, वह जाता ही है उपजाता नहीं है। वहक वही व्यक्ति समाज का शिक्षक और दीपक होता था।

उसकी जागीरबिका या वृत्ति का प्रश्न ही न था। जब मैथिलि उपवेश कुर्सी पर बैठे राज्य-पदाधिकारी नेता के पास से आ सकता है और बिधा सभावाह्वार मुखरिस से मिल सकती है। यह मुखरिस इतनी कम सगन्नाह पाता है कि उसका ध्यान उबर से एक क्षण के लिए नहीं हटता और समाज में वह अपने को हीन मिता है। किसी सम्पन्न और वैशेषाले के बड़के का रोय उस पर आसानी से पड़ जाता है। उस बाळक को शिक्षण देने के बजाय उसकी हुमा पाने की इच्छा उसे अधिक संमत मासूम होती है। ऐसे से मिलने और वी जानेबाधी यह शिक्षा जीवन की शिक्षा नहीं होती जीविका की शिक्षा होती है। ज्ञान तब डिपी में इतिमी पाता है। डिपी पाने के बाद सीखा हुवा सब भुला भी दिया जाय तो हानि नहीं। और सबभुच वह सब भूल जाने में ही जाये और मानी जाती है। अपराध फल है बमित बिहता बेतना का। अन्तर्वृत्तियाँ सब मार्ग और अवकाश नहीं पाती हैं, तो नकारात्मक विद्या अपनाती हैं। ऐसे से बचनेबाका समाज इस प्रकार के माना बबाबो की सृष्टि करता और फलतः अपराधों की उत्पन्न होता है। सीधा आदान प्रदान रुक जाता है, ऐसे के अर्थात् राज्य के माम्मम से ही वह सम्पन्न बनता है। उस प्रकार मानव-सम्बन्धों के बीच एक कृत्रिम प्रभाव का प्रवेश हो जाता है। मासूम होता है कि मानवीय गुण सीधे समाज-जीवन को नहीं सम्नाक और बचा पाते बल्कि दूसरी कृत्रिमताओं के बीच में आ जाने के कारण के सब मन्त्र और बाड़े-टेंके हो जाते हैं। बर्ष-प्रबाल और राज्य-प्रबाल समाज में अनायास समनिष्ठा कम होती है और चाटुकारों का एक वर्ग बड़ा होता है। मन के बनाव में ही यह वर्ग ऊँचा बढ़ता जाता है और इस तरह सारे समाज की मज्जा को समाज-मूल्य को ही बिगाड़ देता है। मानना होगा कि यह समय बर्ष प्रबानता का है और इनीक्षिप् मानवीय गुणों की अपेक्षा से सकट का भी है।

शिक्षा का प्रश्न माँग-पूर्ति से नियन्त्रित न हो

शिक्षण का प्रश्न जीवन का प्रश्न है। उसको सीधा राज्य-व्यवस्था से जोड़ना सही नहीं है। राज्य की तारकात्मिक आवश्यकता को जब सारे शिक्षण-विधि का इष्ट बना दिया जाता है, तो जीवन के आत्म्य से उसका बिच्छेव हो जाता है। परिणामतः हमको व्यक्तित्व-सम्पन्न मानव नहीं प्राप्त होते हैं, केवल तत्काल की आवश्यकता की वृत्ति से फाल्सीदी बन गिरते हैं और कुछ भिन्नकर समाज पारो में रह जाता है। व्यक्तियों की समूची अन्त-सम्भावनाएँ प्रकट और विकसित नहीं होती हैं, बल्कि केवल बड़-गढ़ाकर उनको अमृक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधक बनाकर सन्तोष मान कैसा पड़ता है। अभिव्यक्तीकता और सृजनशीलता

इस प्रकार दृष्टि होती है और हमारे पास बने व्यक्तित्व रहे जाते हैं। राज्य की आवश्यकताएँ आब हो सकती हैं कि सिपाही मिलें कल हो सकती हैं कि कसक प्राप्त हों तीसरे दिन इमीनियर आदि-आदि। उस समय सारे शिक्षण की मशीन को इन नमूनों के लोगों को डालने में लग जाना पड़ता है और काम कुछ ऐसे होता है, जैसे कारखानों में हुआ करता है। आधुनिक को उत्पादन अपना उपयोग के दमक तक सीमित कर देना उसको आध्यात्मिक सम्माननाओं से वंचित कर देना है। मनुष्य यदि मशीन है तो ईश्वरीय और चेतन मशीन है और उसे चेतन्य एवं ईश्वरत्व से तोड़कर केवल वैज्ञानिक जगत् वैज्ञानिक दमक बना देने से मनुष्य की सम्माननाओं के साथ न्याय नहीं हो पाता। यदि रजिये कि स्वयं मौलिक क्षेत्र में जो उपलब्धि हुई है, वह आत्मबान् पुरणों द्वारा मिली है। और देखिये अविनाश वैज्ञानिक क्षेत्र में नया ज्ञान देनेवाली प्रतिभाएँ कठिन और विद्वत्विद्यालयों से निकली हुई न मिलेंगी। मानो आत्मबल और स्वाधीन चिन्तना में स उसकी सेवा का विकास और निर्माण हुआ था। हिमाचल से बाहर रहे जानेवाले व्यक्ति के इस चिन्तन मर्म-तन्त्र को जो शिक्षण-विधि चिन्तना ध्यान में रख सकेंगी उसको अन्वेषण और विकास से सकेंगी मानव-सेवा में वह उसनी ही सफल हो सकती। पाठ्य और परीक्षा पर अधिक जोर देने से उस चिन्तन तत्त्व का संस्कार और संस्कार नहीं होता बल्कि विस्मय हो जाता है। पाठ्य-पुस्तक और परीक्षा प्रणाली सहायक होनेकर के लिए है। आज तो उनका आशंक है। मान्य होता है कि ज्ञान का माप उनमें बल है। ऐसा हुए बिना नहीं रहेगा अगर हम शिक्षण के द्वारा जो माप पैदा करना चाहिये। राज्य की आवश्यकता से जुड़कर पिछले मानो कारखानों और मिलों की तरह ही विद्वत् विद्यालयों में मास प्रावधान की नीति पर चलन समता है और माप-पूति के मीटर से उसका नियमन भी होना लगता है। एक कमरे में बैठकर विद्यार्थी तब करते हैं कि पास परमैज अब बढ़ना चाहिए या घटना चाहिए। विद्यार्थियों से और उनकी समता से कुछ नियम का कोई सम्बन्ध नहीं रहता किन्हीं और दृष्टियों से नीतियों का निश्चय हो जाता है। क्या अब वैज्ञानिक कला का परमैज पत्र प्रतियोगिता करती होगी क्योंकि अधिक विद्यार्थियों की संख्या विद्वत्विद्यालय की व्यवस्था अब नहीं के सक्ती—अन्य प्राप्ति और बालकों के माप यह कठ-पट्टर जैसा माप-पूति का बर्तन क्या वैज्ञानिक कहा जायगा? यही निगाह से देखें तो वह कुछ अमानुषिक बर्तन ठहरता है। लेकिन जब एक बार हम मानव-व्यक्ति को अन्तःसमाधानों की ओर से चलने से इनकार कर देते हैं और बाहरी आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर स निधन करते हैं तो ऐसी दृष्टि-

हीन नैतिक नीति में पड़े बिना नहीं रह सकते हैं। यह विषय बड़े ही दुःख का है। लेकिन राज्यवाद के बोझाले के जमाने में विषय-बन्ध को कहीं किस जगह से छेड़ा और उबेड़ा जाय यह समझ में नहीं आता है। सचमुच सिद्धयत यह क्षेत्र होना चाहिए, जहाँ से अधि-जन अपने कार्य का आरम्भ कर सकें।

### धर्म-शिक्षा का बोलसमापन

नैतिक और धार्मिक शिक्षा से कुछ ऐसा समझे लगता है कि हम विषयों के तौर पर इन शिक्षाओं की भी बात करते हैं। धर्म कलास में और अमुक पीरियड में पढ़ाया जाय इसका अर्थ ही मैं नहीं समझ पाता हूँ। यह एक धार्मिक समझे जानेवाली संस्था में मुझे कहना हुआ। वे विचार में पड़े थे कि धार्मिक व्यक्तित्व वाले विद्यार्थी यहाँ से कैसे निकलें। साफ है कि उनको धिक्कायत थी कि वह तेज उनमें नहीं होता है। मैंने कहा कि धर्म पढ़ाने का आग्रह रखेंगे तो विद्यार्थी धार्मिक नहीं बनेंगे यह सीधी बात है। बात का सीधापन उन्हें नहीं बीछा वह उन्हें टेढ़ी मानलूम हुई। तब मणित से समझाना पड़ा कि आप पीठासीन मिन्ट का एक पीरियड धर्म का रखेंगे जल्दिये डेढ़ घण्टे के बी पीरियड रख दीजिये। लेकिन दिन में तो बीबीस घण्टे होते हैं। धर्म डेढ़ घण्टे होता है तो बेप साढ़े बाईस घण्टे जो है वह तो अधर्म के रह बने न? अब साढ़े बाईस घण्टेवाला अधर्म बीतमा या डेढ़ घण्टेवाला धर्म? अर्थात् धर्म विषय के तौर पर पढ़ानेवाली चीज नहीं जान पड़ती वह तो बातावरण में से प्राप्त होता रहना चाहिए। अर्थात् पहले गुरु-शिष्यसम्बन्ध से फिर विद्यार्थियों के आपसी सम्बन्ध से फिर संस्था की नीति और संस्था की व्यवस्था के पारस्परिक सम्बन्ध से उस चीज का नाता है। कोई बाहरी व्यवस्थापक यदि प्रदान है और उपाध्याय एवं आचार्य मौन है तो उस बातावरण में नैतिकता नहीं पलपेगी नीतिकता ही हठस्त उभरी हुई बिछाई देगी। इसलिए जब कि धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की बात को मैं बहुत महत्त्व देता हूँ तब विषय बना देने में उनके व्यवसन बन जाने का भी रास्ता देयता हूँ। सब धर्म अपने-अपने धर्म धार्मिक शिक्षा की संस्थाएँ रखते हैं। उनमें से क्या महा-मानव बन है? अधिकांश वे कट्टर और अमुक सम्प्रदाय के साथ में बने हुए नमूने हुमा करते हैं। मैं स्वयं एक वैन-मुदकुक में पड़ा हूँ। बाठ बरस की उमर में मुझे मानलूम हो गया था कि जो वैन नहीं होगा वह गरफ में ही आयया। और धर्मों की शिक्षा में भी समयमग हठी तरह की चीज मर्गों में डाली जाती है। इसलिए धार्मिक शिक्षा के महत्त्व को मानते हुए भी उस

सम्बन्ध में सावधान होकर चलना होगा। बल्कि सच्ची भाषा में स्वयं चामिक होकर उस पर विचार करना होगा।

### मर्यादाओं का प्रश्न

मर्यादाओं का प्रश्न भी विचारणीय है। मर्यादाएँ बाहरी नियम में उन्मिश्रित होती हैं, जब तक मानो वे स्थिति को व्यक्त और प्रतिबिम्बित नहीं करती हैं। व्यवस्था की ओर से नियुक्त नीति की ही घोषणा करती हैं। मर्यादा काम की वे हैं जो वस्तुस्थिति में समा रहती हैं, आदेश के ठीर पर ऊपर से नहीं आतीं। जबकि मर्यादाओं का संस्था के भीतर से विकास होना चाहिए और स्वयं ओर पर वे मर्यादाएँ लागू होनी चाहिए। आज की विद्वम्बना यह है कि मर्यादाएँ जहाँ से चलकर जाती हैं, वे स्वयं उनसे स्वतन्त्र हैं। राज्याधिकारी नियमों को बताता और बनाता है वह स्वयं उनसे मुक्त होता है। ऐसी मर्यादाएँ स्वस्थ विकास में सहायक नहीं होतीं। उल्टे वे ही मर्यादा मय को उत्तेजन देती रह सकती हैं। अनुशासन आत्मानुशासन के रूप में विकसित हो तो उससे स्वत्व परम्परा और मर्यादाओं का निर्माण होया। ऐसा तब होया जब शिक्षण-संस्था में एक आपसी और आत्मीय वातावरण व्याप्त होया। मर्यादाएँ सब पारस्परिकता में से निकली होंगी और एकपक्षीय न होंगी। मैं समझता हूँ कि अपने जनतन्त्र का प्रयोग एक शिक्षण-संस्था में से करके दिखाया जा सकता है और स्वयं राज्य के लिए वह वस्तु-पाठ बन सकता है।

### पश्चिम में भी तो अर्थमूलक तत्त्व ह

१८९ जिस अर्थमूलकता को शिक्षण में आपने जब बुराईयों की बड़ बताया है उसीका तो पश्चिम के बोनी सिबिरों में भी ग्रहण और उपयोग है। सब पश्चिम में ऐसा बया भोग साधा है कि वहाँ अरिष्ट और आचरव्यसम्बन्धी कुछ ऐसी मर्यादाएँ बन गयी हैं कि वहाँ के लोग उनका पाकन करते हैं और वहाँ के जन जीवन में काफी बड़ी दूर तक सचाई और ईमानदारी का प्रवेश पाया जाता है और परिणामतः उनमें अच्छाचार और अपराध-वृत्ति कम ही बीज पड़नी है। भारत के पल में वही शिक्षा-प्रणाली विपरीत फल क्यों दे रही है?

### यहाँ आर्थिक विषमता कम

—पश्चिम में अर्थ की इसी विषमता नहीं है। यहाँ वहाँ वह निमित्त और माध्यम अधिक है स्वयं में लक्ष्य कम है। हमसे जीवन चेतन्य की वहाँ उससे उत्तरी



हानि नहीं हो पाती है। राज्य-कर्मचारी और औसत नागरिक में स्तर का अन्तर नहीं है। राजनीतिक नेता कौन्सिलर, पाब्लियामेन्ट-सदस्य हो जाने से व्यक्ति का जीवन-मार्ग एकदम विधिवत् नहीं बन जाता। इस कारण अर्थमूलक होने से जो अनर्थ यहाँ दिखाई देता है, वैसा वहाँ नहीं दिखाई देता। किन्तु सम्प्रदाय वहाँ की अर्थमूलक है और उसका अन्तर्गत अवस्था उस सम्प्रदायाधीन लोगों को हो रहा है। यह इसीसे सिद्ध है कि हर बस-बीस बरस बाद उन्हें लड़ाई में पड़ना पड़ता है।

### कलासेज और मासेज का भेद

वहाँ का समूचा जीवन जैसे एकीभाव से अर्थ-सम्प्रदाय की ओर षट् रहा है। इस तरह कलासेज और मासेज का भेद वहाँ उठना नहीं है। भारत में यह विषयता इस तक पहुँची हुई है। भारत गाँवों में बसता है और ग्रामीण जनता अर्थ-प्राप्त है। साक्षर वर्ग सदृशों में है और वहाँ की सम्प्रदाय पश्चिम के रूप में रैली है। इस तरह जनता और विचारों में फाँट पड़ी हुई है। यह व्यवहार भाषा और वैसे के सहारे बनाये रखा जाता है। बल्कि उसको फैलाव भी मिलता जा रहा है। विचार से आप देखेंगे कि आप देहात का व्यक्ति उठकर सदृश स्तर तक जाने की आकांक्षा पा लेता है और वह गाँव की रीति-नीति से मुटकाउ बना लेता है। आज के समाज-संकट का यह बड़ा पहलू है। यह सिद्ध कर आरम्भ पाँव रहना ही नहीं चाहता। वहाँ के काम नाम से उसमें जबकि बस जाती है और वह सदृश जटिलपोसी वहाँ की गीत-बसोटी और जोड़-बुद्धि में पहुँच जाना चाहता है। यह सब समाज पश्चिम के देशों में नहीं है। वहाँ राज्य की भाषा दूसरी नहीं है और परस्पर स्तरों में उठना खोपन नहीं है। वे औद्योगिक देश हैं, पिछड़े वे नहीं हैं और कुछ मिलाकर पिछड़े माने जानेवाले एशिया और अफ्रीका के देशों के प्रति उनका सम्बन्ध खोपन का है। भारत में अभी यह स्थिति नहीं है। यहाँ पिछड़ापन और खोपनवाह दोनों हैं और स्तरों में बँटे हुए हैं। और मानसिक खोपन की प्रक्रिया उसके अन्तरंग में ही काम करती देखी जा सकती है। पश्चिम के देशों में स्तरों के बीच कश्चित् अर्थ विपत्ति होती जा सकती है किन्तु दलित, गरीब, मानसिक व्यवधान और खोपन वहाँ नहीं मिलेगा। यहाँ की गायरता की हालत देखिये। तबनुकूप यहाँ नेता और जनता में अन्तर है। समाज में व्याप्त यह अनुसिद्धि निराश में प्रतिबिम्बित होती है और वहाँ से बल पावर फिर विपत्ति की ओर भी ओर बनाती है। मैं समझता हूँ कि पश्चिम की उद्योगवादी उन्नति यदि अपने-आप में लब्ध न भी

हो तो भी क्यों-की- क्यों भारत में नहीं अपनायी जा सकती। मध्यम त उच्चत भ्रान्त है, लेकिन पक्षिम को जो फल दे रही है वह भी उससे यहाँ से नहीं मिलेगा क्योंकि परिस्थितियाँ इतनी भिन्न हैं। इसलिए मध्यम में दोहरा जतरा है और सिमन-पत्रित अंग्रेजी मध्यम से अब तक छूटी हुई नहीं है। यह अवश्य हो सकता है कि अंग्रेजी असल स्वयं भारतीय मध्यम से नहीं जाये बड़ बड़ी हो।

## डाकू-समस्या

१८७ ईस में स्वतन्त्रता के बाद डाकू-समस्या ने काफी मन्मीर रूप ग्रहण कर लिया था, विशेषकर राजस्थान और मध्यप्रदेश आदि प्रांतों में। विनोबाजी ने इन डाकुओं से आत्म-समर्पण कराने का प्रयास किया था और कुछ दूर तक उन्हें शांति प्रदान की मिली थी। समस्या के कानूनी और इस नैतिक निदान के बीच आप क्या सामंजस्य देखते हैं?

—सामंजस्य नीति और कानून में सीमा नहीं होता। हो सकता है तो व्यक्तियों द्वारा। कानून को पकवानेवाले सर्विसेज के लोग हैं। जैसे मजिस्ट्रेट और पुलिस इन्स्पेक्टर। इन सर्विसेज के लोगों के ऊपर जनता से जुने हुए भौम पशुपत हैं, जो इनसे काम लेने के लिए हैं। इन्स्पेक्टर जनरल कानून से इधर-उधर दिक्कत नहीं देख सकता लेकिन मन्मी का न यह कर्तव्य है, न अधिकार कि वह उतनी सीमित दृष्टि से अपराध की समस्याओं को देखे। वह यदि जनता में से चुनकर आता है और मन्मी का स्थान पाता है तो इतने में ही यह गमित है कि उसकी दृष्टि मानवीय होनी चाहिए उसकी व्यवस्था-दृष्टि पर भी आवश्यकता अनुसार का प्रभाव और स्पष्ट होना चाहिए। इस बिना से नैतिक और व्यवस्थात्मक दृष्टियों का बहुत दूर तक सामंजस्य हो सकता है।

डाकू-समस्या के सम्बन्ध में जो कुछ चर्चित हुआ उससे मुझे यह देखकर खेद होता है कि मन्मी और मुख्यमन्त्री पुलिस के इन्स्पेक्टर-जनरल के अधिक निम्न पाये गये और विनोबा से इतने दूर कि मागो करते ही हों। इसका मतलब यही हो सकता है कि वे राज्य पर अधिक प्रभुता में कम हैं। जनप्रिय उच्च नायक से अलग विनोबा की दूसरी क्या स्थिति है? कानूनी कर्तव्य की पीछे यदि मिनिस्टर-जनरल सेठा है और मानवीय दृष्टिकोण से अपनी छुटी कर सेठा है तो सिवा इसके क्या कहा जाय कि जनता के आस्थापन से वह अपने की और अपने दल को बचत करता है और जनवादी दृष्टिकोण को पीछे मानने के कारण वह अपने चुनाव के लिए अपने को अयोग्य सिद्ध करता है।

मामूली पुलिस-सिपाही बच्चा अपने साथ रखता है। मिनिस्टर के लिए कभी यह सीमा की बात नहीं समझी जायगी कि वह बच्चा साथ लेकर चले। जबकि स्वयं कानून के दो सिरे हैं। इस सिरे पर वह जैसे धर्म-नीति की सीमा से बा मिकता है। उस छोर से धर्म-नीति का प्रभाव कानून पर अवश्य हो सकता और होना चाहिए। जितना वह कम होता है कानून उतना ही आटोकेटिक बनता है। किमोकेटिक राज्य में यही अर्थ है कि धर्म-नीति और जन-नीति आईन-कानून से केवल दबने के लिए न रहे, बल्कि आईन में वह अधिकारिक प्रत्यक्ष और व्यक्त भी हो।

### अपराधी रोगी अधिक

जमाना वह आ रहा है जब अपराधी दण्डनीय से अधिक रोगी समझा जायगा। बेकों की जगह उनके लिए अस्पतालों में व्यवस्था होगी। आप जानते हैं कि अस्पताल में रोगी छेड़ होता है, डाक्टर सेवक होता है। रोगी के लिए हर सम्भव सुविधा की व्यवस्था आवश्यक मानी जाती है। रोगी के पास अधिकार होता है, उपचारक के पास केवल कर्तव्य होता है। पीरे-पीरे प्रकट होता जायगा कि अपराधी अधिकार माफना की व्यास में से बनता है। उसका वह बूट गया होता है और कुत्ते के लिए आस-पास की परिस्थिति को और व्यक्तियों को छोड़ता हुआ निकल पड़ना चाहता है। यही वह असामाजिक होता और अपराधी बन जाता है। अपराधी व्यक्ति को समाप्त या बेकार कर देने की कल्पना पुरानी हुई। अब हाथ-पैर नहीं काटे जाते हैं बल्कि कोखों की जाने लगी है कि पीरे-पीरे वह अपराधी से उपयोगी बन जाय। उपयोग की सम्भावनाएँ उस आत्मी में पड़ी ही हैं और कानून को कभी यह सूझना नहीं चाहिए। कानून जितना सम्पत्ताशील होगा उतना ही यह ध्यान और विश्वास उसमें गहरा होता जायगा और परिणामस्वरूप वह स्वयं अधिक मानवीय बनता जायगा। डाकू कहे जानेवाले हर आदमी की परिस्थितियों में हम जायँ ता जाफ़ी अध्ययन की गामगी मिल सकती है। उस विवरण से हम देख सकते हैं कि उस प्रकार के लोगों में कुछ गुण भी होते हैं। वही अचगुन बनने को बाध्य यदि होते हैं, तो अमुक प्रकार की परिस्थितियों के कारण। अचगुनता से मुक्त कर उन्हें फिर मुक्त बना सन की क्षमता जिस व्यवस्था में होगी वह व्यवस्था सही समाज-व्यवस्था मानी जायगी। वही कानून सच्चा भी होगा।

### डाकू हृदय का आशरी

जानी किसी बात नहीं तो मैं मानता हूँ कि डाकू हृदय का आशरी होता है।

हृदय के आदमी को दुर्जन से सज्जन बदन में बहुत ढेर नहीं लगती। एक चोट या एक मोड़ उसे बदल दे सकता है। कानून और उसके बल का स्पष्ट ज्ञान कि उसने उसे और बूट बहू को और कमकर कट्टर और गठीला बना देता है। उस हृदय का एक स्पर्श उस गन्ना भी दे सकता है। निर्दोषता की ओर स बड़ स्पष्ट आया होया और उनमें कुछ की मानवता जाय पड़ी होयी। मानवत्व से भी आगे बिबल जगा होगा जो उन्हें समर्पण तक ले जाया होगा। कानून की यह बात कि सबतर का काम उठाने के लिए समर्पण का अस्पष्टा समर्पण तो हर हासन में देर-सबेर उन्हें करना ही था इतने के लिए उसे दे—अद्वैतचित्ता की है। कानून का यह सर्व समर्पण के साथ भी उनमें एक बटुता का सकता है। कानून अगर इतना नहीं समझता तो अस्पष्टा है। बन्दूक लेकर बीहड़ में और संकट में रहने-बसनेवाला डाकू मौत छक सकता है ऐन कानून के इस सर्व को ही सेकना उसे मुश्किल होगा है। वह अपने को बांधी मानता है। और बांधी मानने का यह गर्व सीधे कानून के सर्व की प्रतिक्रिया में से उत्पन्न होता है। अपराधी स भी एक रोखी और उलझता देखी जाती है वह मानो शासन की रोखी और उलझता का जबाब बनने के लिए आती है।

कानून अपराध की सृष्टि करता है यह यदि सच है तो इमीलिए कि उस कानून में सर्व-सर्व इतना होता है कि आत्मासोचन की कचक बिलकुल नहीं होती। बिक्टर ह्यूमो का उपन्यास 'सा मित्रराहित' इमी विरोध को मानो मूल करने के लिए बना है। डाकू जेल से निकलकर एक धार्मिक विद्या की सहृदयता का स्पष्ट पाठा और एक योर धार्मिक बात में स निश्चयकर एकदम बदल जाता है, वह महान् उपयोगी नागरिक बनता है। लॉइन कानून पुराने और डाकू के रिकर्ड को लेकर ही चल रहा है। कानून का रसा प्रहरी पुलिस इन्स्पेक्टर उसके पीछे ही पड़ा रहता है। देखता है कि यह आदमी और नहीं है, बेहद जरा और उनयोमी है। लॉइन इन्स्पेक्टर अपने इम्मान को दबा देता है, इन्स्पेक्सी को बड़ा देता है। सामने के वर्तमान और प्रत्यक्ष जरासाम सज्जन को जोखल कर देना और अतीत में सड़ और को ही प्रत्यक्ष निय रहता है। इन तरह पुलिक के अन्त तक जब कानून बेतन प्राप्ती का पीछा ही निय जाता है, जमी जमी बेतनता में उभरने नहीं देता। नायमी मिनिस्टर के हाथ से आसा हो सकती है कि कानून की यह जड़ना कम होती और बेतनता जममें उभय होती। लेकिन अध्यापक में इसका प्रमाण नहीं मिला और इमने मेरे मन में बड़ी ही निराशा का माध पैदा हुआ। कोई डाकू अन्त तक जीवनान्ता न का आगे-पीछे हरएक की मरणा या धीमे कि हममें से हर एक को मरना है।

लेकिन कांग्रेस मिनिसट्री अबसर पर कानून के हाथों जड़ बनी रह यमी और आराम-समर्पण तक स्वेच्छा से भा जानेवाले नाबी इच्छाओं के प्रति सिवा इसके कुछ न कर सकी कि बेक-फासी दे दे, यह इतिहास में जानेवाली विफल्ता है और इसका निम्न मर्यादा नहीं अमर बना रहेगा। वह निम्न श्रेय विरुद्ध भी विरोध को दे, अमेय सब सरकारी कानून को देगा। अफसोस सिर्फ इतना ही है कि कांग्रेस यह है, जिसकी राज पर जाने में गांधी ने सहारा दिया था और जिसे काम बनाने के लिए शक्ति के तौर पर स्वयं गांधी-वर्चन का सहारा था। नीति में से कानून बनता है लेकिन बनने के बाद कानून नीति से छूट जाता है। कबल यह कर्म रह जाता है। पर कर्म में भाव का सर्व न हो यह कमी भाव तक नहीं है और भाव सदा अपना स्वास नैतिकता में से लेता है।

### परिस्थिति और अहंभाव

१८८. ऐसा अनुमान लगाया है कि अराधी किसी सामाजिक अथवा आर्थिक विफलता के कारण अराधी नहीं बने बल्कि अराधी अन्धर की किसी अतिप्रवृत्ति के कारण ही उत्तम और सुष्ठु गये और अब-अब उन्होंने अनुसृत किया कि उन्होंने बुरा किया है तो समाज, धर्म और कानून के कुरमों का हवाला देकर अपनी अराधी-वृत्ति को संशय साबित कर लिया और मुष्टि अगुमन की। ऐसे अराधियों के विषय में आपका क्या कहना है? उनको ठीक करने के लिए आप क्या मांग आपनयिते?

—अकेली परिस्थिति से कभी कुछ नहीं बनता। अपराध भी नहीं बन सकता। परिस्थिति और अहंभाव के बीच अंतर ही एक कथमकथ रहती है। इस समाज में से अराधनिकलता है। यह बीजने में ही है कि परिस्थिति का बनाव है या नहीं है अहं-वेदना से असम्बद्ध होकर उस बनाव का निर्बन्ध किया ही नहीं जा सकता। अपराध सदा समाज अपनी इच्छा, की अपेक्षा से ही बन पाता है, अन्तरिम की ओर से भी सदा संगत है, यह पाप है। प्रत्येक पाप अपराध की गमना में नहीं जाता न प्रत्येक अपराध पाप हुआ करता है। बेक अपराध के कारण ही निकली है यानी बार-बार अराधी शिखर हुए, इसीलिए बिल भेजे गये। लेकिन उस अपराध में पाप की छाया भी न थी उसने कुछ यह था जिससे सोन उन्हें और महारमा मानते गये। कारणों ने उनकी सहिमागिष्ठ किया और गिरने के बनाव उभरा। यही अपराध और पाप का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। आकाश प्रश्न अपराध की सीमा पारकर पाप की पक्षेपना में पहुँच जाता है। यही उसमें उभरता इष्ट नहीं होगा। यदि यह बात सच है कि अहंभाव की

ठीकठा और उद्यतता में से अपराध का जन्म होता है तो पाप का भी जन्म बर्हसि है। किन्तु ठीकठा कुर क्यों होती है? मैं मानता हूँ कि इसके कारण में परिस्थिति की संगत माना जा सकता है। परिस्थिति कोई ठोस चीज नहीं है बर्हमाव की परिधि जहाँ जाती वहीं से परिस्थिति बारम्बार हो जाती है। वदाव ठीक उस परिधि पर अनुभव होता और केन्द्रस्थ मर्म उसी प्राप्त करता है। उसीके प्रत्युत्तर में जिसको आप अतिसाहसिकता कहते हैं उपजती है। उस साहस के अतिपन में आप सूखन इन्द्र बैल पाइयेगा। इन्द्र न होता तो उस साहस में सहजता होती अति न होती।

यह साहस यदि मर्यादा की सीखता हुआ जाता है तो इसीमें गर्भित है कि वह अपने अन्दर की किसी बाधा को सीख रहा होता है। वह आन्तरिक विवेक की बाधा होती है, बाहरी बाधा उपलब्ध बनती है। यह विवेक की मर्यादा टूट जाती है इसीसे ऐसा व्यक्ति बारम्बार-समर्पण में माना चर्क और कारण बना किया करता है। इस बुद्धि-समर्पण के सहारे के बिना बर्ह-मर्ष टिक नहीं सकता न साहसिकता काम कर सकती है। लेकिन ये मनोकोक की बातें हैं जिनमें जाना घायल आपके प्रसन्न का उद्दिष्ट नहीं है।

### अपराधी समाज से बहिष्कृत

अपराधी को हम समाज में स्वीकृत नहीं देते हैं। समाज की अपेक्षा में वह अप्रतिष्ठ बनता है। अतः बर्ह-प्रतिष्ठ होने की आवश्यकता उसके लिए और उत्कृष्ट हो जाती है। यह वृत्ति जब कति में व्यक्त होती है तो समाज उसकी और मर्त्यता करता है। इस तरह उत्कृष्ट बढ़ती और पैदा हुई चीज कचती जाती है।

समाज की ओर से यदि तिरस्कार ही उसे न मिले किसी पद्धति से उसकी अन्तर्गतता को स्वीकार भी मिल सके तो सम्भव है कि धीरे धीरे तो उस व्यक्ति का बर्हमाव इससे तुष्टि पाये और कहें उस बर्हमाव को जैसे अवसर मिले कि वह माने कि उसका आदर्श बल गया है। लेकिन यदि स्वीकार में उपचार या धिष्टाचारमय न होगा, बल्कि वह स्निग्ध और मिष्कण होया तो धीरे धीरे उससे बर्हमाव की कक्षावट छुमेगी और वही निगलन धूक होया।

### प्रेम की चिकित्सा

आधुनिक मानसिक चिकित्सा का प्रबलन हो रहा है। स्वयं मानसिक चिकित्सा का शास्त्र उत्तरोत्तर प्रेम की महिमा पहचानता जा रहा है। मनोविज्ञान अपनी शास्त्रीयता से पिछ हो जाता है और प्रेम के आगे ज्ञान की हीन अनुभव करने

जगा है। प्रेम के पुरुषों ने जैसे ईसा ने अनेक पापियों को बर्षन-स्पर्शमात्र से बदलकर सहसा स्वस्थ कर दिया तो ये कमत्कारपूर्ण बातें जब मन-काष्ठ को अविश्वसनीय नहीं लगतीं जैसे उनका दर्क उसे समझ जाता था रहा है। इस नये विज्ञान और नयी समझ के प्रकाश में कानून अन्तकाष्ठ या अनन्तकाष्ठ तक अपना नहीं बना रहेगा। और जब उसकी आँखें खुल रहेंगी तो जान पड़ेगा कि दण्ड का उपाय उपाय ही न था केवल अपने बचाव का उपाय था। वह आरम्भ-रति में से निकला था और इसीलिए इतना विपरीत बना हुआ था।

### सन्त-भाव

अपराध के प्रति सन्त में जो यह भावना आगती है कि अपराधी वह स्वयं है जपतुमर में जन्म-यामर वही है, नये प्रकाश में वह केवल भावुक भक्ति की नहीं रह जाती बल्कि वैज्ञानिक बुद्धि की भी बन जाती है। प्रेम उसीका नाम है जो बाहर वृक्ष में से सब दोषों को हर लेता है और वहाँ सौन्दर्य और विष्मत्त्व की दृष्टि कर देता है। ऐसी आस्तिक मछा कानून की बुद्धि को कुच्छित करने के बजाय और जनका भी सकती है। यदि न्याय की व्यवस्था में इस तत्त्व का प्रवेश हो तो जो हृदयहीन है वह सङ्कय बन जाय और यद्यपि बाह्य व्यवहार में धातव्य एकाएक कुछ अन्तर न आये फिर भी वह मानों अन्तरंग की ओर से एक भाव रस से भर जाय। मैं मानता हूँ कि यह आस्तिक भक्ति हमारा और समाज का इस अर्थ में काफी मछा कर सकती है कि वह अपराध के उत्पात से हमें रक्षा दे और स्वयं अपराध के लिए भी उत्तेजन का अभाव उत्पन्न कर दे।

१८९ तब आप अपराधियों के सामाजिक अवरोध मचवा जनकी बेराजस्वी में विश्वास नहीं करते और उनकी छपेला भी आपको सङ्ग नहीं है। ऐसी स्थिति में एकमात्र सम्भारन का सहारा केकर अपराधियों का उचित निधान करनेवाले निरुद्धे व्यक्तित्व हमारे बीच से निकल पायेंगे? मुझे तो लग्येहूँ कि समाज-मर्दाबा और कानून की बिलकुल निरुद्ध कर देने पर अपराध-वृत्ति बढ़ती ही। इस विषय पर अपना मत बोलिये।

### मफान और सिद्धकी-बरपावे

—महीं महीं समाज में से इस प्रकार रैलाजों और मर्षादाजों को नष्ट नहीं किया जा सकता। किसी सदमितापा में से यह किया भी गया तो उसका नहीं मन्त आये बिना न होगा जिसका आपने उचित किया है।

रैलाजों को समाप्त कर देने के मैं पल में नहीं हूँ। कुछ और साधु एक हो

सकते हैं पर दुष्टता और साधुता का अन्तर मिटनेवा, तो प्रलय आ जायगा। इस समय जिस मकान में हम बैठे हैं उसकी सीमा है इसीलिए वह मकान है हम उसमें बैठ सकते और काम कर सकते हैं। जिसमें सीमा नहीं है ऐसे कुम्पन में नक्का हमारा यह बातचीत तक का काम कैसे चल सकता है? सीमा रेखा के बिना हर सम्मेलन गल्ट हो जाती है। लेकिन जो ध्यान में रखने की बात है वह यह कि मकान की सीमा अगर हवा पर भी आ जाय तो मकान मकान नहीं रहता और और भरक बन जाता है। हवा के लिए छिन्की-बरबाबे रखने पड़ते हैं, नगरपालिका के कानून से इतनी खुली जगह रखनी ही पड़ती है कि हवा बहे और घुंटे नहीं। अस-वेविलेनन का जो आश्चर्य जगह रखा जाता है सो इसीलिए कि कुछ यह जो बहुत हवा आये और मकान से बहुत दूरा आर पार चला जाय। जो बात ऊपर कही वह उस मानसिक भाव की आवश्यकता की दृष्टि से की जो आशुहवा बनकर सारे समाज को अपना स्वास देता रहे। वह मुख्य के तौर पर व्याप्त रहे और हर मानस को स्पर्श करे। वह जानी रक्त का रंग बन जाय समाज की सहज संस्कृति हो जाय। ऐसा होने पर हम देखेंगे कि यह भाव हमारे काम-धाम में आई नहीं जाता है, बल्कि उसको संभालनेवाला बन जाता है। हवा कम कहती है कि मकान न बनाओ वह तो कम मकान बनाने में यह मूस और बनावनी भर देती है कि हवा को बांध न देना उसके बहते रहने देने के लिए अपने मानस में अवश्य अवकाश रखना।

## साहित्य का कार्य यही

और यह काम आज भी समाज में होना है। साहित्य का सिवा इसका काम क्या है? साहित्य के जिम्मे तो कुछ भी करना-करना नहीं है। न नाम की स्तुति है, न दुष्ट को दण्ड है। वह तो जैसे दण्ड को स्वच्छ और भाव का स्निग्ध रखनेवाले के लिए है। जानो उसमें जीवन का अमंगल प्रतिबिम्ब है। जीवन के ऊपरी मयारों से लेकर उसके अन्तरात्म मर्म में स्थित युद्धाव की उत्तरा तर वह बिम्बित करता है। जिस स्तर का जीवन-बिम्ब उसमें है, उतना ही उसका महत्त्व है। महत्तम साहित्य में अनन्त वैविध्य का निर्माण है, लेकिन जमीन अन्तर्गत निम्न ऐश्वर्य का दण्ड है।

उस साहित्य से क्या समाज को कुछ भी प्रभावित नहीं है? हम जानते हैं कि साहित्य बिना समाज की स्थिति ही नहीं हो पाती है। बिम्ब क्या साहित्य बनाने देने जाता है? बिम्बर हूँगे के बिम्ब प्रत्येक का जिस आया क्या कानून के प्रतिनिधियों द्वारा वह पड़ा नहीं जाता? कानून के काम-धाम में उससे कुछ



बामा उपस्थित नहीं हुई है। लेकिन उसको पकड़ कर कोई इन्स्पेक्टर जनरल या हाईकोर्ट-जज यदि तनिक अपराधी के प्रति सहृदय हो जाता है तो कानून का काम उससे कुछ बेहतर ही होता होगा बिपत्तता नहीं होगा।

### आदर्श व्यवहार में बाधक नहीं

महं लोगों की बड़ी मज्जत आता है कि आदर्श व्यवहार के लिए बाधक होता है। उस अध्यात्म से दुनिया का काम अवश्य बाध बिगड़ सकता है जो आदर्श का आराधनमान है। अध्यात्म का वह सेवक जिससे दुनिया का काम सँबरता नहीं है कुछ यदि तक नहीं प्राप्त करता है कहीं कुछ स्वरति और व्यसन में पड़ गया हो सकता है। ऐसे आदर्श-अध्यात्म की उपासना में कहीं अहं की उपासना बन जाने मित्र जाती है जिससे वह व्यवहार से विमुख और विसमस्त बन जाता है। अध्यात्म से दोनों एक और परस्पर आश्रित हैं। धर्म ही नहीं सकता जो कर्म के तेज को न बमकाये। और वह आत्म नहीं अहं है, जो परस्परता को सम्मन नहीं बिपन्न करता है।

### बेकारी और अपराध

१९० बेकारी और अन्य आर्थिक इबाबों की परिस्थिति कितनी दूर तक अपराध-वृत्ति को बढ़ावा देती है और समाज में अव्यवस्था एवं बिद्रोह को जन्म देती है? बेकारी को दूर करने के लिए जो उपाय सरकार काम में ला रही है, क्या उनसे आप सहमत हैं?

### साँप और पत्थर

—बेकारी अपराध-वृत्ति को कितनी दूर तक जगाने और बढ़ाने में कारण बनती है इसमें शका के निर्णय का प्रश्न ही नहीं है। अन्दर की शक्तिशाली के उपयोग के लिए विधायक मार्ग खूना हो तो अपराध में जाने की बात ही नहीं उठनी चाहिए। दुष्टता के पीछे आतुर कुछ बम है, इतना तो निश्चित ही है। पत्थर पड़ा ही रह सकता है काट नहीं सकता। साँप जरा दबने पर काट जाता है। साँप दुष्ट इसीलिए ही सकता है कि वह पत्थर नहीं है अर्थात् उसमें जान है। हम साँप से तंग आकर अमर यह कहते हैं कि पत्थर उससे अच्छा है तो यह बलव्यवस्थात्मक नहीं सिर्फ स्वरक्षायक होता है। इसलिए वह प्रशिक्षा जो दुष्टता को ऊपर के इबाब से उड़ता में परिणत कर देना चाहती है केवल गुरुआत्मक होती है, उससे अधिक जीवन-सध्य उसमें नहीं है। अपराधों में जो फूट रही है,

उस व्यक्ति का रचना में जनयोग से सेवा विबाधक कल्पना का प्रमाण कहा जायगा। समाज-जीता को इसके लिए स्नेहपीठ भी बनाना पड़ेगा होने की आवश्यकता है कि वह समाज में समाने प्रत्येक तत्व की सम्भावनाओं को उद्यम में ला सके। ऐसा व्यक्ति राज्य पर जाकर नहीं बैठेगा क्योंकि पर के अधीन होने के कारण व्यक्ति की सम्भावनाएँ कुण्ठित होती हैं प्रस्तुति नहीं होती। राज्य के अधिकार से राज्य-वर्ग सर्वस्वी होजा और अपने को प्रायः भागकर बिना कुछ बतता है। कुछ ही और जन-वर्ग दासित होकर उन सम्भावनाओं से वंचित होजा और चीन-मचीन होने के लिए रूढ़ जाता है।

**बेकारी का इलाज नौकरी नहीं**

बेकारी दूर करने का उपाय नौकरियाँ बढ़ाना नहीं है। सरकार के पास मुख्य उपाय यही होता है। नौकरियाँ काम की सृष्टि नहीं करती हैं ब सिर्फें जान्मी को बेरती हैं। उससे जन पैदा नहीं होता है, सिर्फ खर्च होता है। मुझे तो यह प्रतीत होता है कि अगर बेरोजगारी को एवज दूर करना है तो राजने के काम को पहले कम-से-कम करना जरूरी है। सबसे बड़ा काम जब शासन और प्रशासन हो जाता है तब बेरोजगारी किसी भी रूप में फैलनेविल भी हो जाती है, क्योंकि उस अवस्था में मानी जाती हिमात कोष के नाति-बर्चन की करने नीतर उपजाने लगाता है। मुझे प्रतीत होता है कि राजकीय काम-बाम की बढ़ावा के साथ बेरोजगारी भी बढ़नेवाली हो है। उत्पादन बढ़े और व्यक्ति व्यर्थ कल्पनाओं में रत केना छोड़ दे, इसके लिए जरूरी है कि राजनीति का स्वतन्त्र व्यवसाय ही न रह जाय। काम आवश्यकताएँ, कम-से-कम प्राथमिक आवश्यकताएँ, अपने आवश्यक के सहयोग से पूरी करना सीखें। खाने पहनने और रहने की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में धर्म-समाज स्वावलम्बी बनें इन बातों में मनीन का भीड़ कम हो और लोग अपना जीव अपने हाथों का सहारा लें। मनीन से काम कम करने और इस तरह स्वयं विषाम अधिक पाने का उन्हें लोगों का दिमागों से दूर हो जाना चाहिए। काम विधान से विरोधी तब होता है, जब सरकार के एवज में दिया जाता है। मजदूरी की उन्नति जितनी कम होगी बेरोजगारी भी उतनी कम होगी। काम जादमी को अगर पैसा कमान के लिए करता होता है और जाने के लिए नहीं तो चाहिए कि पैसे के बल पर कयादा यदा निश्चया-न फैलनेविल हो जाता है। काम उनीकी कोशिश की जाती है। हर बड़े घर में ऐसा बर्ग कम नहीं है, जो बहुत सकेसयोग होता है, खर्च भी खूब करता पीछता है, जैसे स्टॉक पर जुमता और मीज करता है। पूछिये कि काम वह क्या

करता है, तो उसका राज्य कभी हाथ नहीं आयेगा। काम जब वैसे के किए किया जाता है तो परिणाम यही आता है। काम का सम्बन्ध अमर सीमा हमारी आवश्यकताओं से जुड़ा है तो उसमें रस पड़ता और यह सुजनात्मक हो जाता है। बेरोजगारी को दूर करने के सिद्धांतों में पहुँची जकरत तो यह मामूली होती है कि काम का सम्बन्ध पैरो से हटकर जीवन से जुड़े। सिक्का धम की और जन की खरीद-बेच उतनी न कर सके यह सिर्फ वस्तुओं के कप-बिक्रम के काम आये। धारमियों को और उनके समय को खरीदने की शक्ति उसमें से खींच ली जाय।

### ग्रामोद्योग और कुटीरोद्योग

यह मूल परिवर्तन हो सकेगा तो हम देखेंगे कि तरह-तरह के ग्रामोद्योग और कुटीर-उद्योग जन्म लेते हैं और राजमार्ग की तलाश में देशांत से बसकर आबमी शहर में बीसकाया हुआ नहीं फिरता है। बेरोजगारी बहुत है, लेकिन अधिकांश यह विधित बेरोजगारी है। पढ़ा लिखा आबमी आस-पास में से काम निकालने की ताकत खो बैठता है। यह पड़ोसी से दूर आता है और उपमोमी होने का हुनर खो देता है। उसके पास इसके सिवा कोई उपाय नहीं रहता कि वह नौकरी की तलाश में मटके और आचारों की ओरों में धाँस हो जाय। ऐसे अनेक युवकों को मैं जानता हूँ, जिनके घर पर जमीन है, बेटी है, लेकिन शहर में वे दर-दर महीनों से ठोक रहे हैं। बेटी में वे क्यों हाथ नहीं बँटाते हैं? यह तो है ही कि उनका मन उसमें रस नहीं पाता है लेकिन तब यह भी पेटे है कि बेटी में से कुछ निकलता नहीं है अर्थात् पैसा नहीं निकलता। बेटी आवि काम जब पैसे से जुड़ जाते हैं, तब अधिकांश देखा गया है कि वे समस्या पैदा करते हैं और बहुत हद तक अनुत्पादक भी हो जाते हैं। आपसी आवश्यकताएँ अगर आपसीपन से पूरा करने की प्रथा हमारे बीच फिर से आ जाय तो हम देखेंगे कि बेरोजगारी का सवाल काफी हद तक हट जाता है।

### सरकारी उपायों की त्रुटियाँ

सरकारी उपाय सरकारी स्तर पर तो ठीक ही हैं, लेकिन यह भी स्पष्ट है कि उनसे कुछ राहत पहुँचती है संघास दूर नहीं होता। सरकार जनकारी संस्था बने स्वयं में नहीं त्रुटि देगता हूँ। तब धन जगह-जगह से बहकर सरकार के पास पहुँचता है। वहाँ से सीटफन वह फिर कोषों में वृत्ति और बाजीबिबा के रूप में बँटे तो धन अपनी हम प्रति में अपना सार बहुत कुछ खो रहता है।

इन मन्दर में जनकालेक व्यवस्थापक जन बीच में स्वयं कृष्ण और मोने होने का बखतर पा जाते हैं। अर्थ की भाषा में हम देखते हैं कि क्या यदि केन्द्र में बलता है तो आवश्यकता की ब्याह पर पहुँचते-पहुँचने वह भुविगत स बमशी भर रह जाता है, बाह्य वाला उसका बीच में ही छीन जाता है। इससे रोत्रगार देने की कोशिश में बाह्य जाने लगता है, सचमुच रोत्रगार में चार माना लग पाता है। सरकार की ओर से चलनेवाली योजनाओं की यह भुक्ति दूर की बात तो कंस की बात यह समय में नहीं जाता। सरकारी आरम्भ महिगे होने का हक रखते हैं। उन्हींके हाथ से वैसे को सरकारी सागर से उन्हर सम्भाव नाम के गड्डे में बाकर पड़ता है। इनका हमें अफसर पता नहीं रहता है कि उन मामर को करने की राह में ही वे अभाव के गड्डे बने हुए होते हैं। लेकिन वहाँ से हटकर यह भी मानें कि उन को सरकारी खजाने से दोनो तरफ पहुँचना है तो भी सरकार के पास इस काम के लिए जो बहि हैं, वे रुपये का बाह्य माना स्वयं जाये बिना काम नहीं दे पाती है। सरकारी योजनाएँ सरकार की दृष्टि से ठीक हैं किन्तु हम सम्बन्ध में छावनीय रखने की आवश्यकता है कि माध्यम कुछ ऐसा पैदा किया जाय जो अकलमन्यों पर मारी न पड़ और उनके हक को काटे नहीं।

१९१ जिन देशों में व्यक्ति के रहन-सहन ज्ञान-मान और काम-बन्धे की तारी दिग्देशारी सरकार ने अपने ऊपर ले ली है और दोष बुझावस्था आदि प्राकृतिक व्यापियों से भी उन्ने मुक्त कर दिया है वहाँ क्या अनराध-भूति में कमी नहीं पड़ी है और व्यक्ति अधिक मुक्त-मान एवं उपयोगी नहीं बन गया है? यदि हाँ सब आप राज्य की दिग्देशारी ओढ़ने की प्रवृत्ति को क्यों हानिग्रह मानते हैं और क्या आज की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में किसी भी देश का काम सरकार द्वारा पूरी दिग्देशारी सिधे बिना चल सकता है?

### राज्यवाद निन्दारोकरण का प्रयोग

—आज की अन्तर्राष्ट्रीयता सचमुच ऐसी बनी हुई है कि उनमें परमर्ष और मार्गक गिने जान के लिए अधिकारिक केन्द्रित राज्य की आवश्यकता है। लेकिन उन अन्तर्राष्ट्रीयता में केन्द्र तनाव (पोलराइजेशन) भी देना जाना है। हाल की घटनाएँ इसका प्रमाण हैं। हर छोटी और अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध की सम्भावना पैदा करती-नी लगती है। यह सम्भार तनाव यदि दूर होना है तो वह तभी सम्भव है जब कोई राज्य हिम्मत करे कि उसकी शक्ति देना की नहीं होनी जनता की होनी। तात्त्विक और दार्शनिक नहीं होनी नैतिक और आर्थिक

होयी। ऐसा राज्य एक नये ढंग का होगा और ऊपर से उसका स्थापना बहुत बड़ा-बड़ा नहीं बीजेगा। किन्तु उस देशवासियों में एक संकल्प होगा, उनमें समता सहयोग स्नेह का भाव होगा और जनता के स्तर पर वह देश मानो एकाग्र और एकजुट होगा। यह जनसक्ति राक्षससक्ति के समान परस्पर प्रति स्पर्धा में पड़ने से बची रह सकेगी और वह किसीके लिए भय और आशंका का कारण नहीं होगी। ऐसा सीध-मुक्त राज्य यदि आज सम्भव हो सके, तो मैं समझता हूँ कि वह राह कुछ आती है, जिससे निःशस्त्रीकरण स्वप्नमात्र न रह जाय बल्कि व्यावहारिक सुविधा बन जाये। जिस दुर्भाव में विश्व की राजनीति और हमारी अन्तर्राष्ट्रीयता बड़ी जा रही है, उसमें बहना ही एकमात्र मार्ग नहीं है। बहने से इन्कार करके एक नया प्रयोग किया जा सकता है और करने का समय आ गया है। विज्ञान इतना बढ़ गया है और अस्त्रास्त्र की क्षातिशक्ता इतनी आगे आ गयी है कि मानो उससे जनकी व्यर्थता ही सिद्ध बनती है। अब अब अस्त्रास्त्र-मंडा का एक ही है और वह यह कि हम प्रकल्प में पड़ें। मानव-जाति के भाव्य को महाविनाश में डुबाना और फुलाना नहीं है, तो इस समान अवस्था से एक ही सबक हमें लेना चाहिए और वह यह कि राज्य के सहारे बचने में खैर नहीं है। राज्य मानव-जाति के लिए उपयोगी नहीं रह गया है, क्योंकि इतना खतरनाक हो गया है। बड़े देश इस निःशस्त्र-अयोग का आरम्भ नहीं कर सकते केकिन कोई छोटा देश साहस को हाथ में लेकर क्यों इस विधा में जाने नहीं बढ़ सकता है? उसके पास जाने की कुछ नहीं है। उसकी सुरक्षा आज भी राज्य निर्भर नहीं है। आज कौशिक पर भी राज्य के सम्बन्ध में वह बड़े देशों के समकक्ष नहीं हो सकता है। इस अनिर्वास्य अवस्था को वह अपना बख क्यों न बना ले और संकल्प और विवेकपूर्वक निःशस्त्रता के अमुक्त अपने राजतन्त्र और अर्थ-तन्त्र का निर्माण करने में क्यों न लग जाय ?

### विकेन्द्रीकरण केन्द्र का बस

जिन देशों में राज्य ने रहन-सहन असन-बसने और काम-बन्धों की सारी जिम्मे सारी उठा ली है, उनकी रचना के अध्ययन में जाने की आवश्यकता है। वहाँ एक ऐसा बस काम कर रहा होता है, जिसके पास समान-व्यक्तिवाले दो पक्ष या पक्ष हैं राज-पक्ष और लोक-पक्ष। उसमें भी लोक-पक्ष पर राज-पक्ष से अधिक बल है। कम्युनिस्ट-पार्टी के सेक्रेटरी जनरल का राज्य के प्रधानमंत्री से अधिक महत्त्व होता है। इन दो पक्षों के सहारे वह व्यवस्था केवल ऊपर नहीं रहती बल्कि नीचे भी पहुँच जाती है और इस तरह व्यापक भाव की काम सकती

है। एक बार यह व्यापकता आयी कि फिर वह व्यवस्था आवश्यकता के अनुरोध पर अपने-आप केन्द्रित हो जाती है। मैं आपको सुझाऊँ कि यह विकेंद्रितता है, जो अन्त में उस केन्द्रित समझे जानेवाले राज्य का बक सिद्ध होती है।

कम्युनिस्ट-पार्टी में यदि यह सोच-पछा कमबोर पड़ जाय और राज-पक्ष गर्वोन्नत हो जाय तो वह केन्द्र-व्यवस्था आज ही संकट में पड़ सकती है। और इसमें है कि वह यदि केन्द्रित है तो उसनी ही माथा में विकेंद्रित भी है। विकेंद्रित इस हंग से है कि उसका केन्द्रीकरण सहसा ध्यान में नहीं आता है। इसलिये वह चुनता नहीं है और विकेंद्रीकरण के सहारे प्रत्येक घाम-केन्द्र मानो अपने को काफ़ी दूर तक स्वाधीन अनुभव कर पाता है।

### शासक प्रथम नहीं

शासन की जिम्मेदारी उठानेवाले की मैं प्रथमता नहीं दे पाता हूँ और इसको व्यावहारिक भी नहीं मानता हूँ। हमारी वातुर्बन्ध-व्यवस्था में क्षत्रिय का स्थान दूसरा है। यह बात पुछनी मान्य हो सकती थी लेकिन इस का फ़र्स्ट सफ़ेटी राज्य के फ़र्स्ट मिनिस्टर से अगर अधिक प्रभाव बनता है, तो उस पुछनी बात में नये सार को देखा जा सकता है। इस तरह एक व्यापक राज्य के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि जब वह जाने-पहचाने और काम-बन्धे की सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता है, तो दूसरे शब्दों में मानो वह जिम्मेदारी समाज के अपने ही ऊपर आती है।

राज्य उत्तरोत्तर नैतिक बनेवा और कार्यात्मक बनने का बावजूद कम करछा पायमा तो उसकी व्यापकता बढ़ेगी। स्मृकता कम होगी और अस्वास्वपूर्वक नियन्त्रण रखने की विषयता उसके लिए उत्तनी अनिवार्य नहीं होगी। कारण वह राज्य लोक-मानस में अविच्छिन्न होया अंगुष्ठ के रूप में ऊपर से भय और आतंक जपवा कर काम नहीं साधना चाहिये।

### एक सेवाभावी प्रबुद्ध-वर्ग की सृष्टि

इसने आप दैख सकते कि यद्यपि कम्युनिस्ट राज्य-पद्धति केन्द्रित और अधिनायकीय है तो भी अपनी पार्टी के लोक-पक्ष के द्वारा वह विकेंद्रित और प्रभावीय भी उत्तनी ही बन सकी है। बक यह प्रजापन और समाजपन के कारण है, राजपन के कारण उत्तना नहीं है। आप दैख सकते कि जो मैं ऊपर कहा उसका सारांश इसीमें पटित और गमित हो जाता है। वह सार और भी अधिक सिद्ध और सम्पन्न हो जायेगा अगर हम समाज में एक ऐसे वर्ग का निर्माण कर पायेंगे

जो स्वमान और संकल्प से हमेशा के लिए जन मन में अपना स्थान रखना चाहेगा और कभी राजपथ पर आना स्वीकार नहीं करेगा। आप देखें कि जिस देश और समाज के पास यह सेवामापी लोकमन में अविच्छिन्न प्रभुत्व-वर्ष हो वह कितना न बससाधी हो जायेगा। कम्युनिज्म जिस विद्या में बढ़ रहा है, यह बात उससे व्यापे की ही है पीछे की नहीं है। बाकिर क्या कम्युनिज्म स्वयं नहीं मानता कि राज्य को एक दिन समाज में विलीन होकर स्वयं में बनावरमक हो जाता है। कम्युनिस्ट प्रक्रिया बीच में अविनायक-तन्त्र को बस पहुँची मंजिल के तीर पर आवश्यक मानती है। ठर यह है कि पहुँची मंजिल अन्तिम ही न बन जाय और अविनायकाधीन यह राजतन्त्र की केन्द्रितता अपने को बिखराने को बिलकुल तैयार न हो बल्कि अन्दर ही अन्दर अपने को मजबूत बनाती जाने को ही मजबूर हो। जो बात मैंने कही उस प्रयोग में मानी आरम्भ से वह अतटा बचा दिया जाता है। राजतन्त्र की निर्भरता से वहाँ शुरू से ही स्वतन्त्र होकर बचा जाता है और लोक-धक्ति पर ही आधार रखा जाता है।

### समाज में राहें खुलें

अपराध में फटने की सम्भावना कम होयी कि जब समाज में से चारों ओर राहें खुलेयी कि व्यक्ति अपनी कस्तियों का उत्सर्ग और उपयोग वहाँ कर सके। उन राहों के दरवानों की चाबी जब ऊपर कही राज्य के पास रहती है, तो व्यक्ति की सूझ-बूझ बेबी और बन्ध रह जाती है। तब उसमें रोष और रोष जन्म पाता है और वह विहित सीमाओं के उत्सर्जन पर उतराक हो जाता है। उसमें असामाजिकता का उदय होता है और व्यक्तिमत्ता के अहंकार के बल से चतना ही उसके पास रह जाता है। अपराध इसके सिवा बचा और क्या है?

### भार व्यक्ति पर और परस्परता पर पड़े

मनमानेपन को अवसर देकर अपराध कम किया जायगा यह आशय आप न ले सें। नहीं समाज एकपक्ष बिधरा हुआ न होगा वह जगह जैसी अवस्था में न होगा कि जहाँ हर जानवर भिट और भाँव में रखा जाता है और बाहर आता तो सिर्फ एक-दूसरे के शिकार के लिए आता है। नहीं जग समाज में बीरे बीरे एक अन्तःकरण का जन्म होगा। व्याप्त मात्र से वह समाज लोगों की अवसर भी देगा और सहज भाव से यथावश्यक मर्यादाओं में भी रहेगा। छुन-छुन सम्बन्धी प्राथमिक आवश्यकताएँ उसे यदि चिन्तित नहीं रहेंगी तब सहज भाव से सांस्कृतिक आवश्यकताएँ उसके मन में जन्म लेने लगेंगी। यही है अपराध

का मूल मिटेगा और समुपयोगिता शुरू हो जायेगी। राज्य कितना भी व्यापक हो सांस्कृतिक आवश्यकताओं का नियमन अपने ऊपर करता है। वही स्थिति उतनी सहज और समाधानकारक नहीं होती। समाधान एक होगा जब वह सब भार सीधे व्यक्ति पर और निसर्ग-भाष्य परस्परता पर आ जाता है। धर्म-स्वायत्तमन्य आदि सब मानो उस भार की भारता को समाप्त कर देते हैं। उस अर्थक्य विषय की उन्नतता को ही काट बाँटते हैं। इस प्रकार का स्वैच्छिक और सहभावी परस्परता का गठन समाज को उस दृष्टिबद्ध में उठाता है या सकृद्वत् है वहाँ आत्म-नियन्त्रण ही और इसविषय राज्य नियन्त्रण की विधेय निर्मरता न हो। १९२ आपके उत्तर से प्रतीत होता है कि आप बहुवर्तीय प्रजातन्त्र-व्यवस्था को अपराधीमूलक में अग्रिम मानते हैं और कम्युनिस्ट एकवर्तीय प्रजाती को इस कार्य में समर्थ। क्या आपका ऐसा सोचना कम्युनिज्म की हिंस्रक वृत्ति को बढ़ावा देता नहीं है ?

### राजकीय चेतना का बढ़ना अंतरनाक

—मैं राजकीय चेतना को बहुत अधिक बढ़ा हुआ नहीं देखना चाहता। बहु वकीय पद्धति मानो समूचे जन-मानस को उस राजकीय चेतना से भर देती है। 'पोलिटिकल कान्स्टिटेस' को मूल माना जाता है, मैं 'रिक्लीबल कान्स्टिटेस' को ही मूल का स्थान देने को तैयार हूँ। शब्दों सझाई-सपड़े में आये बढ़कर पड़े और शब्द के पक्ष को अपना संरक्षण है यह बात उचित है लेकिन अम्यापक ईवीनियर, उपदेशक वैज्ञानिक किसान वगैरह भी उस कारण अपनी बगह बेचैन बने रहें और अपना काम न कर पायें इसको मैं धूम नहीं मानता। बहु वकीय पद्धति मानो सबकी सफलता के नाम की राजनीति में डाल देती और इस तरह मानसिकता की संकीर्ण बनाती है। उसमें बहुत प्राण-शक्ति का व्यर्थ व्यर्थ होता है और चुनाव के हो-हल्ले के बाद सीमनत्व नहीं सीमनत्व ही फलित होता है।

### कम्युनिज्म में राजनीति व्यवसाय नहीं

कम्युनिज्म की विधि से अद्यतन मुझे यह बड़ा संतोष है कि उसने राजनीति के व्यवसाय को इतना झुका और व्यापक नहीं रहने दिया है। उसका दल-संगठन इतना व्यवस्थित हो गया है कि सिर्फ महत्वाकांक्षा को लेकर कोई उछल-कूद मचाये और अपना काम बना ले जाय यह सम्भव नहीं है। मानी करने संघर्ष द्वारा उसने ठेक जन को सुविधा दी है कि वे अपने-अपने काम में रहें और व्यर्थ



हिरण-परेसान न हों। कम्युनिज्म की सफरता में यह तथ्य मेरे विचार से बड़ा सहायक हो रहा है। और तो और, सैनिक-तन्त्रशाही के नीचे भी लोगों ने राष्ट्र की सीढ़ी सी है। राजनीति के व्यवसायी जन मानो समाज-जीवन को इतना बचल और पैदा कर देते हैं कि व्यवस्था की बुझता लोगों को घसी तब आती है व्यवस्था की स्वतन्त्रता बुढ़ी लगने लगती है। कम्युनिज्म ने यह यदि इष्ट चाहा है तो उसकी प्रशंसा करनी होगी। लेकिन प्रशंसा वह हिंसा-पर-पनता की है, ऐसा आप न मान लें। अब यह कि वहाँ से हिंसा आती है, ठीक वहीँ उनकी सफलता भी रुक जाती है। उस हिंसा के पीछे जो लोक-बल का समर्पण उन्हें प्राप्त रहता है, वही उनकी शक्ति है। सम्पूर्ण लोक-बल और उसका सम्पूर्ण समर्पण हो तो हिंसा की जरूरत ही क्यों रह जाय ?

हिंसा जिसमें बीजे उसमें कुछ हमें पीछे ही न सँभें तो यह सम्भावना है। मैं मानता हूँ कि उन गुप्तों के स्वीकार और उत्कार के आचार पर ही यदि कभी उसमें से हिंसा का परिहार जाबया तो जा सकेगा। निम्ना में से कभी कुछ नहीं हुआ है क्योंकि निम्ना स्वयं निर्णीय हिंसा है।

**अथ हिंसा से अपराधोन्मूलन नहीं होगा**

अपराध मूल में हिंस-वृत्ति का ही नाम है। यदि वह हिंस-वृत्ति पड़ी हुई है लोगों के मनों में तो वह उत्पत्ति और संस्कृति का कलत्र है कि हम उसे व्यवस्थापूर्वक विहित और वैध राज्य के रूप में बिठाकर उपयोगी बनाते हैं। इस वैधानिक हिंसा ने अपराधरूप हिंसा का सामना सेना और उसे बलित-परबलित करना पकड़ नहीं है। समाज की ओर से ही यह इष्ट है। लेकिन इसके नीचे यह अच्छी तरह समझ सेना चाहिए कि अधिक से कम को बचाया जा सकेगा विहित से अविविहित को दबाना जा सकेगा लेकिन अपराधी हिंसा ना उन्मूलन इस वैध हिंसा से सर्वथा हो जायगा यह सम्भव नहीं है। अन्त में हर हिंसा को अहिंसा से ही कटना है। बम्बूक से छाठी बर जायगी लेकिन छाठी आप ही आप हाथ से पिर जाय यह पटना तक तक नहीं हो सकती जब तक सामनेवाले के हाथ में बम्बूक रहेगी। वह इष्ट बटित होगा तो तब जब सामनेवाले के हाथ में कुछ भी न होना सिर्फ मन में स्नेह और बाँहों में आभंगन होना। इसकी पहचान और भ्रष्टा यदि कम्युनिज्म में नहीं है तो हमके लिए उनका प्रयोग कैसे कर सकता हूँ ? •

## सेक्स, वेश्या, शराब, खेल, प्रशासनिक ढील

### सरकार की जिम्मेदारी

१९३ हमारे देश में सेक्स-सम्बन्धी अपराध दिन पर दिन बहुत बढ़ते जा रहे हैं। इसका आप क्या कारण मानते हैं और समाज एवं सरकार को कितनी दूर तक ऐसे अपराधों के लिए जिम्मेदार ठहराते हैं?

—बड़े अपराध और देशों में भी बढ़ रहे माने जाते हैं। दूसरे देशों में सुविधा यह भी है कि बहुत दूर तक इस रिवाज का अर्थ व्यवस्था नहीं माना जाता। लेकिन इसकी विधि का नहीं व्यवहार का दोष मानना चाहिए। वह दोष विविधाचार का है। कानून में अपराध है, यह नहीं मानना चाहिए।

सरकार से सेक्स के प्रश्न को जोड़ना जरा दूर चले जाना है। समाज तक ही प्रश्न की संपत्ति को रखना चाहिए। यह ठीक है कि समाज-व्यवस्था के नियम अन्त में बाहर कानून में मूर्त होते हैं। तो भी जब 'जॉ एण्ड मार्टिन' पर ही का बनती है तब कानून स्थिति की ह्रास में होता है और सेक्स का प्रश्न बहुत दूर तक इस तरह कानून से बचा रह जाता है।

### काम की अवमानना

सेक्स के प्रति महानुभूति से विचार होना चाहिए। निवृत्ति और मोल की माया को आपह में जब हमने सीखा तो माली सेक्स के प्रति कुछ अवमानना का भाव उचित जान पड़ने लगा। इण्डियों का अविश्राम पैदा हुआ और सबसे अधिक कामेष्ट्रिय था। इस तरह बर्ष और बर्ष में विमोह ही नहीं विरोध पैदा हो गया और जीवन से दूर रहने एवं विचार और समाज बन रहा।

यों पुरुषार्थ चार गिनाने में है और काम की पुरुषार्थ में घटना है। बर्नानु वह ही नहीं है, उपाय भी है। उस जोर से उदासीनता और उपेक्षा नहीं बर्नानु स्वीकार और समावेष्ट की गति होनी चाहिए।

## काम अविशेष

यह बात साफ है कि पुरुष और स्त्री अपने-अपने में अकेले हैं। जीवन का सातत्य जो सन्तति द्वारा सिद्ध होता है किसी एक के बस का नहीं है। दोनों के परस्पर मिलन में से जीवन बजस बनता है। सृष्टि की कड़ी ही पीढ़ियों और मूर्तों को परस्पर मिलाये रखती है। पुरुष का अपने में अकेलापन और स्त्री का अपने में अग्रुपन यदि सत्य होता तो उनके मिलन में ही सृष्टि का मग्न समाया हुआ न बिछाई देता। इसीलिए हम बैठते हैं कि काम का निरोध होता नहीं है, तपस्या द्वारा किया जाता है, तो अन्त में तपस्या को ही हारना पड़ता है, विषय काम की होती है। यह काम क्यों इस माया में अविशेष होता है?

## एकाकिता असत्य

स्पष्ट ही इस दुर्बलता यथार्थ की घोषणा यह है कि एकाकिता असत्य है। परस्परता से ही सत्य का आरम्भ है। परस्परता से मूढ़ मीढ़कर जब-जब व्यक्ति ने चाहे आराम के नाम पर, चाहे परमात्म के नाम पर या चाहे किसी और नाम पर अपनी साधना ब्रह्मायी है, तो अन्त में हठ ही उसके हाथ में रह गया है, सिद्धि तनिक भी नहीं आ पायी है। स्व की पर क बिना स्थिति ही नहीं है। जीवन का सचेतन आरम्भ स्व-परता के बोध से होता है। आरम्भ ही स्व-परता से है लेकिन गति परस्परता में से होती है। पर में स्व भाव काते और स्व में पर को स्वीकार करते हैं तब जीवन का चक्का और खिसना शुरू होता है। मूढ़ और भोग से दोनों इस तरह जीवनारम्भ में ही हमको प्राप्त हो जाते हैं। पर के प्रति सम्बन्ध का आरम्भ इन दोनों वासनाओं में क्या पाता है। मूढ़ अपने को नहीं सा सक्ती जीपने के लिए भी अम्यत्व की जरूरत होती है। जीवित प्राणी में इस तरह में दोनों वासनाएँ आप मूढ़ तक पायेंगे।

## काम का इनकार अहं का स्वीकार

काम का इनकार मानो मिथ्या अहं का स्वीकार बन जाता है। अहं टिकने के लिए है नहीं। यह श्रिफ़ता इसी शर्त पर है कि वही से सम्बन्धों का विस्तार हो और सम्बन्धानुमूर्ति के लिए वह चित्-केन्द्र से अधिक न रहे। यदि सम्बन्धों के ही मूढ़ बाहर वही मिलते नहीं हैं, तो अहं मानो नुट जाता और सूखता जाता है। आरम्भ जो पावक हो जाता है कभी अकेलेपन के प्राप्त में मर तक जाता है, तो इसी कारण।

## परस्परता और प्रेम

परस्परता में जब खति जाती है, अवरोध जाता है, तो समस्या बनी खड़ी निभा देती है। परस्परता का फैलाव और विस्तार होता जाता है, तो मानो समस्या की बगल गुल और स्वास्थ का अनुभव होता है और व्यक्ति गुल्म और स्वल्प से ठेका और महान् बनता है। इस परस्परता के विस्तार को प्रेम और समझ विस्तार कहना चाहिए। इस तरह काम का इलाज प्रेम है। काम काम इसलिए है कि वह सीमित है। प्रेम प्रेम इसलिए है कि वह सीमा में नहीं है। वैयक्तिक सम्बन्ध वहाँ तक है, वहीं तक काम है। प्रेम मानो इस व्यक्तिमत्ता के विपक्षन स गुरु होता है।

## अहं रक्षण और अहं विसर्जन

सेक्स मिश्रण है अहं-रक्षण और अहं-विसर्जन की दो अनिवार्य और विरोधी प्राण प्रेरणाओं का। इस तरह उसमें एक विस्फोटक तत्व विद्यमान रहता है। जोय इसीसे उसमें असामाजिकता के बीज बैठते हैं। वे बीज हैं यी। लेकिन अहं को इनकार करें, तो मानो समस्त अस्तित्व का अर्थ गुप्त हो जाता है। मृष्टि के अर्थ को बारम्बार करनेवाला अन्त में 'मैं' ही तो है। 'मैं' को हटा दीजिये तो अर्थ अपने-आप हट जाता है और सब कुछ अर्थहीन बन जाता है। मैं को सर्वथा हटाने की चेष्टा में से ऐसे अर्थहीन व्यर्थ और निरर्थक अस्तित्व बहुत से पैदा होते रहे हैं। सामाजिक अनुस्यू ऐसे प्राणी को अनोखा मानकर चाह उसका प्रति झुकाव भी आता हो, पर मानो वे व्यर्थता के ही प्रतीक बन रहे हैं। उनका अर्थ और परमार्थ की हानि ही हुई है। इसलिए काम की विस्फोटक शक्ति से हम काम केत रहें और अपना काम बिगड़ने न दें। इसीमें ज्ञान की और कला की कुशलता है। ज्ञान विज्ञान अथवा कला हम कुशलता से हटते हैं और उस प्रकार व्युत्पन्न नहीं दिना पाते तो वे भ्रष्ट और विकृत होते हैं।

## परस्परता की खति में से अपराध

अपराध का निर्माण इसी क्षति में से होता है। ज्ञान हमारे अस्त्रों में नहीं बसती है, तो वह माना नहीं बनाती पर कला देती है। आप के आपन का हममें शय नहीं है। उस आपन के कारण ही तो ज्ञान हमारा बन पाता है। योय नहीं हमारी अज्ञानता में ही रहता है। ज्ञान का काम यह जानना है, तो वह ज्ञान कभी बदल नहीं सकेगा। वह उसका स्वभाव है, धर्म है। अनु-स्वभाव और अनु-धर्म की समझना अपने-प्रति किसी हृ में नहीं ठगना ही सम्यक ज्ञान और

सम्यक् चारित्र्य है। जब हम अपने से पर के स्वभाव और स्वधर्म पर दृष्ट होते हैं तोप नहीं बाधते हैं, तो अभर्म करते हैं। अभर्म इसलिए करते हैं कि शोष अपने प्रति नहीं करते। प्रत्येक अन्य को क्यों-का-त्यों स्वीकार करके ही हम अपना व्यक्तित्व बचा सकते और उसको उत्तरोत्तर निष्पन्न करते जा सकते हैं। काम और कामना के आवेग में अधिकार यही हो जाया करता है। प्रत्येक के भीतर यह आवेग पैदा हुआ है और परस्पर के प्रति प्रतिस्पर्धा काम किया करता है। जहाँ हम स्वतन्त्र परस्व की मर्यादों का इसमें संतुलन कर जाया करते हैं, वहीं उच्छेदन और पाँठ पड़ जाती है। कसने पर वहींसे अपरिचय बनने लग जाते हैं।

### विवाह, गिरिस्ती

हमने अपने बीच एक संस्था को जन्म दिया है, जिसे विवाह कहते हैं। पिछड़ी मा बड़ी हुई, बर्बर या सम्य समी बातियों में विवाह का प्रचलन है। विधि और प्रकार का अन्तर हो सकता है, लेकिन समाज के रूप में भाते ही मानो व्यवस्था के लिए इस प्रकार की आवश्यकता सहज अनुभव में आ जाती है और अनुरूप प्रयोग हो निकलता है। आपसी ने आप से भुगतकर या हथी में पकाकर भोजन का आतिथ्य कर किया इसका इतिहास में पता नहीं मिलेगा। उपयोग में लाने की आवश्यकता और साथ अनुपयोग से बचने की आवश्यकता का जिस सब आदमी को नान हुआ उसी सब मानो उसने अग्नि के समान कामाग्नि पर भी कुछ व्यवस्था का नियमन बाल दिया। यों तो स्त्री के प्रसू को लेकर छायापूर्ण आदिकाल से सब तक होती आयी है लेकिन ठीक उसी आदिकाल से स्त्री को लेकर हमने गिरिस्ती जैसी बीच का भी अपने बीच आरम्भ कर लिया है।

### एक भाग, दो रोटियाँ

विवाह वह प्रयोग है, जो स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध में मर्यादा लाता है। उस मर्यादा की रेखा पर मानो बराबर एक रण्ड और समझ-झी चलती रहती है। ऐसा कभी नहीं हो पाता कि चूहे की आप पत्नीजी की ही लगे आस-पास नहीं न है। चूहे पर तथा बड़ा होता है, लेकिन एक रोटि नीचे सिर्फ़ गरमी से भी चिकनी चली जाती है। भाग एक ही साथ दो रोटियों को बकल-जलप पकाती है, लेकिन स्तर भेद से उन दोनों का अन्न-अन्न स्नान होता है। यह समझना कि विवाह के अनन्तर पति पत्नी के अतिरिक्त दोप सब सम्बन्धों में कामोष्मा समाप्त रहती है, भूख में चसना है। यह समझ नहीं है। पुरुष में किसी रूप को देखकर चमक आ जाय या स्त्री की भाँवों में वह चमक दिखाई दे और इतने से पति-पत्नी एक-दूसरे पर

उसके पक्षों और लगाइ निकलें तो क्या होगा? कामोष्मा इस ऊपर के डर से क्या बनने को मिला सकेगी? होगा केवल यह कि उसकी अमिष्मन्ति सहज और प्रकृत न रहेगी। वह छिपे बने अप्राकृतिक अवस्थाओं में धारण होगी।

### व्यवस्था सम्पत्तिमूलक

व्यवस्था हमारी सम्पत्तिमूलक रही है, कुछ हमारी हो भी नहीं सकती। कितनी भी समाजवादी साम्यवादी सर्वोदयवादी वह क्यों न हों, स्वतन्त्र और सम्पत्ति का भाव व्यवस्था के आधार में रहने ही वाला है। निताग्रता से हटाकर सपेक्षता के स्तर पर हम उस भाव को भले स धार्य लेकिन व्यवस्था का अर्थ ही अनेक स्वतन्त्रों के बीच एक मर्यादा का निर्माण करना है। यही स्वतन्त्र और सम्पत्ति के भाव से मुक्ति बन्त तक नहीं है। बिनाही भी समाज-भावना के उसी स्तर तक उठ सकता है जिस तक हमारा दूसरा व्यवहार उठा हुआ हो।

### पूर्वोबाध

एक राज्य बलता या और बलता है पूर्वोबाध। दूसरा राज्य आप चाहें तो कहा सकते हैं कानूनवाद या राज्यवाद। बिनाही को उस सारे प्रकार के सहारों से हम टिकाये रखते हैं और ऐसे अपने बीच मर्यादाएँ बनाये रखते हैं। लेकिन जीवन विकास दीप्त है और इसलिए उन तत्त्वों से वह शून्य नहीं हो सकता जो मर्यादों के धार पार प्रवाहित होने और इस बिधि स्वयं मर्यादों की मर्यादितता को स्पष्ट करते रहते हैं। उन तत्त्वों के सहारे परिवर्तन और विकास होता है और स्वयं हमारी सामाजिक संस्थाएँ संकीर्ण से उन्नत होने की ओर उठती जाती हैं।

### सेक्स की समस्याएँ

बर्ह के बाने के मर्दान ब्रह्म कन से बनी सीधितता और रूप में स उठती हुई व्यापकता के बीच संघर्ष अनिवार्य होगा है। उस अपह समस्याएँ भी बने बिना नहीं रहतीं। धर्म के क्षेत्र में उन समस्याओं का निवन्धन अनेकाकृत आधान बीजता है। कारण नाम-भाव रहने पर भी बुद्धि और यक्षित का उपयोग बर्ह सम्भव बन जाता है। संक्रम के क्षेत्र में मानो वे ही समस्याएँ बेहद उत्पन्न जाती और बड़ी बिफट और उत्कट बीजती हैं। कारण, बुद्धि हमारी रागाक्रान्त हो जाती है कि काम नहीं है पाती। स्व और स्वर्गीय की बेहद आकर्षण बर्ह नजर आती है, पर और पर कीप के प्रति बाधा मानो बिबुध नही बन सकता। इसलिए उन उदाहरणों में बर्ह-अनर्ह रूप उपस्थित हो जाते हैं। हमारे हो सकती हैं, भाव-हमारे

हो सकती है या और कूटार्थ प्रकट हो सकती है। जिनमें कभी पाछा स्नेह रहा उन्हींके बीच इतनी गुनागुन होती है कि उस मनोवस्था की सम्भावनाओं की सीमा नहीं रह जाती है। मुझे लगता है कि इन प्रश्नों का निदान और समाधान कुछ ही दूर तक सामाजिक विचार के पास है। अधिक तो इन प्रश्नों का सम्बन्ध मनो-विज्ञान की दिशा से होता है और वहीं भवेपणा की आवश्यकता है।

### किराये के सम्बन्ध अधुन

१९४ बेस्म्या-वृत्ति को व्यक्तिगत एवं सामाजिक स्वास्थ्य के लिए आप किसनी दूर तक दुरुम बचवा अधुन मानते हैं? क्या कानून के जोर से बेस्म्यावृत्ति का पोषण बचवा उन्मूलन सम्भव है? सरकार ने बेस्म्या-वृत्ति को कानूनन बन्द करके क्या सबकुछ जन-जीवन से उसे समाप्त कर दिया है?

—बेस्म्यावृत्ति को मैं दुरुम कैसे मान सकता हूँ?

अधुन जो उसमें है वह और क्यों मैं भी समाज में व्याप्त है। इसलिए इस प्रश्न को दूसरे प्रश्नों से अलग मैं नहीं के पाता हूँ।

व्यक्तिगत और सामाजिक स्वास्थ्य का प्रश्न कुछ आत्मपत नहीं रहता है। इसलिए इस सम्बन्ध में सहसा फलवा नहीं दिया जा सकता। साधारणतया स्त्री-मुख के बीच किराये का सम्बन्ध अधुन है ही। लेकिन उपयोगिता की ओर से विचार करने पर मान्य होता है कि प्रश्न में और पहलू निकलते हैं और फैसला सीधा नहीं हो पाता।

### कानून से सही रोक-थाम असम्भव

कानून के जोर से पोषण तो अवश्य सम्भव है। आखिर जहाँ उस प्रथा का बलन है, तो पोषण उसे कानून की ओर से ही तो आता है। उन्मूलन अवश्य उस तरह सम्भव है। बहुत और उपायों तो इतना अवश्य कर लीजियेगा कि अमुक बाजार तासी हो या कानून की ओर से साइसेम्स पट्टा किसीको न मिले इत्यादि। लेकिन वह व्यापि अविहित और अनिर्दिष्ट रूप से बापस समाज-सरीर की गिरावटों में प्रवेश पाये तो उसकी रोक-थाम कैसे कर पाइयेगा? इसलिए यद्यपि कानून की चाहिए कि वह अपनी ओर से भ्रमक करता रहे लेकिन सम्योच मान से और अपने की भाषासी हैने मग जाय इसका अवसर कानून को भी कभी नहीं आना चाहिए।

१९५. आपके पत्र बहुत आकांक्षी रह गये। अच्छा ही यदि आप ऊपर के एक-एक प्वाइंट को लेकर उस पर बीड़ा बिस्तृत विचार करेंगे।

—जो उन मुद्दों में अस्पष्ट रह जाता हो उसको तुम्हीं न सामने लाकर रखो।  
तब तो मान्य हो कि कहीं क्या और कहने की आवश्यकता रह जाती है।

## बेस्पाबुलि और सामाजिक स्वास्थ्य

१९६ सृष्टि के आरम्भ से जल्दी जानेवाली इस बेस्पा-बुलि को आप अनुम क्यों मानते हैं? सामाजिक स्वास्थ्य के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता उसे आप क्यों नहीं समझते हैं?

—सृष्टि के आरम्भ से जारी है यह तो सही है पर बेस्पा है यह कैसे माना जा सकता है? बेस्पा पीछे के आरम्भ से पहले ही नहीं सकती। मानव-जाति के इतिहास में अबतक वह एक ऐसा समय है जिसका पता लगाया जा सकता है। बाहिर उबरत और भीतर देकर जब भोप के लिए जारी को प्राप्त करते हैं, उनी तो उसे बेस्पा कहते हैं। कौमल पीछे के रूप से बुकाने की बिधि ही न ही तो बेस्पा की स्थिति नहीं बन पाती।

## बुजिमता ही अस्वास्थ्य

सामाजिक स्वास्थ्य हाविक भी ही यह अनिवार्य है। हाविक से अधिक जितना वह बुजिम होता है उतना ही उसमें अस्वास्थ्य मिल जाता है यह बेस्पा और यह जानना कठिन नहीं होना चाहिए।

तुम्हारा प्रश्न इस अपह्न आकर यह रह जाता है कि अस्वास्थ्य समार को अस्वास्थ्य की बुजिबा बेटे रहने में आपको क्या आपत्ति है?

इस प्रश्न के उत्तर में केवल इतना ही कहा जा सकेगा कि अस्वास्थ्य का निमाव ही करना है और वह इस दृष्टि से कि अस्त में स्वास्थ्य का काम हो। टीगों में यदि बरुने की शक्ति नहीं जाती है तो टिकने को बीसाली दे दें इसमें हर्न नहीं है लेकिन स्वस्थ वह तब कहलायेगा जब बीसाली का सहारा उसे न होपा और टीमें बल सकेगी।

प्रश्न को सिरे से नहीं बीष से सेना है यह कहना कि यदि इन बेस्पाओं से बेस्पा बुलि छिन आपसी तो फिर क्या होगा? मैं स्वयं उस अपह्न से बिचार करने को तैयार हूँ पर वह केवल नागरिक बिचार हीना। अर्थात् टपयोगी बिचार, बैज्ञानिक या उत्प बिचार वह नहीं हो सकेगा।

## बेस्पा-बुलि की जड़ क्या है?

१९७. मैं यह जानना चाहूँगा कि बेस्पा-बुलि की जड़ में आर्थिक-बिचरता प्रभ



है या काम की उद्दीप्तता या एक रोमानी कल्पना या अपने अहंकार के विस्तार की कामना ? इस प्रश्न के उत्तर के आसार पर ही हम विचार कर सकते हैं कि यह वेस्पा-वृत्ति शुभ है या अशुभ जबकि इसका सम्मूलन किस प्रकार किया जाय।

### इस संस्था का पूरा चित्र

—वेस्पा नाम की संस्था के कई कोने हैं। यी तो साफ हैं (१) यह पुरुष जो ग्राहक बनता और पैसा देता है। (२) यह स्त्री जो कुछ बेचती और पैसा पाती है। लेकिन यह बाजार सीधे इन ग्राहक और बेचक से नहीं बन जाता। ये दो मात्र व्यक्ति हैं, वेस्पा-संस्था सामाजिक है। अर्थात् दूसरे और सहयोगी हों तब यह बाजार चलता है। यह कोई छिपी बात नहीं है कि यह बाजार यी यूरो के नियमों से चलाया जाता है और उस बस-बूते पर भी चलाया जाता है। मैंने शायद कहीं पहले जर्मनी में मिले व्यक्तियों में से किसीकी बात कही थी जो इसके आसपास का ही व्यापार करता था। लेकिन बहुत पावन्ध और परछेजबाला आदमी था। उसको स्त्री में रस नहीं रह गया था न उसमें कुछ नम्यता जान पड़ती थी। भोम्यवृत्ति मानो उसमें भी तो वह किसी उत्तीर्ण बौद्धिक स्तर पर थी। शायद वह अपने नाइट-क्लब में कमी जाता भी न हो वही-साथे उसके पास बस्तर में ही पढ़ें जाते हों। तो वेस्पा के बाजार के लिए यह आदमी कुछ कम प्रयत्न नहीं होता है। यह बाजार की चलता है पर उसकी रंजीनी में रस नहीं होता है, थिंक आदमी में रस होता है। उसका रस ऊपर नहीं है, नीचरी है और जब हम वेस्पा की बात करते हैं तो अक्सर इस आदमी को मजर से जोड़स रहने देते हैं। उस-पगड़-बीस वेस्पारें अपनी वृत्ति छोड़ दें तो बाजार में फर्क नहीं आता है। लेकिन यह एक अकेला आदमी जो यों बाजार में जुका बीखता भी नहीं है कहीं वहाँ से बेहद हटा हुआ और घूर मानूम होता है, उस सारे बाजार में छलट-पलट ला सकता है। इस आदमी की स्वयं वेस्पाओ से कम काम पड़ता है, अपने एजेण्टों से ही बात करना उसे अच्छी और काफ़ी रहता है। संक्षेप में इस सारे बाजार का चित्र हमारे सामने तब उपस्थित होगा जब हम आनेवाले पैसे का पीछा करेंगे और मायूम करेंगे कि उसके काम का बेटबाप कैसे होता है। सम्भव है कि ग्राहक के पास से बीस रुपये तर्ब हुए और अपना भोग बेचनेवाली के हाथ उसमें से भी ही रुके पड़े। बाकी बचा रहूँ रुपये का क्या हुआ इसके अध्ययन में स वेस्पावृत्ति का पूरा चित्र सामने आ सकता है। बहुत थोड़ा मात्र है जो सतह के ऊपर दिखाई देता और इसलिप पकड़ में आ जाता है अधिक मात्र तो उसका सतह के नीचे पानी में तैर रहा है और उसका वेस्पा-बीछा माफूसी तीर पर हमारे हिसाब से चला रहता है। मत्त मानिये

कि अगर बीजनेवाले बाप को बाप नामुस के फरसे से काट देते हैं, तो मातम कट जाता है। बेरपा-भूति के किए समस्त बैरप-भूति को बापको समझना चाहिए। मैं नहीं जानता कि ये दो शब्द यदि ध्वनि में इनमें पास हैं, तो उनका निकाल भी क्या एक बातु से है। लेकिन जर्ब-व्यापार के बिचार से अलग बेरपा के प्रश्न का बिचार पक्कवप्राप्ती ही होगा मूखप्राप्ती नहीं होगा यह बल्की तरह समझ केना चाहिए।

### प्राहक और डुकानदार की प्रेरणाएँ

अब ये सब प्रकार के व्यक्ति किन किन प्रेरणाओं से बच रहे हैं इसके बारे में निर्णय एक नहीं हो सकता। जो पैसा जेब में लेकर प्राहक बनकर जाता है, उसकी प्रेरणा वैयक्तिक काम-धुमा से सम्बन्ध रखती है, यह तो कहा ही जा सकता है। धुमा बहुत है, या अधिक हीन है या लत विभक्त है, या प्रतिक्रिया में से उत्पन्न हुई है, इत्यादि जो भी निदान हो वह काम-सापेक्ष अवस्थ है। पापी जो लत देती और फीस पाती है, वह बेह-बाग में से भीष-धुप्ति पा रही होगी यह मानने में कठिनाई होती है। यह उसके लिए इतना अधिक पम्पा है कि अगर बेगार और मुसीबत पैसा ही अब उस पापी में रहता हो तो मुझे अचरज नहीना। अब कैस वह इन बाजार के किनारे तक आकर लगी इसमें नाना परिस्थितियों और नाना परिणतियों का योग ही सकता है। कितनी स्थिरकर आयी कितनी फिकरकर आयी कितनी आप आयी कितनी बारगी के साथ और लोभ में आयी कितनी स्वप्नकारिताओं की रखती हुई आयी कितनी बीज और विजोम में बर से टूटकर बाहर आयी इत्यादि असंख्य सम्भावनाएँ हैं। कल तक पैसुक व्यवसाय के रूप में भी यह बीज बछती थी और नहीं बल्कियों को इस पेठ के लिए प्रति जित किया जाता था। यह सब संशेष का सवाल है और कुछ परिचोबक इस काम में लगे भी हुए हैं।

### प्रश्न का समग्र रूप

लेकिन मैं यह मानता हूँ कि प्रश्न को समग्र रूप में लें तो समग्र सीरे में बीजनेवाले को व्यक्ति प्रमाण नहीं रह जाते हैं बल्कि ये तो भीष तक बन जाते हैं। मैं जिस साबुन से महता हूँ वही तक कैवपहुँचता हूँ वह क्योंतैयार होता है इयाकि प्रश्नों में बरसे तो बहुत से रहस्य निकल आ सकते हैं। सामूहिक तौर पर तो यही होता है कि बर से कोई जाता और डुकान से साबुन ले जाता है। आगे सटीर-बिक्री इतनी ही है। लेकिन ऐसी असंख्य व्यक्तिगत विधियों के हाथ एक बड़ा व्यापार

चलता है। उसका रूप समझने के लिए बिना को नहीं तक सीमित नहीं रहना होता। भारतीय में भूल है इसीलिए रोटी में कीमत पड़ती है। इस नियम का लाभ उठा कर बंगाल का बकाय पड़ा और अगर वह छाबों को मार गया तो सैकड़ों को मार-मार कर गया। छाबों की भृत्य और सैकड़ों की खुदहासी बेतने में उसकी नीबें हैं, पर नीबे से काफ़ी वे बुरी हुई हैं।

### वेस्पाबुति, धर्म, धर्म

मैं यह मानता हूँ कि वेस्पा का प्रसन्न काम से ही नहीं धर्म और धर्म से भी जुड़ा हुआ है। धर्म में जान-बूझकर कहता हूँ क्योंकि धर्म की जो धारणा हमारे धर्म-व्यवहार और काम-व्यवहार को चलाती है, प्रसन्न से किसी तरह मुक्त नहीं मानी जा सकती है। क्या आप असम्भव समझते हैं कि इस व्यापार में पूर्वी लपटाकर जान उठाने वाला व्यक्ति धार्मिक हो सकता है? जी नहीं वह बड़ी आसानी से और बड़ी बाहबाही के साथ धार्मिकता में ऊँचा उठा हुआ हो सकता है। इसलिए इस प्रसन्न में काम के साथ धर्म और धर्म का सम्बन्ध आ जाता है। और इनसे हटा हुआ सीमित वेस्पा-बुति का विचार किसी गहरे निदान तक नहीं पहुँच सकता। कोरी ऊपरी रचना चाहे उस पर कितनी भी छाड़ी कर भी जाय।

### स्त्री-पुरुष की समान अधिकारिता रोग का निदान नहीं

१९८. आपके ऊपर के विस्तरेणव हैं यह बात प्रकट है कि वेस्पा-बुति भुनाऊखोरों और सिबके के प्यासे समाज-द्रोहियों की ही है। उन्होंने ही स्त्री को मात्र व्यापारिक पदार्थ बनाकर उसका पन्था चलाया और खेलाया है। यही कम्युनिस्ट भी मानते हैं और वे भी इस बुति को बुर्जुआ और पूँजीपति समाज-व्यवस्थाओं की हैन कहते हैं। क्या कम्युनिस्ट-समाज की तरह स्त्री को पुरुष के समान पूर्ण अधिकार दे देने पर इस बुति को समाप्त किया जा सकता है स्त्री और पुरुष दोनों रूप में? —स्त्री और पुरुष के परस्पर अधिकारों की तौल पर यह प्रश्न स्थगित नहीं है। पैस में कितनी एक्ति है और मुनाफ़ापोरी के लिए कितना अवकाश है वेस्पा का प्रसन्न अधिकार इस पर निर्भर करता है।

### धर्म विषय का मुख्य समाज में कितना ?

स्त्री और पुरुष के बीच ऐसा कुछ ध्वस्त रहेंगा जो आत्मा और हृदय से अतिरिक्त भी कहा जा सके। धर्मान् ऊपरी सोम और साक्ष्य का व्यवकाय उन सम्बन्धों में रहने ही बाका है। जो व्यक्तियों में अन्तर न रहे, यह सम्भव नहीं है और कुछ-

न-मुक्त आर्थिक स्तर का भी अन्तर रह सकता है। यह कहना कि कम-अधिक आर्थिक सम्पन्नता के कारण स्त्री-मानस में पुरुष के प्रति कुछ अन्तर ही नहीं आया व्यर्थ है। इसलिए वह सामग्री तो मौजूद है ही और रहने ही वाली है, जिनका उपयोग किया जा सके और सेन-देन में जिनके काम पर लगाइ रखी जा सके। प्रश्न केवल यह रहता है कि इस सेन-देन क्रय-विक्रय का मुख्य समाज में कितना है? अगर हमारा सामाजिक और आपसी व्यवहार पैसे के द्वारा होनेवाले सेन-देन पर निर्भर करने लग जाता है, तो ऐसे समाज में स बेरदा-भृति हट नहीं सकेगी। कम्युनिस्ट क्षेत्रों में स्त्री-मुख्य एकदम बरत गये हैं या बहुत ऊँचे हो गये हैं, संभाव्य नहीं है। अर्ध-विनियम और अर्ध-विनियोग की प्रणालियाँ ही बही बदल गयी हैं। कम्युनिस्ट नीतिक आकर्षण कोई बही सम्पात नहीं हो गया है और स्त्री-मुख्य-सम्बन्धों में इसके दृश्य बही भी सुने देखे जा सकेंगे। जो सचमुच बन्द हो गया है, वह बाजार है और मैं मानता हूँ आपकी समझा भी वैयक्तिक या दो व्यक्तियों की पारस्परिक नहीं दो बल्कि सामाजिक भी। इस तरह घायल उलझा सम्बन्ध उस बेध्या-व्यापार से वा जिसका बाजार बन चुका हुआ है और वहाँ नापी की बेह पैसा फेंक-कर पय्य पदार्थ के रूप में बोपी-बिछेरी जाती है। उसका सम्बन्ध सीधे अर्ध-विनियम और उसकी प्रणालियों से है ऐसा मैं मानता हूँ। स्त्री-मुख्यों के परस्पर अधिकारों के बिनाश से वह बलग है।

१९९. स्त्री ने पुण्य पर जो यह आरोप हमेशा लगाया है कि वही उसके पतन उसकी कुल्लता और उदासी दुर्गता का मूल कारण है, वही राक्षस है। उस आरोप से चित्तनी दूर तक आप सहानुभूति अनुभव करते हैं?

न पुण्य राक्षस, न स्त्री कुल्लता

—नहीं, यह आरोप सदा क्या बहना भी स्वयं स्त्री से नहीं आया है बल्कि स्त्री की ओर से स्वयं पुरुष के मुँह से सुना गया है। यह पुरुष-निषेधित और पुदरोचित विज्ञा है, जिसने यह आरोप स्त्री के मन में और मुँह में डाला है। स्त्रियों के प्रति क्या और सहानुभूति के उद्देश्य में पुरुष लोग ही इस प्रकार की आवाज उठाया करते हैं जिसका कुछ आशय नहीं है। आप समझ लें कि यदि कोई किसीको कुछ देता है, तो वह अपने दुःख के भाग और मौग में से ही दे सकता है। अर्थात् जो दुःख देता दीयता है वह दुःख पा रहा होता है। अनेक-अनेक दुःखों की लेकर आखिर स्त्री पुरुष वहाँ चार्ने? सिवा इसके कि वे उन दुःखों को एक-दूसरे पर डालें और वे कर क्या सकते हैं? यदि बाहर सारी दुनिया से अगर तिरस्कार सहता हुआ पर आता है और वही उसको महसूस नहीं मिलता तो वह नीर क्या करे सिवा इसके

कि अपना सारा शोम पत्नी पर उतार निकले ? प्यार करते हैं, सही पर अत्याचार भी करते हैं। प्यार की ही यह बेवसी है। स्त्री वह कल्पनाहीन है और पुरुष भी वह कल्पनासूय है, जो इसको पहचान नहीं सकता। यह काल के अन्त तक भी कभी न हो पायेगा कि पुरुष अपना शोम स्त्री पर न उतारे और स्त्री अपनी समित भावनाओं को अपने प्रिय पर ही न उल्लेख करे। प्रेम जो एक पुरुषार्थ है, परीक्षा है, जो इसी कारण कि इस सबके प्रति उसमें से सहृदयता प्राप्त होती है। हमारे पुराणों की कृतियों ने क्या कष्ट नहीं भगा ? विक्रान्त का सबाक हो, तो उनमें से हर एक के पाठ से एक बड़ा पोषा तैयार हो सकता है और अवाक्य में काया धाम तो निश्चय ही पति के लिए भारी दण्ड का फैसला हो सकता है। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। सती की ओर से विश्वास और अर्पण ही जाता रहा। इसीलिए तो सती की महिमा हुई। निश्चय एविये कि सतीत्व कोई बड़ भाव नहीं है। उसमें बहुत ठिठ्ठिका की आवश्यकता होती है।

आज का वातावरण परस्पर बोधोपेयन से भर हो सकता है। लेकिन इसका कारण तो यह है कि हमारी सहृदयता कम हो गयी है। पुरुष राजस नहीं बन गया है न स्त्री ही कुब्ज हो गयी है। कुछ मिठाकर देखें तो जीवन आने जाया और सम्मता का विकास हुआ है। लेकिन इस विकास में बुद्धि बार पा गयी है और उसने परस्पर सहृदयता को सीमा और बर्बर बना दिया है। बुद्धि बाँटियों में पहुँच गयी है और ऐसी हल्की और व्यर्थ बातों पर ठकाक होते लगे हैं कि ईश्वरी जाती है। पहले बड़ी बातें ध्यान तक में न आ सकती थी आज पहचान में आती हैं इसको तो बुद्धि की तीक्ष्णता का ही कारण कहना होगा। कभी जो जायी है वह बीरज और समझ में आयी है। समय के खज का मूल्य बढ़ गया है और ये गुण क्षमिता से उल्टे नित्यता के परिचायक हैं। इसीलिए साम्प्रत उनका अभाव उपरति की सहमा जलता नहीं है। लेकिन जब हम समझ पायेंगे कि समय बही नहीं है जो भागता है समय का वह भी कम है जो टिकता है काल का महारूप अकाल है, उस क्षमता के बीच अक्षमता का मूल्य भी हम समझने लग जायेंगे। मैं मानता हूँ कि इस परिप्रेक्ष्य में विकास का अवकाश नहीं है। और आगिर स्थिति यदि ऐसी है भी जो सारे पोष की मुष्टता पुरण में पैरना चाहती है, तो वे मुट्ठीभर होंगी। फिर घायर कहीं गहरे में उनमें चोट भी हो। ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे। पहले की बघाएँ हैं, अब भी कहानियाँ लिखी जा रही हैं कि पुरुष-मात्र के प्रति तीव्र विरोध है, लेकिन इसीलिए है कि कब उपयुक्त पुरुष और उपयुक्त बड़ी आये और देखते-देखते विरोध एकाएक समर्पण में सार्थक हो जाये। अतः बने जाये प्रयासों को क्याश मिलने और अटकने की जरूरत नहीं है।

## वेत्ता-वृत्ति का काम-यत्न

२०० इस प्रकार पारस्परिक दुश्-वृत्ति यातना वान और पारस्परिक सहृदयता की वृत्ति से वेत्ता-वृत्ति का निरीक्षण करें तो प्रतीत होता है कि वेत्ता-वृत्ति का काम यत्न धारण है। समाज-वृत्ति और कामून उससे अर्थ-यत्न के साथ अपनी जनमानों करने में समर्थ है। क्या मने इस स्थिति को ठीक रूप में रखा है ?  
—आपका प्रश्न शब्द की सीमाओं की रक्षा नहीं करता है। वेत्ता वह नहीं है जो बनेक को प्रेम करता है। वेत्ता वह है, जो वैसे के एकत्र न अपने को बेटी है। काम एक के प्रति केन्द्रित हो सकता है या क्या यह प्रश्न ठीक हो जाता है।  
२०१ तब वेत्ता-वृत्ति को समाप्त करने के लिए आपके सुझाव क्या है ?

## वेत्ता-वृत्ति की जड़ में कुछ अर्थसंक्ति

—वैसे की वेत्ता जब तक ऐसी बनी रहेगी कि प्रतिष्ठा और बह्व्ययन उससे घरीबा जा सके या उस माप में समता जाय तब तक हर सम्भव उपाय से वैसे बनाने की नीयत बनम नहीं हो सकती। पुरुष में स्त्री के प्रति होनेवाला लोभ इतना स्पष्ट निमज्ज है कि कोई मूल-वृत्तवाला व्यक्ति उसमें से वैसे बनाने की बात बनायास सोच जा सकता है। यह कामासक्ति नहीं है, कुछ अर्थसंक्ति है। व्यक्ति मन और उसके हाथ प्रतिष्ठा चाहता है। यह चाह सामाजिक वृत्ति है। जिस अवसर में से इसका काम हो उसे छानने से वह बच नहीं सकता है। लेकिन वैसे की मूल और वैसे कागून से आप बाजार की वृत्तानुनी कर सकते हैं। लेकिन वैसे की मूल और वैसे बनाने के अवसर की मूल-वृत्त से संबंध किसीको कैसे कर सकते हैं ? इसलिए सिर्फ कागून नहीं अर्थ-विनियोग की प्रणालियों को ही बदलना-बदलना होगा। अर्थ की संस्था में से उस अनिष्ट सामर्थ्य को ही किसी तरह समाप्त कर देना होगा। कम्युनिज्म ने अपने यहाँ यह उपाय किया है। लेकिन वह भी कुछ अपूरु बन जायगा अगर समाज वेतना में से ही वैसे का अर्थमूल्यन आरम्भ न हो पायेगा। यह वही मूल्य-परिवर्तन और मूल्य-वृत्ति की बात या जाती है। अगर मनुष्य पुरुष या स्त्री बिकने की जरूरत में पड़ सकते हैं और परीक्षेवाला वैसे हो सकता है, तो न वेपारी मजूर और न टकिमार्द वेत्ता समाप्त हो सकती है। हाइल वह सामी होगी कि यहाँ कोई बिकना न चाह और कोई सरीय न मके। लेकिन धायद यह बड़ा प्रश्न हो जाता है। कहने का भाव्य वही है कि वेत्ता वृत्ति के सच्चे उन्मूलन के लिए, उस बड़े प्रश्न तक पहुँचना होगा और वही का समाप्त करता होगा।

### कानूनन शराब-बन्धी

२०२ सरकार ने शराब-बन्धी के लिए भी कानून बनाये हैं, क्या आप उन्हें प्रभावी एवं कारगरावक मानते हैं? शराबबन्धी क्या जरूरी है और क्या उसे भी कानून के द्वारा समाप्त किया जा सकता है?

### कानून लगाड़ा उपाय

—कानून सदा खोड़ा उपाय है। कानून एक टॉप है, बल्कि उसकी भी आमी है। दोनों टॉपों से कानून तब चलता है जब वह व्यापक लोकमत का सूचक-संकेत होता है। इतर लोकमत उसका सहारा के उबर पक्षत्र लोकमत का सहयोग पाये तब कानून कारगर होता है। यह जो पार्लियामेंट में जाकर सात सौ आठ सौ आदमी पूरे बरस मोटी तनबाहें पाते और कानून पर कानून बनाते जाते का काम करते रहते हैं क्या एक भी ऐसा जनमें है जिस उन सब कानूनों का पता है? बड़े से-बड़े बकील को उठनी ही बड़ी साइपरी अपने पास रखनी पड़ती है। बकील कानून का पार ही आपको नहीं मिल सकता। जैसे सब वहाँ मँसवार ही है। कानून एक तरफ काम करता रहता है जगता दूसरी तरफ काम करती रहती है और जब कानून का स्पर्श जनता पर पड़ आता है तो वह बेचारी बबरप जाती है। मानो कानून मुसीबत के सिवा उठे कुछ और ही ही नहीं। अवापस का एक पुरवा बन्धे-बन्धों के पिसे रहता होता है। कानून वह है, जो मानो सारे सरकार के आठक का प्रतीक है। यह उसके प्रति सामान्य जन का मनोभाव है।

उस कानून की बुझाई में मुझे बहुत सार माझूम नहीं होता है। सम्य बेसों में कानून इस तरह हीरा बना नहीं रहता। वह लोगों को अपना सहयोगी जान पड़ता है। वहाँ की बात मैं नहीं कहता हूँ। यहाँ हिन्दुस्तान में कानून का सहारा बामने के सासल को मैं बहुत बढ़ावा देना नहीं चाहता।

शराब के दोषों को मैं अनुभव से नहीं बना सकता हूँ। मित्र लीज बनेक है जो शराब से बरी नहीं है लेकिन बहुत अच्छे मित्र और बहुत अच्छे मनुष्य हैं। बासिर ठण्डे दोषों में वह बान देस है और शराब-बन्धी का प्रसन्न ही वहाँ किसीकी समझ में नहीं आ सकता। लेकिन शराबबन्धी में उस शराब की बात नहीं है, जो सामाजिकता के स्तर पर कुछ उत्थान लाती है और जीवन को तोड़नी-झोड़नी नहीं है।

इसीलिए सम्पूर्ण शराबबन्धी की बात उठनी है तो गुनी-जनगुनी कर दी जाती है।

### जहाँ शराब जहर है

लेकिन एक स्तर है जहाँ शराब में मजबूत का रस है। जीवन को एकरस बिजटित

कर दिया है। वहाँ शराब मानो जहर का काम में ली जाती है। यम गलत करने अपने को दुःख से जख्म की कुरेद से जीवन के सामने से बचाने के लिए वहाँ शराब की शराब ली जाती है। दक्षिण और अफ्रीका-जर्म के जीवन में जाकर देखिये। शराब ने वहाँ माहि माहि मचा रखी है। मामिये कि मर्द के हाथ एक स्वप्न माना है, तो उसका बारह भाग शराब में उठ जाता है। शराब की लव के रास्ते मारा बर्ग का बर्ग मज्जन की मुट्ठी में आ रहा है और मानो जम जम के लिए वहाँ फँस जाता है किसी तरह निकल नहीं सकता है। कोई और उपाय नहीं है, सिवा इसके कि शराब के जन्म अपने आस-पास को अपने कर्म को अपने दुःख-दर्द को छोटी हीन-दुनिया को अपने को ही घड़ी-दो घड़ी के लिए मानो नाबूद कर देने भूक बाने का सला मज्जा उनके पाम से हुन किया जाय। ऊपर से यह जोर-जब्र माकूम हो सकता है। लेकिन क्या हम प्यार में कुछ जोर-जब्र करते नहीं हैं या कर नहीं सकते हैं? कहीं तो वह कर्म बन जाना चाहिए। इसके लिए शराब-बन्दी के कानून की आबाज उठायी जाती है। पापक वह कानून इष्ट है। लेकिन कानून कागज पर रह जायगा बल्कि अपने ज़ेबम से उल्टा परिचाम का बिजायगा अगर पचान-भाठ खड़े पानेवाला कामन्टबिल और ऐसे ही हमारे तकवाहदार उसकी अमल जारी के लिए रह जायेंगे। तब ठीक इन्हीं अमलवारों के योग से गैरकानूनी महिमा बनेगी और शराब के नाम पर सज्जुब का जहर, जैसे स्विट बर्ग का काम में लया जाने लगेगा। जकल उनसे बीज में जाकर काम करने की है। ऊपर से शराब-बन्दी लादने में वह काम होता नहीं है। अगर ऐसा जान पड़े कि समाज-मुबारक अपना काम नहीं कर पाता है, कानून हमें आपक होता है, तब अवश्य उसके सहारे के लिए सरकार की ओर से कानून भी दिया जा सकता है। लेकिन काम तब होया जब ऐसे कार्यरत हों और समाज जगता में से उनकी माय होयी। उससे पहले वह उल्टा फल भी आ सकता है।

### असल शराब

मैं स्वयं शराब का कादल ही सकता हूँ। मयमान की ओर से चारों ओर इतना कोलर दलना देखते हैं कि हमारे से आसपास बिस्तरन किसी समय की भीजा जा सकता है। यह शराब लुभी है और गुप्त है। यह है, जिसे किन्टि कहना चाहिए। मकली शराबों में इतर का ध्यान भी हुट जाता है, उसको मैं बाटे का मोटा मानता हूँ। लेकिन वीमे की सम्यता में बीज वही काम की ओर कीमती हो जाती है जो स्थान वीमा लादने में जाती है। इसलिए एक सम्मान-वीजा व्यवसाय शराब का बन गया है। उमने कुछ आसमाय को, बंगल की इरियामी को पहाड़ी



के बर्फ को समुद्र की हिलोरों को और फूलों की रंगीनियों को देखने की फुरसत मानो छीन ली है। पैरों की माँग और होने पर उसके चर्च की बरूरत हमको इतना भर लेती है कि सब कुछ जो भगवान् ने अपनी अमित बदान्यता में हमारे आनन्द और उपभोग के लिए बिखेर दिया है उससे हम बीग-हीन बने रह जाते हैं। मैं शराब का कापल हो सकता हूँ पर वह कि जिसका नशा उठरे नहीं।

### बेसों में सुधार

२. सरकार ने बेसों में जो सुधार किये हैं उनसे बेसों एक अपराधी के सिद्ध इतने आराम और सुख की आगुह बन गयी हैं जितना कि उसे बाहर पहुँकर कमी भी नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में क्या यह सुधार अपराधियों को बदलनेवाले हो सके नहीं हो रहे हैं? कानून भी कुछ इतना डीका पड़ चुका है कि अपराधियों को आवश्यक सजा मिल नहीं पसती और उनके मन में से चिन्तित बनाने का-सा डर बिल्कुल निकल गया है। इस स्थिति पर अपना मत प्रकट करें।

### सिधिलता और उत्पीडता में अन्तर

—सिधिलता कभी लाम नहीं बैठती। सिधिलता और उत्पीडता में बहुत अन्तर है। कानून की दृष्टि में से एक रोज कानून की उत्पीडता जा भी सकती है सिधिलता में से वह परिणाम कभी नहीं आ सकता। कानून को सिधिल होने का अधिकार नहीं है। ऐसा हो तो सरकार को आसन से उतर जाना चाहिए और नयी सरकार को वहाँ पहुँचना चाहिए जो शान करे और जनता को आश्वासन दे कि सिधिलता नहीं होने पायेगी। कोकतल भी कई जगह टूट गये हैं और उनकी अबहूँ सैन्य-सैन्य में से भी है, तो इसी सिधिलता ने कारण। इसलिए जब कि सिधिलता से भयङ्कर कोई भीय नहीं तब यह अच्छी तरह समझ लेना होगा कि वह उदारता का नाम नहीं है। और कानून को अपन प्रति ईमानदार रहन हुए उठना अवश्य उपायता की ओर है।

### सुधार अभिमन्त्रण

बेस में कुछ सुधार किये गये हैं। सुनने में वे प्रिय भी मायूम होने हैं। मैं अपनी ओर ने वह मनना हूँ कि बीमार को यदि अपने घर में अधिक सुविधा अस्पताल में दी जाय है तो वह अनुचित नहीं है। मिक यह बात कि अस्पताल अस्पताल है, पर वह नहीं है, बीमार को अस्पताल का आशी नहीं बनने दे सकती। आराम जो बीमार में मिलना है सम्पुष्टी में नहीं मिलनवाला है, फिर भी आरमी

तनुस्त होना चाहता है। ठीक यही बात कैदी के बारे में सही मानी जा सकती है। यह क्या कम है कि वह कैद में है। किसी भी मुक्त-सुविधा उस स्वतन्त्रता के अभाव को भर नहीं सकती। इसलिए यह जरूरी कि उस प्रकार की सुविधाएँ अपराधी की अपराध-वृत्ति को उत्तेजन देनी मानव के संक्षम का घोटक है और इसकी आवश्यकता नहीं है। कुछ अच्छे प्रयोग सुनाए हैं उस पिछा में हो रहे हैं और कैदियों को अवसर दिया जा रहा है कि वे अनुभव करें कि वे इन्सान हैं और नौटकर मान्यता में स्थान पा सकते हैं। एक बार कैद पा जाने पर आरम्भ हुमेला के लिए दावी बन जाता है यह धारणा समाज-मन में से या स्वयं अपराधी के मन में से कभी निकले उठना अच्छा है। यदि उस आधार पर लोगों में कुछ किया जा रहा है, तो वह अमिनन्दनीय बात है।

### सुधार भावुक न हों

पर जो कहता रह जाता है वह यह कि जेलों में होनेवाला यह सुधार समय वृष्टि का अंश हो और सन्तर्पण से टूटा हुआ न हो। आज की भारतीय सरकार के पास वैसी कुछ समझ वृष्टि है इसका भरोसा मुझे नहीं होता। किसी राज्य में कोई मन्त्री अपने किसी विभाग में उद्योगधर्मता का प्रवेश कर सकता और वैसे प्रयोग आरम्भ कर सकता है। यदि वह प्रयोग विफल रह जाता है तो न सिर्फ यह कि उसका खर्च और नाम सीमित हो जाता बल्कि सम्भव उसका परिणाम उल्टा तक हो जा सकता है। प्रेम का एक समझ जीवन-दर्शन है और उसके व्याप्त प्रयोग की आवश्यकता है। लेकिन माताएँ जो घर में अपने बच्चों को जैसा अच्छा लाइ काटती हैं, उसे प्रेम मानकर भी सहसा उसका समर्थन नहीं किया जा सकता। उद्योगधर्मता वृष्टि में व्याप्त होनी चाहिए और भावुकता (इम्पल्सेन्स) नहीं बननी चाहिए। अवसर भावुकता एक प्रकार की विविधता ही होती है और उससे बचना बहुत जरूरी है।

### प्रेम और धृष्टता दोनों का उपयोग

मेरे मन में अपराध के लिए क्षमा का विषयक समर्थन नहीं है। क्षमा अपराधी को मित्र सकती है लेकिन ऐसे कि अपराध को तो दण्ड ही मिले। यह गूढ़ी दया है, जो अपराधी को क्षमा करने में अपराध को नजरान्दाज करने में कुछ देवता है। यह अहिंसा एकदम नहीं है। मेरे मन में यह भी होता है कि पाप को सम्पूर्णता से क्षमा कर लेंगे तभी यह सम्भव होगा कि पापी को हम प्यार कर सकें। इन दोनों चीजों में मैं विरोध नहीं देखता हूँ बल्कि योग देता हूँ। धृष्टता और प्रेम

दोनों हमारे बीच पड़े हैं और जो भी है, गल्ट वह कमी नहीं हो सकता है। दोनों को ही रहे बने जाना है—बूना को भी प्रेम को भी। वह उपाय अनिष्ट है, निष्फल है, जहाँ प्रेम की बहुवारी के लिए बूना को कुचल कर गल्ट करना ही करूँ समझा जाता है। अगर है, तो मास कैसे हो सकता है? इसलिए व्यक्ति के लिए जब कि वैश्व प्रेम का मैं कायक हूँ तब पाप और पुण्य के भेद के प्रति असावधान होने की सतर्नाक समझता हूँ। समान दृष्टि का मतलब बुद्ध-दुर्गुण में समदर्शी होना कभी नहीं है। समदर्शिता ऐसे कभी कभी कभी न आ सकेगी। बूना यदि मास के परिपूर्ण उपयोग के लिए जीवन में स्वाभ है। वह इस रूप में कि पाप बसत् वनीस्वर के प्रति बितनी बूना ही कम है। बूना को फटना नहीं है सही जगह पर उस बनाना है। ऐसा होगा तो प्रेम भी फिर सही जगह के लिए देव और मुक्त हो जायगा। तब हम बच्चे के प्यार के लिए उसकी बुरी बातों पर प्यार बर्च करने के लिए मजबूर न होंगे।

समाज में अपराधी के प्रति आत्मस्थ आगमना चाहिए। लेकिन अपराध के प्रति तनिक भी प्रमाद तनिक भी शिथिलता या उपेक्षा नहीं हो सकेगी। उसके प्रति पूरी तरह प्रबुद्ध और कटिबद्ध रहना होगा। तब प्रेम भावुक नहीं दुर्बल बन जायेगा और जब कि वह अपराधी को परिपूर्ण मिलेगा तब अपराध की रचना प्रथम अपने प्राप्त नहीं होगा। इतना ही नहीं बल्कि उस अपराध की जहाँ उससे लगेगी और अपराध मात्र ही सर्वथा के लिए निर्मूल हो सकेगा।

प्रशासन में शिथिलता

२ ४ आर के प्रशासन में जो शिथिलता आप देखते हैं क्या उसके कारण कांग्रेस-हल के नेताओं एवं कार्यकर्ताओं का प्रशासन के कार्यों में राख-रिज होनेवाला अनुचित हस्तक्षेप नहीं है? एक कांग्रेसी कार्यकर्ता ने ही मुझे बताया है कि उसके लिए किसी भी मजिस्ट्रेट आर जबवा पुलिस इन्स्पेक्टर को अवलम्बा देना यहाँ तक कि मुकदमा तक करा देना कोई बहुत बड़ा काम नहीं है। आन्धी रात में प्रशासन और आर-कार्यकर्ता के मध्य किस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित रहना चाहिए, जिससे प्रशासन व कानून बीसा भी न बड़े और दुर्बल एवं नृणा भी न बने?

कांग्रेस से निरापत्त

—कांग्रेस की बाउ क्यों करते हो? वह तो राज से अर बनी है। बाकी उसके पास क्या क्या है? कोई दशन (Vision) उसके पास नहीं रह गया है। राज से बाहर क्या मैं मुक्त-मिता उसके दिना भाग है? जो है, वह भी ठीक

हुमा मरुग दीखता है। मानी राम का ही बहभंग हो और उसके प्रहरी क रूप में ही प्रजा के मंत्राल में सिर्फ अपना पड़ाव डालकर रह रहा हो। ऐसी जमात स यदि कुछ आपकी आशाएँ भंग होती हैं तो बिस्मय की बात नहीं है।

लेकिन एक बात याद रखिये। राज्य के स्तर पर यह सवा होगा आया है। कांग्रेस राज्य मोर-राज्य है। कांग्रेसी आपके बीच में से उठकर राज्य पर गय है। इसीलिए वे बीच सामग आपकी निगाह में ज्यादा गहरी और आपको परेशान करती हैं। लेकिन राज्य स्तर में साधन और बल का उपकरण है यह आपको निर्विवाद स्वीकार कर लेना चाहिए। इस निर्भयता के साथ आप बल सकेम तो कांग्रेस के प्रति सर्वत्र सहानुभूतिपूर्ण भी हो सकय।

मेरे पास कांग्रेस के लिए यह बहुत जबरजस्त धिक्काव और अभियोग है कि वह राज्य-वाद और राम बिचार के लिए ही रह गयी है और सब छद्म-बिचार और मन-बिचार के लिए समाप्त हो गयी है। ऐसा हो सका तो क्यों? यह छोटी दुर्घटना नहीं है। भारत के भाग्य में इसका जाने कब तक फल-भोग लिसा है, राम ही जाने।

## गांधी का आदर्श

इस मूलमूल अभियोग से हटकर मैं नहीं जानता कि किसी सरकार के पास क्या हुरमाक नेहक जैसा बरा दुर्म, और और पराक्रमी व्यक्ति हो सकता है। कोई दूसरी सरकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ऐसे ब्यूह और नंबर में इतने बरिग भाव में टिकी न रह सकती। किसी भी और देश में देखिये सरकारें जगमग हैं। मार तीव्र जैसी स्थिर और कुछ सरकार सामग ही कही दूसरी बगह भाव आपको मिल सके। किन्तु कठिनाइयों में उसको काम करना पड़ रहा है आप समझ सकते हैं। गांधी को एकदम यह फेंक नहीं सकती और जानती है कि देश के लोग ही नहीं दुनिया के लोग उसे गांधी के वीमाने स नापेंगे और पास-फेक करेंगे। एक और यह अनिश्चयता और दूसरी और ममान की अनिश्चयता। गांधी की अहिंसा और राज्य के लिए अनिश्चय हिसा। मानी इन दोनों मीमों पर संकेत को उठाकर कांग्रेसी सरकार को बनना पड़ रहा है। अहिंसा का नाम तो या ही जिससे बिज और बिड़कर मोहस में गांधी को मारना अपना कर्तव्य समझा। इतना बड़ा कर्तव्य कि उसन कहा कि गांधी के मून की प्यास मुझमें इतनी भी कि कोई उठकी बाग को मुझसे क्या नहीं सकता या। गांधी ने अपने को नहीं बचाया लेकिन सरकार होकर नेहक किसी मोहसे या अनेक मोहसों को यह मौका फिर नहीं दे सकठ। गांधी की अहिंसा ने निर्णय कर दिया कि प्रार्थना-समा में पुलिस पास

तक नहीं फटक सकेगी। लेकिन सरकार का निर्णय पुलिस को इस तरह अमान्य नहीं कर सकेगा।

### लोकशाही की विजय

इस तरह कांग्रेस-सरकार बस रही है। बहिष्ता और लोकतन्त्रता का उसके सिर सेइरा है और कन्धों बोस है। जसी सरकार को नेहरू के नेतृत्व में बस्ती-से-बस्ती भारत देश को स्वयं बमरीका के समकक्ष बना देना है। जसोगों से छा देना है और देश की मालामाल कर देना है। अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में हिन्दुस्तान का सिकका बना देना है। इस प्रच-भूति में आप और हम कांग्रेस के विधायक पक्ष को ध्यान भूल जाते हैं। सचमुच उसने कम काम नहीं किया है। और इसीलिए मैं आपका ध्यान दिखाना चाहता हूँ इस बात पर कि व्याप करने के लिए ही राज्य नहीं होता है, सचमुच शासन करने के लिए उसका निर्माण होता है। कांग्रेस का होकर अगर कोई स्वामीय नेता स्वामीय इम्पेक्टर या मजिस्ट्रेट पर अपना आतंक रख पाता हो तो कांग्रेस की दृष्टि से इसमें कुछ हित भी बिछाई दे सकता है। एक्जक्यूटिव के अचयबकप किसी अमुक अविचारी को यदि यह समझने का मौका नहीं आता कि वह सर्वोच्च है तो क्या यह भी लोकशाही की विजय का ही एक बिन्दु नहीं माना जा सकता ?

### कांग्रेस-प्रशासन का सेना-जोला

आपको येना होगा किन विषयताओं के बीच मैं कांग्रेस को काम करना पड़ रहा है। स्वतन्त्रता के इन बीजह कपों में एक साठत्य कामय रखना कहीं उसमें भन नहीं आने देना कोई छटी गफझवा नहीं है। आधा बी जा सकती है कि नेहरू की कांग्रेस अपना चुनाव भी जीनेगी। दुनिया के प्रति भारत की ओर से यह इन बात का अनोखा प्रमाण हीमा कि देश समुक्त है और उसके पास कुछ सकल्प है। प्रशासन की दृष्टियों की ओर से यदि आप न देखेंगे और कुछ दिक्कर कांग्रेसी-शासन का सेना जोगा सेना चाहेंगे तो प्रशंसा के भाव आपमें ही सजते हैं। एक तरह से यह होने भी चाहिए।

### कांग्रेस की गफझत

लेनिन मने सुझहर कहा है और कहा हूँ कि भरे मन में अप्रशंसा करर है। बट् इसलिए नहीं कि उनका शासन अमुक विवरण में घटकर है या बड़कर है बल्कि इसलिए कि ठीक यह जमात थी कांग्रेस जिससे आधा हो सकती थी कि

राज्य-सर्जन उसे घेरना नहीं। भाषा थी कि उसके द्वारा भारत का राज्य मानवता की दिशा में उठेगा और मानव-स्वप्नों के लिए मार्ग खोलेगा। मिस्र को अपने-आप ही ऐसे उदाहरण की राष्ट्र के और राष्ट्र राज्य के ऐसे मनुष्यों की ओर विरक्त के लिए स्वयं गाँठ के मानिन्द न रह जायगा जो एक बसमा राष्ट्र-स्वार्थ न होगा, बल्कि जो बुनियाद को गाँठ खोलने का उपाय दिखा जायेगा। समष्टिपथ मानव स्वार्थ या परमार्थ की कल्पना को जो सांघीयता कर सकेगा। इस काम में कांग्रेस अपर गाँठिक हुई है उस विचार की गरिमा और अनिवार्यता तब से बेहतर हो गयी है, तो जिते वह राष्ट्रपिता कहूँ है, उस गाँधी के प्रति यह भयंकर बेवफाई है। इस कांग्रेस से गाँधी की आत्मा को स्वयं में तनिक भी क्षायासन नहीं पहुँचता होगा यह निरसक कहा जा सकता है। लेकिन इसको रासन की कुटि नहीं कल्पना की ही कुटि में मानता हूँ। वह बड़ी चीज है लेकिन असम चीज है।

पंचायत में स्वर्ग या मरक ?

२०५ कल्पना की कुटि का एक और नमूना मुझे पंचायतों के चुनाव में बीज पड़ता है। पंचायत-सभा की कितनी शुभ है, कितनी अशुभ इसका प्रश्न यहाँ नहीं है। लेकिन पंचायतों के चुनावों में भारतीय ग्रामों में जो विप्लव वारस्यरिक धृता और हिंसा तथा मुकदमेबाजी जलायी उसका स्वरूप बड़ा ही जीवन और जीवनस बीज पड़ता है। इस परिस्थिति को ठीक करने के लिए आपका क्या सुझाव है ?

— मैं उक्त विधेयकों से बचने की सलाह दूँगा। पंचायत-पद्धति वह जागर-पिछा है, वहाँ विकेन्द्रीकरण का विचार जाकर टिकता है। इसीसे प्रकट हो जाता चाहिए कि समाज-व्यवस्था का विचार अपने-आप में कितना एकांगी और अद्वय हुआ करता है। पंचायत में से स्वर्ग निकलना विकेन्द्रीकरण का बाद वह परिपूर्ण गौरव संघर्ष से निज करके दिखाता सकता है। लेकिन आप कहते हैं कि उसमें से कहीं-कहीं प्रत्यक्ष नरक निकल आया है। आपकी बात को अनु-सन्धान के लिए मैं टाका भी जा सकता है और राजनीतिक यही किया करता है। वह आँकड़ों का सारा केला है और आपके आँकड़ों को चुनौती देता है। उसमें बीज बटाई में पड़ती है। लेकिन आपकी बात की मैं आप-भूषकर अमान्य नहीं करना चाहता। जानता हूँ कि वह किसी स्वाध म से नहीं आ रही है। फिर अगर वहहीबात और आँकड़ों से उसे गलत बताने का दावा भी सामने हो तो मुझ चिन्ता नहीं है। मैं कह सकता हूँ कि ऐसा नरक भी अगर उसमें से कहीं निकलता हो, तो मुझे बिलकुल अचरम न होगा। मुझे यह भी निश्चय है कि स्वर्ग उन्हीं से नहीं आयेगा।

### पंचायत-भाव

कारण प्रत्येक पंचायती तक अधिकार की बाँट देने का नहीं है। या अगर है तो वह बाद का प्रश्न है। पहला यह है कि पंचायती भाव स्वयं हम-आपने कितना है। नेता बनने की इच्छा पंचायती भावना से उभरती जानेवाली चीज है। पंचायती-राज से यदि आप समूचे देश की राज्य-व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं तो वह राज-राज बल-राज नहीं हो सकता। उसकी सर्वथा दूसरे प्रकार का होना हीमा। दल के राज की इच्छा बल-संगठन और वकील चुनाव के द्वारा उद्योग का बहल और पोषण मूलतः पंचायती भावना के विरोधी है। यदि हममें थोड़ा है तो पंचायत के पास सत्य और स्याद होता है वहाँ से सहज भाव से छनकर जो वस्तु आयेगी वही विश्वसनीय होगी तो हमकी सब प्रकार के राजनीतिक मतबाधों से छुट्टी मिल जाती है। कांग्रेस में पंचायत की सही थोड़ा रही हो तो सोशलिस्ट पैटर्न बीरछ-बैरछ की सब बातों से कांग्रेस को बाध ही झूटकारा मिल जाता है। लेकिन इस प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था की परिग्रह की अथवा कांग्रेस को आवश्यकता बनी रहती है तो अर्थ होगा कि वह जनता-पंचायतों और पंचायत से ज्यादा जानती है और धुंध होने से पहले पंचायतों को हुकूमत की तरफ से बतका देना चाहती है कि क्या काम उन्हें करना है। इस प्रकार की स्वयं और प्रच्छन्न लोक-अज्ञान-ज्ञान की डिफेन्स में से बनी हुई पंचायतें स्वयं कैसे आ सकेगी? क्या वे स्वाधीन होगी? क्या कहा जाता है कि वे स्वाधीन हों? क्या प्रच्छन्न वकील पोषण की प्रत्याशा उनसे नहीं है? इन सब कारणों से मुझे तनिक विस्मय नहीं होता बरि पंचायतें बने और समय से स्वयं की जगह नरक निकलता दीये।

### पंचायत राज पंचायती नहीं

राज राज्य गांधी का शब्द था। पंचायत राज में से वह तात्पर्य सिद्ध नहीं होता है, जो मान लीजिये कि पंचायत राज सही अर्थ में पंचायती नहीं है। उन तनाओं की जो राजनीतिक और अर्थनीतिक स्पर्धा में से हमने अपने बीच उपजा सिये हैं पहले यदि हम हवा में से दूर नहीं करते हैं और अपने मन में से दूर नहीं कर लेते हैं तो पंचायती के हाथ हम समापित नहीं बनते हैं बल्कि पंचायती को अपने हाथ का आधुन बना लिया चाहते हैं। योग मुख्य यही है कि राजनीतिक चेतना में मानव-चेतना आनाम्न है। आशय यह है कि राजनीतिक चर्म मानव चेतना में उन्मूल और परिष्कारित हो। तब राजनीति वही जानेवाली चेतना और उग तक पर चलने और जमनेवाला बाध प्रणिवाह एकदम अनावश्यक ही आयेगी और रचनात्मक काम ही राजकीय के पास दीप बच आयगा। तब काम से

समय चुटके और बात में उसे कमान की आवश्यकता भी निन्द्य ही सामगी।  
 सरन और समा के नाम पर बनी हुई गप्पाटकी बीपाल (टाकिंग हाउसेस) सब  
 मया कम से लेंगी और बर्बाद से अधिक बड़ी काम हुआ करेगा। वेतन भन  
 की माछमाएँ सोमा को बड़ी न स जायेंगी बल्कि कर्तव्यमोचना ही — ह बनी  
 पहुँचा सकगी। पंचायत को लखे और सही भाव से हम स्वीकार करते होंग  
 दो मानो यह सब फल उसमें से निष्पन्न होमा और तब वह कम काम-उत्प की  
 दिया का माना जा सकेगा।

■



## प्रादेशिक समस्याएँ

### नागा-समस्या

२ १ अन्तःप्राचीय समस्याओं में नागा-राज्य अथवा नागा-वांस्ति का प्रश्न स्वतन्त्र भारत के सामने काफी महत्वपूर्ण प्रश्न बन गया है। अल्प नागा-वांस्ति की इस माँग की कि उन्हें एक स्वायत्त शासन प्राप्त कर लेने का हक है क्या उचित और व्याप्य एवं राष्ट्र-हित के अनुरूप मानते हैं?

—यह प्रश्न स्वायत्तता का नहीं है जो कि नीतिवत् प्रश्न हो सकता है, बल्कि तात्कालिक और राजनीतिक प्रश्न है। नैतिक स्तर पर यह कहने में कोई कठिनाई नहीं कि स्वायत्तता व्यक्ति तक पहुँच जानी चाहिए और हर एक की स्वाधीन-नेता होना चाहिए।

प्रश्न अब राजनीतिक बनता है। ती उसमें कुछ परिस्थिति में पड़े हुए कमिन्स उत्पन्न भी मिल जाते हैं। उस संदर्भ में अलग कर उस प्रश्न को नहीं देखा जा सकता। राजनीतिक प्रश्नों का निपटारा व्यक्ति के द्वारा हुआ करता है। इस तरह वह निपटारा ही नयी समस्याओं को उपजाग करता है। कारण व्यक्ति अपनी बड़ी शक्ति के मुकाबले में हारकर भी मानी अपना अहंकार नहीं छोटी है। बल्कि वह अहंकार अधिक शुष्क और तीखा हो जाता है। स्वाधीन मुक्ति इस तरह की समस्याओं से तब मिल सकती है जब तब में एक नयी शक्ति उत्पन्न हो और वह नैतिक शक्ति हो। यह शक्ति आघाही नहीं होनी फिर भी लोक-विश्वास का बल उनके पास होने से अन्त में समीची निर्णायक स्थिति हो जायगी।

भाग मानते हैं कुछ नागा 'होस्टाइल्स' कहें जाते हैं। कुछ दूसरे अब भी हैं जो भारतीय राज्य के पक्ष में हैं। उनकी बड़ी-बड़ी जातीय पचायतें और समार्यें हुई हैं लेकिन नागाओं में ये दो बल देने में आते हैं। परिस्थिति और बिकट बन जानी है जब पता चलता है कि नागाओं के पीछे कुछ अन्य उत्पन्न काम कर रहे हैं। य बिदेसी तरफ काफी अरसे से चली हैं कहिये कि ब्रिटिश राज्य के पमाने में और सीमास्थ भाग होने के कारण उनकी प्रवृत्तियाँ बहुत पहले से इस

बारे में सावधान रही हैं। आपको शायद मालूम न हो कि माताओं की भाषा की त्रुटि रोमन है। उनमें इंग्लिशता के प्रति भारत की अपेक्षा अधिक स्वदेश-भाव है। इस तरह समस्या सीधी स्वायत्तता की नहीं रहनी कुछ अधिक पेचदार हो जाती है।

## हिंसा का प्रयोग अनुचित

मह कहने में मेरे मन में तबिक संशय नहीं है कि भारत की सरकार इस प्रश्न के सुलझाने में जो खूबी सैन्यशक्ति का उपयोग कर रही है उससे नागा मन जीता नहीं जा सकता है। हिंसा का प्रयोग बहु फल नहीं ला सकता है जो सिर्फ अहिंसा से सम्भव है। इसीसे स्वायत्त-भाव से बर्जित करने की बात की नहीं जा सकती, स्वयं भारत सरकार कर नहीं सकेगी। फिर उस स्वायत्तता को कूटनीतिक तरीकों पर हम बाँधने घेरने का प्रयत्न करे, तो उससे स्थिति अस्पष्ट बन जाती है। ज्यादातर होता यही है। किन्तु यदि आत्मविरण से विश्वास हो तो अन्त में अपनी स्वायत्तता पाकर भी कोई करेगा क्या? आगे-पीछे उसे ज्ञान पहुँचा कि मेरा और समर्पण में ही शेष है। यह समर्पण मात्र कूटनीति के द्वारा किसी स्वायत्तता को कटा-छटा बनाने की कोशिश से तो कभी जा नहीं सकता। लेकिन भारत सरकार को सीमान्त पर अपनी सुरक्षा का भी ध्यान रखना होता है। बीच में एक स्वतन्त्र और स्वायत्त घण्ट की रखने से दूसरी दिक्कतें पैदा हो सकती हैं। ये सब सम्भाव जाँचें भारत सरकार को पूरे विश्वास से काम लेने में अक्षम्य बना देती हैं। अतः विनोबा जब वहाँ पहुँच तो रहे हैं। वे सरकारी आदमी नहीं हैं और देखना है कि क्या होता है।

२०७. सुरक्षा की दृष्टि से नागा-प्रान्त को मजबूत और कसा रखने की आवश्यकता इनकी प्रकर है कि वहाँ अहिंसात्मक तरीकों के प्रयोग के लिए बहुत अधिक अवकाश नहीं है। चीनी और पाकिस्तानी एजेंट नागाओं को बराबर भड़काते रहते हैं। ऐसी स्थिति में चीन-से अहिंसात्मक साधन ऐसे ही सकते हैं जिनसे नागा-जाति को पूरी तरह अपने साथ बलाया जा सके और वे देश की रक्षा में एक ठोस अंगर काम कर सकें?

## भारत के प्रति उनमें स्वदेश-भाव हो

—कभी और मजबूत जाय किसे माँगे? मैं समझता हूँ कि सेनाएँ वहाँ बड़ी तादाद में बिठा देने से सही मजबूती नहीं जा जाती। मजबूती की भीतर से जाती है वह पक्की होती है। अगर विदेशी शक्तियों के एजेंट वहाँ काम कर रहे हैं,

तो निश्चित है कि कृष्ण सैन्य-ग्रहार वह नहीं है। यह काम यदि एक सकता है, निष्पक्ष हो सकता है तो तभी जब वही कि लोगों के मन इस बारे में स्पष्ट सबेठ हों और अनुकूल चक्रव्य से भरे हों। अगर नागाओं में भारत नाम के प्रति अभी कोई भावना नहीं बची है वे नाग-राज्य के साथ सठते और उसीके साथ जीने-मरने को तैयार हैं, तो उन्हें यह बीज खाना चाहिए कि भारत का पक्ष इससे दूसरा नहीं है। उन्हें अनुभव होना चाहिए कि नामा-राज्य का गौरव और गर्व सुरक्षित ही नहीं बल्कि उन्नत होता है जब कि भारत साथ देता और साथ लेता है। या तो यह हो कि भारत के प्रति उनमें स्वदेश-भावना और समर्थन भावना पैदा हो। यह भावना किसी राजनीतिक या सामरिक प्रयत्न से नहीं हो सकती सेवा द्वारा ही कभी जायेगी तो जायेगी।

इस मजबूती के बिना फिर सेना-दौड़ से बनायी हुई बाकी मजबूती अन्त में कच्ची जमीन पर खड़ी साबित हो तो विस्मय नहीं मानना होगा।

मैंने आपको पहले कहा कि भारत एक उदार भावना और उदात्त जीवन-नीति का नाम था। राजनीतिक सत्ता और एकता पर वह भाव निर्भर नहीं था। जो अर्थ उसमें थे मानो स्वतः थे किसी विज्ञान या कानून के जोर से नहीं थे। यह भारत हमारे बरखो से बीता आया है। यह भारत कोई निराकार और अनिश्चित अमूर्त नहीं था इतिहास और भूगोल में बहुसाकार और समर्थ बना दीकता था। आज राजनीतिक हो जान के कारण सृष्टि हमारी कुछ ऐसी बन गयी है कि जब तक सीमा रेखा पर पक्की हथियारदार और कठिनाय बाढ़ की पति न हो तब तक देश का अस्तित्व देश की आत्मा ही सतरे में समती है। जब अहिंसा से राजनीति बसेगी तो जान पड़ेगा कि इन सीमान्त-मरेखों में बसे हुए लोगों के मनोमानों के अर्थ से देश अधिक स्वाधीनता से सुरक्षित बनता है दूर-दराज की राजधानी से भेजे गये सैनिकों के बस्तों से सुरक्षित नहीं बनता। जन-मन का विश्वास जीतना जाना चाहिए, यदि राजनीति ही सफल होगा है। यह तब ही सकता है कि राजनीति नीति में प्रधान हो और राज में गौण हो। नागाओं में वह भारतीय भाव नहीं पैदा हो सकता है यह मानना गलत है। यदि धर्म की और सेवा की भूमिका से हम उनका पाठ पढ़ेंगे तो वह भाव सहज उनमें उभरता भी जा सकता है। बापिर भारतीय धर्म या हिन्दू धर्म अनुकूल मतवाय तो है नहीं जो किसीको टकरा दे या टकरा में आये। वह नागाओं के देवी-देवताओं और अतीव विस्वासों को धर्मो-का-त्पा समा से सज्जता और उन्हें आकर दे सकता है। अपनी मजबूती बही होगी जो उस नीति प्राप्त की जायगी और तब नागाओं की दूर-बीरता स्वयं भारत के आस्थासक का कारण होगी। जिसमें अब संकट बीजता है, उगी

में सुरक्षा दीज पड़ेगी। मुझे सचमुच मागूम होता है कि राज्यपाल पर यदि कांग्रेस न का बैठती तो इस तरह का असली काम करने का अवसर वह पा सकती थी। अब भी कोई जमानत ऐसी खड़ी हो तो समस्या कुछ भुगम बन सकती है।

### केरल में कम्युनिस्ट-मताग्रह

२०८. केरल में पहली कम्युनिस्ट-सरकार बनी थी। क्या आपकी राय में उसने सचमुच कुछ ऐसे काम किये जिनको लेकर कांग्रेस को उसके विरुद्ध एक मोर्चा तैयार करना पड़ा और जिस-वित्त तरह उसे राज्य से हटाना पड़ा ?

—कम्युनिस्ट मताग्रही न हो तो कम्युनिस्ट किस बात का ? केरल की सरकार न तो सर्वसम्मति से सरकार थी न भारत के रोज प्राप्ति के अनुकूल थी। एक अनेसे राज्य में तनिक बहुमत से बनी हुई वह केरलीय कम्युनिस्ट-सरकार थी। अतः ऐसा सम्भव ही न था कि वह अपने वक्त या मत को मजबूत बनाने का अवसर खोती या बैठे काम किये बिना रह जाती। यह तो नागरिकता के आधार पर बनी सरकार ही हो सकती है जो मानव-हित से अतिरिक्त किसी मत-पक्ष की ओर झुकी न हो।

मेरा मानना है कि यदि लोक-वैतना प्रबुध हों, तो ऐसी काररवाइयाँ स्वयं अपने को हण्टी हैं। फिर जो कांग्रेस का बुराई बलों के साथ-संयुक्त मोर्चा बना और नये चुनावों में नयी सरकार आयी, तो वह राजनीतिक बसाबस का प्रश्न था। इसमें तात्कालिक विलम्बी से अधिक की सामग्री नहीं थी।

२०९. केरल में कम्युनिस्ट-सरकार को उलटने के लिए कांग्रेस ने जो मुस्लिम-लीग से गठबन्धन किया क्या उसे आप कांग्रेस की अपनी असांख्यिक नीति के प्रतिफल और इस प्रकार एक अंतरनाक उदाहरण नहीं मानते हैं ?

—मैं किसीको प्रेम और सहकार के अयोग्य नहीं मानता। लेकिन राजनीतिक गठबन्धन स्वयं तक परिमित रहते हैं। उनका समर्पण भरे मन में इसलिए नहीं है कि वे बेहतर भूरे होते हैं। ऐम गठबन्धन की क्षमता को अपने-आप में मैं जीवन के लिए आवश्यक एक लोच और सक्क का प्रमाण मानता हूँ और राजनीति के मैदान के लिए यह विशेषता बड़े काम की सिद्ध होती है।

मिश्रान्त आदमी के हाथ चकता है, और मिश्रान्त की तरह आदमी कोई बट्ट और बलम नहीं हो सकता। इस व्यवहार की दुनिया में यह कुशलता का लक्षण है कि वक्त पर हम दुश्मन से भी बना के पायें। जीवन अपने नाम से ही मुस्लिम है, कांग्रेस का बाबा असांख्यिकता का है। मुझे स्वयं भी प्रिय नहीं है कि असांख्यिकता को सांख्यिक के साथ समय पर समझौता करके खेला उठना

पड़े। लेकिन कुछ मिलाकर यह परिणाम कि कम्युनिस्ट दूसरी बार चुनकर नहीं आ सके, कांग्रेस को अपने लिए जीत की बात ही मालूम होगी। व्यावहारिक राजनीति के सम्बन्ध में यह मानना कि यह सिद्धान्त की रेखा पर चक्की या चक सकती है भ्रम में रहना है। मेरे मन से तो यह बात कि कांग्रेस में बैसी राजनीतिक व्यवहार-कुसम्पत्ता है, विशेष अभिमान और प्रशंसा की नहीं बन पाती है। इससे सिद्धान्त की भ्रष्टा कुछ अधिक होती तो यह मुझे प्रिय होता।

### कांग्रेस-मुस्लिम-बीच गठबन्धन

२१ केरल में मुस्लिम-बीच के साथ गठबन्धन करके क्या कांग्रेस ने यह संवैधानिक रूप में स्वीकार नहीं कर लिया है कि साम्प्रदायिक बलों को राजनीति में भाग लेने का अधिकार है और यदि भाग्य साथ से तो चुनाव लड़कर वे भी सांसद पर पहुँच सकते हैं? ऐसी स्थिति में जब केन्द्रीय सरकार साम्प्रदायिक संस्थाओं पर प्रतिष्ठा सघाने अथवा उन्हें काल्पी रूप में निष्पक्षित करने के लिए कदम उठाने की सोचनी है, तो क्या वह एक विवशनाजनक स्थिति पैदा नहीं करती?

—लेकिन इन दोनों निर्णयों के बीच समय का अन्तराल जो है। क्या राजनीति अपने काम को किसी कद से बँधा रख सकती है? जब सीप से बछोड़ हुआ या तब वह उचित रहा होना ऐसा कहकर कांग्रेस यदि उससे काम अपनी छुट्टी माने और साम्प्रदायिक बलों को चुनाव में न आने देने का निश्चय करे, तो उसे कौन रोक सकता है? निस्सन्देह उससे स्थिति में बुद्धि भेद पड़ता है और संस्था की शान बहती नहीं है। कांग्रेस यदि लोगों के मनों में से कमबोर बनती जा रही है, तो यह बहुत कुछ इस कारण है कि किसी भ्रष्टा की चीड़ उसमें नहीं बिनाई देती है। लोगों को यह नहीं लगता कि साम्प्रदायिकता को गिराने और साम्प्रदायिक बलों को चुनाव में अनुपयुक्त ठहराने की बात सिद्धान्त में से ही आयी है ऐसा भी लगता है कि आत्म रक्षा के लिए सूझी एक युक्ति है। जो ही राजनीतिक दल को उसके अतीत से बाँधा नहीं जा सकता है। और कांग्रेस को इस सम्बन्ध में आगे के लिए यदि स्वतन्त्र माना जाय तो अनुचित न होगा।

### प्रान्तों के आपसी झगड़े

२११ प्रान्तों में परस्पर काफ़ी अनमुराब चलते आते हैं। बिहार-बंगाल बंगाल-आसाम गुजरात-महाराष्ट्र आदि के पारस्परिक झगड़ों के बारे में सभी जानते हैं। भाषाई दृष्टि से इस प्रकार के झगड़े राष्ट्रीय चेतना के परिचायक हैं अथवा भाषाई राष्ट्रीय विघटन के?

—स्वदेश स्वराष्ट्र स्वजाति स्वराज्य आदि शब्दों में जब स्व पर ज्यादा जोर पड़ने लग जाता है, तो देश राष्ट्र जाति राज्य आदि शब्द भी झूठे और बाधक बन जाते हैं। मानव चेतना के उत्थान में वे सहायक नहीं रहते। स्व का परममर्थ उत्तरीय में है। यह भाव जिस क्षण हुआ मे से मुक्त हुआ उसी क्षण से मासूम हुआ कि हमारे पास जो कुछ अपने नाम पर था वह सब उल्टा और झूठा हो गया। स्व पर ज्यादा जोर रहे तो स्वराष्ट्र भी मानवता की राह में रोड़ा बन आनेवाला है। भारत की राष्ट्रीयता अगर स्वोत्कर्षी नहीं स्वार्थी होती है तो अनिर्धार है कि नीचे अन्य सार्वजनिक स्तरों पर भी वही संकुचनशील भावना काम कर निकले। स्वाधीन राष्ट्रीयता वह तेजाब नहीं है जिससे स्वाधीन जातीयता या साम्प्रदायिकता घुलकर सबहक हो जायें। वह तो यज्ञधर्मी भावना है, जो हर स्तर और हर सजा को अपनी जगह उचित और परमार्थ में लपेट बना देती है। छोटी सामूहिकता केवल बड़ी सामूहिकता के सामने से मुक्त ही सकती सिर्फ वह अपनी शक्ति को बढ़ाने की चुनौती ही वहाँ से प्राप्त कर सकती है।

राजनीति शक्ति पर नहीं, नीति पर टिके

इसलिए अन्तराष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय संगठनोंमेंसे यदि दूर हूँ तो यह जब कि सम्प्रदायीय राजनीति को भी हम शक्ति राष्ट्र के अन्तर्गत से हटाकर नैतिक भावना सम्पन्न बना सकेंगे। यदि राष्ट्र पर बर्न उचित है तो फिर गर्व ही औचित्य पा जाता है और किसी भी सहारे को लेकर वह सड़ा हो सकता है। एक सभा से दूसरी सभा को काटने का रास्ता एकदम गलत है। ऐसे पुरानों की जगह नये अहंकारों को जन्म मिळता है, जिनको फिर काटने और मिटाने की जरूरत हुआ करती है। माना संक्राओं और अस्मिताओं को परस्पर पूरक बनाकर चलने की नीति यदि हम अपना सकें, तो मासूम होना कि आपाओं की विविधता या प्रवेष्टों प्रान्तों की अपनी अपनी विशेषता परस्पर को सम्पन्न करती है विपक्ष का कारण नहीं बनती। वह नीति जब पास नहीं होती तो वैविध्य हमको गलत लगता है और एकता की जगह एककपता का मोह हममें होना लग जाता है। वह एककपता अहंकार का ही आवरण है और इसमें से आर्थिक और हिंसा का अवसम्भन उचित और आवश्यक हो जाता है।

फूट के तत्त्व समूची राष्ट्रनीति में

में मानता हूँ कि देश में यदि फूट के तत्त्व हैं तो वह समूची राष्ट्रनीति में ही पड़ गए हैं और वहींमें अपना भिन्न प्राप्त करते हैं। यह निश्चित मान लेना चाहिए

प्रतिभा और पराक्रम की शक्ति से काम नहीं चल सकता है, उसमें सेवा-शक्ति का भी समावेश आवश्यक है। उद्भट घोर-बीर आज की परिस्थिति के लिए बबूरा और नाकाफी है। आज अधिक सहयोगी विमल और निरुद्धारी बीरता की आवश्यकता है। वैसी कुछ सिग्मता घासन-मानस में स्थान नहीं पाती तो सरकार के लोग ही सरकार को चला देनेवाले बनें तो विस्मय नहीं है।

### सरकारी नौकरों की निरन्तर बढ़ती संख्या

२१४ सरकारी कर्मचारियों की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या को क्या रोका नहीं जाना चाहिए? सरकार कितना सरकारी उद्योगों का विस्तार करती जाती है मुझे लगता है कि वह सरकारी कर्मचारियों की मुट्ठी में स्वयं को बन्द करती जाती है। यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकारी कर्मचारियों की कार्यक्षमता में तेजी से गिरावट आ रही है। क्या इसका भी कारण उनकी संख्या-वृद्धि ही नहीं है? इतनी बड़ी कर्मचारी-संख्या के उचित राष्ट्रीय सदुपयोग के लिए आप क्या सुझाव प्रस्तुत करते हैं? — घासन बढ़ता है तो उद्योग ही स्वावलम्बन बटता है, यह निरपवाद मान रखना चाहिए। घासन अपने कर्मचारियों की संख्या बढ़ाते जाने में अपना विस्तार मान सकता है। लेकिन वह घरीर की स्तुब्धता ही उसकी कर्म-शक्ति के लिए बाधा होगी और यह सारा बढ़ता हुआ बोझ एक दिन उसे से डूब सकता है।

### मजदूर-हजूर के श्रेष्ठ का विस्तार घातक

सोसलिज्म के नाम पर जो सरकार अपने हाथ-पाँव सब श्रेष्ठों में फैला लेना आवश्यक और उचित समझती है, उसको जानने की आवश्यकता है कि इस तरह सरकार से सीधे तन्त्रवाह या काम न पानेवाला आदमी सरकार के समर्थन से झुट्टी पा जाता है। तब तक वह न तो सरकार के पास नहीं रहता। घासन इस तरह निकट तन्त्रवाहियों के बल बढ़ता है प्रजापति का बल उससे घटता जाता है। यदि मापी अपना सामान की अगोपाग बिक्री बाम करे, तो इसमें घासन को नितान्त न लाभ होगा। यह तब हो सकता है जब सामान आत्मानुमान का रूप लेता पाय। तब बेतन्त्रवाहियों की पीठ बढ़ाने की आवश्यकता भी न होगी और प्रान्सेट सेक्टर भी पब्लिक सेक्टर जैसा और जितना काम कर निश्चयेगा। सोसलिज्म के मूल में निगटकर जब हम हर आदमी को मुनाफ़ाखोर मानकर हममें बिनाप रने और व्यापार-व्यवसाय को अपना हाथ में सते हैं तो इस बारे में असावधान हो जाते हैं कि मुनाफ़ाखोरी नहीं स्वयं-सरकार के अन्तर में तो नहीं उतरती या रही है। सबसे भयंकर मुनाफ़ाखोरी यह है जो नागुलन है और सरकारी

है। मुनाफानोर को सब तरह से रोका जा सकता है। लेकिन राज्य उस पर तुल्य भावे से मुनाफाखोरी भागो सारे समाज के लिए धम ही बन जाती है। ऐसी अवस्था में पैसे का मूल्य उचित से भावे बढ़ जाता है और मानवीय सङ्गुप की कीमत पर पैसे की प्रतिष्ठा होने लगती है। आज यही हो रहा है और ऐसा मान्य होता है कि बेरोजगारी को दूर करने का उपाय अधिक नौकरियाँ निकासना और नौकरियाँ बाँटना है। सरकार स्वयं एम्प्लायर और मास्तिक होती है तो फिर लोगों का सम्बन्ध उसके साथ नहीं हो जाता है जो मजूर मास्तिक का है। मजूर-इजूर में द्विज-विरोध देखा जाता है और उन्ही द्विज-विरोध में शासन के कर्मचारी स्वयं शासन की जड़ काटने लग सकते हैं। व्याधि के मूल में यह अवमयी कारण है कि शासन बहु उत्तम है जो सब बगलु शासन करता है। इसके विरोध में सब यह कि उत्तम शासन यह है, जिसको सम्मम शासन करना ही नहीं पड़ता है। शासन का समासन आवश्यक नहीं था।

### शासन की सर्व-व्यापकता

इससे नये इन्टरमिट विचार से मानो इस आवश्यक को बरक बाका है। यही सामाजी विचार है जिससे सरकार का लबाबमा बढ़ता ही जाता है। यदि हम यह कल्पना कर सकें कि ईश्वर की तरह राज्य एक दिन सबव्यापक हो जायगा तो यह सुम होता। लेकिन यह सर्वव्यापकता यदि शासन की मिल सकती है तो सभी जब कि उत्तरोत्तर वह आत्मानुशासन के रूप में सबके अपने-अपने पास पहुँच जाय। शासन की सुखमता उस प्रकार की व्यापकता को सिद्ध कर सकती है। लेकिन आज जो उसे स्तुभ और बुद्ध बनाते जाने का रवैया है, उससे यह व्यापक तो क्या बनता उल्टे दलील बलि मुद्दीय बनता जा रहा है। बहुत आवश्यक है कि मूल दर्शन हमारा बदले और शासन अनुशासन में परिणत होता नीचे। अनु शासन का रूप यदि शासन लेमा तो हरमात्मी काम उसकाही करता जाम पड़ेमा बघरि बेतुम न लेकर वह कुछ अपनी ओर से राज्य की कर ही बना। उपयोवी नागरिकों की सख्या जितनी बढ़ेगी शासन का अनुशासक काम बढ़ता ही पड़ेमा और इस बढी पर बन्धकस्या नहीं बिगई देगी बलि मुद्द बँम बढ़ा दियाई देगा।

### स्वावसम्भन और धम निष्ठा का अभाव

वैश्य नागरिक का अधिकार और नौकर वैतनिक का विषयाम कुछ अधिक प्रति धम नहीं दिया सका है। यदि अतिव आवश्यक को हम निष्ठा से हैं, उसकी



सूक्ष्म-बुद्ध को अबसर हैं और केवल समाज में अपरिग्रह भावि मूल्यों की प्रतिष्ठा कर दें तो हम देखेंगे कि देश का कारोबार बढ़ रहा है। लेकिन उसके कारण सरकार का भार और दबाव विलम्बित नहीं बढ़ रहा है। इस तरह सरकार के लिए अबसर हो जाता है कि वह सांस्कृतिक आवश्यकताओं की और अधिक ध्यान दे सके और प्रशासन की दृष्टि से उसके सिर कम रह जाय। सूक्ष्म-बुद्ध का उपमोक्ष यदि हो सकेगा तो नाना प्रकार की कुष्ठार्थ उत्पन्न न होंगी जो फिर अपराध की प्रकल में फूट करती हैं। दफ्तरबाजी कम हो जायगी और लास-प्रीता सम्मान होवा। यह सचमुच बड़ी अस्वस्थ प्रवृत्ति है कि जिससे सरकारी दफ्तर, घर काटी खर्च सरकारी स्कीमें और फाइलें बढ़ती ही जाती हैं। और हर आदमी सरकारी धरण की ललाच में सेक्रेटरियट के बास-पास बैठाने में कुशल-सोम देखता है। अफसरी यदि जोड़-बीजण के केन्द्र में हो जाय तो अनुमान किया जा सकता है कि उनका कितना अस्वास्थ्यकर प्रभाव चारों ओर पड़ता होवा। प्रव्याचार ठीक यही सं पनपता है। स्वावलम्बन और अमनिष्ठा आदमी की छूट जाती है। अवहाम होने पर ही आदमी अमोत्पादन करता है अथवा जब तक बस हो वह थोड़ा बुगल में ही लमा रहता है।

मैं नहीं समझ सकता कि स्थिति का कोई कारण उत्पन्न है, सिवा इसके कि राज्य-संस्था के विषय में उनकी आवश्यकता और उसके कर्तव्य के बारे में हम सही ध्यान प्राप्त करें और जीवन के सम्पूर्ण वृत्त में राजनीति को ही फैलाने और छाने न दें। उसके महत्त्व की अपावश्यक सीमा में ही सीमित मारें।

१९५५ व्ष में जन-जीवन के प्रत्येक अंग की जिम्मेदारी सरकार ने अपने ऊपर ले ली है और वहाँ सरकार का लबाजमा निश्चित रूप से ही बहुत अधिक बढ़ा हुआ है। फिर भी भारतीय सरकारी कर्मचारियों का-सा पैर-जिम्मेदाराना आचरण धायर उनमें नहीं होता और वे बराबर अपनी सरकार और राष्ट्र के प्रति पूर्ण समर्पित रहते हैं। यदि सरकार के कर्मचारी भी ही बोधी आप मानते हैं तो कस्त की इस परिस्थिति के पीछे कौन-सा कारण काम कर रहा है ?

**राजा का प्रजा में फैलना**

—शासन का शासित पर राजा का प्रजा पर फैलना एक चीज है। उसी शासन का शासित में राजा का प्रजा में फैलना उसके विलम्बित अलग चीज है। स्पष्ट भावि देश में जो फैलाव हो रहा है वह भ्रमरी प्रवृत्ति है। वे सीधी जिम्मेदारी माने ऊपर लेते हैं और इसलिए अनिवार्य पाले हैं कि लोक-जीवन से अलग बनें। इसी चर्चा में धायर मैंने आपको पटले कहा भी था कि केन्द्रित होने पर भी

सासम-व्यवस्था वहाँ बहुत अक्षमिकेन्द्रित होती जा रही है। दूसरे मर्कों में केन्द्रीकरण उत्तरोत्तर कामिक से नैतिक बनता जा रहा है। भारत में वहाँ में अन्तर यह है कि बिमोक्षणी के नाम पर पूरी जिम्मेवारी सीधे अपने कंधों पर न टाकने का अवसर मिल जाता है और यह भी समझ लिया जाता है कि चुनावों का पक्ष-पक्ष के लिए जिम्मेवारी सारा है साथ फिर बेघरा जायगा। इस तरह राज्य का बड़ा हुआ लबाबमा प्रजा पर फैलता है प्रजा में नहीं। इसलिए वह समाधान नहीं संकट का अनुभव देता है। सब चीज बेम में ऐसे मोम बहुत कम हैं जिसको यह याकुम नहीं है कि उन्हें क्या करना है। सबके पास सान-भाउ बच्चे का काम है और पोलिटिकल कैरीवर कोई वहाँ आसान चीज नहीं है चायद और सब कामों से मुक्तिक काम है।

### बबाव अन्तरंग हो

सरकार फीले और इनकी फीले कि समाज से मिल न रहे साथ तो यह इष्ट नहीं आ समेता जब सासम अक्षमिक अनुशासन बनता जायगा। आज भी सब व्याप सत्ता के रूप में ईश्वर को माना जाता है। लेकिन उस बड़ा और अनुभूति के कारण क्या कोई अपने को अ-स्वतन्त्र अनुभव करता है? ऐसी व्यापकता लग और विधान को एक प्रकार की मूकता भी होती जाती है। इन वर्ष में तो सरकार को व्यापक होते-ही जाना चाहिए। इसीलिए कहा जाता है कि सरकार का कान उत्तरोत्तर कामिक कम होते जाना चाहिए, नैतिक ही रहने जाना चाहिए। सब सरकार बोस के मानिन्द नहीं रहेगी जो ऊपर से बबाव है हुआ क मानिन्द रहेगी कि बिमका बबाव है व्यवस्था पर हम तनिक भी अनुभव नहीं करते हैं। ऐसा अन्तःकरण की भार से पहलेबाला बबाव छोपों का स्वकीय मानुस होगा परकीय अनुभव नहीं होया। बल्कि उस अन्तरंग बबाव के परिणामस्वरूप वे अपने को सच्चे वर्ष में स्वतन्त्र अनुभव कर जायेंगे परतन्त्रता का भाव उनमें एकदम दूर हो जायगा। जो मनमाना आचरण करते हैं बिदलेपन द्वारा भाप पाह देया कि वे अपने को स्वस्थ और स्वतन्त्र अनुभव नहीं कर पाते। भारत-ईलना की स्थिति मनुष्य के लिए स्वाभाविक स्थिति नहीं है, उसको बदलन करने के लिए बड़ अन्धान की आवश्यकता होती है। भार जब मर जन भीतर अन्धकरण के रूप में अवस्थित हो जाता है, तो वही पवित्र और धर्मिणी होता है। जन आत्मी में बजन पड़ता है आधमी पर बजन नहीं आता। सरकार कह उनकी ही समय और स्वाधी होगी जो इन मूक व्यापक भाव की दिशा में बढ़ती और अपने कर्म-तन्त्र को भार से भारी बनाते जाने से मोह में डूबती। जब सरकार

स्वयं में तन्म्य बनकर मानो समाज से अलग उसीके विल-विभाग का काम करने की सोचती है, तो उसके परिणाम में भोज-जीवन विल-विभाग से हीन होकर निश्चेतन और ब्रह्म बन जाता है। जनता की सूझ-बूझ सुखती है और वह राज्य निर्माता होने के सिवा और कुछ भी सोच नहीं पाती। जनता से छीनकर सोचने और करने का काम जब राज्य अपने हाथ में लेता है, तब जनता अपने को बेकार अनुभव करती है और काम में उसे खर खरना पड़ता है तो उसे बेगार का काम मानती है। बहुत कुछ करने चाहनेवाली भारत सरकार से जाने-अनजाने कुछ उसी तरह की स्थिति बनती जा रही है। जनता नीचे बीचकायी रह जाती है और जो करती पैसे के नाते करती है। अन्यथा उसमें काम की सूझ-बूझ नहीं है।

### कम्युनिस्ट शासन में लोक-यत्न प्रधान

कम्युनिस्ट शासन राज्य जन-योग की आवश्यकता और अनिवार्यता को अधिक अनुभव करता है। इसीलिए वहाँ स्वयं बल में लोक-यत्न शासन-यत्न से प्रधान बना दी जाती है। मेहरू वाली कांग्रेस में यह स्थिति नहीं है। कांग्रेस एक का लोक-यत्न मूर्च्छित और अनिश्चित जैसा माना जाता है।

२१६ क्या कर्मचारियों की हड़ताल की भाव सत्याग्रह मानते हैं? क्या भाव कर्मचारियों की हड़ताल करने का अधिकार देते हैं और सरकार की तो यह अधिकार देते हैं कि यदि वह भावसम्यक करे तो हड़तालों पर प्रतिबन्ध लगा दे?

### यह हड़ताल सत्याग्रह नहीं थी

—नहीं सत्याग्रह वह ही नहीं सकता जो टूट जाय। बेटन को लेकर मान बीबिये रि हड़ताल हुई। तो सत्याग्रही हड़ताल वह तब मानी जायगी जब बेटन का मान जीवन निर्वाह की दृष्टि से निश्चित रूप से इतना कम हो कि वह काम के प्रति स्याज ही न करन देना हो। सत्याग्रही बेटन लेकर भरपूर काम करना चाहता है पर बिन्ताप्रस्तुता के कारण कर नहीं पाता। इन कारणों से किन्दा क्या अमरूपीय मानी हड़ताल फिर बीच में कैसे टूट सकती है? इसमें मन के निमित्त में आने केन्द्र-पावन की ही आशा है। सत्याग्रही में यह प्रेरणा यदि होगी तो वह कभी झुटी नहीं पड़ सकती क्योंकि हममें स्वयं मासिक या सरकार का हित समझा हुआ है। जहाँ टिक्-बिग्रह ही उस भूमिका पर हठ या मोह में की जानकारी हड़ताल ग्रामों का बड़ा अधिक और अपना बल कम अनुभव करते ही बिगड़ कर बैठ जायगी। सत्याग्रही हड़ताल के साथ यह दुर्बलता नहीं पट सकती। और नहीं तो अहाँ से हड़ताल की भूझ प्रेरणा आयी होगी,

यह व्यक्ति अकेला मैदान में खड़ा रहेगा। अधिक सम्भव यह है कि उसका सरया प्रभु बिनाश और सन्निध होने के कारण अन्त में मासिकों को दिखावाये कि यह व्यक्ति स्वयं अपने हितों को ध्यान में लेता है और व्यर्थ जनको क्षति पहुँचाने की कोई स्पर्शा उसमें नहीं है। लेकिन मासिकों के मन में ऐसा अन्तर आये कि मैं आगे सरयाप्रभू अपनी मायनाओं के सम्बन्ध में निष्पक्ष होता है। मासिकों के प्रति स्नेह और विनय का भाव संक्षिप्त होता है कि वह अडिम रहे, बीच में टूटे नहीं। कर्मचारियों की हकताक में स्पष्ट ही यह तर्क विद्यमान न था। होता तो उसका अन्त उतना निराशाजनक न होता।

### अधिकार का प्रश्न

अधिकार का बँटवारा नहीं हो सकता। चाख अगर मान कि सब अधिकार सबका है तो उसको कौन रोक सकता है? अधिकार के क्षेत्र में यदि कुछ व्यवस्था आती है तो वह कर्तव्य भावना की ओर से आती है। अधिकारों के बीच निपटारे के लिए सीमा उपाय ताकत है। अधिकार की दृष्टि ही है कि जिसके अन्तिम परिणाम में सर्व-निर्णायक बनकर युद्ध को खाना पड़ता है। उसमें जीते सो सही, हारे वह बकल। इस तरह अधिकार की चर्चा कभी विवाद से आती नहीं होती और ताकत की तयारी पर उसका अन्त होता है।

### सर्वोपरि मूल्य गुणात्मक

जिससे स्थिति में आस्थासग आता है, व्यवस्था को सहाय मिलता है, वह मर्यादा और कर्तव्य का प्रश्न है। माना जाता है कि जिसके अधिकार पर सीमा नहीं है वह राजा है। इसकी चर्चा राजनीति-शास्त्र में बहुत मिक आबपौ। न्याय तन्त्र के ऊपर कोई बैठ न हो, तो उसका संचालन कैसा हो? अगर वह ऊपर बैठेबासा हो न्याय के नीचे हो तो मालो ग्याम का बन्ध हिकने लग जाता है। इनोकिए मानव-आति होनेवा एकमात्र व्यक्ति को नहीं तो देवता को पैदा करके अपना काम चला पाती है जिसका निर्भय और निर्भय भावना पड़ता है। उसी परम्परा में सब अधिकार आज सरकार में अभिज्ञत मान लिये गये हैं और सेप के लिए सब कर्तव्य रह जाता है। इनोकिए सरकारों के पास तोप बन्दूक बम, एगम बम बरौह कुछ भी क्यों न हो हम उनकी मरता के नीचे आजा से शुरू सकते हैं। मान लेते हैं कि वह सब बँच और उभित है। मैं यही करता मा रहा हूँ कि सरकार की इस प्रकार सर्वोपरि मूल्य टहुरा देने से बड़ा संकट कोई नहीं है। सर्वोपरि मूल्य स्वयं पुणायक हूँगे सब वह व्यक्ति सर्व प्रभाव और अधिकारिक अधिकार

सम्पन्न होगा जो उन आरिक्त गुणों का प्रतीक होगा। क्या काइस्ट और मुहम्मद के आरिक्त प्रभाव की पूर्वी में ही अमित शक्तिशाली साम्राज्य नहीं खड़े हो सके? इस इतिहास-रंग में से यह सदा प्राप्त करना हमारे लिए कठिन नहीं होना चाहिए कि मौखिक शक्ति अथवा नैतिक शक्ति की प्राप्ति है। और नैतिक शक्ति की निष्ठा या सत्ता राजनीति के क्षेत्र में से सुप्त हो जायगी तो वह बर्मेहीन राजनीति प्रकल्प सत्ता से व्यपसा कुछ नहीं कर सकेगी।

### माने हुए अधिकार अस्तरनाक

अधिकार का प्रश्न जो भी मुझसे आसानी कुछ प्रकृत अधिकार से उत्पन्न है। जीने का अधिकार वही मौखिक अधिकार है। आसानी बीमारी या निकम्मेपन से अपने को मार देता है तो यह उनका अपना काम है। स्वस्थ हो और काम करना चाहता हो फिर भी उसे जीन व लाके पड़े तो यह अधिकार किसी समाज या सरकार का नहीं माना जा सकता। लेकिन समाज पर से बनी हुई सरकार सदा यह अधिकार अपना मानती है। इस तरह के नाना उदाहरणों से आसानी पहले अपघटी बनता है और फिर सरकार की ओर से जिस और क्षेत्र से आगे जाकर फैली भी सदा तक पा जाता है। माने हुए अधिकार की श्रुतिका में यह सब गजब पैदा किया है। मूल में हमके है क्रिस्ता का अधिकार। फिर पैसे से पकड़कर धर्मोपदेश को समूचा मुंह में रस देता है तो हमको मान्य होता है कि यह उसका प्राकृतिक अधिकार है। प्रकृति की दमी जगती जानकारी में से हमने मानवीय अधिकारों की सृष्टि कर दी है जिससे हमारे बीच अभी तक अथवा कादम चला जा रहा है। हम नये तथ्य को जितनी जल्दी हम पहचान से उतना अच्छा है। तथ्य के रूप में हम उसे सहै यह ता बस सकता है लेकिन बड़े-बड़े कानूनी शब्दों के सहारे हम उस सत्य मानकर निर झुकाव और राजा को परमेश्वर मानें यह अब नहीं चलता चाहिए।

### कर्मचारियों द्वारा हिस्सा-भाँग

२१७ क्या कर्मचारी का भाग केवल जीने का हक ही देना चाहते हैं? पूर्वीपति अथवा सरकार की बहुवाचन आय में से कर्मचारियों को अपने हिस्से की भाँग को आप स्थापित नहीं मानेंगे? आज की मजदूर-मालिक-सम्पत्तियों की स्थिति प्राचीन काल के जुगम-मालिकों की-सी नहीं है? आज का मजदूर कथ्य और अधिकार दोनों में बराबर का हिस्सेदार स्वयं को मानता है। उसके इस दावे को

आप कितनी दूर तक स्वीकार करते हैं और कहाँ तक आप मासिकों को बिरोध और क्रूरता का स्थान देने के पक्ष में हैं ?

—हिंसा-मौल्य का विचार धीरी दृष्टि में जुग विचार है। मैं उन स्थिति का नहीं समझता हूँ जहाँ मैं आपा नहीं सब अपना मानना हूँ और इसी तरह आप नहीं सब दूसरों का मान्य की इच्छा रखना हूँ। आप-आप दुनिया में नहीं मचल हो पायी है जब कोई एक है जो कहता है कि अच्छा बिना तरह में हिंस्र तुल्य बर्तन है मुझ मान्य है। ऐसा नहीं हुआ तो उन बोट-बोटबारे में मजबूत दिमाग धुल होत है और मुन-कल हा आते हैं।

आवमी के पास जीन से बाव कुछ भी और हब नहीं पहुँचना। पूरी तरह जीन में ही सब हक आ जाता है। जीना होने में ज्यादा है। मिट्टी है लेकिन वह बीवी नहीं है। जीना कहाँ से शुरू होता है जहाँ आपसी बन की मरदान समता है। केन का मानना जीने की कमी का प्रमाण है। वह होन के लक्ष तक फिर आप बीबन का प्रमाण है। हिंसा-बोट की मारपा भी अस्मित-महर्ष के तल की है। अर्थात् जीवन के प्रारम्भ में पहुँचे की। स्टुवर कोर एक्सप्लेन्स जैविक है मान बीब का आरम्भ आरम्भान जीन प्रमथान से होना है।

### आहू की तीक्ष्णता जीवन की व्युत्पत्ति

मजूर मासिक में क्यों कम आहू ? लेकिन मासिक के लिए वह सम्भव हो सकता है कि वह बान होकर अपने लिए बेटे में कम आहू। आहू की यह तीक्ष्णता जीवन की व्युत्पत्ति का प्रमाण है। जीवन-मासिक्य का लक्षण ठीक इसमें उलटा हुआ है। वह आप का भिक्षा में काम करना है क्या मजदूर में गया-बीना नहीं है ? फिर उसके घरों में बतपति माया भुगतान है तो क्यों ? केवल इसलिए कि वह सेना नहीं चाहता है। इतिहास में क्या कारण है कि एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो महापुत्र समझा जाता हो और हममें कारण उसके अनादना नहीं हो। हम अब समाज बोटबारे और समाज अधिकार की बात उठाने हैं। जीने-अनजाने आबिद और स्वाधिक विचार में चकरा रहे होते हैं। एक सुन्दर गिरु के पास क्या नहीं है ? माँ-बाप के प्यार में म समी कुछ उमे मिल जाता है। मुद्र उस लेने और पास का पता भी नहीं होता।

### मासिक-मुत्ताम, मिसमासिक-मजूर

मासिक-मुत्ताम के बीच कहीं रिफा है या मिल-अनर और मिल-मजूर के बीच है मुझ यह स्वीकार नहीं है। पहले रिफे में भाषना की सुधारण है मुम्ह में हिंसा से हटने का अवकाश नहीं है। मैं दूसरे रिफे की ज्यादा लज्जताक मानता

हैं। इसका सीपन इतना सूक्ष्म है कि वहाँ अत्याचार है इसका भी भाग नहीं हो पाता। मोहम्मद साहब ने मास मोजन को सह किया लेकिन सूब-म्याज को हगम ठहराया। इसमें मैं सहरी अहिंसा-भावना देखता हूँ। माछिक-गुलाम के रिस्ते की हिंसा ऊपर सतह पर दिखाई दे जाती है। मिळोघोन बनारस में यह बर्गीय हिंसा इतनी व्याप्त हो जाती है कि मानो अस्त-करण की पकड़ में नहीं आती। उसको देखने और विचारने के लिए सामाजिक विचारकों और वार्स निकों की जरूरत पड़ती है। किसी जायेज में उन बीनों को समान कह देने से नहीं बसेगा। आधुनिक अर्थ-व्यवस्था के द्वारा बने हुए रिस्ते में भावना है नहीं इसलिए केबल भावना के द्वारा उस हिंसा का उन्मूलन भी नहीं हो सकेगा। सीपक जैसे असुविधा और उससे भी बुराभरे घण्ट हमको आने नहीं के बायें। यह तो बर्ग बिरोध की वास्तव होयी जो फटाफट पैदा कर सकती है, बनाव और विकास जिसमें से नहीं निकलेगा। भावना को भीतर रखकर उसके गहरे बिम्ब और अचानक में जाना पड़ेगा तब कहीं वर्ष के मूस में हम बत और यम की प्रतिष्ठा कर सकेंगे। सिर्फ बयों के उठाने-गिराने और बदलने-बदलने से मूर्खों की नीतिक्रान्ति नहीं हो सकती।

### हिंसासीपन नहीं, दृष्टीक्षिप्त-भावना

ज्ञान के व्यापकपूर्ण समान वितरण का काम ही होगा। बल्कि यदि पूर्वी से अम को साम का अधिक भाग मिले तो इस तक की उचित और सम्भव बनाव होना। ऐसे प्रयोग हो निकले हैं जहाँ अम के प्रतिनिधि की बाइरेक्टर के तीर पर रखा जाता और व्यवस्था के विचार में उसके सामानुपातिक अनुकूलन का ध्यान भी किया जाता है। आबिन स्तर पर समानता और न्याय के प्रयोग हर बयह दिये जा रहे हैं और यह धूम है। सिर्फ हिंसा पर बहुत अधिक आचार-शास देने से नहीं बसेगा। एक महाजन बाँध में बैठना है और बेजोते-बिसत आम-नास सब उनके मठान ही जाते और वह भात्माम हो जाता है तो किस मन्त्र के जोर से? वह मन्त्र नहीं हिंसा है। समाज में गुण-बैत यदि बढ़ेगा तो आपस में हिंसाही भावना की दुई और मजबूत करने से नहीं बढ़ेगा बल्कि बि-वास की भावना को दुई और मजबूत करने में बनेगा। हिंसा के काम में बैस्य बितना बल और मित्र है वह बनाव अधिक अचानक नीति में भी आधी जाय यह पकड़ नहीं है। अमर मंगल का वातावरण होगा तो इन हिंसाही वृत्ति को बहुत ऊँचा स्थान मिल जायगा और सब मन्त्र उससे हाव आ रहेगी। हिंसाही वैपुष्य सब में तो बैस्य वृत्ति की अनुपम है और उसीके पास रहे, तो कोई हर्ष की बात नहीं है। चाहिए

केवल यह कि सारे समाज की आवश्यकता न यह नर नाम कि पैसा परिग्रह है। तब पैसाका प्रश्न प्रति अपने को सिर्फ़ चालीबार (ट्रस्टी) ही मानना उसके प्रति भोपी और मासिक बनकर नहीं चल सकेगा। समाज के मूल्य और समाज की प्रवृत्ति ही यह पट्टि न होने देवी। इसलिए जब कि आज के जमाने में लाभ की राशि के वितरण के बारे में स्वाम और समानुपात के विचार को मैं शुभ मानता हूँ तब यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि बैठने के लिए कोई लाभ की राशि रहती है तो यही अपने-आपने एक भूख का परिणाम है। तब सहयोग करना नामों और अधिराधिक पूरे तौर पर वीरों इससे अधिक और आगे काम का प्रश्न नहीं रह ही नहीं जाना चाहिए। वीरों से अधिक और अधिकतर कोई नाम दुनिया में है इस निष्पक्षता का अन्त हो जाना चाहिए। वह साब स्पष्ट करोड़ रुपया अधिक किस् काम का जो स्वयं जीवन को सिखाता नहीं है बल्कि सहाय्य और सहयोग करता है। साथ से करोड़ और करोड़ से करव बनाने की भूख बनी है तो इसलिए कि हमने उसको उपलब्धि मान रखा है। लेकिन अगर हमने लोकमत का सहारा छूट जाता है, तो जिनगी पर वह सब बोझ और परेशानी सेना किसीने लिए उस का विषय नहीं रह जायगा। यह जनार्दन का इन्स्टिट्यूट बनना और हल्का इन्स्टिट्यूट है। जीवन की माया का जब सही इन्स्टिट्यूट प्राप्त होता तो वह उसके कहीं बढ़कर नाबिल होता और अरबों-अरबों की सम्पत्ति पैदा कर दिखाकर भी उस प्रेरणा से चलनेवाला कर्मवीर अपरिग्रही और कर्मवीर बना रहेगा। वह कभी न अपने ऊपर भारी पड़ेगा न दूसरों पर ही भारी पड़ सकेगा। वह सहयोगी सम्मन और साधारण ही बना रहेगा। उसकी सम्भावनाएँ कभी बुझने और समाप्त होने की आवश्यकता में न पड़ेंगी। असामान्यता का प्रवेश उसके व्यक्तित्व में न आयेगा और न भोगाचार, न सम्भावना उसमें देखा जायगा। हिंस्र के धोर से जिस मान मर्दाना को हम आग्रहपूर्वक अपने बीच में निश्चित करने और शत्रु के धोर से जिसकी सुरक्षा और पहुँचायी रखने का आह्वान होगा उसमें से मानवता का यह प्रस्तुत कभी-कभी मिट न होगा। इसलिए व्यवस्था और हिंस्र की धोर से आने के बजाय उसे ट्रस्टीशिप भावना की दिशा में सँ जाना चाहिए। तब उसमें स सम्पूर्ण मुख्य निकल सकेगा।

### व्यक्तता का भी मूल्य

२१८. मैं तो यह बात बीड़ी और अस्मय कहना ही मानता हूँ कि एक हितावी पृथिवीपति गुड चलीबार बन सकेगा और अपने कर्मचारियों के साथ एक आप का-सा हार्दिक सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा और कभी उनके धोखे के लिए अपने हाथ



पर नहीं फेंकायेगा। आदर्श की दृष्टि से हम ऐसा सीध सकते हैं पर व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जा सकता। प्रश्न को यदि इस दृष्टि से रखें कि नागरिकों की भाष में सौ और लाख क्या महीना जितना फर्क क्यों हो और क्यों न कानूनन स फर्क को घटाकर सौ और हजार तक निर्दिष्ट कर दिया जाय तब भाष क्या कहना चाहिये? जहाँ तक भाषना का सम्बन्ध है मैं समझता हूँ जितना व्यापक पूँजीपति की भाषना का रखा जाना चाहिए उससे कम कर्मचारी की भाषना का यदि रखा जायगा तो क्या यह अपाय नहीं होया?

—मैं कल्पना के भी मुख्य को खोला नहीं पाऊँगा। अच्छा वे बिना पति नहीं हैं विकास नहीं है।

### सेठ और मुनीम

हिस्सा में से अबश्य यह पाती की भाषना नहीं निकलेगी। लेकिन समाज का मुख्य यदि और अब अपरिग्रह हो सकेगा तो अनिवार्य होकर यह भाषना पूँजीपति के पास पहुँचिगी इसमें मुझे शंका नहीं है। बो-एक करोड़पति मेरे भी मित्र हैं। मैंने कभी उनके हाथ में पैसा नहीं देखा है उनके कर्मचारियों में दूधरी-सीसरी सेबीबाबे के पास पैसा रखा करता है। पूँजीपति इतना अधिक पति होता है कि मुनीम नहीं होता। तिजोरी की चाबी और बही-खाते मुनीम के पास रहते हैं और वह सब बोम मुनीम का छिर-बर्ब माना जाता है, पूँजीपति उससे उत्तीर्ण रहता है। मेरी समझ में नहीं आता कि समाज अगर स्वस्थ हो तो कैस का भी स्थान ऐसे मुनीम का क्यों नहीं बन सकता? मुनीम बातीदार के सिवा क्या है? सेठ के बारे में यह पातीवादी भुक्तिभ्रम इसलिए मान्य होती है कि कल्पना है वह मनचाहा रख कर सकता है। अगर मनचाहा रख करने का आकर्षण और उसकी सुविधा समाज के बलाढ्यत्व में से निचल रही है तो क्या सेठ की स्थिति मुनीम जैसी नहीं हो जाती?

उदाहरण सौझिये। मकान आप अपने लिए बड़िया-मे-बड़िया बना सकते हैं। बाद तो आर्य से आशीर्वाद महक पड़े कर सौझिये। लेकिन मान सौझिये कि नीकर बागड़ी नहीं मिलता। तब वह महकही आर्यके लिए मृत का बैराही पायवा। मान सौझिये श्वा ऐसी बननी है कि महक लोगो की निगाह में खुजने लगे जाते हैं। तब आप फिर दुःखित कि समाज में अपना मान रख सरे महक छोड़कर छोटा मकान अपने लिए पसन्द करेंगे। चिड़ता में बसने का विह्वल हाव न छोड़ कर अपने लिए मामूली मकान बनवाकर रहना शुरू कर दिया तो इसमें समाज में अपना मान बना ही नहीं रह गया अन्तिम बड़ गया। यह परिवर्तन समाज की

हवा में से जैसे जाया कोरी भावना में से जायब जैसे न जा पाता। मैं जब अपनी भद्रा की बात कहता हूँ तो कोरी भावना पर निर्भर नहीं कर रहा हूँ। भोक्तृ-दान के मुख्य और समाज की आवश्यकता बदलने की वजह है कि धनपति को इन्धन बदल जलना हुआ। कुछ पहले हीरा-मानिक के बड़े-छोटे कपड़े पहने जाते थे उनमें पर्य माना जाता था। आज उन्हें कोई पहनेगा तो मूर्ख समझे जाने का डर बरत उठा गया। आप भोक्तृपति के महत्त्व को कम समझते हैं, जब यह कहते हैं कि ऐसा कमी नहीं हो सकेगा। जीवन-मान में वैश्य को आप उसके उपयुक्त स्थान पर के आदरे और बेबिदे कि सर्व का अस्तित्व जैसे फुर हो जाता है। पूर्वीय और पश्चिमीय या आप रश् और व्यवहार में जन के महत्त्व को हिसाब के जोर से जहाँ-तहाँ से काटकर कम करना चाहें तो यह बात होनेवाली नहीं है।

### कानून और हिसाब की समानता अधिक

आप में बनी-बसमान का फर्क होना अन्याय को ही जन्म दे सकता है। उसमें से कमी कोई भुम नहीं निकल सकता। आप पर हम व्यक्ति का पूरा हक मानते हैं और उससे बाहर उस हक की व्याप्ति नहीं देखते। जिसको चाही उस रूप में एक-क्याह मिलती है, वह इच्छासीलता करवा कर दे, तो पाप करता है। इस चाही के रूप में अगर बच्चे के लिए दूध और पत्नी के लिए सावित्र साड़ी भी मोहभ्या न हो सके तो कोई परवाह नहीं है। लेकिन हक उसका आप की सीमा से आगे नहीं जाता है। इसी तरह आज एक छात्र अपने पौत्र से अधिक भी स्वयं एक आदमी की जेब में पड़ना सम्भव है। वह इतना ही अगर खर्च करे, तो उसका यह हक माना जाता है। आप के प्रति जो यह सम्मन्ध हमने बना किया है उससे मरकर अनिष्ट हो रहा है। जिसको जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त माना जाय उससे कम आप किसीकी होनी ही नहीं चाहिए। यदि बच्चों का शिक्षण निस्तुस्क कर दिया जाय और बेतन शिक्ष के रूप में मिलने को तो इससे व्यवस्था में सुविधा हो सकती है। विनीता ने एक दिन यह आवाज दी थी कि सरकारी कर्मचारियों के वेतन का मुख्य भाग शिक्ष में मिले और फिर जोड़ा भाग जो लक्ष्य में मिलेगा उसमें कटौत होना तो उतना जुमेया नहीं। आप का सम्बाधुष हीना आज के कानून में अवश्य सम्भव है अगरचे तरह-तरह के उपाय कानून ने अवश्य रच रखे हैं। कानून की जब में रहते हुए भी दक्षिणी निकली है कि आदमी अपने परिवार पर इस-बीत-पचास हजार या अधिक भी खर्च कर सकता और शरीर पर खानों का खर्च पहन सकता है। यानी आप को सीमित करम के सारे कानूनों के बावजूद उस सीमा को टाका नहीं जा सकता। तब यह मानते हुए भी कि आप की एक

सीसिंग होनी चाहिए, क्या वह सीसिंग कानून से कापी जा सकती है या सापी जा सकती है? आप इधर गिबाई में उससे मांग को व्यवस्थित कर सकते हैं, लेकिन डैबाई में उस निर्णय को अमल में लाना सम्भव नहीं है। दो-बाई सी समय पालेबाला सब इन्स्पेक्टर अगर बो-बाई सी अपने जस्तबख पर लगे करता दिखाई देता है, तो इसका इलाज किसके पास है? अर्थात् यह व्याधि कानून से रुकनेवासी नहीं है। समानुपातिक वितरण बैठन-मारों के पुनर्निर्णय इत्यादि से कामकाज पर समाधान हुआ जान पड़ेगा प्रत्यक्ष जीवन में वह कभी न आयेगा। इसका उपाय सिद्धान्तवादी हिसाब-निर्णय नहीं है, बल्कि अर्थ का व्यवस्थित और मम का उन्मूलन है। समाज की हवा बचाने की जरूरत है और यह कहकर कि वह भावार्थक बात हो जाती है, उसकी सम्भावनाओं को कम मानना अपने को बहुमाना और अन्त में उस अस्त की प्रतिष्ठा बढ़ा देना होना जिसकी प्रतिष्ठा कम करने की आवश्यकता है। समाज में से उस दृष्ट का आदिर्भाव हम नहीं कर सकते हैं, तो राज्य द्वारा ही उसको लाने का उपाय बन जाता है। यह उपाय स्वयं खतरे से खासी नहीं है। इसलिए कानून की बर्बरस्ती से काम लेने का सपना बर्बरस्ती को अपने बीच लूनेवा के लिए मजबूत बना लेने से समान है। स्वयंभग समानता अर्थ-क्षेत्र में होनी चाहिए, लेकिन हिसाब पर उसकी सुरक्षा का काम सीप रखेंगे तो खता सापेक्ष। उस समानता को यहाँ में बूझ करना आवश्यक होता। राज्य के कानून और हिसाब से बनायी गयी समानता हमारे बीच से किसी धम भी लुप्त हो जा सकती है और राजकीय स्तर पर आम की अतिधनता आरम्भ-समर्पित वस्तु बन सकती है। यह बोझम उठाने की सलाह में आपको कभी न दूंगा।

### शरणार्थी-समस्या

२१९. भारत-सरकार ने जिस रूप में शरणार्थी-समस्या को मुलज्जाया, वह बहुत दसाध्य है। पर क्या आप जानते हैं कि शरणार्थी-समस्या मुलज्जा चुकी है क्योंकि अब भी पूर्वी पाकिस्तान से बराबर हिन्दू-शरणार्थियों का प्रवाह भारत की ओर बहा जाता आ रहा है। आप इस समस्या को मुलज्जाने के लिए क्या मुसाव पैश करते हैं?

### एक धुमिली

—शरणार्थियों के लिए जिस तत्परता से यहाँ व्यवस्था की गयी है, उसकी प्रशंसा सब लोग करेंगे। लेकिन उस समस्या को स्वीकार किया गया मुझे इसीमें आपत्ति

है। सरकार को इस सम्बन्ध में इसके सिवा कुछ भी और नहीं कर सकती थी। लेकिन सरकार से ऊपर होकर चलनेवाला कोई सांख्यिक और सांस्कृतिक तत्व ऐसा क्यों न हो सका जो इनको इस रूप में स्वीकार न करता और माना बुनौती पूर्वक दृष्टता रखता कि वह क्या कारण है, जिससे हिन्दू पाकिस्तान में और मुसलमान हिन्दुस्तान में सुरक्षापूर्वक नहीं रह सका या नहीं रह सकता? इनको क्यों गृहीत मान लिया गया कि जिन लोगों को अपने नाम बरती से डराकर आना पड़ा है वे फिर वहाँ वापस जा ही नहीं पायेंगे? यदि कभी दुनिया में स्याम जैसी चीज को माना और बसना है, तो इस तरह की बारबाता को राजनीतिक हाथों में छोड़कर रह जाना मानव-जाति के किये कापुस्त्वता का लक्षण होगा। बार्मिक, भारतीय जनता प्रादेशिक जायेंतो को लेकर अगर बड़े पैमाने पर राजनेता जन इसी तरह लोगों के बुद्ध-दृष्टि का कारण बने रहे जा सकते हैं, तो विश्व के लिए मुँह से बाप पाने का मार्ग नहीं निकलनेवाला है। जपाय है कि हम देश में मानव जाति के अन्त-करण को प्रदीप्त किया जाय और सरकारें मानव-भूत्यों का लक्षण और उत्कर्षण न कर सकें।

### एक अप्राकृतिक अवस्था

यह समस्या अब भी कष्ट है रही है। इसका कारण यह है कि विभाजन के समय हमने एक अप्राकृतिक अवस्था को अपने बीच स्वीकार कर लिया था। वह अप्राकृतिक स्थिति पेट में पड़े अपच खाद्य के समान रह-रहकर हमें कष्ट देती ही जायगी।

मुझे मचमुच विस्मय है कि बाँबी के देश इस भारत में उनका उत्तराधिकारी ऐसा कोई क्यों न हुआ जो मानव जाति की ओर से इस कष्ट और इस बुनौती को अपने माता-महिमा की यात्रा में उठकर इस अप्राकृतिक समस्या को सत्कार देता और हिन्दुस्तान-पाकिस्तान दोनों सरकारों को स्याम के सामन जाने की बात करता। यह क्षेत्र मत्स्य या अन्त-करण जब तक नहीं जागता है राष्ट्रीय सरकारों की ओर से हीनेवाली इन काररबाइयों को महते और सेरुत जाने के सिवा मानवता के पाम कोई उपाय नहीं है। लेकिन निश्चय मानना चाहिए कि यदि बिदर को समस्त मानवता एक बिरादरी और एक परिवार है, तो उनके अन्त-करण में ऐसी सब घटनाएँ मायूर छोड़ जाणी हैं जो मानवता के स्वास्थ्य को मात्रा रहता है। मुझे लगता है कि विभाज की प्रगति के साथ इतिहास में अब समय आया है कि समस्याएँ समस्त जगत् के दृष्टिकोण से देखी जायें और बन्द राष्ट्रीय स्वाधों को जो सर्वाधिक सत्ता मिल गयी है, उनका ऊपर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठित की

जाय। राजनीति स्वच्छन्द और स्वयं निर्भर रहकर सब पर अंकुश लागेवाली न रहे, बल्कि वह स्वयं किन्हीं मूर्खों के अधीन हो और उन मूर्खों का अंकुश राजनीति को निर्भर न होने दे। मूर्खों आदि संस्थाएँ इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं करती हैं। कारण वे स्वयं इसी राजनीतिक और तन्मात्र हैं कि मानवता की ओर से हासिक अनुश्रवण का काम नहीं वे सकतीं।

### मूल में भारी बोप

धरणाधीन-समस्या एक बड़े पैमाने पर जबर सामन आती है तो मान लेना चाहिए कि स्थिति में कोई भारी बोप है। यद्यपि तात्कालिक रूप से उन धरणाधीनों के मरण-पीपन का प्रश्न व्यवस्था पर आता है लेकिन विचार के लिए जो प्रश्न रह जाता है वह मरण-पीपन का नहीं है बल्कि उससे गहरा है। वह यह है कि क्या किसीको अपनी उस जगह से उतारना पड़ता है जहाँ वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी से जमा जमा आ रहा है? जब हम केवल धरणाधीनों के रहने-बसने की बात पर ही सोचते हैं तो प्रश्न का वह मूल हमसे ओझल रह जाता है। सरकार चायव हमसे आगे सोच नहीं सकती है। उसका दायित्व इतना तात्कालिक और सीमित है। लेकिन विचारक के लिए ठीक वही प्रश्न है और उसकी चुनौती का सामना उन सब लोगों के लिए पकरी है जो राजनीति को अपना धर्म नहीं बना लेना चाहते हैं।

## सुरक्षा, गृह-नीति, विदेश-नीति

### देश की सुरक्षा

२२० क्या आप भारत की सुरक्षा के लिए, सुरक्षा-विभाग भी भी काम उठा रहा है उससे सम्बन्ध है? क्या आपका विचार है कि किसी भी ओर से सशस्त्र आक्रमण होने पर भारत अपनी सुरक्षा स्वयं करने में समर्थ होगा?

यह प्रश्न सामरिक नहीं, मानसिक

—कोई देश अपनी शक्ति से अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकता। अपनी शक्ति से मतलब कि सब बगैर सब देशवासी मानते रहते हैं कि इस काम के लिए सरकार के पास एक खास बड़ी फौज रहा करती है। अर्थात् देश की सुरक्षा सब बगैर फौजों के सम्भूत होती है, और हीपी यह माना जाता है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता जा रहा है कि फौज की संख्या स्वयं पर्याप्त बल नहीं है। बड़ी-से-बड़ी संख्या उससे अधिक बड़ी के आगे छोटी हो जाती है। फिर आजकल इतना यन्त्रीकरण हो गया है कि सेनाओं की संख्या से अधिक महत्त्व की चीज बड़े बड़े यन्त्रास्त्रों की संख्या हुआ करती है। इस दृष्टि से भारत को आज की बड़ी सैनिकों के समानुष्य नहीं मिला जा सकता। चीन के पास निश्चय ही जनशक्ति और पराशस्त्र-शक्ति अधिक है। इस दृष्टि से भारत का सुरक्षा मन्त्रालय अपना जो कदम, स्थिति की नींव के ज़िहान में कम ही समझा जायगा। मुझे इन चीजों में बिल्कुल दिलचस्पी नहीं है। अतः मैं वास्तव में अपना ही काम करता हूँ, जिसका उनके पीछे संस्पर्ध ना बल रहता है। आज की भारत-सरकार भारत के लोक-मन से तटस्थ नहीं है उसकी बड़ी माया और बड़ी-बड़ी करार बाह्य लोक-मन के कुछ ऊपर-ऊपर से यह जाती है, उसके अन्दर मन तक उतर नहीं पाती है। पञ्चपर्याय योजनाओं को लेकर यह स्पष्ट हो जाता है। उन योजनाओं की भारत के प्रति ही परिचित बनाने के लिए करोड़ों रुपये की राशि स्वीकृत की गयी है। इसीमें गमिज है कि योजनाएं नहीं ज़ेबाई से जाती है

बीर फिर उन्हें नीचे उतारा जाता है। इसीलिए यह तक सम्भव बना बना आ रहा है कि बुद्धि भेद की स्थिति का काम उठाकर एक ऐसा वर्ग और दस मी भारत में विद्यमान है उससे आगे सक्रिय तक है, जिसकी सहाय्यमूर्ति इस मामले में भारत से अधिक चीन के साथ कही जाती है। किन्तु राजनीतिक तल में इस बुद्धि भेद और सध्य-मेव की बात का छोड़ दें, तो आज भी भारत देश के पास वह गौरव और स्वाभिमान है जिसके रहते यह आसान नहीं मामूम होता कि देश की सुरक्षा उत्तरे में पड़े। जब भी देश पर सचमुच संकट आयेगा तो वह भीतर फूट और बुद्धि भेद का पैदा करता आयेगा। आज के जमाने में यह जिसकुछ संभव नहीं है कि सिर्फ बाहरी आक्रमण किसी देश को पस्त और पराजित कर दे। आक्रमण अन्दर से ही होने लगे हैं और जल्दी संकट वहीसे पैदा होता है। मैं मानता हूँ कि सीमान्त पर बनी रहनेवाली सुरक्षा की आवश्यकता और वही सुरक्षा-वर्क के रूप में तैनात सुसज्जित सेनाएँ इतनी महत्व की चीजें नहीं हैं जितने महत्व का कि अपने घर का जीवन है। घर में फूट हो और कोई मरिया बन जाय तो मामूली एक खिड़की में से भी संकट आ सकता और घर को जौनद कर सकता है। उस मोर्चे पर सुरक्षा की बात मुझे अधिक महत्व की लगती है। अगर और नहीं तो इसी कारण कि वह भीचा सामरिक नहीं है, मानसिक है।

### सेनाओं में राजनीति

२२१ क्या सचमुच भारतीय सेनाओं में अब पहले जैसा संयुक्त और ऐक्य नहीं रहा है? उनमें बलबन्धी धर्मवाद तथा अष्टाचार काफ़ी पड़ गया है। पक्षपात के कारण अवोप और परजिम्मेदार अफसरों को ऊँचे पद से हटायें हैं और जोरे सेनाओं में राजनीति का प्रवेश होता आ रहा है। इस प्रकार हमारी रक्षा-वर्क का मनोभाव बहुत क्षीण हो गया है। क्या आप भी सचमुच मानते हैं कि भारतीय सेनाओं में उपयुक्त होनताओं में स्वाम बना लिया है?

—मेरा उत्तर ध्यान नहीं है। जापान-क़ानून के अनुसार ही जिम्मेदारियों के पद पर लोग पहुँचा करें हममें मैं कोई अर्थ और मार नहीं देखता हूँ। प्रतिभा में कुछ बिबाध करना पड़ता है और वह स्थिति जहाँ प्रतिभा जिम्मेवारी या और उठती ही न सके मुझे पड़ जान पड़ेगी। बीनी जड़ता की आवश्यकता यदि बाहर नहीं है तो सुरक्षा और सत्ता के कारणों में भी नहीं होनी चाहिए।

### मानसिक हुआ

यह बात माफ़ है कि ऐसा सब जगह बहती हुई आती है। उसी तरह मानसिक

इसको भी रोका नहीं जा सकता है। समाज की आवश्यकता से फौजी क्षेत्र एकदम बन्द और बचा रहेगा यह मानने का कोई कारण नहीं है। इससे अव्यथा मानना भी महकाना और पन्ना खाना हो सकता है। अंग्रेजों के बमाले में फौज को एकरम बूझते ही मनोमात्रों में रखा जाता था। बहुत दूर तक अंग्रेज इसमें कामयाब भी हुए थे। लेकिन जिस समय एक विशेष प्रकार का मनोभाव देश में यहाँ से वहाँ तक व्याप्त हो गया था उस समय अंग्रेज शासकों को स्वयं उस सेना पर संघर्ष होने लग गया था। बुद्धि-मेव मित्रता देश में व्याप्त होगी उसना ही फौजों की बकाशारी में भी बरार पैदा की जा सकेगी। सेना के मनोबल के बीच पड़ी वे दूरों बड़ी भयानक हो सकती हैं इसका प्रभाव देने की आवश्यकता नहीं है।

### एक महानुभाव की आवश्यकता

राजनीतिक कानूनी और सरकारी रोक-ताम इस व्याप्ति का उपचार नहीं है। सब सेना में हो मन हो चले तो उसका क्या कीमियेगा? बुद्धि मेव की ओर से मानवासी दूरों को बाहरी चुने-सीमेन्ट से भरा नहीं जा सकता है। आज स्वराज्य के पन्ना बर्ग के बाह कापेसी शासन में मानी देश के पास से संकल्प की वह एकता की पसी है। कोई एक स्वयं एक आकांक्षा एक प्रम देश की बामे हुए नहीं है। पचवर्षीय योजनाएँ स्पूक कार्यक्रम से बाध और ऊपर कोई स्फूर्ति का भाव नहीं दे सकी हैं। उन्होंने किसी भट्टा-संकल्प का निर्माण नहीं किया है। यह परिस्थिति अपने सैनिक-क्षेत्र में भी विभिन्न और प्रतिविम्बित बीजे तो मुझे ठनिक भी विस्मय नहीं होया। कावेस के पास और ऊँची तो क्या होयी राजनीतिक लक्ष की भी कोई भट्टा नहीं रह बसी है। एक कर्मचार ही उसको चला रहा है। कर्मचार संगठनवार का ही एक नाम है और उसमें कारिग बल नहीं होता। इस संगठन के सम्बन्ध में कावेस की बितनी सक्रिय व्यवहोती है, उसको देखकर ही पता लग जाता है कि वहाँ भट्टा की क्या हाकल है। मुझे तो बहुत ठकान आवश्यकता मालूम होती है किसी उस महानुभाव की, जिसमें देश का चुन और दलीय चतता की पण्ड राष्ट्रीय चेतना काम करती दिखाई दे। यदि सेना में, सेना के मनोबल और मनोमात्रों में कहीं तरह पड़ रही है और हमर उपर कुछ सितकन आ रही है, तो इसका उपाय में मायात्म के पास नहीं देता है। न मनो के महल-बहल से घम भित्ति में कोई बड़ा बन्दर का बनता है। उपाय है तो यही कि कोई महानुभाव जार्ग और देश उसमें एक बना सिराई दे। तब छोटे-मोटे बुद्धि मेव बल उभार में एस स्थि जार्गवे कि बस ऊँची से ही नहीं।



## भारतीय आत्मा में विश्वास

यह महद्भाव कैसे कहाँ से आये यही एक बड़ा प्रश्न है। बुद्धि मग्न में से होती है और किसी महान् सत्य में से ही यह महद्भाव आयेगा। हम चीने के छोटे मोटे साधनों से बिपटे हैं यद्यपि और मान चाहते हैं। इसने लोगों और दलों की नीज और जर्जर कर दिया है। कुछ ऐसा धरि बैठित हो, जिसमें से बीच पड़े कि स्वच्छ से अपनाये गये कष्ट और मरण के मुकाबले कुछ भोग कुछ है आराम-चैन का बीना ही बीसे उस महद्-जीवन के प्रकाश के आने मग्न और मिथ्या है, तो उस उदाहरण से फिर एक नया भाव पैदा हो सकता है। कभी सहायता की माँग हममें आती थी। उसकी जगह आज पद-पथ की माँग में के ली है। अममन और अक्षय नहीं है कि फिर हमें पहचान ही कि यह सब मिथ्या है, जीवन के अमृत का कलश तो जीवन को हथेली पर रखकर किसी संकल्प में मृत्यु की भेटने चल पड़ना है। भारतीय आत्मा में भेरा विश्वास है और मैं मानता हूँ कि ऐन वक्त पर अवश्य उसमें से कुछ ऐसी बाला निकलेगी जो संकट के बारलों की काट देगी और गृहयुद्ध की अक्षय्य बना देगी।

## असत् का मोह

मानना चाहिए कि कांग्रेस की यह दुरवस्था कि यह राजनीतिक बलमान रह गयी है निमग्न है उस परिस्थिति के लिए, जहाँ बुद्धि-भेद बड़ा धाम और अन्त में मकार-निषेध के द्वार शक्ति आ आये। असत्य स्वयं प्रकट नहीं हो सकता। सत् की ही निर्वस्तुता ही जो बल को हठात् असत् की ओर खेद देती है। इस दर्शन को आत्मनाम् कर लें तो जान पड़ेगा कि असत्य से मोर्चा लेने की सोचना समय गैराना है। सत् की शक्ति पर विश्वास करके उसकी अपने भीतर जमाना असत् को परास्त और पराभूत करने का सीधा-सा उपाय है। राज्य के जवा-जमे का मोह, बर्ह की संगठित सत्ता और सैन्य का भरोसा स्वयं में सत् नहीं है। उन आधार पर किसी असत् की जीता जा सकेगा यह बीने मोह है बना विघ्न-मान है।

## भारत में सेनागाही नहीं

—यही इस बात का जय नहीं है कि जहाँ सेनाओं में ऐसी स्थिति पैदा हो की तरह राजनीतिज्ञों का उच्छेद कर अपना शासन और भारत में प्रजातन्त्र के स्थान पर सेनाशाही का

—नहीं भारत में मैं यह स्थिति नहीं मानता हूँ। मुझमें अभी तक उस मय मै  
 तनिक भी स्थान नहीं पाया है। अभी पण्डित नेहरू अपने में अर्थात् कांग्रेस संघटन  
 से स्वतन्त्र लोक-कल्पना से एक स्थान रखते हैं। कल्पना के नीचे भावना में अवश्य  
 यह स्थान मन्द और धीका पड़ता जा रहा है। ऐसा हो सकता है कि भावना  
 नीचे मूस जाय और अन्ध कल्पना में ही कोई नाम कुछ देर ठिका पड़ जाय।  
 तब किसी ही यह नाम गिर भी जाता है। नेहरू कांग्रेस-नेता के रूप में और  
 प्रधानमन्त्री के रूप में देश में लोकता के साथ जैसे भावना की भूमिका पर से  
 अपना स्थान खोते जा रहे हैं। उस अनाचारमय स्थिति में क्या होया कहना  
 मुश्किल है। पर सेना में से नेतृत्व और विश्वास आने की बात का कर मुझे नहीं है।

### गृह-नीति और विदेश-नीति

१९१ भारत की गृह-नीति और विदेश-नीति में आप कितनी दूर तक एक  
 धर्मनिरपेक्ष अथवा एक स्पष्ट विरोध देखते हैं? क्या सम्भव है दोनों नीतियों  
 एक दूसरे की पूरक हैं जैसा कि इन्हें होना चाहिए?

दोनों में विमुखता है

—हाँ मुझे कुछ इनमें विमुखता दीख पड़ती है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र हमारे लिए  
 अभी आकाश का क्षेत्र अधिक है, विदेशीय क्षेत्र का उदय नहीं है। इसलिए हम  
 क्षेत्र में सुनिश्चित हैं कि हम अपने सिद्धान्तवाद की लेकर पहुँचें हय जो हैं, घर में  
 रहें और बाहर कुछ अधिक हीले। सामूहिक तौर पर ऐसा हम सबके साथ हुआ  
 करता है। साधारणता को घर में रोक्ते हैं विविधता की छाप बाहर लाना  
 चाहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र दुनिया के आदमी हैं। सामान्य जीवन की  
 इस नीति से उत्पन्न नहीं हैं तो सिकार्य कैसे की जा सकती है? लेकिन भारत  
 की जीवन की आदर्श-नीति और व्यवहार-नीति इससे उल्टी रही है। चिनी  
 का प्रभाव और मम जो भी हो राष्ट्रीय भीतर और बाहर अकिंचन बनना  
 बीजना चाहता है।

अपने घर में शासन के पराक्रम का उपयोग करने के बारे में हम अपने सामान्य  
 नहीं हैं कि जिस साधारण को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आकस्मिक उलझाते बाध हैं।  
 बल का प्रयोग यदि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ठीक नहीं है, तो अन्तर्राष्ट्रीय या राष्ट्रीय  
 क्षेत्र में भी यह गलत हो सकता है। विदेश-नीति और गृह-नीति को जब चलना  
 एक ही सिद्धान्त में है, तब सामान्य गृह-नीति में उस सिद्धान्त के सम्बन्ध में विदेश-  
 नीति की अपेक्षा अधिक ही दृढ़ बनना चाहिए।

इसका मूल नेहरू में

नीति से अष्टम व्यवहार में भी उसका प्रभाव पड़ता है। भारत के राज-द्वेषाभास जीवन-मान की दृष्टि से भारतीय गिरस्ती से नहीं ऊँचे स्तर पर रहे जाते हैं। यह अन्तर महत्वपूर्ण न भी होता यदि यह दृष्टि के ही अन्तर का सूचक न होता। असल में पश्चिम नेहरू का सम्भाव्य ही इस सम्बन्ध में दुर्भाग्य बना माना जा सकता है। गरीबी नाम की बीम को वे जानते ही नहीं। हमेशा उन्हें उस वस्तु को विचारपूर्वक जानना होता है। इसलिए गरीबी का सम्बन्ध उनके साथ हमेशा दूरी का और रोमान्स का बना रहता है। वे इतने अधिक कुलीन और सम्पन्न बनकर रहे हैं कि अनुभव से कभी जान नहीं पाये कि गरीब क्या होता है और गरीबी क्या होती है। चायव ही कोई विश्व में ऐसा नेता हो जिसके साथ बिबाठा ने इतनी दया या कदया करती हो। हर एक को गरीबी के कुछ अनुभवों का प्रभाव मिलने ही दिया जाता है। नेहरू इससे इतने बंथित रह गये हैं कि उसका प्रभाव उनके राजनैतिक में भी दिखाई दे तो कुछ भी अचरज की बात नहीं है। किसान और मेहनती उनकी निगाह में बहुत गौरव प्राप्त कर सकता है इतना कि वह स्वयं और पूजनीय का स्थान पा जाय। पर जब वही उनके ड्राइंग-रूम की कुर्सी पर बैठा बीजे तो उनके कुलीन रक्त की, उसमें बनी सौन्दर्य भावना को ठेस मने बिना रहती नहीं है। अर्थात् उनमें और शेष में एक दूरी रहती है जिसको रोमांटिक और बौद्धिक सम्बन्ध से पूरा किया जाता है। नेहरू की यह अन्तर्गत विच्छिन्नता और विभक्तता भारत के राजनीतिक इतिहास पर अपनी छाया डालती देखी जा सकती है। यदि बिबेस-नीति और बहु-नीति में सम्पूर्ण एकता नहीं है तो वह एकता स्वयं नेहरू के व्यक्तित्व में कहाँ है? मुझे आवश्यक लगता है कि वह एकता हो और भारत का राजा ही नहीं बल्कि प्रजा भी दोनों समग्र भ्रष्टा में एकमुख बने जैसे बाहर बड़ी बहूँ भी नीतर करने की सामर्थ्य रखें। गांधी वही थे और भारतीय जीवन और राजकारण में भी वही बंथित कर दिवाना चाहते थे। लेकिन नेहरू गांधी के बितने भी बचपत्ती रहे हों वे समर्पित और अमुक्त व्यक्ति न थे। यह कि उनको अपने स्वयं के व्यापार पर राजनेतृत्व धनाने का अवसर नहीं आया गांधी के हाथों जस्टी नेता हो गये इसमें नेहरू का दोष नहीं है। लेकिन परिस्थिति की इन बुद्धि का प्रभाव तो वस्तुस्थिति से दूर नहीं दिया जा सकता है। नेहरू चायव स्वयं चाहेंगे कि किसी प्रतिबिम्बित प्रकाश में वे उन्हें न देखा जाय स्वयं अपने आन्तरिक मूल्य की ओरों में ही उनका वजन माना जाय। लेकिन साधारणतया यह सम्भव कैसे ही सकता है जब तक कि स्वयं नेहरू ही इन सम्बन्ध में आबही

न हूँ और बहने की हिम्मत न करें। गांधी गये और उनके साथ उनका दर्शन और उनका रचनात्मक कार्य भी गया। अब नये युग में गया आरम्भ होगा और गांधी के साथ चलनेवाली पुरानी चीजों को बिल्कुल न बरका जामगा। यह यदि हो सकता तो गांधी के साथ और नेहरू के साथ स्याद ही होता। लेकिन नेहरू के बीते-जी सायब ही वह ही सके और सायब ही हैम में एव समप्रता आ सके। यह भी निश्चय है कि बीसी समप्रता आये बिना नाग नहीं है। उसके जमान में जो हो सकता है, वह यही कि नकारात्मक शक्तियों की प्रकृता मिसे और सञ्जनता का मुख्य धूम्यवा हो जाय। नीति-मेव और बुद्धि मेव में से यह एक सामने आता आ रहा है इस बारे में दो मत नहीं हैं।

### विवेक-नीति की प्रेरणा

२२४ भारत की विवेक-नीति का आधार आप किस भाव को मानते हैं? एक महत्वाकांक्षा को अपना विवेकों से अपने स्वराष्ट्रीय हितों की वृत्ति को अपना मानक-हित की? देश की विवेक-नीति की निर्विष्ट करते हुए हमारे प्रधानमन्त्री के मन में उपर्युक्त भावों में कौन-सा भाव प्रधान है?

—नेहरू एक हीरो हैं। उन्हें स्वयं इसका पता है। वे इतिहास की भूमिका पर चलते हैं और यह अपने को भुलने देना नहीं चाहते। मानो उनके सामने एक बहुत बड़ा बर्तन समुदाय है जिसकी आँखें उन पर लगी हैं। उन सब चीजों के मध्य-बिन्दु होकर वे अपने पार्ट की खुशी और धान के साथ अद करना चाहते हैं। यह प्रेरणा मुझे नेहरू के व्यक्तित्व की मूक पूँजी भासूम होती है। दूसरे भावक को अचमक है कि नाटक से छुट्टी पाकर साधारण बन जाय। लेकिन नेहरू को जिस नाटक में रहता और चलना पड़ रहा है, वह साधारण नहीं है। काम से सीमित नहीं है। मानो बर्तनो अलग इतिहास का पद खुला है। मानव जाति के समस्त भावक नेहरू की निगाह में प्रत्यक्ष रहने हैं और नेहरू स्वर्ण में चिनीमे भीम नहीं हो मरने। इसलिए उनके पाम अचमक नहीं बचता है कि वे अमान्य नहक से एव राण के लिए भी सामान्य नेहरू बन सकें। उनकी विवेक-नीति पर भी इन महता की छाव है। इन छाव को नेहरू के व्यक्तित्व ने असय नहीं चिन्ता वा नकता है। कारण नेहरू न अपने स्वत्व की इस ऐतिहासिक वर्तम्य के समस्त सर्वथा स्पष्ट रचना स्वीकार कर लिया है।

नाटक की मापा में मैं नहीं वह मरना कि यह सब देखिए है या कौमिक। लेकिन है ऐसा मुझे अवश्य सगता है।

### एशियन कांग्रेस और बांद्रा

१२५ क्या कारण है कि प्रथम एशियन कांग्रेस और बांद्रा कांग्रेस के बाद हमारे प्रबलमन्त्री ने अर्मा, मित्र इण्डोनेशिया आदि देशों की ओर से बार-बार सहे जाते वर भी तृतीय एशियन कांग्रेस की बुलावा समर्थित नहीं माना, जब कि किसी ही महत्त्वपूर्ण समस्याएँ पूर्ण एशिया के सामने खड़ी थीं हैं? क्या उनके मन में भारत एशिया का नेतृत्व करे, यह एक ही बात पहले काम करता था, वह अब लुप्त हो गया है अथवा असम्भव होख पड़ गया है?

—न राजनीतिक इतिहास का विचार्यो नहीं हूँ। न अपने प्रबलमन्त्री के मन के रहस्यों का संरक्षक हूँ।

### बांधीजी और कांग्रेस

पहली एशियन कांग्रेस हुई, तब भारत स्वाधीन न था। शासन पर घिसी-झुंकी सरकार थी और ऊपर बाइसठवां थे। अर्थात् वह यथार्थ राजनीतिक तत्त्व पर बुलायी गयी कांग्रेस न थी। भूमिका उसकी भावनात्मक थी। आपको याद होमा कि बड़े अमासपूर्वक बांधीजी को वहाँ प्राप्त किया जा सका था और बहुत चाड़ी देर बीसकर और रुहर के कांग्रेस के और दिखी से चल गये थे। जो बात उन्होंने वहाँ कही देने में वह कांग्रेस की प्रकृति और महत्त्व से संगत तक नहीं थी। उन्होंने बस इतना कहा कि जो आप देर रहे हैं उस चारण न मान लीजियेगा। भारत देने के लिए आपको वहाँ के रहस्यों में जाना है। इस बात के अलावा जैसे उन्होंने कुछ कहा ही नहीं। इनका आगम है कि राजनीतिक यथार्थ के तत्त्व पर उस कांग्रेस की कजौल्पादक उन्होंने नहीं माना था उसकी भूमिका से भावनात्मक स्वीकार किया था।

### बांद्रा का असल काम

बांद्रा राजनीतिक ही नहीं कूनीतिक यथार्थता पर हुआ सम्मेलन था। उसका काम बहुत अन्तर्राष्ट्रीय गठबन्धन में फसित दिखाई दिया तो उसका भावनात्मक क्षेत्र केन्द्रों और काल्पनिक काम बरक-उल-भाई को दिखाने का था। बांद्रा की यथार्थता आये परिस्थिति में से लुप्त हो गयी। तब उनी सम्मेलन की दूसरी बैठक बुलाना गालापूर्वी का काम हो सकता था। उसमें से कुछ मार्पक नहीं निराल नक़्श था। परिस्थितिवा बदल गयी थी और शक्तिपों के सम्भावीत सम्मुख में बन्दर आ गया था।

## एशिया का रूप बदला

भारत के नेतृत्व का स्वप्न पण्डित नेहरू के मन में से क्षुब्ध हो गया कि नहीं कभी बने पर स्वप्न वही से क्षुब्ध नहीं हो सकता। उसका रूप अवश्य बदल सकता है। एशिया आज के दिन एक नई संज्ञा है जिसमें राजनीतिक बर्णार्थता मानो यह नहीं गयी है। चीन और रूस के सम्बन्ध इतने घनिष्ठ हैं कि एशिया के नाम पर वेक्रेम अपने को मास्को से दूर और मित्र मानने की सजगूरी में नहीं है। न एशिया के नाम पर उसके मधुरपूर्व के देशों पर कोई एकता का दावा माना जा सकता है। एशिया के निकटपूर्व और मध्यपूर्व के देश इस्लाम की मानते हैं और अफ्रीका के कतिपय देशों को भारतीय अनुभव करते हैं। अरब सम्राज्य में भिन्न प्रभाव है, जो एशिया नहीं अफ्रीका में है। इस तरह एशिया और अफ्रीका बीसी सत्राई अब इतिहास की द्योतक बनें हों साम्प्रतिक राजनीति को समझने में इन सत्राया से कोई मदद नहीं मिलती है। ऐसी अवस्था में बांडुंग का नाम मन पर या मुँह पर काने में आज कुछ छार नहीं है। नेहरू राजनीतिक आपत्ति का प्रमाण देने हैं जब बांडुंग को दोहराते नहीं हैं या उसकी पुष्टि नहीं करते हैं।

## तिब्बत मनो से घायल

२२६- अरर आपने कहा कि बांडुंग-काम्पेन का वास्तविक काम बाऊ-एन-काई को मिला। बाऊ-एन-काई को क्या मिला?

—बांडुंग से पंचशील प्राप्त हुआ था। भारत के मन में न स्थिति में कभी फैलाव की आवश्यकता रही थी चीन की बात दूसरी थी। पंचशील के बाद चीन-भारत में तिब्बत के सम्बन्ध में एक सन्धि हुई और उनका सन् ५९ में बाऊर परिणाम यह हुआ कि तिब्बत दुनिया के नक्शे पर से गायब हो गया। स्पुनर-श्री राज के सहारे यह सब इच्छित ही था कि पंचशील में भारत शामिल था और चीन के प्रति वह विरहासी हो सकता था और नहीं सकता था। चीन की स्थिति स्पष्ट ही भारत में इन सम्बन्ध में भिन्न है। आकांक्षा और स्थिति दोनों दृष्टियों से चीन को फैलाव चाहिए और अहिंसा के उपाय में उसे विन्यास नहीं है। बांडुंग में सम्मिलित में दोनों सन्धियों परस्पर में यदि विच्छिन्न ही नहीं जाती हैं, बल्कि अनवरत में आ जाती हैं, तो बांडुंग को अब भी इतिहास की ही चीज कहा जा सकता है।

२२७- वो बड़ी ताकतों के बीच एक बहुर स्तर का रहना ऐतिहासिक, दृष्टीगत एवं सैन्य-दृष्टियों से सदा युक्तिसंगत माना गया है। फिर भारत ने तिब्बत पर चीन की स्पुनर-श्री की स्वीकार करके और अपनी सीमाएँ वहाँ से हटाकर क्या बहुत बड़ी दृष्टीगत मुक्त नहीं की? यदि भारतीय सीमाएँ लासा में रहीं, तब भी आपने

मत से क्या सीमा-विवाद पैदा हो सकता? या चीन इतना बड़ा कूटनीतिक  
कुस्ताहस कर सकता?

नयी शक्ति-नीति अशुभ

—राज की नीति को जम्मित स्वीकार करना कूटनीतिक दृष्टि से भी कच्चा  
और पक्का साबित हुआ न? राजनीतिक तल पर क्या होना और क्या नहीं होना  
चाहिए वा उसके घ्यारे में मैं नहीं जाऊँगा। लेकिन यह कि कल तक तिब्बत  
वा और आज यह कहीं है ही नहीं एकदम उसका सफाया हो गया यह बात  
मुझसे किसी तरह नहीं निगली जाती। बड़े हर्ष और गौरव का विषय हो सकता  
वा अगर तिब्बत स्वेच्छा से अपना विसर्जन करता और किसी महादेश में विलीन  
हो जाता। तब विश्व के लिए एक महान् उदाहरण उपस्थित हो सकता वा और  
उसका साम सामूची मानव-जाति को होता। लेकिन हुआ जो है, वह ठीक इसके  
उल्टा है। अरम-विसर्जन से स तिब्बत ने निर्वाण नहीं पाया है, बल्कि एक  
जबरदस्त ताकत के जोरदार हमले ने उसको एकदम मिटा दिया है। यह विश्व के  
और मानव-जाति के लिए एक प्रथम ध्येयी के नैतिक संकट का प्रश्न बन जाना चाहिए  
वा। लेकिन यदि नहीं बना तो मैं मानता हूँ कि आज राजनीति का और उस  
राजनीति में नयी शक्ति-नीति का ही बोलनाका है और यह सुम-सुझन नहीं है।

पञ्चशील का खतरा

पञ्चशील हम तरह एक खतरनाक सिद्धान्त हो सकता है। सीमा की आवश्यकता  
अधिकार के लिए होती है लेकिन कर्तव्य पर ही जब सीमा जा जाती है, तो  
पञ्चशील का मानो दुर्ग्रयोग होता है। मानव-जाति का मन एक है, यह जगिना  
बिना स्पष्ट होना जा रहा है। यह अधिक काल सम्भव नहीं रहे पायेगा कि इस  
सूमाग में हिता और अन्याय हो और मारी मानव जाति की कादा न बरी जाय।

अनु-मुद्र का भय अ-साय का पोषक

जमी थी राजगोसावाखारी वा एक वस्तुस्थि पड़ा वा। उन्होंने पते की बात नहीं  
है कि अनु-अम पन जाने में मुद्र की मात्र एक विमीपिका बन उठी है और सब  
उमने पकड़ती है। उस मय वा खान उठाकर अन्तरण मय में हिमक वृत्ति में  
बल वा लिया है। कोई कुछ कर बैठा है और फिर कहीं मुद्र ही न पूर पड़े  
इस दर में हमारे भागों को उसे पुपचाप मर लना होना है। तिब्बत में मामने में  
मानव जाति का अज-करण यदि शुभ्य होकर भी पुप रहे गया है, तो रोहमेबाकी

बीच सशस्त्र अनु-युद्ध के महा-संहार की सम्भावनाएँ थीं। वह यह यदि बर्माय को पोषण देता है, तो सोचने की बात हो जाती है।

### बफर स्टेट का सुमीता

बीच में बफर रहने से सुमीता हुआ करता है, मैं यह मानता हूँ। इस भाँति पक्ष हीन छोटे-मोटे राज्य मिलने भी हो सके अथवा है। कतल यही है कि कहीं ऐसी बफर दोनों ओर के पड़वनों के अड्डे न बन जाया करें। यूरोप में मुझ की व्याख्याओं के बीच ही स्विजरलैण्ड स्वतन्त्र और निष्पक्ष बना आ रहा है। मैं मानता हूँ कि स्विजरलैण्ड की इस स्थिति की उपयोगिता धार्मिक के अनिश्चित स्वयं मुझ के लिए भी हो सकती है। यह तो आम विचार है कि वहाँ टकरा लगी हो, वहाँ हानि बचाने के लिए बीच में खर बिठा देत हैं। खर से रमज और मुक़दाम बच जाता है। राजनीति में बफर का उपयोग है और उसका काम बचस लेते रहना चाहिए।

६२८. तब भारत की पड़वों और मेल-मिलाप की नीति क्या बिलकुल ही असफल नहीं रही? क्या आप भारत की विदेश-नीति को इस असफलता के कुछ कारणों पर प्रकाश डाल सकते हैं?

### अहिंसा की शक्त

—माधवीय धातन बिल हाथों में है, उनके मन में किसी निर्दिष्ट और एकत्र मज्जा की स्पष्टता नहीं है। मुख्य कारण मुझे यही भासता होता है। अहिंसा स्वयं एक बड़ा आयुध हो सकती है। लेकिन इस धर्म के साथ कि वह निरपवाद ही और सम्य हो। इस धर्म के बिना अहिंसा व्यवहार में आपको कुछ नहीं करनी, बल्कि मष्ट होन के निष्ठ का सकेगी। सुखमता अपने आपमें काफी नहीं होती, उसको आप बड़कर और ऊँचे उठकर प्रबलता और प्रहार तक बढ़ना होता है, तब उनमें धक्ति आती है। मेहक गांधी से दूरे नहीं रहे गांधी के एकरम साथ भी नहीं रहे। इसीसे स्थिति में विपन्नता रहती है और मेहक इच्छों में फिर बने काम अन्त में घाटे के बने देय जाते हैं। यदि राजनीति में हमको अन्त बच रखना है तो या तो हम अहिंसा में से एक बने बल की सृष्टि करें और उससे समर्थ बनें यहाँ तो अहिंसा के बलन की शुरु मल से एकदम छोड़ दें। साफ़ हम देखत हैं कि बल से जीने चलती है। या तो हममें यज्ञ हो कि इस राजनीति को ही नया मोड़ दें और उसका सामाजिक करके रख दें। भारत के पास वह मज्जा हो सकती थी और हो सकती है। लेकिन मेहक के विचार में उसकी गुंजाइश नहीं है, तो ठाकुर



बेज हो सकता है जिसे युद्धोद्योगियों से किसी सहायता की ज़रूरत नहीं है, प्राथमिक आवश्यकताओं की दृष्टि से जो स्वावलम्बी है और इस तरह अमुरक्षित नहीं है। भारत की आज यह स्थिति नहीं है और उसकी तटस्थता इस तरह न चाहने पर भी अमुरी रह जाती है।

## कोरिया और कांगो

२३० जिस भारत ने कोरिया में अपनी सेनाएँ भेजने से इनकार कर दिया था और बेचन एक रेड-क्रास का वस्त्राही भेजा था उसीने अब कांगो में हठपूर्वक अपनी बटास्मिन् रवाना की है और कांगो के मेतालों के तीव्र विरोध के बावजूद भारतीय सैन्य वहाँ टिकी है। इस स्थिति को आप भारत की नीति में एक विशेष परिवर्तन क्या नहीं मानते हैं ?

—नहीं परिवर्तन में इसमें नहीं देखता हूँ। पश्चिम नेहरू विस्म-शान्ति में अपना पूरा हिस्सा बँटाना चाहते हैं। इसलिए ऐसे स्वर्णों पर वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के मय होने की आशा हो वे आगे बढ़कर अपना और भारत के मोक्षदान का हक मानते हैं। ऐसे युद्ध के बीच सेनाओं को भेजने का प्रश्न वहाँ नहीं है वहाँ से सेनाएँ भेज सकते हैं। कांगो की स्थिति कुछ की नहीं है। कोरिया से यह भिन्न है। कुछ मिलाकर इस सम्बन्ध में नेहरू की नीति में मैं कोई बिपमता नहीं देखता हूँ। बिपमता वहाँ है यह सच ही है। लेकिन वहाँ का संकट मैं देख ही चुका हूँ। यदि हम हमेशा हर हाकट में जातजीव के हाथ निपटारा करने में विश्वास करते हैं तो संसदन सैन्य भेजने को आग्रह हम कैसे कर सकते हैं ? इस जगह की बिपमता राजनीतिक से कुछ गहरी हो जाती है और उसका सम्बन्ध अन्तः के तत्त्व से होता है।

## अफ़्ग़ानिस्तान का विरोध

२३१ भारत ने सन् ५४-५५ में अफ़्ग़ानिस्तान के परीक्षण का घोर विरोध किया था। इस कारण तत्कालीन अमरीकी नेता नेहरूजी से कुछ नाराज भी हो सकते थे। पर अब भारत ने अफ़्ग़ानिस्तान के विरुद्ध अपनी आवाज़ को मध्यम ही नहीं, समाप्त-सा कर दिया है। ऐसा क्यों ? क्या इसलिए कि वह भी अफ़्ग़ानिस्तान रवाने-आते छह-सात दिनों में एक हो गया है और अफ़्ग़ानिस्तान बनाने की उसकी सम्भावनाएँ अब स्पष्ट हो बीच पड़ रही हैं ?

—इन बारे में मुझे कुछ नहीं मालूम है। शक्ति की राजनीति के व्यावहारिक बदलों पर मुझे कुछ भी नहीं कहना चाहिए। अफ़्ग़ानिस्तान के सम्बन्ध में भारत यदि

आज मुविपानक स्थिति में है। तो येर लिए यह बल की कृपा होनी कि वह विपानक और रचनात्मक से अन्य भी इस शक्ति का कुछ उपयोग करना और चाहता है। मैं उस सम्भावना पर विश्वास नहीं करना चाहता हूँ।

आपविह भस्वा के प्रयोग का विरोध बौद्धिक और कौशल तक पर बल रहा है। राष्ट्रीय और राजनीतिक तक पर समय वह नहीं है। कम-रक्त अनुभव बनाने में बाड़े बल भी समा ही अहित करने सम्बन्ध रचनात्मक एक सम्बन्ध बलक बल से इस प्रकार में बने रहने हैं कि इन भस्वा का निमाय और प्रमाण बल होना चाहिए। वे दोनों बातें आज देखते हैं एक साथ चल सकती और बनानी जाती हैं। अगर भारत सरकार इन सम्बन्ध में आज इनकी मुहर नहीं है तो इस सीमा को साम्यवादी मोक्ष में हम कम उपयोग नहीं मान सकते। अर्थात् हममें से कुछ बिरोध बल निकालना नहीं चाहिए और भारत अनु-मक्ति का बल के रूप में सामान्य साधना एभी आपका नहीं रखनी चाहिए।

### बिरोध-कूटनीति में भारत का स्थान

१६९ क्या आपका सचमुच विश्वास है कि भारत के बिरोध की कूटनीति में एक बिरोध स्थान बना लिया है और वह बिरोध की ऐसी समस्याओं को सुलझाने में सहायक हो रहा है जो किसी भी समय भीवम अनु-पुष्ट के बहुत उठने में बिरोधवादी का काम है सकती है?

—हाँ अवश्य भारत सहायक हो रहा है। पण्डित नेहरू के अनुसार मैं उनमें मानो अनेक देशों के लिए यह सम्भव बना दिया है कि वे संस्था की नीति बरतें और मानस में निकलकर बहुत पन के बखान में जाने से बच जायें। एक-एक होकर अगर वे नहीं टिक सकते तो सब एक जुट होकर मुनो में अपनी आवाज उठाई अवश्य कर सकते और सामान्य मुद्रोस्त शक्तियों पर बल बलुम का सफल है। नेहरू की यह निर्भीक स्थिति लोगों के लिए बहुत बड़े आश्वासन का कारण है और सचमुच कूटनीति में नेहरू की एक बल बन आयी है। अहित वह स्थान महज ही ऐसा बन सकता था कि बिरोध विधान स्थान के लिए अपनी आज में किसी कूटनीति की आवश्यकता न होती और वह सचिक भी राजनीतिक बौद्धिक पर निर्भर न होता। नेहरू का जो भारत का बैसा अवशिष्ट और आन्तरिक स्थान बन गया है, यह बहुत ही मुक्ति है। वह अवश्य महज है अहित यह बल नेहरू के पूर्व के मात्र ही जैसे मुक्त हुए न होयें, बल्कि उनकी आन्तरिक और वैश्विक सब नीतियों और क्रियाओं से से समूची विश्व-राजनीति के समस्त वह स्थिति निरन्तरी मुनाई दे। इनके लिए स्वयं नेहरू में एक पण्डित नीति-निष्ठा की

आवश्यकता है। वह निष्ठा राजनीतिक आबोधना को बनाने और बदलनेवाली हो चायगी उस हवा को देख-सावकर चलने की आवश्यकता में न रहेगी।

**तटस्थता सक्रिय हो**

२३३ क्या आप सोचते हैं कि मुद्र-बन्धी और सैनिक-सन्धियों का तीव्र विरोधी होते हुए भी भारत मुद्र की स्थिति में निष्पक्ष एवं मुद्र से विक्रम रह सकेगा? यदि नहीं तो वह अभी भी समय के साथी चुनने और बनाने का प्रयत्न क्यों नहीं करता? ऐसा न करने पर क्या उसे बाद में पछताना नहीं पड़ेगा?

—मैं कहना चाह रहा हूँ कि तटस्थता को उठकर सत्यता तक आना चाहिए। जब यह स्थिति निश्वास से पुच्छ और स्पष्ट होगी। यही स्थिति है जो घात-मुद्र में कुछ कारगर हो सकती और एक-मुद्र फूट पड़ने पर भी एक उत्तीर्णता पर रहती उत्तमन में नहीं पड़ेगी। भारत के लिए असम्भव है कि वह अलग बसग रह जाय उस वक्त जब सारी दुनिया में जाय जमी हो। आप लगने पर वह निष्पक्ष न रह जाय इसके लिए आज ही बकरी है कि उसकी तटस्थता सक्रिय हो। आज लगने पर बर्षक के लिए दुनिया में कोई अणु नहीं रह जायी। जब कर्मासु होना पड़ेगा। जो केवल तटस्थ है वह किस किता की सेन्टर कर्मण्य होगा? लेकिन अगर राष्ट्रीय साधन के पास अहितक भड़ा हो तो तबमुच अहिमा को लेकर वह पूरे तीर पर मुद्र की पचाकामों के बीच भी सक्रिय और कर्मण्य दिखायी देगा।

**भद्रा सम्मनक**

सचमुच आरोप लगाया गया है कि भारत निजहीन और एकाकी बनता जा रहा है। केवल निष्पक्ष तटस्थता सागर शीत-मुद्र के दिनों में छात्रकारी भी दिखायी है लेकिन आज बढ़कते ही तटस्थ देशों की बीनी और हैं। सन्धिरत स्थिति बन आयी और उनका हास बेहास होगा। यदि उसके पाम सचमुच कोई मकर्मक भड़ा हो तो अच्छा यही होगा कि वह समय रहते अपने साथी को चुन ले और फिर—वह साथ निवाहे।

**हमकी तटस्थता नकारात्मक**

केवल तटस्थता नकारात्मक ही आयगी और आप कोई उनका लिहाज न करेगा। निश्चय निश्चय के आधार पर यही मुद्र को यानी तिफोना बना देगी। दोनों सागर राजनीतिक शक्तियों के समक्ष उनमें एक तीमरा मोर्चा गुनेगा जो कि

मानव-नीति और मानव-जाति का मोर्चा होया। मुझे लगता है कि तब उन दोनों युद्ध-रत शक्तियों के लिए यही प्रश्न नहीं रह जायगा कि कौन विजय पाता और कौन पराजित होता है, बल्कि इस तीसरे मोर्चे से निबटने की बुनौती भी दोनों के समझ होनी। उस समय युद्ध सचमुच एक बसली और मानवीय युद्ध का रूप ले लेया। जबकि तब युद्ध राजनीति और संस्कृति का होया राजा और प्रजा का होया और उसमें से इतिहास का एक विशिष्ट ही नया परिच्छेद निकल सकेगा।

वैसी पसोचीर्य संकल्प-सिद्ध तटस्थता के लिए भारत को निःसस्त्रीकरण की हिम्मत बचानी होगी।

### एक निर्बलीय गुट

१९४८. भारत ने संवैधानिक रूप से एक निर्बलीय गुट की संघठित किया है। पर उसे आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सैनिक-बुनौ में परस्पर धुँब देने का कोई प्रयास उसकी ओर से नहीं कर सका है। इस असमर्थता का आप क्या कारण मानते हैं?

भारत के खून में समन्वय अधिक, संगठन कम

—व्यावहारिक राजनीति के लिए आवश्यक है कि यथमन्वन ऊपरी शक्तियों का ही न हो बल्कि अधिक बलिष्ठ और वैहिक ही। कम्युनिस्ट-शक्ति में आप देखेंगे कि उसके प्रमाणाधीन सारा मू-सण्ड एक इकाई है। पूर्वी जर्मनी से उसकी नियतनाम तक आप चलते चले जाइये कम्युनिस्ट प्रवेश ही मिलेगा। जबकि राजनीतिक शक्ति के लिए जड़ोसपन का उपयोग बहुत ठीक होता है। भारत की सीमाओं पर विद्रोह और विद्रोह ही, तो भारत राष्ट्रीय से ऊपर एक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के रूप में विकास नहीं पा सकता। गेटो, सीटो आदि शक्तियों द्वारा बने हुए पुँवों का बल उठना सुबधित नहीं हो सकता जितना एकमुट कम्युनिज्म का हो सकता है। पश्चिम की शक्तियों का बिपराय हुआ रहना उनके हक में लाभकर हो सकता था अगर प्रत्यक्ष राजनीति से ऊपर नीति के तत्त्व का होता। पर राजनीतिक और कार्यात्मक तत्त्व पर एक और इकट्ठे होने का बड़ा लाभ है। आज जिस प्रश्न की मैं बहुत महत्वपूर्ण मानता हूँ वह यह है कि क्या सेबेरेन्सिटी (बलगत-अलगपन) एक निर्बलीयता ही है और उसको कीमत में लेकर बनी हुई मुनिटी ही क्या एक बल है? यह तत्त्व आप, राज्य आदि की केन्द्रित एकता प्रस्तुत करके भी एक नया महाबल प्रकट हुआ है, क्या इसके प्रतिरोध में दूसरा इसी प्रकार का अल्पतः केन्द्रित नियमित संघठित बल ही काम ले सकेगा? या

बल का कोई दूसरा प्रकार भी हो सकता है, जो प्रशस्तर सिद्ध हो? भारतवर्ष छाहों वपों से कास के सब आवाजों को सेकता हुआ यदि समर्थ भाव से जीता जता जाया है, तो इसमें कुछ दूसरे बल का प्रभाव ही देखा जा सकता है। कभी भारत एक नहीं था न एकमत न एक धर्म न एक विधान या व्यवस्था। हर प्रकार की अनेकता यहाँ रही ही नहीं आयी है। बल्कि समाज, संरक्षण और स्वर्धन पाती बची गयी है। तनिक भी किसी अनेकता की समिद्ध परास्त या अनीन करने की वृत्ति नहीं रही है। फिर भी भारत एक बना रहा जता जाया है। समूचे मानव-जाति के इतिहास में एक जेकठा यह भारतीय उदाहरण है, जिसकी सांस्कृतिक परम्परा अविच्छिन्न अवस और अप्रच्छ रही है। इस उदाहरण में से यह अन्त रखा जा सकती है कि अलग-अलगपन (सेग्रेगेशन) को परस्पर बाहर में मिलाये रखनेवाली ऐसी भी एक प्रेम की एकता (युनिटी) हो सकती है चापक है जो बल-बलघाटी प्रबल-से-प्रबल अहंकार से बड़ी सिद्ध हो जाये। किन्तु यह बल प्रकार और कोटि में सर्वथा विप्र है और इसमें उत्पादक नागरिक को अवसक सैनिक बनाने की आवश्यकता नहीं होती है।

मेरा मानना है कि जब दो विद्यालय संघर्ष आमने-सामने मुठभेड़ में जीते हों तब यदि यह तीसरा निराला न्याय सत्य और प्रेम का बल केवल कुछ प्रण होकर खड़ा हो जाये तो स्थिति में एकदम अन्तर जा सकता है। आर्थिक राजनीतिक एवं सैनिक-बुद्धि से सबकी बुद्धि सेने का प्रयास इस जगह मानो अपने आपमें अनाश्रयक हो जाता है और एक ऐसा उत्पन्न प्रकट हो सकता है जो सामरिक एकमुखता से बड़तर साबित हो। बल्कि न सिर्फ यह कि बाहरी शक्तों से यह स्वयं न बिखरे, बरन् अपनी अविद्यता, नीरता और कण्टसहन से प्रतिपक्षी के मनो में बरार पैदा कर दे। आप जानते हैं कि ऐस योया हुए हैं जिन्हें बड़ी-से-बड़ी धमि नहीं रोड़ सकी लेकिन मामूली-से-मामूली बीमारी असह्य कर गयी है। बड़ी आन्तरिक बरार पड़ जाने पर व्यक्ति ही नहीं विप्लव जाता संघर्ष भी बिप्लव जाते हैं। अविनाश देना गया है कि हमर का सकल जीता है, जबर का संघर्ष हार गया है।

जिस असमर्थता का कारण आप पूछते हैं वह भारत के रक्त में है। अर्थात् यह कि उसके रक्त-संसार में समन्वय अधिक है संघर्ष उतना नहीं है।

२३५. भारत की विविध-नीति आपकी राय में क्या आज ही की तरह निपल और निर्दलीय होने का व्याज रखती हुई चलना रहेगा अवसा जाये परिस्थितियों के बजीमून होकर उसमें किसी प्रकार का कोई मोड़ आयेगा? विश्व का वास्तु-मण्डल

दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में वर्तमान विरोध-नीति की माप कितनी दूर तक दृष्टिकर मानते हैं ?

गाहुरी समग्र उबारता

—अपनी विरोध-नीति में मैं कोई डोंग नहीं मानता हूँ। बाहर और भीतर के व्यवहारों में यदि अन्तर है, तो इसको डोंग कहना गलत होना। अन्तर कुछ-न-कुछ कमिजाया और वचार्पता में सदा रहता ही है। जो मुझे कहना है, वह केवल यह कि उबारता का व्यवहार अगर पूरे प्राणों में से निकलेगा और पूरे जीवन में सनाया रहेगा तब तो चक सकेगा अन्यथा एक जगह अनुभव ही सकता है कि माप ठगा गये हैं। इसका साध्य यह कि उबारता एक व्यवह गलत नहीं है बल्कि सब जगह यानी हमारी सम्पूर्णता में वह इतनी समा वाली चाहिए कि आत्म-विसर्ग की आधुरता तक पहुँच जाय। तब एक नयी नीति का प्रकाश मिल सकता है। उसमें से ऐसी उबारता भी जा सकती है, जो बीखने में मृदु न हो, बल्कि बन्ध की तरह कठोर हो।

विधायक पक्षोत्तीभता

निष्पक्ष और निर्दोश बनने की आवश्यकता नहीं है। उस भाषा में सोचना ही अनावश्यक हो जायगा यदि हमारा अपना कोई सत्य का पक्ष होय। तब हमारी अपेक्षा पक्षों और बलों की सोचना पड़ सकता है। इसीको मैं विधायक और सदायुक्त पक्षोत्तीभता कहता हूँ। आज की स्पेडिस्टी की स्थिति कपमय उबसे उबडी है। वह परिस्थिति उत्पन्न नहीं करती केवल परिस्थिति को सेसती है।

सत्याग्रही वृत्ति

वह सब जिसके हाथ में अभिक्रम की पहल नहीं है, कुछ नकारात्मक और निष्क्रिय पक्ष होता है। सत्याग्रही वृत्ति में उसके लिए तनिक भी अवकाश नहीं है। मच तो यह है कि सत्याग्रही वृत्तिवाला बिरल को, समूची मानव-जाति को, भारतीय भाव से बेतने के कारण लगभग सब समस्याओं को अपनी माथकर उनमें हल देने का कर्तव्य और अधिकार पा जाता है। इस तरह यह वृत्ति निःचेष्टता की न होकर प्रसर और प्रचण्ड कर्मन्मता की हो जाती है।

हाथ में दास्त्र नहीं, सत्य हो

मैं यह मानता हूँ कि परिस्थिति एकान्त जब पड़ने के निकट जा जायगी

तो आज की न्यूट्रेलिटी बल नहीं सकेगी। तब यदि भारत किसी पक्ष की तरफ मुका तो मुझे विस्मय तो न होगा पर प्रसन्नता भी न होगी। भारतीयता में इतनी जान होगी चाहिए कि उसमें से दो समझ कीजो मीलों के बीच एक तीसरा मानवता का पक्ष खड़ा हो जाय जिसके हाथ में शस्त्र न हो किन्तु सत्य हो। ऐसे किसी नेतृत्व या प्रकाश के बिना मैं भारतीय क्षितिज में कहीं बेच नहीं पाता हूँ। उसके अभाव में वर्तमान की अनिश्चयता को मैं हितकर नहीं कह सकता हूँ।

### युद्ध के समय

२३६. क्या आप अनुमानित बता सकते हैं कि युद्ध की स्थिति में भारत किस पक्ष में सम्मिलित होगा—रूस के पक्ष में अथवा अमरीका के पक्ष में? अर्थात् उसकी विदेश-नीति का सुझाव इन दोनों में से किसकी ओर अधिक है?

—नहीं भविष्य को अज्ञात रहने देने में ही मुझे कुतर्कता और बुद्धिमत्ता दीवती है।

## औद्योगीकरण द्वारा आर्थिक समृद्धि

### अर्थ-नीति का आधार

१३७. भारत की अर्थ-नीति का आधार है औद्योगिकीकरण भारत की लम्बे समय से देशों की तरह एक औद्योगिक एवं आत्म-निर्भर देश बना देना। क्या आप इस आधार को स्वीकार करते हैं ?

### एक मोह

—नहीं मोहाग्रस्त मानता हूँ। स्वेच्छा से यह नहीं हो सकती। पश्चिम में उन्नति देखी है लेकिन वह भी देखता है कि वह अब चिरे पर आ गयी है। उस सम्पत्ति का विनाश निकला ही समझिये। हम यहाँ से उसको बेल और पहचान नहीं पा रहे हैं, इसीको मैं मोह कहता हूँ।

बहुत ठीकी के सामे उद्योग-सम्पन्न बन जाने से भारत बाहिर उन अनेक देशों में एक ही सी होना भी मन्वी के लिए प्रतिस्पर्धा में पड़े हैं। हाथ का अपने देश में चीनी का संकट क्या बरसाता है ? अर्थात् आपस बढ़ाने की सबसे प्रधान समस्या मानकर जो हम उत्पादन करते और फॉरेन एक्सचेंज के मर्जी बने रहते हैं उससे बाहिर ही माकूम होता है कि हम स्वावलम्बी बन जायेंगे बल्कि हमसे आप शीघ्रतमत् भी बन जायेंगे। लेकिन किसी माकूम हो जायगा कि यह भ्रम ही था।

### उत्पादन आवश्यकता से जुड़े

मैं मानता हूँ फॉरेन एक्सचेंज की कमाई को ध्यान रखकर नहीं बल्कि जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की स्वावलम्बिता को समल रखकर हमारी अर्थ नीति का विकास होना चाहिए। हमारे उत्पादन को सीधे हमारी आवश्यकता से जुड़ना चाहिए। बिदेसी मुद्रा के बचन हमारी स्थिति और परिस्थिति हो, इनको मैं उपादेय नहीं मानता हूँ।

१३८. अब आप क्या नहीं चाहते कि भारत भी विकास की उस उन्नति का लाभ प्रत्येक जिसका लाभ आप देश उठा रहे हैं और यह लाभ स्पष्ट ही औद्योगीकरण



के बिना उठाया नहीं जा सकता। वैज्ञ की स धुरक्षा की वृद्धि से भी मान्य औद्योगीकरण अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में औद्योगीकरण का विरोध करना क्या नितान्त अव्यवहार्य नहीं है ?

### जीवन-स्तर बढ़ाने का उम्माद

—मैं यदि आपके सामने पाश्चात्योस में बुनी सड़क का कुतूँ पहले बैठा हूँ टरिछीन की धन नहीं है, तो इस कारण क्या विज्ञान के फल से मैं अपने को बर्णित बनाता हूँ ? रहन-सहन के स्तर को बढ़ाते जाने का उम्माद जिन पर सवार है, ठीक वै ही सोम है जिन्हें पुरसठ नहीं है कि विज्ञान को समस्त उसकी सम्भावनाओं पर ध्यान दें और उसका काम उठावें। ये सोच विज्ञान की उत्पत्ति के फलस्वरूप मिलनेवाला असाम सारा-का-सारा खपनाते हैं और काम से ही केवल अपने की बचाते हैं।

### व्यवसाय-वाद से विज्ञान को असाम

विज्ञान के काम की मैं पुरा-का-पुरा से केना चाहता हूँ सिर्फ उसका असाम बचा जाना चाहता हूँ जब कहता हूँ कि उद्योगों की होड़ में भारत की नहीं पड़ना चाहिए। यह स्वयं वैज्ञानिकों का अनुभव है कि व्यवसाय-वाद का बोझ व्यापक सर ज्ञान से वैज्ञानिक सोच की तीव्रता कम हो जाती है। विज्ञान की उत्पत्ति उन लोगों के द्वारा होती है, जिनकी चेतना को व्यवसाय-वाद की हवा विशेष घु नहीं पाती। यह पुरानी बात ज्ञान के लिए भी सच है कि उच्च चिन्तन सारे जीवन के साथ बसता है। उद्योगवाद से जीवन की सारणी को हम नष्ट कर डालते हैं। जब उच्च चिन्तन भी भ्रष्ट हो जाता हो तो कोई बचरण की बात नहीं। विज्ञान की उत्पत्ति इस निराविष्ट उत्कृष्ट चिन्तन से हुमा करती है। यह वृत्ति जो केवल अव्यवस्था की या बहिर्मुखी है, विज्ञान पर अपना बोझ ही सारती है, विज्ञान को सहारा नहीं देती।

### भारत-विज्ञान का सहारा

अब वस्तु-विज्ञान ऐसी जगह पर आ गया है जहाँ अनिवार्य है कि उसे भारत विज्ञान का सहारा मिले। बिना उस सहारे और संयोग के विज्ञान जीवन को टिन्न-निन्न क्या एकदम पच्छ विनच्छ तक कर सकता है। यदि मानव-सम्बन्धों में प्रतिस्पर्धी और विपक्ष के मूल्यों का ही बोलयाला रहा तो विज्ञान टिबा इसके कि संहार और विनाश के काम की अतिरिक्त सुविधायें हमें प्रस्तुत करता रहे,

दूसरा विधायक काम न कर पायेगा। विज्ञान विधायक उस समय होना जब आत्म विज्ञान में से हम वह अनुभव करने लग जायें कि दूसरा प्रतिपक्ष या प्रतिपक्षी नहीं है। हम और वह एक ही समष्टि के अंग हैं और इस तरह आत्मीय हैं। यह भाव जब हमारे बीच कान कर निकलेगा तब भिन्नता आदरणीय बम जामनी और विपक्ष को परास्त करने का नहीं बल्कि उत्कार करने का मात्र हममें आयेगा। स्वयं वस्तु विज्ञान ने वह आवश्यकता पैदा कर दी है और परता और वैरता की सामाजिक भूमिका अधिक काल मानव-जाति के हित की दृष्टि से सम्भव नहीं बनी रह सकती। आत्मता और परस्परता का आचार हमारे सार्वजनिक और अन्तराष्ट्रीय प्रवृत्तियों को मिले तभी मानवता के टिकने की सम्भावना है। आधुनिक उद्योगवाद उस दिशा में चरनेवाला प्रयत्न नहीं है। उससे मानव-सम्बन्धों में स्पष्ट और विषट् ही व्याघात कर करते जाते हैं। यह एक इतना प्रत्यक्ष है कि यदि हम मोहग्रस्त न हों तो उसके देखने में बच नहीं सकते हैं। भारतीय अर्थ-नीति का नेतृत्व उस मोह से मुक्त है ऐसा मैं नहीं मानता हूँ। उस मुक्ति को आज के दिन मैं बेहूष बकरी मानता हूँ अन्यथा भारत का कोई विधिष्ट अधिष्ठान मुझे नहीं दीखता है।

### बीछोपीकरण समय की माँग

२३९ जिसे आप मोह कहते हैं मैं समझता हूँ वह समय की माँग है। भारत के सामने ही बड़ी समस्याएँ हैं। पहली यह कि उसके हाथ में भी औद्योगिकीकरण और दूसरी के-के वैज्ञानिक और औद्योगिक साधन हों और वह केतिहर स्थिति से निकलकर औद्योगिक व्यवस्था में प्रवेश करे। और इस बात के लिए अधिक विकास के राग को वह बर्बाद नहीं कर सकता न आर्थिक कारणों से न ही राजनैतिक कारणों से। दूसरे, भारत का प्रत्येक नागरिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का भोग करता बीछे यह भी समय की माँग है और स्वयं भारत के नागरिकों की कामना है। यदि हमारी वर्तमान सरकार इन दोनों कारणों से बीछोपीकरण को बढ़ावा दे रही है और उसे बड़ी तेजी से विकसित किये जा रही है तो इसमें आपकी कही और क्या जोश गजर जाती है?

—समय की माँग कुछ क्यों नहीं है? मैं नहीं समझता कि समय यह कहता है कि आधुनिकीकरण समय में बढ़ता है। समय ने जब-जब मोड़ लिया है, उस मोड़ और संकल्प के कारण मोड़ लिया है, जो समय का अर्थ उसके पीछे चलने के रूप में नहीं केते थे। कुछ शक्तिशाली है, जिसका बहुत करने के लिए स्वयं समय बना है। समय की अपीलता के आगे कुछ न देख पाना मानव

स्वभाव और मानव-प्रतिभा के प्रति अभिरुचि प्रकट करना और उससे मुंह मोड़ना है।

**उद्योग, यन्त्र, विज्ञान वगैरे से बाहर न हों**

उद्योग यन्त्र विज्ञान ये सब चीजें अच्छी नहीं हैं। इनके उपयोग की नुबाइस ही नहीं उपायेयता भी है। लेकिन जिसको औद्योगीकरण कहते हैं वह कुछ अपने में बहुत चीज है। वह है उत्पादन का मुनाफे के खातिर होने लगना और जीवनोपयोग की सीधी आवश्यकता के सम्बन्ध से उसका टूट जाना। जब वह फल माने लगता है तो मशीन और मनुष्य का सम्बन्ध उल्टा जाता है। मशीन मनुष्य पर सवार हो जाती है। मनुष्य का काबू फिर उस पर नहीं चलता। मनुष्य खुद उसके काबू में आ जाता है। मुनाफावाद उद्योगवाद का प्रतिफल होता है और उससे सामाजिक सम्बन्ध जर्जर होने लग जाते हैं। व्यक्तिगत रूप से कैपिटलिज्म के नाम से उसकी अनिष्टता से हम बहुत अच्छी तरह परिचित हो चुके हैं। लेकिन इस मोड़ में यह यथेष्ट है कि उससे आगे राष्ट्रीय पैमाने पर बाहर नहीं चीज सही बन जायगी। जो पिछे के लिए अनिष्ट ठहर चुकी है वह नीति बह्दाय के लिए भी अनिष्ट ही होती इसमें सन्देह नहीं है।

**सेतिहर अप्रधान न बने**

मैं नहीं मानता कि जब तक खाने के लिए हमें अन्न की आवश्यकता बनी हुई है, तब तक सेती को गौरव दिया जा सकता है। सेतिहर को अप्रधान और धरर के मजदूर को प्रधान मानकर कुछ ने अपने बीच कम्युनिस्ट कान्ति की। उस समय वह मानो निदान्त बन गया था कि मजदूर प्रगतिवादी और किसान प्रतिक्रियावादी होता है। तब से एक आगे बढ़ गया है और वहाँ भी पहचान किया गया है कि किसान अप्रधान नहीं है और सेती के आस-पास ग्राम रचना का निर्माण हुआ है। चीन में वास्तव में ही और जाने बड़ रही है उनमें सेती और सेतिहर बीच नहीं मान लिया गया है। मैं उस अधीरता को नहीं समझ सकता जो भारत को सेतिहर के स्तर से सीढ़ीकर एकदम ऊँचे उठा के जाना चाहती है। ऐसा ऊँचा उठा हुआ भारत राष्ट्र तन्त्र-प्रधान बन जायगा मानव-केंद्रित वह नहीं रहेगा। क्या हम इस सम्बन्ध में असावधान हो जाना चाहते हैं कि हम क्या खाते हैं? ऐसे लोग हैं जो खाने के बारे में उदासीन हैं और पहनने की साज-सज्जा के बारे में गुरु सावधान हैं। गाया हुआ अपने भीतर जो पहुँचा ही उसे कोन देखा है पहना हुआ सबकी जानों के लिए होता है—इस मनोवृत्ति

में से जो सम्यक्ता बन जाती होती है वही अन्तिम परिणति में उद्योगकारी कही जाती है।

### मन और समय की झूठी माँग

भारत के घटती नागरिकों की कामनाओं में से इन्हींसे एक बड़ी स्थानिक प्रतिस्पर्धा और भ्रष्टाचार की परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है। लेकिन सामान्य अपने अभ्यस्त में वही सामरिक एकान्त की बाड़ी में सोचने लगता है कि क्या उनकी ये सब कामनाएँ असली हैं? उनकी समय होता है कि कहीं वे गलती तो नहीं हैं! मैं मानता हूँ कि जिसमें कुछ चीजें सब छिन जाता है सन्तोष का मन लट जाता है धर्म के पीछे हर क्षण एक हाथ हाथ-सी लगी रहती है वह मनुष्य केवल इस कारण कि अपने अस्तित्व की कामनाओं की भुन नहीं पाता मानो जीने का आरम्भ ही नहीं कर पाता है। निर्धन मन रखने में ही दूसरा हुआ वह अपने को बिठाता रहता है।

मन की और समय की वह झूठी माँग है जो आदमी को अपने से दूर हटा ले जाती है जो आदमी को मन से आत्ममात्र इस धर्म पर करती है कि वह मन से सोचता बनता जाता था।

मैं सबकुछ मानता हूँ कि बिना में अभी औद्योगिक होनाहोना से भारत को संस्कृतपूर्वक एकदम बाहर आ जाना चाहिए। उनकी चरा कान देकर अपने अन्तःकरण की आकांक्ष की भुनना चाहिए। वे यदि नहीं जो भारत के पान ऐतिहासिक फल से जान तक बराबर होने आय है और बिनके लिए जगत् भारत का गौरव करता आया है समय है कि देश उनकी बाधी की भुन उनके धर्म को बूझे और अपने वर्तमान और अपने भावी को समुचित निर्माण दे। आत्मा की वो है ही सबकुछ समय की माँग का भी मैं इन्हीं रूप में देखना हूँ। हमारे दर्शन की मैं सम्मक नहीं मानता हूँ।

### आत्म-रक्षा के लिए औद्योगीकरण

२४० जो इतिहास की गुंजातता की अनुभव कर सकते हैं वे जानते हैं कि दक्षिण-आली ने कभी किसी भी अवस्था में होन-नीय को बलता नहीं है। यदि भारत यन्त्र-विज्ञान और उद्योग इन सबकी दृष्टि से कमजोर हो रहता जाता चाहेगा तो मैं नहीं समझ पाता कि वह दूसरे बड़े देशों से अपनी रक्षा किस प्रकार कर लेगा। केवल आत्म-रक्षा की दृष्टि से भी आर्थिक एवं औद्योगिक होड़ में पड़ना भारत के लिए अनिवार्य बन गया है। इस बात की दृष्टि में

रखने हुए भारतीय जन-जीवन में यन्त्र और उद्योगों का आप क्या स्थान निश्चित कर पाते हैं ?

शक्ति और वीर्य जन में, यन्त्र में नहीं

—बमरीका और रूस तो उस दृष्टि से पिछड़े हुए देश नहीं हैं। दोनों में जन जाय तो क्या उनमें से किसीकी भी रक्षा निश्चित मानी जा सकती है ?

ठीक आज के दिन यह भ्रम छिड़-ही गया है कि सुरक्षा बाहरी साधनों में है। उनमें अधिक बाहरी साधन सुरक्षा के संकट के लिए खामखान हो सकते हैं सुरक्षा का प्रयोगन को ही परास्त कर दे सकते हैं।

इसीलिए आज की समस्या है कुछ उस व्यक्ति की जो दूटे नहीं हारे नहीं। यह व्यक्ति संकल्प-व्यक्ति के सिवा दूसरी हो नहीं सकती।

व्यक्तिवादी और हीन-वीर्य इन दोनों में अब हम झलते हैं। व्यक्ति और वीर्य हमारे पास नहीं हैं। व्यर्थों के पास हैं यह भ्रम हमारा अपना ही पैदा किया हुआ है। सुरक्षा और मनना के हिसाब से हिटलर ने अपनी व्यक्ति को क्या तोला-बाँचा न होगा ? लेकिन जल में क्या हुआ ? गचना काम नहीं जायी और हिटलर जो अपने को संकल्प का घनी मानता था जल में आरमबात के सहारे मुँह छिनाकर मर निकला। समय है कि हम पहचानें कि व्यक्ति और वीर्य का अभिष्ठान स्वयं जन में है, जनता में है। यदि वही व्यक्ति नहीं है, तो ऊपर से दिया जन और यन्त्र और अस्त्र सहायता नहीं कर पायेंगे। इस प्रकार की सहायता क्या कोरुमिननाथ को बाहर से कम मिली थी ? लेकिन वही सहायता घनू के काम आयी। कारण जन में संकल्प का बल भी न था जो ऊपरी बल बेकार हो गया।

विकास का तक

विक्रम के तर्क को हम समझकर बैठें। पशु से मनुष्य हर तरह हीन है। घरीर में बल भराम है। इस रीतिसेनामी दुर्बलता में से ही मनुष्य में नयी शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। शीन-पत्रे और शरीर-बैग इन सब शक्तियों से एक बड़ी शक्ति मनुष्य में मूल हुई, जिसे बुद्धि कहा गया।

मैं मानता हूँ कि कार्यक्रम से सब मनुष्य ज्ञान का विकास उस लक्ष्य तक जा गया है जहाँ मानवी की दुर्लभ शक्ति अशक्ति बनी दिखायी दे जाये। ऐसा अनुमान होना है कि ठीक यही समय है जब व्यक्ति के नये प्रकार का प्रादुर्भाव होगा। मानव इच्छापूर्वक उस ऊपरी निर्बलता को अपना ले बीना कि उनके

स्वभाव और इतिहास में है, तो जिसद्वारा सम्भव है कि भावी के निर्माण में काम मानेवाली बहिष्कृत शक्ति का प्राबुध्वाय यहाँ से ही निकले।

## मास और प्रीति

अन्य भाषा में दीक्षितमन्त्र भारत बन्दूकनी तीर पर सन्तुष्ट स्वागतम्भी भारत से बढ़कर निकलेगा यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि हम अपनी अर्थ रचना को ऐसा बनायें कि जिससे मास बाहे कम पैरा हो लेकिन आपसी प्रीति अधिक उत्पन्न हो तो मेरा मानना है कि उससे हमें अधिकतर भारत प्राप्त होगा।

## यन्त्र उपयोगी, यन्त्रबाह्य धातव

यन्त्र एक तरह हमारे इन्द्रियों के उपकरण का बगला परिमाण ही है। अर्थात् मनुष्य की पहुँच उससे विस्तार पाती है उसकी समता बढ़ जाती है। एक हाथ पावर बस मनुष्यों की शक्ति के बराबर होता है तो कहना चाहिए कि एक हाथ-पावर की मशीन से एक आधमी आरुद्ध जितना हो जाता है। यन्त्र का मानव-जीवन में ठीक यही शक्ति-संबन्ध का काम और स्थान होता चाहिए। इससे अधिक जब होने लगता है तो यन्त्र काम का नहीं रहता बल्कि बाध का हो जाता है। अर्थात् यन्त्रबाह्य उत्पन्न होता है। आधमी की उपयोगिता बढ़ती नहीं है बल्कि कि यन्त्र से होता चाहिए। बल्कि आधमी अनुपयोगी बेकार और बेरोजगार होने लगता है। यन्त्र में जब यह अनर्थ और अनिष्ट पड़ने लग जाता है तब यन्त्र के साथ सीधे विचारपूर्वक चलना चाहिए। ध्यान में इतना रखना है कि जैसे मनुष्य के पास यन्त्ररूप में यह शरीर है अंगीपांग है, बुद्धि-विज्ञान से प्राप्त हुए अन्य यन्त्र भी इसी तरह मनुष्य के अंगरूप होकर उसे विस्तार देनेवाले हैं। उसे काटने और कम करनेवाले वे न बनें।

४४१ गांधीजी ने यन्त्र-विज्ञान के प्रति भी तिरस्कार और अज्ञान का एक अपनाया था उसे मैनुफ़ैक्चरी स्वीकार नहीं कर सके। आप भी यद्यपि यन्त्र और विज्ञान को तिरस्कार की बुद्धि से नहीं देखते, पर उनकी अत्यन्त सीमित उपयोगिता को ही स्वीकार कर पाते हैं। तब क्या गांधीजी और आपकी बुद्धि में मैनुफ़ैक्चरी शैली को एक उत्तम और अतर्लभ रास्ते पर ले जा रहे हैं कि वे देश की एक आधुनिक पारिवारिक, औद्योगिक शैली बना देने के लिए बलिदान हैं?

## यन्त्र को देखता न मानें

—गांधीजी में यन्त्र के प्रति अज्ञान की ऐसा ही नहीं मानना है। लेकिन बेवज्रा की जगह यन्त्र को लेने का समर्थन अचर्य और तनिक उम्र में नहीं था।

कीन जानता है, मविष्य में क्या रखा हुआ है। मेहरू सामुनिक हैं और इसमें वे गर्व भी मान सकते हैं। सामुनिकता का प्रवाह जिस ओर जा रहा है, हम देखते हैं, पश्चिम मेहरू अपने हथ छं छत प्रवाह के बारे में सोचते और निर्णय लेते हैं। मेहरू के लिए यह यकत और असम्भव होया कि वे अपने ही सोचने से उल्टे चलें। उनको पूरा व्यक्तिकार है बल्कि उनका कर्तव्य है कि मेहरू बन्ने हैं वो मेहरू होकर ही ब चलें। इसीमे उनकी मुक्ति और इत्यार्थता है। यही मेहरू के व्यक्तित्व की विशेषता है जिससे गांधी ने उन्हें अपनाया। इन दोनों भिन्न दार्जों को पहचानने में थूक नहीं हो सकती है। मेहरू उस सम्मता के संग हैं, मद्य हैं, उनकी समूची मानसिकता का निर्माण यहीं से हुआ ॥ जिसे हम पारिवार्य कहते हैं। गांधीजी के प्रेरणा-स्रोत वे सिद्धान्त थे जो समानता और सात्वत कहे जा सकते हैं और जिनकी सत्यता सामुनिकता पर निर्भर नहीं है। वे मुक्त बालिक थे।

### भारत अपना मार्ग चुने

मैं मानता हूँ कि भारत को अक्षर मिथना चाहिए कि वह अपने मार्ग का चुनाव कर ले। यही विमम है, जो परिस्थिति को संकटापस बनाये हुए है। मेहरू से माता करना कि गांधी के मार्ग पर वे भारत को बलायेंगे मेहरू क प्रति बलिस्था प्रकट करना है। भारत को अपना नेता मेहरू को यह समझ भूमकर बनाना है कि वे गांधी की नहीं अपनी राह भारत को ले जायेंगे। वह राह क्या होगी यह अरुण स्पष्ट है। आज की परिस्थिति में इन दोनों के बीच चुनाव का अक्षर जाने नहीं दिया जा रहा है यह बड़े सवरे की बात है। यह विमम अक्षर चलता रहा तो दोनों से अलग एक वह चीज भारत में आयेगी जो अन्यत्र बड़े पैमाने पर छाती जा रही है। अहिंसा जैसी मानता के लिए उसके चर्क में कोई जयह नहीं है। सारी नीतिकता मानी यहाँ एक उपाजित वस्तु है, मनुष्य में नीतिक नहीं है। लेकिन उसकी बात यहाँ नहीं करनी है।

### विदेशी सहायता

१९४२ औद्योगिक विकास के लिए भारत-सरकार ने विदेशी सहायता प्राप्त करने की नीति को अपनाया है। विदेशी सहायता के रूप में केवल रुपया और तकनीक ही नहीं आती, कुछ मानसिक अन्यत्र भी जाते हैं। आपकी अपने विचारना से भूत यदि यह मान लिया जाय कि औद्योगिक विकास करना है, तो उसके लिए विदेशी सहायता के अतिरिक्त और कीन-से साधन हो सकते थे, जिनका उपयोग सदसतिधि के लिए दिया जा सकता था ?

## हम स्वावलम्बी अर्थ-विविध बननायें

—वर्तमान परिस्थिति में औद्योगीकरण यदि करना ही हो तो स्वयं स्वावलम्बन की दृष्टि से भारी मशीनें हमें यहाँ बिठानी होंगी। भारी से मत्सज के मशीनें जो कुछ मशीन तैयार करती हैं। बिना दूसरे देशों के वे प्राप्त कैसे हो सकती हैं? इसलिए विदेशी सहायता से औद्योगिक कार्यक्रम को अगवाने के बाद फिर उसके शुरू से छुट्टी का अवसर नहीं रहे जाता है।

किन्तु भी हम सम्भव मानें किन्तु अपनी गर्व और निर्भरता के होते हुए दूसरी ओर से मानसिक बन्धन भी कुछ नहीं आयेगे यह मैं सम्भव नहीं मानता हूँ। आये तो स्थिति बहु खानी ही है, जब सहायता देशी-विदेशी न रहे तब सब आपसी बन जाय। लेकिन वह स्थिति राष्ट्रीय अर्थ-रचना के आधार पर नहीं आसपी बल्कि मानवीय उत्पादन एवं अर्थ-विविध के आधार पर आ सकेगी।

यदि देश को सच्चे और पूरे अर्थों में निपुण होना है, तो उसे स्वावलम्बी अर्थ-विविध का आधार बना चाहिए। अन्यथा उसकी स्थिति उससेतर उन्नतन की बनती आसपी और उसकी पकड़ीगता कुछ बिणव मयकारी न होपी केवल मचाई संकट के समय भारत को मयम्य बना देने के ही काय आसपी।

## मानवीय साधन जन-जल

मशीन के अतिरिक्त दूसरे साधन मानवीय हुआ करते हैं। उन साधनों का कम महत्व नहीं होता। यदि बलीय भाव यहाँ के वातावरण में कम होता और राष्ट्रीय भाव अधिक होता तो मानवीय साधनों की ओर से मुहिमाजनक स्थिति हो सकती थी। प्राइवेट और पब्लिक सेक्टर जैसे राष्ट्र तब अधिक चिन्ता के न होते और दोनों तरफ एक राष्ट्र भाव काम कर रहा होता। राजा और प्रजा का घेर कम होने पर मानो जन-मक्ति का पूरा सहयोग हमारी योजनाओं को प्राप्त होता। मैं मानता हूँ कि यदि यह जन-जल तैयार हो तो विदेशों से भारी मशीनें हमें महापता में न मिल सकें या हम खरीद न सकें तो भी सजनी हानि नहीं। विदेशी सहायता की अपेक्षा अपनी ही बढ़ जाती है, जिसकी हम अपनी सहायता करने की स्थिति प्राप्त नहीं कर पाते हैं। अपनी सहायता माने अपने बिनाल जन-जल की सहायता।

## भारतीय मानस की हीनता

मशीन के साथ तकनीकी बिदेयज भी आते हैं और एक बार मशीन को बिठकर ही उनकी आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती बल्कि आगे भी बढ़कर बनी छूटी



है। इस सबका मानसिकता पर प्रभाव पड़ता है और प्रकृतम रूप से भारतीय मानस में एक हीनता या न्यूनता का भाव भर करता रहता है। यह तथ्य कि एक बिदा ऐसी भी है, जहाँ उल्टे भारत को कुछ देने को ही सकता है, मन से दूर हो जाता है। इस तरह भारत का एक बड़ा सम्भावित बल किनारे पड़ा रह जाता है और भारतीय औरव की स्थापना में कुछ भी भाग नहीं ले पाता। यह वही ही श्रेष्ठ का विषय है कि हमारे योयी सन्यासी ऋषि और पारमार्थिक जन इस विदेशी मधीनी सहायता के दौर में मानो अनपुष्ट और अनबुझे रह जाते हैं और राष्ट्र निर्माण में अपना कोई दान नहीं कर पाते। मान लीजिये कि राम लीज और विवेकानन्द पंचवर्षीय योजनाओं के बीकाहक के बीच अपनी बात सुनाने लें तो कितनी मुनी जायगी सेक्सुअलिज्म से तो वह बहुत संघर्ष हीनी नहीं। इस तरह भारत की जनता का एक बहुत बड़ा और उत्कृष्ट भाग एक तरफ बचा रह जाता है भारत के जीवन निर्मात्र में उसका अधिकृत अनुदान नहीं पहुँच पाता।

### घर की पूँजी

२४३ क्या यह सम्भव नहीं था कि जितना धन और स्वर्ण भारत ने अपनी प्रथम पंचवर्षीय योजना के लिए बाहर से लिया, वह घर में से ही अधिक समर्थ स्रोतों के पास से स्वर्ण के रूप में और निर्यातों के पास से धन के रूप में प्राप्त किया जा सकता? उस अवस्था में केवल तकनीकी सहायता ही हमें बाहर से लेनी पड़ती और इस घर की पूँजी के लाभ से अपनी पंचवर्षीय योजना को भी आगे बढ़ाया जा सकता। कल ने ऐसा किया है। यदि कल के इस उदाहरण को हम ग्रहण न कर सकें, तो आपकी राम में इसके क्या कारण रहे? क्या अहिंसा का अनुरवर्गी और कल्याण धूम्य स्वरूप ही इस भूल के पीछे नहीं रहा?

### मानूनन सेना घातक होता

—मन की या ही मन के साथ सत या कानून व ओर से मन के बाबजूद छेदे हैं। मन के साथ से नहीं पाये और कस की तरह राज्य के कानून से छेदे का उपाय अपने बच का और विवेक का नहीं दिखाई दिया।

रुस ने मान्ति के बाद भी भोषा है, वह कुछ कम कटु अनुभव नहीं है। मैं यह मानता हूँ कि इस अनुभव प्राप्त शिला क बाद अब यदि दूसरी कमिटी का अवसर पाये तो उसका प्रकार वही हुआ हीया। अनुरवर अमिष के तत्काल बाद राज पन्ति और राज-बन्ध के ओर से काम करना और करने की मजबूरी में से अनेक

संकट जालि के मार्ग में पैदा हुए और प्रभुत्व मानव रक्त बहाव हुए जालि को बाधे दफना पड़ा। भारत यदि उस राह नहीं जाता है तो यह अन्तमास की धान ही नहीं बल्कि बर्बाद की बात हो सकती है।

### अहिंसक उपाय अक्षरबर्षी नहीं

हो गांधी की अहिंसा ही इसमें कारण हुई। लेकिन गांधी की अहिंसा इसलिये कारण बन सकी कि भारतीय रक्त और मानव संवे उमका सीधी स्वीकृति और आत्मसन्नि प्राप्त होती गयी। अक्षरबर्ष अहिंसा की नीति अक्षरबर्षी और कल्पना-सून्य सिद्ध होयी अगर हमको हिंसा में जाय दिखाई देने लपया। बुनियाद क बड़े हुए देशों के उदाहरण से तो यह लपता है कि हिंसा में बड़ा उठ मानवासी है और उसमें से किसी सुरक्षा या जाय के जान की कल्पना एकरम मिथ्या कल्पना सिद्ध होनवासी है। किन्तु भारत को उठना बनी जाय बड़ा हुआ नहीं है मानव समय से कुछ पीछे चल सकता और अब भी यह माने रख सकता है कि हिंसक उपायों का अवलम्बन और उसमें सहायक होनवासी अक्षर-रचना ही उसके लिये उपयोगी होगी। लेकिन मुझसे पूछिये तो मैं इसको अक्षरबर्षी और कल्पनामय मनोदधा मानता हूँ।

### महत्-भ्रष्टा का उदय

यदि हम अपने दृष्टिकोण को बही रख सकें जो स्वराज्य से पुन या या जो भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण है, तो अपनी परम्परा पर हमें बेशर् नहीं हागा बल्कि भीरव हो सकेगा। और हम उस निश्चित भ्रष्टा के आधार पर वह मनो-भाव नी पैदा कर सकेंगे जिसमें जनता का पूरा मन और पूरा धन राष्ट्र-निर्माण के लिये वह निकले। राज्य के बल से यह काम कभी हुआ नहीं है और हुआ है तो बहुत ही हो पाया है। इसके अलावा यह भी आवश्यक होता रहा है कि बकायों को हम सत्कार से काटकर दूर करें और इस तरह अपन ही बीच एव गृह-दुष्ट की परिस्थिति उत्पन्न किय रहें। जनता में राज्य के लिये विमर्षन भाव यदि हो सके तो कठिनाई दूर हो जाती है, लेकिन वह विमर्षन-भाव तक नहीं आ सकता जब तक राज्य के स्तर पर भी विमर्षन के मूल्य की ही प्रतिष्ठा न हो। स्वराज्य से पहले एक महत्-भाव न देख जा काया-पट्ट कर दिया था। तब भीत के साथ डेकने में जीवन सार्थक होता जान पड़ता था। आज वह सब यदि भुली बहाली बन गयी है, तो इसलिये कि स्वराज्य के बार समाज का और जीवन का मूल्य बदल गया है। विमर्षन और समर्थन मूल्य नहीं रहे गये।

है बल्कि यह प्रतिष्ठा मुख्यतः नया है। उस जीवन में उमार आया था उसकी बगल हास बिखार है और राष्ट्रीय चेतना की कुण्ठती हुई दलीम चेतना फिर उठाती बिखार है तो क्या विस्मय है।

### योजनाएँ लोक-मानस से प्रेरित हों

सबसे अधिक आवश्यक हो जाने की आवश्यकता है कि वही हमें पहुँचना है और मार्ग की दिशा क्या है। दूर दर्शन की ही मैं बात करता हूँ और मैं समझता हूँ कि उस ध्येय को सामने रखकर यदि हम निर्णय करेंगे तो तात्कालिकताओं से विचलित होने की जरूरत नहीं पड़ेगी। भारत के स्वराज्य और भारत के धर्मिक के सम्बन्ध में गांधी की दृष्टि तात्कालिक ही नहीं थी वह दूरदृष्टि थी। उस दूरदर्शिता की मज्जा के आधार पर ही चले रखा जा सकता है। वह बहुत दृष्टि कहलायेगी जो भारतीय आत्मा और भारतीय परम्परा का बिचार नहीं करेगी। यों ही मेरा मानना है कि अन्तःप्रेरणा में ही अतिना फल प्राप्त हो सकता है बाहरी अकुल में से वह नहीं प्राप्त किया जा सकता। अर्थात् राजनेता से अधिक प्रजा के प्राणों में बुझा मिठा जन-नेता जो सम्भावनाएँ लोक-जीवन में संस्कृत कर सकता है वह अन्यथा सम्भव नहीं हैं। और इस परिपूर्ति के लिए आवश्यक और उचित मुझे यह जान पड़ता है कि हमारी योजनाएँ राज्यप्राप्त और राज्य-केन्द्रित न हों बल्कि वे लोक-सामर्थ्य में सं जन्म लें और लोक-सामर्थ्य को बनायें।

### जन और उसको बुझाना

१४४ भारत ने जहाँ क्या कहा किया है। क्या आप सोचते हैं कि उस रूप के ऐसा अनुपवीय दिया जा रहा है जिससे निश्चित समय पर वह क्या व्याज समेत बुका ही न दिया जायगा बल्कि देश में ऐसी स्थिर संवृति भी बच रहेगी, जिसके आधार पर आगे देश का अर्थ-व्यवस्था सुगमतापूर्वक प्रगति करता चलेगा ? —कर्म सेवा गलतनाक हुआ करता है। उसको बुझाने का ध्यान रखना और तरमुक्त हिमाच से काम करना उस मनीषा के लिए सम्भव हुआ करता है, जिसको ओझाटव पतिक कहना चाहिए। ऐसा व्यक्ति मिश्रणी होता है और ऐसे के प्रति उनका सम्बन्ध शायित्पूर्वक हीला है। वर्तमान वस्तुस्थिति में सर्व करन और सर्वोत्ती विन्नी बनाने का काम बिनाई देता है। इसलिए आने समेका पड़े तो कुछ अवरज की जान नहीं होगी। या तो ऐसा ही सचता है कि लक्ष बुझाने के बारे में हमारा आग्रह मन्द ही जाय या नहीं तो हमारा देश बहुत हद

एक सम्पन्न बन सकता है। दोनों ही स्थितियाँ उचित नहीं होंगी। मालूम हम समय मुविवाजनक स्थिति में है क्योंकि बहुत दृष्ट्य है और दोनों ही पक्ष उस अपनी ओर झुका देखा जाहने हैं। इस स्थिति की मुविवा को मुविवा मानना ठीक नहीं है क्योंकि कभी भी वह स्थिति एसी हो सकती है कि माँबी कोई न रह जाय।

## आद्य-समस्या

२४५. भारत-सरकार ने ऐनी की उपस्थिति के लिए दो बड़े काम किये। प्रथम ली अबीहारी-प्रवा का उन्मुखन और दूसरे शेडी का सीमित पम्बीकरण। साथ ही सरकार ने बड़े-बड़े बाँध बनाये, जिससे अब तक उम्माड़ पड़ी बाँसी को सींचा जा सके और उपज का बढ़ावा दिया जा सके। बहुत-कुछ किया जाने पर भी हमारी आद्य-समस्या अभी तक सुलझ नहीं पायी है और हमें अमरीका आदि से बड़ी मात्रा में अन्न का आयात करना पड़ता है। आद्य-समस्या की इस विपन्न स्थिति के कारण क्या कारण मानते हैं?

## अनुसन्धान का विषय

—यह अध्ययन और अनुसन्धान का विषय होना चाहिए। सचमुच विविध मान्य होना है कि प्रयत्न के फल किये गये विषयों आद्य का उत्पादन बढ़ता। लेकिन आद्य-समस्या ही बढ़ती चली गयी तो कुछ कहाँ रही यह देखन की बात है।

## स्वार्थ और संप्रदाय की वृत्ति

मैं मानता हूँ कि उद्योगवाद के अर्थात् अन्न का उत्पादन घीन पड़ गया और इसी आद्य की आवश्यकता से अनिवार्य विरोधी मुद्दा का अन्न के हनु से कुछ मयी। दूसरे मर्यादी मरीज पर हमन मरीजा रखा और विचारन के लिए जो बर्त माध्यमिक या अर्थात् मर्याद-वर्ग उसकी महानुभूति देख के कट पड़ी और स्वार्थ से कुछ मयी। इसी अन्न का अनुभव हमें हुआ है और यह बात विदित बात है कि बगल का अन्नाद्य इतिहास और विविध बा। विचारन के मर्याद अब हम मरता बाम-बाज अन्नाद्य हैं तो भीमन मर्याद मर्याद के प्रति बाधेदार बन जाना है समस्या में सज्जोर्गी अन्न को नहीं अनुभव करना। अब मर्याद की मर्याद बढ़ जानी है क्योंकि मर्याद के बारे में मर्याद मर्याद के मर्याद में मर्याद मर्याद है। मैं ऐसे परिवारों की मानता हूँ जिसमें जीवनभर अभी एक बाग भी नहीं

नहीं खरीदा या मशीन एक बार में अधिक-से-अधिक एक मन में खरीदते थे लेकिन उस समय में बीस बीस खरीदकर उन्होंने ऐसे डाक किया था कि उसे कूटे तक न वे। वर्षा सार्वजनिक संघट के प्रति औसत नागरिक का मान उसको बढ़ाने और उसमें शामिल होने का नहीं होता बल्कि उससे बचने और काम उठाने का हो जाता है। इस प्रकार राजा और उसकी गैररक्षाही तथा प्रजा और उसकी जमता में विरोध पैदा हो जाता है।

### भाबना की कमी

धेती में बकबन्दी होनी नहीं चाहिए, या यन्त्रों का उपयोग नहीं होना चाहिए, या बड़े-बड़े बीबों की योजनाओं की स्पष्ट रचना चाहिए, ऐसी बात नहीं है। मैं समझता हूँ सबका अपनी-अपनी जगह स्वाम है और जमीन का छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाना आज के दिन उत्पादन-बुद्धि के लिए बाधक ही बनता है। लेकिन जमीन का इकट्ठा होना प्राथमिक यन्त्रों का उपयोग होना बीबों की सहायता से सिंचाई की सुविधा होना यह सब हितकर ही सकते हैं इस धर्म के साथ कि उसकी जानकारी और उपयोग की भावना नीचे से जाये। जिसके उपकार के लिए यह सब होना है वे स्वयं अनुमत्त करें कि वे अपनी सहायता में यह सब कर रहे हैं। योजनाओं का जन्म जनता में से ही औसत जादमी की ऐसा न मानूँ हो कि कोई बड़ी जबरबस्त उपकारी संस्था उनके लिए सब कर रही है इसलिये अब हम लोगों के लिए उसके प्रति शिरोधार बनना और अधिक-से-अधिक काम उठाने में लगना ही रोप रह जाता है। कारण यह मनीषा हीन पर फिर विचारण की समस्या ऐसी बिकट बन जाती है कि उसके लिए सरकारी कर्मचारियों की फौज रखनी पड़ती है। अन्त में परिणाम यह आता है कि लोक-कल्याण के कार्य के लिए निकाले गये रुपये में से मुद्रिकल से तीन-बार जाने कल्याण के कार्य के लिए धन रहते हैं बाकी बारह-तेरह भाग व्यवस्था में ही लक्ष हो जाते हैं। अगर वो पहेली की-सी स्थिति आपने बनायी उसका कारण मैं यही राजा और प्रजा के बीच का बढ़ता हुआ अन्तर मानता हूँ।

### माघ बढ़ी, महंगाई बढ़ी

१४६ ओद्योगिक और वैज्ञानिक विकास का जो जन्म बन रहा है उससे औसत भारतीय के पास पैसा तो बढ़ा है पर महंगाई भी उसी अनुपात से बढ़ती चली गयी है। सन्धिस्थ की नागरिक के आर्थिक स्वास्थ्य के लिए कितनी दूर तक धन जाना जाय?

## स्वास्थ्य मानसिक बचाव

—स्वास्थ्य बचपन में मानसिक बचाव है। आजकल तो लोग धारीरिक व्यायामों के मूक में भी मानसिकता को बेखर्च करने हैं। इसलिये आर्थिक स्वास्थ्य का माध्यम यही हो सकता है कि क्या इस प्रकार की पैसे की बढ़ावा से आरमी का मुद्दा धनोप भी बढ़ा है? ऐसा केने-देने का माध्यम है और इसलिये पैसे से समाज में आरमी बड़ा-बुड़ा अनुभव करता है। पैसे की सुविधा से वह कुछ बाधा और कुछहाल पीछता है। जहाँ-पैसा होने से दूसरों के साथ उसके सम्बन्धों की प्रभावित्य होती बड़ी हो जाती है और वह अपने की बड़ा हुआ अनुभव करता है। किन्तु यदि पैसा उन सम्बन्ध-सूत्रों में संघर्ष और अविस्थापन डाल आये तो वही मुक्त के बजाय दुःख और संकट का कारण बन जायगा।

## स्पर्धा और विपद्

बीबीजीकरण विकास की प्रभावित्य कुछ ऐसी बन गयी है कि उनसे विपत्तिता अविचार्यता बढ़ती है। परस्पर हितों में स्पर्धा विरोध और विपद् बढ़ जाता है। बर्ष बढ़े होते हैं और उनकी मुख्य चिन्ता स्वार्थता की हो जाती है। बर्ष रचना में वे निरुद्ध के मानसिक स्वायत्तता स्वाधों की धृष्टि करते हैं। एक ओर होनेवाली यह पैसे की इच्छात मजबूरन मर्होद के जाती है, इसमें सामाजिक स्वास्थ्य का संरक्षण कैसे हो सकता है? तेजी की बीछती है, उसे नजर की तेजी मानना चाहिए, उसके नीचे ब्रह्ममुक्ति की स्फूर्ति नहीं होती है। वह वस्तु नहीं होती जिससे समाज में सार्जनस्व और सुपटन जाता है। बल्कि उस समिति के मूक में स्वार्थ की प्रेरणा काम कर रही होती है, जिससे समाज के स्वास्थ्य का हस्त होता और अपराध की धृष्टि बढ़ती है।

आश्चर्य है कि स्वास्थ्य की हम व्यापक सामाजिक जाव में समझे और उसकी वस्तु-निर्भर न मानें। आँकड़े इस अपह्न बोला दे सकते हैं। वे भीषण जाव और भीषण बीजन-मान की बढ़ता दिखा सकते हैं उत्पन्न ब्रम और निमित्त मातृ-सामान की राशि गुणानुमित हैं बता सकते हैं। फिर भी सम्भव हो सकता है कि अपराधों की संख्या बढ़ रही हो और विविधता और जाव हत्या की घटनाएँ भी बढ़ती पर हों। जहाँ प्रकट होना चाहिए कि स्वास्थ्य परिमाण और राशि पर निर्भर नहीं है। उसका सम्बन्ध मानसिकता और पर स्पर्धा की स्निग्धता और स्वच्छता से है।

## आय और शिक्षा की कल्प-समस्या

२४७ आर्थिक स्वास्थ्य से मेरा मतलब था भीषण आय और आय के घटक अपने

की कम-अमता। स्वातंत्रता के बाद हमारी औसत आय तो बढ़ी है पर रुपये की कम-अमता बढ़ी है। इस विकटता के लिए आप किसकी जिम्मेदार ठहराते हैं ?

अम सिरफे की दम्स बे

—साधारणतया अम और वस्तु का सम्बन्ध स्थिर रहता है, जैसे ना मूल्य बढ़ता-बढ़ता रहता है। एक सेर अन्न पाने के लिए आज जितना पैसा देना पड़ता है और दस वर्ष पहले की पैसा दिया जाता था उसके अनुपात से ही जैसे के मुख्य मूल्य (इन्फ्लेक्स वेल्थ) का निर्णय होता है। यानी जितना अधिक सिकका चलन में आता है, उतना ही पैसा चस्ता होता और चीज महंगी होती है। उद्योगवाद की बढ़ने के लिए अक्सर इस मुद्रास्फीति का अवलम्बन किया जाता है। इससे अल्प-विकल्प व्यापार-व्यवसाय में बेग आ जाता है और जीवन आरत और स्थिर जान पड़ता है। लेकिन इस तरह अम मुख्य में बढ जाता है और चातुर्य बेहिस्ता बड़ बड़ जाता है। मैं मानता हूँ कि मूल में बुद्धि का घर और प्रभाव था कि जिसमें से मुद्रास्फीति बेकौसिद बजट आदि की कल्पना निकली और उद्योगवाद की बढ़ने के लिए मानी चातुर्यमार-नीति की सृष्टि हुई। इसमें मानी मानव-व्यक्तित्व का समुत्पन्न बिगड़ गया। अम का सम्बन्ध घटिर से है, बहुत ही ना बुद्धि से। अर्थात् अधिक और अधिक इस तरह के दो वर्ष ही समाज में बन गये। चौड़-चौड़ की भूस बेनेवासी बुद्धि का स्थायी अल्पविक मुद्रिधा में हो गया और उसने घर बसाया। अम से लगकर रहनेवाला आदमी ईमानदार, धार्मिक और नैतिक भावनाओं से बिपटा छिमटा पिछड़े हुए देश में बना रहा और सीपित होता रहा। हम असमनुज में से बहु विचार निकला जिसे साम्यकारी विचार कहा जाता है। लेकिन वैज्ञानिक और आर्थिक चलन की घुन में हमने अनामंयस्य के मूल की नहीं पकड़ा बल्कि व्यवस्था और तान की बदलने और स्वल्प-स्वामित्व को राज्यपन्नाचीन करन के उपाय से मन्तोप मान लिया। मूल व्याधि थी यह कि सिकका अम से स्वल्प होकर स्वयं में मुख्य बन गया था और हम तरह मनुष्य अमहाय और राज्य गर्व-महाय बनने की ओर जा रहा था। साम्यकारी चालि ने आनी एजरा पर अम के प्रतीकन हूँमिये-हूपी की ररा अन्व मेन्जि बुर मूल तक उन विरचाम के अनुवाद-अनुकरण का आग्रह नहीं रगा। परिणाम इसलिये यह नहीं आया कि निक्के की या पूर्वो की ठारत कम हुई ही बल्कि राज्यपन होने से बहु ताकन कहीं बड़ बड़ गयी। राज्य-कर्म के लिए साथ-साथ धमी बनना बिपुल आचरण नहीं रह गया। बल्कि अमहीन रहने की धन पर उनकी सब प्रकार की मुद्रिधाय प्राप्त होनी गयी। घटिर और

बुद्धि के अनुपातहीन और विषम मूल्यों में सही समुत्पन्न होने का काम उस विचार या उस क्रान्ति में नहीं किया। मैं मानता हूँ कि सही समुत्पन्न होने का काम ऐसे के जरिये नहीं बन सकता। मूल्यता किसी तरह सीधे धर्म में पना भी जा सकती हो तो साधक उपाय हो। अर्थात् सत्ता जैसे के पास से हटकर धर्म के पास जा बाय और धर्म अपनी अथवा स्वस्थ और स्वावलम्बी बनकर ऐसे को अपनी दृष्टि से सके, या नहीं तो अपनी इच्छानुसार ऐसे को खरीद सके। अभी तो धर्म विकृता और ऐसा खरीदता है। अब ऐसा बिके और धर्म खरीदार बन जाय। यह उस अवस्था में हो सकेगा जब व्यक्ति बुद्धिशाही हो और अर्थशास्त्र के व्यक्ति को अपने हाथ में के सके। ऐसा होगा अब उसोबहार का रूप बाला हुआ दिखाई देगा और समाज का रूप भी बदल जायगा। अब राजनीतिक समस्याएँ भी क्या आकार-अकार लेगी और साधक राजनीतिक एब संगठनात्मक के अधिक सुभात्मक और सांस्कृतिक हो सकेगी। लेकिन साधक मैं प्रश्न से दूर निकल गया।

### राजनीतिक यथार्थता से न डरिए

२४८. ऊपर आपने कुछ स्थिति का वर्णन किया है वह क्या आज के विश्व के किसी भी देश में उपलब्ध है? क्या ऐसी स्थिति विश्व में वर्तमान रही है अपना आये कभी रहेगी?

—नहीं आज किसी देश में वह स्थिति उपलब्ध नहीं है। कारण देश स्वयं एक राजनीतिक मारवा है। वह स्थिति अब और जहाँ होनी तो वहाँ देश की धारणा सीमित नहीं रह पायेगी। लेकिन वह स्थिति कल्पनाशील नहीं है। ईसाइयत उठी इसलाम उठा अब दोनों बिदेयों का क्या हुआ वा? क्या उस समय ऐसा नहीं मान्य हो आया वा कि देश विश्व समस्याएँ हैं, सत्यता यह है जो मानवार्थक और धार्मिक है? हम मान लिया करते हैं कि राजनीति में वास्तविकता का प्रतिबिम्ब है, रोप इधर उधर सब वास्तविकता और मान्यता है। लेकिन ध्यान रहे कि यह से उठती हुई केतना की परिणति परिस्थिति में बिम्ब उतपन्न कर सकता है। राजनीति देश की पहचानती है, व्यक्ति को वह जानना चाहती हो नहीं। नये विज्ञान ने जलु की सत्यता की परम सत्य के रूप में प्रकट कर दिया है। इसी तरह व्यक्ति बचक में से बहु तेज और तपस्या का बर प्रसूति हो सकता है जो राजनीतिक परिस्थितियों में क्रान्ति जितना परिवर्तन से आये। हमसिध राजनीतिक यथार्थताओं में ही दृष्टि को बाँध रखने की आवश्यकता नहीं है। ईसाइयत और इसलाम के प्राथमिक उन्मेष के समय की कल्पनाओं से



वही उत्कृष्टतम बटनार्थे शापव इतिहास में ही नहीं। उनके मूक में कोई राजनीतिक दबावता बूझ भी नहीं मिलेगी। वही विम्वय स्फुल्लिम या, जिसकी दीप्ति में से सदियों का इतिहास उलझता और बनता बना गया। इसलिए मेरी सलाह है कि आप परिस्थितियों की ओर से सत्य को न वैसे बहिक बन्धनमूलक सत्य का विचार करें। उस सत्य की मज्जा में से अपरिमेय बस निकल आ सकता है।

### प्राकृतिक सम्पदा का उपयोग हो

२४९. इस बारे में अब भी मत नहीं रहे हैं कि भारत की अभाव प्राकृतिक एवं खनिज-सम्पदा का बुरा खान उठाने के लिए भारत का औद्योगिकरण किया जाय। अस्तित्व-रक्षा की दृष्टि से भी यह अनिवार्य बन गया है। तब उसीमें के निजी स्तर पर विकास की आप थोड़ा जानते हैं या सरकारी स्तर पर?

### मानव-सम्पदा की चेकबुकी क्यों हो?

—प्राकृतिक और खनिज-सम्पदा तो कुछ दूर और भीतर भी हो सकती है, मरिन् ओ एकदम प्रत्यक्ष और प्रस्तुत है, उस अनुचित मानव-सम्पदा का क्या आप विचार नहीं करना चाहते? मन्त्र विचार और सचम विचार जो इस मानव विचार से किमारा ले रहता है। तो क्या आप यह चाहेंगे कि मानव-सम्पदा की चेकबुकी ही क्योंकि भरती में गढ़े हुए कोप की ही हमें कर करनी है? यह अन्धा और भीया विचार होना। की मानव की मिट्टी और बाहु को ही सीमा समझना चाहता है। हमने बहुत शक्ति-पैदा की हैं इतनी कि एक बम लाखों लाख की भस्म कर दे। यह शक्ति अनिवार्य पायी है कि एक-दूसरे को काटने में ही करने को थपे न दें। अबगदस्त हथियार बन रहे हैं—दुधर पश्चिम की छावनी में उपर पूरव की छावनी में। इतना ज्ञान विज्ञान अन्ध-अन्ध उस पर लग रहा है कि आँकड़ों मिले तो हम अन्धकार में भीलसाये रह जायें। एनका सिवा इसके क्या उपयोग हो सकता है कि वे एक-दूसरे को काटें और थपे करें। मैं कहता हूँ कि यह इसलिए ही रहा है कि मानव की जो मुक्त सम्पदा मानवता है उसकी तरफ से ध्यान बीसल हो गया है और ज्ञान फिर दूसरी किन-किन सम्पदाओं के फेर में बह गया है। भारत में इस मानव और मानवता के विचार की आग्न ज्ञान बहुज्ञान रहा गया है। इसमें सचमुच झूठ नहीं है कि ज्ञानमान के बिना बन्धु विज्ञान हमें चक्कर और टक्कर के सिवा और नहीं नहीं ले जा जाता है।

## दोनों का समुक्त उपयोग हो

सम्पदा को बेचने की दृष्टि अपने से दूर और बाहर जायगी अपने में बेचने को मानो बिपदा और व्यर्थता मानेगी तो उसमें से प्राप्त हुई उपस्थि मायामय होगी और उसमें स्थायित्व न होया न मनुष्य की सार्थकता हो सकेगी। प्राकृतिक और कृत्रिम का वह आविष्कार और उपयोग धूम और उपम होगा जो मनुष्य का ध्यान रसकर किया जायगा और उसकी पारस्परिकता को विच्छिन्न और विभक्त करनेवाला नहीं बल्कि संयुक्त और संचन करनेवाला होया। आज जिस प्रचाली से हम बाह्य सम्पदा के पीछे पड़े हुए हैं उसमें प्रमाद के सत्त्व रहे जा सकते हैं। उसमें सर्वबाबी की प्रेरणा है, उससे उत्कृष्ट और उन्नत कोई धारणा नहीं है। समष्टिमात्र और हितमात्र से उच्छिन्न यह स्वार्थ लिप्ता की प्रेरणा अधिक काक तक दगावनीय नहीं मानी जायगी। उसकी प्रवृत्ति की भावना से बेचना बहुत बुरा अवश्य हो जायगा। आज भी सर्वोच्च राजनीतिक नेता विवेका सौम मानवता के मन को उस तरह नहीं रख और जीत पाते हैं। जल्दी वह समय आ जाना चाहिए, जब कोरमकोर बहुबाबी महत्वाकांक्षाओं में ऊपर उठकर बहनेवाला आदमी सहानुमति और चिकित्सा का पात्र बीस बाता है, सपहना यदि कोई और आज वह हमारे मन में पैदा नहीं करता।

## निजी और सरकारी उद्योग

२५०. मौलिक प्रश्न तो यह है कि आप औद्योगीकरण की निजी पद्धति को राज्य और मानव के लिए अव्यक्त मानते हैं या सरकारी पद्धति को? निजी पद्धति में प्रति और संगठन कम होना है। सरकारी पद्धति में वेग इतना अधिक हो जाता है कि व्यक्ति धूम्य बन रहता है। क्या वैज्ञानिक औद्योगीकरण की कोई मध्यममार्गी नीति आपकी दृष्टि में है?

## सरकार धनिक न बने

—सरकार उत्तरोत्तर निष्क्राम होती जाय तो सही विधा में उसका विकास हो रहा है ऐसा मैं मानूंगा। उद्योग-व्यवसाय सरकार को नहीं करना चाहिए। सरकार की बमिक नहीं बनना चाहिए। बमिक वह, जो आर्थिक लाभ की प्रेरणा से काम करता है। सरकार की प्रेरणा भी आर्थिक लाभ हो तो इससे बहुत अनर्थ होना। समाज में वे लोग अवश्य हैं, जिनकी वृत्ति असी और धन सायी है लेकिन ऐसे लोग भी हर स्वस्थ समाज में अवश्य होते हैं, जिनकी वृत्ति अर्थमूक न होकर मानमूक और नीतिमूक है। जब व्यापार-व्यवसाय की

वृत्ति राज्य में पहुँच जाती है, तो ब्राह्म और क्षात्र-वृत्ति रखनेवालों से वैश्य को प्रधानता या उच्चता मिल जाती है। ऐसे समाज-मूल्य उभट जाते हैं और मानव-गुणों की खणगणना होने लगती है।

काम-काज सब जायगी द्वारा हीना चाहिए। अर्थात् अर्थसाध की प्रेरणा को निजीय से उठाकर सार्वजनिक स्तर पर कमी भी नहीं जाना चाहिए। शासन की उत्तरोत्तर स्वच्छ शासन और अनुशासन बनना है। अर्थकाज को शासन-तन्त्र की प्रेरणा बनने देने से फल उल्टा होना। अर्थात् नैतिकता का ह्रास होना और कोरी कामिबन्ता का मूल्य बढ़ना।

शासन बहु मन्त्रा जिसे शासन करना न पड़े। अर्थात् शासन का उत्कर्ष नैतिक से उत्तरोत्तर नैतिक बनने की दिशा में है।

वे सब काम जो निजी प्रेरणा से आपसीपन के संगठन द्वारा ही सके उन्हें सरकार को अपने हाथ में नहीं लेना चाहिए। जो और किसी तरह सम्भव न हो सकते हो। उन्हीं कामों को सरकार को अपने हाथ में लेने का हक है।

समाज-मूल्य अथ नहीं, नीति हो

निजी उद्योगों से पूँजीवादी प्रवृत्ति बढ़ेगी उस प्रकार के मनीभाष और बनबर्ब पैदा होंगे यह आपत्ति की जा सकती है। पर समाज-मूल्य ही यदि अर्थ न रहे चाहे मूल्य मानवीय और नैतिक ही तो इस प्रकार किन्तु भी पैसा कमाने पर भी बहिष्कल्प समाज के धीरे पर पहुँचा नहीं बिछाई पैसा अर्थात् पूँजीवाद का विष और सकट तनिक भी समाज में पर नहीं कर पायगा। जब हमारा विचार ही नैतिक बन जाता है, समूची सामाजिकता और सम्मता को नैतिक मान लिया जाता है तभी धन प्रश्न उपस्थित करता है और शोषण का साधन बनता है। राज्य स्वयं उत्पादन-भाषनों का स्वामी हो और बड़-छोटे सब उद्योग सीधे जनके हाथ में हों यह समाधान पूँजीवादी सकट में समाज का उद्धार नहीं करता है बल्कि शासक जन सकट की ओर बिकट बना देता है। कारण पूँजीवाद जब राज्य की अनुमति ही नहीं पाया बल्कि स्वयं अपनी संघटना में ही राजकीय बन जाता है। वैयक्तिकता अगर शोषक प्रभावी है तो स्टेट-वैयक्तिकता से वह बुराई और घनी होती है बट नहीं खटती।

राजकीय पूँजीवाद से रोग बढ़ेगा

राज्य के हाथ में ही उद्योग हों, तो अन्तराष्ट्रीयता प्रतिष्ठापरिचय और विप्लवप्रसन्न ही बनी रहनी। मुद्र की आपका तब एक धातु के लिए भी दूर नहीं हो पायेगी।

कारण राष्ट्रीय स्वार्थ तब हमारी विपन्न-व्यवस्था की बुनियाद में हूँ। और अन्त  
राष्ट्रीय व्यापार बहस-अहस सिक्कों और मुद्राओं के चक्कर से रँभा और फटा  
हुआ रहेगा मुक्त और मानवीय नहीं बन सकेगा। विज्ञान की उत्पत्ति के साथ  
समय आया है कि आवागमन यातायात और सैन-देन आपस में अधिक जुड़ा और  
मरपूर हो। राष्ट्र-राष्ट्रों के हाथ में बहकाम रहा तो धम्मास्त्र-निर्माण सं सं  
कमी नहीं हो पायेगी और एक युद्धोद्योग ही सब तरह के उद्योगों से मिश्रकर बड़ा  
जड़ा ही नहीं रहेगा बल्कि उन पर सवार भी रहेगा। आश्चर्यकृत है कि राजकीय अर्थ  
प्रणाली (पोलिटिकल इकोनॉमी) की बसह अब एक मानवीय अर्थ प्रणाली (ह्युमन  
इकोनॉमी) का आरम्भ हो। राजकीय उद्योगवाद का सहारा लेकर मानो  
हम इस सम्मानना के मुँह को ही रोक बैठे हैं और इस तरह मनुष्य-जाति के  
परस्पर निकट आकर एक होने की व्यवहार्यता को आरम्भ में ही नष्ट कर डालते  
हैं। राजकीय अर्थवाद पूँजीवाद को समाप्त नहीं करता बल्कि केन्द्रीय पूँजी से  
होनेवाले रोम को स्वाधी बनाने का उपाय करता है। कारण उस प्रकार पूँजी  
समाज के बिन्दु-केन्द्र में अर्थात् राज्य के अन्तःकरण में पहुँच जाती है और युद्ध  
सत्तावाद को जन्म निम्नता है। तब सत्ता ही वह मानव-विमुक्ति बलही है जिसके  
बिना सबके लिए सब कुछ पीड़ा ही जाता है। आज कुछ दुनिया की बड़ी हानत  
बनी हुई है। इसीसे कहना पड़ता है कि यह सम्पत्ता रोम के अन्तिम चरण पर  
जा पहुँची है। मानवता इसका बोझ अधिक काल तक नहीं उठा सकेगी। उसको  
अब नया जन्म लेना होगा और इस जर्जर आडम्बर को उतार फेंकना होगा।

## पूँजी और सत्ता

२५१ पूँजी पर बैठे आदमी में आप विश्वास प्रकट करते हैं पर सत्ता पर बैठे  
आदमी को आप झंका और मग की दृष्टि से देखते हैं। इतने लोगों का यह आदमी ही  
यदि आपके अनुसार पूँजीपति समाज का विरोधी नहीं बन सकता तो सत्ताधीश  
ही कैसे मानव-वैरोधी बन सकता है? दूसरे, निजी उद्योगों की बकायत करने पर  
वस्तुस्थिति से पता चलता है कि इसका आप पर लगाया जा सकता है। क्या मेरी इस  
शंका के प्रकाश में आप अपने उपर्युक्त मतव्य को अधिक स्पष्ट करेंगे ?

## एक ही हाथ में तराजू और डटा

—पूँजी में जहर तब पीदा होता है, जब उसमें सत्ता का रंग मिलने लगता है।  
अर्थात् व्यक्ति में दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध से सत्ता और अधिकार-विप्लव आगनी  
है, तब मानो अमनुष्यता मनुष्यता के ऊपर जा जाती है। वैसे पहले अर्थवाद

के रस से अपने काम की प्रेरणा पाता था। जिसकी पूर्वीबाध कहते हैं, उसमें अर्थ में से सत्ता भोग भी प्राप्त होने लगता है। वहीं से संकट बन जाता है। अर्थ खन्त में वस्तु का प्रतीक है। वस्तु को व्यर्थ जानने समझा इतना पुस्तुभाष्य नहीं है, किन्तु सत्ता का बसका गहरा और सूक्ष्म होता है। उसकी व्यर्थता का पता सहसा नहीं पड़ता। वह रस वस्तुपरक से भावपरक ब्यादा है। उसमें आपसी ब्यादा बुरतक भूला और दूबा रह सकता है। इसलिए कीरे वैश्य से मैं उतनी हानि नहीं देखता जितनी राज-वैश्य से देखता हूँ। बनिज समाज में भुके-मिसे बिना नहीं रह सकता। इस लिए वह सदा समाज-मुख्य के अधीन रहता है। लेकिन जो साथ ही राजा भी है, वह तो अपने को समाज-मुख्य का निर्माता मानने लगता है। वह तो सिर पर आता है और समाज-मुख्य को बैपुठा दिखा सकता है। समाज का वह प्रभु और स्वामी होता है। केवल वैश्य में वह नज्मना भी नहीं हो सकती। उसके पास फौजी शक्ति तो होनी नहीं इसलिए बनिजा सदा विनम्र और विनयी होता है। समाज का वह धक्का ही हो सकता है। पर अगर जिसके हाथ में डण्डा है, उसीके हाथ में तछनु भी है, तो समझ लीजिये क्या कुछ अर्थ नहीं हो सकता। इसलिए सत्ता के हाथ पूर्वी-काम की बात रहे, तो इसमें मैं कुछ नहीं देखता।

२५२ इसका अर्थ यह हुआ कि आप भारत-सरकार की अर्थनीति से रंजमान भी सहमत नहीं हैं और देश के सामनों को संबन्धित और उपयोग में लाने की जो योजनाएँ सरकार बना और चला रही है उनमें आप कहीं गम्भीर त्रुटि पाते हैं। पहले यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आप पिछड़े हुए भारत के आर्थिक विकास के लिए औद्योगीकरण को आवश्यक मानते हैं या नहीं? और यदि मानते हैं तो सरकार ने जिस नीति से यह काम हाथ में लिया है उसमें कहीं-कहीं क्या-क्या घलतियाँ उसने की?

### हिस्साब और अर्कों का फेर

—हाँ आज की सरकार से इन विषय में मेरा मौलिक मतभेद है। वह अर्कों के और वस्तु के हिस्साब के फेर में पड़ गयी है। यही कारण है कि देश के 'भावनात्मक' ऐश्वर्य पर इतना मुग़र और इतना अधिक और इतना बार-बार जोर देने पर भी देश में भावनारमक अनैश्य बढ़ना जा रहा है।

### उत्पादन के मोह में आबसी की उपेक्षा

निश्चय ही वह दृष्टि गम्य नहीं जिसमें आदमी नाबल और उत्पादन शाप्य हो। वह दृष्टि भ्रान्त है, जो मौलिक की माया में दिखती है। कर्म मौलिक ही हो सकता

है, पर दर्शन को ठमिक ऊँचे रहना होता है। पाँच बजते बरती पर हैं, भाँख उस  
 तरह बरती पर गड़ी नहीं रह सकती बायं देखती है। सोचना बहु सच्चा सोचना  
 है, जिसमें मनुष्य साध्य होता है। उस दृष्टि और उस विचार को नैतिक कहते  
 हैं। औद्योगिक के मोड़ में नैतिक को जो मुलायम पाता है, सो भूल होती है और  
 उसका दण्ड भोगना पड़ता है। शास की सरकार पर बड़ी कर्म-ज्वर सवार है।  
 उनसे रंजनात्र भावस्फूर्ति जनता को नहीं प्राप्त होती। उसे पैये का सहाय पैये  
 का विरबास है। आर्य-स्वाम और आर्य-बलिदान की प्रणवा पैस को साधन और  
 साध्य माननेवाली जमात से नहीं भिन्न करती। औद्योगीकरण की जगह में उद्यमी  
 करण को प्राथमिकता देना। उसमें का सम्बन्ध मनुष्य से है उसीय का मन्त्र  
 से। उसमें जमाने पर हमारा ध्यान हो तो भारत की बासीत कटोड़ बाबादी बीस  
 की जगह बस हो जाती है। कितनी अमित मानव-शक्ति भारत के पास है! वन  
 की जगह क्यों बहु खण बनी हुई है? केवल दूरदर्शिता और मर्त्य-विद्या के अभाव से।  
 आखिर बेरोजगारी की समस्या है तो क्यों है? सब ही बेरोजगार मार होता  
 है। आदमी क्या बरती पर मार होने के लिए जनता है? क्या बहु उसका भूषण  
 होने के लिए नहीं जाना? फिर यह क्या है? उद्योगों से क्या हम सबको काम के  
 पाये और बेरोजगारी मिटा पाये है? उसमें मैं अब तक काम और रोजगार बहु  
 है जो किसीके दिये लोगों को मिलेगा तब तक समस्या कभी हल नहीं होयी।  
 बाबादी की संस्था के बराबर नौकरियों की संस्था पैदा करने की भाषा में हल को  
 सोचना हिनाकत है। सोचना यह होगा कि क्यों कोई बासी हो? बेकार और घाली  
 रहना कोई नहीं चाहता। फिर भी है तो क्यों है? इसी सवाल की जड़ में जानें  
 तो क्या यही नहीं प्रकट होया कि आस-नाम के लिए उपयोगी बपने का कोई उपाय  
 उसके पास नहीं छूटा है? पैये की उन्मत्ता ने उसे हीन और बेकार बना डाला है।  
 मिट्टी के मिलन में नहीं बन सकते हथ का कपड़ा नहीं बन सकता आस-नाम के  
 साधनों से बननेवाली कोई चीज तैयार नहीं की जा सकती क्योंकि पैस के बाजार  
 में बही बन्कि बड़िया चीज मस्ती मिल जाती है। मन्त्र से बनी मस्ती-से-मस्ती  
 चीजों से बाजार की पाट देने में उन्नति की पराकाष्ठा हमने देनी है। इसमें  
 सब तरह का सामान चरों में भर जाना है और पैट अथभूता रहना है। बहु  
 नीति जो आदमी के लिए यही उपाय देखती है कि वह बाजारपेठ में पगार  
 मझूरी पाये मनुष्य का अहार नहीं कर सकती। बरे, मनुष्य में मृतकपणित  
 पड़ी है। बहु नीति निकम्मी है, जो उस शक्ति को जगाती नहीं है उसके पुनः-  
 पुनःकर मारती है और अन्त में पैसे के सातथ से गाँव के उखाड़कर उसे गहर  
 में ला बदेती है।

## आधा सीतर, आधा बटेर

मूल मतमेव यही है कि दृष्टि मानवीय से हमने आंकिक होने ली है और प्राथमिक ताबों की मूछकर अपमान को हम प्रदानता से बैठे हैं। गांधी ने जो किया उसको मानो पल्लत बना देने पर आज की सरकार तुरु गयी है। पहनती बहुर है और उसे अनुदान भी देती है पर बसती उससे उलटी है। यह यान्त्रिकता समझ में आ सकती है जो कम्युनिज्म को प्रिय है। उससे असहमत होते समय भी लगता है कि कुछ है जिससे असहमत होना भी सार्थक है। आज की बात का तो यही पता नहीं कि वह सीतर है या बटेर। उसमें खड़ा का और रीढ़ का अभाव है। उसमें कोई बर्धन नहीं है। उसका विभाग पश्चिम में है तो बिज पुरख में। वह सब होने की कोशिश में है, इससे कुछ भी नहीं रह जाती और सिर्फ वैसे की फूलझड़ी-सी बसती माकूम होती है।

## उत्पादन फॉरम एक्सचेंज को लिए

देस के पास जो साधन सबसे प्रस्तुत और प्रचुर है वह उसका जनबल है। लेकिन हमको दिखाई यह देता है कि बल यन्त्रबल है और उससे हम हीन हैं। इस तरह उस दृष्टिमान से एक क्षण में हम बीग और बरिख बन जाते हैं। उची बन माकूम होता है कि फॉरम-एक्सचेंज बसाकर और बचाकर यन्त्र प्राप्त करना हमारे लिए पहला काम है। बस अब हमें उबार चाहिए और दान चाहिए। हम ऊंची बातें करेंगे क्योंकि हमारा देस राम-कृष्ण और बुद्ध का है और याची के डब से हमने स्वरूप लिया है। इसलिये कृपया हमारी सहायता कीजिये। देस अबस्य अस्य-स्वामि है, लेकिन अप्र से मरह कीजिये इत्यादि-इत्यादि। हम अपना सारा ग्रामोद्यम इस आचार पर बसाना चाहते हैं कि कुछ कच्चा माल भेजें और पक्का यन्त्र प्राप्त करें, जिससे कि भागे कमी कच्चा बाहर भेजने की जरूरत से छुट्टी मिले। यह कि करने यहाँ के कच्चे माल को अपने हाथों स्वयं उपभोग्य बनाकर कुछ हर तक स्वाधयी हो सकते हैं, यह हमें श्रुतता ही नहीं। सत्यता और सक्ति हमें मनुष्य के बचाव मनीन में धारने लगी है। सो हमारा सारा उत्पादन फॉरम-एक्सचेंज की मांग से बकड़ गया है। उसका सीधा सम्बन्ध हमारी आवश्यकता से ॥ रहकर बिदेगी मुद्रार्जन से हो गया है। मैं इस पद्धति का कायल नहीं हो पाता हूँ।

## राष्ट्र-चेतना सज्जित

उभने बड़ा अनिष्ट जो फलित होता है, वह यह कि जनता नामा प्रकार के राजनीतिक मनावेगों के लिए लाली रहने के कारण सहज आसेट बन जाती है। जिसकी ठेकी

से एक पर एक आनेवाली पंचवर्षीय योजनाएँ बड़ी हैं, उतनी तेजी से राष्ट्र-  
 चेतना के नीचे से बलवन्तता की जमीन तिसकरी बेसी जाती है। योजनाओं का  
 उत्पादन मशीनों के स्तम्भ को रोक नहीं पाता। उस पर का-सा हाक कहिये जहाँ  
 गृहस्वामी काठर है, अपने धाम्य और यक्षिय के बारे में सन्तुष्ट है और जोक  
 काज में पिष्टात्र और पकवान की तैयारी हो रही है। मन खट्टा है तो हो मिठ-  
 ह्यों का बाव हो बेसिये किस प्रकार सजा है।

मैं मानता हूँ कि देश की दुलती और चढ़कती रग पर सरकारी बैल का हाक  
 नहीं है वह बैलक के बाव में इतना लीन और क्रिप्ट है।

१५३. हमारी सामाजिक समस्याओं में जाति-विरोध और वर्ग-विरोध की समस्याएँ  
 सबसे बर्चकर हैं। समय-समय पर ये छिर उठती और देश की एकता की छतरे  
 में डासती हैं। क्या आपकी विचारना है, देश की आर्थिक समृद्धि से यह जाति-वर्ग-  
 विरोध समाप्त हो जकेमा और एकता की नींव पक्की हो सकेगी?

**समृद्धि-बाव और राष्ट्र-बाव से वर्ग-बाव नहीं मिटेगा**

—आर्थिक समृद्धि में मैं देखता हूँ कि जातिवाद और वर्गवाद बरकरार पहुँचते हैं।  
 मेरे कई बन्धु हैं जो यनाह्य हैं। स्पष्ट देख सकता हूँ कि बनाव्यता में उनका  
 वर्ग-भेद और सम्प्रदाय-भेद बड़ा सहायक हुआ है। इस प्रकार की सम्प्रदाय  
 भेदियाँ समूहों और युद्धों की जाबजब बघाती और उनकी नींव पर फलती-फूलती  
 हैं। इसलिए मुझे प्रतीत होता है कि सम्प्रदायवाद अपना जातिवाद की व्याधि  
 का उनाय किसी राष्ट्रवादी या राष्ट्र-सम्प्रदाय-बाव के पास नहीं है। कारण जाति  
 या वर्ग के समान राष्ट्र की एक बड़े समुदाय का नाम ही है। जबकि देशस परिमाण  
 और सस्या में बड़े होने के तर्क से एक समूहवाद दूसरे समूहवाद की जर्बों की नहीं  
 काट सकता। कोसिध आत्रकल इसी की देखी जाती है। समूचे राष्ट्र की सम्प्रदाय  
 की दुहाई पर इन आता करते हैं कि छोटे समुदाय स्वायत्त-त्याग सीपेंगे। स्वायत्त  
 का त्याग सभी हीमा जब यह त्याग ऊपर से नीचे तक सारे समाज-जीवन के लिए  
 अम्पनीय मूस हीमा। राष्ट्र की समृद्धि को यदि हम मूस मानेंगे तो हर व्यक्ति  
 और हर समूह जाने-अनजाने उसके नीचे अपनी निजी समृद्धि की ओर बढ़ता बीनेपा।  
 गांधीजी ने इसीलिए राष्ट्र की समृद्धि का आदस नहीं दिया या बलिष्ठ चिरव  
 के हित में बलिदान हो जाने का आदर्श दिया बा। जर्बान् उत्तम्य और यश को एक  
 स्वयं-प्रतिष्ठा मूस का स्थान दिया बा। मेरा मानना है कि त्रिध समाज में अहिंसा  
 और अरिपह का मूस प्रतिष्ठित हो सकेगा जमी समाज न समूह और समुदाय  
 होकर भी वे परस्पर बुरक बनना चाहेंगे। एना समाज तो जमम्भक है जहाँ समू



बाप या समूह हो ही नहीं। हम जातीय या साम्प्रदायिक समुदायों को आर्थिक श्रेणियों या वर्गों में परिणत कर दें, तो इससे विशेष अन्तर नहीं आनेवाला है। विभाजन बड़ी की जगह पड़ी सड़कियों से हो, तो इसमें अपने आप में कोई उन्नति नहीं मान लनी चाहिए। अन्तकाश तक भी ऐसा समय नहीं आनेवाला है कि जब समूची मानव जाति अपने को एक बटक अनुभव करे और व्यक्ति अपना परिवार या संस्था के लिए स्वत्वभाव का व्यवहार ही न रखे। यदि एकता की हम इस अनेकता के विनाश के रूप में चाहते हैं तो भूल कर रहे हैं। बहु स्वरूप बुद्धि के प्रसार में ही बनता है। इसलिये मुझे जाति और वर्ग आवि को समाप्त करने के दावे में कोई सार दियायी नहीं देता। बड़ी मछली छोटी को खा सकती है लेकिन इस तरह मछलियों में छोटा-बड़ापन समाप्त नहीं हो सकता। राष्ट्र के द्वारा सम्प्रदाय को अन्त करना वैसाही है, जैसा बन्दूक से ललवार को ललम करना हो सकता है। अर्थात् एक संघटन से दूसरे संघटन को मिटाने की चेष्टा अन्त में संघटनवाद को दृढ़ ही करती है। राष्ट्र की बुलाई पर और उस दायित्व तथा दावे को ऊँचा उठाये रखने के आधार पर कांग्रेस-संघटन की आज क्या हानि बन गयी है। हर जगह जो उसमें गुटबन्दी और घड़ेबन्दी बिछाई देती है तो क्यों? कारण यही कि चरित्र और गुण पर सक्या और संघटन की महत्त्व मिलने दिया गया है। सेना से सेना को काटने की नीति से सेनावाद को प्रोत्साहन ही मिलता गया है। राष्ट्र सम्प्रदाय की संक्रमणपूर्वक हिंसा कर सकता है, लेकिन इस सर्त पर कि वह हिंसा को अपनी राह बनाये। एक मतवाद को पकड़े एक नेता को रखे और एक-एक अविनायकवाद का संकल्प उठाये। उस रास्ते नहीं चलना है तो बड़ी बहुता से छोटी बहुता को मिटाने की बात नहीं करना है।

जो व्यापि आज के दिन भारत देश को बरबाद कर रही है, उसे सम्प्रदायवाद, जातिवाद और भाषावाद नाम देकर राष्ट्रवाद की मुर्त से दूर नहीं किया जा सकता है। वह व्यापि मूल की है और मूल्य की अगति से ही दूर हो सकती है। इसके लिए सक्या समूह, मधुशाय और संघटन स हटाकर जिन्दा को व्यक्ति चरित्र में गुन में उनकी दायित्व भावना में प्रतिष्ठित करना होगा। अधिकार के ऊपर कर्तव्य को माना होगा। हाकिम से अधिक सेवक को मानना पड़ेगा और हमारा बड़े से-बड़ा आदमी बड़ हीमा जो अपने लिए कम-से-कम रहे और जाहेना।

स्पष्ट है कि राष्ट्र के अन्तर्वर्तमान का वह आदर्श कौरी समृद्धि के आदर्श के विरुद्ध है।

२५४ क्या कारण है कि लघुबुद्धि का लवय जो बुराईपर और कठिनाईपर भारत में फैला कर रहा है उन्हीं को उसने कल, जपनी या जपरीका में नहीं पैदा किया? के

बेस बड़ी तेजी से औद्योगिक प्रगति करते जाते हैं और संगठित हैं। उनमें एक राष्ट्रीय चरित्र है जिसका अभाव यहाँ कहम-बहम पर अनुभव होता है। जो चीज एक के लिए अमृत बनी है वही दूसरे के लिए विष बन गयी क्योंकि प्रगीत होती है ?

**समृद्धि पश्चिम के लिए अमृत नहीं बनी**

—उनके लिए राष्ट्र-समृद्धि का आदर्श अमृत बना है, ऐसा मानने की भूल या जल्दी जाय न करें। उन समुदाय देशों को एक-पर-एक होनेवाले की विद्व-युद्धों में क्यों फँकना पड़ा ? मूल में उनके क्या यह राष्ट्रवादी हुंकार न थी ? वे देश हमसे दूर हैं। न असवारों के जरिये और न विमलपिपी के जरिये हम उन्हें देखने के जाही हैं। स्वयं सदा अपने से दूर रहता है। इसलिए आसन है कि हम अपने सपनों का वहाँ बिठा दें। लेकिन सब मानिये कि वहाँ पैर नहीं है। अगर है यहाँ से अपेक्षाएँ कुछ वहाँ की अच्छी स्थिति तो इसलिये नहीं कि समृद्धि वहाँ का आदर्श है। बल्कि इसलिये कि समृद्धि वहाँ कुछ इतनी बटित बटमा है कि आदर्श होने की उसके लिए सतनी आवश्यकता नहीं है। ज्ञान-विज्ञान वहाँ तेजी से बढ़ रहा है। वहाँ का विज्ञान या मठा बन की प्रतिस्पर्धा में लिप्त नहीं बीजता है। अबतक वहाँ ऐसे विस्तृत और कार्यकारी अधिक हैं, जिनके दिमाग में समृद्धि से कुछ ऊँचा और उन्नत आदर्श है। जहाँ मात्रा और सीमा तक वे देश हमसे बेहतर हैं, जितने आर्थिक समृद्धि के पार और ऊँचे भी वे देख सकते हैं। भारत की आध्यात्मिक और इन देशों की औद्योगिक कहकर यह न मान लिया जाय कि राष्ट्र-नीति के लीर पर भारत में कम बच-दास्य है। असल में बात यह है कि उन देशों में अर्थ-विपुलता के आधार पर अधिक अर्थ-मुक्तता दिखाई देती है, जब कि हमारे यहाँ घोर अर्थ-शमना है। व्यवहार में अर्थ-सम्पन्नता की रास्ता एक बात है। दान और नीति के केन्द्र में उनका रत्न सेना हुनरी बात है। भारत की राजनीतिक दृष्टि आर्थिक सम्पन्नता के लक्ष्य से एकदम भ्रम और डँक गयी बीजती है। वह शास्त्र धायर उन देशों की नहीं है। इसीसे यह सम्भव बना है कि समुदाय और वग वहाँ अपनी-अपनी अस्मिता को लेकर इनने आपसी और उग्रता नहीं करते हैं।

सोचा कि अथवा किसके के कोप थे हैं। एव वह समय था जब दिल्ली राज बानी भी लेकिन भारत का हृदय-तीर्थ सेवाग्राम था। दिल्ली के सेक्टरिएट से क्याया राजक सेवाग्राम की कुटिया पर बीसा करती थी। तब भारत में जीवन के प्रकर्ष और उत्कर्ष का अनुभव होता था। प्रतीत होता था कि मृत्यु सही बुरी पर टिके हैं। सब जगता राजा से ही नहीं भी बल्कि मातृ विषय से थी। अब सब पलट गया है और दिल्ली से बाहर ग्रामीण भारत में सुना सभाटा अनुभव होता है। कुटी मिट रही है और मजिस्-बर-मजिस् मकान विस्मयी में बड़े होते जा रहे हैं। मन्त्री सहर अब भी पहनता है, लेकिन विषय उसका रेशमी-मलमली से आये आसानी है। पहना प्रसन्न मृत्यु का है और सही मृत्यु की प्रतिष्ठा के लिए निश्चय ही ऊपर से चुक करना होगा।

### ग्राम-प्रधान संस्कृति

इसके बाद प्रसन्न कर्म और निर्माण का आवेग। इसका आरम्भ घरती से होमा बर्तित् ग्रामीण और ग्राम-स्वावलम्बन के कार्यक्रम से। बस्व-स्वावलम्बन और सहयोगी वृत्ति के आधार पर टिके इतर स्वावलम्बन से ऊपर से देखने पर, जातिवाद भाषा एव प्राप्तवाद आदि दोषों का सम्बन्ध नहीं बीसता होगा। लेकिन इससे सारे जीवन को एक नागरिकता की भूमिका प्राप्त होगी और जो मुटुबन्धियां घोषण से बुरी सम्प्रदाय के आधार पर पड़ी होती हैं, मिरल और बिखरने लग जायेंगी। केन्द्रित राजधानी नहीं प्रमुख है, नहीं सीमा पर समस्या खड़ी मिलती है। नहीं सदा टकरा बीसती है, जो भाषा आदि के नाम पर यदि कभी-कभी फूट पड़ती है तो निरन्तर जनजन का बातावरण तो बनाये ही रखती है। ग्राम प्रधान पद्धति से सीमा का महत्त्व मिट जायगा और नहीं कोई बिकट प्रसन्न खड़ा न बीसगा। परम्पराएँ सब एक दूसरे में बहेंगी और बहेंगी और इसी प्रकार जाति का समूह स्वयं सुरक्षा की विमता छोड़कर हतरोम्बुन होने में साम देलेंगे और नागरिकता की भूमिका की स्वीकार करेंगे। अल्पमत-बहुमत की बेतना उत्कट नहीं होगी और प्रसन्न मिसे-मुसे दिसाई देंगे।

मैता की ओर से मृत्यु-प्रतिष्ठा और जनता की ओर से उद्यम प्रतिष्ठा इसमें हटकर अल्प राजनीतिक और सगठनात्मक उपाय अपनाते से दोष की जड़ पर प्रहार न होगा बल्कि सब उससे दोष का सिचन होगा ऐसा मुझे लगता है।

### अल्पसंख्यकों की समस्या

२५६ अल्पसंख्यक जिन्हें सदा अल्पसंख्यक ॥ रहता है जो अपनी अल्पसंख्यकता

की और अपने धर्म के निरन्तर खतरे में होने की कुहाई लेकर बहुसंख्यकों की मात्तियाँ देने में ही अपना राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक हित देखते हैं। उन्हें एक स्पष्टी आश्वासन कैसे दिया जा सकता है? मेरी राय में यह आज की हमारी सबसे गम्भीर सामाजिक समस्या है। क्या आपके पास इसका कोई साफ़ सीधा हल है?

### इस्लाम-उनबास का मन्त्र

—अल्पसंख्यकों का प्रश्न सहसा मन में असमयस और उलझन पैदा कर सकता है। व्यक्ति की राजनीति उस समस्या से कभी छुटकारा नहीं पा सकती। उसके पास हमन और निर्वहन का ही उपाय रह जाता है, या अपीयमेट, बुद्धिमत्ता आदि का। इस्लाम और उनबास के मन्त्र से जैसे बियोन्सेली में यह समीप भी मिल जाता है कि वह बहुमत-हित की सिद्धि ही है, जिसके अर्थ अल्पसंख्यकों का हमन होता है। यह इमान और हिता की दृष्टि इतिहास में इस समस्या से निबटने के काम आई रही है। लेकिन इतिहास उस राह उलझन से निबटा नहीं है। अब उसकी क्रमशः हिता के सहारे से उबरना और अहिंसक विधियों का अपने बीच विकास करना है।

### व्यक्ति सर्वाधिक अल्पसंख्यक

बोड़ी देर के लिए समूह का विचार छोड़िये व्यक्ति को लीजिये। वह तो बकैला और अल्पसंख्यक है। वह कौन जीता और अपने लिए सुविधा और विस्तार पेटाता है? हम देखते हैं कि अनेक व्यक्ति बढ़ते और फैलते जाते हैं। दूसरे अनेक कुच्छिन्न और अड़ताले दीखते हैं। व्यक्ति के प्रति सेप का क्या कर्तव्य है, इसीपर सब कुछ निर्भर नहीं रहता बहुत कुछ स्वयं उस व्यक्ति पर भी निर्भर रहता है। अर्थात् यह प्रश्न परस्परता का है। किसी सिद्धान्त का नहीं है।

यही अल्पसंख्यक समूहों के बारे में सब मानना चाहिए। आज की बहुत अल्पसंख्यक वर्ग समुद्र हैं और कमजोर कर रहा है। दूसरा उसी प्रकार का वर्ग अपने को रक्षा हुआ पाता है। ये परिणाम उस सम्बन्ध में से फलित होते हैं जो एक का सेप के साथ बनता है।

### नागरिक-भूमि पर सब समान हों

राजकीय तल पर उत्तम यह है कि सबकी नागरिक भूमिका हो और सब वही समान हो। सबके एक-एक मत हों और बीच में समुदायों के असम विचार करने की आवश्यकता न हो। उस देश या परिस्थिति में जहाँ नागरिक अधिकतम विषम नहीं

है, रहन-सहन का स्तर सबका समान है, नागरिकता का सूत्र आसानी से व्यवहार्य बन जाता है। अल्पसंख्यकों का प्रश्न उठता नहीं है जहाँ समाज में स्तरों की विषमता है और इसलिए किसी वर्ग के लिए विशेष विचार उचित मान पड़ता है।

### विशेषाधिकार की नीति गलत

भारत में एक वर्ग है अनुसूचित वर्ग और दूसरा है पिछड़ी जातियों का वर्ग। इन दोनों वर्गों का विशेष ध्यान इसलिए आवश्यक होता रहा है कि वे अपेक्षाकृत हीन और दलित हैं। बहुसंख्यक लोगों की मानवीय भावना का भी यह सूचक है कि अपने पिछड़े भाइयों को अतिरिक्त सहाय दिया गया। इनके अतिरिक्त दूसरे वर्ग हैं, जिनका आचार धर्म है। मुस्लिम और पारसी उस प्रकार भिन्न और हीन स्तर के वर्ग नहीं हैं। पारसी तो अधिक सम्पन्न हैं। अन्तर वर्ग का है। पूजा विधि और धर्म विधि की हर प्रकार की स्वतन्त्रता और मुनिबा देम के बाव राज्य के लिए यदि यह आवश्यक होता है कि उनकी संसद् चार-सभा या छेबाओं में अल्प प्रतिनिधित्व भी दे तो उस अवस्था को अस्वस्थ अनुभव और गंभीरी मानना चाहिए। समुदाय दूसरे भाषाओं पर भी बन सकते हैं। जातिवाद तो नास्ती-बर्धन की बुनियाद ही बन गया था। लेकिन इन सब भाषाओं पर विशेषाधिकार का दावा हो तो नागरिकता लुप्त हो जाती है। पारस्परिक व्यवहार का क्रम सहन नहीं रहता और वैधानिक बलक समाज में एक दुराव और तनाव पैदा किने रहता है। अर्थात् अल्प-बहुमत का प्रश्न अस्वस्थ और दुःखित हुआ करता है।

### बहुसंख्यक अल्प-संख्यकों का ध्यान रखें

स्वस्थ समाज में बहुसंख्यक वर्ग अनायास ही अल्पसंख्यकों का ध्यान रखेगा। अर्थात् अल्पसंख्यक वर्गों की ओर से विशेषाधिकार माँगने के बजाय त्यागने का प्रयत्न होता रहना चाहिए। अगर इन माँग में आप्रह विपद् की ध्वनि आती है तो बहुसंख्यक में उसके प्रति अविश्वास और परावापन पैदा होने लगता है। हममें उसीके स्वार्थ-हित की भाँति है। आधिप तो बहुसंख्यकों के साथ रहता है। हिन्दू-मिस्रकर जितना रत्न जायगा उतनी ही अल्पसंख्यकों की बेहतरी और स्वार्थरक्षा है। एक व्यक्ति अनस्य के बीच में जिन नीति ने जीता और बढ़ता है, वही नीति अल्पसंख्यक समुदाय के लिए समीचीन है। व्यक्ति के विशेषाधिकार कोई नहीं सीधना। नाचन की आवश्यकता भी नहीं। स्पष्ट है कि अस्वस्थ को, अल्प को दान को विभाज देना प्राण हानी है। इसकी किसी विशेषाधिकार से निमुक्त करने की आवश्यकता

संयुक्त नहीं होती। समाज का अन्तर्गम स्वास्थ्य अपने आप उपभुक्त व्यवस्था कर देता है। ऐसे ही किसी अल्पसंख्यक वर्ग के हितों की कानून द्वारा सुरक्षा की आवश्यकता नहीं होगी चाहिए। सामान्य कानून नागरिक की जो सुरक्षा देता है वह पर्याप्त होती चाहिए। ऐसा जब और यदि हो सकेगा तो अल्पसंख्यक का प्रश्न उनी नहीं रहेगा जैन समुद्र में बूद का प्रश्न नहीं रहता है।

### सामाजिक सम्बन्ध स्पर्धात्मक न रहें

राजनीति जब तक राजाओं के द्वारा चरती है, तब तक मार्गो अल्पमत के प्रश्न को रक्षा करने में निहित स्वार्थ बना रहता है। आज यह स्वीकार करना चाहिए कि राजनीति में राज का जोर है, नीति का विस्तार भी भार नहीं है। राज का जोर उधोउधर कम होगा। कारण जीवन के विकास के साथ प्रकट होता जा रहा है कि राज्य अधिकार कम और कर्तव्य अधिक है। अब ठाटबाट का परिमण्डल शासक के आस-पास से बट रहा है और शायित्व का आरोप बढ़ता जा रहा है। इस तरह राजनीति कमरा राजकीय कम होती जायेगी और उसे अधिकारित नैतिक बनते जाना होगा। यदि नैतिक मुख्य समाज और राज्य के नाद-काज में चलन में आ निकलेंगे तो उसीके साथ अल्पसंख्यक का प्रश्न विहीन होना चायेगा। अन्तर हर दो आशयों में है। लेकिन उन अन्तर के कारण हमेशा परस्पर दर में कानून की शान हो नहीं खोजनी पड़ती बल्कि वह अन्तर मीनी को तरस और चार्यक करता है। सामाजिक सम्बन्ध बिहने स्पर्धात्मक होते जतना ही मनुष्य मनुष्य का आशेट बनेगा और पारस्परिक लोभ अधिकार और संकट से छाया रहेगा। लेकिन जब स्पर्धा को बगहू नहयोग और सहजीवन का भाव चरम होगा तो विभिन्नता और विविधता आनन्द और विनोद की वस्तु होगी और एक व्यक्ति जैन दूसरे व्यक्ति के लिए, उसी तरह एक समुदाय दूसरे समुदाय के लिए, पुरस्कार होगा। उनमें लड़ने का नहीं बल्कि सहजता और सान्त्वना का कारण बीसेगा। मानना होगा कि आज भारत की परिस्थिति अनेक दृष्टिगतों में घिरी और घुटी है। इसलिए नैतिक मान बलत लिखाई नहीं देते। मनो में पलाय और तनाव है। इसका उत्तर राजनीति के पास इसलिए नहीं है कि वही राज्य की प्रमाणता है। उन्धार मानव-नीति के पास है, क्योंकि वही प्रमाण मानव है। मानव की कदम में रत्नों और दूसरे विधेयों की अपनी प्रमाणता न रहे तो हम अमापास नागरिक भूमिका प्राप्त हो जाती है और वर्गीय और वर्णाय या साम्प्रदायिक अहंकार बिहने हुए बजर जाने लगते हैं। मुक्त हम नहीं बीनता है।

## इस समस्या की जड़

२५७. अस्पृश्यताओं की समस्या का कोई भी हल बर्ध-निरपेक्षता और समाजवाद की नीति क्यों प्रस्तुत नहीं कर सकी, इस समस्या की जड़ ऐतिहासिक दृष्टि से आप कहाँ देखते हैं? पाकीज़ी और कांग्रेस की अपीनजिस्ट की नीति में या ब्रिटिश-सरकार की 'डिवाइड एण्ड रूल' की कूटनीति में या उससे भी परे नृसिन्धु-युग में ?

## विशेष सह-अस्तित्व में कृप

—भारतीय परम्परा में अनेकानेक विशेष सह-अस्तित्व में समझे और मिटते रहे हैं। भारत राजनीतिक दृष्टि से कभी एक और संगठित नहीं रहा। अनेकानेक राजा और नवाब एक ही साथ यहाँ राज करते और आपस में लड़ते-झगड़ते रहे, लेकिन उससे पहले तक पर सामाजिक जीवन कभी बहुत अधिक उद्दिग्न नहीं हुआ। उस तक पर सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया निरन्तर क्रियाशील रही।

## राष्ट्र राज्य की नयी कल्पना का उदय

उस इतिहास और परम्परा पर अंग्रेजी कम्पनी का राज्य आया। यह एक नयी चीज थी। राज्य के केन्द्र में राजा का व्यक्तित्व यहाँ उठना नहीं था जितना कि उन्नत था। राज्य उस परिचय से आयी व्यवस्था में एक बड़ा संगठन था। कहना चाहिए कि अंग्रेज के आगमन से भारत को एक पृथक राजनीतिक राष्ट्रवाद की पहचान मिली। अब तक भारत एक सांस्कृतिक भाव-संघ था। गीर्वाणिक सीमाओं के संकटों योजन इधर उधर हटने से उस भारतीय अलक्ष्यता पर कोई सति नहीं आती थी। किसी राजनीतिक सविधान या शासन में उस अलक्ष्यता को स्वरूप देने की आवश्यकता न थी। भारतीयत्व को निर्भर या राज्य-निर्भर था ही नहीं। अंग्रेज के आने के साथ राष्ट्र और राज्य की एक नयी कल्पना भारत को प्राप्त हुई। नयी राजनीति का उदय हुआ। उस राजनीति में 'बाने और राज्य करो' की नीति फलित हुई। यह पौ राजाओं की भी नीति रही होगी लेकिन समाज-नीति के तौर पर उसका व्यापक प्रयोग और उपयोग न था। वहाँ भाराएँ और बम मनवाने आरम्भ में मुक्त-मिल जात रहे थे। राजकारण में मले ही पहले के मुठभेड़ में आमने सामने आये हों लेकिन दाने-सर्प- उनमें हैल-मिल बढ़ता और एक सामाजिकता पदगती जाती थी। अंग्रेज के द्वारा नौ राजनीति का नया स्वरूप आया उसने हम एकीकरण में बाधा डाली। तब राज्य में व्यक्तिगत या परिवारों का नहीं बल्कि जाति या मन्त्रियों का उपयोग होने लगा। पृथक प्रतिनिधित्व और चुनाव की धारणा पैदा हुई। मूल द्धित्व में गव प्रकार के मतधारों की समाने

की समता थी। कारण, हिन्दू एक संस्कृति थी मनुवाद न था। अंग्रेज न माता तो हिन्दुत्व और इस्लाम का क्या संश्लेष बटित होता कहना मुश्किल है। लेकिन इतना निश्चित है कि 'टू-नशन' वाली बात न पैदा हुई होती। वहाँ से हमने इस अस्पृश्यतावाले प्रश्न को विरासत में पाया है।

### धार्मिकता और सेक्युलरिज्म

कांग्रेस और गांधी की जिस परिस्थिति से मोर्चा लेना पड़ा उसमें यह प्रश्न मौजूद था। मजदूर-अन्दाज खड़े नहीं किया जा सकता था। लेकिन इस प्रश्न की और गांधी का दल जब कि धार्मिक और मानवीय था तब कांग्रेस का राजनीतिक और नीतिक था। कांग्रेस गांधी के साथ थी पर गांधी दूर तक। राजनीतिक काम वहाँ तक गांधीजी की नीति और शक्ति से मिछता था कांग्रेस को मान्य था। आगे चलने की वृत्ति कांग्रेस के पास न थी। साम्प्रदायिकता का इलाज गांधी के पास धार्मिकता था। गांधी का मान्य था कि हिन्दू सच्चा हिन्दू बने मुसलमान सच्चा मुसलमान बने। स्पष्ट था कि अपनी-अपनी जगह सच्चा बनने की कोशिश में हिन्दू और मुसलमान सच्चा इन्सान बन निकलेगा और फिर समस्या समाप्त हो जायेगी। लेकिन स्वराज्य से पहले जी नेहरू और कांग्रेस के मन में धार्मिकता के लिए जगह न थी और उसे बर्न-निरपेक्षता (सेक्युलरिज्म) में स साम्प्रदायिकता (कम्युनिज्म) का प्राण जाता भाग्य हीना था। और, बँटखाना हुआ। कांग्रेस ने बँटवारे को और भारत के राज्य को स्वीकार किया। गांधीजी ने दोनों ओर से मुँह फेरकर नीमाबाकी की तरफ खड़ा किया वहाँ साम्प्रदायिकता की ज्वाला मयंक नर-बलि के चुकी थी। यह सब इतिहास की और जानी-बूझी बात है। लेकिन वह सेक्युलरिज्म अब भी राज्य की सीमा पर हवा में है और बाधा की जाती है कि वह कम्युनिज्म की नेतृत्व-नाश कर देगा। कांग्रेस की मुहिम का पहला नाश है 'साम्प्रदायवाद का नाश हो। धार्य उसमें कानून की भी मदद की राहें सोची जा रही हैं। स्वीकार करना चाहिए कि मुझे उसमें से साम्प्रदायिकता के समन की कोई सम्भावना नहीं बीजती है। बर्न-निरपेक्षता नागरिक-भूमि पर अच्छी ही बीज है, वहाँ सब बर्न समान हो जाते हैं। लेकिन हवा की भूमि पर समान आदर और समान संवेदा में बहुत बड़ा अंतर पड़ जाता है। धार्मिक वृत्ति में सर्व-बर्न-समादर है। लौकिक वृत्ति में उस सर्व-बर्न-समादर नहूँ। यह सर्व-बर्न-समादरवाली लौकिक वृत्ति साम्प्रदाय-वाद की बुला नहीं सकती, बल्कि उसे छोड़ा और खड़ा कर सकती। साम्प्रदाय और बर्न के समादर से साम्प्रदाय और बर्न से होनेवाले अन्विष्ट को बाटा जा सकता है यह निरी आशा और कल्पना



है। यह सोचा महकार है। उस प्रकार के नारे या चीप को हाथ में लेकर चलने से होमा केवल यह कि भारत की धर्मप्राप्तता के बल से कांग्रेस बिहीन बनेगी। भारत की काया में सबसे प्रबल प्रेरणा-शक्ति जो सनातन काल से पड़ी हुई है, वह है यही धर्म-भावना। इससे अलग और बिच्छिन्न होकर जो राजनीति चलेगी उसका कोई भविष्य नहीं है। राज्य-शक्ति उसके हाथ में जा भी सकती है, लेकिन लोक-शक्ति का अन्तरंग बल उसे न होगा और एक दिन उसे गिरना होगा। कारण वह नीति से हीन राजनीति होगी और उस बोट-सगठन के आचार पर वह अपनी विजय पाहेगी जिसे नैतिकता का समर्पण नहीं है। उस प्रकार की दुहाई और वैसे प्रयत्न से सम्प्रदाय उल्टे पनपेंगे। इधर मुस्लिम भीय उपजेगी और पनपेंगी उधर जनसंघ और अकासी-दल ताकत पावेंगे। अवज्ञा और उपेक्षा से कोई अस्मिता कभी टूटी नहीं है बल्कि उसे समर्पण मिला है। महकार में कभी नम्रता और झुबुता आयेगी तो सामने के आघर-सत्कार की निष्कारिता में से आयेगी कभी किसी क्षीणता में से नहीं आ सकती। जो यह कहने की इच्छा रखता है कि वह हिन्दू हैं न मुसलमान और यह कहकर मानी पविष्ट बनता है वह हिन्दू और मुसलमान दोनों से दूर पड़ता है दोनों की निकट जाने में असमर्थ बनता है। पहले आचरणार्थ में सही हम दूसरे के मन को पा और जीत सकते हैं।

धर्मभाव अपने अन्तिम अर्थ में सृष्टिभाव के प्रति निरपेक्ष आचरण है। यही माँबी-नीति और माँबी प्रवृत्ति की वाप आती है। हमारा राजकारण उस पद्धति से चला होता तो सम्भव था कि कायदे-आजम विषय से मुफ्ती किफायतुल्ला का अधिक महत्व बन जाता और बीच के बजाय कांग्रेस की जमीनतुल-उज्जमा से अपनी सन्निध नहीं चलाने का अवसर आता। तब प्रश्न का बराबर बदला हुआ होता और आज ऐसी विकट स्थिति न होती। नियमित नमाज अथवा सही मुसलमान की बसीटी होती जो कि हज़ी चाहिए भी तो कायदे-आजम उस पर बहुत सही नहीं उतर सकते थे। धर्म के स्तर तक पहुँचते तो शक्ति और सक्रिय के बल पर चलनेवाली नीति आप ही फिर आती। श्री मेहरू के पास यह बहुरा दशन नहीं है इसलिए माँकीभाणा को काटने और विद्यालया लाने का उपाय भी उनके पास नहीं रह जाता। निकुमरियम के नाम पर इसीमे चौ<sup>०</sup> धर्मोत्पीयता प्राप्त होती नहीं दीगडी बल्कि लकीर्ण-स्वायत्ता का ही बोन्वाभा दिगवाई जाता है। हार्दिक धर्म भाव में भी विमृग हाँकर चलने में मुझे नहीं समझता साम्प्रदायिकता के धमन की दिशा में कोई दृष्ट-भ्रम प्राप्त किया जा सकता है। धर्म आज संघटित संस्था-सम्प्रदाय का एक बन उठा है। आज धर्म से यदि साधिका भ्रम पैदा होता हो तो हम 'अध्यात्म' कह सकते हैं। अध्यात्म अर्थात् दूमरी में और मन्में बड़ी आस्था पैगना।

## विजेद, विग्रह, अनुयासन हीनता

इस तरह अध्यात्म द्वारा सबके प्रति एक गहरा आदर और समत्व का भाव पैदा होता है। वह अध्यात्म लौकिक प्रयोजनवाद पर नहीं टिकता है और उसमें से स्वार्थ-ज्ञान की वसह स्वार्थ-त्याग निकलता है। उस अध्यात्म के स्पर्श से राजपद का महत्व खीन हो जाता है और लोक-साम्राज्य के प्रति आस्था बढ़ती है। सेस्युलरिज्म की राजनीति इस स्पर्श से कोरी रहती है। वहीं रहा तो इससे सम्प्राप की ही नहीं बल्कि गुटवाद और व्यक्तिवाद की भी बल पहुँचेगा जो साम्य कील भी रहा है।

२५८. बंधनों और सच्चे भोज और समाज में क्या नीति नियम परम्परा और संस्कृति का ही अन्तर नहीं है? हमारे आदर्श के समाज में जो एक अनुयासन-हीनता विभूजकन और परम्पराओं को भग करने को बेवतों-सो बीज पड़ती है उसका क्या मूल कारण आप मानते हैं?

मेरे भारणात्मक

—यह मेरे भारणात्मक है। हम अपने को सम्य मानते हैं। बल में खूनेबाली आदिम जातियों को धावक असम्य। पर जेक आधुनिक ललक है जो सम्यता को कुजिम और हीन कहते हैं और बन्ध जीवन-पद्धति को बहुजिम अत उत्तम बतकाते हैं। इसकिए कैसके के भावसे बलना जोजिम का काम है। अहकार का उकाजा होता है कि आदमी अपने को बड़कर समस बूझरे को बटिया माने। हमारे निर्णय में यह अहकार का बीज हो तो किसको पता। जत व्यक्तिमा या जातियों के सुलनात्मक निर्णय से मैं बर्चूया। किसी पटीसा के फल में प्राप्त जका के निर्धारण में नहीं उतर्चूया।

सम्बद्धता और मर्यादा

लेकिन यह ठीक है कि नीज और समाज में कर्क होता है। नीज में हर-एक हर बूझरे से मानो रसक बाता हुआ चलता है। यह बल्लग है, वह जल्ला है और बीनो के बीच सम्बन्ध का कोई मूल या मर्यादा नहीं है। समाज में वह सम्बद्धता और मर्यादा हुआ करती है। समाज का प्रत्येक बटक नापरिख है। पहले वह महान्य है। नीज में आदमी कोई नागा (विलोयिम) नहीं अनुभव करता। वहाँ वह मानो जनेना होता है। सब कर्तव्य में और सब अधिकार में मुक्त मानो वह आत्मी न हो बक हो कप हो और कुल भी हो।

व्यक्तिवाद और समाजवाद की उत्पत्ति

यह सम्बद्धता और मर्यादा का कर्तव्य और दायित्व का तारतम्य सामाजिकता

का निर्माण करता है। यह समाज का कोई बाव नहीं हो जाता मनुष्य की अन्तर्मूर्त प्रकृति में से यह सामाजिकता प्रतिक्रिया होती जाती है। यदि मनुष्य का प्रकृत ओर समीचीन विकास हो तो व्यक्ति पारिवारिक और सामाजिक के अतिरिक्त कुछ हो नहीं सकेगा। असामाजिक तत्त्व उसमें पुष्ट न होंगे। लेकिन हुआ यह कि मनुष्य में बुद्धि का विकास पिछले दो-ढाई सन्धियों में तीव्रता से उभरा। विज्ञान उभरा और उसके परिणाम में मशीनी उद्योग आरम्भ हुए। इस औद्योगिक क्रांति में सं बनी आबादियाँ और बेबीनाभ पैदा हुए। ठीक उसी समय एक नयी आव-  
 द्यकता और नयी कोशिश हुई, जिसका नाम हुआ समाजवाद। समाज और उसके सामूहिक हित की एक अलग धारणा बन आयी और मान्य हुआ कि व्यक्ति और समाज दो हैं। आप अचरज में न पड़े जब मैं यह कहता हूँ कि समाजवाद के साथ ही व्यक्तिवाद उत्पन्न हुआ। सच्ची इतने अनिवार्य बाव से पानी में छूटी है कि अपने से अलग पानी के हित का विचार वह नहीं कर सकती। उसी तरह मानव व्यक्ति सोच लेने तक के लिए समाज पर निर्भर करता है। सम्बन्धता के बिना वह हो नहीं सकता यह नहीं समझता। वह पशु नहीं है मनुष्य है, इसीमें यह समाया है। लेकिन जब समाज एक स्वतन्त्र बारा और स्वतन्त्र अस्तित्व बन गया तो मनुष्य को अपने पुराने व्यक्तित्व का भाव हो जाता। पहले एक नैतिकता काम करती थी जिसका एक सिरा स्वयं व्यक्ति अपने में अनुभव करता था। नैतिकता की जगह अब एक समाजवादिता का मुख्य जाता जिसका साथ मानो व्यक्ति से स्वतन्त्र था उसमें अन्तर्मूर्त न था। इस तरह व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध उतना सम्पूर्ण न रह गया वह मानसिक बन गया। मानो वह जीवन-तत्कारिता का विषय न हो, नियम और नियन्त्रण का विषय हो। मैं मानता हूँ कि व्याधि की जड़ यहाँ है। धर्म-नीति का स्थान समाजवाद ने लिया। धर्म तो समाज-धर्म बटकर समाजवाद तक उतर आया। व्यक्तिवाद का आरम्भ इस तरह समाजवादी विचार के उदय के साथ ही हुआ। पश्चिम में आर्ट और आर्टिस्टिक का नाम सं जो पण्य चलता है वह समाजवादी विचार की प्रतिक्रिया न अनिरिक्त क्या है?

### सामाजिक और स्वगत कर्तव्य

अनुमान-हीना 'विश्ववक्त्र' और 'परम्परा मंत्र' आदि नियेक शब्द हैं और दोर-दैन जान पड़ते हैं। लेकिन जहाँ न ऐसी प्रवृत्ति जाती है वहाँ दोर का भाव होता ही नहीं बल्कि वहाँ एक औचित्य और आत्म-समर्पण का भाव दिखाई देता है। अनुमान मंत्र को वे लोग आत्म-निर्णय कह सकते हैं। विश्वतत्त्व को

## विशेष, विग्रह, समुदायन-हीनता

स्वायत्तता और परम्परा-भंग को नवनिर्माण की प्रगति मान सकते हैं। अर्थात् आप प्रश्न को सामाजिक हित की ओर से देखते हैं तो वे स्वाधिकार की ओर से। स्पष्ट है कि इस तरह कर्तव्यों की बुराई बरखा उत्पन्न हो जाती है। एक सामाजिक कर्तव्य दूसरा स्वगत कर्तव्य। सामाजिक कर्तव्य का निर्णय व्यक्ति में नहीं या सकता क्योंकि उस पर अधिकार बेल्फेयर स्टेट या समाज-दासक का है। जहाँ से नियन्त्रण और नियमन चलता है वही ठका है कि समाज-कल्याण का फैसला करे और उस पर पहुँच रखे। अर्थात् सामाजिक हित एक बड़े तरह बन जाता है जो व्यक्ति मानव से स्वतन्त्र है या उस पर दबाव लाता है। इस तरह व्यक्ति की अस्मिता को उल्टे कोट निकली बुराई निकली है और शासन बंधन समाज के प्रति समर्पित होने के बजाय वह अन्याय शासन-मुक्त और समाज-मुक्त होना चाहने लगता है। जिसको वायपसीय या समाजवादी विचार कहें उसकी वही सम्मति है। उससे अनेक का नाश हो जाता है। व्यक्ति और समाज में भेद की सृष्टि होती है। यह हीत बढ़ते-बढ़ते समाज और फिर विग्रह में फटने और फूटन लगता है। विग्रहना की स्थिति यह बनती है कि शासन की ओर से जो निन्दनीय है, अधिक या विचारों या प्रजाजन की ओर से वही अभिमानशील बन जाता है। समाज और व्यक्ति को एक ही सत्यता के अन्तर्गत है समाजवादी विचार और प्रचार से मानो उसके बीच का सूत्र छिन्न-भिन्न हो जाता है और व दो अलग-अलग सत्य जैसे जान पड़ने लगता है। सब दृष्टियों और कर्तव्यों में ही ईश पड़ जाता है और विग्रह मानो स्थायीभाव क्या संभारी-भाव जैसा ही हो जाता है।

## नीति के क्षेत्र में अग्रत हो

उपाय यह है कि दर्शन और कर्तव्य की एक धारणा का निर्माण हो और नीति के क्षेत्र में ईश न रहे जस्य अर्थात् प्रतिष्ठित हो जाय। समाज में राजनीति और मानव-नीति जैसी दो नीतियाँ न रहे ज्यों और राजनीति इन्हें सबमान्य रूप से अभिहित बन जाय। जब तो चुनाव-नैर्घर्ष पारस्परिक बराबरी और काटा-काटी ही मानो विनोद और पोरब की चीजें बन गयी हैं। इस पद्धति से ऊँचे उठ रहे हैं। परिणामतः मूर्खों के सम्मुख में भारी भास्ति समाज में छा जाती है। नैतिक का अवयुग्मन होता है और राजनैतिक गुणवत्ती में महत्त्व पड़ जाता है। आप समाज में जिस संकट की ओर ध्यान दिया रहे है, उसके मूल में मैं यह कारण देखा हूँ। यानी सबराज्य सृष्टि से तीव्रकर समाज की संभा को हमने स्वतन्त्र मता से ही है और उसकी बेटी पर राज्य की देवता के रूप में बिठाकर मानो ईश्वर का

बहिष्कार कर दिया है। ईस्वर घटघट-आपी होने से व्यक्ति के भी अन्तर सत्यता प्राप्त कर सकता और नैतिक मान जगा सकता था जब कि राज्य सेक्टेरिएट से बाहर नहीं जा सकता और व्यक्ति को घेरित करने के स्थान पर उसे नियन्त्रण ही दे सकता है।

इसीका दूरगामी परिणाम है कि सत्ता सुबटित हो रही है और मानवता विघटित होती जाती है।

### व्यक्ति में शैतान

२५९. नियम और कानून का व्यक्ति के जीवन में आप क्या स्थान निश्चित करते हैं? नियमों कानूनों की शासकता क्या यह नहीं सिद्ध करती कि व्यक्ति-मानस में कुछ है, जो ईश्वर को संता रचता है? जब आप व्यक्ति को समाज से बढ़कर महसूस करना चाहते हैं तब क्या इस ईश्वर का स्थान आप रचते हैं? व्यक्ति के हृदय में छिपा यही शैतान क्या समाज के सभी उत्पातों के लिए जिम्मेदार नहीं है? और आज हमारे समाज में इसीको कुली कुली मिलावटी है। क्या आप इस स्थिति से सहमत हैं?

### व्यक्ति में इश्वर

—मही में ईश्वर को नहीं मानना केवल ईश्वर को मानता हूँ। ईश्वर के किसी बिभाव की ही आप ईश्वर का नाम देना चाहें तो शायद मैं सहमत हो जाऊँ। लेकिन अगर ईश्वर है तो मूल में ईश्वर कहाँ से हो सकता है? इसलिए ईश्वर का मुँह नाम असत्य है।

### व्यवस्था विचार, नतिक-विचार

लेकिन व्यवहार में यही मानकर चलिये कि ईश्वर है। आपा में यह कहना महत्ता निरर्थक नहीं है। जान पड़ता है कि असत्य की भी सत्ता है। व्यक्ति में ईश्वर विद्यमान रहता है। बीता न होता तो उत्तम की आवश्यकता न थी। न पुरुषार्थ में ही तब कुछ अर्थ रह जाता। लेकिन समाज मनु का प्रतीक है, व्यक्ति जगत् का यह मानना एकलम मूलभूत है। समाज पर व्यक्ति की प्रभावशाली बाह्यता है यह वस्तुता मानने नहीं मानी? नहीं प्रभावशाली और योग्यता का प्रश्न ही नहीं पड़ता। व्यक्ति प्रणय है समाज परीक्षा। उनमें तुलना और सरलता का प्रश्न नहीं है। समाज सम्बन्धता का नाम है। जिसमें परस्पर सम्बन्ध होने से समाज बनता है व घटत व्यक्ति कहलाते हैं। अर्थात् समाज प्रतिबिम्ब है, उस तथ्यता

का, जो उन सम्बन्ध-सूत्रों में प्रवाहित है। समाज षट्कोणों से स्वतन्त्र और निभ हा ही नहीं सकता। समाज की ओर से व्यक्ति पर जो नियम और नियन्त्रण होते हैं, वे इस कोश या उस संहिता में अंकित हो सकते हैं, लेकिन बमरस में-वे दोनों तरह से व्यक्तिपर्य्य द्वारा आते हैं। अर्थात् करता है वह भी व्यक्ति है, करता है वह भी व्यक्ति होता है। जब हम समाज और व्यक्ति को दो मानकर विचार करने लग जाते हैं, तो जब और अपराधी दो अलग-अलग लोगों में पड़ जाते हैं। अपराधी व्यक्ति रह जाता है और जब मसी समाज हो जाता है। जब को हम ऊँची कुर्सी और मोटी तनकबाह देते हैं अपराधी ठहराकर दूसरे को बेस की कोठरी में डालते हैं। अपराधी व्यक्ति को जब की तनकबाह के वैसे निकले तो वह अपराधी होता नहीं और जब की अपराधी की काबार परिस्थिति मिच्छी तो वह उसी तरह ऊँचा और शाइस्ता बना रहता कि नहीं यह विचार सहस्र मन में नहीं उठता है। इसलिए कहते हैं कि बमरस के ग्याम में स्थिति नहीं देखी जाती मन देखा जाता है। मैं भी मानता हूँ कि व्यवस्था-विचार के बाये एक वैदिक विचार की आवश्यकता रहा करती है। व्यवस्था-विचार में से राजनीति जन्म लेती है और वहाँ कुछ एक आदि उचित बने रहते हैं। लेकिन यदि समाज को संस्कार मिलना ही मानव-संस्कृति का विकास होना ही तो उसके लिए मूठगामी विचार आवश्यक और अधिक उपयोगी होता है।

नियमन पर का नहीं, स्व का हो

नियमन और नियन्त्रण समाप्त नहीं हो सकता और नहीं होना चाहिए। कारण वह समाज और व्यक्ति में अन्तर्भूत है। किन्तु जीवन की नियन्त्रित और परामुक्त करने का आशय उच्चतम आशय अहंता ही ज्ञानमा अगर हम जीवन और मन बानों की चेधिया समाज में देना कर दें और मान लें कि दुर्बलता और सज्जनता अशीत हम करती हैं। अतः मैं मयबान् और जीवन दोनों ही इन्फ़ेक्ट के अन्तर है। इसलिए वह नियमन और नियन्त्रण काम देगा जो उत्तरोत्तर आत्म-नियन्त्रण का रूप लेता जाता चाहता है। राज-सज्ज फिर रहे और प्रजा-तन्त्र उनका स्थान लेते जा रहे हैं इसीमें पवित्र है कि अन्ततः ग्याम और नियन्त्रण वह काम देगा जो राजा का नहीं, प्रजा का है। आशय किसी पर का नहीं अपने स्व का है।

मतवादी अहंकार

व्यक्ति के भीतर का जेहन-गन्ध स्वयं इस प्रकार का अङ्गुरा रहता है। विवेक के अङ्गुर से कोई व्यक्ति मुक्त नहीं। इसलिए यह निश्चित मान लेना चाहिए, और

मनोविज्ञान इसे प्रमाणित करता है कि रीतान बगले में इन्सान को अपने से काफी मगड़ना और बघ्ट उठाला पड़ता है। यदि हम इस मगड़ा के आधार पर धासन को अनुशासन का रूप देने की कोसिस करें, तो फल अधिक ही सस्ता है। इसका अर्थ है कि अन्यासन का आरम्भ स्वयं-धासन से हो। आसक निर्दुष्ट होगा तो निरपय मानिये नियन्त्रण कितने भी बुरा हों, कितनी भी गहरी चौकसी का बन्दोबस्त हो, अनीति और अपराध बढ़ेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि अपने को भय भान् और दूसरे को रीतान मानने की भूक से पहले छुटकारा हो। मसबादी वह कार में ऐसा अक्सर हो जाता करता है कि सत्यता और सम्जनता का हम अपना टेका मान लेते हैं और बुराई और दुर्जनता के आरोप की सब दूसरों पर थोपा करते हैं।

### समान केवल एक मोट

नियन्त्रण आवश्यक है। रीतान को रीतानियत का मीका नहीं मिसना चाहिए। पर कौन तय करे कि रीतान कौन है कौन नहीं। सब है यह कि रीतान फेसा है और सबके भीतर भी है। इसलिए व्यवस्था और राज्य की वह नीति जो शक्ति के जोर से काम करती है अक्सर बहुमत में सत् और असमत में असत् मान लिया जाती है। अमुक व्यवस्था में भौयप्राप्त सम्पन्न-वर्ग को सम्जन और विपन्न-वर्ग को दुर्जन मान लिया जाता है। इस तरह निर्वाचित सम्पन्न-वर्ग की जोर से सामान्य विपन्न-वर्ग के लिए नियन्त्रणों की सृष्टि की जाती है। इस पद्धति से कभी भी रीतान हारेगा और मसबान् की जय होगी ऐसी बुराया नहीं रखनी चाहिए। हमारे सोचने की पद्धति में अक्सर यह दोष रह जाता है। अपराधी के सम्बन्ध में विचार करते समय जैसे हम अपने की समाज का प्रतिनिधि मान लिया करते हैं। ऐसे हम दोनों के बीच स्वरक्षा और प्रगिरक्षा का सम्बन्ध बन जाता है। सहानुभूति का सम्बन्ध नहीं रहता। सब यह कि हम सबको अपने से पूछने की आवश्यकता है कि वह समाज क्या है, जिसके इतनी आशानी से हम मनमाने प्रतिनिधि बन जाया करते और हमारे के दोषों का विचार किया करते हैं। तनिक बिस्सेपय में जायें तो जान पड़ेगा कि उस समाज का अस्तित्व कहीं नहीं है। वह एक मोट है, जिसकी सृष्टि हम नियन्त्रक वर्ग के लोग स्वयं अपने बचाव के लिए कर लिया करते हैं।

### आत्म नियन्त्रण ही इष्ट

यह नहीं कि मैं व्यवस्था रंग चारता हूँ और व्यवस्थापक-विचार के लिए कोई

अवकाश रहने देना नहीं चाहता। यद्यपि हममें एक नहीं कि बहुत दिन गुम होगा जब राज्य और राजनेता अपना काम करने समाप्त हो जायेंगे और मानव समाज सीधे मानव-नीति से अपने को बचाने में समर्थ होगा। बीना दायन और मेसीमुक्त समाज जब भी हमारे माथ में आनेवाला हो, ऐकित उसमें परम एक तक नहीं में शीतान और कामों में रीतानियत है वह तक हर तर्क से असम्भव है कि ऊपर से आनेवाला राज और समाज का नियन्त्रण समाप्त हो सके। बाहर से समाप्त करने का उपाय इतिहास में बराबर होना और किया जाता रहा है। कमिटीयों जिन्हें कहा जाता है उसी प्रकार के प्रयत्नों का माथ है। उनमें हर कमिटी के बाद अविनाशक आया है और नियन्त्रण सत्ता से और बल्लु हुए हैं। अर्थात् बाहर से नियन्त्रणों की समाप्ति न हट है न सम्भव है। हमकी समाप्ति उन्नी ही माथा में सम्भव होती जायगी जिस माथा से उसकी आवश्यकता मिटती जायगी। दूसरे छन्दों में जिस अंश में आत्म-नियन्त्रण बढ़ेगा उन्नी अनुमान में राज्य-नियन्त्रण अस्मत् और कम होया।

### शीतान विवेक से मिटोया

शीतान में संपन्न की शिखर होती है। वह इन्द्रियों और संयोपायों को सन्धिय और मुद्रित कर लेता है। इसमें यह भाव है कि संपन्न के जोर से सभी शीतान को समाप्त नहीं किया जा सकेगा। अथवान् का प्रतिनिधि अस्तित्व में बीडा विवेक है। उससे शीतान उठता और हमेसा मुँह की आगे की सीवार रहता है। उस मुँह के द्वारा ही मैं मानता हूँ शीतान के प्रण से निबटा जा सकता है। हमने संख्या संय संता की और से नियन्त्रण की बहान की बेटाएँ शीतान का काम हमारा नहीं कर सकतीं। बल्कि कहा जायिए कि उस तरह के बेटाएँ स्वयं की ही परास्त और समाप्त कर निकलती हैं।

### कमिटी का मूल मन में

२६०. तब क्या सामाजिक व्यवस्था-युक्त और कमिटीयों का कुछ भाव मन और मनोविज्ञान में आने जायेंगे? यदि यही आपकी माय्यता है तो आधिक और सामाजिक नियन्त्रणों की जो जो सामाजिक कमिटीयों का मूल मानते हैं वे क्या एकदम गलत करते हैं?

### जलधारा और तट

—हैं मैं मानता हूँ कि मूल के जीवन प्राण का वेग है, जो कमिटीयों को सार्पकता देता है। नहीं उस जल से सार्पक है जो जमने रहता है। लेकिन हिमाव हम पिताएँ का किया करते हैं और बीतीर्ष बनते हैं वे उस जल में नहीं तट बनने



हैं। इस तरह तटों का महत्व हो जाता करता है। व्यवस्था की ओर से जीवन प्रश्नों के देखनेवाली विचारधारा तटों पर बहती और तटों का विचार करती है। मैं कहना चाहता हूँ कि यदि जिसधारा में हो तो तट का या तीर्थ का प्रश्न ही उपस्थित न हो।

इसीलिए जो मर्मी और अनुमती बन हो गये हैं वे विद्या की जगिया और ज्ञान की जगान तक पहुँचे हैं। उनका वह अनुपम विस्तार नहीं है, उसमें बहुत सार है। इसीलिए आप देखियेगा कि जो कोय ज्ञान के सम्बन्ध में बहुत जानते हैं, वे कागिकारी नहीं हुमा करते हैं। भाव-सम्पन्न व्यक्ति कोई होता है, वहाँ से ज्ञान का आविर्भाव होता है। मैं इस अनुपम की भाव-सम्पन्न को सबसे मूल्यवान् ऐश्वर्य मानता हूँ। इसके बिना बीबात्मक सारी जानकारी छुड़ी और पोबी हो जाती है। उसमें से कोई सुष्टि नहीं होती केवल बिबाव पैदा होता है।

### मानवीय ज्ञान मुख्य पूँजी

आर्थिक और सामाजिक विषयताएँ ज्ञान के मूल में इस कारण रही कही जा सकती हैं कि वे अनुपम के मन में भाव और विचार की हिलोर पैदा करती हैं। बाकिर ज्ञान में स्फूर्ति बाबाओं के कारण जाती है और सामाजिक एवं आर्थिक विषयताएँ जब ज्ञान के वेग को रोछती और पीछी हैं तो बही ज्ञान उत्सर्ज होती है और उन विषय-बाबाओं की लोड़-लोड़ बाकने के लिए मचल उठती है। मानवीय ज्ञान (हमन-स्फिस्ट) हमारी मुख्य पूँजी है और किसी आर्थिक एवं सामाजिक विचार में उस मूल पूँजी की बात को मोसक कर जाने में जतर ही गतर है। यह वह लक्ष है, जो हिसाब की गणना में नहीं जाता और जिसे 'इन-डिटर्मिनेबिल फैक्टर' कहते हैं। ज्ञानियाँ आगिर इसीलिए हुती हैं न कि राजनेताओं न हिसाब से कही कुछ छूट रह जाता है। हर सरकार अपनी जवस्था भरमर बीकस रमती है। फिर भी ज्ञानियों को परि होना पड़ता है तो इसीलिए कि जीवन-सरव आर्थिक हिसाब में चिर नहीं पाता। इसीलिए उस आर्थिक हिसाब पर प्राथमिक ज्ञान रखने की मैं आपको जमी सलाह नहीं दे सकूँगा।

### युद्ध या शांति मानव-मन में

हिमाव जगोनी होता है जब प्रश्न उस बिन् बाबा को तट देने का जाता है। तट का भावे और तट पर निर्माण क्या किया हो हमरा निर्धारण बहुत मंगत हो जाता है। किन्तु निश्चय मानिये कि बाबनी का काम उस मूल मन के बिना बन नहीं सकता जिसका निर्माण स्वयं बाबनी के हाथ में नहीं है, बकि जो

कात्मप्रभु से उसे प्राप्त होता है। यही बन्धु जीवन में बेग है। इसीलिए कहना होता है कि मनुष्य का अहङ्कृत मोक्ष विचार जीवन-निर्माण की दृष्टि से पर्याप्त सामन-सामग्री नहीं है। उससे आगे बढ़ा और समर्पण की भी आवश्यकता होती है। यथार्थ उसी परम तत्त्व के प्रति जिसमें काल का समस्त इतिहास और बन्धु का समस्त तत्त्व समाया हुआ है। जो मनुष्य को और उसके मन को नहीं जानता है केवल पुस्तकों को जानता है वह कान्ति नहीं ला सकता। आज बीमारी सरी की अस्वाभाविक सत्ता मुनेस्को की इस चीपणा से बनना काम आरम्भ करती है कि मुक्त का अर्थ सामन-अस्तिष्ठत से होता है। और नहीं है जहाँ से शान्ति-निर्माण को आरम्भ करना होता है। इसका आशय यह नहीं कि समाज-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र की रचना में काम खापी मनुष्य की चेष्टा-बुद्धि व्यर्थ गयी है। लेकिन यह बर्ण अवश्य है कि वे शास्त्र निर्भीक और निरुत्सुक रहेंगे जब तक मानव-मन के साथ वे अपना योग नहीं पाय सकते।

### मनों को जीतना ही सबसे बड़ी साधना

मानव-मन की बात करते समय एकाएक जैसे हमारे सामने निरा एकाकी व्यक्ति आ रहा है। इसकी कगता है कि मानव-मन की बात कहकर अवश्य के और विरह के प्रसन्न को एक घटक पर टाक दिया गया है और समष्टि की बृहत्ता और मोहता का ध्यान नहीं रखा गया है। समूह प्रसन्न का जैसे साधुवना के भरीये छोड़ दिया गया है। लेकिन विरह को और अवश्य को जान अगर छू सकते, पकड़ सकते हैं तो हम प्रत्यक्ष मानव-व्यक्ति के द्वारा ही पकड़ सकते हैं। अल्पसा और सब पकड़ झूठी और अपायार्थ मिट जाती है। जो दर्शन करने की और करने पड़ोसी को भूल जाता है और आत्मा-परमात्मा की सेवा को लेकर मचलमचल जगन् के सम्मुख में निर्भय कर जाता है। अर्थ और आहम्बरसाध होता है। माना मंत्राओं में हम मानो विरह को कोविन कर देते हैं और लज्ज-मरु के बुद्धि प्रदीप और विवेकम-व्यवच्छेद द्वारा हमका उत्थार और मुक्ति कर जानना चाहते हैं। लेकिन इन प्रकार के बुद्धि-व्यापार में कोरा अन्ना मन बहकाव होता है। विरह का उद्धार आदि नहीं हो पाता। मानव-व्यक्ति और मानव-मन ही बड़ पूंजी है जिसमें सत्कार मुने तो नक्षत्र नुका हुआ मान्य हो सकता है। अल्पसा हमारे के सम्मुख की आत्माओं में हम बेसम और बहम्मे ही रहते हैं। न हम करने लिए मुने हैं न समार हमारे लिए मुक्ता है। यह इतिहास के इन तत्त्व में मिट हो जाता है कि जो लोग मानव-जाति की मार में अमर बने बने जान हैं वे नहीं हैं जिन्होंने सत्कार के साथ टीक-बीट का काय किया जिन्होंने

प्रत्यक्ष और अत्यन्त गूढ़ किया। बल्कि वे वे हैं जिन्होंने अपने मन की छाया अपने को पीता और इस तरह सब बूझों को और उनके मनों को बनायास पीत बना। प्रेम को ज्ञान से बड़ा ज्ञान इसीलिए बताया गया है। ज्ञान दूसरे पर बाठा है, प्रेम दूसरे में बाठा है। मानो स्व-पर में वह एकता छा बैठा है, जब कि ज्ञान ईश की आश्रयक रहता है। इसलिये अस्तिम द्वन्द्व का समाधान उसके पास नहीं है, युद्ध की वह निबटा नहीं सकता है। प्रेम है, जो जड़तक जा सकता और उस अद्वैत-भाव को छा सकता है। इसीसे मानव-मन की शास्त्र ज्ञान से पीछे नहीं पहले ही मानव का आग्रह में रहता है।

**समाज कहाँ है ?**

२६१ मन में से किस प्रकार सामाजिक रीति-रिवाज और परम्पराएँ, व्यवहार, सम्मति, संस्कृति और सिंहास निकल जाते हैं ? अर्थात् मन किस प्रकार सामाजिक संस्कारों का नियमन और अनुप्राणन करता है ? इस प्रक्रिया पर तनिक प्रकाश डालें।

—समाज कहाँ है ? मरी अबतक उसके कभी घेद और बातचीत नहीं हुई है। आप देखने पसिये मुझे सन्देह है कि वह सचमुच आपको कहीं दीख पावेगा। वस्तु में वह पारंपारिक संज्ञा है, वस्तुवाचक या व्यक्तिवाचक नहीं है। समाज के नाम पर हरएक अपनी पारणा को देखता है। इसीलिए है कि आपस में बिरोधी मत कार्य कम और विश्वास रखनेवाले सभी छोटे समाज के नाम पर सामने आते और बिगड़ उठते हैं। अनेक बातें सभी जैसे समाज के कल्याण के लिए बनते हैं, फिर भी अलग और बिच्छू होते हैं। इसलिये कार्यकारी विचार के लिए कुछाई लेकर समाज-संज्ञा को अपने बीच में लायें वो सहायता नहीं होती है। हम जिन लोगों के बीच रहते हैं वही हमारे लिए समाज ही जाता है। कार्य समाज जैन-समाज हिन्दी-समाज ग्रहिल-समाज बिबाधी-समाज आदि-आदि समाज ही हमारे लिए समाज होते हैं। बहुत बड़े ही भारतीय समाज कह लिया। अर्थात् बिना बिरोध के वह बिधिष्य टिकता नहीं है और निर्बिरोध भाव से उसके साथ व्यवहार करने में सक्षम है।

**स्व-परता ही प्रत्यक्ष समय**

जो भी एक प्रत्यक्ष है, वह है स्व-पर भाव। मैं अपने को मानता हूँ यह स्व भाव दूसरे की पर धारणा हूँ यह पर-भाव। इस स्व-परता में मनुष्य पीरे-पीरे परस्परता पैदा करता है। समाज का आरम्भ मानो इन परस्परता का आरम्भ

है। परम्परा में यह अभिप्राय है कि किसीने किए में भी दूसरा है इसलिए दूसरा भी मेरे समान है। इसीमें से आपसीपन पैदा होता है और आत्मीय भाव का फैलाव होता है। अतः समाज यदि प्राप्त बनता है, तो इस परम्परा में प्राप्ति बनता है। समाज मांगो वह लोग हैं जहाँ परम्परा के सहारे हमारा आत्मीय भाव विस्तार पाता जा सकता है।

### इसीमें समाज-संस्कृति की सृष्टि

असंख्य वर्षों में यह से उठकर मनुष्य ने पैर को अपनी तरह पहचानना शुरू किया और समाज का बीज पड़ गया। यह पैर को पहचानने और फिर उसमें अपनेपन की उगारने और सीढ़ने की समता मन के सिवा और कहाँ से जायी मानी जा सकती है? हम न करें दूसरों के प्रति वह, जो अपने किए नहीं चाहते हैं यह भुन कहाँ से हाथ आया हो सकता है? स्व-परता और परस्परता के बीच से ही सारे सामाजिक व्यवहार की सृष्टि हुई है। ऐति-रिवाज बहुविध निकले हैं परम्पराओं का निर्माण हुआ है। संस्कृति इसी प्रकार संवर्धित हुई है और सम्यता में अपने प्रकाश पाया है। इतिहास बना है, जो केवल काम-कर्म का नाम नहीं है, बल्कि विकास कर्म का केला-बीला है।

### प्रभाव आन्तरिक सत्य से जुड़ा

प्रभाव कैसे बनते और फैलते हैं? हमारे पास का एक व्यक्ति कैसे कमजोर सार्वजनिक और सार्वजनिक हो जाता है और हम स्थानिकताओं में ही परिमित रह जाते हैं? उदार क्यों विस्तार पा जाता और रूपक क्यों सीमित रह जाता है? इसी तरह और जो भाव-वास बटित हो रहा है उसके सम्बन्ध में विज्ञाता करें और उत्तर पाना चाहें, तो मान्य होना कि यह सब घटना कहीं-न-कहीं मानव के आन्तरिक सत्य से जुड़ी है। जो होता है, सर्वथा मनमाना और अटपटा ही नहीं होता है। बल्कि मानव-मन से उसकी बुनियादों और हेतुओं से यह जुड़ा होता है। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि मन का संस्कार बाहर से अर्थात् और उनका प्रति प्रभावहीन हो जाय? इसी प्रकार पारस्परिक मानवीय प्रभावों से मानव-समाज का काम-काज बनता है और उन्हींका समन्वित परिणाम है, जिस राजनीति कहा जाता है। राजनीतिक सत्य पर भी ही रहा है, वह मानव-तक से इन तरह सिद्ध होना नहीं है और न इसलिए हमके परिष्कार का प्रश्न मानव-मन के प्रश्न से दूर या अलग है। बल्कि यह अवश्य ही सचता है कि मन की बाह्य देने से हमारा किया हुआ सब कुछ सही अर्थ में कोई संस्कार या

परिष्कार समाज को न दे पाता हो और बहुत-कुछ व्यर्थ का ही कार्यक्रमों का मिश्र होना हो।

**मन, सेक्स, अर्थ और संस्था**

२६२ मन सेक्स और अर्थ इन तीनों का सामाजिक संस्थाओं से आप क्या सम्बन्ध और तारतम्य देखते हैं?

—संस्था राज्य स्वरूप और सूक्ष्म दोनों अर्थों में काम आता है। स्थूल संस्था के केन्द्र में आप हमेशा एक व्यक्ति को पायेंगे। जब तक केन्द्र इस तरह चिम्नम है तबतक संस्था सजीव रहती है। जब केन्द्र टूटता है, तो संस्था ही बिखर जाती है। उसके बिघान की पोखी से न कोई संस्था बसी है न बन सकती है।

सूक्ष्म अर्थ में उन परम्पराओं और मूल्यों का बोध होता है जो समाज में प्रचलित हैं।

**इनके सूक्ष्म अर्थ : भूल और भोग**

मन सेक्स और अर्थ इनमें जब बहुत स्थूल तत्त्व है जिसकी छेप दोनों से आसानी से असल किया जा सकता है। वह अपनी स्थूलता में हमर राज्य-संस्था से जुड़ा है और उनका रूप सिक्का है। लेकिन अर्थशास्त्र के द्वारा उसका सूक्ष्म मूल में जायें ता वह व्यक्ति की कामना और आवश्यकता से जुड़ा है। सेक्स को भी कुछ स्थूल और मूर्तभाव में लिया जा सकता है। वह घटीर में व्यक्त है और घटीरिका में आवृत्त उसे देखा जा सकता है। पर जानकारों ने बताया कि वह इस तरह सीमित नहीं है। जिन्होंने विज्ञान द्वारा मन के मर्म को पा लेने का प्रयत्न और अभ्यास किया उन्होंने गौरवकर बताया कि सेक्स उसके भीतर तक बसा हुआ है। यहाँ मुझे फायदा आदि की चर्चा नहीं करनी चाहिए, जिन्होंने मूल तत्त्व को सिद्धि की वा नाम दिया जिसे सेक्स का ही मूलम स्वरूप कहा जाता है। इस तरह स्थूलता से छूटकर ये तीनों चीजें बहुत आम-गाम आ जाती हैं। मुझे कहना चाहिए कि मन के आवेग भूग और भोग के रूप में प्रकट होते हैं। स्थूल में उसे मिश्रित करने की समस्या बह दिया जाता है। फिर सेक्स उधर अर्थ। उधर की समस्या को आविर्भूत और सामाजिक मान लिया जाता है जब कि स्थूल की समस्या की वैयक्तिक। हम देना मरते हैं कि मन में भूग और भोग दोनों जुड़े हैं और अति व्यक्ति ने मात्र के दूसरों के साथ जुड़ा हुआ है। अपनी सृष्टि की राह में वे पारस्परिक और सामाजिक बन जाते हैं। नाममात्र बाहर की ओर, अन्तराल और मापन

सामग्री की ओर चम्पती है, तो उसका आर्थिक रूप हो जाता है। उसका सम्बन्ध बन्धु और रेह से अधिक होता है। काम की अनिव्यक्ति दैहिक हो। लेकिन उस मानसिक कहते हैं। उसका एक नाम 'अव्यय' है। मन में 'अव्यय' चलना है तब मानो हस्त में से काम की मूर्ति होती है। काम मरत उभरता है और 'भीति' बन्धुव्यवस्था व्यक्तिगत की माँग उस काम और पुण्य में पुण्य एवं शरीर में शरीर की माँग उसे अधिक हो जाती है। मानव वहाँ पुण्य और शरीर में हो जाता है और आत्मा को एहता वहाँ अगिहत हो जाती है। आत्मा की ओर में वह शरीर पुण्यों में एक व्यक्तिमत्ता है और वहाँ शरीर और पुण्यत्व की कोई मरति नहीं रह जाती है। किन्तु काम मन में और हस्त से उभरता होता है और इसलिए विद्युत और मैद्युत में ही उसकी निधि है।

### मन की कामना मधुन और अर्थम में व्यक्त

हमने आगे में नहीं समझना कि वहाँ मान और क्या चाह सकता है। मन को हमने मूर्च्छना की ओर के आगे तो सामान्य आत्मा में पहुँचना पड़े। लेकिन वह अनादित्य है वहाँ की चला अनिश्चयीय क्षेत्र में पहुँच जाती है, वहाँ मीन ही जल है और अनिश्चयन कुछ हो नहीं सकता है। मयात्र के मयत्र में वह चर्चा छूट जाती है और वह बिछड़न उन उपयोगी नहीं रहन देती। यह स्पष्ट हो ही गया है कि मन के द्वार में से कामना बाहर की ओर जाती है, तो उपयोग का रूप ले ली है जिसकी निमित्त एक ओर मैद्युन में दूसरी ओर अर्थम में होती है। मैद्युन में पर-व्यक्ति को, शरीर निम्न व्यक्ति का केने और उनमें प्रीणासक्त होते हैं। अर्थम में हम व्यक्ति की अमल बन्धु को लेन है और भाग की तरह उपयोग का सम्बन्ध स्थापित करने हैं। परस्पर यह अन्तर दोनों में देखा जा सकता है और प्रीण के कारण एक को वैयक्तिक और उपयोग के कारण दूसरे को सामाजिक कहा जा सकता है। लेकिन यह यह कि कामनामात्र सब को पर के प्रति उन्मुख करती है और हम उन्हें दोनों में सामुह्य प्रीणा करने के कारण परस्परता को मित्र और सम्पन्न करती है। कारणों का मन वह है जो सम्बन्ध चाहता और उन सम्बन्ध का बिस्तार चाहता है। कहना चाहिए कि आदमी के अन्दर वह सामाजिकता का केन्द्र है। मन व मन में ही यदि पहुँच सके तो सम्भव है कि पना पट कि वहाँ तो समाज का ही नहीं बल्कि मर्यादित का केन्द्र विद्यमान है। परस्परपर अनुप्रायी है और मैं सचमुच मानना हूँ कि अन्तर्मन या अन्तरात्म मन में परस्परता का ही काम है। लिबिका या कामना आदि ऊपरी स्तर की आगे हैं मूल तक तक पहुँचें तो सामान्य ईशान्य के निवा दूसरा कुछ हाथ नहीं आयेगा।

## राजनीतिक नियन्त्रण

२६३. समाज का बाहरी राजनीतिक नियन्त्रण आपकी स्वीकार नहीं है। और व्यक्ति-मन में ईशान की सत्ता को भी आप स्वीकार कर चुके हैं। ऐसी स्थिति में वर्तमान युग की वैज्ञानिक परिस्थितियों और विनीयिकाओं के बीच व्यक्ति-मन की नियन्त्रित और ईशान-संबन्धित रहने का क्या उपाय आप प्रस्तावित करते हैं? आज जब मनुष्य पूरी तरह अपने मुँह से जवाब चुका है और पूरे बेग से विनाश की ओर बढ़ रहा है, तब क्या एक राजनीतिक नियन्त्रण ही हमारे पास नहीं रह जाता है, जिस पर हम भरोसा रख सकें? क्या व्यक्ति-मनों की स्वतन्त्र छोड़ देने का बहतरा माध्यम या कोई भी समाज है सकता है?

—नियन्त्रण यदि सम्भव नहीं है तो बाहर हीरा ही और फिर उसको अस्वीकार करने का कोई अर्थ नहीं होता है। मैं उन लोगों में नहीं हूँ जो बिद्रोह के द्वारा बाह्य नियन्त्रण से कहना चाहते हैं। आत्म-नियन्त्रण के द्वारा जो बाह्य नियन्त्रण से मुड़ाई होती है, उसका प्रकार दूसरा हो जाता है। उसमें दोनों ओर स्वीकार और परस्पर आत्म हो सकता है।

## ईशान की सार्वकता

व्यक्ति-मन में ईशान की मैं शर्त के साथ स्वीकार करता हूँ। शर्त यह कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। भगवान् की शिख से शिखतर करने के लिए मानी ईशान मनुष्य के मन में उबड़ता है। अर्थात् ईशान की भी सार्वकता है और वह भगवान् का भीतर उगाकर अपना जगजगत् और निर्माण प्राप्त कर लेता है।

## भरोसा भगवान् में

भरोसा राजनीतिक नियन्त्रण का ही किया जा सके तो ईशान के किए काम बाकी रहे ज़रूर जानपा। हमन का बिद्रोह के नाच अविनाभाव-सम्बन्ध है। हमन जब तक ही है सकता है जब तक बिद्रोह है। अर्थात् बिद्रोही वृत्ति की अपन बीच रख कर हमन की सार्वक ही किया जा सकता है। कानून और अराजक अन्त तक नाच चर्मे। नाचून और कानून के प्रहरी पुलिस वगैरह का भरोसा रखना मानी तय करना है कि पुलिस को हम काम धुटात रहेंगे। पुलिस आदि को बेतन हम तभी तक दत्त आ सकते हैं जब तक उनके लिए काफी काम भी पैदा होना पड़ता है। अर्थात् पुलिस के अधिचय और समर्थन के बाल्य समाज के लिए आवश्यक रहेगा कि वह मरतापों की मृष्टि करता जमा जाय। राजनीतिक लग्न और नियन्त्रण का भरोसा अन्त में यह जतलाता है कि मनुष्य का भरोसा हमें कम है, मनुष्य के भीतर

क शीतल का मरोमा ही ज्यादा है। लेकिन मेरा मरोमा मनवान् में है, शीतल में नहीं है। इसलिए मैं जानता हूँ कि यदि वीनानियत भी आदमी में से आ रही है तो इनका अमित्रत्व केवल यह है कि अपना भीरुपान की कुरेद में से उसे अपनी ही नाबलता की साँको निकल करने और इस तरह वीतल का काम पूरा हो।

### आत्म-नियंत्रण से सम्यक-ज्ञान

मन पूछिये तो मैं यह चार्हूँगा कि इन इस इन्द्र की प्रकृति को अच्छी तरह समझने मन जायें। अरुण को हथ और राज्य को पूजा अब हम देखें हैं, तो मानी इच्छा पूर्वक एक विरोधानाम में फँस जाते हैं। राज्य को अब तक पूजा व कायक समझते जब तक बचकर है कि राज के राज्यक जिसे समझा जा सक, ऐसा तब पैदा होता रहे, जिसने सन्तुष्ट बना रहे। पहली आवश्यकता यह है कि उस पूजा के भाव को इन छोड़ें तब मनी-मनी बचक भाव से भी इनको मुक्ति मिलेगी। और मैं मानता हूँ कि यह शर्त जिस सम्बन्ध-दर्शन या भावबल-दर्शन भी कहा जा सकता है, हमें स्वाभाविक आत्म-नियंत्रण देगा। वह मित्र-मुष्ट की अगियों से निकाल कर हमें मीना सच्चा इन्सान बनने में मदद करेगा।

### स्व रति और पर-युगा

मैं मानता हूँ आज क संकट में पीरता इनीमिर खानी हुई है कि इन अपने को अपने मन की और देश की और निरोह की इना प्यार करते हैं कि हमारे के लिए इस ही ऐन बच रहना है। स्व-रति पर-वर्जन को प्रीति-हल और समर्पन देती है। इसी वृत्ति में मे घल्लरुह का निर्मल उचिन बनता क्या जाता है। शीतल न इतने को इन नहीं मानता हूँ और शीतल दूसरे को मानते हैं। इसलिए उस डर में न शीतल को खनन करने के लिए मूढ घल्लरुह की तैयारी करने लग जाते हैं। इन तैयारी में दोनों तरह की दह नहीं समझ पता कि डर में न इन अपने नगर की वीनानियत को ही क्या रहे होने हैं। इस तरह दोनों जगह शीतल बान करने लगता है और दूसरे को शिखर-जैन अपनी और वीनानियत और समर्पन का निर्मा करने लग जाता है। हिमा न जिन को, शीतल से शीतल को काटने का प्रम इन विरम पक की बड़ता ही क्या जाता है। अगर हम हमारे में शीतल को शिखर प्रोद्वर्क बच कर मने तो सम्भव है कि हिता को अहिमा से काटने का उपाय हमें नसर आ जाय। मैं मानता हूँ कि इस दमन का उपाय अब हीया तो पायी समझा हमारे ही मन में बीजने लग जायगी। मुझ यदि रहेगा तो एक पक्ष अहिमा के उत्तरकों में उसने लड़नेवाला निरल भावना। तब जिस संकट की



बाप बात कहते हैं, उसने पार निकलने का उपाय भी बीसने लग जायता। उपाय यह नहीं है कि हमारे में दीवान की देखकर हम अपने दीवान से उसका मुकाबला करें। उपाय यह है कि दीवान को देखकर और भी मयमान में हमारी मज्ही मज्हा ही और दीवानियत के मुकाबले के लिए हम मागबज उपायो का व्यवस्थान करें। मैं मानता हूँ कि नियन्त्रण और सम्प्राप्त्य का मरोसा उस उपाय की तरह है हमारी जीवों को जन्मा बनाये रखेगा और कभी वह प्रकट हमारे समक्ष प्रकट होना उसकी मज्हा जायेगी तो कभी जब हमारी जीवों पर ये इस मीछ की पट्टी दूर होयी। जब बन्धु-बन्धु अस्व-जस्व-मैत्र्यबन्ध के विरोध में मनोबल, उपोबल और आत्मबल की प्रतिष्ठा होगी और उस बल में जीना कड़ना और जीउना हूँ जानिये।

### अनुसर-वासिष्ठ, अनुशासन-हीनता

६६४ ये कुछ प्रश्न मैंने इसलिए किये कि प्रस्तुत प्रश्न के लिए भूमिका तैयार हो सके। मैं भारतीय समाज की आज की दूसरी सबसे बड़ी समस्या यह मानता हूँ कि हमारे समाज में सैरत अर्धोपासन और पर-लाभ इन तीन लोगों में जीवन अनुसर-वासिष्ठ अनुशासन-हीनता और अध्याचार-रहित चुका है। क्या यह स्थिति, जहाँ हम वैज्ञानिक और मीछीगिक दृष्टि से कितने भी ज़रूरत क्यों न बन जायें, हमारी सुरक्षा और आगे के निर्माण के लिए भयदायक नहीं हो सकती है? हर मुम में देता रहा हो और मनस्य की केतना इन तीनों आकर्षकों की तरह तदा ही लक्ष्मण रही हो। पर क्या आज यह लोभपुत्र सीधा की लोभ नहीं लयी? यदि आज मेरी बात से सहमत हैं तो इसे कम करने के लिए और परिस्थिति में लोभाल और अनुशासन लाने के लिए आज क्या कोश उपाय ऐसा करते हैं?

### अस्तित्व रक्षा का स्तर

—जीवन के दो स्तर हैं। एक अस्तित्व का स्तर, जहाँ प्राणी रहने-मर के लिए बल और चीज-सपट करना है। इसको प्राणि-जीवन कहना चाहिए। इनके बाद वह स्तर है जहाँ अस्तित्व की रक्षा के लिए नहीं बल्कि प्राणी अस्तित्व में उदामर्ग के लिए दिया जाता है। भस्म अर्थ और वन के लिए जो केटाएँ बीजनी हैं वे अस्तित्व रक्षा की हीनी हैं। यहाँ कुछ बर्तनीय नहीं रहता। 'एकरी पिंग इन फेयर इन सब एण्ड बार। इन स्तर पर किसी प्रकार की मोरना के दर्शन के लिए हमें तैयार रहना चाहिए और उनमें मयमीत्र नहीं होना चाहिए। न जल कारण अपने में बनाम्या लानी चाहिए। कारण बाह्यर धर्म अस्तित्व की भाषा में बसता है और लोभ-प्राणी कोई ऐसा नहीं आस्था-से लब्धना मुक्त हो और सब में लब्धना मुक्त हो।

## बानव मानव का विकृत रूप

हम अस्तित्व के तल पर होनेवासी माना चेष्टा प्रवेष्टाओं को देखते हैं, तो जैसे मानव से हमें छानि और निराशा होने लगती है। लेकिन अपनी ओर देख सके तो मामूम हो कि उस प्रकार की बचस्प से बचस्प चेष्टा के बीच शायद हम में भी पके हुए हैं। इसलिए मैं मानता हूँ कि निम्ना वर्त्तना बाकि अपने बचान में ही हम दूसरे पर बासते हैं, जैसे उस बंग से अपने को बायित्त से बचा लेना चाहते हैं। पहली बात तो यह कि बानव और राक्षस का रूप सामने पाकर भी हम साहस करें कि मूख मानवता में आस्था न लीये। कभी न मुझ कि बानव मानव का मूख रूप नहीं है, विकृत रूप है और उन विकारों और उनके कारणों तक पहुँचने के प्रयत्न में रहे। जब सम्भव हो सकता है कि वर्त्तना हमारे पास से न जाय बल्कि कसना जाय और बीच को स्वयं अपने में खोजने की इच्छा जाग जाय। इसमें से जिस विद्या का प्रयत्न निकलेगा वह विद्या हिंसा से उत्पत्ती होगी। हिंसा वह, जिसमें से हम दूसरे को कष्ट पहुँचाना और उसका नाश देखना चाहते हैं। इससे उत्पत्ती अहिंसा की विद्या वह जहाँ हम कष्ट स्वयं लेते और अपने को मिटाने तक की उत्तर हो जाते हैं। मैं यह मानता हूँ कि इस विद्या के प्रयत्न में से विनायक शक्ति का उदय होता है। उदय से जन्त में जाकर वैमनस्य कटता और क्षीमनस्य फलित होने लगता है। यह शक्ति किसी तरह कम अमोघ नहीं है। यद्यपि दीकने में ठण्डी और अशक्ति-जैसी मामूम होती है। शुरू में इसका परिणाम उत्पत्ता भी आ सकता है, या नहीं भी आता होस सकता है। लेकिन इसका कार्य मानसिकता के क्षेत्र में होने के कारण यह, यद्यपि देर से होता है और उसका फल स्थायी रहता है। प्रतिक्रिया का भी उसमें डर नहीं रहता।

## आधिक-सम्पन्नता की मृग-तृष्णा

काम बर्ब और पद-लिप्ता से ठीक उत्पत्ती विद्या में भी हम लोगों को चसता हुआ देखते हैं। जिनकी सप्त बाकि कहा जाता है और जिनकी बाह में पूजा-प्रतिष्ठा होती है वे काम की जगह प्रेम बर्ब की जगह अपरिग्रह और पद की जगह अकिञ्चनता को अपनाते चले गये। ऐसा क्यों हुआ इसकी ओर में मनोविज्ञान को ही नहीं स्वयं समाज-शास्त्र और बर्बशास्त्र को भी जाना चाहिए। वे शास्त्र इस मूख मामूला पर बल जके हुए हैं कि मनुष्य का प्रयत्न अस्तित्व के लिए रहता है, वेप सब बाह में है। ऐसा मानकर अध्यात्मपरक साधना को भी श्रेष्ठ और स्वार्थ की-नापा में समझने की चेष्टा की गयी है। जबकिज उनको मृती या सनकी बाकि कहकर सन्तुष्टि निवार से बलप कर दिया गया है। जैसे साधारण तर्क से यह असम्भव

हूँ ही हुई चीज ही सर्वथा अपसाधारण और अपवाचक्य ही ही। मानव-विज्ञान के मूल में यह अनास्था काम करती रही है और हम मानते रहे हैं कि मुझ-विषय जब कि जीवन का सामान्य नियम है, तब तप-त्याग अनियम और अपवाचक्य है। पहली कठिनाई मनुष्य ने अपनी राह में यही पैदा कर रखी है। यह कठिनाई बाहर की ओर से नहीं आयी है, हमारी मानसिकता और चिन्तन-परम्परा में से आयी है। पिछली दो सदियों से जिस बुद्धिवाद और तर्कवाद ने सिर उठाया है, उसने मानो कर्म को धर्म से एक साथ तोड़कर स्वतन्त्र कर दिया है और सबको जान पड़ने लगा है कि वापिक-सम्पन्नता के स्तर को उठाते जाने में ही मनुष्य-जीवन की सार्थकता है। उस स्तर के उठने से सार्थकता की अनमूर्ति किसीको हो पाती है या नहीं इसकी छानबीन की चेष्टा नहीं की जाती है। मान यह लिया जाता है कि स्तर यदि बढ़ा भी है तो भी वह पर्याप्त नहीं बढ़ा है। अमुक की अपेक्षा कम है, और यह मान-कर फिर उसीमें लग जाना पड़ा है। इस मृगतृष्णा में संसार भासा जा रहा है। क्षण-विषय होता लज्ज-कहाना होगा है। आपस की छीन-सपट और रपड़-समड़ से परेधान रहता है। लेकिन मुँह मोड़ने की सोचने का व्यवसाय उसे नहीं मिलता और एक-दर-एक होनेवाले युद्ध में शुकता जला जाता है।

### अस्तित्व-चिन्ता में जीवन की मन्दता

यह अनुभव में आयी बात है कि अस्तित्व से जब हम चिपटते हैं, तब जीवन की मन्दता अनुभव कर रहे होते हैं। और जब जीवन का प्रकर्ष होता है, तब अस्तित्व को निछावर करने का उत्साह हममें जाग उठता है। लेकिन मूल्य का आह्लादपूर्वक आवाहन करने की मनोदृष्टा इतनी दुर्लभ है कि मानव जाति के बचतार-मुण्ड ही उस जीवन का दान कर पाते हैं। मानो समूची मानव-जाति तब अद्भुत चैतन्य-स्फूर्ति में आ जाती है। डेर में जमने मानो अपने चिन्-स्वभाव और चिन्मय-सम्भावनाओं को मूला खाना और पदार्थ में फिर जाता है। तब जान पड़ता है कि एक-दुमर को अग्नार्थ करने और एक-दुमरे की पाठ और काट में रहने से ही व्यक्ति की उपति होनी है। ऐसे समय प्रेम न अधिक डेर में दक्षिण जान पड़ने समझी है। आधुनिक जीवनोन्मेष में विरह अग्निह-रसा के प्रापिष्ठ पर उतर जाता और अवसाद और अनास्था के बारण प्रस्तुत करने समझा है।

### प्रेम नहीं, तो काम

निश्चय है कि प्रेम नहीं होना तो काम हीना। त्याग का रस नहीं मिला होगा तो अर्जन की ही और मनुष्य सम्मुख हीना। उनी तरह सामान्य बनने में जो कृता-

बैठा है, उसका स्वाद नहीं पा सकेगा, तब तक पद मान की ओर वह रूपकता ही रहेगा। न माना जाय कि यही अनुपम का स्वभाव है। सब यह कि यह केवल विषय है और समय यदि चल रहा है, तो इसीलिए कि विमान को पीछे छोड़ते हुए हम स्वभाव की ओर उठने के प्रयासी हैं। मैं निरर्थक मानता हूँ कि खन-खन हमारा ज्ञान विज्ञान इस व्यापारम सत्य की ओर उठेगा। वह पलायनवादी अयथायुक्त है जिससे ज्ञान-विज्ञान प्रभावित नहीं होता और नहीं ही सकता। अब समग्र विमान और अस्तिधारी व्यापार का उदाहरण प्रकट होगा तो आधुनिक ज्ञान विज्ञान स्वयं में एक संस्कार पायेगा। हाथ में पाँपी का व्यक्तिगत उसका उदाहरण उपस्थित कर गया है। महारमा कहकर गाँधी की अनु-विचार, समाज-विचार और राज्य-विचार से टाका नहीं जा सकता है। अन्तर्गत वयार्न में गाँधी का प्रभाव इतना गहरा व्यापक और प्रचण्ड होकर प्रकट है कि उसके मूल व्यापार-स्पर्ध की समझे और समझे बिना मानव विज्ञान जाने नहीं बढ़ सकेगा।

### लौक्यता में गौरव की अनुमति

मौल भूख और अधिकार के क्षेत्र में कोई अनुत्तर-दायिता अनुपासक-हीनता कोई विद्वन्मना और प्रष्टाचार पर्याप्त भीषण नहीं समझा जा सकता। अर्थात् उस क्षेत्र में आप भीषणतर और भीषणतम के लिए अपने को तैयार रखियेगा। अब उभरि को हम उन्हीं तीन की नापाकों में समझे तब तक भीषणता उलटोत्तर भीमरता की ओर बढ़ती जायगी। निरर्थक ही यह हासत मुग्धा के लिए भवभावक है। अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के संकट हममें से पैदा होनेवाले हैं। अन्तर से हम फटते और ज्वर होते जायेंगे और बाहर से मानो आनेवाले महत्काराणाओं के लिए सहज आकट बनते जायेंगे। इन दोनों आकट पंथों की तरफ लौक्यता सदा रही है और रहे सकती है। संकट अवस्थित तब होता है, जब इन लौक्यता में गर्व और नीरव का भाव पैदा हो जाता है। अर्थात् जब हमारे जीवन-मूल्य इनमें धीमे और उलटते हो जाते हैं कि मानव को हटा कर पद की ओर सत्य की हटाकर मिथ्या को प्रतिष्ठा देने लगते हैं। भाव को तोचने की बात है वह यह कि हम उभरि क्रिमको समझे जिस भाषा में और भाषा में उसे खन और अनुभव करें? नामान्य प्रवाह यह बन गया है मानो सामाजिक जनपद भी उभे मिल गया है कि जी मन और पद पर पहुँचता है, वही जीवन-माक्य का अनुभव करता है। इन दृष्टि में परिवर्तन माने की पहली आवश्यकता है।

### विचार को ऊँचा, कुर्सी को नीचा करें

ठीक उपाय की बात बापूछते हैं तो मैं कहूँगा कि जो आज की समाज-व्यवस्था में सबसे ऊपर पहुँचे हुए लोग हैं वे अपने व्यवहार-वर्तन और रहन-सहन से सही मूल्य का उदाहरण देना करें। वे साधारण बगने की हिम्मत करें। विचार ऊँचा करें, काम ऊँचे करें लेकिन कुर्सी को जरा नीचा करने की टीपाटी दिखायें। हम लोगों की सम्मत्ता नीचे घटती पर बैठने की है, कुर्सी वही समाप्त तक ही जाती है। मन्त्री घटती पर बैठकर बसा सके तो भी अयुक्त न होगा। लेकिन सिर्फ इतने से भी लोगों को बड़ा डारस पहुँचिगा। गांधी के तीसरे दर्जे में उतर करने से कोई पैस की विवेक रखा नहीं होती होगी लेकिन उससे सारे भारत की आत्मा की रक्षा हो जाती थी। साधारणता को उससे यम्बीर सामान्यता पहुँचती थी। इतनी कि निम्नियत वर्ग की अपनी आत्म रक्षा में पाँधी की इस बात को स्पष्ट जाहिर कहकर टाकना जरूरी हो जाता था। आज का मन्त्री भी समझत उस बापा का सहायक होता है कि यह सब समक और स्पष्ट बैठा होता। लेकिन उसे माफूम होता चाहिए कि उसका यह कहना बाविरव से भागना और मुँह मोड़ना ही है। अगर वह संकट का सामना करना चाहता है तो राज्य और समाज के नेतृत्व की उठाई हुए भी उसे जन-साधारण के समकक्ष बनकर दिखाया होगा। नहीं तो राजनिष्ठ की जगह प्रजा-निष्ठा की प्रतिष्ठा नहीं होगी और हम जाने-अनजाने उस जमाने की तरफ बढ़ रहे हूँगे जब बीच-बीच और ऐश्वर्य में मग्नित करके ही हम अपने राजा और परमेश्वर की देखना चाहते थे और स्वयं की राज्य में राजकर समुप्ट हुआ कष्ट थे।

शान्तनो सेवा में वरिष्ठ किये बिना जाने काम नहीं चलनेवाला है। प्रजा सेवा है तो नेक की कीर्तन प्रजाजन्म से भी मिश्र होकर चलना चाहिए। ऐसा यदि नहीं हो सकेगा तो हफूमत बण की हो रहेगी बुज की नहीं होगी। बण की हफूमत में तो फिर नाफ है कि जो जिनकी गहरी चोट देगा वही कष्टा जीतेगा। जगह जगह या मिलिट्री डिप्लेटरीय कामच हुई है, सो इनी स्पिन का प्रमाण है। उनमें बचने का उपाय यही है कि नहीं दिया में सही विस्वास की दरजानेवाला हम पहना नहीं करव रने। वह यही ही खयाल है कि हाकिम कुर्सी से उतरकर भीरो के साथ बरती पर लड़ा दिगारि हैं। मैं इन प्रस्ताव का किनी तरह कम डोन नहीं मानता हूँ।

## शिक्षा, भाषा, अनुसन्धान

### शिक्षा रोम की सहायक

२६५ क्या हमारी भाषा की शिक्षा इस विषय में आवश्यक सहायता करने की स्थिति में है ?

—सहायता करती है पर रोम की अधिक स्वास्थ्य की कम।

२६६ रोम की सहायता कैसे बढ़ कर जाती है में सपना नहीं।

### अर्थकारी शिक्षा

—रोम क्या है ? प्रतिस्पर्धी से घृणा काठावरण है, और हर एक हर-दूसरे की परवाह न करना हुआ अपने लिए अधिक-से-अधिक छीन-भगट लेना चाहता है—

क्या यही सब बेबीनी और बरेखानी के मूल में नहीं है ? रोम की जड़ यही है।

अब शिक्षा क्या करती है ? बिद्या भाव वह है जो अर्थकर है। पहले बिद्या वह थी जो विनय देती थी। अब विनय नहीं दे सकती अर्थ के पीछे भागने की वृत्ति अबल्य से सजती है। यानी पढ़ा केवल इसलिए जाता है और पढ़ाया भी केवल इसलिए जाता है कि व्यक्ति उपार्जन और अधिक उपार्जन करे। उन्मोषी और उनकारी हो तो नहीं बर अधिक-से-अधिक ऊँची बुनीबाका हो मरे। अधिक कमाई कर सके अधिक स्वार्थी हो सके तब भवता जायगा कि उनसे अपनी बिद्या-बुद्धि की सफल किया है। शिक्षा की भव्यता यदि यही है, तो यह क्या भीषी रोम की ही सहायता नहीं बनती ?

### शिक्षा-क्षेत्र में व्यापायापी

ऐसी अवस्था में स्वास्थ्य यह बहुलायेगा कि व्यक्ति अपनी पीछलाओं को दूरियों के हिम में लगाये और इमीने से अधिकाधिक भर्त्ताय पाये। क्या शिक्षाक्षेत्रों और विद्यालयों में इन स्वास्थ्यवरक वृत्ति और प्रवृत्ति का प्रभाव दीयता है ? क्या वहाँ ऊँचे-से ऊँचे पमाने पर चर-बुद्धि बेगन-बुद्धि और आय-बुद्धि के प्रयत्नों का

ही मोसबाका नहीं बीजता है? बूकानदार, बेतनवार और उजरतवार में भी बैसी चोर आपापापी नहीं दिखाई देती जिसकी इन जेबों में बेसी जा सकती है। इसलिए मैं मानता हूँ कि शिक्षा की वर्तमान पद्धति के साथ रोय के कौटाम्बु ही व्यक्ति में अधिक पहुँचते हैं। मानस में स्वास्थ्य का प्रवेश पतना नहीं होता।

२६७ क्या इस स्थिति के लिए अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली को ही आप बीयो छुड़ाते हैं? हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धति में रोय के ये तत्त्व निहितमान नहीं थे?

—अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली में अंग्रेजी शब्द पर व्याप्त दोष ठाकने से साम नहीं है। वह तो सूचक है उस सम्प्रदाय का जो चाहे पश्चिम से उठी हो आज दुनिया पर छा रही है।

### शिक्षा राज्य का योग्य न बने

प्राचीन में दोष न था यह मानना मूल्य होगा। निर्दोष ही प्राचीन शिक्षा प्रणाली होती तो वह टूटती और बिखरती क्यों? कहीं वह अवश्य कमजोर और मरानु गतिक रही होनी जिससे नये युग नये जमाने का सामना वह नहीं ले सकी। पर पुरातन में भी हम उस सनातन को खींच और पा सकते हैं जो आज के लिए भी मूल्य हो सकता है। अवश्य कुछ वह है, जो समय के साथ नया-पुराना नहीं होता। साथ के शरण उसीमें होते हैं। क्या यह बात बाकी और जीर्ण समझी जायगी कि शिक्षा से विनय आनी चाहिए? क्या यह बात अद्यतन नहीं है कि शिक्षा पर राज्य का आधिपत्य नहीं होना चाहिए? क्या यह आज के लिए भी आवश्यक और उपयोगी नहीं है कि अभ्यास और विद्यार्थी के बीच का सम्बन्ध आनुपंगिक नहीं बल्कि समान और समग्र होना चाहिए? क्या यह भी सही नहीं है कि शिक्षा को जीवनव्यापी और जीवनारम्भक होना चाहिए और वह लक्षित और केवल विषयारम्भक नहीं होनी चाहिए? आज की शिक्षा विषयों में इतनी बिखर है कि जीवन की समग्रता से एकदम अलग जा पड़ी है। उसमें से भावार्थिक नहीं प्राप्त होता मानो विशेषज्ञ प्राप्त होते हैं। अमुक विषय की विद्यार्थी की माँग पैदा करनेवाला कोई राज्य पहले हो, तब उस विशेषज्ञ के उपयोग के लिए जोर और काम निकलता है अन्यथा वह विशेषज्ञ बेकाम और निरुपयोगी बना रह सकता है। जनौपयोगी होने का कोई युग आज की शिक्षा से नहीं प्राप्त होता। शिक्षा को नीरुपे चाहिए, अन्यथा वह अस्थिरित से भी गया-बीटा बन जाता है। अस्थिरित कुछ-न-कुछ थम तो भी कर सकता है नीरुपे से पूरा शिक्षित हर तरह से निरुप्य बने रहने के लिए विवश होता है। शिक्षा पाते ही अच्छे राजे-बीने पढ़ने की माँग उसकी ही जाती है और वह समाज के प्रति इसका दावा

रचना है। लेकिन नीकरी के बहावा किसी प्रकार के उत्पादन की मायमा उपभोग नहीं होनी और वह परंपरागत ही बना रहता है। केवल यह कहकर कि आज की परिस्थितियाँ भिन्न हैं अनुशील प्रतीतिता को बना बहाव की बेजग बहाना होनी। निश्चय ही पढ़ने की शिक्षा जीवन-सर्प सहीन और समग्रता स उत्ता खुल न थी। मानव-सम्बन्धों से वह उत्तरी दूरी न था बल्कि वह सम्पूर्ण मन लिए आनन्दक था। जीवन की शिक्षा समग्र और सार्थक करने की शिक्षा न वह बढ़नी थी। केवल विषय-आप देन और इन तरह बर्षोन्तर्गत के लिए एक मर्त्य-विशेष युग देने का लक्ष्य उत्पन्न न था। ये सब लक्ष्य आज के लिए भी उपभोगा ही नरन है। और सबकुल काम की बात यह है कि शिक्षा का उत्तर मन्तार्य मानव तैयार बनता था न कि राज्य के लिए कुछ मुकाबिले या इन्तानियर और कारोबार। राज्य के द्वारा बीजान बनने के लिए यदि आदमी ही और शिक्षा उन्ही बीजारों की वाकन की मायन हो, तो सबकुल वह रूप का अप बन जाती है स्वास्थ का मायन नहीं रहती। राज्य आज के पढ़ने के निरुत्तरण का बात सोची आप तो शिक्षा के विषय में ही आगम्य करता होया और बाल्य के मूल की बही से उत्पन्न-बीजना होया।

## शिक्षा पर बलिये का नियन्त्रण

२६८ ठहरिये, एक-एक का बल का सम्पत्ता डीक रहेया। आप शिक्षा पर सरकारी नियन्त्रण नहीं चाहते। लक्ष निश्चित कम से कम पर पूँजी और बलिये का नियन्त्रण हाया। क्या उसे आप अधिक शुभ और उत्तम मानते हैं?

## नैतिक सामर्थ्य से पूँजी का पतन

—आप सबकुल निश्चित हैं कि राज्य के बहाव में नियन्त्रण बलिये का रूप बिना न रहेया? क्या सबकुल बलिये के बात इन कारण हैं या उनमें वह सामर्थ्य देने हैं? मैं तो सामर्थ्य के माय बलिये लक्ष का माय ही नरनता में नहीं ला पाता हूँ। नहीं यदि राज्य नियन्त्रण के सामर्थ्य से गिरता है, तो बलिये में वह सामर्थ्य किसी तरह की नहीं पहुँच सकती। पूँजी में सामर्थ्य उन्ही है, तो राज्य से। राज्य वह सामर्थ्य से लट ही नहीं सकता। यदि राज्य बही न रहता है, तो हमें पतिन है कि पूँजी से डीकी किसी सामर्थ्य की हमने मूर्ति कर ली है। सत्ता की सामर्थ्य पूँजीगत सामर्थ्य की मर्त्यता है। बर्षोन्तर्गत में नैतिक सामर्थ्य की मूर्ति होनी, उन्ही सत्ता का सामर्थ्य कम होया। पूँजी का सामर्थ्य-



पाय तो उससे पहले ही अराबस्त होकर मर चुका होता। नहीं बलिये से डरने को सलाह में आपको नहीं दिया। बलिया बेचारा हाकिम के हाथ के नीचे ही समये बना दीव्रता है। वह हाथ उसके सिर पर न हो, तो सब मानिये कि वह महापास सेबक और अनुगत बना दीयेगा। ऐसे की ताकत लोभ से बनती है। यदि आज अर्ध-म्यकस्था एंसी बन जाती है कि जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएँ सहज ही कार्य की निर्भोम असमय नहीं बल्कि बहुत हद तक मुक्त हो सकता है। उसके साथ ही बलिये की ताकत आप से आप फिर जायेगी। आदमी को सटीरने की ताकत अब तक ऐसे में हम डाले रहेंगे। तभी तक उसकी प्रमुता है और सत्ता का यही अस्त है। उस ताकत की सीमा लम्बे के बाद सत्ता गिने और बलिया उठे, यह सम्भव नहीं हो सकता है।

२६९ में तो प्राचीनतम विश्वविद्यालयों और व्यावृत्तिक स्कूलों और कॉलेजों की बात कर रहा हूँ। हर जहाँ बलिये की पूर्वी शिक्षा और शिक्षा देनेवालों का निर्भम नियन्त्रण और प्रोवच कर रही है। मैं सरकार के नियन्त्रण को बलिये के नियन्त्रण से अपेक्षाकृत अच्छा मानता हूँ। इस विषय पर अपने विचार हैं।

### पूँजीपति छुटभइये

—नहीं के नियन्त्रण को नहीं है। छुटभइयों को अब हम बलिया कहते हैं अब जिसे सत्ता और सरकार कहते हैं वह उनका प्रमु-बन ही है। पूर्वी का बस सत्ता की अनुमति से ही चलता है। ही चलता है कि बीच से पूँजीपति की हम हटा दे जैसे कि साम्यवाद समझता है कि उसने हटा दिया है। लेकिन छुटभइयों की जमात का नाम अब पूँजीपति नहीं रहता तो नौकरशाही ही जाता है। केवल इस नाम के अन्तर में अधिक अन्तर नहीं पड़ जाता। अन्तर अवश्य पड़ता है और गिंसम की बूझन अब घायब नहीं चलनी है। लेकिन अन्तर अब भी होता है वह यह कि बूझने कारणों से बन जाते हैं। आदमी की इलाक़ बड़े पैमाने पर होती है और छोटे स्तर पर उसकी बिकारी कुछ कम जाती है। लेकिन उस अन्तर पर पड़ी जाने की आवश्यकता नहीं है। इतना कहना पर्याप्त होना चाहिए कि छुटभइयों की जमात से दण्ड और बड्गमनों की जमात में लुप्त होने का वास्तव विषय नहीं है। दोनों एक ही चक्र की दो दण्ड हैं वे परस्पर एक दूसरे की सामर्थ हैं। इसलिए एक की बड्गाने में दूसरा मिटाना का चलता है यह मानने की जरूरी नहीं करनी चाहिए।

### पसा मानव-सापेक्ष बने

पसा तो सामाजिक आधान प्रदान का माध्यम और प्रतीक है। वह विनिमय का

साधन है। इसलिए शिक्षा को तब उस माध्यम के सहयोग और सुविधा की आवश्यकता रहेगी। न कोई जमाना था न है, न हीगा जब आदमी हवा पर रहेगा हवा ही चायेगा और वही जीड़े बिछायेगा। इन सब चीजों के लिए स्पष्ट पथ परदार की आवश्यकता होती है, जिनका प्रतीक पैसा है। लेकिन यह मानना कि उस इष्ट का अनुनाम और सहयोग आधिपत्य के बिना ही नहीं सकता अनास्था और अपरिचय प्रकट करता है। समाम इतिहास में और समाम वर्तमानता में आप देखें कि तीर्थ पुण्य नेता पुण्य बनाइय नहीं हुआ है। जिसमें शक्ति है वह वस्तु-बन नहीं है कुछ और है। बन केवल वस्तु का प्रतीक है, शक्ति का चिन् में बात है। इसलिए आप इन मय से मुक्त रहें कि जब कि शिक्षा के लिए पैसों का सहयोग अनिवार्य होगा तब उस सहयोग की राह से आधिपत्य भी उसका हुए बिना न रहेगा। आज जिस कुपक्षता और साधना की आवश्यकता है वह यही है कि पैसा बने पर आदमी की बलाय नहीं बसिक आदमी उसे बलाये। यह विस्तृत सम्भव है कि बन में जो मानव निरपेक्ष शक्ति आ पड़ी है वह मानव सापेक्ष बन नाम और पत्ती क ऊपर मनुष्य प्रधान हो जाय। वही करना है और नयी शिक्षा को इस विश्वास से आरम्भ होकर हम विश्वास में दीक्षित व्यक्तियों का निर्माण करना है।

२७० ऊपर आपने बहुत ठीक कहा कि शिक्षा के क्षेत्र में ब्रह्मचर्य और उग्रतार के क्षेत्र की अपेक्षा और अधिक आधावापी पायी जाती है। ऐसा क्यों? क्यों है ऐसा कि विद्वान् और बुद्धिमान् अपने तनिक स्वार्थ पक्षपात प्रचया मात्र शौक के लिए दूसरे के हित की हत्या करने में जरा भी नहीं हिचकिचाते और इस प्रकार शिक्षा-क्षेत्र में और समाज में एक बात और कुच्छा को जन्म देते और फैलाते हैं?

### शिक्षितों की सम्भावनाएँ

—जरे बार्द, जंगली आदमी के हाथ में लाठी या क्यादा से क्यादा तीर-कमान रह सकती है। चोट करने का मीका आये तो उसकी चोट न इतनी दूर तक और न गहरे तक हो सकती है। सम्य आदमी बन्दूक तीर कम तक पहुँचता है। जब इन चीजों की मार का ठिकाना क्या है? ब्रह्मचर्य और उग्रतार को कम ज्ञान विज्ञान मिला कि यहूद और आधावापी पर उठें, तो भी कोई बड़ा धारका मार मके या हमारा पीसा कर सकें। शिक्षित-वर्ग अपनी पर आ जाय तो उसकी सम्भावनाएँ भी क्या अधिशिनों जितनी रह जानी चाहिए? इसीसे बीछा अंधे बर्ग और धर पर अधिक और ही मिलनी, कम मरी। इसकी प्रभावित करने के लिए मनुष्य-निष्ठ तर्क के आगे जाने की आवश्यकता ही नहीं है। स्वार्थ और

पशुपात को क्या बापका शिक्षा-क्रम अधिक भी धूता और संस्कार देता है? उससे यह सर्वथा बढ़ता है, इसीसे ही उस शिक्षा-क्रम को वैज्ञानिक माना जाता है। मानवीय के विरोध में वैज्ञानिक। तब यह शिक्षा-क्रम स्वार्थ और पशुपात के हाथों अनिष्ट सम्भावनाओं को अधिक समर्थता और जीव्यता दे आये तो इसमें अपराध की बात क्या है। सच्चे और दुरु से अगर शिक्षा का सम्बन्ध नहीं रहे जाता तो अधिक विचक्षण दुर्जन उस शिक्षा में से फलित हो आये सम्भव न हो, तो इसमें उनके की कोई अनूयि और पक्षी नहीं है। यही बात माननी चाहिए कि जितनी अनिष्टता इस शिक्षा-प्रणालि में से फैलित हो रही है, वह उतनी ही है, अधिक नहीं है। अधिक हो और होनी आये तो उसे रोकथाम ही उपसना चाहिए और उस पर विस्मय नहीं करना चाहिए। क्या हम नहीं चाहते हैं कि वह सर्वथा लौकिक हो, क्या हम नहीं चाहते हैं कि वह नैतिक आदि कई चारपायों से सर्वथा मुक्त हो बर्ष से उत्तीर्ण हो और सम्बन्ध-सामर्थ्य उनमें इतना हो कि मानी स्वयं ही साम्यिक हो? इतना कम यह आये ही जाता है।

### शिक्षा और शिक्षण-तकनीक

प्रश्न १ शिक्षा और शिक्षण-तकनीक का अन्तर्गत में क्या सम्बन्ध है? आद्य भवान्तक कब से बढ़ते हुए तकनीकी शिक्षण के लिए जितनी उपयोगिता समझते हैं?

—तकनीक उस विधि का नाम है, जो एक के भीतर के ज्ञान को दूसरे में पहुँचाने की प्रणाली को स्मर और सुगम करती है। सबसे पहले आवश्यक यह है कि प्रदाता और आदाता में स्नेह की यह प्रेरणा हो, जो परस्पर में भावना और प्रेम-बी-बता देना करे। उसके बाद ही तकनीक की सृष्टि और उसका उपयोग है। आज तकनीक जो स्वयं प्रतिष्ठित तत्त्व बन गया है, तो जान पड़ने लगा है कि शिक्षक और विद्यार्थी में किसी उच्च सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है। टेकनीक स्वयं काम कर आया। इसलिए उन प्रश्न और स्थितिभाव के अन्तर्गत में केवल धुप-विद्या का या आदान-प्रदान रहे माना है, उससे इष्टताय नहीं होता, बल्कि बाँझा-बहुत अनिष्ट-अन्त्याय हो जाता है। तकनीक जिन कहा जाता है, उसकी सृष्टि कहाँ में हुई? मूल में एक ओर से जानेवाला यह अनिष्ट स्नेह का वैयक्तिक, जिनके प्रकार प्रकार की मूल की ओर प्रति प्रति प्रति की प्रणालियों की रचना की। इस मूल-प्रेम्णा के बिना वे प्रणालियाँ निर्धन बहुत जानकारी की बाढ़ से बाढ़ी पहुँचाती हैं कोई नस्कागिता और अनुमति उनके द्वारा प्राप्त नहीं होती। एक तरह तकनीक की प्रवृत्ति या अधिकता को सही शिक्षण के लिए बाधक ही मानना चाहिए।

अध्यापक और विद्यार्थी के दूधित सम्बन्ध

२७२ अध्यापक और विद्यार्थी के बीच अपने स्नेह-भाव को आवश्यक बताया। पर आज इन दोनों के सम्बन्ध को दूधित और विधातत हुए बीजते हैं। उसके लिए आप किसे जिम्मेदार कहते हैं, अध्यापक को या विद्यार्थी को या हमारी शिक्षण-नीति को ?

—दूधित और विधातत की बात तो दूर है, यहका रोम तो यह है कि वे सम्बन्ध निर्जीव हो गये हैं। अध्यापक की निम्नाह किसी और तरफ है, विद्यार्थी मानो राह में आ गया है और वह उस पर पाँव रखता हुआ कहीं ऊँचे पहुँचना चाहता है। विद्यार्थी को भी और न उसके माता पिता को, जीवन-संस्कारी शिक्षा की अपेक्षा है। उन्हें बस अर्बकरी शिक्षा पर्याप्त है।

जिम्मेदारी आज की सम्यता पर

स्थिति की जिम्मेदारी कहीं किसी सास पर में नहीं डाल सकता हूँ। अध्यापक पर या विद्यार्थी पर। शिक्षण-नीति के सम्बन्ध में अबस्य कुछ कहा जा सकता है, क्योंकि नीति देनेवालों से अपेक्षा होती है कि वे जीवन के प्रति अधिक जाग्रत हों। लेकिन सब यह है कि सारी जाबाहुवा सारी सम्यता में कहीं विकार है और उसके उपचार के लिए पत्ते-पत्ते पर जाने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता मूल निदान और अनुसन्धान की है। जिस सम्यता के बातावरण में हम साँस ले रहे हैं, वहाँ मुख्य मनुष्यता से हटकर सम्प्रभता पर आ गया है और आसनी अपनी आगाह सही और सच्चा नहीं बनना चाहता है, वह दूसरों से ज्यादा रसमेवाला और रोब दाबवाला बनना चाहता है। सकलता का समुचा कम ही यह बन गया है। परिणाम यह है कि गिना के क्षेत्र में भी क्या अध्यापक और क्या विद्यार्थी उनी तरफ बढ़ने में कृतकार्यता मानते हैं। जिन्हें ज्ञान का ऊँचे से ऊँचा पीठ-स्वाम कहा जा सकता है, उन विश्वविद्यालयों में हम बढ़ावनी की चीज़ है और ऊँचा प्रोफ़ेसर वह है, जो विद्यार्थियों को ऊँचा ज्ञान दे कि न दे, राजनीति की ऊँचाइयों में चलता-फिरता हुआ अबस्य दिखाई दे। समुची सम्यता की यह बीमारी सहज दूर नहीं होगवाली है। इतना बेदाक कहा जा सकता है कि शिक्षण का क्षेत्र वह अमेल्यक है, जहाँ यदि जीपमि का प्रमेय ही तो सार समाज-सारीर में उसका प्रभाव दिखाई दे सकता है। इसलिए वहमि आरम्भ करना उपयोगी होगा।

२७३ विद्यार्थियों में अनुशासन-हीनता के लिए आप किसे जिम्मेदार कहते हैं ? हमारे प्राणहीन पाठ्य-क्रम को, जो उन्हें बहुत अधिक समय बँकाए होने के लिए

दे देता है या परीक्षा की प्रणाली को, जिसके आधार पर उनमें जिज्ञासा और अध्ययन का एकदम अभाव हो जाता है ?

### पाठ्य-क्रम और परीक्षा-प्रणाली

—अनुशासन से छूटकर जो शक्ति अनिष्ट मार्गों में जाती है सो उसके उपयोग की कक्षा का अभाव है इसीलिए जाती है। मूल मान-व्यक्ति सच्चा-सच्चा नहीं होती। जिन विद्याओं में व्यक्तिव्यक्ति है सरसत् विशेषण उन्हीं अपेक्षाओं से बनते और मरते हैं। अर्थात् आवश्यकता यह है कि समग्र जीवन-व्यक्ति एकाग्र और प्रबल जिससे ही चाहे ऐसा कुछ गृह्य आशय आतावरण में और विद्याविधियों के जीवन में पैदा होना चाहिए। स्पष्ट है कि वह अनुपस्थित है।

पाठ्य क्रम और परीक्षा प्रणाली उस मूलभूमि का पैदा होने देने में सहायक की अपेक्षा बाधक होती है। जिन पुस्तकों को कुम्भी के सहारे एक-दो महीने में निरटाकर और परीक्षा में बैठे-सैरे पास-जंठ भाकर विद्यार्थी आवश्यक ज्ञान से छुटी मान लेता है। उसके बाद जो काम आती है, वह केवल डिप्टी होती है। इस सबसे जीवन का मूल उद्देश्य बनने में कोई सहायता नहीं मिलती बल्कि उस उद्देश्य की आवश्यकता के बारे में अज्ञानीता पैदा हो जाती है। समय का स्थान मौकिक सफलता लिये रहती है और उस अवधि डिप्टी से अधिक कुछ आवश्यक नहीं है।

### परीक्षा-प्रणाली बचल बी आय

परीक्षा-प्रणाली को एकदम बरस डालने की जरूरत है। उससे बहुत शक्ति का अपव्यय होता और हानिमित की बढ़ावा मिलता है। उसकी स्थिर प्रवृत्ति की हद नहीं रहती। पाठ्य-क्रम की प्रणाली में भी अन्तर जाना चाहिए। टेक्स्टबुक में यदि विचारों में ही अपेक्षा सामान्य और सजीव ज्ञान की हो तो कुम्भी के बल से यह घीनकर पास होने की आवश्यकता पर कुछ रोक-थाम पड़। पाठ्य क्रम के बहुत अधिक निर्दिष्ट और नियुक्त होने में अध्यापक की भी कुछ तैयारी नहीं करनी पड़ती और बनी बान की तरह वह अपना काम कर जाता है। विद्यार्थी में कोई असली बोध प्रदान की आवश्यकता उनके लिए नहीं रह जाती। किन्तु यह सब यह क्यों करे, या विद्यार्थी ही पुस्तक के सम्पर्क से दूर-दूर क्यों जाय जब कि आगे जीवन में उनमें विचार अन्तर नहीं पड़नेवाला है और संगत बचल डिप्टी ही रहनेवाली है। अन्त में समग्र शिक्षण पर ही पुनर्विचार होने की आवश्यकता है और परिवर्तन मूल से होना चाहिए। मुझे विश्वास है कि जो दृष्टिकोण शिक्षण का होगा उनमें

परीक्षा में प्राप्त अंक या अंशक पुस्तक की पढ़ी हुई शब्दावलि का उतना महत्त्व नहीं रह जायगा।

२७४ क्या भाषा बतल सकते हैं कि परीक्षा का क्या स्वल्प परिवर्तित सिद्धान्त-व्यवस्था में होगा या होना चाहिए ?

### सिद्धान्त और व्यवहार में सामंजस्य हो

—मैं सत्य-सिद्धा को कर्ममुक्त नहीं देख सकता हूँ। करने के द्वारा जो चीज़ा जाता है वह सम्पूर्ण जीवन का ऋण बनता है और व्यक्तित्व को सामर्थ्य देता है। सिद्धान्त और व्यवहार दो बड़े-छोटे लोगों में और दूर-दूर रहें तो इससे काम नहीं चल सकता। साथ-साथ तो सत्य-सिद्धा की कड़ी-कड़ी कर्म-प्रयोग में समायोजन और निरन्तर होती जा सकती है। कोई भी ऐसा विषय यावत् ही हो जो निरन्तर बौद्धिक हो और जीवनोपयोगी न हो। स्वयं दर्शन की मैं जीवन और कर्म-निरपेक्ष नहीं मानता हूँ। वह दर्शन क्या जिससे बनासस्थ नहीं प्राप्त होती और जिस को सम्मुख नहीं मिलता। अर्थात् दर्शन विषय की परीक्षा विद्यार्थी के व्यवहार और मनोभाव से निम्न प्रति होती जा सकती है। इस प्रकार की सामान्य परीक्षाएँ अभ्यासक प्रतिस्पर्धा रूप रह सकते और चाहें तो उसका रिफ़र्ष भी रख सकते हैं। इस पद्धति से यह सम्भावना लगभग समाप्त हो जाती है कि विद्यार्थी केस होता है। किसी विद्या में उसकी गति नहीं हो पाती तो बचकाव रहता है कि वहीं से उसकी शक्ति और शक्ति का योग किसी भाव-भाव की विद्या में मोड़ा जा सके। वह सब एक ही सम्भव सभी होगा जब पुनः-सिद्धान्तव्यवस्था में न केवल समनता हो बल्कि एक प्रकार की स्वतन्त्रता भी हो। पाठ्य क्रम और परीक्षाएँ इस सम्भावना को पुष्पित और फलित ही नहीं होने देनी।

### आर्ट और साइन्स का विभाजन दोषपूर्ण

अभी सामान्यतया शिक्षण को आर्ट और साइन्स इन दो विभागों में अलग-अलग करके देखा जाता है। जैसे कला में मूर्ति-बुद्धि का उपयोग न हो या विज्ञान के लिए कल्पना का योग अवश्य हो। विभाग में प्रयोग सम्भव और संभव है तो कला के लिए प्रयोग की सम्भावना और मुक्ति कहीं न हो ? अर्थशास्त्र जिन्हें पढ़ाया जाता है अर्थ के साथ व्यवहार करना भी युगपत् उन्हें क्या न सिखाया जाय ? देखते हैं कि अर्थशास्त्र पढ़नेवाला अर्थशास्त्र पढ़ानेवाला ही बन पाता है अर्थ के विनिर्माण या प्रयोग का बिम्ब बनते उभे हुए नहीं देखते। आर्ट की मूर्ति में जाने जाने और भी विषय हैं जो प्रयोग-व्यवहार से मुक्त जाने आते हैं। स्वयं भाषा के

दे देता है या परीक्षा की प्रणाली की, जिससे आगार पर जगमें विद्याया और लक्ष्य का एकदम अभाव हो जाता है ?

### पाठ्य क्रम और परीक्षा-प्रणाली

—अनुपासन से झूटकर जो शक्ति अगिष्ट मार्गों में जाती है, सो उसके उपयोग को करना का अभाव है इसीलिए जाती है। मूल प्राण-शक्ति सत्-मसत् नहीं होती। दिन दिपाजों में अभिव्यक्ति है, सबसत् विशेषण उन्हीं अपेक्षाओं से बनते और लगते हैं। अर्थात् आवश्यकता यह है कि समस्त जीवन-शक्ति एकाग्र और प्रवृत्त जिससे हो जाये ऐसा कुछ बृहत् मास्य वातावरण में और विद्याविधियों के जीवन से पैदा होना चाहिए। स्पष्ट है कि यह अनुपस्थित है।

पाठ्य क्रम और परीक्षा-प्रणाली उस मूलमिप्राण को पैदा होने देने में सहायक की जाह बाधक होती है। विनी चुनी पुस्तकों को कुंजी के सहारे एक-दो महीने में निगटाकर और परीक्षा में जैसे-तैसे पास-अंक साकर विद्यार्थी आवश्यक ज्ञान से कृती मान लेता है। उसके बाद जो काम जाती है वह केवल डिग्री होती है। इस समय जीवन का मूल उद्देश्य बनने से कोई सहायता नहीं मिलती बल्कि उस उद्देश्य की आवश्यकता के बारे में उपासीनता पैदा हो जाती है। लक्ष्य का स्वान मोक्षिक लक्ष्यता लिये रहती है और उस जबह डिग्री से अधिक कुछ आवश्यक नहीं है।

### परीक्षा-प्रणाली अवन हो जाय

परीक्षा-प्रणाली को एकदम बदल डालने की जरूरत है। उसके बहुत शक्ति का अभाव होना और कुशिलता की बढ़ना मिलता है। उसको लेकर प्रणाली की ह नही रहती। पाठ्य-क्रम की प्रणाली में भी अन्तर जाना चाहिए। टैकटकन में यदि किताबें न हों, अपेक्षा सामान्य और सजीव ज्ञान की हो, तो कुम्भी के बल से रट चीटकर पास होने की आस पर कुछ रोक-बाध पड़े। पाठ्य-क्रम के बहुत अधिक निर्दिष्ट जीव नियुक्त होने से अध्यापक की भी कुछ तैयारी नहीं करनी पड़ती और बनी बान की तरह वह अपना काम कर जाता है। विद्यार्थी में कोई असली बीप जमाने की आवश्यकता उनके लिए नहीं रह जाती। किन्तु यह सब वह क्यों करे, या विद्यार्थी ही पुष्क के मार्गों से हजर-उबर क्यों जाय जब कि जाये जीवन में उमने विशेष अन्तर नहीं बढ़नेवाला है और संगत केवल डिग्री ही रहनेवाली है। अन्त में समूह गिराव पर ही पुनर्विचार होने की आवश्यकता है और परिवर्तन मूल से होना चाहिए। मुझे विश्वास है कि जो दृष्टिकरण विस्तार का होता उसमें

परीक्षा में प्राप्त अंक या समुक्त पुस्तक की रट्टी हुई शब्दावलि का उलगा महत्त्व नहीं रह जायगा।

२७४ क्या आप बता सकते हैं कि परीक्षा का क्या स्वल्प परिवर्तित शिक्षण-व्यवस्था में होना चाहिए ?

**सिद्धान्त और व्यवहार में सामंजस्य हो**

—यै राष्ट्र-शिक्षा को कर्ममुक्त नहीं देख सकता है। वरन् के द्वारा जो सीखा जाता है, वह सचमुच जीवन का अंग बनता है और व्यक्तित्व को सामर्थ्य देता है। सिद्धान्त और व्यवहार दो अलग ज्ञानों में और दूर-दूर रहें तो इनमें काम नहीं चल सकता। साथ-सथें तो राष्ट्र-शिक्षा की जमीनी कर्म प्रयोग में बनायास और निरन्तर होती जा सकती है। कीर्तनी ऐसा विषय सामर्थ्य ही हो जो निरन्तर बौद्धिक हो और जीवनोपयोगी न हो। स्वयं वर्णन को मैं जीवन और कर्म-निरपेक्ष नहीं मानता हूँ। वह वर्णन क्या विग्रह बनासक्ति नहीं प्राप्त होनी और विग्रह को सम्पुष्ट नहीं मिलता। अर्थात् वर्णन-विषय की परीक्षा विद्यार्थी के व्यवहार और मनोभाव में निरन्तर प्रति होती जा सकती है। इन प्रकार की सामान्य परीक्षाएँ सम्पादक प्रशिक्षणार्थ देते रह सकते और चाहें तो उनका गिर्ब भी रख सकते हैं। इस पद्धति से यह सम्भावना कमसे-कम सम्प्राप्त हो जाती है कि विद्यार्थी कोश होता है। किसी विद्या में उसकी प्रति नहीं हो पाती तो अवकाश रहता है कि वहीं से उसकी वृत्ति और चर्चित का योग किसी भाव-भाव की दिशा में मोड़ा जा सके। यह सब एक तो सम्भव लानी होगा जब गुरु-शिष्यसम्बन्ध में न केवल मन्त्रणा हो बल्कि एक प्रकार की स्वतन्त्रता भी हो। पाठ्य क्रम और परीक्षाएँ इस सम्भावना को पुष्पित और कलित ही नहीं होने दीं।

**आर्ट और साइन्स का विभाजन दोषपूर्ण**

अभी सामान्यतया शिक्षण की आर्ट और साइन्स इन दो विभागों में अलग-अलग करके देखा जाता है। जैसे कला में मन्त्रित-बुद्धि का उपयोग न हो या विज्ञान के लिए कल्पना का योग अन्याय हो। विज्ञान में प्रयोग सम्भव और रचना है तो कला के लिए प्रयोग की सम्भावना और सुविधा क्यों न हो ? अर्थशास्त्र जिन्हें पढ़ाया जाता है अर्थ के साथ व्यवहार करना भी सुमग्न उन्हें क्यों न सिखाया जाय ? देखते हैं कि अर्थशास्त्र पढ़नेवाला अर्थशास्त्र पढ़नेवाला ही बन पाता है, अर्थ के विनिर्माण या प्रयोग का विमोचन उसे हम नहीं देखते। आर्ट की सूची में आने वाले और भी विषय हैं जो प्रयोग-व्यवहार से मुक्त माने जाते हैं। स्वयं माया के



विषय को ही जीविते। अमुक भाषा की पढ़ाई में उस भाषा द्वारा आत्मविश्वस्ति को इतना अनिवार्य नहीं माना जाता है। भाषा-ज्ञान को पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित समझ लिया जाता है। भाषा पर अधिकार का अर्थ होना यह चाहिए कि सफल विद्यार्थी उस भाषा को सफल वक्ता और साहित्यकार बने। पर ऐसा नहीं है। बहुत ज़ाये जाकर जो उस भाषा में पी-एच० डी० लेते हैं, वे इस मौम्यता से और दूर पड़ जाते हैं। गढ़ा-बढ़ा और पुस्तकीय ही विषय न हो तो सहज भाषा विश्वस्ति भी उन्हें कठिन होती है। इस तरह यह भाषा ज्ञान ही भाषा-समता से उन्हें दूर ढाक देता है। यही पार्ट के अन्तर्गत जानेवाले दूसरे विषयों का हाथ है। उन विषयों में परीक्षा में काफी अंक के जानेवाले भी उत्सम्भान्धी सुबन-समता से विमुक्त दिखाई देते हैं। यह अधिकांश इस कारण कि हमने माना है कि कोई ज्ञान निराला बौद्धिक हो सकता है, कर्म-समता से संगत होने की उसके लिए आवश्यकता नहीं है। इस तरह एक नमूना पैदा होता है जो कर नहीं सकता बस बिद्या के पठन-पाठन का व्यापार कर सकता है। ऐसी कर्म-विमुक्त और वायुयुक्त बिद्या में क्या काम क्या होनेवाला है? कर्म से हीन ही यह बिद्या है, जो हमारे विस्क-विद्यालयों में रम्य और प्रपञ्च का बातावरण बनाये रखती है। इन्हीं विषयों की पाठ्य-पुस्तकें और परीक्षाएँ हैं जो अष्टाचार का केन्द्र बनती हैं। कोई पाँच-सात विद्याओं की मजबूत से एक नयी पाठ्य-पुस्तक तैयार कर देता है और मालूम करने जैसे कि वे महासय स्वयं क्या हैं तो अस्मय नहीं कि जोड़-तोड़ के जादूगर से अधिक कुछ न निकलें। यह सब अन्धेर-लाठा उस बिद्या के कारण चलता है जिसकी परीक्षा ही जीवन और कर्म में ही नहीं पायी है। यदि हम शिक्षा के सम्बन्ध में इस मूलदृष्टि को छाक रखें तो फिर आगे जाकर पाठ्य-क्रम और परीक्षातन्त्रान्धी बहुत-सी समस्याएँ सुलझती-सी बीखने लगेंगी।

### ज्ञान, कर्म और चरित्र की एकता

करो और सीपों (सरनिंग बाइ बूइंग) जाति सीपे सूच है, जो जीवन के अनुभव से हमें मिलने हैं। जिन्होंने सबकुछ कुछ किया है उन्होंने अधिकांश जीवन की पाठशाला में से ही अधिक सीखा है। बही टिका और काम आया है। आश्चर्य यह है कि सीपने की नहीं बिधि यह जो गाम-गाव करने भी जाना है उमरी और जिज्ञा साक्षिणी का ध्यान पर्याप्त रूप से नहीं भरी गया है? भारत में तो बसो अंधेरा मोग के जिन्हें बचकी की उदरन भी समर्थ व्यक्तिपों ने बलिभय था। लेकिन वेन को जब कि सबकुछ समर्थ पुर्णों की आवश्यकता है तब भी जिज्ञा हीन ज्ञान की हम नहीं इनना महत्त्व देते बने जा रहे हैं? समय का कि हम

पहुँचाने कि जो कर्म में प्रकट और समझ नहीं हो सकता वह ज्ञान अमल में ज्ञान है ही नहीं वह केवल साधन-रहस्य है। हमको इस सत्य की यदि पहुँचान हो जाय कि ज्ञान कर्म और चारित्र्य ये तीन अलग बँटें और कटे हुए नहीं हैं बल्कि तीनों को एकता और इस तरह समस्त व्यक्तित्व को सम्मिलित करनेवाला प्रियत्व ही सही प्रियत्व है, तो पन्दी ही इष्ट-परिवर्तन का स्वल्प हमारे आगे स्पष्ट होता आ सकता है।

### वैज्ञानिक और धार्मिक का अन्तर पिये

एक नयी चीज पापीयों के द्वारा शुरू की गयी थी जिसका 'युनियादी तालीम' नाम पड़ा। उसकी पीछे छीछाकेदार हैं। आज उसकी खानापूर्ति के तौर पर बताया भी जा रहा है, लेकिन उसकी मूल धारणा इस दर्शन में थी कि करने के द्वारा सीखना हीना और उस ज्ञान की कसीरी आस रास के प्रति अधिकारिक उप योगी और सक्रिय होने के द्वारा होयी। उस मूल-दृष्टि को प्राथमिक से निरन्तरिधायन के स्तर तक भी अमल में लाया जाय तो एक व्यक्तिगती परिवर्तन आ सकता है। वर्तमान सम्प्रदाय वैज्ञानिक और धार्मिक को एक-दूसरे से काफी दूर रखती और बीच में नागा प्रकार के सीपों के लिए अचकाय बताये रखती है। यदि यह अन्तर दूर जाता है, तो पोषण की विधियाँ और प्रयोजन्य भी मूल जाती हैं और आध्यात्मिक सम्प्रदाय मानवीय बनने लग सकती है। लेकिन यह सामान्य आपके प्रश्न में दूर जाना हो जायगा।

२७५ पाठ्य क्रम में सैम्य-प्रिया और बि के अनुकूल किसी भी व्यवसाय की प्रिया का धन इन दो को जब तक अनिवार्य करार नहीं दिया जायगा तब तक मेरे विचार में विद्यार्थियों में अनुशासन और समुत्पन्न, नीतिकला और विचारकता नहीं आ सकती। क्या आप मेरे इस सोचने से सहमत हैं?

### सैम्य और प्रिय की शिक्षा

—सैम्य और प्रिय इन दोनों प्रियाओं से मिलन हो तो एक विशेष प्रकार की सार्थकता साम्प्रतिकता और संभवता प्राप्त होगी यही आपका आशय है न? इन तीनों पु्यों को मैं नहीं प्रियत्व का बीजमूल कहूँगा। सममानापन का स्वभाव नयी में होता है। प्रियत्व के लिए जरूरी है कि व्यक्ति को वह एक जीवन प्रयोजन का साम दे और व्यक्ति इस तरह प्रिया किछु न रह जाय बल्कि समान के लिए नपन और नमय बने। इसी तरह प्रिया-प्रिया में मार्थकता और साम्प्रतिकता मानी चाहिए, जो किसी काम अपना प्रिय में जाती है। प्रिय सैम्य और प्रिय ये स्वयं निज प्रयोजन से जुड़े हैं, यह प्रश्न विचारणीय रहता है। आश्चर्य करने

बाह्य फैलनेविल पब्लिक-स्कूलों में कुछ-कुछ यह सैन्य और शिष्य की शिक्षा का स्पर्श रहा करता है। निम्न उससे दृष्ट की पूर्ति नहीं होती। हैन्डीकैप्ट के इस या उस रूप की पाठ्य क्रम में बाधित करने का सब भी जहाँ-तहाँ दिखाई देता है। पर जो मने ऊपर कहा वह उससे भिन्न है। यहाँ हस्तशिष्य कुछ चीक की तरह नहीं सीखा जा सकता। दबे लोपों के लड़के यह चीक फरमाया करते हैं। लेकिन उससे साम नहीं होता न स्वयं विद्यार्थी को होता है, न समाज की होता है। वह हस्तशिष्य किसी काम नहीं आता न उसमें इतनी शक्त होती है कि वह बाजार की स्पर्धा में ठहर सके। उस प्रकार के शिष्य और उद्यम की शिक्षा के माध्यम के रूप में ही अंगीकार करना इससे बिल्कुल दूसरी चीज है। यह है कि जिससे धन केन्द्र में जा सकता और बुद्धि से समन्वित हो सकता है, वहाँ वह चीक नहीं रहता है, बल्कि जीवन का मेरुस्थल हो जाता है वह मूल्य बन जाता है।

सैन्य-शिक्षण स एक अनुशासन प्राप्त होता है। मिक-बुल्कर पब्लिशर काम करने की योग्यता आती है। यह भी समाज के लिए उपयोगी और कीमती चीज है। लेकिन कुछ ऐसा करना होगा कि यह योग्यता और क्षमता मिले सक्रिय शस्त्र की मद्धा और शत्रुता की आवश्यकता न बने। सैन्य-व्यापार के लिए शस्त्र और शत्रु दोनों आवश्यक होते हैं। उनके बिना सैन्य-व्यापार में जान ही नहीं आती न दम-खम पैदा होता है। मैं मानता हूँ कि उत्तरीय शस्त्र और शत्रु समाप्त होते चार्वन। यदि उनके बिना व्यक्ति अनुशासन सीख ही नहीं सकता तो तो मानना होगा कि शस्त्र और शत्रु के अभाव में फिर अराजकता की ही जा रहना है। यह सम्भव नहीं है। अराजकता और आपाधापी ही अगर रह जाय तो समाज समाप्त हो जाता है और जादियों के लिए भी अवसर ही रह जाता है। नहीं विकास इस तरह पीछे की ओर नहीं जा सकता। अर्थात् सैन्य-शिक्षा यदि आवश्यक हो तो वह सैन्य शिक्षा मनुष्य का काम देगी जिसमें सेना शान्ति-सेना ही। तबनुकूल उस अम्यास में कुछ अन्तर भी होगा। यदि सामान्य सैनिक के हाथ में लाठी है और उसमें उस उससे बार करना सिनाया जाता है तो शान्ति-सैनिक को उन लाठियों को मिलाकर डोमी और सब बनाना सिनाया जायगा जिससे घायल और बीमार आसानी से से जाया जा सके। अर्थात् मानसिक और शारीरिक अनुशासन का काम हम सैन्य शिक्षण से अलग मिलेगा लेकिन शस्त्र और शत्रु से होनेवाली हानि से विद्यार्थी को बचा लिया जायगा। उसकी जगह सुभूषा प्राथमिक सहायता इत्यादि की दीजा होगी और पहले अम्यास यदि युवानुकूल वा तो दूसरे की विशेषता शान्ति-सेवानुकूल होगी।

## हमारे पब्लिक-स्कूल

२७६. हमारे पब्लिक-स्कूल जो पैसे के बीम और बंदेजी के दम से चलते हैं और कुलीन वर्ग को बनाने और रखने का लक्ष्य लेकर काम करते हैं, क्या भारत के समाज-कार के सिद्धांत से एकदम उलट नहीं पड़ते ?

—भारत की इकोनोमी आज सम्मिश्र अवस्था की है। पब्लिक-स्कूल का सामान्य स्कूल से उत्तम माना जाता है, उमरों प्रति विद्यार्थी सर्व अधिक आता है। उन मनुष्यों पर नारे स्कूल तो बरकार चला नहीं सकती। तो क्या जो छोटे उन उत्तम मनुष्यों पर चला रहे हैं और चला सकते हैं, क्या उन्हें अबसरमयी धनिया बना दिया जाय या खतम कर दिया जाय ? उन स्कूलों की सर्व-व्यवस्था सभी मनुष्य चित रह सकती है अब विद्यार्थियों से अमुक जाय हो जाय। इसके लिए फीस नहीं की बड़ी बड़ी है हमारे सर्वे भी ज्यादा है, और मिर्क सम्पन्न माना-पना अपने बालकों को नहीं शिक्षा दिलाने का शोक पूरा कर सकते हैं।

आप जेवियेया हम तरह मर्क का एक विषय चला रहा ही आता है। कौन कहता कि यदि उत्तम सस्पाएँ कम हैं और महंगा सब सम्पत्तियों की इतना उत्तम नहीं बनाया जा सकता तो जो है उनको भी खतम कर दिया जाय ? जारी गया आता है तो वे विविध और कुलीनचित्त बने बिना रह नहीं सकती। अब क्या किया जाय ?

## समाजवादी नारे के प्रतिकूल

निराश ही यह स्थिति समाजवादी शक्तों और नारों ने अनुकूल नहीं ठहरी जा सकती है। लेकिन क्या आप मजबूत मानते हैं कि नारा स्वाभाविक होता है ? क्या यह नहीं है कि स्वयं समाजवादी शक्तों में एनी कोई विविधता और निम्नता नहीं है ? मैं स्वयं अस्वीकार्य में विराम करने वाला हूँ। मैं मानता हूँ कि सबसे अधिक बाराम योगी की निम्नता चाहिए और व्यवस्था में प्राप्त हो सकनेवाली सबसे अधिक मेजर-मुविवा धर्मित और पौड़ित की निम्नता चाहिए। कौन जानता है कि जो सबसे निम्न है वह हमी कारण निम्न नहीं है कि शायद सब महिम्न बनकर उनके ऊपर सवार है ? कौन जानता है कि उसे हम सकल ही प्रापचित्त नहीं उठाया पड़ रहा है ? अगर हमें करने बीम म सुख होता है तो उमर आदर से आरम्भ करना है जो हमारे ही कारण निम्न, निम्न और अपर्यवना हुआ है।

## पब्लिक-स्कूलों के बालक जीवन-सांघव में बोधम

और भी एक बात देनी जाती है। पब्लिक-स्कूलों के बालक पाठ्यता और

सकीकेदार होते हैं। उनमें प्रगियर्मा कम हैं और समाज में वे खुले आत्म-विश्वास से व्यवहार करते हैं। लेकिन आगे जाकर जीवन-संघर्ष में वे उतने ही मजबूत साबित होते हैं इसमें सन्देह है। विप्लविद्यात्म की या आगे जीवन की परीक्षा में मैं नहीं मानता कि पब्लिक-स्कूलों के बाळक कुछ अधिक उपलब्धता दिखा पाते हैं। मुझे विस्मय न होया कि आगे जाकर ये ही कुछ पिछड़े हुए, बन्धन की जगह दोषम, दिखाई देते हों। ऐसा होना इसलिए संगत है कि कठिनाइयों में वे जो सीखा पाता है नहीं बहरा और बरा होता है।

इसलिए पब्लिक-स्कूलों के प्रति किसी स्पृहा और ईर्ष्या के भाव से देखने की आवश्यकता नहीं है।

### पश्चिमी शिक्षा-पद्धति

१९७७ की शिक्षा-पद्धति इस समय भारत में काम कर रही है उसीके बल-बूते पर पश्चिम ने महत्त्व व्यक्तियों को जन्म दिया है। फिर भारत में ही पश्चिमी शिक्षा-पद्धति का यह प्रयोग अबूरा और विचल क्यों सिद्ध हो रहा है? दोनों बाण्डों की शिक्षा-प्रणाली में छात्रों का अन्तर प्रभाव है या स्फिरिट का?

—महत्त्व व्यक्तियों के जीवन के इतिहास और विस्लेषण में जाना पड़ेगा यह तय करने के लिए कि किन तर्कों से उनका जीवन महान् बना। शिक्षा प्रणाली में वे ही यदि बना होना तो दूसरे शिक्षित महान् क्यों नहीं बने इसके कारण ढूंढने की आवश्यकता हो जायगी।

### उसकी विशेषताएँ

लेकिन यह समझना कि शिक्षा-पद्धति यहाँ और वहाँ एक है, भूल करना होना। वहाँ भी माध्यम क्या विदेशी भाषा है? शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में केवल यह तथ्य कि भारत में शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषा नहीं है एक विदेशी भाषा है, उसकी एक साथ हमला कृत्रिम बना देना है कि उनकी दूसरों से तुलना नहीं हो सकती। इसी कारण इन दोनों में मिलान और अतिशित सहृदी और देहाती में उतनी दूरी नहीं गिराई देनी है। शिक्षा का गम्भिर्य वही हमला अधिक अर्थोपायन में नहीं है। कार्य के तौर पर जब अर्थ केन्द्र में होता है तब शिक्षा मानो व्यस्तित्व में संस्कार से गम्भिर दिग्ग हो जाती है और केवल अर्थोपायिता रह जाती है। उनका वैसा प्रभाव पश्चिम के अग्रगण्य देशों में नहीं देखने में आया। उनमें जीवन गम्भीर और अधिकम का भाव नहीं हुआ और रोजगार चाहनेवाले बेकार प्रायियों को मंजूर नहीं बड़ी। वे कारण और अन्तर स्पष्ट हैं जिनमें भारत में उस शिक्षा

विधि का वह सब अविष्ट परिणाम हुआ है। इस तथ पर दोनों जगह की कोई तुलना नहीं की जा सकती।

यों तो पिछली सदी के बीच भाषा के सभी महत्वपूर्ण आदमी साक्षर और शिक्षित ही मिलेंगे। लेकिन यह मानना कि स्कूली-शिक्षा ने उनमें यह महत्व बाँटा जल्दी करना होगा। चायद वे उस शिक्षा के बावजूद समर्थ और महत्वदायी बन न सकें उसके कारण।

२७८. क्या आप विश्वास रखते हैं कि हमारी सरकार अंग्रेजों को शिक्षा-व्यवस्था में से निष्कात देने की उत्सुक है? क्या कमसे-कम यह भारतीय भाषाओं को उनका उचित स्थान देने के महत्व को महसूस करती है?

**अपेक्षित बड़ रहो है**

—अपनी सरकार के बारे में अनुमान से मैं काम लेना नहीं चाहता। उन और से जो वस्तुस्थिति हैं। उन्हींको ज्यों-का-यों मानकर क्या न बना जाए? सब यह कि सरकारी में क्या नहीं हुआ करती। अपनी सरकार में तो संस्कृत के बस एक का जमाव है। बहुत-बुढ़ा जाने जानेवाले समय और मौखिक-स्थिति पर निर्भर करता है। मैं देखने में भारतीयता का पर है अंग्रेजीयत बड़ रही है। हम उन्हें अपनी का महत्व या उस भाषा की निरमलता समझनी नहीं सीखती है। वो संसद का निर्णय है कि सन् १९९५ से काम हिन्दी के द्वारा होने लगेगा। लेकिन साथ ही यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अपनी का उपयोग विविध नहीं छहुरा आदमी और यह मानो हमारी राजभाषा रहनी। इस हमारे निर्णय के साथ पहले संस्कृत का क्या संबंध है यह देखने की ही बात है।

**लोक-शास्त्र को सिध्द लोक-भाषा चाहिए**

काँग्रेस-सरकार में जनता के साथ एकाचार होने की कोई आशुता नहीं दिखायी देनी है। लोकशास्त्र में नहीं सबसे बड़ी योग्यता हीनी चाहिए। मैं मानता हूँ कि लोकशास्त्र सही और अपने तीर पर ध्यान को नहीं ध्यान होगा। अगर हमका काम-काज लोकभाषा और जनभाषा के द्वारा नहीं चलेगा। काँग्रेस की सरकार हमने अंग्रेजी पढ़े लिखे अंग्रेजों के लोकोपेक्ष पर बहुत जगह दिखाया और सरा रहती है। हमारे बच और निर्भर और लोकनिष्ठ होने की चिन्ता में हमने यह मुस्त हो जानी है। यह चुपचाप जानेवाले हैं मन्त्र है कि सब कोषों भाषों को यह चिन्ता फिर मजाने लगे और उन्हें यह अनुभव प्राप्त हो कि लोक-शास्त्र मन्त्र-मन्त्र की दृष्टि से लोकभाषा का अविच्छेद अविच्छेद है। लेकिन मानव-मन

जो स्व है उसको देखते हुए कांग्रेसी राज्य से हिन्दी या भारतीय भाषाओं के महत्त्व को अंग्रेजी से अधिक करने की दिशा में कुछ विशेष जाया नहीं रखी जा सकती।

### पब्लिक-स्कूल और अंग्रेजी

२७९. क्या पब्लिक स्कूल इस अंग्रेजी की निर्भरता को बढ़ावा नहीं दे रहे हैं?  
—हाँ दे रहे हैं। समाज में जो ऊँचा स्तर समझा जाता है वहाँ अंग्रेजी के द्वारा प्रवेश सहज होता है। इसलिए फँसना भी सघर ही जा रहा है। लेकिन जब लोकजीवन की ओर हमारा ध्यान आया और राजनीति अपने लिए बहुसंख्यक शक्ति प्राप्त करना अनिवार्य पायेगी तो प्रकट होता कि वे व्यक्ति जिनकी जड़ें भारतीय भाषा में नहीं हैं कुछ ऊपर उठ जाते हैं लोक-जीवन में उनकी कोई मजबूत जगह नहीं बनती। अर्थात् हमारा सार्वजनिक जीवन जब व्यापक आधार लेगा तो पब्लिक-स्कूलों द्वारा शिक्षित-बीक्षित व्यक्ति उभरे हुए खींच सकते हैं और उनकी महत्त्व सामान्य से कुछ कम भी हो सकता है। मात्र हमारा सार्वजनिक जीवन उस दिशा में नहीं जा रहा है इसीलिए अंग्रेजियत के पीछे जोय बौड़ रहे हैं। यहाँ पर तो उसका गहरा सबार है। कांग्रेसी शासन के प्रधानमन्त्री को सामने रखकर वह स्व और हस्तान ऐसी पकड़ रहा है इसमें सन्देह नहीं।

२८०. क्या आपका विश्वास है कि उच्चतम तकनीकी शिक्षा के लिए भारतीय भाषाएँ उपयोगी साबित हो सकेंगी? और यदि अंग्रेजी को हटा दिया गया, तो भारत वैज्ञानिक क्षेत्र में संकीर्ण बना नहीं होकर पड़ेगा?

### अंग्रेजी पर निर्भरता आत्म-हीनता

—यह स्रूठ है कि ज्ञान या विज्ञान अमूर्त भाषा से जुड़े हैं। भारतीय भाषाओं को हीन मानना असर में भारतीय जन और जनता को हीन मानने में सही फलित होता है। यह अपने सम्बन्ध की समझा हमें बड़ी माँगी पड़ रही है। कुछ पहले तक विज्ञान में स्व पिछड़ा था। आज सबसे आगे है, तो क्या वहाँ वैज्ञानिक चिन्ता किमी बिदेसी भाषा द्वारा ही या की गयी थी? जापान पिछड़ा हुआ तो नहीं माना जा सकता। जापानी भाषा में यह जगता एकाएक कहीं आ गयी कि वहाँ मज विज्ञान पहुँच गये निष्ठ ही गये और जापान की प्रगति किसीने कम न रह गयी? यह कोरा आत्म-दीन्य है, जो अपने दोष को भाषा पर दासता है और इन तरह बिदेसी भाषा की दासता को छोड़ना नहीं चाहता। एक मोहम्मद साद्व के बसबूते पर अरबी भाषा में एक साथ पैतन्व और वैभव आ कूटा। पहले वह भाषा हीन और हीन बनी हुई थी। समता या अधमता स्वयं भाषा में नहीं जुमा करनी उस भाषा

के बोझो-बानों की ही समझ या समझता वही प्रतिबिम्बित होती है। यह सब बर्बाद कि हम या उस भाषा में तकनीकी या वैज्ञानिक या पारिभाषिक सम्भावित नहीं है, अधिभ्रष्ट वर्ग की बर्बाद है। उन पर जो अटकता है, वह मानो यज्ञानुमतिक होकर चलना चाहता है। उसमें मौलिक अज्ञा और वैज्ञानिक नहीं है। मैं उस पर एक लक्ष नहीं अटकना चाहता। देश के संकल्प-बल का क्यों हमने आग्रह नहीं किया क्यों स्वराज्य मित्रों पर अंग्रेजी की परावर्तकता को स्वीकार कर लिया? उस समय सब काम हमने अनुवाद और अनुकरण द्वारा किया। सर्विमान दूसरे देशों के विचारों की नकल में मगर जोर-शोर के साथ हमने तैयार किया। उठते हुए राष्ट्र की आत्म-अज्ञा का बल यामकर हम नहीं बने। अन्तर्गत एक मनोनी अन्ति का अग्रहण बन नकल और आज की अन्तर्गटीयता के लिए एक मार्गदर्शन के चलना। पर अगर बैठा नहीं हुआ तो निम्न इसके बजा कड़ा बाप कि हमारे राजनीतिक भाष्यविचारों हीन-विश्वास और अन्त-अज्ञा के केवल कामकाजी सोच निकले आन्तिकारी के नहीं सिद्ध हुए।

पारिभाषिक शब्द किस भाषा में ?

२८१ जानिये कि सरकार ने आपकी बात को मानकर अंग्रेजी को आज ही समाप्त कर दिया। अब आप कौन-सी भारतीय भाषा में पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करेंगे? हिन्दी में करेंगे हैं तो दक्षिणवासी इसे हिन्दी का आग्रह्यवाद कहते हैं और मुसलमान इसे इसकाय से ग्रहण मानते हैं। बंगाली भी हिन्दी को बंगला की कहता के लिए प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखते हैं। बाहिर सम्पूर्ण भारत के लिए एक ही पारिभाषिक शब्दावलि चाहिए। इस समस्या का आपके पास क्या विचार है?

—समस्या का निरास या निपटारा तब होता और ही सकता है, जब तय हो कि वह हमें करना है। नहीं तो समस्या समस्या रहती है और हमको दबा लेती है। मुझे सबसे पहले यही कहना है कि संकल्प से हमने समस्या को बड़ा बनाकर देखा। जो व्यक्ति या देश इस संकल्प से चलता है, वह नहीं बढ़ता उसकी समस्याएँ ही बढ़ती हैं।

आज संकल्प का अभाव

आज भाषावाद, प्रान्तवाद जातिवाद छाया हुआ है। हम हैरत में हैं। मनु बीम बार्न और टीन-बनीम में विपत्ति क्या थी? वे सब बातें क्यों जब उन्हें और तब उनका बीज भी क्यों नष्ट न जाया? देश में देशों की बगली आगे बढ़ा है और



राष्ट्र के बजट के अंक जाने कितने गुमानुगुणित हो गये हैं। लेकिन सब यह कि तब एक अनुपम भावसम्पन्नता का हमें बोध था अब एक विपन्नता का भाव घेरे हुए है। कारण यह कि आन्तरिक दृश्य हमारे भीतर समा गया है। हम परिस्थिति में से तर्क लेते हैं जो हमेशा प्रतिक्रिया का होता है। सकल्प में से अपने करम का निर्णय नहीं करते जो शक्ति का हो सकता है। एक महत्त्वात्त घटना महात्मा से आकर देस में भर गया था। उस समय देशवासियों को कुछ कठिनाई और असम्भव नहीं मान्य होता था। आज एक-एक बात नाता विकल्पों और विचारों से हमें भर लेती है। मान्य होता है कि यँवर बड़ा है और हम छोटे हैं।

### जीवन-श्रेणा की सम्भता

हिन्दी और पारिभाषिक सम्भावना की जाय बात कहते हैं। कहते हैं कि दक्षिण और बंगाल हिन्दी को क्यों मानें? पारिभाषिक सम्भावना एक हीनी चाहिए और वह एक कैसे बने? इत्यादि-इत्यादि नाता प्रश्न पैदा किये जा सकते हैं और कहीं-कहीं पड़कर बैठ जा सकता है। सठैकाले इस इस गंग से काम नहीं किया करते। पारिभाषिक और वैज्ञानिक पर्यायवाची सम्बन्ध अगर आज अनक भी बनते हैं, तो क्या हर्न है? समय जाने पर चुनाव और छँटाई ही जायगा और अनुक को प्रामाणिक मान लिया जायगा। लेकिन प्रश्न यह है कि हमें काम करना है या बात करनी है? आज बिजली के कारीगर की बिजली नहीं बजानी होती है, तो वह इस बककर में नहीं पड़ता कि वह पोजिटिव-निगेटिव को क्या कहे? क्या पर्याय मुँद और पचास हीमा? वह 'ठन्डा और गरम सार' कहकर अपना काम चला लेता है और रुकता नहीं है। ही सकता है कि गरम और ठन्डा पोजिटिव-निगेटिव का सही अनुवाद न हो। नहीं क्या है, इसके निर्णय में आप समय लेना चाहें तो लेते रह सकते हैं। लेकिन असल चीज यह है कि बस पर काम करना नहीं चाहिए, जो शर्तों के फेर में रीक रगता जाता है। इनमें जीवन श्रेणा की सम्भता है, इनके सिवा क्या कहा जा सकता है?

### अनुकरण का फलान

मैं मानता हूँ कि ऊपर नेट्रीय-सरकार में प्रश्न जो पहले राज्य का बन गया काम का नहीं रहा भी यह सम्भव-संज्ञा का ही परिणाम था। आप कीय बनाइये और बनाने बने जाइये। कभी इस बोध से आपकी छानकारा नहीं निकलता कि अनेकानेक घर इस बीच ऐसे बने आ बने हैं जिनका पर्याय आपने पास नहीं है। अनन्त काल तक आप सब शर्तों की अनन्त भावा में लाने में सफल नहीं हो सकते।

अमर भाषा की सामर्थ्य इसी पर निर्भर रहेगी और आप उस भाषा में काम बनाने को इसी दायें पर स्थगित करते रहेंगे तो आप रुके रह जायेंगे भाषा इसी रह जायगी और बसना आपको छोड़ता हुआ ऊपर से निरक्षरता बसा जायगा। या आप अनुकरण प्रियता में ही बस गए रहेंगे और अपनी भाषा और अक्षरमयता से निकले बने रह जायेंगे। अंग्रेजी को ब्यापक भारत उसी अनुकरण-प्रियता में बह रहा है और अपनी भाषा से हीन और विपुल बना जा रहा है। इसी विहीनता का यह तर्क है कि क्या करें, हम हीन हैं, हमारी भाषा हीन है। नकल करने और उत्पन्न करने के सिवा हमारे किए और वृत्ति नहीं है।

### ज्ञान-विज्ञान एक भाषा से बद्धित नहीं

निश्चय रखना चाहिए कि ज्ञान-विज्ञान समूची मनुष्य-जाति की निधि और स्वत्वा होता है और देश या भाषा की बंधनी उस पर नहीं होती। अमुक देश या भाषा में बह उपलब्ध या प्रकट हुआ हो सकता है, लेकिन उस भाषा-देश से बह पड़ित नहीं होता। अपनी-अपनी भाषा द्वारा सब लोग बनावत उसका काम और धार प्राप्त करते और उसे आत्मसात् कर लेते हैं। इस प्रक्रिया को रोक नहीं जा सकता। बह भाषा नहीं बल्कि लोग ही पराधीन हैं जो उसकी सीधे लेने में असमर्थ हैं और ज्ञान से अधिक उसके परिवेश को महत्त्व देते हैं। एम्में को पहले सीखने और निरे अनुवाद द्वारा ज्ञान तक पहुँचने की पद्धति धर्मज्ञानिक और अकार्यकारी है। बच्चों को ही हम देखें कि भाषा उन्हें कोई नहीं सिखाता और वे अपनापन मान जाते हैं। कारण भाषा की अलग-अलग साम्य-समस्याओं द्वारा वे ग्रहण नहीं करते चीजों-पदों द्वारा लेते हैं। ऐसे ही ज्ञान को अलग-अलग एम्में से अर्जित हम मान लेते हैं, तो उसकी कठिनाई पर बैठ जाते हैं और आदान प्रदान की गति अवरुद्ध हो जाती है। सरकार की इस एम्में-सर्क ने इसलिए चिन्ता और मन्त्र पड़ जाना हुआ कि उसके पास अज्ञान-संरक्षण का संकलन नष्ट हो चुका था और आज स्वराज्य के बीड़ह बपों के बाद भी अनुभव होता है कि अगर स्वराज्य का किञ्चिन् मोक्ष धारण की प्राप्ति है तो ज्ञान अविरोधमान बपों की ही प्राप्ति है यद्यपि एम्में कर रहे रह बने हैं। स्वराज्य की यह पराधीनता सम्पूर्ण बहुत घोषणीय है और तनिक दबाव पड़ने ही अंग्रेजी के नवाधान म बच निकलने की भारत कम घोषणीय नहीं है।

### राज्य-निर्माण जनता करती

१८९ शिक्षा-अवकाश का द्वितीय-विभाग पारिवारिक एम्में के क्षेत्र में जो काम

कर रहा है उसे क्या आप उपयोगी और ठीक शिक्षा की ओर प्रवृत्ति मानते हैं ?

—बच्चा होता यह काम सरकारी बिनाम न करता बल्कि जनता कर रही होती। जनता कैसे कर सकती है यह प्रश्न मत उठाइये। सब कामकाज करने की अनिवार्यता ही जनता को अनेकानेक शब्द प्रस्तुत करने तक ले जाती है। आज भी यह काम ठीकी से हो रहा है। बच्चे और कलकत्ते में अनेक फ़िल्म चित्र रोल के हर कोने में दिखाये जाते हैं। इसी तरह जनता के सब वर्गों में जीवन की अनिवार्यता में से माँग निकल रही चुकी होती और अनेकानेक शब्दों का निर्माण हो गया होता। बिनाम द्वारा वह काम न केवल स्वल्प हुआ है, बल्कि सम्भव है कि वह उपयोगिता ने कुछ हटा हुआ भी हो। कारण वह सिखाना के उस से किया गया है। कार्यकारी उपयोगिता की कड़ीटी बड़ी प्रस्तुत नहीं रही है। इस काम में एक दुविधा मानी जा सकती है और वह यह कि इस प्रकार बनी हुई शब्दावलि एक साथ प्रामाणिक और सर्वमान्य होकर आयेगी। पर सम्भव हो सकता है कि बहुत से शब्द उपयोग में आये ही नहीं और कुछ शब्द उपयोग में आकर भी बहुत से रूपों में व्यक्त न मिलें। जनता द्वारा वह प्रक्रिया सम्भव होती तो सम्भव था कि अनेकानेक शब्द विद्यमान सामने आते और कोई एक प्रामाणिक शब्दावलि प्राप्त न होती। लेकिन प्रमाणीकरण का काम कोई एक धामोसी वैज्ञानिक-मिति पीछे कर सकती थी और तब यह कार्य सुगम भी होता। वह तब उपयोगिता से सम्बन्ध भी बना रह सकता था। अब हमने जीवन से भापा से उपयोग में जनता मानो सर्वाथ सम्पूर्ण से विमुक्त भाषा-शास्त्र में से शब्द-निर्माण करना चाहा है। इस प्रयत्न में न दुविधा को पूरी तरह बचाया जा सकता है न समय के व्यर्थ अपव्यय की।

### स्वल्प-फल, बहुत बिघात

बिनाम द्वारा जो काम हुआ है उसे अनुपयोगी नहीं कह सकते। पर 'स्वल्प फल बहु-बिघात' अवश्य कहा जा सकता है। जब यह कि साधन सरकार ने अपने ऊपर आवश्यक और पर वह भी बहुत शिक्षा के लिये है, जो प्रयाजन में बाँटकर दिया जा सकता था। महामत्ता का काम ही सरकार का हीना चाहिए था। चाणाम्बन्धी निर्माण यदि वह कार्य स्वयं उस प्रकार की आवश्यकता के दैनन्दिन व्यवहार में पड़े नहीं पर छोड़ना चाहिए था। हिन्दु बहु प्रश्न स्वयं चाणाम्बन्धी पारम्भा था बन जाना है। मानना चाहिए कि कलकत्ते पर स्टेट का आदर्श भाषा की मोर्चा पर छोड़ना नहीं अधिक-अधिक को जान लिए आगमने और द्विपक्ष के विरुद्ध

पूर्णता जा रहा है। मेरे जैसे कुछ लोग उसे अभीष्ट न मानते होंगे पर सब वही है यह स्पष्ट है।

## हिन्दी चम्पाना और टकाना

शिक्षा-मंत्रालय सम्भावित और दायकीय दंगा तो अच्छा ही है। लेकिन उसने समय लिया है और वह सन्दाबलि सब राज्यों से स्वीकृति पाय इसमें और समय लगेगा। असल में आये इस प्रयोग में और भी समय लगेगा। अर्थात् मन्त्रालय का यह सब प्रयत्न हिन्दी के माध्यम को प्रचलन में लाने की आवश्यकता के अनन्त स्वयं के साथ-साथ भी निमता बना जा सकता है। यहाँ बाज की विशेषता है कि एक स्तर पर हिन्दी को चलाने के प्रयत्न चल सकते हैं उही सरकार में दूसरे स्तर पर हिन्दी को टाकने के प्रयत्न चल सकते हैं। दोनों में कुछ खर्च होता रह सकता है और दोनों पक्षों को समुष्टि रखा जा सकता है। यदि मैं विवश कर सकूँ कि हिन्दी पर उत्तर जाने की आवश्यकता और अंग्रेजी की पराजयमिता से अस्वी-से-जन्मी कूटने की आतुरता सरकार में काम कर रही है, तो शिक्षा-मन्त्रालय के हिन्दी-विषयक काम का महत्व बढ़ जाता है। परिस्थिति व वैसा आग्रह मजबूत नहीं आता है। इस तरह वह प्रयत्न काब-यापन का डम-सपेसा भी जान पड़ता है और उससे पूरी सन्तुष्टि नहीं होती है।

## डा० रघुबीर का प्रयास

२८३ आपने यह काम जनता द्वारा किये जाने पर बल दिया। डाक्टर रघुबीर सरकार नहीं जनता के बल हैं। उन्होंने जो विशाल पारिभाषिक व्यवसाय तैयार किये उन्हें सरकार और जनता दोनों ही मान्यता न दे सकें बल्कि उनके छात्रों की बिस्ती उड़ा दी गयी। ऐसा क्यों हुआ ?

—डाक्टर रघुबीर के काम के परिणाम से मैं जितना भी समझता हूँ, उसका महत्व स्वीकार करता हूँ। उनके अध्ययन और रचना की पद्धति प्रशंसा में मन में है। ऐसी बात भी नहीं है कि उनके परिणाम के फल का उपयोग ही न हुआ हो। पुरानी सी० पा० की सरकार ने न सिर्फ उनकी अवकाश दिया बल्कि कार्य-रत्न की मुद्रिका भी और शब्दा को भी अपने उपयोग में लिया। अगर उन काम की सार्वजनिक उपयोगिता नहीं हो पायी और लोगों और यदि उनका कुछ उदाहरण भी हुआ तो इस कारण कि राज्य-निर्माण का वह प्रयत्न भाषा और उपयोग के सम्बन्ध से स्वतन्त्र मिश्रण की मुद्रिका से हुआ या और इसलिए वह कहीं-कहीं बिस्मय और अनुपपन्न भी हो गया या। यह दोष आये बिना सब ठक नहीं रह

सकता जब तक कि हम शब्द की जीवन-सम्बन्ध से अलग स्वयंप्रतिष्ठ रूप में देखना और अनुसार में उतारना चाहें। मैं स्वयं उनके कोप का पारायण नहीं किया। लेकिन एक शब्द बहुत पहले बताया गया था सद्यस्त्वस्थिति वह तब से यावत् मैं बटका ही रह गया है। अटका इसलिए रह गया कि बड़ा मिलन्य जान पड़ता था। यह शब्द निश्चय ही बकनहीं सकता। यह अनुवाद है अंग्रेजी के 'एम्बरजेस्ती' शब्द का। हो सकता है कि व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह बहुत सही हो लेकिन कोई संस्मृत एकएक उसमें से यह शब्द नहीं ले सकेगा। उपयोगिता से अलग वह हम समूह शब्द को कैसे और दूसरी भाषा में उतारना चाहते हैं तो उसमें से बचि कांस यह व्यक्त पड़ता है। डाक्टर रघुवीर का प्रयत्न व्यवहार-लोक से उन्नत और उत्तीर्ण किसी भाषा सिद्धान्त के लोक में जा बकाया गया सो अमृतपूर्व होते हुए भी उज्जना इतकार्थ नहीं हो सकता। मैं समझता हूँ कि इससे शब्द-निर्माण बिबि के सम्बन्ध में ही चेतावनी प्राप्त की जा सकती और शिक्षा ली जा सकती है। वह यह कि शब्द की व्यवहार और भाषा के सम्बन्ध से अलग टाँझकर देखना साम्य नहीं होता। वह निरर्थक से जाये कभी बनपक भी बन सकता है।

२८४ डाक्टर रघुवीर की अमृतकार्यता क्या इस सिद्धान्त की अमृतकार्यता सिद्ध नहीं होती कि संस्कृत को ही पारिवर्त्मिक सम्प्राप्ति का आधार बनाया जा सके और बनाया जाना चाहिए?

जीवन-प्रयोजन को सामने रखा जाय

—हो सिद्धान्तपूर्वक बनना ही मुझे सही नहीं मान्य होता है। संस्मृत बहुत उपयोगी हो सकती है इन काम में। लेकिन उसके साथ प्रश्न जोड़ना ठठ का चोटक है और इष्ट नहीं है। तब यह है कि भाषा के सम्बन्ध में सामने जीवन का प्रयोग को रगड़कर हम अन्तर्गत सभी समझाती रह सकते। बन्पया कोई-न कोई बारिना हमको प्रम लेगी। उस प्रकार भाषा का प्रवाह में हमारे हाथ बेग या मायव्य नहीं जायेगा। बल्कि हममें कुछ गठ पड़ेगी और अरर का बाटोप और बबाब अनुभव होगा। हमीय पविष्ठ और बिन्न लोगों में भाषा का उज्जना निर्माण या संस्कार नहीं हुआ करना जिनका रचनाकार हाथ होता है। कारण उग-हाथ में भाषा स्वयं माध्य नहीं होती। बल्कि नैवेद्य की भाँति जीवनातिव्यक्ति के प्रति समर्पणीय अर्घ के समान होती है। वह जानबूझ तद् में पर यह नाम छोड़ने नहीं मरना है कि ममानात्तर हमको ही माध्य-मूर्च्छा मिले। एक मूर्च्छा लीन भाषा की ही और दूसरी बिन्न भाषा की बननी जाय। सामन्य और दैव-नार्य की

बुद्धि से यह समानान्तरता उपयोगी नहीं होगी और लोकतन्त्र का तात्पर्य सिद्ध होगा तो तब जब लोक-भाषा और सामु भाषा में व्यवधान ज्यादा नहीं होगा बल्कि कम होता जायगा।

### एकपुरेसी और करेन्सी

जितने राज्य मूनिश-देशों में व्यवस्था है उतने भाषा प्रवाह में सहज खपते जायेंगे। लेकिन कहीं निर्माण भी आवश्यक होगा। किसी इठ और सिद्धान्त के सहारे यह निर्माण सुबम मले हो जाय लेकिन भाषा की प्रकृति में बैठ सकनेवाला सम्म चाहिए। एकपुरेसी और करेन्सी के बीच दोनों को सम्मिलित हुए, राज्य-निर्माण के काम को करता चाहिए। सही-सही हीमा और प्रभावमय हीमा इन दोनों विधियों का ध्यान समी रखा जा सकता है, जब जीवन प्रयोजन कप्रति चित्त में सावधानता हो और हमसे इतर-उपर भाषासम्बन्धी कोई राग या आघात भाव न हो। इस बुद्धि से जिस से अधिक सामान्य जन का योग हम काम में अधिक विप्लवशील और सामकापी हो सकता है।

२८५ क्या आप शिक्षा की इस तकनीक से सहमत हैं कि अध्यापक एक बीरा बन कर पाठ को हलके के रूप में प्लेट में तत्राकर विद्यार्थी के सामने केवल पेश ही न करे, बल्कि सम्मेल से उसे शिक्षाये भी और विद्यार्थी के लिए अनुबिधा, कठिनाई और जम्पास का एक भी अवसर न जाने दे उसके क्षीमक मन पर खरा भी मनोबैज्ञानिक अवका अवका न पड़ने दे ?

### राज्य और जनका रस

—आपने जिस भाषा में बात की रखा है, उसके रहते हुए कौन उससे सहमत होने की हिम्मत कर सकता है ? तबमुक्त पार्थ-पुस्तक का प्रयोग स्वयं में जान नहीं होता केवल वह अध्यापक की अवसर देता है कि उस उपलब्ध से वह बहुत-बहुत विद्यार्थी में उठित सके। ज्ञान जीवन का अंग है और राज्य केवल उसके माध्यम है। जहाँ राज्य ही राज्य बन जाते हैं और जहाँ-कहाँ जायेंगे वही मन में उठारकर स्मृति में सचित करता होता है, उसको ज्ञान नहीं कहेंगे। वह जीवन में फिर पुस्तक मिलना नहीं है केतना पर मानी परिपक्व की मानिये बैठ जाता है। उसने व्यक्तिगत लिखने में नहीं आता बल्कि कुछ मन्त्रा मने आ जाया हो। इसलिए पुस्तक के पार्थ-अंश को तो उपलब्ध और अनुपम के रूप में ही लेना चाहिए। उनको लेकर व्याख्या के रूप में बनेबनेक परिचितीया विद्यार्थी को दी जा सकता है। अब यह कि साहित्य अवका आह्वय की भाषा स्वयंविद्य बनू नहीं होगी, वह मुक्त

हुआ करती है। शब्दों द्वारा जितना कहती उससे कहीं अधिक ईशित और सूक्ष्म द्वारा कहती है। यदि कर्म तक ही उसका प्रयोगन परिमित ही हो उसमें पाठ्य बनने की समता नहीं आती। अधिकारी पाठ्य वह वस्तु बनता है, जो सारगर्भ है और कर्म जितना ही नहीं देता बल्कि मावक्य में उससे बहुत अधिक देता है। अध्यापक की सफलता इसमें है कि शब्दार्थ के द्वारा ही जानेवाली भाव-सम्पदा में विद्यार्थी के मानस को पहुँचा दे। ऐसा हो तो पढ़ाई शुष्क नहीं रहती बड़ी रोचक हो जाती है। और उसबहुल के द्वारा प्राप्त हुआ सत्य सार नहीं रहता वह अनायास समझ बन जाता है।

### ज्ञान क्रिया को प्रेरित करे

स्पष्ट है कि यह ज्ञान क्रिया को रोकेगा नहीं बल्कि प्ररित करेगा। ऐसे विचार और कर्म की विमुक्तता दृष्टी और समझ में एकत्रितता आयेगी। कर्म के लिए संश्लेषण आवश्यक है और बुद्धि जो विश्लेषण प्रवण होती है। इस रस के योग से संश्लेषण से उछली न जाकर उसमें सहायक हो जाती है। आज की पढ़ाई इतनी अन्वयार्थक है कि व्यक्तिगत भी माने उससे विचरता है। समन्वय की समता भी व्यक्तिगत में आये सब मानना चाहिए कि विद्या ने ज्ञान का स्वरूप लिया है। अन्वया विद्या विमुक्त करनेवाली हो सकती है, संयुक्त नहीं करती। आज की यही विवक्षणा है कि विद्या से व्यक्ति में हृदय और अस्तिष्क का समन्वय नहीं होता उनमें जैसे विग्रह बढ़ जाता है। जबकि विद्या से स्वार्थ की वृत्ति बटने के अभाव और उत्कट बन सकती है और पढ़ाई सिखाई की योग्यता ही मरता है। व्यक्ति की मजबूत और सत्ता परिक न बनाये बल्कि दुर्बलियों को और चार धँकर रह जाय। पाठ्य प्रचाली और परीक्षा-विधि के रहते हुए भी इस लक्ष्य का ध्यान रखा जाय तो बहुत लाभ हो सकता और बहुत ज्ञान बचायी जा सकती है।

२८६. अन्तर्गत धेरे धार को कुछ छाना नहीं। ये यह जानना चाहता हूँ कि विद्यार्थी को अनुविद्या और कठिनाई में न बढ़ने दिया जाय इस नीति को क्या उसने व्यक्तिगत के विकास तथा उसमें आवश्यक उत्कण्ठा और जिज्ञासा के लिए मात्र हानिकार और बाधक नहीं मानते ?

### प्रयत्न का रस

—मराठी भाषा में विद्या का कर्म मज्जा है। विद्या के कर्म की वजह से सब रीति से जाना कि मनलभ मज्जा ही रह जाय। मुझ उचित नहीं प्रतीत होता।

परिपक्व और प्रयत्न में लक्ष्य तक रह है। जिसका मज्जा और चक्का बटने है। उनमें

यह रस मित्र और ऊँचे प्रकार का है। सिर्फ बस्के में एक बच्चा और बसुन की नृति रहती है। प्रमत्त और पुरोपाय में से मिलनेवाला रस सार्थकता होता है।

### बुद्धि और नृति का व्यापार

मान का मूल है 'बेल-बेल में सीसो और सिक्कायो'। इसको भी नृति की ओर खींच ले जायें तो चित्त के लिए आवश्यक संयमन और नियमन की बीजा नहीं से नहीं प्राप्त होती। किन्तु यह सब है कि अगर से डाला गया धम बेगार हो जाता है और प्रमाद और प्रतिक्रिया की जगह होता है। बालक प्रकृति से ही कुछ धम करना चाहता है बलात् और अपरिचित की ओर बढ़ना चाहता है। उनमें सीखने बढ़ने जानने की स्वाभाविक नृति होती है। प्रत्येक प्रमत्त से वह अपने में बल आता अनुभव करता है। क्या हम देखते नहीं कि वह कृत्पन में बार-बार गिरकर फिर उठता और इस तरह बच्चा सीख ही लेता है। इसमें मित्र व्यापार की आवश्यकता होती है, वह उसे स्वयं प्रिय होता है। इसलिये वह नहीं समझना चाहिए कि जनायासता की बात करते समय बालक की व्यापार उठाने की समता को मन्द करने का समर्थन आ जाता है। किन्तु बुद्धि और नृति का यह व्यापार बालक को स्वेच्छा से प्राप्त होता होगा तो उसके लिए सहायक होगा नहीं तो उसमें एक विहीन की भावना जगा सकेगा जिससे उसका अपना ओर और अध्यापक का ओर दोनों परस्पर की लक्षित करनेवाले बनने और धितम का परिचाम उद्बुद्धता और स्वार्थता के उत्तेजन में सीखने लगेगा।

### मय और दण्ड

२८७. क्या आप नहीं मानते कि मय और दण्ड के बिना अधीन और विवेकमय विद्यार्थी में आत्म-पालन विनम्रता और स्वहित-चिन्तन की वाप्सता नहीं बढ़ती? —मय और दण्ड किस ओर से आता है वह प्रश्न मुख्य रहता है। ये धाव सहायक हो सकते हैं बसों कि उस दिशा से आये जहाँ बालक में ममता और शरीरता है। यदि मन्त्रज में वह ममत्त और स्नेह नहीं है, तो फिर उस दिशा से आया हुआ मय और दण्ड किसी तरह बालक की सहायता नहीं कर सकेगा। सब वह बालक की प्रकृति में नृति लाभ बिना न रहेगा और संस्कारिता देने के बजाय उनमें बाधा स्वयं हो जायगा।

### प्रेम अधिक विद्वत्सनीय

मैं कहना चाहता हूँ कि प्रेम हार आदर्श और नीति के बाह में अधिक विद्वत्सनीय



है। नीति बनायासठा की ही सकती है बण्ड की भी हो सकती है। यह सब यत् विचार का प्रश्न है। इन सबसे बड़कर है प्रेम की अनिवार्यता। यह प्रेम उस प्रकार व्यक्ति-आत्मा से बिछता नहीं है जबकि उसमें हम और बण्ड की परस्परक माया भी समा सकती है। प्रेम सम्पूर्ण सम्बन्ध की सृष्टि करता है। नीतिवाद के द्वारा जो भी हम प्राप्त करने हैं उसमें नियमित सम्बन्ध बनता है। यह उस तरह सबन और समय नहीं होता इसलिए उसमें आंशिक सरय ही होता है। प्रेम और बण्ड को सर्वथा दूर रखना चाहिए, इस प्रकार की नीति बन सकती है। प्रेम और बण्ड से भरपूर काम कैला चाहिए, हमारे लोग इस नीति का भी व्याख्यान कर सकते हैं। ये बने हुए मूल्य सब बर्ब-सरय होते हैं और इनमें से किसी पर अपना सब आसरा बाँट देना सही नहीं होता। जो सही है, वह यह कि अध्यापक और विद्यार्थी के बीच प्रेम की अनिवार्यता हो। फिर अध्यापक का विवेक जित्त तरह जो उसे बतावेगा उसमें से विद्यार्थी का इष्ट ही होगा अनिष्ट नहीं होगा। गुरु-शिष्य का यह सम्बन्ध निजी और वैयक्तिक होता है। उस सम्बन्ध के अन्तर्गत् हो टोड़कर कोई सामान्य सिद्धान्त त्विर करके जलम ही जाने दे नहीं बनेगा। अध्यापक की बुद्धि और बुद्धि को हम किसी बाह्य नियम से बकड़-बकड़ नहीं सकते। ऐन किसी नियम की भाँड़ उठ सम्बन्ध की समझता पर भी बचाव काने कम बायगी।

### पोपक और विधायक बण्ड

अन्तर्गत जो बात सर्वसामान्यरूप से स्वीकार की जा सकती है और जिस पर आग्रह भी रखा जा सकता है वह यह कि दिया हुआ कष्ट यदि मुक्त फल लाता है, तो तब और उभरता ही जाना है, जितना हम विष कष्ट व द्वारा व्यर्थ कष्ट उठाया जाना है। अहिंसा की यही पद्धति है। हमने व्यक्तिगत को संस्कार मिम्ता है और कष्ट दोनों की समर्थ और पवित्र रचना है। गुरु-शिष्य-सम्बन्ध में यह प्रक्रिया बने तो प्रेम और बण्ड बीच में आकर भी पोपक और विधायक बन सकते हैं। हिन्दू जहाँ उन अधिपति की मूर्तिमा न ही वहाँ प्रेम और बण्ड की नीति पुरानी और वर्जनीय है यह बहान में मुझ आपत्ति नहीं है।

१८८ आपने अध्यापक और विद्यार्थी के बीच अनिवार्यता को बतल बही। यह कैसे सम्भव है जब मात्र को शिक्षा-पद्धति में अध्यापक केवल एक मोटर है और विद्यार्थी जानता है कि वह जब चाहें उसे मोर उनकी मोटरों की संचालन में डाल सकता है जबकि उसे जानूँ पटङ्ग में ला सकता है। अब अध्यापक के ऊपर सरकार और प्रबन्धकों का हमनी अधिक दबदबारी रोक-बाध और जटिल है कि वह अपनी बुद्धि और बुद्धि की तन्त्रिक की लक्ष्यप्राप्त विद्यार्थियों के हित में नहीं कर पाता और उसे

विद्यार्थी से डरकर रहना पड़ता है अपनी इज्जत बचाने के लिए और प्रबन्धकों से डरकर रहना पड़ता है अपनी रौटी बचाने के लिए ?

नियमों की पोथी

यही तो शिक्षा-विधि की सबसे बड़ी बालोचना है। आप सम्प्रदाय के बीच में जब पारस्पर्य को और सीधे दायित्व भाव को हटाकर कोई ऊपर से बनी हुई नियमों की पोथी बिठा देते हैं तो एक-दूसरे के प्रति जिम्मेदारी का अवकाश नहीं रहता। नियमों की पोथी ही सब चीजों को मानो अपने में समा लेती है और सारा कम निर्जीव बन जाता है।

पैसा मूल्य-निर्मापक

फिर दूसरी बर्बरक चीज पैसा है। यदि मानसिकता का निर्माण होनों और पैसा करता है तो उसका तात्त्विक युक्त-शिष्य-सम्बन्ध को जड़ से ही का जाता है। कोई अनुकूलन-कारक साहजिक यदि अपनी जगह होने प्रदान अनुभव करते हैं कि अध्यापक तो उनके घर बन्दगी बजाते हैं, तो उनके सुपुत्र महीरस्य फिर क्यों करने अध्यापक का रोब मानने लगे ? पैस के कारण इस प्रकार की अनेक विषमताएँ उत्पन्न होती हैं और इन मान लिया करते हैं कि नियमों की पोथी उन सबका इलाज कर सकती है। यह बेचाटी पोथी अपनी जगह रखती है और वे तथ्य जो परस्पर शान्त-मित्रताओं का निर्माण करते हैं नाशकता को विषम बनाये रखते हैं। इसलिये यह प्रश्न जड़ का है और वैज्ञानिक से सामाजिक उसे अधिक कह सकते हैं। सम्प्रदाय और वर्णप्रधान समाज में सामाजिक धर्म और वृत्तिवाला धर्म मानो निछाड़ा हो चुका है। अध्यापक बच्चे की आज महीर कुंठित है। कालज के लक्ष्यकार और प्रोफेसर को तो भी कुछ उचित वेगन और मान मिल जाता ही स्कूल के अध्यापक तो किसी निम्नरी में ही नहीं। छोटी कक्षाओं के अध्यापकों को तो अपराधी में भी कम वेतन मिलता है। पहले भी भारतीय समाज में यह गु-बग और बाह्य-वर्ण भेदभाव नहीं होता था लेकिन प्रगतिवादी मशीनरि थी। समाज के मूल्य ही उस भर्षाभित और अपकेन्द्रित नहीं होने थे। यदि मनुष्य हम अपने अध्यापकों से आशा रखते हैं कि उन्हें सीधे सत्य विद्याविमर्श के अधिप-निर्माण को वे सीधे देखे पाते होंगे। यदि ऐसा नहीं हो सकता है तो हमारे शिक्षात्मक वेतन अत्यन्त-निम्न होने होंगे विद्याविमर्श के मानस को या चरित्र की उन्नयन तक भी नहीं दे सकेंगे। अध्यापन का कार्य मानो आधिकारिक नहीं वृत्ति में आज मनुष्य सीधे दरजे

का कार्य बन गया है। जिसकी भी और खोब में निकसने का अवसर मिला जाता है वह इधर कमी मुड़कर वहीं देखना चाहता। इस तरह जो सबसे अधिक महत्व का कार्य होता चाहिए, वही सबसे अगौरव का कार्य रह गया है। यह मूर्खों का विपर्यय है और इसकिए एक गहरा प्रश्न है।

### अनुसन्धान कार्य

२८९. उच्च अनुसन्धान कार्य की दृष्टि से क्या आप यह अनुभव नहीं करते कि जो अनुसन्धान कार्य, विशेषकर हिन्दी में हो रहा है उसे सही दिशा नहीं मिली है और यह बहुत निम्न स्तर का है। साथ ही उसमें जीवन के लिए उपयोगी हो पाने की क्षमता नाबालाव को ही मिलती है?

—हां इस सम्बन्ध में मैं कुछ चक्कर में हूँ। मैं स्वयं समझता चाहता हूँ कि जो भीतर और बिना की ओर अनुसन्धान और अन्वेषण है, उसका बाहर और भविष्य की ओर क्या योग और अनुदान होना चाहिए। सचमुच वह योग और अनुदान विदेश नहीं दिखायी दे रहा है। हिन्दी साहित्य में उत्कर्ष माम्भीर्य बुद्धि और महत्ता क्या उस अनुसन्धान कार्य के परिणामस्वरूप कुछ बढ़ रही देखती है? मुझे तो ऐसा नहीं दिखायी देता। शायद मैं अन्वेषण में हीरों लेकिन किसीने मुझसे उस सम्बन्ध में अपना समीप नहीं प्रकट किया। अनुसन्धानों पर प्रतिवर्ष डाक्टरेट पानेवालों की संख्या तो अवश्य कम नहीं है। एक ओर यह संख्या भी बढ़ और दूसरी ओर मास्टर का स्तर न बढ़े तो यह बात समझ में नहीं आती।

### जिसमें सत्य-वर्चस्व नहीं

जान ऐसा पड़ता है कि अनुसन्धान एक कोरे परिणाम और अध्यवसाय की चीज रह गयी है। दो वर्षों में बहुत से प्रश्नों को उकट-पुलट कर और उनकी ठन्धी सूची साथ में प्रस्तुत करके बार-बार ही पुष्ट भाटी-मरकम पद्य के प्रस्तुत कर देने से अनुसन्धान की सफलता भाग ली जाती और अच्छे बेतन की प्राप्तिपकी पाने की राह खुल जाती है। उस सब अनुसन्धान का जन्म में किसी चित्तत्व और चिन्त प्रयोजन से सम्बन्ध जुड़ा है ऐसा नहीं मालूम होता। प्रत्यक्ष के पोछे और वर्तमान के असींचर में ही लक्ष्य पुष्टि तो वह कारण-ओक निम्न है जिससे संसार को माना कि प्रतिक्रियाएँ जन्म पाकर ममता में लीलायमान दिखाई देती हैं। गद्य बुद्धिने तो आरम्भ-ओक बढ़ी है चिन्तानुभव बढ़ी है। शायद अनुसन्धान द्वारा हम पदार्थ के और व्यवहार के धर्म में उतरने उगरे उगी चिन्तन का

उद्घाटन करना है। सन्धिदानन्द के आविष्कार की वह साधना प्रक्रिया है। इस तरह अनुसन्धान का बहुत ही महत्व होना चाहिए। किसी सुजन में वह कम नहीं है। सन्धि बाज हिन्दी के ज्ञान में चलनेवाले अनुसन्धान में क्या वह सत्य और बर्चस्व है? कदाचित् उसका अपने माध्यम से निष्कर्ष ही गया है और उसकी सार्यकता माना प्रकार की रूबी-गुपी आभारियों को बटोरकर एक किताब के रूप में सामने ला देने में समर्थ भी गयी है। जो साधना चिन्मय और प्रभविष्णु हीनी चाहिए की वह निर्भीक और निष्पक्ष बन गयी है। साहित्य के डाक्टर मान्य होता है कि कला-रस के लिए तैयार होते हैं खुले मानव-श्रोत्र के लिए उनके पास कोई समता और योग्यता होने की आवश्यकता नहीं है। कहना होना कि अनुसन्धान की वह भारणा निम्नस्तर और कम है जिसके अधीन यह सब चल रहा और सहा जा रहा है। इसके ज्ञान का ही अभाव होता है और स्वीकार करना होना कि हिन्दी डाक्टरी के लिए आज सम्बद्ध क्षेत्रों में कम अवसरता और महत्त्व का माह नहीं है।

### ज्ञान और सृष्टि दो असंग शेष

ऐसा लगता है कि ज्ञान और सृष्टि की दो अलग विधायो में बाँट दिया गया है कि बीने उन दोनों को परस्पर लेना-देना कुछ हो नहीं। या ठी रचना का पण्डित बना जा सकता है या फिर रचनाकार ही हुआ जा सकता है। ऐसे हमने साहित्य की सृष्टि से उतारकर कारीगरी तक उतार दिया है और ऐसा मान्य होना है कि पण्डित्य की इस कारीगरी तक विरलस्थो है, आगे सृष्टि के रहस्य की भार जाने की चेष्टा मानी विज्ञता के लिए अनावश्यक है। ऐसी विज्ञता और विद्वता निपटारा और निस्वयं बलु बन जाती है और साहित्य पथ्य और कथ-वदाय। व्यक्ति-जीवन और समाज-जीवन के उत्कर्ष और उत्कृष्टि का जो दार्शनिक साहित्य के ऊपर आता है। मानो इस पण्डित्य के द्वारा उस जगह विहीन कर दिया जाता और कोरे हुस्न-साधक और हुस्नसिद्ध के रूप में उसे अक्षयनीय समझा जाता है। एक चित्ररत्न के रूप की आवश्यकता है जिसमें कोरे श्रम में तथ्य की प्रतिष्ठा हो और समुदा अनुसन्धान संप्राप्त और सीद्ध्य बन सके। आज मांगो वह एक ऐसा कर्म है जो प्रयोजन से विच्छिन्न है और कुछ विरोधाभासियों और बिरोधों के अविद्वत् व्यक्त के रूप में परिपोष बना हुआ है।

१९० क्या यह सत्य नहीं है कि अक्षय-मत्ता विचारणीय लक्ष्यमुक्तिपथ विद्वत् भी डाक्टर बनने के बाद अहंकार से इतना घुस हो उठता है कि रचना की क्षमता को ला हो देता है। साहित्यकारों का समुचित आगमन करने की क्षमता क्या इच्छा

भी उसके अन्तर नहीं रहती और इस प्रकार वह साहित्य को बढ़ावा और सहयोग देनेवाला बनने के बरके उसकी काटनेवाला बनकर ही रह जाता है ?

### मोटा घेसम

—यह यह है याही कि इस बीन हीन संसार में अच्छा-खासा घेसम छोटी चीज नहीं है। वह आज किसी काम के एमर्ज में नहीं केवल बिज्जा और बिज्जा में बरछे में मिलती हो तो वह बिज्जा मोहरबन्द और प्रायाधिक बन जाती है। उसका भी अहवार न हो तो किसका हो ?

### बिज्ञाता से छुट्टी

सकल उसमें बहुत बड़ा अंतर है। ऐसी निश्चित और निश्चित बिज्ञाता बिज्ञाता का या जाती है। साहित्य बिज्ञाता के साथ है। वह जानता इसलिए नहीं है कि सदा जानता चाहता है। जानकार होकर जो प्रकट होता है वह उठने भाग से साहित्य नहीं रह जाता। इस तरह बिज्ञाता से अधिक इस क्षेत्र में अज्ञाता की सीमा ही जाती है। अतः वह जो जानता है कि वह नहीं जानता इसलिए जो सदा सबसे जानने का इच्छुक रहता है। बिज्ञाता ही उसमें तीव्र होती है ज्ञान तो वह सबसे ही सदा ही मन्द रहता है। वह जान कि जो निश्चित और अन्तिम होकर वह भी मकान है।

### सीस-मुहरवासी बिज्ञाता

उस सीस-मुहरवासी बिज्ञाता के प्रति मुझे सहानुभूति होती है जो मानव प्राणी की अज्ञाता की सहता और डालती और उसे आवश्यकता से अधिक गुरु-गम्भीर बना देता है। कारण यदि हाफरेनी बिज्ञाता ज्ञानी में वह अस्वाभाविक भाव पैदा कर दे और साहित्य की निधि के समस्त प्राणी के बजाय वह उसकी तिबोरी का पीकी-गर बनना पसन्द करने लग जाते तो वह उस तिबोरी का जाने की बिम्बु हा मानने लग जाय तो दृष्टान्त बोलों बघाएँ ही बघनीय है और ज्ञान के सम्बन्ध में ऐसा स्वभाविकार कभी महामक नहीं हो पाता।

### पैसे से तिलावा मन्द

आगर देना गया है कि पैसा मुक्तमान बनता है। पैसे का महार होना लग जाता है तो ज्ञान भी मुक्तमान करने लगता है। उसमें पाँडे ज्ञान प्राणी कण्ड स मुक्त नहीं होता और बच्य उसकी बिज्ञानुता की आपन लगता है। पैसे की बाढ़

मिल जाने पर विविधा मन्द हो जाती है और ज्ञान संहारे से टिककर निःस्पन्द और शून्य होने लगता है। समझ नहीं आता कि क्या यह उचित ही है कि सरस्वती को लक्ष्मी का बाहुन न मिले ? लक्ष्मी का सहयोग समझ में आता है। लेकिन लक्ष्मी का सहारा और उसकी निर्भरता सरस्वती में मूर्खता का कारण ही बनती होगी ऐसा भय होता है।

मैं लक्ष्मी का प्रशंसक नहीं हूँ। लेकिन लक्ष्मी को और भी डरने कायक चीज समझता हूँ। मुझा हूँ अनेक प्राध्यापक जैसे लक्ष्मीर बन सके हैं और कुछ साहित्यकारों को भी यह सीखाव्य मिला है। यह अवश्य अधिजननीय है पर लक्ष्मी का डर मुझमें समाया ही रहता है।

शिक्षा पैसे के ऊपर रहे

कारण सम्पत्ति आधिका है और उछा हुआ नहीं है जिसकी कमाई उठी हुई है। फिर भी मैं उस समय का स्वप्न देखता हूँ जब ज्ञानी या साहित्यकार बन नहीं पायेगा पर आत्मा पायेगा और इस कारण समाज के प्रति शिक्षावत नहीं रहेगा सिर्फे आजीवार्थ रहेगा। यह व्यक्ति शिक्षा का केन्द्र होना और सब शिक्षा पैसों के नीचे नहीं पैसों के ऊपर रहेगी। अनुपपत्ति के सर्वार्थ में ही योग देनी पैसों की प्रशंसा और पूजा में न सीखेगी।

## साहित्य-क्षेत्र

विश्वविद्यालय, रेडियो, पत्र

२९१ आज साहित्यिक क्षेत्र में एक विशाल त्रिकोण घुसे बीज पड़ता है। विश्व-विद्यालय, रेडियो और पत्र उसके तीन बिन्दु हैं। जिसे भी क्रियाने में रुचि है, तीनों की ओर जागता है। जिनमें प्रतिभा है और सांसारिकता का अभाव है और जो साहित्य रच सकते हैं, वे इनमें कहीं भी छिड़ नहीं बैठ पाते। इस प्रकार युग्म की कति पहुँचती है और इस त्रिकोण के साबने साहित्य का बहुत्व बढ़ता है। इस स्थिति पर आपकी क्या कहना है?

आज सेसन व्यवसाय बना

—लिपिने से जीविका का जो सम्बन्ध जुड़ गया है लीबचना प्यारा नहुरन का हो गया है। तिलें चाहें अच्छा नहीं केटिन बेच अगर अच्छा सकते हैं तो आपका अच्छा कम निकलेगा। केसन यदि व्यवसाय है, तो व्यावसायिकता प्रचलन और सेसन उसके अर्थीन हुए बिना कैसे रहेंगे। विश्व-विद्यालय रेडियो और पत्र प्रकाशन-संस्करण वे केन्द्र हैं जो लिपिने मांस की बा लिपिने-पड़ने की बीप्पता को खरीदते हैं। इस-लिए उनके जास-मास केसन और आज के व्यावसायिकों की बाप होड़ में बिका हुआ पावे और अपने-अपने मांस की बिन्नी में प्रवृत्त रहें तो व्यवसाय के नियमों के यह सब अनुकूल हैं। इस स्थिति पर आपकी या पचराने की जरूरत नहीं है। केसाक को बेचक भी बनना पड़ता है तो यह भी सामय उसके मस के लिए ही है। मगर पहले कृपा-याप्त होता था। वह अपने मांस की अलग-अलग नहीं बेचता था। अपनी सम्भावना-अन्येय दृष्टि ही अपने की किनीकी हवा पर बेच देता था। वे इरादु लोग व्यवसायी नहीं होते वे बहाग्य और सहृदय हुआ करते थे। और पछि केसाक की जीविका इस तरह हवा पर निर्भर थी तो भी उतना बहाग्य बनका नहीं आया करता था न दुनियावारी के हिलाब का समर्थ उतना मस हुआ रहता था। सब सरलता और सहृदयता के लिए बाव-मस न था कि यह दुगमता और अनुरता का आना पहले। एक बिन्दु को अमाने से काम कम आया करता था।

## जीवोक्ति कांति

जब वह युग है जहाँ कहा जाता है कि जीवोक्ति कांति हो चुकी है। जब काम करनेवाले की अपने माल के एवज में जीविका प्राप्त होगी। इससे आम जहाँ उससे असली कांति हुई मानी जाती है लेकिन अपना भाग इस या उस दूकानदार की नहीं देता है। मल्लि राज्य की देता है, जो सबव्यापक और सर्वाधिपति होता है। माल अमुक हो तो राज्य की धरण सब सुख-सुविधा देनेवासी हो सकती है। सब सम्पूर्ण संकट-मोचन हो जाता है।

आधिक वैयर्थ्य का यह चक जो समाज में बसा उससे केवल अक्षय कैसे रहे? जब वह केवल का प्रश्न है कि वह इस चक से ठीक किंचित प्रकार अपना सम्बन्ध और सामंजस्य बिठाता है। इसमें कोई एक सामान्य सिद्धान्त काम नहीं करता।

## अपनेपन की रक्षा या समाज-वर्ष से समझौता

जिसे अपनेपन की रक्षने की बहुत चिन्ता है और समझौता करना नहीं चाहता वह मीमे तुलसीदासजी की तरह से मोक्ष और पेट वाले। तुलसी बार-बार से छूने भाये और अपने पेट की एक अकेला बना लिया। अकेले पेट के लिए नी लोम जीविका करते हैं लेकिन उन्होंने अपने भाग को इतना छोड़ा कि जीत की अपना लिया। दूसरे हुए कबीरदास। कहते हैं उनके पास परिवार था और वे करम पर काम नून लिया करते थे। बुलाहामिठी में कुछ बान मले बे नून सेते हों पर उसकी सही बेचना नका उठाना और बचन करना कितना उन्हें आता था इसका पता नहीं है। कबीर के नूनवे के लोग सायब ही अपने की इसलिये मन्द मानते हों कि वे कबीर के वाले पड़े हैं। और लोगों ने और उग जालाये। कोई दरवासी बन गये कोई शायब राजा के मित्र भी बन गये हों। इसमें अपने निजपन और बाहर के समाजपन के बीच समझौते की बात आती है। आप बचि का माल दीविय और छाहर्ली से आपको और पदार्थ की मुष्-मुविधा बहली बली आवेनी। जितनी आपको वह भौतिक मुष्-मुविधा चाहिए, उतने ही समाज-वर्ष और लोकसेवन के बारे में आपको मानवान और समर्पित होना होता। अपनी ही बहली और रखनी चाहते हों तो उन मुनीनों की नृटि पर सिद्धायत छोड़ देनी होगी।

मुली और सऊन हैं वे जो इन तीनों संस्थानों में से निम्नीय मुविधा का स्थान पा जाते हैं। इन्हें पम्पिक मन्दर माना जाय तो प्राइवेट सेक्टर में भी कुछ सम्भाल है। बलिय बर्न ही जगह बना लीविय। इस जगह बनान की नार्मजस्य-मुगमता को साहित्य की दृष्टि से भी मैं कम महत्त्व नहीं देता हूँ। लेकिन जो बड़ी पुनरुत्थान नहीं राते हैं उनको क्या मुरझाने और मरने की छट्टी मिल जानी चाहिए?



अपवाद को भी जीने का हक

जाने क्यों मेरा यह मानना है कि अपवाद को भी जीने का हक है। चायब उसे भी कुछ देना है। वह समाज जो ऐसे अपवादात्म्य व्यक्तियों से हो सकनवाले काम से अपने की बचिब रलता है बाट में ही रहता है। इसीसे आप देखेंगे कि आज बसा में सनक की कीमत बढ़ गयी है। बिब जितना अधिक समकी है मानी उतना ही अधिक माधुनिक है। बिसके अर्थ लक्ष्य और प्रयोजन का मठा-पठा ही नहीं बस सकता मानी बहु बिब पम्बिक हास में उतना ही माय स्वाम पाता है। इसके मुल में जान पड़ता है यह अपवाद को जीने देने उसको बिसाने और अपने में समाने के माधु के फैलान का ही परिचाम है।

अपवाद-स्वरूप व्यक्ति को कीई हक समाज के ऊपर नहीं आता है। बर्यात् उसका दावा नहीं ही सबटा। समाज ही कुछ अपने में उसके प्रवि शायित्व अनुमद करे, ती यह बूसरी बाठ है।

पीड़ा ही पूसी

मैं यह मानता हूँ कि निजल और सत्य के प्रति शायित्व माननेवाले को हर कष्ट के लिए तैयार रहना चाहिये। तैयारी बसनी चाहिये कि किसी स्थिति में कटुता और उपाकन्म उसके मन में न आवे और हर कष्ट को अपने हक के तीरपर बहु स्वी कर कर सके। हर बाहरी अभाव को भीतरी सद्भाव से ले और इस तरह अभाव को यह शक्ति न मिलने है कि उसक अन्तरंग को कीई क्षति दे सके। ऐसा व्यक्ति मेरे बिचार में बहु काम कर आयमा जो पीछे बाकर समाज को अत्यन्त प्रिय और उपयोगी हो सकेगा। समाज की ओर से आनेवाली अवयभना और अवहेमना मानी कुरेद-कुरेदकर उसक भीतर की स्नेह की पीड़ा को बाहुर प्रकाशित होने में मदद देगी और ऐसे जो दुःख में से आवेगा बाहुर देनेवाला बन आयमा।

अनेसा और जीविका-हीन

बहु अनेसा और जीविका-हीन व्यक्ति काम और भुग का क्या करे? कमा नहीं सकता हमने बिबाह भी कींदे कर सकता है? कमाई में से भुग की शायित्व का साबन होना है और बिबाह में से काम का उपचार होना है। इन तीनों से बचिब होकर बहु सगरीर व्यक्ति क्या करे? कीई नहीं कना सकता कि बहु क्या करे। बिबा में जोरन प्रिय जाय ती क्या ममईन भी प्रिय आयमा? कैकिन यह ममस्या एनी है कि सोनी या सकनी है बर्बा नहीं या सकनी।

वेम का और जीविका का प्रल उतना ही पेचीडा है, जितनी कि पैस की संरबा

देवीदी बन गयी है। उस झुह का मुझे स्वर्ग पार नहीं मिलता है। ऐसा कदता है कि उसमें एक बार भीतर आना हो भी जाय तो बाहर निकलना नहीं हो पायगा। इसलिए घुसने की भी कहीं नाशानी की जाय।

### सुरक्षित आजीविका का महत्त्व

इच्छा मेरी सबके लिए यह है कि समाज सुरक्षित आजीविका प्राप्त हो और यदि स्वतन्त्रता का कुछ अंश उसका लिए कम भी होता हो तो हर्ज नहीं है। वह भी की सही स्वतन्त्रता किस काम की जिससे वे स्वाम-नतिकार्य ही मूल जायें और वे समाज के प्रति व्यक्ति स्वाम प्रवास होता है। एक वह भी बिधि नहीं आ सकती है और योग-लेम समाज से नहीं आता ईश्वर से आता है। उन प्रपातियों का निर्धारण नहीं हो पाता जिनसे आजीव अपने स्वाम-प्रवास का सम्बन्ध सीधे ईश्वर से जोड़ पाता है। उस बिधि का विश्वास हो तो निश्चय की सम्पूर्ण निष्ठा और तन्त्रा को अपनाया जा सकता है। उससे उतरकर मैं नहीं चाहूँगा कि कोई भी आजीविका से अपने को विमुख और अविश्व करे। इसमें व्यक्तिगत और आत्मगत की बचना और बिकना पड़े तो भी मैं मानता हूँ कि इसमें भी कुछ विघाता का अमिनाम होगा। बिना मन को छोड़े वह सदस्यता और सामग्र्य साहित्यकार को स्वीकार लेना चाहिए।

१९९ क्या आपको बिहवास है कि हिन्दी दूसरी भारतीय भाषाओं पर जो अपने को आरोपित कर रही है वह अपनी साहित्यिक उन्नति और योग्यता के कारण कर रही है अथवा केवल राजनीतिक परिस्थितियों के कारण?

### उन्नति आरोपण नहीं करती

—आरोपण सदा राजनीतिक होता है। उन्नति कहते ही उसे है जो अपना आरोपण नहीं करती। हिन्दी के नाम पर भाषा के आरोपित करने की धज्जा है, तो वह उन्हीं लोगों के मूल में हो सकती है, जिनमें वृत्ति अस्वकार की है और जो अपने पीनम के लिए भाषा की दुहाई देते हैं।

साहित्यिक मेष्ठना एक ऐसी विधान है जिसको बनाने की या पालन की उन्नति नहीं होती। उनका सकार मय मया स्वेच्छा से करते हैं। वह अहम् की मेष्ठना नहीं होती। उनमें आनन्द-निवेशन हुआ करता है। इसलिए वह किसी प्रदग या विवेक के लिए अस्विकार नहीं होती मरकी सर्वथा मान्य होती है।

२९९ मेरा यह मानना है कि अपने आधिकार से ही हिन्दी के साहित्यकार अपने पूर्वानुरागी सिद्ध-मार्ग और अन्य वृत्तिगतियों से इतने उत्तरोत्तरी नहीं रहे कि वे

जीवन का सहज सर्वाधीन और समीप बिजन कर पाते और इस प्रकार आम जनता के मन में अपने पात्रों की ओर उनके भाष्यम से अपनी स्मिर-प्रतिष्ठा कर सकते। कुछ अपवाद हो सकते हैं। इस विषय पर आपकी क्या कहना है?

**व्यापक जनभाषा होना हिन्दी के विपक्ष में**

—मैं नहीं मानता कि किसी भाषा विशेष में ऐसे आविष्यों का प्रतिपाद बहुत कम या बहुत अधिक पैदा किया जाता है जो अपने को विसर्जित करने में अधिक कृतार्थता अनुभव करते हैं। हिन्दी की स्थिति साधारणतया और भाषाओं से बहुत भिन्न नहीं होनी चाहिए। एक बटना अवश्य उसके विपक्ष में रही है और वह यह कि भारत के लिए व्यापक जनभाषा होने के कारण उसे राजभाषा और राष्ट्र भाषा माना गया है। उस बजह से तरह-तरह के बचसर पैदा हुए हैं जिससे आप का सामन बन सकता और बढ़ाया जा सकता है। यह कृत्रिम तत्त्व अवश्य ऐसा है जिसमें से लोगों ने अपने अह-स्वार्थ की पूर्ति बाही और बनायी है। अन्यथा हिन्दी के पक्ष में प्रकृति और जीवन अनुभव करने का कोई प्रश्न नहीं उठता। मैं नहीं मानता कि हिन्दी व्यष्टता की दृष्टि से और भाषाओं से बची-बची है। इनका अवश्य हो सकता है कि उसका सब व्यापक होने के कारण भट्ट लक्ष्मी की सस्या बही अधिक हो जैसे कि निरुद्ध लेखकों की भी सस्या अधिक हो सकती है।

**साहित्यकार मानव-मान का स्वत्व**

साहित्य की ओर न भाषाओं में विभेद करने की आवश्यकता नहीं है। रबीन्द्रनाथ और सचनविषय को लकर गगना और अंग्रेजी मकर में यह निजमें तो यह उन्हींके लिए जिनकर नहीं होना। ऐसे लोग अमुक भाषा द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करते हैं किन्तु उतन में उन भाषाओं की बचीनी के नहीं बन जाते। वे मारी मानव-जाति का स्वत्व होते हैं और उनीकी व्यक्त करते हैं।

२९४ प्रश्न माना के मकर का नहीं है। प्रश्न है विचारविधी द्वारा भी उसके स्वेच्छया स्वाकार और भावर का। आज जो हम इतने अंग्रेजी-भक्त होपते हैं वह अंग्रेजी के साम्राज्यवाद के कारण नहीं बल्कि उन महान् अंग्रेजी कवियों और लेखकों के कारण जो हमारे मन और हृदय में बस गये हैं और जिनके रम में हम इतने सराबोर हैं कि उन्हें भूल नहीं सकते। ऐसे कवियों और लेखकों की संख्या बंपता और अंग्रेजी में जितनी है क्या आप मानते हैं हिन्दी ने उतने और और उसी कोटि के लेखक पैदा किये हैं?

हिन्दी में गहराई कम, फसाव अधिक

—हो भयभीत व प्रति ममता और शक्ति यदि और बिलुप्त है, वह उस भाषा के महान् साहित्यकारों के कारण है। यह अच्छा है कि आपको हिन्दी से इतर भाषाओं में जो श्रुति दी जाती है हिन्दी में वह नहीं दिखायी देती। अच्छा इसलिए कि आप स्वयं हिन्दी के हैं। आत्मस्वभावा अच्छी चीज नहीं है और हिन्दी में मैं अनुभव करता हूँ कि आत्मस्वभावा की वृत्ति नहीं निष्ठापी देती। यह बिलम्बता योग्यता में सही था सकती है। यदि सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य अयोग्य होता तो उनमें शब्द का रस होना। यह उद्देश्य और वृत्ति होता। आपके उद्देश्य सही नहीं था सकता है कि स्थिति वैसी नहीं है। हिन्दी-साहित्यकार शब्दकार नहीं है और अपनी भाषा से बाहर की श्रेष्ठता को अपनाने की सहज उद्यम है। चायद तुलसी मूर कबीर आदि को हम सम्पूर्णतः मानते हैं लेकिन बचपन से हिन्दी के ही हैं। हाथ के समय की बात से तो आपको यह सूचना नहीं चाहिए कि हिन्दी-भाषा को इस समय में राष्ट्र-वर्ग का बहुत बोल उठाना पड़ा है। यह निश्चय कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय उद्दीष्टन का साहित्य जितना हिन्दी में है उतना चायद ही किसी भाषायी भाषा में होगा। हिन्दी एक भिन्न-बुद्धि सर्वांगीण भाषा है। यह केवल प्रादेशिक नहीं है और इसलिए वह भाषा से अधिक कम के निकट है। अभी वह अपनी चिन्तन-मनन की नहीं है काज-बर्हिार की उदात्त है। हमने स्वयं-वत् उद्यम में गहराई से अधिक फंसाव है। लेकिन हमको ज्ञापना समझने या हम पर संश्लेष होने की आवश्यकता नहीं है। मैं मानता हूँ कि राष्ट्र अब बनने में स्वास्म का नाम करणा और राजनीतिक पहलुगहनी करा बैठेगी तो हिन्दी के बादमय में बनायाव गहराई और ऊँचाई जाने लगेगी। अभी तो राष्ट्रीय आदेशों का ही उसे बहन करना पड़ता है। उद्यम लोभ्यता आदेशों से उद्योगता पाने पर आपे बिना न रहेगी। लेकिन बंधन की सम्पन्नता को हिन्दी के रस्य की भाषा में नहीं देखना चाहिए। वह प्रवृत्ति असाहित्यिक है जो हम प्रकार तुलनात्मक कामनाओं में विचलित होती है।

हिन्दी रत्नों से शून्य नहीं

नाम गिनाने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन आज भी महत्त्व की पुस्तकें हिन्दी में अनेक निकल रही हैं। दुर्भाग्य यह है कि बहुमत की भाषा होने के कारण इनर फार-फारिदी में उद्यम प्रति संश्लेष पड़ पड़ा है। उद्यम संश्लेष के उद्यम अच्छा नहीं है कि संकाश से काम लिया जाय श्रेष्ठता में प्रतिपादन और प्रशंसने से बचा जाय। किन्तु भाषा की ममता से मुक्त होकर निरपेक्ष दृष्टि से देखें तो

हिन्दी का भण्डार रत्नों से घना नहीं है और ठीक इस समय काफ़ी मूल्यवान् सृष्टि हो रही है।

चेतना अब राजनीतिक सुवाची में फँसी होती है, ता महत्वाकांक्षाओं से बने भावों में बह बहका करती है। तब साहित्यिक परिभा और गाम्भीर्य के लिए अवकाश उठना नहीं रहता। हिन्दी के साथ यह दोष और दुर्भाग्य अविश्व है। केवल इस कारण हिन्दी में जो है और हो रहा है, उसके प्रति दुर्लक्ष्य नहीं होना चाहिए।

### रचना की श्रेष्ठता

२९५ मेरी कुछ ऐसी आशयता बन गयी है कि श्रेष्ठ रचना उसे नहीं मानता जिसमें बहुत सिद्धान्त या बात का प्रतिपादन जल्बा उसकी रसमय अभिव्यक्ति हो। बल्कि उस रचना को मानता हूँ जिसमें निहित जीवन-चित्र को मारमरत करके सामाजिक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व वर्णन रससिक्त और हृत्पूरव हो उठे और उस रचना का वातावरण उसकी सीमा में घुसवान् का रूप बनकर बस जाय। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में ऐसी कुछ रचनाओं के नाम क्या आप से सकोये ?

—नहीं, रचनाओं के नाम मैं नहीं जानूँ। कारण आपके प्रश्न से कुछ दूसरी बातें उठ आयी हैं जो मुझे फँसाती हैं।

### भावसिक्त, पर अथ-गूढ़ कृति साहित्य नहीं

सिद्धान्त प्रतिपादन में रस नहीं होता। फिर भी अगर उसका रसमय चित्र संभव है, तो उसकी श्रेष्ठ साहित्य में गणना क्यों नहीं हो सकती ? रस होने पर फिर सामाजिक की ओर का आग्रह क्यों मुना जाता है ? क्या यह नहीं हो सकता कि स्वयं सामाजिक में कोई आग्रह हो और इन कारण रस पाते हुए भी वह अमरु अभिव्यक्ति के कारण लेखक को स्वीकार न कर पाता हो ?

मैं नहीं मानता कि अर्थ से स्वतन्त्र भाव साहित्य-कृति की श्रेष्ठ बना सकता है। आपका आग्रह अन्त में कुछ उनी प्रकार का है। आज के वैज्ञानिक युग में तो अर्थ की योग और भी अविश्व है। भावसिक्त और अर्थ-गूढ़ कृति को साहित्य नहीं कहेंगे।

### जीवन-चित्र में अथ अद्वयी

जीवन-चित्र की मापन ऊपर जान नहीं है। जाननी और के, यदि हम अर्थ न डालें तो क्या बाद भी जीवन-चित्र हाथ आ सकता है ? इसमें मैं तब चित्र ही नहीं बन पाता कि वह कबलता ही लगाने रह जाती है। अगर हम अमरु चित्र को पकड़

पाते और दे पाते हैं, तो यह ठीकी हो सकता है, जब हम अपने पास कुछ माध्यम रखते या रखना चाहते हैं। अन्यथा बाह्य जीवन और बाण की यह अनगुना हमकी पायल कर दे सकती है।

सब यह कि आन्दोलन विवेक का सम्बन्ध हमारा बन पाता है, ठीकी माध्यम प्रकाशन एवं आत्म-विभक्ति सम्भावनीय होता है। इस आन्दोलनात्मक सम्बन्ध के लिए एकदम अनिवार्य है कि हम समूह जीवन-बन्ध की अपनी ओर से कार्य दे सकें व्यक्तिगत तर्क दे सकें। अन्यथा रचना में स्पन्द कहीं से आयेगा ? राष्ट्र के प्रति यदि विश्र्वास होता है तो तभी जब हम स्वराष्ट्र की चारपाई को मानी एक व्यक्तिगत है पाते हैं। भारत को भारत-माना बना पाते हैं। आर्थिक उसे कहा जाता है, जिसमें समूह सब या जनपद की हम मानी व्यक्तिगत ही है उठने है। हममें केवल भावार्थ के काम नहीं करना बल्कि कार्य आन्दोलन की बुद्धि का भी सहयोग होता है। अथवा समन्वय और अनुकूल्य कर देनेवाला माध्यम कार्य-प्रतिष्ठा सफल नहीं हो सकता। मायोपेक्टि रचना उद्देश्यहीन हो सकती है, मध्य माध्यम अनुमित सम्बन्ध से बनता है। इस अनुमित को मैं आविष्कार नहीं मान सकता। इसलिए कवि या रचनाकार आविष्कार प्रती हो नागरिक ही नहीं नहीं यह मैं स्वीकार नहीं कर सकता। नागरिकता के लिए कुछ मताभिमत आवश्यक होते हैं। सर्वांग प्रेम की यह एकता जो सबको बंध से बाध्य कर देती है माध्यम के लिए पर्याप्त नहीं है। उसको भ्रष्ट-विज्ञान में भी उतरने की उन्मी दृष्टता चाहिए। जिसको निष्ठा और आदि कहते हैं व भ्रष्ट-विज्ञान में पनि करने से सहायक होनेवाला भूष होने है। उस भ्रष्ट-जगत् के प्रति सर्वथा बर्बर और भोला बनन का साहित्यिक के लिए अवकाश नहीं हो सकता। इसीलिए साहित्य के चरम पर जाकर मानो ज्ञान और यक्ति में दर्शन और रस का सम्बन्ध हो जाता है।

२९६ भाव के आधार सब की क्या बौद्धिक मताभिमत तक ही सीमित रह जाना चाहिए ? आत्म-चरित्र और रहस्यमय मन-सुख में सहरी पैर, जीवन-अन्य के व्यवहार की प्रवृत्ति की सुख अनुभूति और जीवन की चिन्ता का स्पष्ट आवास ही क्या भाव का आधार बनने के लिए काफी नहीं है ? जब कवि या लेखक अपने मताभिमत को आरोपित करेंगे, सब क्या वह निरपेक्ष रह सकेंगे ? सादृश्यता में कालिदास ने किसी विशेष मत का सहारा नहीं लिया है। सब क्या बड़ा या दृढ़ता है कि उसमें उनका भूष व्यक्तिगत साक्षात् नहीं हो उठा ?

मताभिमत अनिवार्य

—मताभिमत का आरोपन न हो यह समझ में आता है। लेकिन मताभिमत से

यदि सत्यता किसी बेहचारी या बुद्धिचारी को प्राप्त नहीं हो सकती तो प्रश्न है कि फिर उस मतान्तर का क्या किया जाता है? आरोपण के डर से क्या उन्हें पीछे रोक दिया जाता है? मैं मानता हूँ कि येष्ट साहित्य समीक्ष-दान से बनता है। जो मतान्तर के प्रति अपना स्वात्मभाव अनुभव करके उन्हें पीछे रोक लेता है वह केवल दूसरे का म नही मूल करता है जो मतान्तर म स्वात्म भाव रखने के कारण साक्षर उनका आरोपण कर निकलता है। मैं मानता हूँ कि मत-माध्यम से यदि व्यक्ति धृष्ट नहीं है वैसे कि ही नहीं सकता तो उनका निवेदन उसके प्रकाशन में आये बिना रह नहीं सकेगा। इसमें मैं कोई शीघ्र नहीं मानता हूँ। संस्कृत में यदि किसी जनह भी विवाद है, तो आप देखें कि अनिमित्त-सूत्रता में से उसकी सृष्टि नहीं की जा सकती है। यदि अमुक कृत्य के प्रति चरित्र में परचा साप का उदय होता है, तो क्या इसमें अनिमित्त समित नहीं है? परचासाप और विवाद की बारम्बार ही अनिमित्त के अभाव में अस्थिर हो जाती है।

### अनुभूति बुद्धि से धुष्ट हो

मतान्तर में भाव सीमित और कथ्य अवश्य नहीं रहना चाहिए। पर टिकने के लिए उसे जिस आधार की जरूरत होती है, उसे मतान्तर कहते हैं। मैं सचमुच नहीं समझ सकता कि कोई अनुभूति प्राप्त होकर व्यक्तित्व में आत्मसात् हो सकती है जब तक बौद्धिक समीकरण का भी उसमें शीघ्र न हो। प्रेक्षणीय बनाने की राह में भाव को बौद्धिक अनुमापों में से गुजरना ही होता है। ऐसा न होता तो हमारे पास अमर रहना न हो सकती थी। भावनिमूत होकर हम जो येष्ट कर पाते हैं वह जब से जुड़ी और बड़ी होती है। किन्तु जो सत्य के साथ जोड़ती नहीं है, काव्य को हराती हुई दूर होती रहती है। वह येष्ट केवल भावभाव को नहीं ही सकती उसके अन्तर्गत की ही भावसाधना में से ही प्राप्त किया जा सकता है। सामना हम सिध कहना पड़ता है कि उनमें बौद्धिक आधार और अनुसाधन की आवश्यकता होती है।

### बौद्धिक योग-साधन

बुद्धि अन्त में वह यत्न है जिसमें हमारे भीतर का सार्वजनिक रूप और व्यक्तित्व प्राप्त करता और दूसरे तक प्रपञ्चीय बन जाता है। यदि वह स्वकार और व्यक्तित्व उस न मिले तो रचनाकार के भीतर का समित सार्वजनिक अमूर्त ही रह जाता है, साहित्य में मूर्त नहीं हो पाता। अनुभूति किसी को प्राप्त नहीं होती, फिर भी साहित्यकार बिना ही पाते हैं। वह इसलिए कि वे सब अनुभूति में से अधिष्ठाति

नहीं हो पाती बल्कि उसके लिए एक विशेष प्रकार की योग-माधना की आवश्यकता होती है। इन प्रक्रिया को बौद्धिक माधने में मूल कोई आपत्ति नहीं है। जानना ही बौद्धिक की सोचा है। लेकिन जहाँ स्वन चीन्हा और स्वरूप देने का प्रयत्न है वहाँ बुद्धि का उपयोग बनायास ही उपस्थित हो जाता है।

**साहित्यकार मत-मतिगूण्य नहीं बन सकता**

बाहर की कोई प्रचण्डता उत्कटता खम्बमयता चीख ही हमकी प्राप्त और अनुभूत अवस्था हो सकती है। लेकिन राज्य के या किसी दूसरे माध्यम से मूर्त बनाकर उसको स्वतन्त्र अस्तित्व द जाना जिससे समापत और शेव की वह अनुभूति उपलब्ध होती रहे, बिना बुद्धि-साधना के हो नहीं सकता। यथामित के अतिनिवेद्य स आधिष्ठ और बचीन वह बुद्धि अवस्था नहीं होती है। लेकिन विचर्जनशील होने में जा ही जाता है कि वह व्यक्ति के स्वतन्त्र अर्थान् यनामिमत् से पूरी तरह समस्वर समाधिगत है। यथगूण्य और मतिगूण्य होकर रचनाकार साहित्य-रचना करता है वह मानने की उद्यतता मुझमें नहीं है।

२९७ ती आप स्वाकार करते हैं कि साहित्य के सीमित क्षेत्र में बुद्धि सहायक और साधन होने के लिए है, स्वाधी और साध्य होने के लिए नहीं। और मत-मतिमत् जीवन-महाह अर्थान् चरित्रों और कुराओं में अन्तर्निहित और धर्मित होने के लिए है, प्रकट और प्रकल होने के लिए नहीं है ?

**बुद्धि संश, समग्रता नहीं**

—गतिन और प्रकट, साधन और साध्य इन शब्दों में अन्तर अन्तर्ग मात्रा का ही रह जाता है। गतिन के लिए यह विमता कि वह प्रकट न हो और साधन के लिए यह कि वह साध्य न बन मूल आवश्यक नहीं जान पड़ती। सब यह कि साध्य की सान साधन के अंगि भी उनकी ही प्रक्रिया ही जाती है। ठाकुर-पूजा के लिए नैवेद्य के प्रति भी गुणिता का उतना ही आग्रह रचना विरक्त नहीं है। साध की पूजता हो, तो साधन साध्य में मिल जाता है और गतिन भी प्रकट की छा में आये बिना नहीं रहता।

इसके बाद यह स्पष्ट ही है कि बुद्धि संश है व्यक्ति की सम्पूर्णता वह नहीं है। सम्पूर्णता के ही समग्रता की जहाँ सीमा है वहाँ अंग की यदि महत्व मिलता है तो तब जब मा ती रूप उसे रोकने है या शेव पर उसे लाउने है। गतिन रूप में साहित्य रचना में बुद्धि के व्यापार के लिए पूरा अवकाश रहना है और तन्निरोजिन रूप में रचना-सिद्धि में बुद्धि और उनके कार्य का कम महत्व नहीं मानना होगा।



### साहित्य-विद्या और युग विशेष

२९८. क्या साहित्य-विद्याविशेष का युग-विशेष से कोई सम्बन्ध होता है? अर्थात् यह तो ठीक है कि व्यक्ति-विशेष विद्या-विशेष में ही पटु हो पाता है। पर क्या विद्या-विशेष में कुछ ऐसी बिशिष्टताएँ होती हैं जो युग-विशेष में ही पनप सकती हैं और उपयोगी बन सकती हैं?

### बोनों का सम्बन्ध

—हाँ युग-विशेष का प्रभाव विद्या-विशेष के सम्बन्ध में ही तो सकता है। विद्या बनती है अपने को छेप तक पहुँचाने की प्रक्रिया में। पहले जब सिद्धमा-छपना कम था तो काव्य और तुकान्त काव्य अधिक संगत हो सकता था। रचना जब स्मरण द्वारा टिकती और फैलती थी। छन्द और तुक उसमें सहायक होते थे। छपने की जब सुविधा बढ़ी तो जान पड़ा कि अब वे इतने अनिवार्य नहीं हैं। इसी प्रकार युग की भौतिक परिस्थितियों का आरम्भ-प्रकाशन के स्वरूप पर अवश्य प्रभाव पड़ सकता है। ऐसी भाषा रूप आदि पर समय का प्रभाव जासानी से पीन्हा-महसूस हो सकता है। भाषा मन से नहीं बनती व्यवहार से बनती है। भाषा में किन्हीं तो उन्नी भाषा में लिख सकता हूँ जो भाषा समझी-बूझी जाती हो। रचना भाषा हो और भाषा भी हजार रूप पहुँचाती हो यह हो नहीं सकता। केवल-पाठक के बीच भाषा प्रवाह की सुगम और सुरक्षित रखने के लिए बिलकुल आवश्यक है कि अभिव्यक्ति का बाह्य रूप उससे समय के साथ संगत और संयुक्त हो। इस तरह अन्यास एक रचना से तात्कालिक रीति-नीति सम्मत्ता संस्मृति आदि का परिचय मिल जाता करता है। लेकिन वह परिचय रचना का दृष्ट नहीं होता अनुपम मात्र होता है। उस रूप विधान द्वारा जो भाषा एक से अन्य को भेजा जाता है वह उतना काव्य-वर्धित नहीं होता। इसलिये साहित्य की भण्डना हमने नहीं मापनी होगी कि वह अपने समय-समाज पर कितना प्रकाश डालता है बल्कि वह भण्डना तो हममें डेली जायगी कि उससे मानवात्मा का प्रकाशन कितने सम्भीर स्तर का हो पाता है। साहित्य की विद्याएँ यही न कि जैसे काव्य नाटक उपन्यास कहानी इत्यादि। हाँ व्यक्तिगत दक्षता का प्रश्न तो प्रमाण है ही। काव्य जैसी विद्या में यथार्थ के प्रति उतना आग्रह अनिवार्य नहीं होता है, उसकी अपेक्षा आदर्श और स्वप्न की ओर वह अधिक उठ सकता है और बनना में से अधिक मत्त्व प्राप्त कर सकता है। जीवन की वह परिस्थिति जहाँ बनना-बिहार का अवसर न रहे जाय जो इनकी संकुचित और चिरी धुनी हो तो उसमें रौमण्टिक काव्य अधिक न उग्न तो विस्मय क्या है। समय का जब

इस प्रकार से एकान्त में स्वयं पुस्तक सामने लेकर पढ़न की उत्तमी सुविधा नहीं थी जो होता समुदाय में होता था। इसलिए कथा का रिवाज था या नाटक का। उस समय की कहानी और नाटक भागो बटनापरक और क्रिया-प्रत्यय होन थे। सब समूह अनील की दृष्टि भागो एकाकी कृति में बिकर गयी है और रचनाएँ मनोवैज्ञानिक होने लगी हैं। कहानी सब होती है जो पढ़ी ही जा सकती है नहीं' नहीं जा सकती। नाटक में भी समस्त रूप से अधिक परोक्ष मनःस्थिति प्रकाश होती जा रही है। नाटिक-बीज पहले सीमा मिटमा चाहिए था कि समूह की प्रभावित कर सके सब प्रभाव प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत भावस है। इसलिये नाटिक के आदेश-उत्तर से अधिक उच्चता इंगित ही पर्याप्त है और वह भी इतना बदलस कि मानी हो ही नहीं।

### साहित्य का रूप और आत्मा

इन प्रकार समय के निरपेक्ष जब साहित्य का रूप नहीं हो सकता तब साहित्य की आत्मा अक्षय्य समयाधीन नहीं होती समनोदीर्घ होती है। अन्यथा इतिहास जी न सकता और अतीत के साथ वर्तमान का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता। वैयक्तिक धन का ही आबिन्दन रह जाता धारण और मुनासब का खौर हो जाता। मन में परिचय पड़ता और समय में निरन्तरता बाँधी है तो वह उनके आकारपर ही आ सकती है जो स्वयं धारण और संग्रहण है। उस अविच्छन्न के बिना माओ समय के पास वह मूल नहीं रह जाता है, जो उसके मनकी को धारण कर सके और ऐतिहासिक धारा का हमें बीज दे सके। अतः भाषा गान्य आदि के अन्तर्गत और अर्थस्य भेद होते हुए भी वेग-काल के सीपदान की सीपता हुआ साहित्य मानी एक और अनिमन बना रहता है। सबमूल उसकी मूलकृति में सब नहीं लौटा जा सकता और ठीक वह है जिसके आधार पर दुनिया के रस पास आकर मिल सकते हैं और इतिहास मिल-जुकर मानवार्थ के विकास का इतिहास बन जाता है। २९९. क्या आप इन युद्ध की इस बारम्बा से सहमत हैं कि वर्तमान वैज्ञानिक परिस्थितियों में साहित्य-जोष में कविता और काव्य का न कोई उपयोग रहा है न भविष्य ही?

### काव्य में बौद्धिक सत्य क्या न हो

—हाँ कविता और काव्य में बौद्धिक सत्य भाषा में क्या हुआ तो उसके टिकने की सम्भावना नहीं है। काव्य का अविनाश यह है किमें वह सत्य पर्यन्त नहीं है। लेकिन बौद्धिक परिभा के साथ भी काव्य हो सकता है। और न वैयक्तिक यह

कि बीसा काव्य नहीं मरेगा यह भी अपेक्षा की जा सकती है कि वह विज्ञान-संकुल मानसिकता के लिए ताजी हवा का काम देगा। विभिन्न परिस्थितियों का भावने बिंदु किया है वे बहुत घुंटा गये हैं। ऐसे मगर की कल्पना कीजिय जिसमें पार्क और उद्यान हों ही नहीं। कमजोर यही स्थिति जीवन की आज बनी है। उपयोगिता की दृष्टि से बड़े सहर में खुली जगह व्यर्थ मान्य हो सकती है ऐसे सहर हैं जहाँ प्रति वर्गगज के पाँच सौ या हजार व्यक्ति एक एक बैठ सकते हैं लेकिन नगरपालिका वालों जगह को सली हो रखती और नगर के स्वास्थ्य के लिए इसीको उचित मानती है। जलकी मगर का फेकड़ा कहा जा सकता है, जहाँ से साँस मिलती है। काव्य का भी सम्बन्ध बीसा ही उपयोग है। कार्य-संकुल परिस्थिति में केवल भावोन्मत्तासंपूर्ण काव्य अवश्य काम नहीं दे सकेगा कारण मानसिकता तब इतनी बुद्धि-भुष्ट हो जायगी। लेकिन बौद्धिक उत्पन्न से परिपूर्ण कविता उस परिस्थिति में सली हो आवश्यक बन सकती है।

१०० बौद्धिक उत्पन्नकविता आप किसे मानेंगे? वस्तु की बौद्धिक कविताओं की अवस्था आज के नवीन प्रयोगवादी कवियों की विभिन्न रचनाओं को? बीसी कविता का क्या स्वस्व होगा?

पक्ष में भारीपक्ष, प्रयोगवाद में बिखराव

—सायद बीसी को नहीं। फिर बौद्धिक उत्पन्नकविता का क्या स्वस्व होगा बल्कि हीकर यह भी मैं नहीं दिया सकता। प्राक्व्यवस्था और सहजता उसमें कम न होनी। पक्ष का इतर का काव्य कुछ भारी है। न बिखराव इतनी होनी कि भावान्विति कठिन हो जैसा प्रयोगवादी रचनाओं में अधिकार होता है। कार्य और भाव की संमति आवश्यक है। कारण-कार्य-सम्बन्ध के क्षेत्र में काम करनेवाली वैज्ञानिक बुद्धि इस बेवजहवी बिखराव पर कुछ ध्यान के लिए समझत हो सकती है लेकिन यह उसे सुनि नहीं दे सकती। इस तरह प्रयोगवादिया बलते समय की बीज जान पड़ती है। मानो वह बीसापिच्छता का प्रतिपेय हो। निरोधक बन गया काव्य टिकता नहीं। उसे विज्ञान का पूरक होना होता और उस काव्य में हम और बित्रीह न होना बल्कि प्रसार-भाव होगा।

वैज्ञानिक में बुद्धि की अवस्था नहीं

जिनको 'वैज्ञानिक' कहा जाता है उनमें बुद्धिमूर्ख की भाव अवस्था नहीं पायेंगे। जाने के नाम आज भी वह काव्य लोगों का चित्त मुदित करता है। मुझे जान पड़ता है कि अगर से जानेवाली बौद्धिकता या निरोध-नकार तक बड़ जानेवाला बुद्धि

प्रभाव अतिरिक्त का फल है। जब वह नीतर से जमझकर आती हुई भावानुभूति का फल ही तो न उसमें भार होया न भार होयी। वह मौन्य और प्रतिक्रिया होया।

३०१ आपने कहा कि बिज्ञान का पूरक बनने के लिए आवश्यक है, कविता बुद्धि गुप्त हो। आपकी ही मान्यता है कि समाज को दूर करने के लिए भाव का उत्कण्ठ आवश्यक है और भाव का जीवन इतना कजा हो गया है कि दौनाम्स के तुजन की आवश्यकता प्रतीत होती है। क्या आपकी ही ये ही मान्यताएँ परस्पर विरोधी नहीं दी जाती ?

कविता बिज्ञान की पूरक हो, प्रतिक्रिया नहीं

—पूरक होता एक बात है, प्रतिक्रियात्मक होना एकदम दूसरी बात। मराना वास्तविक परिचय में, बिज्ञान का है। लेकिन वहाँ उत्कण्ठ कात्म-दृश्य देखने में आते हैं। उसको मैं पुत्रिग्रह नहीं मानता प्रतिक्रिया मानता हूँ। जिस काव्य की मैं बात कहता हूँ वह बौद्धिक की जबकि साधारणक अवस्था होया बौद्धिक तो बिज्ञान स्वयं होता है। पूरक होने के लिए साधारणकता यो भी शक्य है। लेकिन वह साधारणकता बुद्धि से परायाय का रूप नहीं ले सकती जैसे कि प्रतिक्रियात्मक काव्य ले लिया करता है।

पूरक बनकर जब काव्य आयेगा तब वह बिज्ञान से उलटा नहीं बिलार्ई देगा। बर्बात उन्हें-कृपति का एक साथ विघटन नहीं नहीं दीयेगा। प्रभाववाद के नाम में जो रक्त चल रहा है उसमें बिज्ञान की व्यवस्थितता को मानो स्पर्शपूषक छिन्न मिन्न कर दिया जाता है। उस प्रतिक्रियात्मक कहना ही होता है। अन्धधृष्टता मानो उसे सज्जन से अधिक कल्प हो। पूरक काव्य में यह सब नहीं होया। आर्म्प-चना का स्वर उसमें लीला नहीं होया आलोचना के रूप में जी बौद्धिकता का प्रकाशन है, उसको मैं साम्यात्मक नहीं मानता हूँ। आरोगिक कविता का मूल स्वर वह ही दीन पड़ता है। आह्लाद और प्रभाव में आलोचनात्मक मनोरंजन धुन जाती है। तब कवि मनु के विपरीत नहीं होता मानो सम्मुख और खराबी होता है। मैं नहीं उन बात को उदाहरणों के स्पष्ट और गुप्त नहीं करता चाहूँगा। पर बात देखने चले तो सर्वमान्य एके कवि जिस आर्ये जिसका प्रभाव बर्ग-जीविन और बौद्धिक नहीं है वह सार्वभौम और हादिक है।

३०२ क्या भाव की परिस्थितियों में बिकर न हितकर नहीं होया कि कहानी के साथ कविता का सम्बन्ध अनिवार्य नहीं, तो अधिक प्रवर्धित हो जाय। क्योंकि कहानी-तरफ के सहारे कविता का महारक बढ़ेगा और मनुष्य में संगीत और संयीनि

की भी अन्तःस्थ व्यास है, जिसे मात्र कविता ही बुसा सकती है, वह भावव्यक्तता इस प्रकार पूरी होती जायगी ?

कहानी कविता से जुड़े

—कथा को काव्य के लिए मैं अनिवार्य कहता-मागता आया हूँ। अथवा काव्य मौल-संपीठ के निकट पहुँच जाता है और सामाजिक से अधिक वैयक्तिक हो जाता है। व्यक्ति मात्र एक व्यक्तिमात्र उठ जाय तो उसका व्यवहार बहुत सामाजिक भूत है। लेकिन यदि आवेदन का वह भाव उचित करनेवाली ही कविता न हो तो वह व्यसनहीन बन जाती है अर्थात् असामाजिकता की भी पोषण दे सकती है।

कथा-विमुक्त कविता विकास

कथा से बिछुड़ी तो कविता अधिकोप विकास हो गयी समाज के लिए अन्त-अन्त के समान अनिवार्य और पोषक वह नहीं रह गयी। उसमें कुछ तिव्रता या मिर्ची और वह नविक के नवनीत जा पहुँची। घराब की महिमा कम नहीं है। लेकिन घराब आन्तरि घराब है और उससे अधिक नहीं है। को सामाजिक और सार्वजनिक है पारस्परिक ही है। परस्परता के लिए कथा आवश्यक ही जाती है। बीया अधिक परिवर्तन नहीं तो परस्परता उत्पन्न नहीं होती न सम्प्रदान और सामाज्य या संघर्ष की परिस्थिति के लिए अवकाश रहता है। अर्थात् सामाजिक उद्बोध की समता के लिए उतना अवकाश नहीं होता। वही प्रेम और सहानुभूति को अन्ध में बाँटना पड़ता है। इस तरह सामाजिक दायित्व और तेजस्व तक जा कविता उठे वह अनिवार्य कथानुवारी होती है। पुरानों में आर्य-मस्कृति को मँगाते रखा है। के महाकाव्य भी हैं। सत्सति को भिदित और मुष्ट करने की समता उन काव्यों में हमीलिए गयी है कि नाता चरित्रों के परस्पर सम्प्रदान द्वारा सामाजिकता का जगते उद्घाटन और उन्मेष ही सदा है।

आज साहित्य समाज-सम्बन्ध से मुक्त

मानना हीमा कि आज सामाजिक सम्बन्ध से साहित्य कुछ मुक्ति पा रहा है। यह केवल विच्छेदमान रह जायगा और हानिहर होया अगर हम मुक्ति का मगल मयाज की जगह सत्य है, का मैं व्यक्ति का वरण हो जायगा। उन मुक्ति में उनीयता का उन्मेषता का मात्र सब पड़ सकता है जब समाज न आये

समष्टि के बचका सत्य के सम्पर्क से साहित्य को जोड़ा जाय। सत्य समाज से हीन नहीं होता है। सत्य केवल समाज को परिपूर्ण करता है। समाज की चारपा को मूर्त बनाता है। जब हम पाते हैं कि वह सीमित और सख्त है। मध्य भागो उसको समझता होता है। कुछ अपवादों को छोड़कर आधुनिक साहित्य मानो समाज-सम्पर्क को बाधा मानकर इसलिए छोड़ता है कि वह स्व-अन्तः स्व-गन्ध हो सके। ऐसी स्वतन्त्रता को मैं इष्ट नहीं मानता। उसमें वायित्व से छुट्टी मिलती है, लेकिन वह मुक्ति नहीं होती। दादित्व सत्य से स्वत्व के प्रति लटका मिमट पर जाता है। जब हम दायित्व को सत्य के प्रति जोड़ते हैं। तब तब में दायित्वहीनता नहीं दिखती बल्कि मानो दायित्व पर से एक सीमितता उठ जाती है। अर्थात् मानव में तथैव बहिर्भाव होता है।

### उच्छ्वास-विश्वास अह-परक

सत्य मुख-मुख तक निपटा हुआ नहीं है। मुझमें भी है। तुझमें भी है। अर्थात् सत्य के साक्षात्कार के लिए सम्बन्धों का यह विस्तार अर्थवान् होता जाता है। इन सम्बन्धों पर उगते ही क्या हाथ लगती है और जब हम घटना द्वारा कुछ करते हैं। तो मान्य होता है कि वैसे सम्बन्ध से आगे जीवन सत्य की मार्गिकता का आकलन हो सका है। घटना और कहानो में अलग जब जब कविता द्वारा हम कुछ व्यक्त करते हैं। तो या तो वह उच्छ्वास होता है या विश्वास होता है। दोनों ही अहंभरक हीन के कारण उठते उदात्त और उदारी नहीं हो पाते। वही कविता इतना यदि होती है तो तब जब उसमें मुर यकिनप्रवण भावेदन का होना है। ऐसे पीठ यथम स्तम्भ काव्योत्कर्ष के शीर्ष तक जा पहुँचते हैं। मर्यादा वह कविता मन्त्रेक्षितिक्रम से स्थापितता से ऊँची नहीं उठ पाती और जानियों के प्राण कूम्हेवाली नहीं हो सकती है।

### गीति-समीति की प्यास

कथा से गीति और समीति की प्यास मृच्छती है। एसा तो नहीं प्रतीत होता। कथा न हम उच्छ्वासर मानव-शोक या देव-शोक में पहुँच जाते हैं और ऐम करने में कुछ अनिष्ट और ऊँच हो जाय है। यह अवश्य होता है। लेकिन समीति की प्यास कुछ और चीज है। गहरा अविचारित येव होती है। गीति के वह अतिरिक्त निष्ठ और साध है। उसमें समीति का रस प्राप्त होता है। और एसा जाय पड़ता है कि रिक्त प्राप्त करके हमारा अहं भीतरक कुछ कोमल और विरस हो रहा है। उपर राव-कथा में भी एक विपरीत प्राप्त होती है। वही का रस दूसरे प्रकार और स्तर

का होता है। स्वापेक्ष कविता द्वारा यदि हम आत्म-सम्पन्नता (संस्क-एनरिचमेण्ट) प्राप्त करते हैं तो कथा-विमोचता में मानो हम आत्मोत्तीर्णता (संस्क-ट्रान्सेन्डेन्स) पा जाते हैं। इस दूसरे आत्मोत्तीर्णता के तत्त्व को मैं अपनी ओर से अधिक मूल्य देता हूँ। कारण सम्पन्न आत्म की भी आसिर् कृतार्पता अन्त में समपन्न में ही अनुभव होती है। कथानुसार की महाकाव्यों में ऐसी स्थितियाँ आती हैं कि रत्नो द्वेक का परिपाक मानो आत्मार्पण में हो निकलता है और एक गव्वर भाव हमारे सब मन और काया में व्याप्त हो जाता है। इस अवस्था में से होनेवाला काम सङ्क्रान्ति पोएट्री की अपेक्षा अधिक स्वामी और मुसंबारी होता।

३०३ क्या आप चाहेंगे कि संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी की विद्यालय परम्परा में जन्मा जाता हुआ भारतीय काव्य इस वर्तमान युग में आकर मृत हो जाय? यदि नहीं तो उसकी छत्ती भाषा और कथा-वस्तु में आप किस प्रकार के परिवर्तन साम्य चाहेंगे?

**अतीत के प्रति अतिरिक्त कृतव्य अभावश्यक**

—कथा परिवर्तन के आधार पर ही उसकी मृत होने से बचाया जा सकता है, ऐसा आप मानते हैं? मैं ऐसा नहीं मानता हूँ। यदि उस साहित्य का प्रभाव हमारे रक्त में बिब गया है, तो अनायास हमारी अभिव्यक्तियों में उसकी छाया आ जायगी और उन कथकों का जब-जब निकपण होता रहेगा। पुरातन-चरितों पर हर युग में नये-नये काव्य रच गये हैं। यह हमी कारण है। राम और कृष्ण की जीवित रखने के लिए हम उनका नया-नया संस्करण प्रस्तुत करना चाहिए, इस विचार से वे रचनाएँ नहीं हुई हैं। अस्कि एक मीठरी अनिवार्यता और ऊँची अनायासता में सँभला होता गया है। अर्थात् जो अमर है वह अमर है और केवल भाषा अवस्था दीर्घ के कारण मर नहीं जानेवाला है। नयी भाषा और नया मुहावरा स्वयं अमर होना की राह में उन अमर आख्यानों की अपेक्षा कम है यह स्वाभाविक है। अर्थात् अमर के प्रति किसी विमृष्ट या कटपना की आवश्यकता नहीं है। समय और युग को अनेक ही आरमलाभ की भाषा में जीवना चाहिए। उन विचार में सही अधिक काम यह पटित होनेवाला है कि अनीन पुनरुज्जीवित हो जाय और प्राचीन प्रतीक नये-नये कर्तों में प्रस्तुत और प्रतिष्ठित होते पायें। अनीन के प्रति किसी अतिरिक्त वनध्य-यात्र की आवश्यकता नहीं है। उस अनीन स वर्तमान का मुपटित भाव ही हमके लिए पर्याप्त है कि जो तब बनातन और पण्ड होकर मूर्त हुआ था वह वर्तमान के मनोमुकूल होकर भी हमारे सामने प्रत्यक्ष हो और नविव्य के लिए भी मुरावित रहना सक्त जाय। अनुप्य की और बाल की अगणता में से यह अनायास

ही बटित होता है और इस निरन्तरता से बचा नहीं जा सकता। न केवल माया इस क्रम को उत्तराधिकार से बहुत करती है बल्कि माया के व्यवधान को सोच कर भी यह बटित हुआ करता है। यहाँ के आख्यान पुनिया के दूसरे खिरीं तक पहुँच गये हैं और वहाँ से यहाँ जा बने हैं। तो ऐसा इसी कारण होता रहा है। निम्न और समाधान सबका और मूल-मूल का होता है। वह समय-समाज के द्वारा संचित नहीं बनता। बल्कि इन सब संचितताओं को यह अलम्ब बनाता है।

१०४ क्या यह आवश्यक नहीं है कि राम और कृष्ण के पौराणिक तथा अन्ध ऐतिहासिक चरित्रों के समकक्ष कुछ ऐसे चरित्रों की स्थापना की जाय जो वर्तमान के बहुत दूर न हों, जो वर्तमान के प्रत्येक जन जायें और जिनमें राम और कृष्ण का-सा पारस्परिक और विशिष्ट कविता द्वारा काया जा सके। क्या ऐसे चरित्र उस अभाष की पूर्ति नहीं कर पायेंगे, जेलना के जिस अभाष की भाव का विलंबाव धरा कथा-साहित्य भर नहीं पा रहा है?

### राम-कृष्ण जैसे चरित्रों की सृष्टि

—नहीं आवश्यक नहीं है। राम और कृष्ण के समकक्ष दूसरे पात्र हो चिन्ह इस कारण कि राम-कृष्ण ऐतिहासिक और पौराणिक हैं साम्प्रतिक और आधुनिक नहीं हैं, मैं आवश्यक नहीं मानता हूँ। यह किन्तु एक सम्भव हो सकता है कि कोई कल्पना राम और कृष्ण का सहारा और आधार बिना उसकी औषी उद्गार नरे कि जनविद्यार्थी पुष्प को अपने में प्रत्यक्ष और साहित्य में अवतीर्ण कर सके वह दूसरी बात है। लेकिन यह स्पर्श कि इन जटील चरित्रों को छोड़ना है नवीन चरित्रों की सृष्टि करना है, इस कार्य की दृष्टि के योग्य नहीं है। स्पर्श में से महान् सृष्टि नहीं होती पूर्वापन में से यह हुआ करती है। जाधिया नामा युगों में अपने को जिसके प्रति यन्त्रिमात्र में बहाती रही वे चरित बनायास पुष्पौत्तमता का सम्पर्क प्राप्त करते हैं। उन चरित्रों में समावेशना रहती है कि इन युगीन समस्याओं को भी उनमें उद्भूत सके और उनके निदान और समाधान की सोचो भी वहाँ से प्राप्त कर सके। उनको इच्छा अस्वीकार करके नये चरित्रों के निर्माण का बाधक अधिकार हमें दिया-विपर्यय में से जाता है। बारम्बार यधुनुरन ने राम का स्थापन करके पंचमाश को केन्द्र में लिया तो कुछ ऐसी ही स्पर्श उनमें रहो। मैनितीकरण के सन्धे में तनिक यह प्रयास होखता है और योधी के मन में यह पटक ही गया कि सीता को हठाकर केन्द्र में उभारना को राग में एक बाधक रहा हो सकता है। किन्तु मानव-निष्ठता की दृष्टि से यह स्पर्श अनोदेखक उपादा हो मुक्त अधिक नहीं होती।



### कल्पना-सृष्टि चरित्र अक्षम

यह नहीं कि पुराण-मुख्य ही सदा-सर्वदा साहित्य के नायक बने रहेंगे। पर नायक के लिए आवश्यक है कि वह लेखक के रक्तार्पण से बना हो। आत्मीय आदर्शों के प्रति यह अर्पण सहज साध्य रहा करता है। कल्पना के धोर से उनकी सभीन अथ वारणा करना उतना सुगम नहीं होता। अधिकतर यह होता है कि इतिहास में जिन विमूर्तियों को स्वयं बिजाता सृष्ट कर रहता है, मानव-कल्पना उन्हीं के आस-पास अपने आदर्शों की मूर्ति को रचा करती है। केवल कल्पना में से निकसे ऐसे महाचरित्र कम हैं कमजब नहीं हैं, जिन्होंने विश्व-मानस को ही मोड़ दिया हो। पौराणिक पात्र क्यों-के-स्थी ऐतिहासिक चरित्र नहीं हुआ करते रचनाकार की अर्चना-उपासना की विमूर्ति से वे विमूर्तिय बन जाते हैं। धीरे धीरे मानव की इतनी महत्वाकांक्षाओं का अर्पण और अवसान जनमें होता है कि वे मठा-महिम और अलौकिक बन रहते हैं। इनसे हटकर वो मानव चरित्र हमको हिका जाते हैं, वे हान्द और ईत की पीरता में उतरकर हमको आच्छन्न करते हैं उनकी आदर्शता नहीं यथार्थता हममें कुरैब पैरा करती है। वे धर्म के दीप पर नहीं वो पाप के तल तक पहुँचे हुए बीसकर मानो हममें एक तीव्र भाव की सृष्टि करते हैं। अधिकांश आधुनिक साहित्य के महाचरित्र अपनी इस विश्रम्यता से हमारे मानस को धँसोड़ आघते हैं। उनकी शक्ति आदर्श चरित्रों से भिन्न प्रकार की हो लेकिन कम नहीं होती। किन्तु उनकी भी क्षमता और चमक जाती है, यदि बीच में कोई पुरुषोत्तम पात्र आ सके और तुलना में समीचीन मूल्यामिष्ठा हममें जलमस्त और स्थिर हो सके। लेकिन यह क्षमता केवल कल्पना-सृष्टि चरित्रों में मुश्किल से ही आ पाती है और इसलिए वर्तमान साहित्य का उत्कर्ष बिन्दु ट्रेबडी में मिलता है, अन्य प्रकार के साहित्य में नहीं मिलता।

### चरित्र स्पर्धा-जय न हो

संशोधन में चरित्र स्पर्धा-जय होकर महत्त्व के चरम तक नहीं पहुँच सकते हैं। यदि पुराण-मुख्य तक हमारी मति न हो तो महान् चरित्र-मात्र यथार्थता की ओर चमके हैं साध्य सृष्ट ही सके आदर्शों की ओर चलने में उतने बस का अवधारण मुश्किल में ही हुआ करता है।

३०५. महाकाव्य और उपन्यास इनमें से जिते आप अधिक स्वाधीन और मानवता के लिए अधिक उपयोगी साहित्य-विधा स्वीकार करते हैं? दोनों में ही प्रकार के चरित्र होते हैं। प्रथम में आदर्श दूसरे में यथार्थ। किस प्रकार के चरित्रों की

सृष्टि मानव-अन्तःकरण को सबसे अधिक प्रभावित और संस्कृत करने में सफल होती है ?

**महाकाम्य और उपन्यास दो और दूर नहीं**

—महाकाम्य और उपन्यास को मैं दो और दूर नहीं मानता हूँ। यद्यपि और गद्य का अन्तर अधिक महत्त्व का नहीं है। ती भी एक अन्तर विचारणीय हो सकता है। उसका सकेत आपके प्रश्न में भी है और वह यह कि उपन्यास में पात्र मर्त्य के सम्बन्ध से अधिक मृत्यु होते हैं। काम्य में किंचित् उत्तीर्ण भी हो सकते हैं। आज की विज्ञान-दीक्षित बुद्धि विस्मय-मग्नय और अन्वय-परक अधिक है। आदमियों को मानी उसने चोट-छाड़ डाला है। आज के युग की अनु-युग कहते हैं। ईश्वर युग किसी तरह नहीं कह सकते। अर्थात् समष्टिवाचक ईश्वर शब्द में पड़ गया है, ब्रह्मकाम्यक समू प्रभाव बन गया है। मुझे इसमें ह्रास के लक्षण नहीं दिखानी देते हैं। जिसे मजिब तक पहुँचना है उसे मजिब के माने नहीं माने हैं। बल्कि सफर की बाबाओं को अधिक समझना और पार करना है। पूर्णता और मूर्तता का दर्शन जो और जब होगा हो जायगा। अभी तो अपूर्णता के निदान में उतरकर उसके कारण और उसकी प्रकृति को समझ लेना है। विश्व में तो कुछ समझने की वकता नहीं। समझने की जो है वह इन्द्रात्यक है। इसलिए आदर्शवादी और भक्तिपरक रचना आज के बुद्धिवादी वर्ग को अपनी पकड़नी नहीं है। फलतः से एक हुए मनोविज्ञान ने सत्य-महात्मा की उसके बीरव के आसन से नीचकर सामान्य सत्त्व की बस्ती पर ला उतारा है। इन तरह महत् और बुद्ध को हम स्वल्प और साधारण की घापी में लाकर समझ लेना चाहते हैं। बन्धना पात्र हमने दूर और ऊँचे बने रख जाते हैं, हमारा उनसे बनी आत्मीयता का नाश नहीं बन पाता।

**सत्यापित विद्वान्-चरित्र**

किस प्रकार के चरित्रों की सृष्टि मानव अन्तःकरण को अधिक प्रभावित करती है इन सम्बन्ध में आज की राय नहीं हो सकती। जिनमें आदमी अपने दुःख और हर्ष को रस पाता है। जिनके द्वारा वह उनकी प्रकृति को समझ पाता है और उनसे पुनः के सम्बन्ध में कुछ अनुमान कर पाता है वे अधिक मानस की पकड़नी हैं। लेकिन संस्कारिता देने में भी वे ही रचनार्थ अधिक सफल होती हैं। यह कहने की जरूरी मैं नहीं करूँगा। बैसे मैं मानता हूँ कि जिस और सुन्दर की दृष्टि में साधारण वर्गी रचना महत्त्व के वे बड़े तरह अपने में नहीं रखती हैं जो सत्यापित रचना

को दो दृष्टियाँ समान हैं। यथार्थ के मापदण्ड में इस तरह सब अकर्म-असम ही जाता है। यथार्थ का तट हेतु और अर्थ का नहीं केवल कर्मवेष्टा का है। इससे मालूम होता है कि भेद और विग्रह और सबका अपना-अपना पृथक् स्वरूप वहाँ का सब है। सबके अपने-अपने पृथक् स्वरूप की भाषा में ही वहाँ प्रत्यक्ष बनते और उत्तर बन सकते हैं।

### जीवन के ये दो तट

एक वह जिसे परमस्वर कहते हैं और जो परम उपास्य होकर भी परम अप्राप्त है। दूसरे वह जिसे ब्रह्म कहते हैं संसार कहते हैं जो प्रत्यक्ष होकर भी पकड़ में नहीं आता है ठीक होकर भी जो छटनामय है जिसका कर्म मामामय है। इन दोनों तटों के बीच मानव प्राणी झुलता हुआ रहता है। जीवन की कहरें मानी इन दो तटों के बीच ही बहती और हारों-बर्फों की या मत्तबान्तियों की इस या उस किनारे फँक देती है। जो जीते हैं वह किसी किनारे नहीं टिकते हैं अहरों में रहते हैं। इसीमें जीने का स्वाद है और कष्ट है।

### साहित्य इन्हींके बीच की क्रिया-प्रतिक्रिया

में मानता हूँ कि साहित्य इन्हींके बीच की क्रिया-प्रतिक्रियास्वरूप जन्म लेता है और उसी क्रिया प्रतिक्रिया की भाषा में अपने सार्थक की बरसता है। यथार्थ से आदर्श की ओर उटना आरंभ और वहाँ से यथार्थ की ओर उतरना अवरोह। ये दो गतियाँ शार्प निरक्षर शब्दावली में भी माय्य होती ही आ रही हैं। अनेक से एक की ओर चलता उटना ही अनिवार्य है और इसीको उटना भी कहना पड़ता है जिसका वहाँ से अनेक के स्वीकार-मन्कार की ओर आना अनिवार्य है। जिसको उतरना कहा जाता है।

### आदर्श अर्थात् अड्डा अनिवार्य

साहित्य में आदर्श भाव पुस्तक का एक है, लेकिन पात्र अनेक हैं। वाक्य का अर्थ एक है पर शब्द अनेक हैं। इमीम प्रभाव की अभिव्यक्ति साहित्य-रचना में उतनी ही ही मजबूती है जिसकी वहाँ आदर्श की प्रतिष्ठा है। अभिव्यक्ति होगी सभी प्रभाव पुष्ट होगा और पाठक का रचना के साथ सम्बन्ध घनिष्ठ होगा। अर्थात् रचना और रचनाकार में भेदा आवश्यक है। आदर्श आवश्यक है यह कहने से अधिक भेदा की आवश्यक ब्रह्मा अधिक अनुकूल और सार्थक बनता है। कारण भेदा में अलग आदर्श की वही स्थिति ही नहीं है। और भेदा की स्थिति के लिए स्वयं रचना और रचनाकार है।

## भद्रा से यथार्थ असम्बद्ध

यथार्थ के साथ भद्रा का सम्बन्ध टिक नहीं सकता। वहाँ उससे काम लेना होता है जिसे कुछकृपा और सावधानता कहते हैं और जिसमें तर्कशक्ति विवेक के लिए बढकाट है। यथार्थ के प्रति समर्पण नहीं हो सकता। उसमें त्वि-अर्चि स्वीकार-अस्वीकार, प्रिय-अप्रिय का होना अनिवार्य है। वह स्वयं मतमत सङ्गम मण्डन प्रतिपान्न प्रकृषण आदि का है। इसलिए जो आदर्श को लेकर चलना चाहता है, उसमें मतबादी समर्पण और आलोचन आम बिना रह नहीं सकता। यह रम में बाधक होता है। रसबोध एक्य भाव में से प्राप्त होता है। और वह एकता यथार्थ से उठ हुए किसी भावार्थमूक आदर्श में ही सम्भव बनती है। इस लिए आदर्शमय भद्रा साहित्य-सृष्टि के लिये अनिवार्य तत्त्व है कारण उसी के प्रति पूर्वाभिव्यक्ति और निरुपेय समर्पण हो सकते हैं। उसके बिना रचनाकार की त्वि-अर्चि मत-विमत पाठक में तनिक चुभ बिना नहीं रह सकते और इस तरह एक भाषा प्रस्तुत कर भाव है।

## लेखक की भद्रा प्रश्न का भोजन करती है

किन्तु भद्रा की पूर्णता में से सृष्टि नहीं हो सकती। उसके लिए एक तनाव भाव व्यक्त होता है। इसीसे लेखक में यह आवश्यकता रहती है कि वह आदर्श को भद्रा में छुकर ही न रह जाय बल्कि उसको वह अपने सर्वांग में समा पाय। इस भद्रा में हो समस्त जीवन-व्यापार में से उस अर्थ का निकालन की उसकी भद्रा रहती है, या तनाव जीवन-व्यापार में उस आदर्श को ढाँढने की चेष्टा करे। यह एक साधना और तप-चर्या ही है। इन्द्रियों से जो हमें मिलता है विभिन्न होता है। उसीमें से जो अर्थ की एकता को अनुस्यूत लेने का सम्प्राप है वह किमी युद्ध से कम नहीं है। हमसे व्यक्तिगत को एक अनुशासन और एकीकरण प्राप्त होता है। इन्द्रियों को मनमाना चलन की मुक्ति नहीं रहती। मानो सबको बन्धनकरण और आत्मा से जुड़ना पड़ता है। हम तरह लेखक की भद्रा कौटी मतवालिता नहीं हो पाती न वह यथार्थ से एक घण्ट के लिए विमुक्त ही हो सकती है। मानो वह ऐसी जगो और जलजो हुई भद्रा है जो प्रश्न का चरण और भोजन करती है। प्रश्न न वह भूँह नहीं मोड़ती बल्कि निष्पत्ति उस प्रश्न की अपने लिए सुराह जुटाती रहती है। प्रश्न के निम्न-निपमिन्न भीष्य से ही वह भद्रा स्वयं प्रश्न और सक्रिय बनती है।

### आदर्श-यथार्थ अङ्गनङ्गे

यथार्थ श्री गीताइयों की तत्वावस्थित कल्प की ही कहना चाहिए। किन्तु पूर्ण के सम्बन्ध में सब यथावस्थित हो जाता है और कल्प में भी जर्ज पड़ जाता है। सृष्टि के बिना मे पाप भी निरर्थक नहीं हो सकता। एक तो उसका भ्रम यही कि वह हममें नियम की चुनौती और कृत्य का पुरुषार्थ जगाता है। भ्रमभीष्ट पाप और कल्प आदि शब्दों को पैदा करके सायद एकांगी होने की सुविधा भी पा जाता हो सिद्धि साहित्यकार को वह सुविधा नहीं है। वह अवधिबीजक शब्द पैदा करके उनके सहारे किसीसे या कुछ से भी मुँह नहीं मोड़ सकता है। आदर्श की वह पड़ा रखकर सम्पूर्ण यथार्थ को वह बीच अपनी समझ और स्वीकारता में उतार लेता जाता है। माया से मुँह मोड़कर कोई और होगा जो ईश्वर की साधना में आया साहित्यकार तो माया के भरपूर प्रपञ्च में भी ईश्वर की लीला को ही देखने का प्रयासी होगा। हाँ मैं मानता हूँ कि जिसकी ऊँचाइयों में देखा जाता है उसकी गीताइयों में भी उतारा और पाया जा सकता है। एक बेल-दरंग है जो कहता है कि आत्मा ही आरोग्य में परमात्मा होता है। दूसरी ओर सर्व-मुक्त अवतार पुरुष की धारणा है जो कि स्वयं नारायण नर के रूप में ब्रह्म में अवतीर्ण होते हैं। ज्ञान और दर्शन में से जब भ्रम की ओर ईश्वर की हानि होती है अस्वच्छ एक्य युग की मानसिकता में अस्वच्छ-अस्वच्छ हो पड़ता है तब व्यापकतर की क्रियमाण और व्यक्ति प्रतीक के रूप में मूर्त होना पड़ता है। यह आराही और अवरोही दोनों ही दर्शन इसी एक सत्य को बतलाने के लिए हैं कि आदर्श और यथार्थ परस्पर अभागी हैं। आदर्श अव्यक्त केन्द्र है यथार्थ प्रतिफल परिणत होता हुआ व्यक्त प्रत्यक्ष। यथार्थ का आग्रह साहित्य के लिए तब तक सहायक और साधक हीमा जब ओर जहाँ तक वह अज्ञा से सम्बन्धित हो सकेगा। यज्ञा से विच्छिन्न होते ही यथार्थ रचना में आता है, तो ऊँच और अनुप्राण पैदा कर सकता है।

### सेक्स के बीभत्स चित्र

३०७ यथार्थवाद और अस्तुवादिता के नाम पर सेक्स की अनियमितताओं के बीभत्स चित्र और अवचेतन मन के ऊहाप्रीति भरे जंगल ही अधिकतर देखने को मिलते हैं। इन्हें क्या आप मजलीस, अर्थात् और अस्वास्थ्य नहीं मानेंगे? तीन रचनाएँ 'मिडी घेटरलीड लहर', 'लीलिता' और 'घेरे हैं बाहर' इस समय मेरे ध्यान में हैं। यथार्थ के बारे में ऊपर आपने जो कुछ कहा उसकी दृष्टि में क्या आप बतायेंगे कि इन रचनाओं में वाक्य ईश्वर को जहाँ और कैसे पायेगा?

## कया से सम्बन्ध-विच्छेद

—य तीनों रचनाएँ मुझे अवलोक्य लगती हैं। शायद मृच्छत्रा से इसीलिए कि वहाँ य आदर्श-व्यसन का बिलकुल तोप हो गया लगता है और मनुष्य के अन्दर की सहरो यम-योद्धा और व्यवसाय उनका सम्बन्ध छिन्न हो जाता है। उन सन्दर्भ से दूर जाने पर दागो कपास और वास्तविक केवल अवश्य बाधक और भीमत्व होने को रख जाता है।

## अनैतिक-अदलील क्या ?

अनैतिक और अदलील मन्त्रों पर विचार करते समय हमें यह याद रख लेना चाहिए कि हम क्या चाहते हैं। मान लीजिये कि पूरा मकान बनाना चाहते हैं। तो मकान में मोटी और लकड़ान के लिए जयह रचनी पड़ती। नाचने होकर इन दोनों चीजों को बहिष्कृत रककर जो मकान बनायेगा उसका सारा मकान ही लकड़ा और मोटी के दानिन्व पान्न हो जायगा। लेकिन अगर हम मकान का विचार नहीं बीके का और ड्राइंग-रूम का विचार करते हैं, तो उन समय लकड़ा और मोटी की बात भी पाठ नहीं मान ली जा सकती है।

## सबका अपना-अपना स्थान

ईश्वर और परम सत्य का सम्पर्क यह है जहाँ सबकी अपनी-अपनी जगह स्थान है। अर्थात् जयह होने पर बुद्ध भी मानी उपयोग के योग्य होता है और अच्छे से पाल नाक पाता है। विष्ठा की हम आदर करता है और उसके उपयोग में फिर मन-बाल्य और फल-पूज प्राप्त करने हैं। वह मन्त्रों में रचने के सबकी उपाम्मानता का मान प्राप्त हो सकता है। यह नहीं कि उन ज्ञान के लिए अन्वीक और अनैतिक जैसे शब्द व्यय पड़ जाते हैं। बल्कि वे भी अपने स्थान तक ही सीमित रहने और अधिक मय और आनन्द नहीं जनना पाते हैं। मर्याद-व्यवस्था के लिए हम नैतिक के मान नियत करते और उनमें सहारा पाते हैं। उन्हीं नियमों से स्थिति ठिकड़ी है नहीं तो स्थिति घम की अवस्था आ जाती है। विष्णु स्थिति ही हो, यदि एक जाय, तो भी जीवन का काम नहीं चलता। यदि विष्णु प्राप्त होती और स्थिति में विकास जाता है वह तबल समय के आगे सत्य न जुड़ा रहता है। व्यवस्था और एडमिनिस्ट्रेशन उनका प्रथम दायित्व नहीं होता प्रथम दायित्व उनका प्रशासन बिना-व्यय होता है। यह तबल जान पड़ता है नियम की अपेक्षा में नहीं बल्कि नियम की प्रेरणा में रहता है और इसलिए उसे नियम के अधिक महत्व

भी दिया जाता है। प्रतिभा को इसीलिए अपवाद कहा जाता और मान दिया जाता है।

बहुत कुछ हुआ है जिस तत्काल ने स्वीकार नहीं किया। उस समय वह मानो अनामत का प्रतीक था और भविष्य में ही उसकी प्रतिष्ठा हो सकी। जिस इतिहास को प्रेरणा और गति प्राप्त हुई है। अधिकोश अपने समय में स्वीकारता नहीं पा सके थे। कारण व्यवस्था से वे संगत नहीं बन पाये थे। केवल आत्म प्रकाशन में पराजय बन रहे।

### मिथ्या ही अनैतिक-अस्वीकृत

इसलिए अनैतिक और अस्वीकृत घट्यों का उपयोग अवश्य हमें कर लेना चाहिए, किन्तु उन पर इकना नहीं चाहिए। वहाँ भी मिथ्या है वहाँ जाने-अनजाने अनैतिकता और अस्वीकृता है। इसलिए मान लेना चाहिए कि सत्य में ही उन दोनों का सही निराकरण और परिहार है।

जिन चीज रचनाओं का आपन त्रिक किया उनके साथ और अनक रचनाएँ भी हो सकती हैं। वहाँ यथार्थ और वास्तव का नाम पर निम्नताओं और विगड़नाओं का उत्प्रेषण हो लेकिन उनके पास कोई सत्य की छाप या उत्कृष्टता न हो। ऐसा विषय और प्रवर्णन लच्छ-लच्छ की सावधानी रखते हुए भी अस्वीकृत हुए बिना नहीं रह सकता। हम कुछ सच्यों और स्थितियों को बचा सकते हैं लेकिन जाड़े-ठिठके संकेत जैसे इति को अस्वीकृता से नहीं बचा पाते।

### मर्यादा की तलस्पर्शी कुरेब

एसी इतिहास है और हो सकती है जिसमें हर वास्तव्य और मर्यादा में सरपेखर का ही प्रयोजन पाने और दर्पण बनने का प्रयास हो। बोस्तोविस्की की रचनाएँ कम धीर नहीं हैं। अजी एक अमरीकी लेखक की रचना 'आफ सव पोनेज' पड़ी है। तासलाय के नाटक 'पाप और प्रकाश' को ही सीखिय। इन सबमें आप मर्यादा की तलस्पर्शी कुरेब पाते हैं। लेकिन मानो यह भी अनुभव करते जाते हैं कि रचनाकार का लक्ष्य उनके पार है और वह थका की मजबूती से चल रहा है। वे रचनाएँ जो अमूक धीरे दूर उन्हीमें रम लेती मानूम होती हैं। मानो सड़ पाइती हुई-जी बही-जी-बही नाचती है। उनसे पार-जैसे बहती उन्हें अपना मन्त्रमयी नहीं मानूम होता। अन्धालता अमल में बह गिर है। जहाँ हमें अपना प्रयोजन मूल जाता है और इतिहास-व्यापार मुला और भ्रमराकर हमें पार लेना है। आप

देते हैं कि इस तरह आपसी के सम्बन्ध से प्रयुक्ति ही साम्यविवेकता की व्यक्तिलता प्रशस्त कर देती है।

**काम-सेक्स व्यस्तोक्त नहीं**

विवाह परिवार, मातृत्व आदि की समस्याएँ किननी पवित्र और उपायेय हैं। क्या उस काम और सेक्स का वही उपयोग नहीं है जिससे व्यक्तिलता पैदा हुई मानी जाती है? क्यों एक जगह व्यक्तिलता और दूसरी जगह पवित्रता है? काम केवल एक है। यह यह कि एक जगह उनका योग मिथ्या बपट और दम्भ से हुआ है। दूसरी जगह सहजता, साधुता और स्निग्धता के साथ उन्हें स्वीकार किया गया है। मुद्रा-दीप्ता की जब हृदय स्वचालित के नियम से उठाकर किताब के अरिथे कोर बाजार में रखने हैं तो उसमें क्या प्रयोजन हो सकता है? माना-विना नाम-नमुर विच्छेद नाम से उस सब मुद्रा-रात की मुद्रिया प्रस्तुत करने स्वयं किन किताब के साथ उस और से विमुक्त और व्यक्तिलता ही जाने हैं। उन सबमें किननी स्निग्धता और पवित्रता होती है। उन सबका भग करण जब कोई विच्छेद राह चलने की निमाही की उबर जीवनी है तो वह कार्य भीता और साम्य न हो तो और क्या हो सकता है? इसमें साम्यविवेकता का कोई पुरस्कार या सम्मान नहीं है। यह केवल बुद्धि की स्पष्टी और दम्भ है। जिसमें हम बौद्धिक दम्भ का लक्ष्य हो। यह रचना महत्त्वहीन और व्यक्तिलता ही हो सकती है। हम बाने में मरे मन में भ्रम नहीं है। कारण यथार्थ का वही अनुमान नहीं है न अवगाहन है। यह वहीं हो सकता है जहाँ उस यथार्थ से पार जाने की क्षमता हो। "य यथाप का निवन और उपदेवन विच्छेद होता ही तो साम्य ही जग्य और दयाप ही दिव्या पड़ जाता है। मैं मानता हूँ कि इसमें न साथ की सेवा होती है न मन्त्र की ही कोई महापणा हो पाती है। उन रचनाओं में फिर किननी भी बाँटनी और मात्र पैती की कुशलता हो साहित्य में उन्हें प्रतिष्ठा नहीं दिक सकती।

३०८. अगर आप सर्वसाधारण नैतिकता के आदर्श के बहुत बड़ोका जा मरे। आपकी हो अपना। मुक्तप्रम की मध्यमा पर का कि साहित्य का भी अनिवार्य विषय है इस बारिबारिक नैतिकता का क्या प्रभाव पड़ता? क्या आप स बात से सहमत नहीं हैं कि मुक्त प्रेम अधिकतर मुक्त बलात्कार का कन से पैदा है और वही मात्र की अधिकतर रचनाओं में देखा जा रहा है?

**प्रेम मुक्त हो हो सकता है**

—प्रेम मुक्त ही हो सकता है। जो मुक्त न हो। उसे प्रेम की मैं बरसा ही नहीं कर सकता। इसलिये मुक्त प्रेम के समर्पण की बात में मैं कुछ बर्ष ही नहीं देता



पाता हूँ। प्रश्न है कि हम प्रेम का समर्पण करते हैं या नहीं करते। मैं ईश्वर को सक्रिय रूप में देखना चाहता हूँ तो प्रेम ही वह रूप रह जाता है। उसको अनुभव करना सम्भव नहीं है। यों तो श्रेय है, जो ईश्वर में युक्ति नहीं खोजते हैं बल्कि उसको ही अपने बन्धन में सेते हैं। प्रेम के साथ युक्ति से अतिरिक्त और व्यवहार करना भी मानो वैसी ही मूर्खता करना है। हम साब्य चाहें प्रेम बन्धन में नहीं बँध सकें। बल्कि वही है, जिसमें आदमी अपनी युक्ति पावेगा।

### समय अह दो

अब प्रश्न पारिवारिक सामाजिक और संयत प्रेम का आता है। मैं मानता हूँ कि जिसके सम्बन्ध संयत होने की आवश्यकता है वह प्रेम नहीं कहूँ है। हम नृम से मानते हैं कि प्रेम संयत हुआ है। अब यह कि ऐसे संयमन अह का ही हुमा करता है और वह सदा वाञ्छनीय है।

### समय की अतिबाधिता

मनस की यह अवस्था है कि वह प्रेम को अपने अधीन ले। लाओ-लाओ बार हम देव बुके हैं कि समय अपनी मर्यादा का अतिक्रमण करके जब प्रेम को अपनी अधीनता में डालना चाहता है तो स्वयं ही टूटता है। प्रेम का कुछ विषाद नहीं पाता। इस समय की अतिबाधिता और अहता से नमाज और जीवन का बड़ा मुकसान किया है। बड़ी अतिरिक्तताएँ और कुठारें पैदा कर दी हैं और यह प्रेम पैदा कर दिया है कि प्रेम नाश करता है संयम रखा करता है। अन्त में संयम यदि रखा करता जान पड़ता है तो इनीतिके कि वह प्रेम के अधीन हो पाता है। जहाँ हमसे उत्पन्न होता है वहाँ संयम बनाने लग जाता है और दुनिया में मानो प्रत्येक मनुष्य को प्रेम के ईश्वरीय नियम से ऊपर महत्त्व देने लग जाता है। आकांक्षा पैदा होता है जो अपने दण्ड से दुनिया का शासन करना शुभ मानता है और स्वयं का प्रेम के शासन से मुक्त मानता है।

### प्रेम और अतिरिक्तता की टकराहट

पारिवारिक नैतिकता बहुत आवश्यक चीज है किन्तु उसकी रखा प्रेम की रखा के साथ ही हो सकती है। आज वह नैतिकता टूटती-नी इनीतिके जान पड़ती है कि हमने विषय बनाया प्रेम में माना और डाला है अन्त्य से नहीं। अन्त्य में नैतिकता को लड़ना है जिसमें कि प्रेम की वह उत्तरोत्तर आना सके। अब हम

स्वयं प्रेम के नैतिकता की चारणा को टकरा रहते हैं तो फल में असत्यता निकलती है और उसमें माना अनिवार्य उत्पन्न होती है। यह मिथ्या का ही बलात्कार है कि यह राम के मन में प्रेम को समझा कर देता है और स्वयं इन तरह अपन किए मोह बना देता है।

### प्रेम बलात्कार नहीं बन सकता

नहीं मुक्त प्रेम मुक्त बलात्कार का रूप नहीं लेता और नहीं ले सकता। ईसा बलात्कार यह तक में तो सम्भव नहीं है। फिर मनुष्य-समाज में दीवना है तो यह इसलिए नहीं कि यह पशु के समान मुक्त बन जाता है बल्कि इसलिए कि माना मनुष्यों की दृष्टि करके यह महज काम की तीव्र वासना में परिणत कर लेता है। निश्चय मानिये कि बलात्कारी मुक्त प्रमी नहीं है। यह माना कुम्हारों से अवश्य प्राप्ति हुआ करता है।

### प्रेम का प्राथमिक स्वीकार

अपमानापी के मतमाने बर्तन को इन मुक्त मानते हैं तो यही बड़ी भूल करते हैं। इसी उनके दर्शन की बहक के कारण माना प्रकार के विघ्न विरोध और हथ पेश करके इसका उपचार किया चाहते हैं। इस उपचार की चेष्टा आधिकार से होती मायी है, पर यह विफल भी होती गयी है और विफलता के कारणों की खोज में से हमारी उपचार-विधि में उत्तरीतर विकास सम्पन्न हुआ गया है। मान यह प्रतीति तर्कहीन और निपटीत नहीं मामूम होयी कि समय प्रम का नहीं होता है बल्कि स्वयं समय के विरवास का ही घटन होता है। अर्थात् प्रम के प्राथमिक स्वीकार के आधार पर ही हमको अपन समाज-नियमन की चारणा को लडा करना है। माने सम्पत्ता का काम अभी तरह उत्कर्ष की ओर उठ मनेगा। अस्पष्टा बरबर पड़तिमा बनने को ही कृतकार्य करने के यत्न में रहनी और मद्रम्या के मामुख में सच्चे दर्शन की उदय में जाने से रीजती है।

### आधुनिकता और नैतिकता का विरोध

साहित्यिक रचनाओं में यदि प्रेम की अनिवार्यता का निर्घर्ष और समर्पण हो और समाज नियमन और समाज-रक्षण का उग्रता समर्पण न दिखायी दे तो केवल उन कारण उन रचनाओं को हीन और अधिपरधीय नहीं मानना होगा। कुछ ईसा विरोध आधुनिकता और नैतिकता के बीच देखने में आता है। इन दृष्टि से हमारी नीति-माप्यता में कुछ संशोधन की आवश्यकता ही सचयी है। मुख्य बात यह

पहचान देना है कि जीवन प्रेरणा के स्रोतमूल का नाम प्रेम है और उसके प्रति स्वागत और समर्पण का भाव ही दृष्ट है। समय उसकी रोकेना तो स्वयं उन्मथित होना। समय का काम यह है कि भरीरस्य में जैसे मागीरसी का सत्कार और पुरस्कार किया जाता है तट देकर उसे आगे बढ़ाया जैसे ही समय मयोग्य बनकर प्रेम की चारण करे और अपनी कुसलता से उसे तट देकर आगे की और प्रवाह में उसे बम दे। तट देने और बनाने में जिसके साथ जुगना और लड़ना अनिवार्य होता है वह ठा ठोस चरती है। अर्थात् वह व्यक्ति और समाज का एक और ठोस पद गया हुआ बहुमात्र है। समय-वेत्ता उसके प्रति कर्णी होनी प्रेम चेतना के प्रति नहीं। मन का विज्ञान जीवन प्राण का विज्ञान समाज और मन का विज्ञान अधिकाधिक इसी दर्शन की सत्यता बरमाये बिना नहीं रहनेवाला है। कुछ-कुछ यह काम आधुनिक समझा जानेवाला साहित्य भी कर रहा है। यहाँ उन रचनाओं की विचार से दूर कर देना चाहिए जिसमें आदर्शसौलता और वायित्वसौलता का काम नहीं है। वे आधुनिकता की लाञ्छित करती हैं उनका प्रतिनिधित्व नहीं करनी। पर ऐसा आधुनिक जो एक और नतानुपतिक को ही सिरोवार्म नहीं कर सकता है जो समानन-आध्वत और सत्य के प्रति इसना समनधील और इसलिये वर्तमान की अड़ितता के प्रति कुछ कठोर भी है। उसके स्वागत और अभिनन्दन के लिए हमें तैयार रहना चाहिए। वह निरीब और निस्तेज है जो वर्तमानता का अनुचन करके उसे आत्मगुण्ट होने देता है। उनमें आवश्यक आत्मालोचन नहीं जपाता। नैतिकता के साथ पर निस्तेज का सत्कार और तेजवान् का विस्कार ही जल्पा है। ती यह स्वयं नीति के पक्ष में बाटे की बात होनी। स्थिति और गति में साहित्य की चुनना ही यह तो उसे गति के साथ रहना होना। सच यह कि स्थिति का प्रतिनिधि यदि बन है तो साहित्य गति का प्रतिनिधि है। वह विचार के साथ है जिसे कर्म से सदा ही आगे रहकर चलना होता है।

### साहित्य-प्रयोजन

१०९. साहित्य का क्या लक्ष्य प्रयोजन अवस्था धर्म आदि प्राप्त होते हैं? हमारा आज का भारतीय साहित्य किन्हीं दूर तक आपके लक्ष्य लक्ष्य प्रयोजन अवस्था धर्म के अनुगुण चल रहा है और किन्हीं दूर तक वह जन-जन का प्रतिनिधित्व कर जाता है?

—जन-मय एक बहुत बड़ा है। उसके प्रतिनिधित्व की बात सोचने की आवश्यकता नहीं है। जीवन जन नहीं रहना ही नहीं। सदा जन-मय जन के रूप में व्यक्ति विप्लव और मानो बड़ी जगता के प्रतिनिधित्व का नाम दिया जाता है।

प्रयोजन और लक्ष्य को अपने निकट स्थिर करके साहित्य को चलाना नहीं है। ऐसा हुआ तो वह प्रयोजन आत्मीय और अस्थायी नहीं रह जायगा। लक्ष्य बाह्य और वस्तुपरक हो जायगा। समस्त राजकारण और कर्मकारण बाह्य और उपायानुप्रधान है। साहित्य भी वैसा बना तो उसका प्रयोजन ही इसमें खण्डित होगा। हम अगर जीते-बचे जाते हैं, अगर मरते और फिर फिर जीते हैं तो यह इसलिए नहीं कि उसका प्रयोजन हमारी मुट्ठी में रहता है। वैसा होता तो हम निर्भय कर सकतें थे कि कभी मरेंगे ही नहीं। पर वह निर्भय हमारे ह्राम में नहीं है। अर्थात् जीवन का प्रयोजन स्वयं मृत्यु द्वारा भी पूरा होता रहता है। दूसरे शब्दां में यह कहना चाहिए कि जैसे स्व का प्रयोजन स्व के पास नहीं रहता और छाया उसकी छटाकृत्यता का कम स्वयं का स्वार्थन होता है वैसे ही साहित्य के प्रयोजन को सर्वोप पूर्ण स्वार्थन के रूप में ही मानना चाहिए।

**आत्मनिष्पन्न, आत्मोपलब्धि ही प्रयोजन**

कुछ अवश्य ऐसे लोग भारत में और भारत के बाहर भी हैं जो इतिहास में विद्रोहों में विद्रोहिता में लिखते हैं। आत्मनिष्पन्न आत्मोपलब्धि से अतिरिक्त दूसरा प्रयोजन कल्पन नहीं है। ऐसा साहित्य जाने-अनजाने मर्यादामुक्त और इसलिए विद्रोहितामूक्त भी होता है। यह स्वीकार करना होना कि विश्व की आज की परिस्थितियों में यह आराम-रमणता कोई बहुत दृष्ट कार्य नहीं है। वरन् हमें सर्व कर्म भी माना जाता है। इसलिए अधिकोश दायित्वपीछे जन-समाज के सुधार या उद्धार के कार्य में सीधे प्रवृत्त बिनायी देत हैं। फिर भी छिटफुट लीग हो सकते हैं जिन्हें इतनी आराम-गरिमा प्राप्त न हो कि जगत् के सम्बन्ध में अविचल और अपने सम्बन्ध में पूर्ण निरवस्था बन रहें। वे किंचित् संकोच और पीड़ा के व्यक्ति ही सकते हैं। जिसकी अविष्पन्नित मृत्यु की कामना में से न आये बल्कि आत्म-व्यथा में से आये। अर्थात् नहीं है कि वह दूसरे को अपने दर्म के भी निकट जान पड़ें और अनायास सावजन्य और सर्वहितकारी ही आय। आत्म यदि सर्वव्यापक है तो निरीह भाव से आरिण होने और किसी भी दुमरे के प्रति निष्पक्ष न होने से भी साहित्य को यथानस्यक गुण मिल जाना चाहिए। एतत्तु जहाँ मूल्य हो वहाँ एते लीग उत्तरोत्तर कम होते जायेंगे फिर भी कभी उनका खोप न होना और इस भाँति सर्वोपलब्धि साहित्य हर देश और जाल में सृष्ट होता रहेगा।

इस सम्दर्भ में भारत की और देशों से अलग करके देखने जानने की बात अनवीर्य हो सकती है।



चतुर्थ सर्ग  
अध्यात्म

- १ अन्तरंग
- २ इन्द्रिय मन अहं
- ३ चेतना
- ४ संस्कारिणी
- ५ कामासक्ति सत्संग रस
- ६ इष्टिकदृष्ट
- ७ भाव वस्तुना स्वप्न
- ८ अलौकिक शक्तिश्री
- ९ अवशिष्ट भाव पाप
- १० मृग्य पुनर्जन्म कर्म-विपाक
- ११ मय का आग्रह
- १२ बुद्धि और भद्रा
- १३ भाव विभाव
- १४ अहं और आत्मा
- १५ कामाचार, क्रमाचार
- १६ विपद्गण अहं

## अन्तरंग

द्वन्द्व

११० द्वन्द्व आप किसे मानना चाहेंगे ?

—द्विजका परिचयानुसार हो। दो तरह परस्पर हम तरह अनुभव हों कि उनमें विग्रह और अपकर्षण हो तो द्वन्द्व की अवस्था मानिय।

अगत-द्वन्द्व अस्तद्वन्द्व

१११ अगत-द्वन्द्व और अस्तद्वन्द्व इनमें कर्म-कारण सम्बन्ध है या कोई और ?

—मेरी दृष्टि में निजान्त दोषन कहीं सम्भव नहीं है। अगत-द्वन्द्व और अस्तद्वन्द्व सबका दो नहीं हो सकते। उनका सम्बन्ध की कार्य-कारण सम्बन्ध कह कर छुड़ी नहीं है। उसमें भी अधिक भेदा सम्बन्ध दोनों में होना चाहिए। एक काय और दूसरा कारण ही यह कहती नहीं है। दोनों ही कारण और काय हो सकते हैं। उन दो नियों के बीच सम्बन्ध इकराही नहीं है बीपही आवापनन है। कहिय कि मीची रेखा में नहीं बर्तुताकार उस सम्बन्ध की गति है।

११२ सब को इनमें से एक को कार्य और एक को कारण मानते हैं वह मल्ल है ?

—मानने में सम्पूर्ण आता ही नहीं। और अपूर्ण मानने से भी काम हो सकता है। माया सदा बबुटी होती है। काम उससे तब होता है जब हम मानते हैं कि वह मूकक मर है स्वयं में तब या निद्र नहीं है।

काशी में मया पिटी नहीं है। पर काशी को तीर्थ मानकर हम मया-स्नान का काम प्राप्त कर सकते हैं। काशी कहने से मानो तब की मूकना मिलनी है मया आत्मन नहीं हो जाती। रामनगर से भी गंगाबहाइन हो सकता है।

बाद और भावा का मय के साथ यही मूकक सम्बन्ध मानना चाहिए।

सृष्टि-द्वन्द्व

११३ क्या आप इन दोनों द्वन्द्वों से ऊपर किसी विश्व-द्वन्द्व अवस्था सृष्टि-द्वन्द्व की भी वस्यता करते हैं ?



## अस्तरय-कर्म

३१८. कामचलाऊ कर्म की बात आपने कही। वह कर्म क्या कुछ इस प्रकार हो सकता है—इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, आत्मा ?

—क्यों नहीं हो सकता ? अवश्य हो सकता है। उस कर्म में सन्तोष की बात मेरे लिए यह कि आत्मा को आपने अन्त में रखा है। सचमुच यह वह है जिसे आसानी से इनकार और असिद्ध किया जा सकता है। उतनी ही आसानी से जितनी कि परमात्मा को न मानने में होती है। परमात्मा और आत्मा में एकता तो स्पष्ट ही है। अन्तर केवल परम का ही है। इसलिए अहं के मूलातिमूल में आत्मा को मानें तो यह उचित ही है। कारण तब बीबात्म बनायास परमात्म के साथ समरस हो जाता है।

## परम अस्तरय

३१९. ऊपर आपने परम अस्तरय को परमेश्वर बताया था। तब क्या उस परम अस्तरय में आत्मा को आपने अन्तर्भूत स्वीकार किया है ?

—अन्तर्भूत धार बहिर्भूत को आबस्य बनाता है। यदि वह है जो अन्तर है तो वह भी है जो बाहर है। परमेश्वर को ऐसा अन्तर्भूत मानिये कि बहिर्भूत उसके बाहर नहीं रहता बल्कि तत्सम और समुच्च होता है।

३२०. जो लोग आत्मा और परमात्मा को अस्वीकार करते हैं, उनकी दृष्टि से ऊपर के निश्चित कर्म में से क्या आत्मा को निजाल देना आपको सचिकर होता ? आत्मा अमान्य हो तो !

—मुझे उसमें बिल्कुल डर न होता। आत्मा अन्त में वह है, जिसका यात्रा से सम्बन्ध नहीं है। वही तो यात्रा पूरी होती है। मुझे बिल्कुल यात्रा में है जीवन का बही तक सम्बन्ध है। अन्तिम कैवल्यावस्था के बारे में कुछ कहने-जानने की आवश्यकता ही क्या है ? आत्मा धार के अभाव या तिरौताव से यात्रा में तो कुछ शक्ति नहीं होती। मुख्य वस्तु वह सफर है। इसलिए शक्यतया सारा अभ्यास मन ही मन तो भी जीवन में कई शक्ति नहीं आनी चाहिए। शक्यतया हीकर अभ्यास हमारी शक्ति का व्यय ही करता है अधिक लाभ नहीं करता। उन शक्तियों में जो मृत्यु की निवृत्ति और कीर्ति प्राप्त किया जाता है, तो गहरा पैदा होता है। गहरा यह कि उन शक्तियों को लेकर दुःखानें मूल जाती हैं। स्वार्थ बनने और उनपर छादियाँ छड़ी हो जाती हैं। समय निमीको किसी वस्तु को करना है बरती ही जाता है उसके लिए ईश्वर को ही धन्य करने में समर्थ। धर्म सत्ता

सम्प्रदाय में बँध जाता है, तो नय सत्ता-मन्त्रधारियों को उठकर पुरानों को तोड़ने में लगना पड़ता है। इसलिए अगर आत्मा वास्तविक विचार में सदा सकल इच्छा हो तो मुस बहराइट नहीं होती।

### एक अर्धशत में अज्ञान

एक पन्ने से बकरा हूँ बचना चाहिए। एक कठिनाई अन्तरंग को अज्ञान में लेकर तब तीन विचार को बचाने से हम एकदम अहिंसा के धर्म को वा जान हैं। परस्परता के क्षेत्र में उस अहिंसा को हम परम धर्म के रूप में स्वीकार कर ले तो वाय सृष्टि विचार, समाज-विचार नीति-विचार आदि सबके लिए एक प्रकाश और निर्देश प्राप्त हो जाता है। उनका किसी भी पक्ष में यदि हम अनिश्चित स्वीकार कर लेंगे तो फिर आत्मा-परमात्मा आदि शब्दों से मिलनवादी छद्म में मुहमास नहीं होता। पर कठिनाई यह है कि अहिंसा को अन्तरंग हम 'चिन और उपाय' की बात माने हैं। परम-सूक्ष्म मानव को वास्तव नहीं होता। आत्मिकता में अहिंसा हम मूल्य के रूप में प्राप्त होती है। आत्मिकता का यही परम मान है। उस नाम की स्फुटत फिर वाय में से परमात्मा का निम्नरूप ही वाय तो कोई वास्तविक शक्ति नहीं है।

### अध्यात्म और अहिंसा

३३१ अति अध्यात्म विचार पर हम बर्तन करने जा रहे हैं। उसमें अहिंसा का क्या महत्त्व है?

—अहिंसा सत्य और नम्रता स्व-भर बीच तक ही है। अब तक वह है तब तक अहिंसा है। 'स्व' यह तो 'पर' रहना हो है। पर को उगो तरह होने का इक है जैन स्व को अहिंसा की मूल मान्यता यह है। वाय पर में स्व के स्वरीय और आत्मीय भाव का विचार होना और उसमें उगरीतन वह ही और परमात्मा की निधि होती है। यह अब अहिंसा को परमधर्म मान लेना न अन्याय प्राप्त होता जाता है।

अहिंसा के स्वीकार से अध्यात्म स्व वास्तविक ध्यान नहीं बन सकता। अध्यात्म की दिशा में यही उसका बड़ा काम है। ●

## इन्द्रिय, मन, अहं

### इन्द्रियाँ

३२२ मानव-व्यक्तित्व के सबसे ऊपरी स्तर इन्द्रियों का उसके अन्तस् के निर्माण में क्या योग आप मानते हैं ?

—इन्द्रियाँ बाहर की ओर खुलने के द्वार हैं। विस्फुल्ल अनिवार्य है कि अन्तस् का प्रतिफल-बाहर से यौषायाय सबा रहे। वह अन्तस् जो इन्द्रिय-व्यापार के सम्बन्ध में अविस्वासी होता है अपने को छेप से काट केता और इस तरह अपना भावार्थ छोकर माली सूखने लगता है। इन्द्रियों के सिवा कोई और अन्य मार्ग व्यक्ति को प्राप्त नहीं है जिसके द्वारा उसकी छेप के साथ सम्बद्धता हरी भरी और उपयोग्य बनी रहे। आत्मा के नाम पर अन्तरंग को जब हम इन्द्रियों का अविस्वासी बनने बैठे हैं तो यह विरोध न आत्मा को पुष्ट करता है, न इन्द्रियों को पुष्ट होने देता है। इस पद्धति को इसमिष्ट आत्मविधातक ही कहना पड़ता है। व्यक्तित्व संभव इस राह नहीं होता। बल्कि व्यक्तित्व-विनष्ट ही सकता है।

### शेष को वस्तुता और विविधता देनेवासी

इन्द्रियाँ जानिर करती क्या हैं। बाहर को वे जाना प्रकार से अन्दर पहुँचाती हैं। प्रत्येक बाह्य-इन्द्रिय के पीछे प्राण-तन्तु रहते हैं जो उस शेष को मस्तिष्क तक पहुँचाकर मानो ज्ञान-मञ्चा बैठे हैं। हम जब कहते हैं बड़ है सुन्दर है मोटा है बड़ मुग्धपिण्ड है हलका या भारी है इत्यादि तो यह सब कहना एक प्रकार से अमूर्क के प्रति अपने प्रसन्न सम्बन्ध को ही मञ्चा देना है। ऐसे चीजें हमारे लिए होने लगनी और साकारता समुच्चता प्राप्त करती हैं। शेष को यह वस्तुता और विविधता प्रदान करनेवाली इन्द्रियाँ ही हैं। मानो इन्द्रियों के कारण जगत् ठिक् हमारे लिए होना ही नहीं है बल्कि मार्बक और स्वरूपवान् भी होता है। यह सब जिनके द्वारा सम्भव बनता है, उन इन्द्रियों के साधन से अपने को हीन करने कोई प्राण बेचना आत्म बेचना या बुद्धि-बेतना अपने को सम्पन्न नहीं कर सकती।

यह यह कि जब इस प्रकार की स्वभाव विमुक्तता पैदा होती है तो इन्द्रियाँ स्वच्छत्व होने लगती हैं वे आत्म की ओर पीठ करके मानो वस्तु की ओर लपकने लग जाती हैं। तब उन इन्द्रियों को यह बोध देनेवाला कोई यह नहीं आता कि वस्तु को ब-स-व-ता देनेवाली वे स्वयं हैं जगत्का उन वस्तुओं का अस्तित्व ही नहीं है। अनुक्त और आसक्त बनी वे इन्द्रियाँ फिर वस्तुओं को स्वतन्त्र महत्त्व देने लग जाती और स्वयं में भरवाने लग जाती हैं। इस प्रकार का विश्रान्त हुआ वस्तु-बोध मानो हमारे पीठर टिकना ही नहीं है। वहीं किसी दबे कौने से ध्वनि आती रहती है कि यह प्रणव है ध्वनं है, मिथ्या है यह नहीं है। अन्तर-विशेष मानो इन्द्रिया को चेतावनी देता रहता है कि निघर तुम्हारी चाह है वह असत्य है असक्त नहीं है। ओ सद और असक्त है, वह मुझकर देखो कि वह तुम्हारे पोछे है। विशेष और व्यसन का इन्द्र इसी कर्मह उत्पन्न होता है।

### इन्द्रिय-व्यापार के दो सिरे

इन्द्रिय-व्यापार का एक सिरा स्वर्ण रस रस्य आदि के द्वारा वस्तु को छूना और दूसरा ज्ञान-सन्तुष्टों के द्वारा चिन्तनत्व की छूना है। उन दोनों छत्तों में यदि विमुक्तता पड़े तो वैसा ही जैसे छोड़ो कि जिसका ऊपर का सिरा आपके हृत्त से चिन्ता रहना चाहता है और मोक्ष का सिरा करनी को छोड़ना नहीं चाहता। तो ऐसी छत्ता आपकी गति में बाधा होती। वह आपको परेशान कर डालेगी। अमर्त्यन्त दो व्यक्ति ने आरम्भ से हो प्राप्त किया है। पानु दूसरे को देखना तो उसमें टिकार हो देखना है। इसी रसंन पर उसको पनुना निष्ठ बनी बननी है। आरम्भ-गोन की उसके लिए आवश्यकता नहीं होती। पनुप्य को ही पहले-तइक प्राप्न हुआ कि वह बनने होने की जाने और अनुभव करे। वहीं से उनमें इन्द्र का आरम्भ हुआ और इन्द्रियों को अन्तर्मुख करने की बात बीरे-बीरे उच्य में आयी। इन्द्रियों का मुख अन्तर की ओर बना हो नहीं है। स्वभावतः वह बाहर की ओर है। पर मुख है इसीमें गर्भित है कि वह बाहर की अन्तर से ओझनेवाला द्वार है। वैसा न हो तो उनका अर्थ ही समाप्न हो जाता है।

### एकता और विविधता के बीच सक्रिय

इन्द्रियों का योग और उपयोग तब है कि जब बाहर परावर्तता और विविधता पैदा करन उन विविधता की वे अन्तर पहुँचायें तो वहीं से फिर उन्हीं इन्द्रियों द्वारा आरम्भ और एगता के भाव को बाहर लयें। एक और अनेक की इस तरह मधुन एगनवाली इन्द्रियाँ ही हैं बाहर की अनेकता देनी है, भीतर से एकता लेनी है।

इस तरह इन्द्रियों आत्म और जगत् की परस्परता में सार्धे रहती हैं। इन्द्रियों के स्वत्व और सत्ता में जो इस एकता और विविधता के बीच की सम्बद्धता को स्निग्ध और स्वच्छ बनाये रखती हैं। वही यह नहीं हो पाता मानना चाहिए कि वहाँ योगभ्रष्टता और स्वप्न है।

### वस्तु-जगत् का मिथ्यात्व

३२३ एक ओर तो आप इन्द्रियों के विषयों से जगत् को सम्पन्न बनाने की बात करते हैं और दूसरी ओर आपने वस्तु-जगत् को प्रपञ्च और मिथ्या भी कहा है। क्या इन दोनों उद्दिष्टों में अन्तर्विरोध नहीं?

—विषय विषयी से जगत् महत्त्व पाते ही प्रपञ्चमात्र रह जाता है। आसन्न कि वस्तु-जगत् आत्म-जगत् के बिना हो नहीं सकता। आत्म-जगत् यदि प्रकाशित और बहु-मुक्त होकर आत्म-विद्य के लो इन्द्रिय-व्यापार साधना-मय के रूप में प्रस्तुत होने और वस्तुता को छोड़ता दे देता है। ऐसा सब नहीं होता तब वस्तु विषय ही मानो आत्म-व्यापार से उकटा पड़ जाता है। इस असम्बद्धता और विमुक्तता के होने पर मानो ईर्ष्या अचूरे और झूठे पड़ जाते हैं। इस पर व्यक्ति हृत्स्व और शुद्ध बनता है। उभर सत्ता अटिष्ठ और क्लिष्ट पड़ता है। वस्तु में प्रपञ्चता या सम्पत्ता स्वयं में नहीं है। आत्म के प्रति उसके मर्माधीन और सबाही सम्बन्ध के कारण से ही वस्तु-जगत् का वहाँ प्रवेश होता है।

३२४ एक घंटा फिर भी रह जाती है कि जगत्-अन्तःकरण का वह कुछ भी क्यों नहीं वस्तु-जगत् के अस्तित्व को अस्वीकार करना क्या एक सत्य को अस्वीकार करना नहीं है? आत्मा कितनी भी निरवैतन क्यों न रहे, जब तक वह तयार है, वस्तु-जगत् की किन्ता-प्रतिक्रिया उसको कुछ बिना करते रह सकती है?

### वस्तु-आत्म परस्पर सापेक्ष

—वस्तु-जगत् जीना कुछ है ऐसा हम क्यों बनाता है? यह ईद का या दुकान का है क्या इसे मान्य है कि दुनिया है? नहीं यह इसे मान्य नहीं है। मान्य हमनिय नहीं है कि उसे यह नहीं पता है कि वह गुरु भी है। यात्री वस्तु-जगत् का होना स्वयं होने के बीच न पड़ते नहीं हो गचना। होना का बीच अर्थात् मैं हूँ का बीच। मैं हूँ के साथ ही यह पता लगता है कि वह है। वह अर्थात् वस्तु जगत्। मैं अर्थात् आत्म-जगत्। दोनों हैं तो एक साथ हैं अन्वया बोध नहीं है।

ही दोनों के बीच की तारल्यता नष्ट नहीं हो जाती। यह उक्ति किन्तु मान्य है जगत् के होने का स्वीकार ही है। आपा प्रपञ्च गृहस्थ आदि गृहस्थ केवल

इस इतना बड़ा पाप है कि हुनारा समय येल नहीं है उसको समय नहीं मिल कर पाये।

पुरुषार्थ की कहानी है। एक हाथी उसकी तरफ बीड़ा। बचने के लिए वे मो भाप। देखनेवाले ने कहा भाषार्थ हाथी मिथ्या है आनन्द मिथ्या है मागने क्यों हो? चकर ने कहा परा भाषणा भी मिथ्या है, माई! भाग्य चकर का होना सब है वो हाथी का होना अपने आप सब बनता है। भाग्य और वस्तु दोनों अस्वीकार्य है।

## मुक्ति विमक्ति

यह आपका कहना विमक्ति सब है कि दोनों की सम्बन्धता का बिच्छेद मुक्ति नहीं है विमक्ति है। मुक्ति प्रेम में से ही सम्भव है वह जो विमक्ति और विमुक्ति में जो भक्ति और सम्बन्ध का अनुभव पा सकता है। यह सम्बन्धता उत्तरोत्तर मजबूत में से सम्भव है। एकता विमक्ति का फल नहीं हो सकती।

३२५. एक पापक है जिसे अपने शरीर का, अपने अहं का बोध नहीं और जो छाया शैव वस्तु-अस्तु को भी लंगत कर में बेश और पहचान नहीं सकता। उसके अस्तित्व को आप स्वीकार करेंगे या अस्वीकार?

## पापक में तटस्थता का अभाव

—पापक में यह का बोध अवर नहीं होगा वो तब इसलिए कि वह सर्वथा अहमन्त और अहवस्त होता है। यह तक जाने के लिए मैं हूँ इसकी कुछ आवश्यकता होती है जो मैं से तटस्थ हो। पापक में वह तटस्थता ही नहीं हो चुकी होती है। मैं नहीं समाप्त नहीं उत्पन्न होता है। सब पुछने ही पापकन में का ही रोग है। मैं मे माना से बाहर शैव और स्वयं जाने का कद ही विमिष्टता है। मैं को बड़ा लिपता ही है उत्तीव्रता मानना भ्रम पोषना है। इसीसे पंचांग के लिए उन अविच्छिन्न मैं को तरह-तरह से स्वयं और वास्तव करने की आवश्यकता होती है।

## उपर इन्द्रिय क्यों नहीं?

३२६. इन्द्रियाँ बाँध जाती पपी हैं और उनकी बातनाओं को उनकी भूल बड़ा पपा है अभी मेरे मन में यह शंका पड़ी कि उपर की एक अलग इन्द्रिय क्यों नहीं माना पपा और उसकी भूल का जो अस्तु कर सीधा और वास्तविक प्रभाव होता है उसकी स्वीकारता हमारे अभ्यासवाकियों ने क्यों नहीं की?

—मरणा पर कुछ स्वर्गित न मानिये। मर को छुनी इन्द्रिय कहा जाता है। उपस्थ की मरणा इन्द्रियों में है नहीं। उन पाँच के साथ पाँच कर्मेन्द्रियाँ भी से से तो भी हम की मरणा को सूचक ही मानना चाहिए, पुनर्जन्म नहीं। सब यह कि सम्पूर्णता कभी मरणा में नहीं समाती।

**मात्र नसर्गिक क्रिया इन्द्रिय नहीं**

उत्तर और रसना का बहुत सम्बन्ध है। रसना में क्यों न मान लीजिये कि उत्तर का स्वादेंद्र ही जाता है। सब भी है कि मूत्र का सम्बन्ध देह से हो लेकिन पेट की भूख में से उत्पत्ती अधिकतर नहीं निकलती है जितनी वासना की प्रकटताएँ रसना के स्वाद में से बन जाती हैं। सीधे मूत्र और मीप को मानव-विचार में गर्दा-का-खो लेना अवैध नहीं है, वह तो वैविक और प्राकृतिक विचार के अन्तर्गत आ सकता है। जीवमात्र में मूत्र और मीप मिलेया अनूय्य वहाँ सम-समान है। मूत्र और मीप के साथ और जो नामा प्रकार की वासनाओं की कमेंटें लग जाती हैं वह मानव को रोप जीव-जन्तु में अलग करती हैं। इसलिए मानवेन्द्रियों में जिनका मरणा को साथ उनका सम्बन्ध किंचित् मानवत्व-बोध में भी होना चाहिए। नैसर्गिक क्रियाओं में जो जिनका सम्बन्ध है ऐसे अगोराभो को इन्द्रियों में गिनाने की विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती। लेकिन अन्त में यह याद रखना चाहिए कि मरणा और मरणा सूचक-मात्र होती है अधिक नहीं।

**मूल इन्द्र सव्यव्याप्त**

३२७. अन्तर में इन्द्र का कृजन कीम करता है? अपने-अपने बिलों का रस मन तक पहुँचानेवाली इन्द्रियाँ अपना उनके बिना भी स्वयं क्या?

—मन का सम्पन्नता मानना चाहिए। हम कह पाते हैं मेरा मन तुम्हाय मन। हमका भावना कि मन से गहरे में कुछ बड़ है जो अपने को भी पहुँचा है।

मूल इन्द्र 'मैं' और सब मे है—उसीको कहिये वह 'मैं' और अमित का इन्द्र। भगवान् प्रकट में सर्व-व्याप्य है—वह सागर है, मैं बूँद हूँ। वही मूल इन्द्र है। हमने बाहर जिनका जो है वह अपने भाग में पर है। अब भगवान् वह जो पर न है स्व में भी है। वह वह जो स्व में ही है, पर में एकदम नहीं है।

**बुद्धि-चेतना, भगवत्-चेतना**

मन हुआ कि वस्तुस्थिति में ही होना लगता है। मनोविज्ञान चेतन अवचनन अवचन आदि स्तर मानता है। जिसे मानवार्थ सर्व में चेतन कहिये वह बुद्धि

चेतना है। राय सब में जो व्यापन भी प्रकट है, मुमुक्षु चेतन है — ये मैं सब बन्-चेतन कह सकता हूँ। मैं उसमें अधिकार कइता रहता हूँ। जागता है फिर भी कइता है। जब मैं घमबन् बनता हूँ तत्काल हा जाय तब समाधान-मा मानून होता है। समाधान-मा इन्धन कहना हूँ कि अहं के भगवन्-मन में परिपूर्ण निमग्नता को ही मुक्ति और निर्वासन हा कहते हैं। वहाँ तो सब प्रपञ्च और इन्द्रों का विरोध है। उनमें पशु को समाधान है वह विरम्याया नहीं हो पाता है। किन्तु यह सामान्यतया मान लिया जाय कि अहं जब मचन नहीं होना चाहता या स्थापित होता है तो कष्ट की स्थिति कम हो जाती है।

ये पशु इन्द्र मानो हम मूल-इन्द्र के ही स्वरूप-प्रतिरूप है।

१२८. तब क्या आसानी पाव्यता है कि अन्तर-जगत् का इन्द्रियों के बाध्यता से बाह्य-जगत् से जो सम्पर्क होता है वह अन्तर में कोई हस्तक्षेप या इन्द्र पंथा नहीं करता ?

—जब मन और इन्द्रियों द्वारा ही अन्तर-बाह्य इन लोका का सम्बन्ध समझ और निवारण है तब यह कैसे हो सकता है कि कोई भी अन्तर्जगत् अवयव निरपेक्ष हो ?

### मूल-इन्द्र बाह्य-इन्द्र

१२९. बाह्य-जगत् को इन्द्र अन्तर में पंथा करता है वह मूल इन्द्र से निरपेक्ष होता है जबका उसका पोषक होता है, जबका उसका विरोधी ?

—मूल इन्द्र तो सब जीवन-व्यापार के मूल में प्रामाणिक्य में अवस्थित ही है। वह बाह्य-इन्द्र के रूप में प्रकट हो जाता है और उसमें प्रभावित हो जाता है। दुःख और क्लेश हमेशा असामयिक के परिणाम होते हैं। भगवन्-चेतना में सामयिक्य और स्वरूप है। अहं-चेतना के बीच आ पड़ने के कारण ही विषय-विषय का होना और अन्त को अहं विषय का होना लगता है। सब इन्द्र इन्हीं विषय-विषय और विषय में लगते हैं। इन विषय का द्वार इन्द्रियों बनती है।

### इन्द्र अहं-अन्त, अन्तःप्रभुत्व

बाह्य-जगत् उनका ही प्रीति-परिणाम है जिसका इन्द्रियों के द्वारा मन में आ जाता है। मान्य हा, उन रीति-रूप में प्रकट होता है कि जो मन उन प्रकट करता है। जिसके प्रति पहले से मन में विरोध हो वह अपुण्य और अमंगल ही हो जाता है। यानी हम बाहर रह देते हैं जो आते हैं। इस तरह बाह्य जगत् की लक्षणा स्वरूप बना नहीं रहती। सब के साथ ही पर में लक्ष्य पड़ता है। जब सब-पर के निमित्त में सब सब इन्द्रों की समाप्ति नहीं हो पाती है तब ही सब-पर-पर पड़ता नहीं



है। उसीको भयक्त्-चेतना का स्तर कहा जाता है। जिसे प्रेम कहते हैं वह मानो उस चित्तप्रवाह का ही रूप है। जहाँ उसमें विगड़ित होता है। और इसलिये व्यक्ति परम मूक अनुभव करता है। इन्द्र अग्रममूकक होता है। दूसरे स्तरों में यह-जग्य होता है।

३३० मन को कौन प्रेरित करता है कि वह बाह्य-जगत् को एक विशेष रंग में रंगे और इन्द्रियों से विशेष आचरण कराये ?

### मन का आरम्भ

—कहिय अन्तरमन बहिर्मन को प्रेरित करता है। मन के सिवा भी हम उस अन्तरा-म्यस्तर के अनेक पटलों को निर्विघ्न करने के लिए अग्य अनेक संझाएँ बना सकते हैं। लेकिन उससे हमें सहायता नहीं होती है। कभी जटिलता बढ़ भी जाती है। इसीलिए कहा कि बाह्य-मन को अन्तर-मन प्रेरित करता है। अन्तर-मन को कौन प्रेरित करता है यह सवाल ही तो अन्तरा-मन कह सकते हैं। उसके आगे अन्तरात्म भी कह सकते हैं। कहीं बुद्धि और प्रज्ञा चक्षु की मन के पार की सत्ताओं के रूप में दरसाया गया है। उन बहुत-से चक्षुओं के समेसे से कोई विशेष ज्ञान हाथ नहीं आता है। इन्द्र का मूक जहाँ से है वहीं से मन का आरम्भ मान लीजिये। इन्द्र वहाँ कसे प्राप्त होता है, इसकी खोज में आखिर मन से पार कहाँ पाया जायगा ?

### मन का मूल मूल-इन्द्र में

परमात्मा एक है। सब है पूरा है। फिर इन्द्रत्व जीव की सृष्टि कैसे और कहाँ से अँधेरे में दैत कहाँ से ? यह प्रश्न जीवन प्रश्न है। बुद्धि से उसका अन्त नहीं पाया जा सकता। मैं हूँ इस आधार पर ही आगे की चर्चा सम्भव है। अपने होने के पार और उस के मूल हेतु में उत्तरमा मानुमानिक से आगे पञ्चानिक नहीं हो माना। मन जिस रूप-रंग में बाह्य को रक्ता है वैसा क्यों रक्ता है मन को कौन शासन और प्रेरित करता है ? यो कहना चाहिए कि मूल इन्द्र में से पाकर मन प्रेरणा का इन्द्रियों की ओर भेजना है। इन्द्रियों फिर उस प्रेरणा को आत्मना स बाह्य क प्रति उत्पन्न होनी हैं। जिस रूप में उस बाह्य की फिर मन के हाथ में आदि इन्द्र में पहुँचती है उगीने फिर प्रतिप्रेरणा का आरम्भ होता है। यह क्रिया प्रतिप्रिया एव धन के लिए भी जीव में रहनी नहीं है। प्राण-विद्या और प्राणी विद्या त्रिप्र प्रक्रियाओं की जीवण के लिए अनिवार्य माननी हैं। मानी के सब दली मूल क्रिया प्रतिप्रिया की प्रतीक है। द्वात्रिप्र प्रवर्ण निमर्ष उत्तर्य प्रवर्ण और

प्रत्येक आदि आदि सब तत्त्वों के मूल पर्यन्त हैं। अन्तर-बाह्य उस प्रकार परस्पर को घामता और अनुबद्ध रखता है। इस कथन में विशेष बर्ण नहीं है कि मन को वस्तु वषट् प्रभावित करता है। कारण वस्तु जगत् के लिए आरम-जगत् में परिणत हुए बिना छुट्टी ही सब है। इसलिये यही कहना उचित है कि मन जो प्रेरणा पाठा है, अन्तरतर से पाठा है। और वह अपनी प्रेरणा अन्तरतम से पाठा है।

यहाँ मैं माना पारिभाषिक छान्ने को बचाना चाहता हूँ। क्योंकि उनसे अतिभ्रमा ही बनती है।

### मूल-हृन्मूल का स्वकथ

३३१ मूल हृन्मूल के स्वकथ को कौन निर्दिष्ट करता है क्या व्यक्तिगत अहं का स्वकथ?

—हाँ बहुत हलुका। कारण अलख भगवत् सत्ता की ओर से तो किसी वाञ्छित की अवधारणा ही नहीं हो सकती। अतः उसे अहं की ओर से ही जानना-मनसना होगा।

### मैतिक-अमैतिक

३३२ नीति और अनैतिक की चेतना का तब इस अमूर्त की उत्पत्ति और उसके लय में क्या धोप बचका सहयोग माना जायते हैं?

—नैतिक वह सब है जो भगवद्गुण है। अनैतिक बहुमुख होता है। प्रापना में बहं बुलना और स्वेच्छा से धार्मिक और विगमिष्ठ होता है। नैतिकता को इस तरह प्रार्थनामूलक माना जा सकता है।

व्यय वर्ण में अहं वृत्त और प्रमत्त होता है। इस भाव में निरुन्नी प्रवृत्ति अनैतिक बनेगी।

३३३ यदि अहम्मुख चेतना ही अनैतिक है तो कई बार ऐसा क्यों पाया जाता है कि चित्तनी ही प्रतिभाएँ पूर्ण रूप से भगवद्गुणों होकर भी आचरण में अनाचार और अनैतिकता का वर्णन करती बीजनी हैं?

### प्रतिभा अहं-आसित नहीं

—देगने और दीगने पर इन विषय में निर्भर नहीं रहना चाहिए। अर्थ नहीं दीगना है। केवल इत्य ही दीग पाया है। अर्थ का निर्माण अनुमान से करना होता है। और अनुमान स्वनिर्भर और स्वापदा हुआ करता है।

प्रतिमा इन्द्रज होती है। जैसे घड़ी का स्टिकन इस सिरे से उस सिरे तक जोलता है। प्रतिमा भी इसी तरह के शक्ति सेती है। अध्यात्मजीनता के निर्मल क्षय उसमें प्रतिबिम्बित होकर होते हैं। पर उसी प्रतिमा को आप और कीच कर्म में लिपटा-सगा देस सकते हैं। शराब में कभी आदमी जान कितानी ऊँची बातें कर रहा होता है। दो-चार पेय और चढ़ने पर वही घटर में जीने मूँह गिर जाता है। सब यह कि प्रतिभासाक्षी व्यक्ति अहमासित नहीं होते। इसीसे भगवान् और संतान बायी बायी से अपनी-अपनी विशेषताओं में पुरेपन के साथ उसमें झलक आते हैं। प्रतिमा इस तरह सब एक दुर्बलता के साथ चलती देखी जाती है। अह पुष्ट और स्वस्थ हो तो प्रतिमा के स्फोट का भागी कारण नहीं रह जाता है। दुर्बल अह अभी ऊँचा चढ़ सकता तो अभी नीचे गिर जा सकता है।

### अह की दुर्बलता उत्तीर्णता नहीं

इसीसे कहना होना कि अह की दुर्बलता उसकी उत्तीर्णता नहीं है। शायद अह से मुक्ति उसे कुबलने बचाने का ड्राप नहीं निकलनेवाली है। न उसको निराहार रखकर सुनाने से वह सकल प्राप्त होना। अह की स्वतन्त्रता और परिपूर्णता में से ही एक दीव स्वार्णव भाव पैदा होगा। धर्म इस तरह हृदय-बीजस्थ में से नहीं साधा जा सकता। मीठा का आरम्भ के अर्जुन को महामाराय में से निकलना अनिवार्य हुआ। ऐसे ही उत्तीर्णता के लिए जब अह को अनायास फेंका नहीं जा सकता है। पूरे समार विग्रह में से निकलना उसके लिए अनिवार्य है। अन्यथा सत्य प्रकार की अनुना मृदुता और आईता उसमें आ नहीं सकेगी। लज्जा सकोच भय यह अह के घोरक हैं। शोचक नहीं हैं।

जो झुक में झुकता एक ऊँचाई तक पहुँचिगा उस प्रतिकूलता में उतने ही पीछे लोटता हुआ देखने की तैयारी हमें रखनी चाहिए। सांसारिक प्रतिभाओं से मानी यही पाठ हमें प्राप्त होना है। अह की भूमिका पर जब विषयों की समझने कोसने में कठिनाई नहीं रहती है।

### अह और विवेक

१२४ ऊपर के उत्तर में अह की दुर्बलता से आपका सारथ्य क्या विवेक की दुर्बलता से है ?

—एक दिन चलनी है : गंगा गये जनाशाम जमना गये तो जमनाशाम। बहने है पानी में न रंग होना है। न आकार होना है। जिन पात्र में रचिये वही उसका

आकार है जो रंग आकृतियों वाली रंग। इस प्रकार की कहानियों में दुर्बल अहं का चित्र पाया जा सकता है।

विशेष दायर को चाहे तो अहं की जगह रख लीजिये। पर पूरा आशय उससे व्यक्त नहीं होता है। जंगली आतियों में विशेष उभर नहीं मानूम होता लेकिन बृहत् व्यक्तित्व के पुरुष वहाँ मिल सकते हैं। यह मैं नहीं कहता कि व्यक्तित्व की बृहत्ता अहं की बृहत्ता है किन्तु इतना अवश्य है कि बृहत् व्यक्तित्व में दुर्बल अहं नहीं हुआ करता। व्यक्तित्व की यह बृहत्ता हमेशा विशेष के आकार पर नहीं है। संवेग के आकार पर भी कभी-कभी हुआ करती है। इसीसे विशेष की दुर्बलता का आशय कुछ-कुछ तर्कसक्ति की दुर्बलता के निकट पहुँच जाता है। अहं की दुर्बलता से मेरा यह आशय न बा। आशय बा वह व्यक्तित्व जो पत्ते की तरह हवा के झूल पर नाँवता है, सग-साब स्थिति-परिस्थिति से ही अपनी प्रेरणा ले लेता है और एक झोंक में झुट और दूसरे में भक्त बना बीसपे कागता है। इस परिवर्तन में कोई कल या कपट काम नहीं कर रहा होता केवल अस्थिर चित्तता हुआ करती है। उसको चाहे ही तो विशेष की दुर्बलता की भाषा में आप समझिये अवश्य मुझे वह दुर्बलता मस्तिष्क की नहीं चित्त की ही मानूम होती है।

आदि इन्द्र की समझता

३३५ अहं की उत्तीर्णता का क्या स्वल्प आपकी दृष्टि में है ?

—आदि इन्द्र जिसमें जितना उभर हो दूसरे धर्मों में समग्र और समन्वित होता जाय उतनी ही अहं की उत्तीर्णता मागनी चाहिए।

प्रतिभा की ऊर्जा

३३६ प्रतिभा की ऊर्जा का जोत आप कहाँ मानते हैं ?

—बादल बने काते होते हैं सभी उनमें बिजली कड़ककर चमकती है जो लज के लिए बाताकाश को उजला कर जाती है। अग्नि इन्द्र की तीव्रता में वे उजलती और चमकती है। भगवन्-वैतन्य सर्वव्याप्त है। उसके प्रकाशन के लिए अग्नि-इन्द्र है कि बिन्दु निमित्त बन। बिन्दु वह निमित्त बनता है जिसकी बिन्दुता अग्नि होती बहुमतीम अविन होती है। अग्नि समापी हुई है और एक ही अग्नि में गारे स्वर समाहित और प्रवाहित है। ऐश्वर्योपाम नर में ही श्री अग्नि बिन्दु पर मुमाकर हय मनवाही बुन प्राप्त कर लेते हैं। अहं के बिन्दु ईश्वर ठीक इसी समझ है। नहीं तो अक्षय के रूप में वरान न मिले, न अक्षय न प्राप्त हो।

### ऊर्जा का स्वयम्प

ऊर्जा जिसको कहा बहु गतिशील संवरणशील ही हो सकती है। गति-संचरण की क्रिया हम काल के बिना नहीं कर सकते। अर्थात् वह ऊर्जा यदि इन्द्र के स्पर्श में आकर स्वयं ऊर्जा का रूप लेती है। उस आई-स्पर्श से पहले तो शक्ति का रूप शान्ति हीठा है।

### जीवन-प्राप्त का मूल-गुण क्या बेबनी

आप देखेंगे कि जीवन प्राप्त का मूल गुण बुद्ध और शान्ति नहीं है। वह तो बेबनी और क्या है। यह इस कारण कि बिम्बुल और व्यक्तित्व प्राप्त होते ही शान्ति का धर्म पुरुषार्थ में परिवर्तित हो जाता है। व्यक्ति को शून्य का अनन्तर नहीं है। निरन्तर बेबनी को अपना स्वयं मानकर प्राप्त-पथ से अपना लेने के द्वारा ही उसे शून्य मिल सकता है। शान्ति इस तरह उसके लिए साध्य भले ही साधन के रूप में तो उनके पास समर्थ और युक्त ही रह जाता है। मोटा के रूप में जीता चल तनी मानो वह उत्तरोपता की ओर बढ़ता है। इन्द्र से नीचे या पीछे जाने की उसे मुविषा ही नहीं है। अभेद में से आदि पाकर भी सामने के भेद से मुँह मोड़कर फिर अभेद में लौटने की उसे मुविषा नहीं है। वह सम्मन नहीं है। भेद में से आये बढ़ते हुए ही उस दृष्टि की ओर गति की जा सकती है।

अभेद में भेद पड़ा वहीं से ऊर्जा की सृष्टि माननी चाहिए। शान्ति को उसी बिम्बु से शक्ति बनना पड़ा।

## चेतना

चित्त

३३७ ऊपर आने चित्त चक्ष का उत्प्रेष किया है। चित्त को क्या मान मन, बुद्धि अथवा हृदय से कोई पुरुष सत्ता मानते हैं ?

—मन बुद्धि हृदय इनकी ही समस्तन चर्चें हैं इनकी सत्तावा को पूरे तरह पुरुष देखने में कठिनाई होगी। चित्त भी उन कठिनाई से बाहर नहीं है। यह कठिनाई कर्मों की पूरे तरह पार नहीं की जा सकती। कारण मूल में ही व्यक्तिगत इन का निगम है। ऐसे सब साधन या तो अमर्याद मन्त्रों में प्रयुक्त होते हैं या उन्हें अमर्योक्त अर्थ में लिया जाता है। चित्त अधिकतर अमर्य अर्थ में ही काम आता है। केवल इनमें में यदि हम उसको मन-बुद्धि से अमर्योक्त स्तर का सूक्ष्म मान लें, तो कोई हानि नहीं है।

सबसद्विवेक मन-बुद्धि से अधिक मूलगामी

३३८ तब असद्विवेक अथवा अन्याय मन बुद्धि और अहं इन तीनों में से किससे निस्तृत होता और अन्त जाता है ?

—कामास और अहं की साथ उत्पत्ति माननी चाहिए। यदि ईश्वर हमसे स्वीकार किया कि अहं और मयमान् का है। अहं केना के स्तर पर ही दोनों मयमान् प्रतिनिधि को केना है वही कर्तव्य है। अहं केना ही चित्तों वह मूलगामी है। यों ही वह मानते हैं कि व्यक्तिगत अहंकरण और मयकरण के दण्ड का परिणाम है। इन तरह अहंकरण का कर्तव्य मन-बुद्धि से अधिक मूलगामी है। अहं भी उनकी समस्त मन-बुद्धि से मूलगामी है।

३३९. क्या कारण है कि आत्म-चेतना इंगितों के विषयों को ओर चित्तों तोपता और अनिर्धार्यता से भागती है और उनमें रम लेनी है उतनी अहंकरण की ओर नहीं जाती और आत्मोन्मुखी होने में चपट और प्रयास का अनुपपन्न करती है ?

चेतना की सहिर्मुक्तता विभ्रम

नहीं मैं नहीं मान पाता कि चेतना अनिवार्यता से अन्तःकरण से उलटी जाती है  
म वह अनुकूल पनि कम अवश्य होती है।

प्रत्यक्ष को चित्तना अपनी तरफ खींचा जाता है बाह्य बाहर उतनी ही दूर तक  
जाता है।

पाप में स आत्मा मिश्रित होती जाती है। बाह्य की ओर इन्द्रियों की निरंकुश  
प्रवृत्ति को पाप कहते हैं। उन बाह्य विषयों में बाह्य की आत्मा दूब नहीं  
सकता। वह बाह्य अगर तीव्र विकारी होती है तो इसीलिए कि उसको नीच से  
अन्तर्गत का या आत्मा का डर घटने लगा होता है। अन्तर्गत बाह्य प्रवृत्ति मूल  
में तो एक पलायन है। जिसकी को मायते काते हैं, असल में उससे उलटी दिसा के  
आकर्षण में भाग रह होते हैं। अन्तःकरण की ओर एक बीज है जिसके प्रतिरोध  
के लिए बाह्य की ओर प्रवृत्ति है। यह विभ्रम है कि चेतना बाह्य विषयों की ओर  
जानी और अन्तर्गत की ओर जाने से बचती है। सब यह कि चेतना अन्तर्गत  
में अनिवार्यता मुड़ी हुई है। यदि बाह्य की ओर बढ़ जाती है तो यह भी उसके  
लिए अपने का मित्र और चरित्रार्थ करने की दृष्टि से संगत और उपयोगी ही हुआ  
बगना है। पाप पाप नहीं कर सकता समुप्य कर सकता है तो इसीलिए कि वह उन  
पदवि में आत्माविष्कार कर सके।

१४० परम पृथिव्य ज्ञानमय प्राणिमों को उपनिषद् में अनेक समसाधुता कहकर  
वर्णित किया गया है। अर्थात् इन्द्रिय-लिप्ता का एक स्तर माना गया है। अर्थात्  
नी प्राणिमों के चेतना के विकास की दृष्टि से स्तर मानते हैं और सबसे नीचे स्तर  
को उन्होंने वैदिक अर्थात् द्विजिक कहते हैं। क्या आप नहीं जानते कि सांसारिक  
मोगों और इन्द्रियों के विषयों में पूरी तरह लिप्त प्राणी उच्च मानसिकता से विविध  
होते हैं और वे निम्नतम कोटि के प्राणी होते हैं ?

पाप में परम सिति असम्भव

—पूरी तरह लिप्त इस भाषा को व्यक्त मानना चाहिए, वैज्ञानिक नहीं। मानव  
प्राणी बहुत लिप्त रह सकता है पर लज नहीं ही सकता। आप देखते कि पूरी  
तन्त्र लिप्त अर्थात् लज होने की कोशिश में ही शराब पीने के मजों का सहारा  
किया जाता है। मज की उत्पत्ति ही इसीलिए पड़ती है कि वह मज है महज-नबमाज  
ही नहीं पाता। अर्थात् लज के पेटा करने पर भी आत्मा पाप में परम सिति या  
सुख नहीं पा सकता।

आत्म के या अति में उस सम्बन्ध में अर्थात् और जुगुप्सा पैदा करने के लिए वैज्ञानिक

कहा है, जिससे कि हम पापों और नींद में ही भूये न रहें। इससे अधिक हममें सत्यता केहन का आवश्यकता नहीं है। अंधेरे से थिरे पर में ही उसका अभीष्ट स्पष्ट सत्यता है। सत्प्राप्तिक के अधिक वह सत्प्राप्तिक सिद्धात्मक है।

### सब ओर फैलना चेतना का स्वभाव

बाहर और अन्दर यह दो दिशाएँ अवश्य हैं किन्तु यह मानना कि चेतना का यह सब का कार्य है कि वह किसी एक दिशा में जाकर रह जाय चेतना को ही न समझना है। चेतना का स्वभाव ही सब ओर फैलना है। भगवान् दादा हमसे भीतर और बाहर इन दो विचारों में सेना चाहता। अन्तिम चेतना में आया और पीछा नहीं होता। उनमें कोई पीछा होती ही नहीं है। सब उसे सम्मुख है। सब होता यह है कि एक ओर का बसका हम दूसरी ओर घेरेला है। अन्तर देखें कि बाहर की विद्यमान स्थिति में अन्तर्मुखता पैदा कर देती है। इसी तरह मान चेतना चाहिए कि बाहर सत्प्राप्तिक की ओर गति शायद हममें किसी अन्तर के बसके न हो रही है। कौन जानता है कि मेयोसियन का वैज्ञानिक गतिविधियाँ के नीचे हमका हीन नाक नाम नहीं कर रहा था।

प्रकाश में महा विचित्रता ही नहीं होता। उचना और बचना भी हुआ करता है। माना चाहता है तो हम कमरे की दीवारों की मुक्त कर देते हैं। जो अंध अंधेरे की मात्र बड़ रहे हैं। सामर्थ्य है कि वे प्रकाश के बसका रह हों। प्रकाश को भी महता होता है जैसे कि अंधेरे को महता जाता है। यह मानना कि अंधेरा स्वयं हम आदमी को असह्य नहीं हो रहा है। उल्लेखनीय नहीं है। लेकिन अधिक सम्भव यह है कि वह अपनी स्थिति में आ पहुँचा ही कि प्रकाश उसे और भी असह्य ही।

### शक्ति-प्रतिशक्ति का सिद्धांत

विज्ञान का पहला सूत्र है कि प्रत्येक शक्ति के साथ उल्लेखनीय में प्रतिशक्ति होती है। उनीकाँ बों में यह सत्य है कि प्रतिशक्ति शक्ति पैदा करती है। बाहर और भीतर में यही प्रतिशक्ति का सम्बन्ध मानना चाहिए। पानी बाहर जाना जो दीगता है सो अन्तर की दुरे ही नहीं भेज रही है। वह नहीं मान करना चाहिए। इसीमें सेना जाता है कि जो सबभूषण सत्य बनते हैं वे सबभूषण करने को अन्तर और पानी मिलते हैं। यह अन्तरांतर और विपरीतकार की भावना नहीं है। अन्तर में ही उन्हें ऐसा अनुभव होता है। इसका विचार यह भी सत्य है कि जो करने को सर्वथा सत्यमान है यही सर्वथा अनस्य हुआ करता है। इन सत्तों में उन शक्ति और प्रतिशक्ति को समझोप्राप्त न सिद्धांत प्रतिशक्ति देना चाहिए।



## सत्य में स्तर-भेद नहीं

सामान्यतया सत्य को स्तरों में बाँटकर देखने के हम आदी हैं। पाप्य बुद्धि की प्रक्रिया यही है। श्री अरविन्द और दूसरे लोग ब्रह्म कहें तो यह स्वामानिक ही है। वैदिक प्राणिक मानसिक और फिर अतिमानसिक स्तर माने जायें और चेतना की प्रक्रिया को इस प्रकार ऊर्ध्वता की दिशा में बढ़ता हुआ समझा जाय तो एक बिन्दु मन में उतरता है और उससे प्रेरणा भी प्राप्त हो सकती है। लेकिन आसता सर्वव्याप्त है और निश्चय ही सत्यता और भयबला सर्वव्याप्त है तो उसमें हल-बाली मुक्ति केवल इधर से हटकर उधर जानेवाली मति का नाम नहीं हो सकती। प्राणिनों में तरतमता अवश्य होती आ सकती है उससे बिन्दु का सहारा होता है। लेकिन यदि हम व्यक्ति को समष्टि और पञ्च की वस्तु के सम्बन्ध में देखें तो जान पड़ता कि साधुता और दुष्टता इस या उस आधमी की अपनी सम्पदा नहीं है। इन पर उनका कोई इजारा नहीं है। तब दुष्ट और साधु में समरसिता की स्थिति आ सकती है और ज्ञान के लिए यही वैज्ञानिक स्थिति चाहिए। दुष्ट और साधु कहकर वर्ग बना डालने में कोई कठिनाई नहीं है पाप्य व्यवस्था का काम उस तरह चलता भी है। लेकिन उनमें एक ही मानव-तत्त्व और निर्गुण-तत्त्व देखने के प्रयास में वही ज्ञान एवं विज्ञान का प्रकट साधा जा सकता है।

## आध्यात्म में भ्रष्टा से ही काम

वैदिक और मानसिक तो बलिये स्तर हो भी सकते हैं लेकिन आध्यात्मिक का भी उर्ध्व। तब एक सबसे ऊपर का स्तर मान लिया जायया तो फिर सर्वव्यापी होने के लिए क्या रहे जायया ? इसलिए इस क्षेत्र में बुद्धि से अधिक भी भ्रष्टा के उपयोग का काम है। बुद्धि किसी भी प्रकार दुष्ट और साधु में समता देखने का समर्थन नहीं कर सकती। फिर भी उन साम्य दर्शन के आधार पर ही ब्रह्म-भेद न हम मानवता को छत्रावा दे करने हैं। भ्रष्टा के सिवा उन साम्य-दर्शन के साधन का कोई ज्ञान नहीं है।

## पाप की सृष्टि हिताय

दर्शन कहता है कि पापी को दुर्गी मानिये। आप जितना बुरा देखते हैं उसमें महान् दण्ड बट स्थान पा रहा होता है। पाप छत्र ही सम्भव न रहे जाता अगर हम मान लें कि पापी में आरमा नहीं है। अगर आरमा है तो मनु मानिये कि इधर जाइ पाप में बिडला भी भर-भरा भाव लगाई देता हो। उधर आरमा पर उठने हो

सर्वभोग्य प्राप्त हो सके बिना नहीं रह रहा है। सब पाप की क्षुद्रि विपत्ति की मार से मनुष्य के हित के लिए ही हुई है।

व्यक्ति को सम्बर्ण में बोलें

मैं नहीं चाहता अस्तिवादी विचार के लिए अपना बचकाय ही कि कोई अपने का उन्मुख आसन पर मानकर ऐसा वास्तव-गुप्त बने कि दूसरों को सर्वथा मिथ्या मानने लग जाय। सुपादन्तुष की व्यक्तिगत मानन में सर्वथा हम दूर निकल जाय यह आशय नहीं। लेकिन मानाधिक और सांस्कृतिक सम्पर्क में हम व्यक्ति को रखकर लेख करने में भी सम्मिलित सब सहगा। सम्मिलित पाकर मानो हम सभी राष्ट्रीय पुण्य सामन्तिनी में ऊपर उठ सकें।

## अद्वैता के परदे

३४१ क्या हम सभी यह अनुभव नहीं करते कि हमारी चेतना पर एक के ऊपर एक अज्ञान और अज्ञान के बरदे पड़े हैं और प्रकाश कहीं नहीं है। जो विभिन्न व्योमि विज्ञो ज़रोये से जलनी बीछनी है जमीनी तरफ हम भाषते हैं। किसी घटना-विशेष से प्रकाश किसीके सम्पर्क से लपटता है कि अज्ञान का एक परदा उठा और प्रकाश का नया रंग-मिला। पर स्थिति ही परदे जब भी बाकी बने रहते हैं और हम उनसे नीचे विद्यमान बने पड़े रहते हैं। चेतना की इस विषयता का आप क्या बिस्तेषण करते हैं ?

मनुष्य मूल में दिव्य

मैं मानता हूँ कि आश्रय है और मैं स्वयं हमारे स्वभाव पर लिफ्ट और बड़े हूँ। प्रकाश बाहर नहीं है, अन्तर्गत है। जड़ता हमारे चिन्ता पर नहीं हुई है। मन में मनोव्यवस्था में बना है।

इस विरदाम से प्रेम का कर्म बन जाता है। प्रकाश बाहर है और हमारे स्वभाव का आवरण उसका हमसे बंध हुआ है। यह कर्म न खड़ा प्रेम यह कर्म जाना है कि हमने ही करने का प्रकाश पर लीला आवरण कपट रखा है। कर्मानु स्वभाव का दूर कर्म नहीं बल्कि उसके प्रामाण्य कर्म का कर्म बन जाता है।

प्रकाश बाहर का नहीं, अन्तर्द्योति का

बाहरी व्यक्ति अपना धर्म या मता हम प्रकाश विनष्ट है वह अन्त में अन्ती  
है। अन्तर्गत का प्रकाश होता है। बाह्य अन्तर या मता मानी हमारे अन्तर्गत

में बोड़ी बेर के लिए एक तरह काल बैठा है और मीटर का प्रकाश सहसा ही फूटत हुआ हमें दिखायी दे जाता है।

### अन्यत्र माव ही अज्ञान

मैं मानता हूँ कि वह कई चेतना जो हर वेष के प्रति अन्य माव पैदा करके चली है प्रकाश से वंचित रहती है। जब समस्त वेष हमारे लिए बन्धन और मर्मावा बन जाता है। इस चेतना द्वारा जितना भी प्रयास करेंगे चकटा के पटक कम होते नहीं प्रतीत होय। इस चेतना में जगनाया गया बोध हमारे बन्धन को बढ़ाता जान पड़े जब मुक्त की जगह हम बंधन अनुभव करते जायेंगे।

### अहं रति में प्रेम असमय

इसके विरोध में वे क्षण जब अन्यत्वभाव क्षीय होता और आत्मीयभाव बढ़ता है प्रकाश-काम और आत्म-काम के ज्ञान पड़ते हैं। ऐसा नहीं प्रतीत होता कि हमने चेतना करके अपने आचरणों को एक-एक कर बढ़ाया है या मूढ ऐसा होता है कि जो सब ही पा उसे हमने सहज स्वीकार कर लिया है बिना चेतना की आवश्यकता नहीं हुई है। आचरण बीच में कहीं विरोधित हो गये हैं पता ही नहीं चलता। जैसे सहसा हमने अपने को पहचान लिया और उस चेतना अबका प्रसंग में पा लिया है। चेतना में विचलता का बोध अहंवासित और वह प्रताड़ित होने के कारण होता है। जिस स्निग्ध और प्रेम कहते हैं मानो वह समष्टि की ओर से आया ऐसा सीका होता है कि अहं एक साम मिश्रित और स्फुरित हो जाता है और इस तरह व्यक्तिगत अपने आप प्रसार पाने लगता है। प्रेम अर्थात् 'रस' में अपने अर्थ की देखने का आरम्भ। यह दर्शन अहं-रति क साथ हो नहीं पाता इसीसे अहं-तत्त्व चेतना मानी सदा हारण को तड़पती रहती है। हीरा जो सके सभी वह बेहोमी जाती है जहाँ अन्य प्रथम और स्वयं द्वितीय बन जाता है। हीरा रहता है जब तक हम अन्य को सदा स्वयं के लिए मानते और सभी तरह व्यवहार करते हैं। यदि चेतना अस्थिरता के अर्थान रहती फिर तब चेतना पर भी हम इस भावना से छत्र नहीं तबने कि अपनी प्रधानता के लिए सब दूसरों का उपयोग साथ से। यह अस्थिरता यदि किसी कारण रहित और स्थिति होती है, तब कहते हैं कि हमारी प्रतिष्ठापना हमसे कम नहीं थी नहीं है मानो वह सब वेष में मिली व्याप्त है।

### चेतना अहं सम्बन्धी

जिसको चेतना कहा वह अहं के परिवर्तित हुए बिना नहीं रहती। इसीसे हीरा से बढ़कर बेहोमी को माना जाता है। चेतना की यह बड़ी भारी बेवगी है कि वह

स्व से छूट नहीं पाती। सब यह कि जिस क्षण मृत्ती है वही क्षण उस चैतन्य की मूर्ति के हो जाती है।

### सकल्य और विभोरता

आन हमें ये दि पश्य एक-एक कर हटाने में नहीं हटने हैं। सामान्य सकल्य-बल से वे हट भी नहीं सकते। कारण सकल्य अहम्मा में स निवृत्ता है और पराव अस्वत्व को हमारे निकट और दृढित किये हैं। ब्रह्मा है। सकल्य से एक उलटी वस्तु है जिस संलता और विचारणा बड़ा जा सकता है। मानो सकल्य में जो अप्राप्त्य बना रहता है वह उन लंन विनोर स्थिति में जनायाम प्राप्त हो जाता है। परदे फट जाता है और पर स हमें और हमस पर का प्रसन्नता प्राप्त होने लगती है। मानो हम हो ही हैं नहीं परस्पर ही और एक ही।

इस विवशता को छिन्न लिये ही हमें जीना होता है। कारण हम अन्तरात्म के साथ एक नहीं हो पाते। इस तरह हर बाह्य हमारे सिद्ध अवरोधक बन जाता है। ●



## सस्कारिता

सस्कार, कर्म-बन्धन

३४२ क्या परबों को आप संस्कार अथवा कर्म-बन्धन कहता पसन्द करते ?

—कहिये।

३४३ संस्कारों का उद्भव आप कहाँ मानते हैं ?

—बात यह कि मैं ही हूँ इस धर्म पर सक्त हूँ कि मेरे लिए तुम और ये-ये भी रहें। इनके बात-प्रतिपात का प्रभाव पड़ता ही रहता है। संस्कारों की उत्पत्ति यहीं से माननी चाहिए।

धूल सस्कार विषयता चिन्मयता

व्यक्ति चायद निर्गुन नहीं पैदा होता। फिर गुण कहाँ से लाता है? कहाँ से लेता है? यह तो स्पष्ट हुआ कि व्यक्ति अपने में से ही नहीं है परम्परा में से बह होता है। अर्थात् गुण पारम्परिकता में से लेता है। लेकिन सादा कहाँ से है यह प्रश्न ही तो रहना होगा कल म ने लाता है। सृष्टि मिथुन के मोप से बनती है। वह मैथुनी है। इन दो को नर-नारी भी सता दी गयी। कहना चाहिए इन जान-पिना से बह संस्कार लाता है। वे स्वयं अपने संस्कार कहाँ से लाते हैं? तो प्रत्यक्षता से हमें प्राणी-विद्या के सहारे दूर जानिय म उन संस्कारों की आदि के लिए पटुष जाता पड़ता है। चायद इसी पद्धति से कारकिर् महीयम ने कहा कि आदिम मानव-संस्कार पशु-संस्कार हैं। लेकिन मानव में पशु तक आकर यदि उन संस्कारों के जन्म के सम्बन्ध में हम मस्त्रीय न धाम लगा चाहें तो आगे बढ़ते बढ़ते कहाँ पहुँचते हैं? कदाँ पहुँचते हैं कि जहाँ मय जीव और जीवन की मृगि हई। और भी बीच बनें तो कहाँ पहुँचते हैं? वही कि जहाँ आदि तब परम्पर-समाज में प्रवृत्त हुए। इन आदि तहरीं से चलकर एक दिन सचेतन मृष्टि हो जानी है तो क्यों? कारण यही है मकता है बीजमय में तस्मिन्नादम् आदिनादम् में ही गभिन था। तो इन तरह आदि-संस्कार

प्राणीमात्र और व्यक्तिमात्र में अन्तर्भूत विद्यमानता का हो जाता है। जब सब संस्कार उस पर ऊपर से चड़े हो सकते हैं। मूल संस्कार यह विद्यमानता और विद्यमानता है।

**संस्कारिता परस्परता में से**

एक क्षण यह आया कि वही जीव में से जीव की सृष्टि हो निकली। जीव अपने का ही ही में बंट केला और इस तरह गुणानुमुजित होता जाता था। एक में ही यह द्वित्व समझा था। फिर नरत्व और नारीत्व में यह पुनः मी हो गया। मैं मानता हूँ कि संस्कार देने और प्राप्त करने की भूमिका यही उत्पन्न हुई। इससे पहले स्व-नरता या परस्परता थी ही नहीं। परस्परता के साथ संस्कारिता आयी।

**स्त्रीमात्र-पुंमात्र**

होने का आरम्भ हुआ मैं से है। मैं के साथ ही 'वह' हो आया। उस-मूल की विधा पहले ही मैं उसमें हूँ 'वह मुझमें हो' इस प्रकार के भावों के लिए सृष्टि में अवकाश मिल गया। यही से संस्कारों को जन्म मिला। मैं उसमें हूँ यह भाव पुंमात्र बना। वह मुझमें हो यह स्त्रीमात्र हुआ। इस प्रकार पुंस्व-स्त्री भाषा के द्वारा जैसे जीव ने अपने को और मृष्टि को पाना और प्रकट करना चाहा। इसमें माना संस्कार उसने दिया और जिसे पर उनके मूल में विषय आरम्भ-आगमना की ही यह स्फुरण थी कि सब सन्निधानन्दिम ही व्यवधान परस्पर उपसन्नि की चेष्टा अगाने भाव के लिए हो। अन्यथा व्यवधान नहीं है, ईत नहीं है।

**संस्कार प्रतिस्व से उत्पन्न**

सब यह कि संस्कारों को हम व्यक्ति-ने मानते हैं पर वे प्रतिस्व से पैदा होते हैं। उस परस्परता में वे प्रतिस्व बनते विद्यमान रहते हैं। उन पर स्वभाविकार किसीका नहीं है। न के किसी समय प्रति-निश्चित हो पाते हैं।

३४४ मैथुन मयका एक-बीर्य-संयोग कुछ रूप से एक भौतिक और बहिर्ग प्रविष्टा है। यह प्रविष्टा एक विषय को पकड़ पाने में अब समर्थ हो जाती है तो हमारे सारे बाह्य-आधार अबका ऐन्द्रिक व्यापार क्यों हमारे आनन्दितता और आत्मोन्मुखता को प्रभावित और लीनित-निश्चित करने में समर्थ नहीं होते हैं?

**बाह्य व्यापारों का चरितार्थ एकत्व, संयोग**

—मैथुनी आकर्षण ही सचता है कि वैयक्तिक स्तर पर सबसे मौलिक प्रभावदाता हो। सेन्ट्रल सेव ऐन्द्रिक व्यापार प्रभावहीन होते हैं एसा तो मैंने नहीं कहा।

प्रभावहीन होने के लिए इस जगत् में कुछ है ही नहीं। जो बिगम है वह यदि प्रभाव नहीं देता या लेता है तो बड़ता के कारण ही ऐसा होता है। अगम्य तो हर प्रकार का प्रभाव लेने के लिए ही तो वह बिगम है। इन्द्रियों द्वारा निम्न चक्षुः व्यक्तिगत को प्रभावहीन क्यों रखते? मैं मानता हूँ कि समस्त वैदिक और ऐंगिक व्यापार परस्पर की प्रभावित और अन्ततः संयुक्त करने के लिए है। संयोग और एकरूप व्यक्ति की अन्तिम चरितार्थता नहीं तो जीवन में खोम कोष बिग्रह मूढ़ हत्या आदि तक का अर्थ समाप्त हो जाता है। स्वयं उनमें साबकता नहीं है वह तो स्पष्ट ही है। तब उन नियन्त्रात्मक और विच्छेदात्मक प्रवृत्तियों का परम अर्थ स्वीकार और संयोग ही रह जाता है।

यह आपन कैसे और वहाँ से मान लिया कि ऐंगिक आदान प्रदान-सम्प्रदान को मैं स्वयं और प्रभावहीन मानता हूँ। वे तो माध्यम हैं, बिगम हम परस्परता को स्पष्ट ब्रह्म पुष्ट और उन्मिष्ट एवं भ्रष्ट करते हैं। मैं इन्द्रिय के उपानुरागा को उस तरह स्वयं प्रवचना नहीं मानता हूँ जैसे कि कड़ बर्न कहीं-कहीं मानता मानूम होता है। १४५ क्या कभी ऐसा होना सम्भव है कि मन और विवेक एकत्र अक्षम बन जायें। और इन्द्रियाँ अपने अपने व्यापारों में स्वसावजिष्ठ और लिप्त होच पड़ें?

### इन्द्रियाँ मात्र घम, द्वार

—इन्द्रियों के पास चायक कोई अपना मान नहीं होता है। वे तो मन और द्वार मान हैं। यहाँ तक कि उनके पास अर्थ भी नहीं रहता है। जीव पर बाहर का निर्भर अस्म पड़ता है। जीव को यह क्या पता कि वह नीला परदा है या यह लकड़ी की दुरानी है। इन विवेक-विवेक्ययुक्त तन्मात्रों का कर देनेवाला मस्तिष्क है जो दूर्य को अर्थ और वहाँ से बाह्य का ऐक्य और प्रभाव की समता देता है। इस तरह मन और विवेक की बाह्य देने पर इन्द्रियाँ अपना कुछ काम कर सकती हैं यही अमिड बनता है। ऐसा कभी सम्भव नहीं होगा जब मन-बुद्धि के अभाव में इन्द्रियाँ सार्वक रूप में काम करती हों। चायक घम व जीव में जीव बिग्र और प्रति बिग्र बनता है। लेकिन उसका कोई बीध नहीं होता और न केन्द्र व बिग्र बिम्बित करने की लक्षता का कोई अर्थ रहता है। उन ज्ञान-तन्मात्रों के अभाव में जिनमें नि परार्थता का बीध ही पाये इन्द्रियाँ अक्षम हैं।

### अहं के हाथ में ही वे सचिय

उर्मा प्रकार मन-मस्तिष्क में उतरना चाहें तो मानूम होगा कि अहं के हाथ में ही अहं ही वे अर्थकारी और प्रभावकारी माध्यम ही पाने हैं। अक्षर कोष ने तन्मात्र

करते रहते हैं लेकिन प्रयास का पता नहीं चलता। ऐसा ही जामा करता है कि हम कहीं व्यस्त और व्यस्त हैं और जानें देखनी हुई या नहीं देख पायी है। यह हमी कारण होता है कि अह का योग उन्हें नहीं मिलता और हम तरह सब बेचार हुआ रह जाता है। समाधि अवस्था में बाहुत भी समार की प्रतीति नहीं हो पायी है। सो उमका भी मार यत्ना है। अह को यदि और जहाँ हम सोम कर पायें तो उतक निबा कुठ मो अन्य बाज हम तउ नहीं पहुँचना। प्राणाचार्य न पूछा तो अमुन की बूझ नहीं डोला बिन्दिया तउ नहीं दाकी भिर्क उमकी और हा गिराई दी। यह उमकी ओर की अग्रनना नहीं थी एकाग्रता की हा बिगिष्टता थी कि सब इन्द्रियों का व्यापार एक बिन्दु में केंद्रित हो जाता और बाबा के बजाय वह स्वमिडि में साधन बन गया। इन्द्रियाँ हम तरह बिगिरान और बहकान के लिए ही नहीं हैं वे हमारी एकाग्रता को मध्य करने के काम भी आ सकती हैं। ३४३ तब क्या आप मानते हैं कि जिन महान् योगियों ने अपने अस्तरेय का साथ लिया है और हनु की स्थिति को सत्यतया समाप्त कर लिया है उनके बाह्याचार और ऐंगिक व्यापार उनके अस्तरेय को किसी कर्मबन्धन के द्वारा संस्कार में नहीं बाँधते?

### अग्रम विसमाधिता का भाव

—हैम ब्रह्म में बाँध सकते हैं अगर अन्तर और बाह्य के बीच मुनबाधिता व्याप्त हो चुकी है? ब्रह्मन वैश्य और विमबाध व अनुभव का ही नाम है। पुनारम्भा में जिन भाव की अनुमति होती हैसी उन मुक्त भाव कर्मबन्धन बना जाति।

### हृष्य की निःस्पृहा

३४४ तब क्या आप बीजा के हृष्य की स्थिति को स्वीकार करते हैं जो कई हजार राधियाँ अपने हरम में रतकर और मीठि, कूटमाति द्वारा लार्जों को महामात के पुत्र में बदलाकर भी मिर्झा और कुत्त बने रहे?

—हृष्य पुराण-पुराण है। पदार्थ पुन्य व स्व में उनको विपश्य में साधन और उद्यमन में पहुँचे। ही संवातन मायका के लिए हृष्य अवनार-पुराण है। मध्यम कम-यपक के और महाभारत जैसे महापुत्र के बीच भी उनकी माय्य बूझ बनूना र्छि मानी जाती है। उन हृष्य को हम अपने ज्ञान माने परिचित होने की तरह बार दा बिबा में नहीं के सकते हैं।



## कामासक्ति, सस्येन्स, रस

अतिशय ऐन्द्रिकता कुंठा का परिणाम

३४८. क्या अतिशय ऐन्द्रिकता मन और विवेक को कमजोर बनाती है ?

—प्रथमय एकर में ही है कि कहीं दूसरी ओर दबाव है तो इसीसे इधर उछाल है। यह अतिशयता कम प्रकार की कमजोरी में से आती भी है और उस कमजोरी को बढ़ाती भी है। मानना यही चाहिए कि ऐन्द्रिकता की अतिशयता में इन्द्रियों की अस्वस्थता प्रकट होती है। ऐसा मनुष्य स्वस्थ नहीं है। स्वस्थता में इन्द्रियाँ महज और समय कम में ही काम करेंगी अथवा और अपर्याप्त में जान की उब-छाट उन्हें न होगी। यह उब-छाट हमन में से आया करती है। मन और विवेक द्वारा जब इन्द्रियों का संचालन नहीं बल्कि पामन और रक्तन होन लगता है तब इन्द्रियों के लिए मानो भीतर बाध इकट्ठी होती है जो समय पर बिस्फोट में पूर। किन्तु यह निरन्तर जारी रहनेवाली प्रक्रिया है। हमन में से इन्द्रियों के अपर्याप्त व्यवहार को उत्तम मिलना है उस अपर्याप्त व्यवहार से बिल विवेक पर दबाव पड़ता है। इस प्रकार क्रिया-प्रक्रिया की ऐसी लड़ी हो जाती है कि मानो यह अनिवार्य ही हो। किन्तु यह निश्चय माना जा सकता है कि इन्द्रियों की उच्छृङ्खलना कभी प्रकट और महज नहीं होती और स्वयं उर्छाका स्नेह और कष्ट पहुँचानी है जो ऊपर न उतम मल और मन पासूम हाता है। मरोग में यह जान देता चाहिए कि ऐन्द्रिक स्वच्छन्दता कुंठा का परिणाम है और बाहर की और बाह्यवादी चपलता भीतर की दृढ़ता नहीं बल्कि बेथिमी की परिणामक है। ३४९. अतनी प्रकार की जो इन्द्रियों को आसक्तिपूर्ण है उनमें कामासक्ति को सबप्रमुख और सर्वप्रसिद्ध माना क्यों माना गया है ?

मग्निय योग की भूय प्रवसतम

—माना ही नहीं गया है गर्वपन्थिमान् वह है भी। अन्य इन्द्रियाँ मनुष्य का मानो बिना गीबि भी उनका व्यवहार प्राप्त कर लेती हैं। इसीलिए उनसे द्वारा प्राप्त

की यही स्व-परता या परस्परता मानो अपर्याप्त रहती है। हम अपने स्वत्व को अन्यत्व में एकत्र मिश्रण कर जो वे सके यह सौम फिर भी बनी ही रहती है। शरीर को लेकर दो प्राणी अभिचार्यत हो हैं किन्तु मूलत दो नहीं हैं। इस मूल एकाता की सम्प्राप्ति प्राणी का स्वयं है। अन्य इन्द्रियों द्वारा प्राप्त परस्पर बोध में से एकत्व की यह धरम अनुमति नहीं होती। इसलिये लैंगिक योग की मूल प्राणी में बेहृ प्रबल होती है। स्व-परता ही नहीं परस्परता तब को मिटाकर जब मिथुन जबरदस्ती एक-दूसरे में मानो अपने को खरम कर डालन भार तक डालने को उद्यत होते हैं तो यह मैथुनी बोध किसीसे कम प्रबल कैसे हो सकता है? जोध मृष्टि मैथुनी इसीलिए है कि इसी क्रिया में स्वत्व विमर्शन की अवस्था भ्रष्टा है। वहाँ मानो मन के लिए ही सही समस्त ईश नष्ट हो रहता है। और तो और, वर्तमान हिंसा-अहिंसा आदि विचार-अविचार का ईश भी वहाँ नहीं रहता। हिंसा नाश में मानो वहाँ प्रेम की वृत्तार्थता अनुभव ही जाती है। सम्य व्यवहार में जिन्हें बर और समानुषिक मानते हैं, ऐसे वादन नौचन आदि के वृत्त्य मानो परस्पर को खानन् और वृष्टि वेनवाक होते हैं। इस मिथुन-योग में मानो हमारा सब अहंकृत लुप्त हो जाता है। अहंकार द्वारा हम किसना ही मैथुन को निन्द्य भीमत्न और मत्पनीय मानें लेकिन हमारा मानना किसी काम नहीं आता। हम प्रकृति के हाथ मानो वहाँ खिलौना मान रह जाते हैं।

### वर्षियों व वीरुकों में मिथुनाचार

आप देखियेगा कि बुद्धिशास्त्रियों में यह मैथुनी विवशता सीमा तक पहुँच जाती है। जो वर्षी और अभिमान होते हैं उन्हें मानो प्रयत्नी के तत्त्व भाटे और सात साये बिना वृष्टि नहीं हो पाती। एक वाक्य है मैथोकिरम अर्थात् वृष्ट और वन में से वृष्टि सेना। वर्षी व्यक्तियों के मिथुन-प्रयोगों में यह चला अचर रहती जाती है।

### काम-खेला बुद्धिवाय

यह सब इमीनिष्ठ कि अहं और अभिमान के आधार पर अन्धबालि जीवन का एक सम्पुष्टन प्राप्त हो। मैथुन मानो अभिमान स दूसरे मिर की बार की प्रविष्टा है। उनमें व्यक्तित्व में दर्श-बलन हीला और साम्यग्रम्य आता है। इमी वारण काम खेला परम बुद्धिवाय है। उनको मूल शक्ति की माना जा सकता है।

१५० परम दुर्लभ पीछाओं के वृष्टियों से तो ऐसा मातूम पड़ता है कि उनका कामाचार जैसे उनके अहं को विमलित न करता हो बलिक और अधिक पुष्ट और समत हो बनाता चल रहा हो?

बनावट और बाहरी-पारिवारिक-स्थानीय-सामयिक सुविधा-असुविधा का सबसर। प्रकृति में भुनाव और छँटाव की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। हमारे द्वारा भी वह काम करवा है और हम एक की अपेक्षा दूसरे की ओर अधिक झुकते या टिचते हैं।

### प्रकृत आकपण और विवाह

आकपण स्वयं एकाग्रता या एकाग्र होता है यह नहीं मानना चाहिए। कारण वह मन का अतिरिक्त के प्रति है। वह सामान्य और व्याप्त है। समय और स्थान की अपेक्षा में एकाग्रता जो दिखाई देती है वह तो सिद्धान्त के बटित बटना बनने के निमित्त अनिवार्य है। छेपठ माना जा सकता है कि प्रकृत भाव से वह आकपण एकाग्रता नहीं है। व्यवस्था की दृष्टि से विवाह द्वारा उसे कठित बनाने में हमने सुविधा देनी है और उस संस्कार की मृष्टि की है। वह संस्कार इस सामान्य आकपण के सिद्धान्त को उपयोग में लेता और उससे सामान्य होता है। इसके आगे यदि संस्कार सिद्धान्त की ही सामान्यता पर आपात करने सब काम तो उस संस्कार में से अनिष्ट भी फलित हो सकता है। संस्कृति प्रकृति को अवकाश देत हुए चलती है अन्यथा प्रकृति से विपरीत जाने पर संस्कृति स्वयं विकृत और पतनमूल होती। इसलिए विवाह की स्वस्वमूलक आधार देत और उसकी रक्षा में ईर्ष्या-उपेक्षा आदि को उचित ठहराने में स्वयं विवाह की ही हानि है। इस तरह सामान्य संस्कृति मानो प्रकृति के बिखड़ ठनकर अपने स्वरूप सफ़ट का आकलन करती है। आकपण सामान्य निरन्तर और सर्वोन्मुख होता है। इस तथ्य के साथ हमारी सखि बुद्धिमान और प्रसन्न होनी चाहिए। अन्यथा संस्कार के नाम पर हम बिकार पैदा करने में लाग्न हो सकते हैं।

१५६ क्या सेवा के स्थान पर कुछ और ऐपचार्य अवकाश आसक्तिवादी हैं जो उत्तरी ही तीव्र और रसाती हैं? मनोविज्ञान में एक बसेप्पोमेलिया का जिक्र आता है। इसके बारे में कहा जाता है कि उसके निरन्तर व्यक्ति को उद्देश्यहीन अवकाश करण होने वाली में उत्तना ही आनन्द आता है जितना सम्मोग में या सकता है। इस विषय पर आपका क्या कहना है?

### हर नामना में घाम गर्मित

—भाग्य मन्त्र में तो प्रतीक है। स्त्री के प्रति जो राग मोह अनुभव में आता है वह दूसरे प्रतीक पर भी क्यों नहीं स्थानान्तरित हो सकता। स्त्री-राग के राग सम्मोग के अनेक उदाहरण मिलते हैं। स्त्रीत्व वही नहीं है केवल राग पराई

है। फिर भी वहाँ कामच्छा का आरोप कर लिया जाता है। इच्छा मात्र को जो हमारी भाषा में कामना कहा गया है सो इमीन यह समझ है कि हर कामना में काम-उत्पन्न का समावेश है।

### क्लेष्टोमेमिया विक्षिप्ति का रूप

छाया महाशय न इस प्रकार की नाना ब्रज्या भी स्वप्ना का भ्रम न काम न जोह दिखाया है। क्लेष्टोमेमिया जिनको आपन कहा वह काम का विरोधी या प्रतिद्वन्द्वी है यह आवश्यक नहीं है। वह स्वयं कामजन्म ही नभना है। सब यह कि व्यक्ति अपने में इतना अधूरा है कि नामा इच्छा का द्वारा उप नबर्ती और अपना सम्बन्ध पैदाय बिना ठमस रहा नहीं जाता। स्त्री व —य्य मे हम नामा वस्तुओं की इच्छा करने लगन है। कभी तो उलझा अनुपस्थित भी हो जाता है और जान पड़ता है कि वस्तुभा की इच्छा स्वयं साध्य है। मूल में इच्छा का स्वरूप एक ही है। मानने जब व्यक्ति होता है जिसमें स्वयं इच्छा का आरोप है तो निश्चय में जो मस्तिष्कना मुक्त होती है वह वस्तु का रान में उत्पन्न नहीं हो पाती। वस्तु में से कोई इच्छा बसकर हम तक नहीं आती —यक लिए मानो हमें ही दोनों ओर से क्रिया करनी पड़ती है। इस तरह कामावेग जब कि नम मामान्य है तब क्लेष्टोमेमिया को एक तरह विक्षिप्ति का रूप हा मानना पड़ता है।

१५४ रस अथवा आनन्द सत्येन में निहित माना जाता है। और सत्येन की तीव्र घटन और उत्सुक बाह हलकापन आने पर जो आनन्द की प्राप्ति होती है उसीके कारण बोरी, हिता अथवा पर-स्त्री-भगमन आदि के भीमियात्र में एक विरोध आरुपण पड़ जाता है। इस स्थिति का आप क्या निष्लेषण करते हैं?

### चेतन में इच्छा अभिवाय

—वह स्थिति विरतपण की भीरताज ही नहीं है। सम्बन्धता में ही हम जीते और जी सकते हैं। इच्छाओं के मूल में हम चारों ओर फैले मानात्र में अपने को जोड़ न सकें तो जीन का मानी अर्थ मुक्त हो जाता है। वह पदार्थ हम उसीको बरत है जिसमें इच्छा को नभाबना नहीं मानी जाती। चेज प्राप्ति बही है जो चारण और उबर दल करना बाँटना है। जीवन का सारा रस इन सम्बन्ध-मूलों के द्वारा अनुभव में आता है।

### सत्येन

जिसको आपने सत्येन कहा वह सम्बन्ध मूलों में इच्छाओं के रस वय में आती पुष्टता और पीनता का ही नाम है। हमारे चरीर में रस है जिसका रस हीम

रहता है। प्रवाह का वेग बढ़ जाने पर एक तनाव और स्वाद का अनुभव हीन लगता है। वह स्वाद एक साध कष्टमय और आनन्दमय हो सकता है। ठीक इसी तरह हम बाताकाश में नागा सम्बन्ध-मूल फँस हैं। उनमें इच्छाओं का प्रवाह जब वेग पकड़ उठता है तो मानो सस्तेस्व की स्थिति पैदा हो जाती है।

पहले कहा है कि व्यक्ति मानो वह ग्रन्थि और कौंस प्लाइए है जहाँ नागा मूल एक मुझमट और केन्द्र बना लेते हैं। वहाँ से उन मूलों में इच्छाएँ बीनों ओर बीड़ने लगती हैं और बीनों केन्द्रों में स्वाद की अनुभूति पहुँचाने लगती हैं।

### परस्पर सरण ही प्राप्ति

प्राप्ति जिसको कहते हैं वह परस्पर सरण का नाम है। इच्छा जब छूटकर दूसरे में ली जाती है, तो मानो सस्तेस्वन और तनाव का काम पूरा हो जाता और एक वृत्ति और मुक्त का अनुभव होने लगता है। जैंगिक सम्मोच में इस प्रक्रिया को आसानी से बिजिन देखा जा सकता है। तनाव होता है और एक क्षण आता है कि सरण और स्वस्व ही जाता है। उस स्वस्व के बिन्दु की एक तरफ सस्तेस्व का उठान है दूसरी तरफ डकान आ जाता है। इच्छा की वृत्ति के साथ ही इच्छा और उद्-जन्म तनाव और आनन्द का अचलग भी जान पड़ता है। इस उठान और डकान से पार समतल सामान्य स्थिति पर आये नहीं कि फिर नयी इच्छा का उदय अनिवार्य है। इसी तरह जीवन अपनी तनाव की स्थिति को कायम रखता और मुहुर्मुहु उसे ताजा बनाता जाता है।

### परमात्म की इच्छा अभीप्स

यह सस्तेस्व गिरे और कबे नहीं अगर प्राप्ति सम्भव न हो। जब हम मुक्त की इच्छा करते हैं तब मान्य होता है कि वृत्ति और प्राप्ति अभी पूरी नहीं होती। यह कामना अभीप्सा कहलाती है और इष्ट समझी जाती है। उठनें बचकता नहीं देनी जाती। परमात्म के प्रति जो कामना है उस परम पुरुषार्थ ही मानत है। परमात्म की पाकर ही कमी समाप्त नहीं किया जा सकता। वह सब प्राप्ति और अप्राप्ति बना रहता है। इसलिए वह कामना है जो लगा व्यर्थ रहती है और कमी ठगती नहीं होती। वह बता है जो कमी उठरता नहीं। जीवन का स्वाद मानो उनीय परिपूर्ण होता है। बर्तों वही सरण और स्वस्व का अचलग नहीं है। या कहीं प्रत्येक राग में ही वही अचलग की अनुभूति है जिसमें बिपोग और संयोग एक साथ और समग्र होते हैं। आनन्द ही वृत्ति है कष्ट ही सरण है उनमें प्रीति का तार टूटता नहीं है और उदय का भाग्य व तनाव अनुभव भी नहीं होता है। इस बेनेनी में ही वह पैन है जिसके लिए आत्मी भयनता है।

## ‘विजाय-से’ और ‘वि विजायर’

जीवन की कृतार्थता की स्थिर, शान्त निश्चिन्ता की भाषा में मानने से प्रति उत्पन्न होती है। भावी विजय के लिए उस भाँति जड़ता का भारी प्रभुत्व का दिया जाता है। ‘इच्छानिरोधरतण’ की भाषा कभी साधक को जीवन से विभूत भी बाध देती है। ये समझता हूँ कि उस मूख का शर है कि इच्छा के नाशाल से हो हम बचें। इच्छा मात्र में मुक्ति पत्थर को दिखी हुई है और आधमी को कभी नहीं मिल सकती है। बहुलत्व का नाम हम सम्बन्ध में अवश्य हो सकता है और वही है जो दृष्ट है। जो केवल और एक और एकाग्र है वह इच्छा परमात्म के प्रति हो होनी और वहीं जाती है। विजाय-से के अन्त का ‘न’ कि जाय भी वह विजायर रह जाती है जिसका गुण में ‘द’ लय जाता है। वह ‘वि विजायर’ जीवन की और परम पुत्रार्थ की लो सगीली हुई है। वहीं सारमूत्र है।

३५५ अन्धान्ध्र काष्ठ को बुरा करने के लिए चोरी और जिसका उपार्थों द्वारा काम करने पर अविष्ट की आर्द्रकामूक को सत्येन्द्र होता है, उसमें लय और आत्म की जितनी तीव्रता मिलती है उसी आन्ध्र काष्ठ को अहिंसक उपार्थों द्वारा प्राप्त करने के प्रयास में दृष्ट-आपत्ति को सम्भावनामूलक सत्येन्द्र में क्यों नहीं मिल जाती ?

पाप में स्वाह की तीव्रता अधिक

—यत्न साधन यह कि पाप में पुण्य से अधिक बल और लय क्यों मान्य होता है। उक्त में मैं यह कहूँगा कि पुण्य में साधन हमारा उनका अपनापन नहीं जाता जिनका पाप में जा रहा होता है। जिनका साधन और साधन और उत्पन्न हो रहे और बननी चोरी में रहना है उनका पुत्रार्थ की अपनी पूजा के काम में नहीं देना जाता। लय की तीव्रता से स्वाह में तीव्रता जाती है।

इंसारी पैदा, जीतासी पैदा

यह अविचार्य नहीं है कि जिने पाप रहते हैं तीव्रता उनकी प्रति हो बननी हो। सत्य में तीव्रता होती है और वह पाप के उत्पन्न में नहीं होती। उस तीव्रता की कला की विधि जिनके कारण स्वयं अपने अपराध में ईसा अपनी हैं। फीनी से निरुद्धि अपने कंधों से कर बढ़ते लय लय में। जा शरीर हो लय है और विज नहीं ॥ उनकी लय की लुप्तता क्यों दिखती ? लय जगह दीधी से विजायना पूरा जान पर विगी बननी में कहा कि वह विजेयना है पैदा। आदम की लय लयनी बा एक पाप का पाप लय लो क्यों के प्रभुत्व हल लय लय के अन्तर में एक ही मिल मिलता रह रहा और उनी पर जीना और समूत्र होता जा रहा है।

इसको पैदाग-प्रे कहते हैं। पैदाग पाप के साथ होता है यह समझना भूल है। ईश्वरों पैदाग का मुकाबला पैदागनी पैदाग कभी कर ही नहीं सकता। लेकिन यह मानना होना कि ही पैदाग में जीवन उत्कर्ष पर होता और वही जीवनानुमति दीव होती है।

### अहस्ता-भगवता का मौलिक विग्रह

देखो की उपलब्धि अधिक मौलिक समझी जाती है तो क्यों? इसीलिए कि नववता और अहस्ता के मौलिक विग्रह में से जिस को सबसे अधिक उभाव और स्वयंस् की अनुमति प्राप्त होती है। पाप और पुण्य का बेपरवैय और ऐक्य भी नहीं देखने में आता है। राम राजन कृष्ण-कंस परस्पर सम्मुख आ पाइ होते हैं और अपनी-अपनी सीमा सम्पन्न करते हैं तो जान पड़ता है कि जीवन के आदि अर्थ और मूल मर्म का ही प्रस्फुटन और उद्मचन हो रहा है।

### जीवन का अस्वीकरण ही हेय

समय से नीचे जिस माना तक पाप उत्तर सकता है, मानो ऊँचे में उची अंश तक के पुण्य-दान की सम्भावना हो जाती है। ऐसे जतना का और जीवन का विज्ञान विस्तृत ही होता है। जिससे करने की आवश्यकता है वह जीवन का हर्षा करण है। जिसका नियम है वह जीवन की सिमटन और सिक्कन है। कुछता और कुछता जैसे पाप की भी अविचारणीय बन जाती है और एक एता संस्कार भी हो सकता है जिसकी कालिमा अपनी परिपूर्णता द्वारा ही अनोप्री चमक दे माये। मैं मानता हूँ कि इस प्रकार के काले-उजाले के आदि विग्रह से स्वयं सृष्टि और स्रष्टा का काम चलता है।

पैदाग का जतना स्वतन्त्र मूल्य भी है। पाप की बिदा गलत है पुण्य की बिदा नहीं है यह ठीक हो सकता है। लेकिन इससे पैदाग के स्वतन्त्र मूल्य और स्वतन्त्र स्वाद में अन्तर नहीं आता है।

१५६ इन्द्रिय-आसक्तिपूर्ण किन्तु दूर तक मानव-मानस के उत्कर्ष अथवा अवर्ष में कारण बनती हैं और बन सकती हैं ?

### इन्द्रियों की आसक्ति

—इन्द्रियों के पक्षों के प्रति निष्पक्षीय अनुगम को चायकर हम इन्द्रिय-आसक्ति कहेंगे। इन्द्रियों के पाँछे जब मनीनीय कीदें लख्य नहीं होता है वे अपने-आपमें चंचल होती और वस्तुओं के प्रति मटकती हैं तब कहा जाता है कि वे स्वैराचारिणी

हैं। इन्द्रियों के इस प्रकार के व्यवहार में उत्कर्ष का साधन नहीं ही मक़ता है, सदा मयक़र्ष ही होता है।

### अन्तर्मन की भासक्ति

यामक्ति जब इन्द्रिय में आरम्भ नहीं होती बल्कि अन्तर्मन से आती है इन्द्रियों का केवल उपयोग और प्रयोग होता है तो उसमें व्यक्तित्व को उत्कर्ष प्राप्त होता है।

### इच्छा क्यप्राप्ती, गुणप्राप्ती

यह कहें कि इन्द्रियाँ तो द्वार हैं। यूसुवामी आशयकनानुसार द्वार खोले और बन्द करे वहाँ से आप और आये तो यह द्वार का मनुष्योप है। यूसुवामी के द्वार से निरपेक्ष द्वार यदि न को अन्दर आये और स्वच्छ वायु को राकने कम त्राय तो मानता होता कि वह अपना काम नहीं कर रहा है। और व्यक्तित्व में ऐसा व्यवहार ही आया करता है। अनेकानेक इच्छाएँ सम्पन्न की बिना छुट करती मन में या वही इन्द्रियों में तो उत्पन्न होती और वे बाहर की ओर घागने लगती हैं। इनमें व्यक्तित्व में विचरन आता है। ऐसी इच्छा कम होती है, पून की नहीं देन पाती। यदि वेतना के सम्मन्तर में से आती हुई अपीप्ता हो तो वह कर के पार गुण में सम्मन्त्र डोड़नी और इन तरह उत्कर्षमावक होती है। उनमें व्यक्तित्व एकदिन और मुण्डित कमता है।



## इस्टिकदस

### इस्टिकद

३५७. जिन्हें अंग्रेजी में इस्टिकदस कहा जाता है, वे क्या कामगारों के सम्बन्ध में क्या उनसे कहीं कुछ भिन्न हैं ?

—कामगार माने हममें हैं, हमारे घर में हैं। इस्टिकद हममें हैं और माने हम उनके घर में हैं।

३५८. इस्टिकदस व्यक्तिगत को किसी परिस्थिति में से पड़ा होती है अथवा वे वैश्विक हैं ?

### सामान्य सत्कार ही इस्टिकद

—इस्टिकद प्राप्त होती है। जीवनभर रहते-रहते और करते-करते माने हम सत्कार के किसी सूक्ष्म अंश को इस्टिकद के तन्तु तक पहुँचा पाते हैं और हम उन्हें शायद मानवता में बाँट करके अन्तर कर पाते हैं। इस्टिकद में व्यक्तिगत आधार नहीं होने सामान्य होते हैं। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है वह भूमिका इस्टिकद की नहीं है उससे ऊपर बुद्धि-विवेक विमर्श-संकल्प आदि की है। इस्टिकद की भूमिका पर मानव सब समान हैं। इस्टिकद जीवन और मर्त्य है मानव की पीढ़ी-दर-पीढ़ियों का। वह समूह व्यक्तिगत की सीमा के बाह्य पर उनका निर्भर नहीं है।

### एगु इस्टिकदस

३५९. एगुओं के सम्बन्ध में इस्टिकदस का क्या क्या गुणात्मक प्रस्तुत करेंगे ? उन्हें इस्टिकदस का निर्माण करने के लिए जीवनभर बीता करते रहने की आवश्यकता नहीं है। अगम से ही वे विशेष आधारों का स्वभाव लेकर पैदा होते हैं और जीवन भर उनमें न विचलन होता है न ह्रास।

—जीवन का भय नहीं है जो विचलन या ह्रास बिना केवल स्थिर रहे। एगु या इस्टिकदस प्राप्त करता है उनमें कुछ योग नहीं होता या नहीं माना जा सकता।

प्राकृतिक विज्ञान बताता है कि कैसे विकास कम में जन्म और प्राणी के बाद मानव का उदय हुआ। यदि नियम में जो प्राप्त है उसमें कुछ योग नहीं पाये तो विकास तब्र असिद्ध ठहरता और कालक्रम का कार्य नष्ट हो जाता है। असलता यह माना जा सकता है कि पशुओं में यदि इन्स्टिन्स का ही उपयोग है साथ उन इन्स्टिन्स में विकास भी होता रहता है तो यह विकास-क्रिया प्रकृति और इतिहास में मन्तर्भूत है सबसे प्रयास उनमें पीछे नहीं है। मनुष्य के साथ कहा जा सकता है कि उसका योग इस विकास प्रक्रिया में सबसे और इसलिए सबसे होता है। उसके भीतर जो एक विवेक का यन्त्र है उसमें उन्नति की क्रिया विनाशुक्त और कुछ बेगपुक्त हो जाती होगी।

**मन्तर्भूत मति, बिश्वास**

प्रकृति स्वयं स्थिर नहीं है। चिन्मय होकर ब्रह्माण्ड अब की मीति कैसे बर्तन कर सकता है। इसलिए न केवल प्रकृति में बल्कि पदार्थ मात्र में मन्तर्भूत एक गति और विकास है।

मनष्टि भाव से देखें तो मैं विकास को इतना अनिश्चय मानता हूँ कि ह्याम की अर्थ ज्ञानिक और अप्रकृतिक तक कह दूँ।

३६० तन्त्रिक और स्पष्ट बताइये कि इंस्टिट्यूट का सम्बन्ध बीच और मानव चेतना की अवस्था सुष्टि-चेतना की किस पर्व से आप स्थापित करेंगे? शायद यह से तो इसका सम्बन्ध स्थिर किया नहीं जा सकता।

**इंस्टिट्यूट अह से सम्बन्ध**

—जहाँ यह से हो उसका सीधा सम्बन्ध है। भूत और चीज अब बिना बन ही नहीं सकते। शिकार का और मन का इंस्टिन्स शुरू न जन्म जगत् में देना जाना है। ये दोनों स्वतः भाव के बिना सम्भव नहीं हैं। स्वतः वहीं से है और जब तक है मन भूत और चीज उनके साथ हैं। सब यह कि मूल इंस्टिन्स को स्वरसा और स्वर्चन या प्रचलन में जुड़ा देना जा सकता है। मैं और घेर इन दो बाधाओं पर ही जीवन की क्रिया प्रक्रिया शुरू होगी है। अब इंस्टिट्यूट इन्हीं के बनने और पुष्टि पाते जाते हैं।

**अह व्यक्तिगत और विवेक का पर्याय नहीं**

मनुष्य में भाकर आरम्भ की स्व-चरणा परम्परा में परिणत होगी है। अह को हम व्यक्तिगत और विवेक का हो जो पर्वान मानने है उसीमें यह भ्रम होगा है

कि मानों जन्तु-जीव जगत् में अहं की स्थिति न हो। इतना ही अवश्य है कि अपने से बाहर अहं की स्थापना करने की शक्ति उनमें नहीं होती है जिसे बिबक कहते हैं। मनुष्य यह देख और मान पाता है कि दूसरे में भी अपना 'मैं' है। इस पदार्थ से धारम परस्परता और सामाजिकता मानव-तत्त्व पर बाहर प्रकट होती है। उससे पहले वृक्षवद्धता ही है सामान्य वह नहीं है जिसे सामाजिकता कह सकें।

### मृत्यु-भाव और सामाजिकता

कौट जगत में मृत्युत उपलब्ध के समस्कार पाये जाते हैं। अन्य प्राणियों में भी किंचित् कृत्यमता देखी जा सकती है। पाल और सुख ही पशुओं में आम है। किन्तु इस सबको सामाजिकता कहने में मृत्यु की सीमा और परिभाषा पर जोर पड़ता है। कहा जा सकता है कि बड़ी बड़ी इन्स्टिगट (मृत्यु-भाव) काम कर रहा होता है सामाजिक भाव नहीं।

मानव चेतना जीव चेतना से केवल इस अर्थ में भिन्न है कि जीव में नितान्त प्रकृति काम करती है मानव में प्रकृति उत्पत्ति बनकर भी काम करती है। अर्थात् मानव प्रकृति के हेतु में अपने विकल्प-संकल्प द्वारा स्वेच्छित सहयोगी हो सकता है। ३६१ मानव में जो रू-रूकर विषय अविग और संक्षिप्त प्रकट होते हैं जिन्हें मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय के नीचे अभी तक सचेत पशु इन्स्टिगट का नाम देते हैं और जिन्हें बार्निक जगत् में धर्मानियत कहा जाता है उनको अल्प कितनी दूर तक मानव-चेतना के संस्कार और विकास में सहयोगी बनवा प्रतियोगी मानेंगे ?

### समस्त विकल्प से ही पूरा

—तब यह कि समस्त के समान विकल्प को भी मैं विकास में सहयोगी मानना हूँ। संकल्प को विकल्प से कहते हुए ही बड़ना पड़ता है। यों भी कह सकते हैं कि रावण के बिना राम सगम नहीं हो सकते। इन्द्रात्मकता मानो विकास की प्रक्रिया है। वह एकही विचार है जो निरूप-उत्पत्ति बुध-अधबुध और पाप-पुण्य के अन्तर्विरोध में स निर्गुणता और उत्पत्तिता को लक्ष्य से भुला देता है और केवल उत्पत्ति अवस्था पुनः अवस्था पुनः की धारणा से विपट बँटना है।

### इन्स्टिगट पाण्डित्य नहीं, वैयक्तिक

जो विषय आरोग्य और मरण मनुष्य में न प्रकट होते हैं उन्हें मर्णाभिमान और मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय पाण्डित्य कह और पाण्डित्य माना जायगी वह तो उनका काम बन सकता होगा। मैं उन्हें ही भी कह सकता हूँ। पशुता का प्रेम

ही उनमें नहीं देखा जाता कभी रिक्तता और साधना का भी प्रस्पन्द देखा जाता है। तर्क विवेक में से कभी वह आध्यात्मिक चमत्कार नहीं निकला है जो मनसे भिन्न सबेरा में से पूरा निकला है। इसीलिए यह मानना कि इंस्टिट्यूट की मूल-पीठिका पशुता है एतद्वय भ्रान्त है। सब यह कि सब इंस्टिट्यूट के मूल में वहता और भयबलता का इन्द्र है। उन बीजों में जो अहंता से मूलगत भयबलता है और वहीं निर-वेद्य सदयता है। इस प्रकार यदि पशुता का उद्देश्य है तो उस प्रतिक्रिया अग्न ही मानना चाहिए। कुछ आशेष और सभेय रिक्त हैं। हुआ करते हैं। अर्थात् यदि अहंता हमारी इतनी लीन हो जाय कि विवेक से उत्तार्थ हो सके तो उस समय इन पशु नहीं बीजोंसे पुनरोत्पन्न बर्ग दिखाई देये। आदमी अपने को छोड़ दे और यह सिद्धि परम साधनापूर्वक ही छापी जा सकती है। तो यह नीच जाकर पशु नहीं बनेगा बल्कि उठकर मनुमानव बनता दिखाई देगा।

सर्मात्मिक में पशुता नहीं, भयबलता

संशय में आज का मनोविज्ञान और कई बर्गविज्ञान भी अनास्कार से चमत्ता और अमूरा चमत्ता है। ईर्ष्या वह चीजान और पशु को महत्त्व दे निकलना है और भयबलता और इच्छा की दिष्ट सम्भावनाओं से वह अपने को बचिप बना लेता है। इस दृष्टि से अपने ही आशेषों और सभेयों ने प्रति हमें शलाघ्यता होने की आवश्यकता कदा नहीं पड़ जाती। जिसकी अन्तर-ध्वनि (स्टिल धाक बौध) अन्तर जाहेज अन्तःप्रज्ञा आदि कहते हैं, उसके सम्बन्ध में हम अविश्वसनीय नहीं होना चाहिए। तर्कानु-मोचित माना मन-अन्तर्धी से यह अधिक विरचसनीय उत्तर होता है। अक्सर देखा गया है कि मकरन्दम में नहीं हुआ वह प्रार्थना से सम्भव हो गया है। जिन्होंने बहुत सफल को छोड़ दिया प्रार्थना और वही समिते आदेश काही सब कुछ मानसिकता ऐसे कोप इतिहास में बहुत पराक्रम लिया गया है। इस ऐतिहासिक सत्य का हमन हूमा और फवा चरितार्थ हो सकता है कि अनुप्य के सर्मात्मिक में भयबलता पड़ी हुई है और जो अहं के एक-एकपटक को भेजकर और चुनकर भयबलता काव तक पहुँच पाता है वह अज्ञाता से उठकर सर्वता की प्रकट करण भय जाता है। मयम है कि इस ऐतिहासिक सत्य को हमारा मन का और बर्ग का विज्ञान अतीतार करे और उनके प्रकार में अपने में आवश्यक मनोबल करे।

इंस्टिट्यूट की स्थिति-गति

१६२ सब स्थिति यह हुई कि इंस्टिट्यूट को ऊपर से जहाँ से और उसके आध्यात्म से अस्तित्व के प्रान से जुड़े बीजते हैं उनकी अर्द्ध लीपी नीचे भयबलता में है?

—हो और उस भगवत्ता में स्थिति ही है गति नहीं है। गति के लिए बहन्ता का उदय हुआ। कहा जा सकता है कि भगवत्ता की अपेक्षा बहन्ता अधिक है, आसुरी है इत्यादि। लेकिन उसका आरम्भ स्वयं भगवत्ता की अनुमति से ही हुआ हो सकता है। भगवत्-पूर्वक हम अहं-वृत्तियों का स्वीकार और पुरस्कार करते ही मानता हूँ कि वे सब आवेग और संवेग बाधक होने के बजाय प्रकाशक और पूरक होने लगे चाहिये।

**भगवत्-सम्बन्ध से अहन्ता में क्यांतर**

होता यह है और अविष्ट का आरम्भ भी वहींसे है कि अहन्ता भगवन्मुखी हुए बिना भी काम कर पाती है। इस तरह वह अहमहमिका के इन्ट और जाल की ब्रह्म बाली हो जाती है भगवत्ता के विस्तार में सहायक नहीं हुआ करती। अहन्ता के लिए गुम और सम्भव है कि वह भगवन्मुखी हो और तब उचित मोप से नर में से नापयन कमजोर प्रकट होता जा सकता है। वैसी अहन्ता पवित्र और पुष्पात्मक होती है उसका सब धारीरिक या सांस्थानिक वा उपकरणारमक होने की बगह मैत्रिक और आत्मिक होता है। ऐसी अहन्ता एक साथ ही नम्र और बढ़ूट होती है। कुतूहल की बल और बल-सी बठोर ही सकती है। मानी तब अहन्ता के समस्त भगवत् भगवत्ता की निर्गुणता का सम्बन्ध पाकर गुणरूप में प्रकट होने समते हैं। कोप ऐक बन जाता है, नय पाप का होने के कारण भगवत् के प्रति निर्भयता का रूप से होता है। पुष्टता नम्रता बमती और रूप के समस्त अधिक बन रहने का सम्भव पाती है। व्यक्ति-सम्बन्ध की अपह भगवत्-सम्बन्ध आते ही समस्त व्यक्तिमत्ता धानी ऐश्वर्य के समतकार की स्वल्प देने के लिए माध्यम भर रह जाती है। मनी की बुझा और मूठ का भगवत् प्रवाह गुच्छे ही बिजली के बल क समान कमजोर जाता और प्रकाश देने लगता है।

व्यक्ति के विराट् बनने के उदाहरण अग्यथा किसी और तरह नहीं समझ या सकते हैं। उनका उच्च्य गुणता है तो मानी इनी आस्था की कुनी से कुछ पाता है।

३६३ ईस्टिक्दल की कार्यप्रणति में तनिक और विस्तारपूर्वक समझना चाहिये। मैं वह समझ पाया कि जब ईस्टिक्दल करीबने भगवन्मुखी अहं के माध्यम से सीधी ईश्वर की समझ केतना से बढ़ जाती है और ईश्वर की धरित धन मनों में ब्रह्मद्विष्ट होने लगती है, तो मानव-व्यक्तित्व में वह धीनिक वैय उत्पन्न हो जाता है जो सर्वक प्रतिभाओं को जग्य होता है। और नम और विवेक की अपनी मुहनी में रखता हुआ वस्तु-वस्तु की एक नया रंग, रूप और आकार प्रदान कर जाता है। क्या बेरी यह निष्पत्ति सही है?

मगवन्मुखता से वृत्तियों में संप्रवर्ण

—हाँ कमबख्त सही है। कमबख्त इसलिए कहता हूँ कि इंस्टिट्यूट बहुत होते हैं यह एक होता है। इसलिए अहं के भयबन्धन होने पर सब इंस्टिट्यूट जिनका मूल महिमानी है, मानो एक प्रेरणा से अभिमूर्ख होते और बाहर जानबालो इच्छावा की भी मानो एकाग्र और एक-वर्ती बनाने लग जाते हैं। ऐसे जीवन में एक उद्देश्य का निर्माण होता है और सारे प्रवृत्तियों में संप्रवर्ण आ जाता है। प्रसन्न फिर बन नहीं पाती और प्राण प्रवाह बेग से वस्तु-अणु में पड़ता और उसको आत्मबान् करने लगता है। प्रतिमा इस प्रकार मानो अपनी चमक से वस्तुमा को चमका देती और उनमें नया सम्पर्क डाल देती है।

प्रेम और प्रतिमा

लेकिन प्रतिमा शब्द का मैं अविश्वासी भी हूँ। प्रतिमा में चमक आवश्यक है जो इन्द्रज हुका करती है। प्रेम की प्रभा प्रतिमा से बिल्कुल दूसरा चीज है। प्रेम इन्द्र की चमका में से निकलता है। और यद्यपि उसे उसी चीज से जपना कह सकते हैं वहाँ से प्रतिमा चमक पाती है लेकिन उसमें इन्द्र से ऐक्य की तड़प अधिक होती है जगत्वा वहाँ भयबन्धन की स्पर्श नहीं चुकना से अनुप्राणित होती है। इस तरह उसमें ताप की जगह स्नेह और मृदु की जगह चारुनी अधिक प्रतीत होती है। देखने में प्रेम की प्रतिमा कहा हो नहीं जा सकता। उसमें मीम्वता और ऋजुता की इनकी भाषा होती है कि सहसा किसीका स्पर्श और निमिष नहीं करती। उनका ऐश्वर्य बाहर से आपकी आँखों को चमकाने नहीं करना जिनका कि मोतर हृदय में उसकी महिमा का खनै सने उद्घाटन होता जाता है। काह्मत् का उदय और अस्त अत्यन्त सामान्य भाव से ही भया। उन दोनों के मर्मे का उद्घाटन पीछे इतिहास की करना पड़ा। फिर तो उस साधारणता में इनका विराट् आचम्य देख पड़ा कि मानवता एक महर्षि के घर बर्षा और जपन् में कायावसठ आ गया।

इस चेतावनी के साथ जो आपने इंस्टिट्यूट की कार्यशक्ति का विश्व दिया उनमें मैं महमत हूँ।

इंस्टिट्यूट से उचित प्राणशक्ति

अहं कोई स्वतन्त्र और इंस्टिट्यूट का विभु तत्व नहीं है। इंस्टिट्यूट ने माना यह स्वर बुना और बना हुआ है। अहं के पास बाहर वस्तु अणु ने सम्बन्धता करने और प्रकट करने के जो दग्ध भावन कर हैं वे दम दिव्य और सही जान

बाली दूसरी आनेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन्स्टिन्स के द्वारा उचित और प्रसिद्ध प्राण-वशित मानो मन-बिबेक में से गुजरती और इन्द्रियों को बाधना देती है। मन और बिबेक उस प्राण-वशित को रबा नहीं सकते नियुक्त भी नहीं कर सकते सिर्फ उसमें कुछ छेद कर सकते हैं। मानिये कि वे कुछ छेदों का काम करते हैं जिसके छिद्रों में से प्राण-प्रवाह रुक नहीं पाता है, कुछ निर्वाचन और निर्देशन बनाने या जाता है। सामने के द्वारा हम कुछ वस्तु छोड़ देते हैं और उससे रखने पोष्य को बरतना पा सकते हैं। इसके अतिरिक्त मन बिबेक द्वारा उस प्राण-वेग को कुछ दिशा का इशारा भी भिन्न जाता है। एक्काईसातर के मुख पर आपने छोटे छोटे छिद्रपुच्छ छनड़ी के बीनटे सवे देखे होंगे उनकी व्यवस्था से भीतर से आती हुआ को अनुकूल दिशा दी जा सकती है। मानना चाहिए कि निर्वाचन और निर्देशन का यह काम इन्स्टिन्स से बाहर की ओर जैसे सवे प्राण-वेग को निरुद्ध और उनमें बर्बन्दा कुछ प्रयोजन पड़ता है।

तर्क-बिबेक आप देखियेगा कि अन्त में अह-समर्पण में ही जीत जाता है। हम तर्क से बड़ी निद्रा कर पाते हैं जिस पहले से अपने निकट खिड़क हुआ पाते हैं। हमारी बुद्धि-शक्ति इस तरह आस्था से विपरीत नहीं जा पाती आस्था को पुष्ट करने का ही काम वह कर सकती है। इस प्रकार पाइती वह बुद्धि अनास्था का तर्क-मर्मत दिया सकती है इस चर्च पर कि अनास्था अस्मिता का मूल भाव ही। अर्थात् मन अह से और तर्क मन में स्वतन्त्र होकर काम नहीं करता है। इन्द्रियाँ तो चाहे फिर किसीको ज्ञानश्रिय क्यों न कहें मन-बिबेक के बिना चलती ही नहीं है।

### गर्मत्व भगवत्ता निरयक नहीं

यहाँ यह धुलना नहीं चाहिए कि केवल इस कारण कि भगवत्ता मूढ़ गर्म में है वह कभी भी सर्वथा निरयक नहीं हो जाती। हम जिस गहरीसी परती पर पहुँचे हैं वह ठीक-बदर है। नीचे उनके कोयला ही या पानी ही या वो भी अनाप बनाप ही अग्नि मीच न नीचे जाकर गर्म-सत में तो केवल अग्नि है। वह अग्नि पराप्तामूर्ति द्वारा ही प्रकट होने के लिए नहीं है बल्कि किमी-अ-किमी प्रकार हमारी धानी की उबरता और बजरता दोनों को धारण और नियत करती है। कर्मा और बुद्ध और मोहम्मद और गीर्वा जैसे उदाहरणों पर उन भगवत्ता के प्रमाण को स्पष्ट न मानिये। हमें के प्रत्येक की प्रक्रिया की समझने और सोचने में उन भगवत्-तरक का महान् काम आता है। अर्थात् किमी भी स्तर पर, फिर यहाँ वह इन्द्रियों का स्तर ही नहीं न ही वह भगवत्ता सर्वगत और अनुश्रित उत्पत्ति है। दृष्ट-जे-दृष्ट में भी भी अनुशास देना जाना और जैसे-जैसे जाना

यस समझ करने की कोशिश पायी जाती है। उसमें सही तरह का प्रयास देखा जा सकता है। संक्षेप में इंस्टिट्यूट बिनके पूज को हम कह सकते हैं हममें स काम करते और मन विवेक का सम्कार भी स्वीकार करते हैं। व भूत द्रव्यात्मकता में मुक्त नहीं होते और जाने-अनजाने आसुरी भावों में व भी अल्प परिणाम स्वल्प मदबल को ही समझ करते हैं।

३६४ इंस्टिट्यूट का भाव और विचार-अपत्ति से क्या सम्बन्ध है ?

**इंस्टिट्यूट और भाव विचार**

—भाव व्यापक शब्द है। मैं मानता हूँ कि विचार मेला ठन तक दिखती है जब मन से पार आकर उसकी भाषा की रेखा और परिभाषा मिलती है। भाव रेखा ईतल है जैसे कि भाव। विचार भाषा में व्यक्त और आह्वान प्राप्त है जैसे कि पानी। मैं मानता हूँ कि जिसको साक्षित्य कहते हैं अर्थात् ऐसी अविवक्षित को व्यक्त के साथ रसानुभूति की सम्बद्धता पैदा करे, भावप्रति ही होती है। साक्षित्य अथवा कला की सृष्टि के पीछे भावानुभूति आवश्यक है। तत्त्वज्ञान से उनका काम नहीं चल सकता। तत्त्वज्ञान परिभाषापूर्ण होता है और वह नहीं उभेनात्मक ही सकता है। जब वह ठकीपित नहीं बलि भावप्रति है। अर्थात् उनमें व्यक्तता के साथ पुष्टता ही अर्थवाचक व अधिक वह अर्थवाचक ही उनमें सूचन ही प्रति प्राप्त न हो। भाव के और भूत में जाये तो सापेक्ष वह व्याप और पीछा भर रह जाता है। इंस्टिट्यूट में भावो उच्छन्न प्रसिद्ध है। उनमें प्रक्षेपन अविवक्षित है। पीछा अधिक गूढ़ और अर्थमय होती है। उनपर पर सहरे उच्छन्नी है। अन्तर-मन में समुद्र स्तर होता है। भावो पीछा उर्मी अन्तर का रूप है। प्रहान् सृष्टि भाव से भी अधिक भावो कला में ही होती है। भाव में किन ची जाने और पान की भाषाज्ञा है। पीछा में भावो निर्वाचना निरपेक्षता है। वह एका बिन्दु है कि उर्मी में सही परिणति और पुनि है। अर्थात् भाव की व्याप्ति व्याप और विचार के बीच तक माननी चाहिए। विचार की रेखा जब तक नहीं मिलती और दिष्टावृत्तता जब सम्प्राप्ति की ओर चली है, तो हममें भाव मन्ता विस्तार पाता है।

३६५- विचार का अलग रखकर पहले आप भाव का सम्बन्ध इंस्टिट्यूट और कामना से क्या है यह स्पष्ट करें। क्या इंस्टिट्यूट और कामना भावों को प्रतीति नहीं करती ? जिसे आपने पीछा और अन्तर्भाव कहा है और जिसे भाव का आचार बताया है उसको वह तो भूल इष्ट में है और भूल इष्ट इंस्टिट्यूट और कामना का भी उद्गम और है। सब क्या भाव भी सीधे भूल इष्ट से ही निम्न



होता है? और इन्स्टिक्ट के समकक्ष व्यवसाय उससे सम्बद्ध होकर उठता और गिरता है?

उनकी परिसीमाएँ

—इन्स्टिक्ट बहुपक्ष में प्राप्त है। यह व्यक्तिपथ से अधिक प्राक्पथ और जातिगत कहा जा सकता है।

भाव की अनुभूति व्यक्तिगत है। भाव भी इस तरह व्यक्तिपरक है।

दोनों व्यक्ति में अन्तर्भूत है किन्तु कामना के लिए व्यक्ति से बाहर किसी काम्य की निर्भरता अनिवार्य हो जाती है। कहना चाहिए कि कामना अन्य उस भाव के लिए संगत होता है जिसका प्राप्य कहीं बाहर स्थिति पा गया है।

विचार संघट होता है जब अविश्वकित अन्य द्वारा ही। अविश्वकित ध्वनि द्वारा जब होती है, तो मानो स्वर-संघटक वहाँ असर-राम्य का स्थान ले लेता है। इसी तरह रंग द्वारा अविश्वकित होने पर मानो आकृति चित्र की वह पर बिना जा सकता है। संश्लेष में श्रेणीय की जब रैलामों का तट और उनकी परिभाषा मिलने लग जाती है, भाव उससे पड़क-पड़कें रहता है। तट मिलने पर उसको अधिक व्यक्तता आकारता और स्वस्म्यता मिल जाती है। कामना अधिक व्याकृति प्राप्त है। भाव अपेक्षाकृत अल्प और निराकार होता है।

इन्स्टिक्ट से उन दोनों जगहों के बिचह का अवकाश नहीं है। कारण यह व्यक्ति मत्ता से भीच मानो जातिपथ जाती है।

## भाव, कल्पना, स्वप्न

### भावोत्पत्ति, भावानुभूति

१६६. क्या भावोत्पत्ति और भावानुभूति एक ही चीज है। इनके उत्पत्तिक्रम को मैं अभी तक वैज्ञानिक रूप में समझ नहीं पाया। शायद भाव अहं से उठकर मन में प्रवेश करता है और मन उसे इन्द्रियों की ओर भेजता है और इस प्रकार इन्द्रियाँ भाव को मन में लाती हैं और वहाँ से अहं के पास पहुँचकर फिर उसे रसास्वादि करती हैं। बुद्धि केवल इन भावों के परिष्कार और पञ्चाशक्ति नियमन का ही काम करती है। इस मेरे काव्यनिरूपक रूप से आप चित्तानी दूर तक सहमत हैं ?

—एक बात को भूलना नहीं चाहिए। वह यह कि अहं अगता के भाव से किसी क्षण मुक्त नहीं होता। इसलिए सबता के भाव के प्रति प्रसिद्धा सम्बुल और भावही होता है। इन भाव की उत्पत्ति की भूमिका को इन्स्टिक्ट कहिये या स्वयं अहं ही कहिये एक बात है।

इन तरह अहं से उठकर कुछ रूप की ओर जाने को बाध्य होता है। फिर वहाँ से अहं की ओर अनिवार्यतया कुछ आता भी है। इस ऐन और अन्त से जीवन-सक्रिया चलती और बढ़ती है। इन वर्तुलाकार गति में जो तत्त्व अन्तः से उठकर बहिर को सूना हुआ फिर अन्तः में लौटकर पड़ना है वह बिबेक और मन से अहं की ओर आते और आते भाव का रूप से रहता है। भाव पर रेखा नहीं होती। उसकी अनुभूति होती है संवेदन होना है उसका कलक मानो पीड़ा का बना होता है। उस समय उसको दूर से पृथक् करना नहीं ही पाता। भावो दुर और मुक्त यही एक बात रहने हैं। भाव प्रतिभाव से अलग नहीं होता। ऐसा भाव हममें से किसीके लिए अपरिचित नहीं है जिससे एक भाव आम और साम मिलता ही। मन-बुद्धि से उसको परिभाषा मिलती और पृथक्करण मिलता है। यही समझिये कि जीवन के समय माना व्यक्तियों का अलग-अलग रस रमना को ही प्राप्त होता है उन स्वामी का पृथक्पन एक जगह आकर समाप्त हो जाता है। मानिये कि सब वह रस रसानुभूति आदि में परिणत होता है। उसके भी बाव बह वैश्व और स्वात्म्य का

भाव सेने लगता है। जब नीतन्त्र और स्वास्थ्य में उसकी परिणति होती है, तो मानो उस पर से मेघ और मीमांसी रेखा समाप्त हो जाती है। भाव अपनी ओर से 'आते' समय स्फूर्ति का बही रूप है। वही उसका संवेदन है, व्याप्ति अथवा आगम है उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'आते' समय भी उस भाव में तृप्ति और रसानुभूति ही है, उससे अधिक कुछ नहीं है। ज्ञान और बोध जिन्हें कहते हैं वह मानो भाव में पहुँचकर समाप्त हो जाते और पीछा या आगम में परिणत हो जाते हैं। उनका बोध की स्थिति बुद्धि के स्तर तक रहती है। बुद्धि के पार जाकर पृथक्ता की सीमा उन पर से समाप्त हो जाती है। भाव में संवेदन है और पृथक्करण नहीं है। पृथक्करण का आरम्भ मन-बुद्धि से मानिये। इसलिए पृथक् मन में जो ज्ञान है वह भूल में व्याप्त है।

अनुभूति से हीन भाव का कुछ अर्थ नहीं है। उत्पत्ति के साथ ही अनुभूति का आरम्भ है। भावानुभूति जिसे हम कहते हैं वह ध्यान की अपेक्षा से आगमन की अपेक्षा से उस ही भावतृप्ति कह सकते हैं। अनुभूति मानो बाह्य प्रकाशन की ओर जाती है तृप्ति अन्तर्गम की ओर।

### धोम और संवेदन

इन्द्रियाँ अनुभूति और तृप्ति की दोनों विधाओं में मन से और मन तक से ज्ञान का काम करती हैं। लेकिन ध्यान रखना चाहिए कि मन तक विभिन्नता और विविधता रहती है, समाप्त नहीं हो जाती। मन में से जब वह अहं की ओर जाती है तब मानो धोमा उस पर से उठ जाती है और ज्ञानबीज भावभोग बनता है। बुद्धि की प्रक्रिया को भी मन तक चलता कह सकते हैं। हर बीज और ज्ञान पुनः कारण के आधार पर टिकता है। इससे मन तक ही उसकी सम्भावना है, उसके पार वह संवेदन में घुल और नष्ट जाता है। जिसको विचार कहते हैं सूक्ष्म सन्नम और सम्पूर्ण बनकर मानो वह वेदना हो जाता है। वेदना का कब भर विचार के मन भर से भाँटे होता है।

### अन्तर्बाह्य का तारतम्य

३६७ इसका अर्थ यह हुआ कि आपोत्पत्ति के लिये बाह्य जगत् की अपेक्षा अन्तिम कार्य है। उसके बिना अन्तर का मूल दृष्टि जाह बनकर प्रकट नहीं हो सकता ? — बिन्दुत्व। बाह्य जगत् की अपेक्षा और सम्बन्धता मानव-वस्तुता में ज्ञानभाव से उदय पावे इसीलिए तो अहं की सृष्टि है। उस अपेक्षा की विहीनता हो जाती है या उस ही मृत्यु काण्ड है। बाह्य-अनुभूति का समाप्त होने ही अहं का भी समाप्त हो जाता है। मृत्यु का इसके सिवा कुछ अर्थ नहीं है। अन्तर और

इस का वास्तव्य अनुभव होता रहे, तभी तक जीवन है। उससे निवृत्ति जीवन न भी निर्वाण है।

१८. क्या यह भी सही है कि बिना सामाजिक सम्बन्धों और लौकिक नीति-मनीति से अपेक्षा के बुद्धि और विचार की सत्ता भी सम्भव नहीं?

**लौकिक-सामाजिक की अपेक्षा**

—बुद्धि और विचार के लिए सामाजिक और लौकिक बाह्य कारणों से संगठित होना है। किन्तु जीवन का काम उनको जीवित ठहरा भी चला सकता है।

इन्द्रियाँ कुछ दूर तक जाती हैं। कहिये कि काफी दूर तक जाती हैं। क्योंकि आँखें अरबों-अरबों मील दूर के सूर्य-नक्षत्र-तारा-ग्रहण को देखती हैं। फिर भी सबका अनुभव है कि मन और दूर तक जाता है। आँख बंद रखी हो तो ऐसा लगता है कि मन की चीजें देखने का बखतर कम रहता है। इसलिए कहा जा सकता है कि आँख बन्द करके मन का द्वारा बित्तो दूर तक दखा जा सकता है वह आँख खोलकर नहीं। इस तरह बाह्य जगत् जो वेद प्रमेयों में बँटा हुआ है। हमें बाह्य सकता है, उससे आन्तरिक नागात्म की अपेक्षा अहंप्रक्रिया के लिए अनिवार्य नहीं है। बिना लौकिक और सामाजिक की ध्यान में लिये अहं का सम्बन्ध-प्रार्थना द्वारा समस्त ज्ञेय से अर्थात् परमात्म से बन सकता है। भेदा मानना है कि इन सम्बन्धों में से अहं की अपरिचित स्वस्वता और परितृप्ति मिलती है। अर्थात् बाह्य जगत् की सम्बद्धता और अपेक्षा जब कि अहं के लिए अनिवार्य है तब आन्तरिक विभिन्न विच्छिन्न नागात्मज जगत् उत्पन्न अनिवार्य नहीं है। संश्लेष में जावन सामर्थ्य के लिए लौकिक-सामाजिक की अपेक्षा से अविच्छिन्न-अग्रहण की अपेक्षा अधिक संगठित और स्वात्म्यकर है।

बुद्धि और विचार की सत्ता विमल जगत् के पार नहीं जा सकती। इससे बड़ा को स्मावत्त बुद्धि से अधिक मूर्खता और सार्यकता होती है।

१९. कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि व्यक्ति स्वयं ईर्ष्या द्वेष हिंसा, प्रेम दया आदि के विमल और विच्छिन्न क्षेत्र में ही अधिक रस और तृप्ति अनुभव करता है। ऐसा व्यक्ति आपकी बुद्धि में वास्तविक रस और तृप्ति पाता है या नहीं? और जो रस-तृप्ति पाता हुआ बोधता है वह उसके भावस का कौन-सा भेद पाता बोधता है?

**इन्द्रात्मक रस**

—इन्द्रात्मक रस तीखा और चरपटा होता है। इसीसे अधिक रसीला भी मासूम हो सकता है। रसता का यह आभिरूप और यह तीखा-तीखापन इसलिए कि

बहु उम उस तक उम्र नहीं पाता वहाँ महत्ता का भगवत्ता से योग है। अतः उसे गम्भीर तृप्ति भी नहीं कह सकते। मूल इच्छा अर्थात् वह इच्छा जो फिर भी निर्मादगत है स्वतः है उस चरम अथा या तृप्तिभोग के लिए जिसे परम रस कृता है। बहुत सदाह को और जाकर, कहिये कि मन बुद्धि की सगृह वहाँ तक ईत भीम पहुँचता है, विप्रहात्मक रस वही तक रह जाता है आपे भाव-तृप्ति तक नहीं पहुँच पाता। यही स्तर हमें और मान आदि का हुक्म करता है। हम बीते हैं सफ़ल हुए हैं प्रतिद्वन्द्वी को हमने हरा दिया है यह भाव या क्रिया वह यत्न या लक्ष्य—इत्यादि का पर्याप्तमित रस अस्तमत्त को नहीं देय पाता। वह ऊपर-ऊपर छल-कला उकलता रहता है कि वहाँ ईत का बिनाश और ऐक्य का अभाव रहता है।

### इमेजरी

३७० जिसे अंग्रेजों में इमेजरी कहते हैं अर्थात् अस्तमत्त पर कर्षों का अक्षिप्त होना उसका अन्तर्गत इस मनोविज्ञान में क्या विशेषण है?

—भाव यदि उठकर किसी और जाता है तो स्पष्ट है कि अभाव की प्रेरणा से जाता है। चेतना तो भाव की रहती है प्रेरणा अभाव की रहा करती है। इसीसे पहले कहा कि अस्तमत्त के लिए बाह्य की अपेक्षा अनिवार्य है। भाव अपनी चरम परिपूर्णता में निरास्त अभाव-लोक में पहुँच जाता है। उस अभाव के छोक में भाव का जो लोभा लोभाई होनी है उनीका इमेजरी कहना चाहिए। स्वप्न मृष्टि के मूल में अभाव में गय हुए इन भाव की हा देखना चाहिए।

### भाव-लोक, अभाव-लोक

३७१ दो बातों को पहले स्पष्ट करना मे बाझना। प्रथम तो अभाव-लोक और भाव के अभाव-लोक में पहुँचने से आपका क्या तात्पर्य है? दूसरे अन्तर-आगत में लौला कीड़ा का जिसके अनेकों रूप व्यक्त-अगन् और व्यक्त-अभ्यात्म में देते आते हैं मूल ज्ञान और उद्भव क्या है?

—भाव अहं में स उठता और अनिल की और उठता है। अर्थात् वह अनिल की पाना चारना है। अन्तर भाव बाह्य अभाव। भाव की अनुभूति है कि जो दृष्टिर्षी की और मन की बाह्य की और जगती है। जब बाह्य से हो मानी वह अभाव-लोक शुरू हो जाता है जहाँ भाव अपनी परिपूर्णता रोमना है। कुछ अग और गग तो उन भाव का स्पृक कल्पुओं को लेकर व्यक्त और जाग हो जाता है। जब उनका पार जान की रह हो जाता है। कल्पना भावना निरागा अभीप्ता आदि में भाव बाह्यक क और-छात्र को छूट, पाये आपाये जिना कंभ चैन पाये?



## कल्पना

३७२ कल्पना का जिसका साहित्य में बड़ा उपयोग है, आत्मीय दृष्टि में क्या बड़ी बिस्लेषण है जो ऊपर अपने इमेजरी के प्रसंग में किया है ?

—कल्पना को उस बिस्लेषण का आवश्यकता नहीं होगी। कारण इमेजरी अभाव पद पर भाव बिंब का नाम है। कल्पना उन चिन्तों की सृष्टि कर सकती है लेकिन स्वयं कल्पना भावमय और भाववर्ण्य होने के कारण बिस्लेषणशील नहीं है।

३७३ क्या यह कहना ठीक होगा कि जो लोग बाह्य-जगत् में अपने को डोम-हीन और असमर्थ पाते हैं वही अन्तर्मुख होकर कल्पनाशोल बन उठते हैं ?

## कल्पना ईश्वर पर निर्भर नहीं

—यह तो पहले कहा कि इशिया बाहर से अन्दर की ओर हो जाती है तो मन दूर तक काम कर सकता है। मन के स्वतन्त्र काम की कल्पना भी क्यों नहीं कह सकते ? जरूरी नहीं है कि उस कल्पना के प्राथम्य के लिए बाह्य सफलताओं का ईश्वर चाहिए। अत्यन्त सफल आदमी के हुए हैं जो सफलताओं से भर नहीं पाते हैं बल्कि बराबर स्वप्नशोल बने रहे हैं। बाह्य जगत् और उसकी फलता से जो भर जाता है, वह अवश्य कल्पनाहीन और बड़ बन जाता है। लेकिन जो जितना जानता है उसके लिए न-जाने-नाये का विस्तार उतना ही बढ़ता जाता है। जो जितना पाता है उतना ही अनपामे का बोध बढ़ता जाता है। तुम्हारा जो कभी शान्त नहीं होती है हर वृत्ति पर अधिक अनुत्त होती बतायी जाती है, उसका यही सार है। आशय है कि अपने भीतर के भाव के प्रति बाहर के अभाव की शक्ति काम करती रहे तो कल्पना कुच्छिन्न नहीं होती। बाहर का अधिक-से-अधिक भी उस अन्तर्भाव को परास्त कर सकता और अभाव को भर सकता है यह असम्भव है। इसलिए कल्पना का ऐश्वर्य किसी प्रकार के ईश्वर पर निर्भर नहीं है।

३७४ कल्पना का जिसे सांसारिक भाषा में मन की उड़ान और विवास्वत्त्व भी कहते हैं जगत् में क्या उपयोग आप मानते हैं ? साहित्य तक में जब रचना अधिक कल्पनाशील और उद्गमभरी हो जाती है तो वह निम्न कोटि को मानो जाने लगती है। यही अवस्था में स्थूल जगत् में यदि कल्पना को हेतु और त्याग्य कहा और समझा जाय, तो क्या इसमें आत्मीय एतराज होगा ?

## कल्पना की उपयोगिता

—नहीं मैं मूर्खों की ही जगत् नहीं मानता। बर्बरों और परलौकिकों की भी

उममें शामिल करता हूँ। कल्पना साधारण मूर्तों के लिए नहीं है क्योंकि वहाँ तर्कमय शैक्षिक कम तक का ही उपयोग है। उम भूलाक पर ओ वैज्ञानिक प्रयत्न न अधिक कार्यात्मिक आधार का व्यय करते हैं। मेरे विचार में वे कल्पना को हठार्थ नहीं करते हैं। कल्पना का उपयोग कला में और मूल्य में है। उपयोगिता में तर्कपूर्ण बुद्धि अधिक उपयोग है। इसलिए अलौकिक और सम्पन्न कहानियाँ का रहस्य मेरे मन में कम नहीं है। टालमटाय की एक भी कहानी सम्भव और संभाव्य नहीं मय्यो का सक्ती। न भाग्य का एक भी पुराण उम कभी भी पर जाय उतर सकता है। लेकिन पुराणों ने भारत को हजारों बरों न बहिय और उभर रखा है और टालमटाय की कहानियाँ ने बेहद सम्पाटी काम किया है। हजारों मनुष्य हमारे लिए इसलिए हुक्का बन गया है कि मरीचक की तरह साधक इन घली छ बिनाटकर बैठते या चलना चाहते हैं। मरिच सुय हवायान का है और बहुत जल्दी हवा से अलग्वि की और बह जाना चाहता है। कल्पना को वहाँ तो उससे आप जानता है वहाँ आप उसकी बली के मुँह में बाँध रचना चाहते हैं।

### स्वप्न, विद्या-स्वप्न

स्वप्न और विद्यास्वप्न भी मेरे निकट अवश्य नहीं है। अगर वे कल्पना जगत् और स्वप्न स्वप्नजगत् का कुछ तथ्य नहीं बने हैं तो उन व्यक्ति का तथ्य अवश्य दे देते हैं जहाँ से कल्पना का विकास हुआ है। और मानव-नित्येय क्या तथ्य हो भी सकता है?

कलाकर्म के लिए एक ही ध्यान जाती है। वह यह कि कल्पना प्रतिक्रिया में से लौटकर बनती है, या स्वयं क्रिया के ओत से जाती है। प्रतिक्रिया में पलायन है। सम्पदा बर्मातीय कल्पना ती नुरत को विद्या के समकक्ष बना देती है।

### कल्पना का विस्तार

मालिन में बहुत कुछ हो सकता है जहाँ कल्पना का आशय न हो। बेचन विनाय हो। अर्थात् वह कल्पना धारणा हीन के लिए स्वप्न और स्वप्न की दुर्गाई नहीं है। उन ओर एक आशोचना के मूल फैलाव के लिए नहीं। ती एसा विनाय धार्मिक रजन और विज्ञान में अधिक नहीं है मवेगा और स्वर मुखता रखा। योगविन्दो की कहानियाँ हैं तो उबर ईश्वर का कहानियाँ भी हैं। बनम्भक बातों हैं मरिच ईश्वर की कहानियाँ जाती नहीं रहीं हैं। अब भी जानना निर्वाण का क्या का रखा है। योगविन्दो को बार्ने बहकर उन्हें कभी टाला नहीं जा सका है।

समजा है कि समझे जानेवाले संघर्ष का प्रथम माहिर्य के लिए महत्व का मान्य है।



३७५ कल्पना-लोक से स्वप्न-लोक में चले। राजि में जब हमारी सब इन्द्रियाँ धान्य और चेतना-अमुक्त हो रहती हैं तब यह सपने हमें क्यों आते हैं ?

सपनों में अतीन्द्रिय का हाथ

—कल्पना का लोक ही स्वप्न-लोक कहलाता है। कल्पना वह उत्तरोत्तर सूक्ष्म और तर्कमुक्त अवस्था होती है। वही स्वप्नों की सृष्टि करती है। भावना जब रेखाएँ से उठती है तो उसे कल्पना कहते हैं और वह अमावस्य पट पर बिम्बित होती है तो स्वप्न कहते हैं।

नींद में इन्द्रियाँ सीधी हैं। मन उस तरह नहीं सीता। अगर मन भी जाया हो जाता हो तो कुछ अतीन्द्रिय है वह बिलकुल नहीं सीता। स्वप्नों में उसीका हाथ कहना चाहिए।

अवचेतना

मनोविज्ञान की भाषा में उसको अवचेतना कहते हैं। वह धर्म इस अर्थ में मूल्य भी नहीं है कि बुद्धि-चेतना की कार्य-कारण श्रृंखला उन सपनों में नहीं रहती। किन्तु उसका अस्तित्व से कुछ सम्बन्ध नहीं है और स्वप्नाकाश का एक स्वतन्त्र लोक है, जहाँ से वे सपने परियों के पत्तों पर बैठकर हम पर उतरते हैं यह समझने का अवकाश आज के दिन बिलकुल नहीं रह गया है। स्वप्न की सृष्टि हमसे है, पट ही ऐसा मायूम होता है कि हमसे बाहर है। जब हम कहते हैं कि सपने बीये या बीपते हैं तब निश्चय ही हम झूटा रह जाते और स्वप्न कुछ हमसे बाहर भी समझा जा सकते हैं। बाहर पट है जो अमावस्य बना है और अपने भीतर से भाव उठकर, तर्क-चेतना से स्वतन्त्र उस पर जिन बिम्बों की बना आता है वे ही स्वप्न कहलाते हैं। उन स्वप्नों के सहारे हम अन्तर-व्यस्तित्व और अन्तश्चेतना में भी कुछ साँकी पा सकते हैं। काव्य ने स्वप्नों का मानो विज्ञान ही रच दिया है और अनेक सपनों की सार्थक व्याख्या ही सही है।

काव्य का स्वप्न विज्ञान

३७६. काव्य ने सपनों का विज्ञान रचा है जिसके आधार पर उन्होंने स्वप्नों की व्याख्या की है उसे आप कहाँ तक वास्तविक और पुरितरंग्य मानते हैं ?

—मैंने उसका अध्ययन नहीं किया है। लेकिन व्यक्तित्व के मूल में काव्य की भव बसा स्वीकार्य नहीं है। यों उनके लिए मूल है वह रिक्त नहीं है। इस तरह

स्वप्नों की उनकी व्याख्या मुझे क्यों-क्यों-स्वी मान्य होगी इसमें मुझे शंका है। चाहे उनका मानना है कि समय बाहर की ओर में बाहर है और स्वप्न में समित आकाशा केना एक केननी है। मुझे प्रतीत होता है कि इन्द्र अन्तर्गत है और बाहर का पद केवल उनका प्रकाशन का काम देना है। मायशाओं के इस अन्तर में स्वप्न के निराश-ममाधान में भी अन्त होता सम्भव है।

३७७. अब क्या आप नहीं मानते कि सपनों में हमारे समित इच्छा वासनाओं आकार ग्रहण करती हैं? मूल इन्द्र समित आप सपनों का आधार मानते हैं वह भी तो बाह्य की अपेक्षा से स्वप्नाकार प्रकट हो सकेगा?

सम्भ्रता अब तक है, स्वप्न ह

—बाह्य की मैं सर्वथा बाह्य को नहीं मानता हूँ अपितु अपन अन्तर में मन बना के रूप में पहले ही से उपस्थित मानता हूँ इसलिए अन्तर-बाह्य का उस तरह का इन्द्र मानने की आवश्यकता मेरे लिए नहीं रहती। मुझे लगता है कि निर्जन मन में रहकर भी आध्यात्मिक मे शुभ्य नहीं हो सकता। समाज अपना इन बाह्य के कारण अन्तर इन्द्र है ऐसा मानन की आवश्यकता मेरे लिए नहीं है। समित इच्छा इन तरह मेरे लिए समित मे अधिक अनुपे बन जाती है। हमारे स्वप्न इसलिए नहीं आते हैं कि बाहर का जगत् हमें बुझित रहना है बल्कि इस लिए आते हैं कि हम अपने में जगत् की अनुभूति की लेकर पैर नहीं पा सकते। इनका मतलब यह कि जो इस समाज और सभार में बेहतर सुकन दीनता है, जो मानो ऐसी स्थिति तक पहुँच गया है कि समाज उसे बुझा दे ही नहीं सकता बल्कि उनका आनंद ग्रहण करता है, स्वप्न से वह व्यक्ति भी विमुक्त नहीं है। सम्भ्रता अब तक है सम्भ्रता की ओर मन में से उन्मच्छाई उठती और स्वप्नों की रूप देती ही रहेंगी।

स्वप्न और सविध्य

३७८. क्या आप सपनों का सम्बन्ध सविध्य की घटनाओं से जोड़ना चाहते करते?

—जान और आकाश दोनों ही के छोर तक हमारी चेतना पहुँच रहना चाहती है। स्वप्नों में इन तरह समाज के साथ समय की भी भरकर सविध्य की ओर पहुँचने का प्रयास होता है मुझे विस्मय न होना। बल्कि एक तरह से इस अनिवापना मानता हूँ।

३७९. सपनों में जो प्रतीक विविध घटनाओं और वृत्तियों के सुबक बनकर प्रकट

होते हैं वे सार्वभौम होते हैं या उनमें बेग-कास का अन्तर व्यक्ति के अन्तर के साथ वर्तमान रहता है ?

प्रतीक सापेक्ष सार्वभौम नहीं

—प्रतीक की आकृति अन्तरभूतता से निरपेक्ष होकर किसी सामान्य सिद्धान्त के अनुमत ही इसकी मुझे कम सम्भावना मानूम होती है। आज भी एक मुझे के मन में मद्धू का पिन आ सकता है, पुसने के मन में बेक बा है। मद्धू के बोझ और बेक के पीछोर होने के आधार पर तरह-तरह के अनुमान करना और अटकें लगाता ठीक नहीं होया। इन दोनों से प्रकट भी होता है वह यह कि इन प्रतीकों के प्रति कर्ता का सम्बन्ध उत्कट कामना का है और क्योंकि दोनों खास हैं, इसलिए इससे निरिपठ अनुमान भूख का हो सकता है। आधुनिक स्वप्न-विज्ञान में तर्कानुमान की बेहद जीबतान मानूम होती है। और जैसे सब कुछ को कामेन्द्रिय से जोड़ने का पूर्व संकल्प बड़ी बीठा हुआ रहता है। इसलिए यह मनोविज्ञान और स्वप्न-विज्ञान मुझे तो काफी अविद्वसनीय और अ-विज्ञान जान पड़ता है। बाह्य प्रतीक का अन्तर्भाव से स्वतन्त्र कोई अर्थ निरिपठ कर देना मुझे पतरे से खासी नहीं जान पड़ता।

१८० स्वप्न कितनी दूर तक व्यक्तिगत चरित्र और मानस के उत्कर्ष-अपकर्ष के सूचक बनकर प्रकट होते हैं और कितनी दूर तक वे पुर्य-भगवत्ता की अनुभूति व्यक्ति को करा करते हैं ?

सपनों की सम्भावनाएँ

—स्वप्न का सम्बन्ध अन्तर-इन्द्र की अवस्था से है। इन्द्र आप जागते ही हैं अंशतः-पुष्पता और अर्द्धा भगवत्ता के बीच है।

स्वप्न विन्ध में अर्द्धता का प्रबलन विज्ञान है और भगवत्ता का आशान कितना है यह कर्ता से निरपेक्ष किसी नियम से निरिपठ नहीं दिया जा सकता। अर्द्धता विन्धकी अधिक शर्मापित है उनके स्वप्नों में भगवत्ता का अधिक दर्शन हो सकता है। मध्य इतना ही है कि अर्द्धता प्रतियोग अपने जीवन-मूर्तों से पुष्पता को पूरा और या देना चाहती है। स्वप्नीयुग निद्रा या आधमा या बलमा उर्ध्व तप्य की परिचायक है। जो हम हैं उनका बिगरीकरण जब कि स्वप्नों में देना या सकता है तो जो हम होना चाहते हैं उनका भी आशान उन स्वप्नों में रहता है। हमारा होना शर्मापित है। वह सम्भवता न बाह्य नहीं आता। स्वप्न अर्द्ध अन्तर्भव हो जाते हैं। यह नहीं कि उन अन्तर्भव तपनों का हमारा सम्भव वर्तमानता से

सम्बन्ध नहीं है पर हमारे पीछर भी ममिष्ठ ममोमिष्ठ और ममम्बन्ध मम्मात्र  
मारे पड़ी हुई है स्वप्न में उन सबका भी बल और सत्त्व होता है। कुछ ऐसा नहीं  
ममता जो ममनों में हम नहीं कर चुकते। फिर भी उन सपनों का मूल हमारे  
साथ रहना और बलका ही रहता है। मरने में हमें एक दुर्भाग्य महा शोकन द्योत  
लेता है मौत चलने पर पाठ है कि सीने पर हमारा अपना ही हाथ रखा हुआ है।  
अर्थात् दूर से दूर छीर तक जाकर भी किसी छीर से सपना हमारी बर्तमानता  
से हिलता हुआ भी रहता है। किन्तु छीर के इस बिन्दु से यह निश्चित नहीं होता कि  
यह उबर कहीं तक जा सकता है। यह छिटा बलका का है परन्तु छिटा बल  
बला का होने के कारण बे-ओर-छोर रहता है। इसलिये सपने की सम्पादन  
की नीमा नहीं है।

### सपनों में मूल अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति

मूल अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति स्वप्न में होती है इनका ही निश्चित है। येन उभय  
अन्तर्द्वन्द्व की ही वस्वता की जा सकती है। अन्तर्द्वन्द्व का मानी केवल परमब्रह्म  
है अन्यथा वह असत्य है। इसलिए स्वप्न का निर्धारण नहीं हो सकता। मान  
की पनि स्वप्न में अन्तर्द्वन्द्व की ओर तो बोली-बहुन हो भी सकती है, अन्तर्द्वन्द्व  
की ओर से स्वप्न-निर्धारण का काम कठिन और अभिद्वन्द्वीय मानना चाहिए।  
१८१ इस बात को समझ और स्पष्ट करें। अन्तर्द्वन्द्वता की ओर से स्वप्न  
निर्धारण का काम हो भी कने सकता है क्योंकि अन्तर्द्वन्द्वता तो सर्वदा ज्ञान को  
पकड़ से बद्ध है। पहले ज्ञान में जा जाने गुणा वा वह यह कि स्वप्न कितनी दूर  
तक और किस प्रकार हमारे अन्तर्द्वन्द्व के व्यक्तित्व स्वरूप को पकड़ और स्पष्ट  
करते हैं? और क्या स्वप्नों से किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का सही अन्दाज लगाया  
जा सकता है?

### सपनों से व्यक्तित्व का सही अन्दाज

—हो छड़ी अन्दाज साधक स्वप्न में ही लगाया जा सकता है। कारण स्वप्न में  
हमारी बर्तमानता ही नहीं प्रकट होती है सम्पादनार्थी और दृष्टार्थी का मूलन  
भी वही है निश्चयता है। हम जो है वह स्वप्न है जो हीना चाहते हैं वही अस्ति  
है। व्यक्तित्व जिसे कहते हैं वह इन दोनों को मिलकर बनता है। हमारी मूल  
लगावी नहीं नहीं अन्तर्द्वन्द्वों में भी व्यक्तित्व का अनुमान लगा है। प्राण भाव  
नहीं बल्कि प्राण भूय में भी हमारा प्रकाशन होता है। स्वप्न में मानी के दोनों  
पुनर्दिष्ट रहते हैं। जा हम है और वह भी जो हम वय है स्वप्न में समा जाता है।

वित्तमानता और सम्भवता के सूर्यों और तथ्यों की उस स्वप्न की दुमकाटी में से कैसे मध्य-अवस्था किया जाय यह बड़ा प्रश्न है और साथ-सबसे कठिन विज्ञान है। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि हम स्वप्न के कदां नहीं होते हैं, केवल इष्ट होते हैं। यह भी कह सकते हैं कि केवल सोचता होते हैं। किन्तु जिस अंश में इष्ट होते हैं, उस अंश में साक्षात् बनने की भी कोशिश की जा सकती है। वह कोशिश हीनी चाहिए। फायदा में वह कोशिश की और अमिनन्दनीय कार्य किया। लेकिन पहले में मानो उन्होंने एक विद्वान्त प्राप्त कर लिया और इसीलिए स्वप्न-विज्ञान का उनका प्रयत्न आसह की दृष्टि से कुछ उत्तम भी गया है। उसको मुद्गाकर स्वप्नों की अर्थहीनता की मिटाया और अन्तःचरित्र और अन्तःसम्भावनाओं में पहुँचने का उन्हें मार्गदर्शक और साधन बनाया जा सकता है। ऐसे काल जाने कि वस्तु-सौक से स्वप्न-कोक अधिक ही उत्पत्तासी निकल बैठ।

### चरित्र

सुपने ऊपर चरित्र धर्म का उपयोग किया जा। मैं उसे टाक गया था। कारण, चरित्र की समाज की अपेक्षा और उपयोगिता के तल पर समझा जाता है। वह सबूत समझ है। व्यक्तिगत की एकलितता और उसकी सम्भावना की दिशा से चरित्र की समझ आगया। उस वह अधिक काम का सिद्ध होगा और मानव-वैतन्य की सम्भावनाओं के उद्घाटन-उत्प्रेषण में अधिक सहाय होना।

### स्मृत और विस्मृत स्वप्न

३८२ सपनों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक तो वे जो हमारी स्मृति में स्थिर हो जाते हैं दूसरे वे जो हमें याद नहीं रहते। इस अन्तर को क्या नाम स्पष्ट करेंगे ?

—स्वप्न का जाली मैं नहीं बनाता चाहता। स्वप्न-वसित ही सुखे सत्ता के सिद्ध काफ़ी है।

स्वप्न का सम्बन्ध जब हमारी वर्तमानता से घनिष्ठ होता है तो हमारे सबिदन सूर्यों और स्थायुओं पर भी बराबर दे जाता है। इस तरह वह याद में कुछ अटका रह जाता है। स्वप्न के अधिकता हम इष्ट होते हैं। जिस अंश में जागता हो जाने हैं उसने अंश में अधिक सम्भावना है कि स्वप्न हमसे खोने नहीं इच्छित्ता चाह रहे।

## असौक्य शक्तियाँ

### वसीकरण-शक्ति

३८३ मन की अमल्य शक्तियों का उत्प्रेषण और परिचय प्राप्त और लोक से मिलता है। मन की जिस शक्ति के द्वारा व्यक्ति दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को सम्मोहित और बाधोहल करके उन्हें सर्वथा निःशक्त और अपनी मूढ़ी में कर लेता है उस शक्ति की वैज्ञानिकता के विषय में आपको क्या कहना है ?

### आपसी प्रभाव

—आपसी प्रभावों का अनुभव तो निम्न-प्रति के व्यवहार में हममें से हर कोई करता है। एक अपनी जगह आज्ञा का वाक्य भी करता है, दूसरे पर अपनी आज्ञा चलाता भी है। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति माना प्रकार के सम्बन्धों के बीच चलता है। मेरी पुत्री अपनी पुत्री की माता भी है मेरे प्रति उसका भी सम्बन्ध है वही सम्बन्ध उसका अपनी पुत्री के प्रति है। इसलिए प्रभाव सम्बन्धानुगत है। वह व्यक्तित्व में नहीं है। प्रत्येक प्रभाव को सम्भव बनाने के लिए दो बिन्दु आवश्यक हैं। विलक्षण तबल है कि जो आग-बाग के साथ गवाह बना बैठा है, अपनी पत्नी के आगे भीपी बिल्ली बन जाता हो। व्यक्ति बनने में न निर्बल है न प्रबल है। सम्बन्ध पर आश्रित है कि उनकी निर्बलता या प्रबलता प्रकट हो।

### प्रभाव का व्यावसायिक प्रयोग

यह प्रभाव एक से दूसरे पर जाने और जीवन और व्यक्तित्व का निर्माण किया करते हैं। उन प्रभावों में वैज्ञानिक कुछ नहीं है। किन्तु उन प्रभावों की अनि चापना को लेकर इकलडाये या की जा सकती है। जो प्रत्येक जीवन दिया यह इन प्रभावों के व्यावसायिक प्रयोग को लेकर अधिक किया गया जान पड़ता है। तो वही यह कहा जायगा कि वैज्ञानिक शक्ति का वैज्ञानिक उपयोग किया गया है।

## बैज्ञानिक शक्ति का अवैज्ञानिक विनियोग

हमारे भारत में पण्डित मेहरू के व्यक्तित्व में जाहू का-सा असर माना जाता है। वह असर बीजता भी है। भारत से बाहर बमर वैसे जाहू म बीजे ती क्या कहाँ जायगा? नाना योगों और विधियों से एक विशेष प्रकार का प्रभाव उत्पन्न हो जाया करता है। जाज के दिन ती इसे बिचा और कजा का रूप मिल गया है। राजनीतिक आकाशवादी इतने बड़े पमाने पर केन्द्रित हो गयी हैं कि राज्य जनमत और जनमति को मढ़ने में पूरी-पूरी बिलचस्पी लता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यक्ति ऐसी प्रभावशक्ति को जुटाने में लक्ष्य बिना नहीं रह पाता। शक्ति कितनी है वैज्ञानिक है। अर्थात् वह बकारब और व्यर्थ नहीं है। किन्तु उसका विनिमोय अवश्य अवैज्ञानिक और इसलिए लोकसद्वृत्ति की बजाय लोकविग्रह पैदा करनेवाला बन सकता है।

मैं मानता हूँ वैयक्तिक या राष्ट्रीय बर्ह के संवर्धन में इन मानसिक प्रभावों के विज्ञान का जब उपयोग होता है तब मानो विज्ञान अवैज्ञानिक हेतुओं के हाथों पड़कर जाबल की जीव विकास की हानि ही करता है।

## मेस्मरिज्म आदि

मेस्मरिज्म हिप्नोटिज्म स्पिरिज्म्युजिज्म योग इत्यादि अनेक छन्द ऐसे ब्रह्म हैं जिनके द्वारा मानसिक प्रभावशक्ति को मंचित और मित्र किया जाता है। उनके साथ जो इज्म लगा है उससे उन सब ग्रन्थि शक्तियों के विनियोग के बारे में मेरे मन में समय पैदा हो जाता है। उन कारण उन्हें वैज्ञानिक कहने में मुझे दुविधा होती है।

३८४ पारस्परिक सम्बन्धों में निरपेक्ष जो प्रभावशक्ति मन में है वे उसीकी बात करना चाहता हूँ। यह प्रश्न भी है यही नहीं उठाना चाहता कि कहाँ उसका अनुपयोग हो रहा है और कहाँ अनुपयोग। प्रश्न यह है कि मेस्मरिज्म हिप्नोटिज्म स्पिरिज्म्युजिज्म और योग आदि में जो एक ब्रह्म पैदा होना है वह मानस की किस यह राई से और किस प्रकार पैदा होना है? और अन्य व्यक्ति उससे क्यों और किस प्रकार प्रभाव ग्रहित हुए बीजत पड़ते हैं?

## बल और विष

—बल सब भगवत्ता में से आता है। और विष सब ब्रह्मता में है। हमका कोई इन्कार नहीं है कि भगवत्ता ब्रह्मता के आधार के बिना किसी और तरह प्रकट नहीं

ही सक्ती है। इसलिए किसी व्यक्ति के वैज्ञानिक होने के सम्बन्ध में इष्टानिष्ट योग से निरपेक्ष होकर निर्णय नहीं दिया जा सकता।

प्रमाण होता है ज्ञाता नहीं जाता। अर्थात् जब उन प्रमाणों में सत्य के साथ कर्ता कर्म का सम्बन्ध पैदा नहीं होता तब तक प्रमाण वैज्ञानिक ही नहीं आध्यात्मिक भी होता है। जहाँ प्रमाण में दोनों समवायी होने और इस तरह एक-दूसरे की परिपूर्वता में सहयोगी बनने हैं वहाँ वह सर्वथा युक्त और आध्यात्मिक और वैज्ञानिक है। वहाँ दोनों और व्यक्तिगत और कर्तृत्व पुष्ट बनना और प्रमाण अन्वयान रहता है। दूसरे उदाहरणों में प्रमाण सामान्य होना और मानव-सम्बन्धों में सम्बन्ध ब्रह्मवत् वाचक-वाच्य मानव-धामिनी का दृष्टि सम्बन्ध पैदा कर देना है। उसे वैज्ञानिक और अनौपचारिक कहना पड़ता है। कारण वहाँ कहना समझना के अनुपपत्ति नहीं होती बल्कि समझना कहना का अधीन उपकरण बन जाती है।

### मनोनिष्ठ, सत्त्व

१८५. योग साधनाओं में जो मनोनिष्ठ और सत्त्व की शक्ति को इतना बलवत् दिया गया है उसे आप कहीं तक उचित और उपयोगी मानते हैं? क्या तत्त्वबोध मन बना में करने से और इन्द्रियों के निष्ठ से आत्मिक और आध्यात्मिक शक्तियों मनुष्य को प्राप्त हो जाती हैं?

### योग का अर्थ बुझना एकसूत्रता

—योग का अर्थ है जुड़ना या जाड़ना। नीचा चढ़ा है और ऊपर की भी नीचा रहना चाहिए। इसमें क्या या निश्चय से रहना नहीं जाना चाहिए। निष्ठ मन का यदि ही तो निष्ठ करनेवाला कौन है? व्यक्ति के एक अंग का दूसरे के साथ अनुकूल सम्बन्ध का नाम निष्ठ नहीं ही मरना। हिन्दु मन्त्र मन्त्र अनुष्ठान है और इन्द्रिय नियन्त्रक निष्ठान्तक भाषा का भी किंचित् नाम ही मरना है। परन्तु यह कि उस भाषा के सहारे ही तत्त्वबोध इन्द्रिय विद्या आय बह सम्बन्ध की अनुकूलता हो, कोई अन्तःपञ्चम का निष्ठान्तक युक्त न हो। निष्ठ की भाषा में योग की व्याख्या करना माफो उनके अनुमान पर ही बिकार और आरोप माना है। योग में समस्त व्यक्तिगत अन्तःकरणों समस्त सम्बन्ध अनुष्ठान बनता चाहिए। वैज्ञानिक होकर अन्तःकरण और इन्द्रियों में और अनुष्ठान और वाह्य मन में या व्यक्ति के निष्ठ अर्थों में युक्त ठहरना ही तो उनके मनुष्य और तत्त्वबोध की बिल्कुल ही और निष्ठान्तक व्यक्तिगत भाषा ही है।

योग का नीचा भाषण है मन-बचन-भाव या अनुष्ठान की एकाग्रता या एकरूपता।



किन्तु योप का जब कि एक ओर बग्गा चलता है तब दूसरी ओर हठापह को भी उससे बढ़ावा मिलने दिया जाता है। इन दोनों को मैं हट्ट नहीं कह सकता।

### बृषछ साधनाएँ

१८१. हठ-योप और वामपम्बी बृषछ साधनाओं के बारे में आपका क्या मत है? इस प्रकार की साधनाओं को और प्रशुतियों को मानस के किस कोने से स्मृति और प्रेरणा प्राप्त होती रहती है?

—वहाँ आपह और हठ है वहाँ मूक में वह अहं-प्रेरणा काम करती है जो मनबद् प्रेरणा से विच्छिन्न हो जाती है। इसमें हम अपने से योप की ओर से बाये हुए अमुक मूचन का सम्मान नहीं कर पाते प्रमत्त और सुपुष्ट रह जाते और इस तरह अपनी ही परिपुनता से विमुक्त विद्या में चलने लग जाते हैं। उस आपह में व्यक्ति पर स्पर्शा से विपुक्त होता है और स्वप्ता में बन्द होकर मानो स्मृति का रस लेने में सुष्टि मानता है। मैं इस प्रकार की साधनाओं से इसीच्छिन्न प्रभावित नहीं हो पाता हूँ।

स्पष्ट है कि इनका मूल अहन्ता है जो अपने से योप के प्रति नियेब या दर्प के सम्बन्ध का निर्माण करती और इस तरह दोनों ओर बन्दन और विवक्षांगता की सुष्टि करती है।

### सिद्धियाँ-बमत्कार

१८७ क्या आप मानते हैं कि मन में संकल्प और पुन्य केन्त्रीकरण लाकर मनोबांछित वस्तुओं को अथवा आकारों को साकार रूप में उपस्थित किया जा सकता है? पुराणों आदि में वर्णित इस प्रकार की भक्तिपरक घटनाओं को क्या आप संयत मानना चाहेंगे?

—उम प्रकार की ऋद्धि-निर्द्धियों के बारे में मैंने भी सुना है। मुझे उस विद्या में रस नहीं है।

मझे ही मेरे यहाँ बसबार आ जाते हैं। डाक से बगी किताबें आती हैं। पार गन्ध से कम चले आते हैं। बीमा मजिमाईर से पैये चले आते हैं। इन सबमें भी क्यों हम बमत्कार नहीं देखना चाहते? लायातू मूर्त कम आतिर हम तब आ रहा है कि नहीं। लेकिन यह सामान्य आशान-प्रदान की स्थिति हमारे मन में कोई प्रान या विस्मय नहीं पैदा करती है।

पूरा आ जाती है जिसे जाने कितने जरबों भीस से आना पड़ता है। यहाँ में पानी आना है जो मन्हीं बीजन दूर नागरों से उठकर आया है। घुटन में एवम हवा

बल निकलती और हमें आगन्विष्ट कर उठती है। यह सब घटनाएँ निम्न हम भोगते हैं, इसलिए उनका कारणों में जाने की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु वहाँ उत्तरों तो मान्य हो कि सब परस्पर सम्बन्ध है और यहाँ का बलाव दूर-दूर तक के भाव को हिक्का देता है। यहाँ से हवा उमर मपी तो आत्मीयता की धारों के लिए चारों ओर सहाएँ बीड़ आयीं। इत्यादि प्रक्रियाएँ प्रकृति में मन्दा ही पटित होती रहती हैं और हम विरवास रख सकते हैं कि ब्रह्मांड में हम अकेले नहीं हैं सबसे बड़े हुए हैं।

### पुनः अहिंसक की इच्छा-मात्र से फल-प्राप्ति

जितने अकेले बनते अर्थात् अकेलेपन में लुप्त हो बैठते हैं उनका ही हमारे प्रति रोष का आकर्षण कम होता है। कारण अहंकार से हम अपने को सैर स फाट लेते हैं। इससे उत्पत्ती प्रक्रिया हममें यदि पटित हो निकलें अर्थात् अहंता ममता से अनुप्रायित हो जाय तो मानो रोष का प्रवाह अन्त-आन्त हमारी ओर बह निकल्यो और हमें भरपूर कर देना।

अर्थात् अहिंसक-सिद्धि का ही पटित होता बनाया जाता है उस समन्वय मानने का मेरे पास कोई कारण नहीं है। रेडियो का यन्त्र आकाश में बीड़नी तरंगों को पकड़कर हमारे आगे माना विचारों में मूर्त कर देता है। शब्दों का यन्त्र दूर तक की सूचना दे जाता है। आज ही मैंने सारे कलकत्ता-बम्बई से फोन पर बात कर ली है और मानो त्रियम्बों की साक्षात् प्राप्ति कर लिया है। सारे ही फोन करनेवाले के ही आवाजों का टोकरा मेरे यहाँ आ गया है। मैं मानता हूँ कि दर्द के विमुक्त और प्रेम में मग्नता मुक्त व्यक्ति ही जाय तो उनके अहं की आवश्यकता मानो समष्टि की चिन्ता बन जायगी। नीति में न्याय के लिए आवश्यक है कि उसके योग-योग का वहन प्रगल्भ स्वयं करेगा। इसमें यही आशय देना चाहिए। इन बाह्य बला की बात कहिये लेकिन मैं विज्ञान की बात भी कह सकता हूँ। पुनः अहिंसक की इच्छा-मात्र से फल प्राप्ति होता है। ●

है। स्वभावतः अहंता के स्थायु उस समय तब आते हैं और वेध के प्रति उसके सम्मुख मूर्खों में एक सराव आ जाता है। और और प्रतिश्रुति में अनिर्धार्य आकर्षण अनुभव होता है। इसीसे उसमें रसबीज है। अब बघटों बूझते रहकर भी बाकी मानो बराबर की रहती है हार-जीत बली नहीं ही पाती हो तो ऐसे प्रति इन्दी का आकर्षण तीव्र हो जाता है। अंतरज में बार-बार ऐसे प्रतिश्रुति की याद आती और क्यों-क्यों उसे हारने की इच्छा आती रहती है। हर खेल का बही हास है। कोई खेल मचा नहीं देता जब तक दाँव न हो और हार-जीत की बख-बखी न हो। पाप में मानो यही बसा हमको प्राप्त हो जाती है। हम सारे जगत् के विरोध में, मानो लोकमत के विरोध में अपने को पाले और इस तरह एक विस्मय उत्पन्न अनुभव कर आते हैं। आरम्भ में जिसमें संकीर्ण होता बढ़कर उसीमें नर्ग होने लगता है। पाप की यह शक्ति इस तरह हमें बराबर ही चुनौती देती रहती है। एक स्वतः पर आकर अहंता मानो आत्म-गरिमा में उस चुनौती की पकड़ों और स्पर्धापूर्वक उछट कर बड़ बलती है।

### अहंता को विस्मयजनक कम

विस्मय हीमा आपको यह जानकर कि अहंता जब अपने में सुख प्रमुख होकर बँहक पड़ती है तो कैले-कैले काम कर जाती है। बिच्छा और बमन तक का जाना सम्भव बनता है। और यह निश्चयिती बरों में हम देखते हैं कि आरम्भ-वर्ष में शिर फोड़ा जाता है अपने को मोचा और काटा जाता है और ऐसे सन्तोष प्राप्त किया जाता है। सन्तोष हम बात का होता है कि सापने का व्यक्ति कुछ भी प्रतिकार नहीं कर सकता हाथ-मा ठिठका किम्मुक्त रह गया है। उसकी पराजय और अपनी विजय हममें मान्य हो जाती है। अर्थात् अहंता के बहकने और ठन जाने पर जो भीमा है, वह सहज हो जाता है और जो अस्मि और विमर्श का कारण है उसीमें स्मि और प्रभुति होने लगती है। यह अहंता के लिए कम महिमा और गरिमा का प्रसन्न नहीं है कि वह लारी भगवता को मेहनत-मायुष करण की चुनौती दे उठे और मधमध बैना कर निकले। पाप का कुछ उन्नी प्रकार का मनोविज्ञान है और इनो कारण बड़े अराधी बड़े धार्मिक और आत्मविश्वासी पुरुष पाप जाते हैं। इतिहास के महान् अण्णाधियों की परीक्षा हो तो कहा जाने अधिकांश के निरुत्ते को महान् नेता और विजेता समझे जाते हैं। यह लगभग अनिर्धार्य है कि बड़ा पाप बड़ी अहंता की नृष्टि करे और यह क्यों व्यक्ति अपने समय और समाज में परिणामय भवता पाय।

१९१ चुना क्या वैजय बनाने व्यक्ति है ही की जा सकती है? और क्या

बहु देवता इन दोनों के बाह्य सादीरिक रूप-आकार से ही सम्भव है ? आन्तरिक परिस्मिति और उससे प्रेरित कर्म के प्रति प्रभाव क्या इमें नहीं होती ? आपस अहिंसा-शास्त्र में इस प्रश्न का क्या मुख्य और महत्त्व है ?

प्रश्ना है

—मैं इसकार नहीं कर सकता प्रश्ना है तो है। नहीं हीनी चाहिए यह कहकर मैं सतिव भी सन्तोष अपने लिए नहीं बुझा पाता हूँ। 'चाहिए' के मैं नहीं कर पाता। 'है' को स्वीकार करना चाहता हूँ और उस सम्बन्ध है' के सार को और मोह को पा लेना चाहता हूँ। सत्य में मैं डगना और चौकना और पीछे हटना नहीं चाहता। मेरा अहिंसा-दर्शन कोई हो तो वह हिंसा के परमार्थ नहीं ही मरना। संस्कृत में और इसलिये हिन्दी में भी बने के लिए अमर प्रसन्न है। अर्थात् वह है ही नहीं। प्रश्ना यदि है ना प्रश्ना या अमर कहकर मैं उसे नहीं टाल सकता। नहीं है यह कहकर तो वह प्रश्न से ही एकदम हट जाती है। केवल अमर है और प्रश्न का यही मे आरम्भ होता है तो मैं उसको गुप्त तक मोह सकता हूँ।

प्रश्ना की शक्ति

प्रश्ना यदि प्रश्न ही सके तो उसे पूरे तीर पर अग्रसर जा सकता है। पूरे तीर पर अपनायी सभी प्रश्ना में इसी शक्ति का आनी है कि वह प्रश्न की सम्पत्ति और व्यक्ति के व्यक्तित्व को पार कर उसमें अरुण लय को सम्मुख और प्रभाव 'नहीं' अर्थात् अमर है। एही प्रश्ना प्रश्न का आनुपमिक अर्थ हीना ऐसा प्रश्न प्रमाण होता है। पारों को प्रेम करने की राह में ही पार से प्रश्ना करना सीख लेना होता। पारों के उत्तर ही प्रेम सम्भव ही नकेना जिसकी पार के प्रति प्रश्ना हीना। अर्थात् पारों को हम सम्पूर्ण आत्मीय भाव से प्रेम कर सके इसके लिए अनिवार्य ही अज्ञान कि उनके पार को सर्वथा अज्ञातीय मानकर प्रश्न प्रश्ना कर सके। पारों को आत्मीय भावसे तो यह देख बिना नहीं यह सचेत कि उनका पार स्वयं वह न था बल्कि समझा रोप था। इन दोनों को प्रश्न करने की क्षमता उसी प्रश्न में होती जहाँ रोप और विचार में सभी समझौता न करेगा और उसमें अपने में कुछ न उठा रहा। ऐसा प्रश्न रोप के प्रति अत्यन्त निरुद्ध और निर्दय ही कारण ही मरेगा कि वह रोपों के प्रति मरना नम्रता हीना। मैं मानता हूँ कि रोप के प्रति यह प्रश्ना पार के प्रति यह प्रश्ना प्रश्न के बजाय प्रश्न ही जाने हैं। को सचिन्ता इन निरन्तर प्रश्नों के बिना लेखनी नहीं हो सकती।

१९२ आने अद्वैतकार भाव अथवा भाव का प्रश्न अहता और प्रश्न का प्रश्न भाव-

पता में माना है। इसका अर्थ क्या यह हुआ कि हमारे अन्तरंग में अहंता और भयबत्ता का इन्द्र रावण और राम के इन्द्र की तरह निरन्तर चमत्ता रहता है और बाप को सार्बक बनाने के लिये अहंता का भयबत्ता के सामने लुकाया जाना नितान्त आवश्यक है।

### पाप-पुण्य अहंता में

—भयबत्ता में कोई इन्द्र नहीं है। इन्द्र सब अहंता की अपेक्षा से है। अर्थात् पाप पुण्य दोनों अहंता में और अहंता की अपेक्षा में सम्मिलित होते हैं।

### राम-रावण-युद्ध

हम राम रावण युद्ध व्यक्तित्व में बचकर ही चमत्ता रहता है। यदि हम यह मान सकें कि क्या राम और क्या रावण दोनों की सृष्टि एक उद्यम से है तो जय-पराजय की भाषा उसी तरह और सब हमारे लिए नहीं रहे बाधनी। राम रावण युद्ध में आध्यात्मिक व्याख्या बताती है कि रणोद्यत और रणप्रवृत्त रावण के सम्मुख में राम से स्वयं हारने की इच्छा विद्यमान थी। पाप में भी कुछ यही मानना चाहिए। पाप अपनी स्वयं से उठकर भयबत्ता में आ सीना चाहता है। स्वयं का आर्तक यदि वह अस्वीकार है तो नहीं गहरे में उसमें यह मान भी विद्यमान रहती है कि वह आर्तक इसीलिए किसीके निपट अस्वीकार्य बन जाना और वह उसके भीतर की असंख्यता को उसके आहत मन को देन सके। भयबत्ता से विच्छिन्न होकर अहंता पुष्ट नहीं बनती है अत-विद्यत मान होती है। इस आहत माय को लेकर ही वह उलट पड़ती है और निवेष्ट में स अपनी सार्बकता पाने की चेष्टा में पड़ जाती है। इस समस्त चेष्टा के बावजूद असल में वह प्रतिगम परावृत्त होना चाहती है। ऐतिहासिक अहंता होने के कारण दिगी अह-वक्त के सामने वह परावृत्त नहीं हो सकती है, राम-वक्त के समक्ष ही वह मुक्त पड़ती है।

### जीव-अहंता तादारात्म्य

इन इन्द्र में 'मुझमें' की बात जहाँ जाती है वहीं 'म-मुझमें' की स्पर्शा नहीं हो जाती है। इसलिए दुःख का प्रश्न नहीं है। भयबत्ता इन रूप में कार्य नहीं करती। इन उलट समस्त अस्तित्व में मानी भयबत्ता की अपनी और से सीने कुछ करने को नहीं रह जाता है। उसकी मात्र से भी स्वयं अहं ही काम करता रहता है। अर्थात् अहं भयन बापमें अनिष्ट नहीं है। वह तो मूर्त प्रतीक और यन्त्र है, जिससे हाथ भयबत्ता का जाने की समुपलब्ध और मुक्तिप्राप्त करता है। जो जीव की

और वृद्ध को इस प्रकार लक्षारमता में न बैठाकर विपरीतता में पड़ते हैं वे अपने यमस्व अन्तर्द्वन्द्व का सही नियाम नहीं दे पाते। अहं में प्रतिरुलता जितनी है प्रति क्रियामक है, प्रहृत नहीं है। स्वर्ज्यपूवक ही उसे भाष रखा जा सकता है। निष्ठ भोज और सहज अनुकूलता है। ऐसा अनुकूल अहं विद्यामक और प्रकाशक होता है। प्रतिक्रिया के भाव से आपन्न होने पर ही अहं क्षान्ति भावक होकर लीला में उत्पात करता है निष्ठ भाव इत्यादि कहा करते हैं।

■

## मृत्यु, पुनर्जन्म, कर्म-विपाक

संस्कार

३९३ क्या आप संस्कार की सलाह में विश्वास करते हैं? यदि हाँ तो संस्कार को क्या परिभाषा आप करते हैं?

—समय यदि व्यर्थ नहीं है तो प्रत्येक किताब हमें कुछ-न-कुछ जोड़ जाती है। फलस्वरूप वह स्वाधीनता जो हमारा अंग-रूप हो जाता है, संस्कार है।

३९४ क्या आप मानते हैं कि इस प्रकार के स्वाधीनता प्राप्त करने से उन्हें वे बिपत्तें पड़ते हैं और इस जन्म और अगले जन्मों में भी वे उसके अंग बने रहते हैं?

अहंभाव परिमित

—बहु भाव मेरी दृष्टि में स्वयं अपनी परिमित आयु तक रहनेवाला भाव है। इस तरह वह स्वयं स्वाधीन है।

व्यक्तिपरक सम्बन्ध में ही देखने से यह स्वाधीनता ही प्राप्त होती है। व्यक्ति के सम्बन्ध में देख सकें तो वह आवश्यकता नहीं रह जायगी।

ऐसा अवस्था में प्राप्त संस्कार का क्या होता है? बही होता है जो तात्काल में उठी कष्ट के भाव होता है। जरा-सी कष्टी बालिये तो सड़ोवर के तल पर तिहरान होती है, जो छोर तक पहुँचती और फिर पालत हो जाती है। इसी तरह सब पृथिवी तो प्राप्त हुआ संस्कार मुक्त तक नहीं रहता, मानो विस्मृतता में समाकर बही पर्यवसान पाता है।

३९५. यदि व्यक्तिगत अहं की दृष्टि से ही विचार करें, तो क्या आप नहीं जानें कि वह संस्कार व्यक्ति के अन्तर्गत के प्रेरक बने रहते हैं और जन्म-मरण में उसे प्रेरणा देते रहते हैं?

संस्कार समष्टि को प्राप्त

—पहली वाक्यता को स्वीकार करें, तो दूसरी वाक्यता अपने-आप अनिवार्य हो जाती है।

किन्तु जिसके लिए पहली मायता अनिवार्य न हो। वह हम आयु में व्यक्तिगत अहं द्वारा प्राप्त हुए संस्कारों का अन्तिम फलितार्थ क्या माने ? यही कहना हीया कि उन संस्कारों का सार व्यक्ति द्वारा जाति की और जाति द्वारा समष्टि को प्राप्त होता है।

३९६. मन और बुद्धि आयुधर को भले-बुरे कर्मों की छाप अपने ऊपर ग्रहण करते हैं और भगवत् अर्पित हुए बिना ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं वे क्या बहुत दूर तक समष्टि चेतना को कलुषित और विकृत करने का अवसर नहीं पा जाते ?

## स्वाही की बूँद

—प्रबन्धर पानी का प्रश्न कहाँ है। कहते उस माध्य में निषेधित ही है। स्वाही की बूँद मारे पानी को स्वाह करती है। दूसरा कुछ ही नहीं सक्ता। गुंथनीन से देखें तो मान्य ही सक्ता है कि उस स्वाही के कण लक्ष्मी पानी में बुल नहीं गये हैं बल्कि कुछ अल्प ही बने रह गये हैं। पर अन्तः बिन्-मन्त्री को हम तरह स्वयं में बन्द रहने की मुहिमा नहीं हो सकती है। वह व्याप्य चेतन्य में समा जाने का ही है।

## प्रतिबिम्बित को माध्य

मन यह कि अहं-प्रतिबिम्बित के लिए बर्णनी है। सम्कार मन्त्री या बुद्धि, अन्तः व्यक्ति को माध्य की तरह से नहीं तो कष्ट के मार्ग के हम अनुमति तब से ही आता है कि वह स्वयं में नहीं है। जिनकी सम्प्रदाय अहं में समा सकती है। आयु भर समायी रहती है। उनके बाद माध्य-प्रतिबिम्बित आता है और यह मानने का कारण नहीं है कि नहीं बिबरनी नहीं है या बही प्रतिबिम्बित में फिर जाये बिना नहीं रहती।

## निमित्त में अन्तराय नहीं

छन्द में अहं में पड़ना या बही गन्धर्व के पद ब्रह्म वे। उन वेदों में लोगों पर अन्तराय पीछे-पीछे दूर पर एह-मन्त्र ब्रह्म का चिह्न रहा करना था। मान्य हुआ कि हर वर्ष उनके पते भङ्ग जाते हैं और नये पते आते हैं और हर पदा माय ब्रह्म की काया पर अपना यह अन्तराय निमित्त छाड़ जाता है। गन्धर्व की आयुधर यह निमित्त उनका बहिर्गन्धर्व और अन्तराय अन्तराय पर बना रहता है। लेकिन जब स्वयं गन्धर्व गिरता था क्या पृथ्वी पर भी वेद निमित्त बने रह जायेंगे ? स्वयं गन्धर्व की माया में हम अधि-मै-अधिक यह कह सकते हैं कि उनका कर्मा की शुद्धी में नये गन्धर्व जन्म लेने। मुठनी तक बिजने मन्त्र-मन्त्र बर्णों में अन्तराय बना हुआ प्रभाव



पहुँचा जाता होना यह कहा नहीं जा सकता। किन्तु इसकी घोष करें, तो भी समुद्र तटपूर की व्यक्तिमत्ता का बिचार तो बहुत पहले ही छूट चुका होगा। प्रत्येक वर्ष की छाप प्रत्येक व्यक्तिगत अपने भीतर-बाहर संचित रख सकता है। लेकिन वह सब कुछ बिन् की भाषा में टिक जाने योग्य है। यह नहीं कहा जा सकता। जो टिकन योग्य होना वह बिन् में समाहित होता ही रहता होगा। यहक ही हमने मान लिया है कि यद्यपि जगत्ता में स ही महत्ता का उदय है। किन्तु इस कारण छविदानन्द में नहीं। कोई लब्धित मात्र नहीं है। व्ययपन की दृश्यता जो बीच में दीपती है वह हमारी जीवो के कारण है। व्ययप-निष्ठि भीरुभिर्वाय और निरन्तर है। उसमें कहीं अन्तराय नहीं है।

३९७ जेता अपने कह, यदि छविर्वाय बराबर बनती बिजली और फिर बनती रहेंगी, तो जेता के विकास आत्म-संस्कार और आत्मोपलब्धि को अवलोकन कहीं रह जायगा? और लज्जाताय, अर्थात् अन्तराय व्यक्तिमत्ता के अपने हृत्त बिरोध पर अनुताप को कहीं स्थान रहेगा?

अप को समस्त के सम्बन्ध में देखें

—हो। अद्य-अन्तर्भ के कृते पर स्वयं अर्थ का अर्थ ही छूट होता लगता है। लेकिन इस कारण उस अन्तर्भ पर अटक रहने से भी बिन्-बुद्धि का बिबाध नहीं होता। यह सामने नीम का पेड़ है। हर क्षण उस पर से पतियाँ सरती हैं और नवी फूटती रहती हैं। वह पत्ती क्या बुझ की ओर से बायु की ओर से बुझ को कुछ नहीं है सं जाती? अपने समय में वह पत्ती अमृत की हिन्दी में पुष्पित हुई होगी और निराश में मनुषित। उस द्वारा वह अनुभूति समूची बुझ याँट को प्राप्त करे होगी। लेकिन हम गिहकी स बैठकर समूर्ण बुझ का सहजहाता देखते और पतियों के पुष्प-बिचार के निविचल बने रहते हैं। यह प्रश्न ही नहीं उठता कि प्रत्येक पत्ती का क्या अपना जीवन नहीं है वह अपने में कार्य या कार्यक क्या है? हर पल्लव में क्या सब पतियों का उनार दासता है और फिर मृगी शाखाओं में वे अमन्य नर निगल्य उपा जाता है। यह कम हमारे आनन्द और उपयोग का विषय बना रहता है प्रश्न और गमन्या का विषय नहीं बनता।

मैं जानता हूँ कि हमारे मन में भी प्रश्न दर्शावित उठता और गुरुबुद्धि रहता है कि व्यक्ति के शिष्य में बुझ के द्रवित पानबारी सम्मत्ता हमारी बनता में प्रसुत नहीं बनती है। हम अपने की समष्टि सामने हैं और पत्ती के मन में देग नहीं पाते हैं। हम सब के सम्बन्ध में बाहर नहीं जा पाते हैं। यदि लतिहावता की बार में देगे का पानीय जीवन की शिवा से अपने पर गिनाह हाल सके तो बिन् बदल जाना

है और अर्थ स्वयं प्रदान की जगह से लेता है। तब हमें आनन्दानुभूति हो सकती है। 'मैं' सर्वत्र प्रत्यक्ष है। उतर वहीं मानी अमायास प्राप्त हो जाता है जहाँ मैं की भेदना व्यर्थ हो जाती है और एक महत्त्वता का आशय उसको ब्रह्म होता है। इसीलिए मेरा अनुरोध है कि हम कर्मों और अपने विचार में अहंता की जगह भगवत्ता के सम्बन्ध की प्रतिष्ठा करें।

## मृत्यु

१९८. मृत्यु क्या कितने मानेंगे? मृत्यु के साथ भौतिक शरीर की समाप्ति तो प्रत्यक्ष दीखती ही है। क्या पूर्व अन्तरूप व्यवस्थित, अहं और आत्मा भी इस मृत्यु के आ जाने पर नष्ट और निःसंख्य हो जाते हैं?

## महत्त्वता की समाप्ति

—मृत्यु द्वारा मानी महत्त्वता का व्यापार असम्भव बन जाता है जो अब तक उस अर्थ और अस्तित्व के बीच था। सम्बन्ध की अनुभूति नहीं रहती। उसकी मीन भी नहीं रहती। जीवन इस सम्बन्धता का नाम है। मृत्यु उस सम्बन्ध-मय को बहते है।

## जन्म-मृत्यु भ्रम, माया

जन्म और मृत्यु की कड़ी की नामने नाम करते हुए तो निरन्तर हम देखते ही हैं। मैं तो गायर एक ही बार मर पाऊँगा लेकिन चारों तरफ जन्म-मृत्यु का दृश्य पुनः पुनः होने देना हूँ। जन्म-मृत्यु की इन शृंगला ने आगिर जीव को घुटना दी है। क्या जीव मूलतः आत्मा नहीं है? क्या कभी आत्मा मरता है, या जन्म लेता है? तो जीव की यह आत्मत्व पाना है तो इस जन्म-मृत्यु के निरन्तर की मन बाधा से पार होना ही होना। यह जन्म-मरण का खेल समष्टि के तल पर चल रहा है जैसे कि सागर के तल पर सहरे बहती और लहरों से बूँदें उछलती-मिलती हैं। उन महासागर के अमलत बल पर हीनी हुई इस किता का मन में भर नहीं तो जन्म-मृत्यु की सीमा का रूप ही बन जाता है। ऐसा मामूली होता है कि कुछ नहीं मरता है कुछ नहीं जीता है। मरना जीना जो मामूली होता है तो स्वयं ही अपने में भ्रम है। 'मैं' माया है। माया का क्या जन्म और क्या उमर का?

## अहं की व्यापक साक्षरता

इस दृष्टि में महत्त्व का अर्थ स्वयं नहीं हो जाता है, वैराग्य उसकी व्यापक मार्गदर्शक

प्राप्त होती है। यदि मेरा पुनर्जन्म नहीं है, केवल यही एक जन्म मिला है तो पाप पुण्य की क्या चिन्ता? क्या क्या और कुरा क्या 'जन्म कृत्वा मृतं पिबेत्' की नीति ही क्या न बने—इत्यादि प्रश्न नहीं उठते। स्व में से धर्म्यता और सार्थकता अब दोनों समाप्त होती है, तो कर्म का महत्त्व बढ़ जाता है वह ह्रस्व नहीं होता। इस तरह अनुशाप-परित्याप अबका उत्सर्ग विध्वंस में मृति और हेतु की ही विध्वान्तता छाती है, उन्मत्त निरर्थकता नहीं पैदा होती। मैं मानता हूँ कि व्यक्ति यदि हम अनुभव से बरा हो कि उसका दुष्कर्म कुम्भेश्वर को ले बुरेपा तो शायद उससे दुष्कर्ष न बने। निश्चयता और बहुता की तीव्रता ही मनुष्य को दुष्कृता और मोह की ओर ले जाती है। बिराट्ट का सम्पर्क देने से वह की क्रिया प्रक्रिया में अब कि अन्तर नहीं पड़ता तब आघव अवश्य विषय हो जाता है।

१९९. अहं की सत्ता आप स्वच्छ स्वीकार करते हैं और समष्टि में अहं के विसर्जन को आप मुख्य मानते हैं। अहं के अस्तित्व में आने से लेकर विसर्जन तक जो उतार-पड़ाव अहं को बेकने पड़ते हैं, वे क्या निश्चित रूप से एक ही जन्म में समाप्त हो जाते हैं? और क्या मृत्यु के समय आने पर हर अहं समष्टि में विलीन हो ही जाता है?

### अपूर्णता जियेगी

—नहीं वह सदा-सदा के लिए संशय है। इसलिए उनकी मृत्यु नहीं है। अपूर्णता और अनृप्ति सदा जीने के लिए है। जीवन-मृत्यु का अवसाद केवल पूर्णता में है। भववान् न जीता है, न मरता है। वह अस्ति-नास्ति से ऊपर है। इसलिए जो अपूर्ण है वह मर इनीलिए नहीं सकता है कि उसे प्रकार प्रकार से और फिर फिर जीकर पूरा होने के प्रयास में लगे ही रहता है।

### अस्तुष्टियाँ अक्षय

मरने समय व्यक्ति में बितनी आकषाएँ होती हैं बितनी अनृष्टियाँ। इन अनृष्टियों का क्या होगा? क्या वे व्यक्ति की हैं कि उनकी समाप्ति के साथ समाप्त हो जायें? नहीं वे अनृष्टियाँ मानो आने में से नयी-नयी मृष्टि करती हैं। मैं मानता हूँ कि आदमी में से फूटकर जो आशाछाएँ, आभक्षियाँ और अनुभूतियाँ जाती हैं और आने लग्नु पड़ती हुई पैरती हैं। देशम्भ क बाद भी मानो वे जाती जायेंगी उड़ जाती हैं। साहित्य नहीं जीता है, अब कि कर्ता मर चुका होता है? ऐतिहासिक रूप से कौन सी मृष्टियाँ कहीं हैं, अब कि इतिहास हर नव आने तक के साथ स्वर चलता जा रहा है? इनीलिए कि जो मरना है नहीं मरना है उनसे

द्वारा जो निर्धार्य हुआ रहता है वह नहीं मरता है वह जन्म बना रहता है। यह प्रतीति विद्वानी को कठिन नहीं होनी चाहिए कि मरकर आध्मो केवल अपना और कुछ का नहीं रह जाता है। बल्कि मृत्यु द्वारा वह सबका और अनाद्य का हो जाता है। यही प्रतीति है जो पहुँचे हुए पुरुषों को मृत्यु के समय हिम्मत नहीं डेती है, बल्कि समाधिस्थ और आनन्दारुढ़ बनाए रखती है।

### पुनर्जन्म की चित्राभिप्रेक्षित

४०० तब क्या आपको संस्यना कुछ इस प्रकार है—मृत्यु ही जाने पर आत्मा तो शहर की तरह बरभारम-सम्पन्न में लीन हो जाती है। पर जीव ने जो-जो इस जन्म में किया और जो-जो वासनाएँ आकांक्षाएँ उठेगी आदि वहाँ लेकर मरा है सब एक प्रेरक प्रवृत्ति बनकर अन्तरिक्ष में वर्तमान रहने हैं और जब भी परमात्म का एक अंग अहंबुद्ध होकर भौतिक शरीर धारण करता है तो वे अनन्त अनुपत्तियाँ आकांक्षाएँ अपना कुछ अंग उस अहंबुद्ध चेतना के साथ जोड़ देती हैं और इस प्रकार फिर एक नये जीव की सृष्टि हो जाती है।

—चित्र जो बने बना लीजिये। पर मयास मत्स्य इनका ध्वस्त है कि किसी एक चित्र में बैठ नहीं सकता है। फिर भी व्यक्ति का भ्रष्टा की आवश्यक्ता होती है और फिर भ्रष्टा-व्यक्ति को समुचित चित्र की आवश्यकता। इन दोनों चित्र अन्तर्गत भी नहीं हैं। किन्तु वह न मानन समिपणा कि चित्र म मत्स्य आ गया है।

यहाँ आपको लगता होगा कि पुनर्जन्म और पुनर्जन्म का वा एक तर्कमय चित्र कल्पना चित्राभिप्रेक्षितों के मन में है। मैं मैं इन अविद्य बनाए दे रहा हूँ। उन चित्र में उनको भ्रष्टा की लोड़ने या डिमाने का मेरा तनिक साधन नहीं है। चित्र की सत्पना यज्ञात् के व्यक्तित्व की मत्पना पर निर्भर करती है। चित्र कोई मत्पन नहीं हो सकता है न मायता कोई मत्पन ही सचनी है। मत्पन होने के लिए केवल वह अहंता रह जाती है जो धुन हीने स डगरी और विपरीत होने में रस नहीं है। इसके बिना मत्पनी किसी अंग अपना मायता में नहीं रह सकती। कारण मायता महाराष्ट्र है और जिसके लिए महाराष्ट्र है। प्रत्येक उनके स्वयं मत्पन या नहीं होने का रहता है।

आत हमारे निबट बहुत बोझ है। वह भी स्वर्गीय भाषा में प्रान्तरहता है। मत्पना वह भी भ्रष्टा है। उन बोझ के बाहर मत्पन सब तो मत्पन है ही। मत्पन मत्पन को मत्पन और मत्पन मत्पन हम महाराष्ट्र नहीं मत्पन है। अनिवाय है कि उनमें हम मत्पना मत्पन मत्पन अनुभव ही न करें, बल्कि प्रगाढ़ मत्पने की मत्पन भी करें। भाषा अनुमान-सर्करी मत्पना-मत्पना के महारे हम उन मत्पन-मत्पन को चित्र क

ओर-ओर तक फैलाते हैं। उनकी सार्वकता इसमें नहीं है कि वे निरपेक्ष-भाव से कितने सही या यकत हैं। सार्वकता उनकी स्वापेक्षता में है, इसमें कि कितने हमारे निकट वे जगदीपी होते हैं और हमें सलाम बनाते हैं। समस्त मत-मन्तव्य और ज्ञान विज्ञान की मर्यादा हम पहचान लें, तो चाय एक को लेकर दूसरे के सम्मेलन के सम्म से सदा के लिए बच जायें। सहानुभूति का प्रवाह हमारे बीच निर्मुक्त हो। अर्थात् आपका विश्व सही है, हमारे विश्व भी सही है। सही इस धर्म के साथ कि वे मनोनुकूल विश्व हैं और हमारी आस्था और भावना के चोख हैं। उससे अधिक वे नहीं हैं। अर्थात् सत्य को बचाने का रास्ता उनके पास नहीं है।

### पुनर्जन्म, फल विपाक की वैज्ञानिकता

४०१. एक क्या आप पुनर्जन्म और कर्म-विपाक को व्यक्ति और समाज के धर्म के लिए कर्मित और स्थापित धारणा ही मानना चाहते हैं और उनमें कितनी वैज्ञानिक सत्य को नहीं देखते ?

—कोई तथ्य वैज्ञानिक के नाम पर भी ऐसा नहीं है जिसे मानव निरपेक्ष कहा जा सके। हमारा यह आग्रह कि चारपातक कुछ ऐसा अवस्था होना चाहिए, जो सर्वदा और सार्वकालिक सत्य ही स्वरूप में बनता है। सत्य ईश्वर है और ईश्वर को जिस रूप में जा चाहे उसीमें देव सकता है। अर्थात् वह रूप धारणा में नहीं है उससे आबद्ध नहीं है।

भारतीय समाज जिस रूप में पुनर्जन्म को स्वीकार करता है, परिचय के लिए वह आश्चर्य नहीं होता। इसमें सन्देह भी एक समाज की गमल और हमारे को सही ठहराना ठीक नहीं होता। अर्थात् परम्परा से मान्य बली आनी धारणाएँ समुदाय समाज के लिए सत्य और उदाहरण होती हैं। हमारे प्रकार की परम्परा में सते समुदाय के लिए दूसरे प्रकार की धारणाएँ उभी प्रकार उदाहरण हो सकती हैं। उनही धारणाओं की परम्परा ठहराना ठीक नहीं है। अब हम तब को हमारा कहकर तुम्हारे लक्ष में ऊपर बना देना चाहते हैं। तो मानो हमी केप्टा में वह सच शुरू हो जाता है। अह निरपेक्ष और मानव-निरपेक्ष मान सने म सत्य के नाम पर हमी प्रकार की धारणाएँ हूमा करनी हैं। साम्प्रदायिक धर्म के निर्माण के लिए बुनीयी ही जाती है। और उसमें गतिविधियाँ तक फैली जाती हैं।

नहीं सत्य-मान्यता हमारी कोई धारणा अन्तिम और निरपेक्ष नहीं हो सकती। चाहे या वैधानिक हम कारण कि वह धारणा है।

४०२. ऊपर आपने माना है कि समुदाय जो कर्म करता है उसका रस उसकी मृत्यु के बाद अन्त में लीज हो जाता है। इस प्रकार क्या आप परीक्षा रूप में यह नहीं मान

एहें हैं कि आत्मा के मुक्त हो जाने के पहले तक उसके गृहम मन-बुद्धि-अहं भावि  
मत्सु के बाव भी उसके साथ संलग्न रहते और उसे प्रेरित करते रहते हैं ।

### मन, बुद्धि, अहं की निरमृतरता

—मृत्यु के पश्चात् नहीं। मृत्यु के पूर्व भी हमारे कम का प्रभाव हमने देव को प्राप्त होता रहता है। जिसको मैं-मृत्यु की सत्ता से हन पश्चात्मान है व अन्तः पदक है यह केवल वाक्य प्रत्यक्ष है। मामल प्रत्यक्ष उसम आग या मरणा है। उन-उ समाप्ति आदि सत्ताएं मामल से ही प्रत्यक्ष होती हैं। कम वस्तु को नहीं हीननी। इसलिये यह सम्भव हो सकता है कि किसीको मृत्यु के बाद उन मृत्यु मृत-बुद्धि यह का सान्त्व मानम की आश-वचना न हो। मृत्यु यह की विधि मृत्यु के बाद नहीं रहनी या रहती ही है यह कहनजामा मैं जान हूँ। धर्मात् आप यह मने में मान सकते हैं कि मृत्यु के अन्तर मृत्यु मृत-बुद्धि-यह रहन है। यह मानना अन्तर यह धारद हो भी कि जब स्वय धारद की मरणा के लिए वह स्पष्टन अनुपदेय हो। उनसे पहले या अन्याया किसी व रण को मर्या-अन्तर रहन न शूठ सार नहीं है।

मैंने जो कहा उसमें उन मुक्त मन-बुद्धि श्रुतियों की मूल्य व अनन्तता की निम्नता के सम्बन्ध में कुछ मलिन्य नहीं आता है। इनका अन्तर प्रतीत होता है कि मनविषय की यदि क्रियामय होना ही तो वह व्यक्तित्व होने के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अतः व्यक्ति या तो मनु में मगता और जगत् के अंग हो जाता है। उन अनन्तता की वजह से सम्बन्धित ही अनिश्चित होता है परन्तु स्वार्थित्व नहीं है। स्व अनुभव में ही सम्बन्धित नहीं है। स्व और मनविषय की अन्तिम मात्रा से हम उन अन्त में पहुँच जाते हैं जहाँ अर्थ मगता है। माया भी मगता है। हमारे सम्बन्ध और व्यष्टि इन ही मात्राओं के हीन पर ही। अथ और काम बनता है। मनविषय मगता और निम्नता है। व्यष्टि जगत् पर मगता है। ॥

## सत्य का आग्रह

सत्याग्रह

४०३ अब कोई सत्य पूर्ण निरपेक्ष और अन्तिम नहीं है, तब सत्याग्रह का क्या मूल्य और स्थान रह गया आप मानते हैं ?

यह अपूर्ण का अस्त्र

—आग्रह अपूर्ण में ही हो सकता है। अथवा आग्रह के लिए अन्धकार ही नहीं रहता। सिद्ध के लिए सत्याग्रह असिद्ध बनता है। साधक के लिए सत्याग्रह ही मार्ग है।

अपूर्ण के लिए आग्रह इसलिए उचित बनता है कि पूर्ण पाने का और उपाय नहीं है। व्यक्ति अपूर्ण है, जो सत्य के रूप में उसमें प्रतिमासित हुआ है वह भी अपूर्ण ही है। पर अपूर्ण कहकर उसे वह छोड़ नहीं सकता। उसीके सहारे उसे जीना और मरना है। व्यक्तिगत धर्म इसलिए सत्य के उस रूप के प्रति अनन्य आग्रह का ही रह जाता है।

अहिंसा की पीठ पर सत्य अनिवार्य

सच्चा साधक जानेवा कि सत्य अनन्त है। जिस पर आग्रह है सत्य उस जितना ही नहीं है। इसलिए आग्रह रखकर भी सत्याग्रही मर और सविनय रहेगा। जीवन स्वीकार और इनकार इन दोनों तर्कों का रखकर ही चल सकता है। कुछ सना और कुछ छोड़ना पड़ता है। निश्चास के बाद प्रस्थास आता ही है। अर्थात् नियम की सकल जीवन-सामर्थ्य में समित है। अहिंसा में भाव स्वीकार है, जीवन अहिंसा में स्थिति और अन्धकार प्राप्त करना है। स्थिति में गति सत्य के आग्रह में ही प्राप्त होती है। सत्याग्रह के बिना अहिंसा निष्क्रिय है। कर्म सत्याग्रह में न जन्म पाता है। गति और वेग सब वहीं से आता है। अहिंसा के योग से जो होता है सो यह कि उन कर्म में बन्धन नहीं पैदा होता और उस गति से स्थिति

में भग नहीं जाता। लेकिन स्पष्ट रहना चाहिए कि केवल अहिंसा भेग की सारी है, जीवन की समता के लिए सत्य का आग्रह अनिवार्य धर्म होता है। यह मानी सिक्के का सामने का रुक है, उसके बिना अहिंसा मूल्यहीन हो जाती है। अहिंसा मानो उसकी पीठ है कि जिस सत्य को हमें सा समझ रहना चाहिए।

## आग्रह का अधिकार

४०४ जब सभी सत्य अपूर्ण व्यक्तिगत और सार्वजनिक हैं, तब आग्रह का अधिकार व्यक्ति को नहीं रहा? क्योंकि व्यवहार में आग्रह में से ही अमानुषिकता जन्म लेती है।

—बल्कि मैं बोल रहा हूँ कि सत्य की पूरणा की प्राप्ति के लिए व्यक्ति के पास प्राप्त अपूर्ण सत्य के प्रति आग्रह और अग्रिम का ही एक अधिकार रह जाता है। उससे जलम और अधिक कुछ उसका अधिकार हीना ही नहीं है।

## अमानुषिकता अभिनय-प्रसूत

हो आग्रह से संघर्ष निकलता है। यह संघर्ष अमानुषिक पक्ष होता है तो तब जब विषय की धर्म सूर और दृढ़ जाती है। यदि विनम्रता की धर्म के साथ बनें तो अपने आग्रह में ही निकलता हुआ संघर्ष मानवीय ही नहीं, ईश्वरी तब हो जाता है। कर्म-मुक्त बहि धर्म-मुक्त बनता है तो तभी जब एक ओर स धर्म की मर्यादाओं की रक्षा प्रथम और सत्य का पराजय मानो द्वितीय हो जाता है। ऐसे धर्म-मुक्त में से ही सम्पादित निकलती और संसृति सम्पन्न होती है।

४५ बुद्धि ही मेरे विचार में सत्य की पहचानती और पकड़ती है। अब बुद्धि का प्रयोग-सत्य सत्य क्या निश्चित करते हैं?

## सत्य बुद्धि द्वारा अप्राप्त

—नहीं बुद्धि सत्य से चलती और मन तब तक पहुँचती है। सत्य हमारे पास रह जाता है। इसलिए बुद्धि में से कभी अत्याचार का निगम नहीं आता।

मूर्ख के साथ हमारे सम्बन्धों के नियमन के काम बुद्धि जाती है। मध्य मूर्ख नहीं होता, इसीसे बुद्धि नहीं बलि पड़ता है न मत्पात्र की उद्भावना होती है। बुद्धि जब तक है, उपाय होता रहता है। उपाय यह हर जाने है, अर्थात् बुद्धि हार जाती है, तब सत्य में सत्य केनी होती है। जगत् में हरकत जब सम्भावनाओं की बुझावर जगत् में मन्द-हर की सत्य जो होता है, वह मत्पात्र बगलता है। आग्रह दीर्घ में है, अथवा वह मरणाति है। मत्पात्र ही विनम्र होता है, वह ईश्वर



के हाथ में होता है। वहीं अपने को छीप रहा है। वहीं कटा रह नहीं जाता। मानो सत्याग्रही सत्याग्रह में अपने को पाता है, सत्याग्रह उसना 'कटा' नहीं है।

**सत्याग्रह विद्यसातामन्य, स्वय-प्राप्त**

इसलिए सत्याग्रह के साथ चर्च नहीं हो सकती। उसमें लक्ष्यता नहीं हो सकती। सौम्यतर और सौम्यतम की भाषा बुद्धि की है। वह दूसरे की ओर से आ सकती है, स्वयं सत्याग्रही की ओर से उस प्रकार की भाषा के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। मैं मानता हूँ कि सत्याग्रह मनुष्य के पास वह आयुध है जो ईश्वरीय है। उसका समर्थन दुनिया में से किसी तरह भी नहीं आ सकता है। दुनिया की ओर का कोई औचित्य सत्याग्रह को उचित नहीं दिखा सकता। उस प्रकार का सब ठक और सब विचार मानो बाहरी होता है। सत्याग्रह आन्तरिक विषयता में से फूटता है। उसके औचित्य का निर्धारण किसी बाह्य विचार पर निर्भर नहीं हो सकता। परिस्थिति की बीरता से अधिक व्यक्ति की अवस्था और बहिष्कृता में से वह बनता है। स्थिति के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध उस अवस्था में इतना उठ जाता है कि मानो समष्टि के सम्बन्ध में आ मिश्रता हो। मानो व्यक्ति का सपना स्वयं परमेश्वर से ही परिस्थिति से रह ही न गया हो। अर्थात् सत्याग्रह वह कर्म है, जिसका सम्बन्ध साधारण रहता ही नहीं पूटी-तख्ती आदि के दायरे में जाता है। तत्काल और समाज के नैतिक मानों की ओर से उस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। उसका परिणाम तत्काल से अधिक इतिहास के दायरे में जाता है। दूसरे दायरे में कहाया से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अन्तिम रूप से और दो दायरों में यह समझिये कि मनुष्य का जब सब कुछ हार रहा है तब प्रेम में परमात्मा के ह्वाले अपने को छोड़ देने का नाम सत्याग्रह है। प्रेम में छोड़ना माने वह जीवन की विचार रचना और परम जीवन के प्रति आहूत हो रहता।

## बुद्धि और श्रद्धा

४०६. बुद्धि का कार्य-क्षेत्र क्या है? साधारण भाव मानते हैं कि बुद्धि आणविक, सामाजिक और व्यावहारिक क्षेत्रों को दारित है। और यज्ञ है आध्यात्मिक और ईश्वरीय क्षेत्रों को परकृष्ण और आध्यात्मिक क्षेत्रों को। इन क्षेत्रों की कार्य-क्षेत्रों नहीं एक-दूसरे को छोटी और कारती है यह भी स्पष्ट करें।

### बुद्धि और यज्ञ की सीमाएँ

—यज्ञ के प्रति विश्व का सम्बन्ध और आकर्षण बुद्धि विमित होता है। यज्ञ के प्रति यज्ञ का सम्बन्ध और आकर्षण यज्ञविषय। यज्ञ में जब यज्ञ भाव रख पाते हैं तो वहीं भी बुद्धि असंगत हो जाती है। प्रेम एव ही सम्बन्ध का नाम है। प्रेम अन्तर्गत है। प्रेम में पड़ा पापक होता है, यदि उचित नहीं रहता है।

### यज्ञ और मिथ

आध्यात्मिक सामाजिक और व्यावहारिक क्षेत्रों ही यज्ञ साधक हैं। अर्थात् उन क्षेत्रों में हम अपने ही क्षेत्रों की स्थापना करते हैं। यही यज्ञ अब मिथ बन जाते हैं। यज्ञावृत्त होकर आनी सम्पूर्ण के लक्ष्य हो जाते हैं। यही यज्ञ साधक हमारा सम्बन्ध बुद्धि से उठ जाता और आध्यात्मिक का हो जाता है। यही भारत मात्रा। भारतमात्रा के साथ ही प्रयोग का सम्बन्ध नहीं रह जाता वह अविद्यमान बन जाता है। भारत एक बौद्धिक मात्रा है। किन्तु भारत के क्षेत्र में हम उन्नत मिथ बना लेंगे हैं। मिथ के भाव बुद्धि-आधार नहीं बनता आनी यही भारत व्यापार का सम्बन्ध नहीं हो जाता है।

### धारणा, भावामिभूति

प्रत्येक परिमाण का नहीं है। यज्ञावृत्त का भी धारणा-बुद्धि में जब हम धारणा चाहते हैं तो आनी वह मिथ बन जाता है। किन्तु भावामिभूति होकर एक

मामूली कन्या भी हमारे लिए बड़ागुंड से बड़ी और सम्पूर्ण और दिव्य की मूर्ति हो सकती है।

४०७ आम तौर से बुद्धि को विचार प्रवृत्ति की और तर्क और चित्तों को ज्ञान देने वाली अस्तिव, पर तोषण प्रज्ञा ही समझा और कहा जाता है। हमारे अन्तरंग में बुद्धि और भ्रष्टा को क्या अलग-अलग अस्तित्व मिला है? या वे एक ही हैं? त्रिमुखी प्रज्ञा के दो मुख हैं। इनका द्विगुणी से क्या सम्बन्ध है?

त्रिमुखी प्रज्ञा

—इन मन्त्रों की व्याप्ति साम्या में परस्पर स्पष्ट नहीं है। प्रज्ञा अवश्य वह शक्ति है जो बुद्धि और भ्रष्टा दोनों को एक करता है। त्रिमुखी भ्रष्टा व्यवस्था में नहीं पड़ सकती वह सत्य की ओर जाती है। यदि आप सत्किण्ड सत्य की ओर जानेवाली प्रज्ञा का भ्रष्टा वह ही मुझे आपत्ति नहीं है। किन्तु बुद्धि एक की अनेक द्वारा और भ्रष्टा को लण्ड-गुंड द्वारा प्राप्त करना चाहती है। इस सम्बन्ध-विशेष की प्रवृत्ति को भी क्या आप प्रज्ञा ही कहना चाहेंगे? तब प्रज्ञा त्रिभिन्न ही जायगी। इस लिए अच्छा यही है कि बुद्धि और भ्रष्टा इन दो अलग-अलग शक्तियों से काम लें और प्रज्ञा जैन उदात्त व्याप्त शक्तियों का भावोद्बोधन के समय प्रयोग में लायें अधिक भार उन पर न डालें।

देवता और वस्तु

पहले कहा कि मांभ में देवताओं से जानेवाली परस्पर विलयता नहीं होती। अतः मांभ एक भ्रष्टा का क्षेत्र मानना चाहिए। मांभ को जहाँ से बाहर वस्तुता मिलना आरम्भ होती है बुद्धि का व्यापार शुरू हो जाता है। वही से बाहर वस्तुता का आरम्भ होता है। एक समय वा जब मांभ-मेधा ने बाहर में वस्तुता में अधिक देवता को देगा। अतः वस्तु नहीं देवता या वायु-मौल-वदय सब इवम्भ में। अर्थात् जब हमने बाहर के प्रति समस्त मांभ का सम्बन्ध स्थापित किया तो वही वस्तुत्व की मूर्ति नहीं हुई देवत्व की मूर्ति हो गयी। वस्तुत्व बीजिन है देवत्व अधिक। मांभना का सम्बन्ध नियन्त्रण परस्परमांभ और नीतिन है। जहाँ स हय नीतिन भावना को पारणा का और बाहर देवता को वस्तुता का रूप देन है नहीं बुद्धि-व्यवसाय का उपयोग आ जाता है।

सिद्धाई का योग

मानना होगा कि नीतिनना बुद्धि में है। मूर्ति पहन सकती है और पीछे डोरे से मानो

फिर जानी है। बुद्धि के काम का भी इस प्रकार पड़ने छड़नेवाला और फिर एक मूल में जोड़नेवाला माना जा सकता है। किन्तु यह सिद्धाई का योग प्रित्त की गण नहीं करता इसलिए न मचायी होता है न मान्यता का एक बं पाता है।

ज्ञान के लिए द्वैत की बात

बौद्धिक ज्ञान ज्ञान और ज्ञेय को पृथक्ता की गर्न पर ही मधना है। ज्ञाना वर्णा (मन्नेस्ट) रहता है और ज्ञेय को विज्ञेय (मोन्नेस्ट) बनना पड़ता है। इसलिए बौद्धिक ज्ञान दोनों ओर विभिन्न वर्गन की भी सृष्टि करना है निरपेक्ष और मुक्त नहीं होता।

ज्ञान-विज्ञान

भडा में इन्द्रियों का हविष्य पहुँचना है, बोध नहीं पहुँचना। समता स्वाद देती है, कर्न शब्द बना है, चक्षु रूप देती है। इन सबकी मिश्रता पाव क स्तर पर समाज ही जानी है। रूप-रस-गन्ध मानो एक प्रभाव में मग्न जाने हैं। बुद्धि इन सबकी पृथक्ता को सजी हा नहीं। बल्कि उनक भेद में और विभक्त करती है। बुद्धि-विज्ञान एक नीच रंग को समक्ष छान-विचारों में बोधन का दावा रखता है। यों कहिये कि इन्द्रियों प्रयोजन उस मन-बुद्धि ५ नियम है जो रंग इनर को बन्धु का रूप लेकर हम मुग्ध करती हैं। इससे पहले जहाँ भडा का भाव है वहाँ उस रंग इनर में बेवश की जगह बन्धुत्व की स्वायत्ता करन का आग्रह नहीं होता। हम मेर द्वारा हम ज्ञान और विज्ञान का भी अन्तर देख सकते हैं। ज्ञान जो आत्मज्ञा द्वारा धर को बना है और विज्ञान जो अनुज्ञा द्वारा उसका आविष्कार करता है। इन्द्रियों विज्ञान की उत्तरदायक है ज्ञान ज्ञाना हार्दिक अनिन्द्रिय है। बोधनी का स्तर है Intuitive, वही ज्ञान का स्वतन्त्र जालिये।

४०८ पहले इन्द्रियों को बोध होना है या अनुभूति? इस प्रकार बुद्धि प्रमाण है या भडा? अर्थात् हमारे अन्तरंग में बुद्धि हमारी उच्चतम मानसिकता की बाह्य है या भडा?

बोध और अनुभूति

—मार्गी द्वारा हम व्यक्तित्व को मूर्ती में बाँटते हैं। व्यक्तित्व का यह विग्रहण उदासीन होता है। किन्तु ब्रह्म आवेश है। अर्थात् कामबलाक न ज्यादा हमसे भयं नहीं रहना चाहिए।

हमने अब तक या समार्थी का प्रयोग किया है, भँतर और बाहर। भडा की

बोलेता में बुद्धि को भीतर केन्द्र से अधिक बाहर परिधि की ओर मानिये। इन्द्रियाँ बाहर की होती हैं वह न अनुभूति है न बोध है। इन्द्रियाँ मात्र विवरण देती हैं। उन विवरणों के समुच्चय में एकाग्र-बोध कहीं भीतर से आता है। पहली या प्रथमा प्राणी में होती वह केवल प्रतिबिम्बित-बोध है। उसे अनुभूतिपरक कहना चाहिए। उसे संवेगन कहते हैं। जिसे बोध कहा जाय अर्थात् परमपान वह पीछे मानवानी जाति है।

प्रतिबिम्बित-बोध के लिए प्राप्तवत्ता मात्र पर्याप्त है। उसके बाद बोध की सहा के लिए प्राप्य से आय वित्तवत्ता भी आवश्यक होती है। बोध समय-समय अनुभूति को पचाने की क्रिया है। प्रथमतः जो प्राणां न प्राप्त वत्ता है उसमें बोलों तत्त्व सम्मिलित होने हैं आहार और प्रहार। बोध न प्रहार का मात्र विरुद्ध नहीं है। आहार पाने के अनन्तर जो उसको आत्ममात्र करने की प्रक्रिया है उसमें बोध उपस्थित होता है। अर्थात् बोध से पहले अनुभूति है।

४०९. तब क्या आय करना चाहते हैं कि बुद्धि सामाजिक संवेदनाओं का चुनाव करने और उनका नियमन करने का काम करती है ?

## बुद्धि बिम्बु नहीं

—हाँ कुछ-कुछ यह काम करती है। कुछ-कुछ इसलिए कह रहा हूँ कि बुद्धि का यह अधिक नहीं है। स्वयं उनका कार्य बिम्बु-उत्पत्ति है। वस्तु है उन्हें मान निष्ठ संवेदनाएँ बहना चाहिए। उन पर बुद्धि की कोई बिम्बु नहीं होती। होता यह है कि उन संवेदनाओं में जो अहपरक है वह अपेक्षाहीन पूर्ण होता है आरम्भ परक प्रवृत्त होता है। विवेक आरम्भपरक को सहज न होता और अहपरक को माना छोड़ देता है। बिम्बु विवेक की अधीनता में आरम्भ होता है और बुद्धि प्रवृत्त भी हो सकती है। इन तरह बुद्धि का नियमन और चुनाव किसी बिम्बु मात्र न नहीं होता है बल्कि अनुपपन्न मात्र न हुआ करता है। इसलिए यहाँ पर बुद्धि का बिम्बु मानना गलत होगा।

## बिम्बेन्द्र वस्तुवत्ता से प्रमाण

अब हम जानते हैं कि स्वप्न में एककार आता है तबम अनुपपन्न की मानवित्ता उन्मत्त काम भी करने लगती है। अर्थात् बुद्धि विविक्तवर्ती नहीं प्रवृत्त हो जाती है। तब प्रक्रिया यही तब उन्मत्त जाती है कि इन्द्रियाँ सामान्य स्वीकार करने के यत्नाय अन्तर्गत पर सामान्य का हम भर आये। यह चीज व्यक्तिगत में नहीं बाहर न मरी जायता न इन्द्रियों में स्वयं में महसूस है। आरिहन्द यमही यह चीज प्रवृत्त

है। आत्म और अहं के द्वन्द्व में अहं को बहुत से स्वात्म में यह उग्र प्रवेश पाता और आत्म को व्यर्थ कर देता जाम पड़ता है। मुझे प्रतीत होता है कि इस अवस्था में जो बाह्यकर्म प्रमाण बना दीजता है तो उस कारण सबभूत बाह्य को प्रमाण मानने लगे से ज्ञान अवस्था विज्ञान के लिए सुगमता उत्पन्न नहीं होगी। चेतना को माया में यदि हम समझना चाहें तो चित्-केन्द्र के ऊपर वस्तु-वृत्त को महत्त्व देने से बच रहना ही उत्तम हीमा।

४१० उपयोग, बुद्धयोग, आरम्भ विचार, सिद्धांत और विचार आदि प्राप्त क्या बुद्धि के क्षेत्र के ही नहीं हैं ? और भय से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है ? कहाँ ऐसा है कि बुद्धि और भय प्रकाश और छाया की तरह परस्पर पूंछे बुद्धि पड़ते हैं ?

भय अनावरत रूप से सक्रिय

—हम दिन में ठूकान-दफ्तर पर चीज-अमलकर व्यवहार करते और इन तरह कमाई करते हैं। इसलिए छाया समझ लेते हैं कि भय का कहीं प्रान ही नहीं आता। मैं मानता हूँ कि अन्ध-अन्ध रूप से छाया बुद्धि को काम करता हुआ हम देने भी पाये लेकिन अनवरतारूप से जो काम करती है वह भय ही है। दिन के काम को बन्द करके घर लौटते तो किस घरीबे फिर कल के लिए रोप रह जाते और जीते बसते हैं ? हममें भाव उत्पन्न होता तो पाइयेगा कि अवसर के साथ और व्यक्ति के साथ हमारा कितना भी समझ-बूझ का सम्बन्ध रहा हो पर स्वयं जीवन के और समय की निरन्तरता के साथ हमारा पूर्ण-स्वीकृति का ही सम्बन्ध रहा है। वह सम्बन्ध इतना सहज मात्र है कि भय को कभी सक्रिय अनुभव करने की आवश्यकता नहीं आती। किन्तु इस कारण यह समझना कि वह अनुपस्थित या अग्र स्तुत है, जल्दी करना है।

केवल बुद्धि सम्बर्धनीय

केवल बुद्धि सम्बर्धनीय और प्रतिहीन ही जाती है। बुद्धि के साथ भी संभवता के लिए जो अन्तर्धर्म अनिवार्य हैं वह भय ही हैं प्रान्त समझा है। जिनका दान है समा है, वे अमृत बोध ही हमें नहीं देते हैं ? हममें भाव देगे कि अन्तर्धर्म बुद्धि काम नहीं कर रही है बल्कि सहज-आत्म स्वीकृति काम कर रही है। वह प्रान्त सम्बन्ध न हो तो बुद्धि जल नहीं मचनी। अधिपति बल है, जो परम है, हमारा माना हुआ है। जैन आचार्य है समय है मैं है गुप्त है, इत्यादि। इन मायामयों के सम्बन्ध में बुद्धि क प्रतीति की आवश्यकता ही नहीं रहनी। परम्परा द्वारा प्राप्त इन आचार्यों के आधार पर फिर बुद्धि जल नहीं है।

थड़ा हममें तद्गत और अस्तभूत

क्या हमें पता रहता है कि घरती है? पता हमें अपने बसने का हुआ करता है। किन्तु बसना सम्भव ही घरती के बिना नहीं होता। इसलिए अधिकारी यह होता है कि घरती के होने की इतना स्वीकृत ठहरा लिया जाता है कि उसके अस्तम से जिस की आवश्यकता नहीं होती। थड़ा क साम का सत्य यही है कि उसके अस्तम से जिस की आवश्यकता नहीं आती वह हममें इतनी तद्गत और अस्तभूत रहती है। अन्तर्बाई होने जैसे तो पायब यह तक हम आविष्कार कर आय कि हम सब कमल माया-मिथ है। मायताब है इसके अतिरिक्त हमारा होना और कुछ नहीं है। ४११ बुद्धि क्या केवल अहं-प्रेरित ही है? अस्मा से उसका कोई भी सम्भव नहीं?

कुछ भी केवल अहं-प्रेरित नहीं

—केवल अहं प्रेरित कुछ ही नहीं सकता है। ईत में है समस्त सृष्टि है और अहं यदि केवल या सब तो इन्द्र समान ही जाता है। केवल अहं को परमेश्वर कहते हैं ब्रह्मात्मि ही तरह है। बड़ी इन्द्र नहीं है, इसलिए सृष्टि बिचार यदि भी कुछ नहीं है। बिचार दिख तक चलता है और इन्द्र के लिए यदि में ही अहं के साम आरम आ जाता है। अर्थात् सदा और हर बिचार में अहं क साम आरम भी होता है।

बुद्धि द्वारा साधना सम्भव नहीं

४१२ यदि बुद्धि के द्वारा सांसारिक भोग और प्रेम की साधना सम्भव है तो क्या उसके द्वारा ईश्वर की सोच और प्राप्ति सम्भव नहीं है?

—धर्म और प्रेम की एकता क्या सम्भव बुद्धि द्वारा सम्भव है? यदि नहीं है तो ईश्वर की साधना भी सम्भव होनेवाली नहीं है उसके द्वारा जो भोग को प्रेम से अस्तम राखी और उनी धर्म पर हीमी को सिद्ध किया चाहती है।

४१३ पर हमारे समस्त बार्गनिक धर्म बुद्धि की सहायता से ही निर्मित हुए। थड़ा का धर्म उनमें अवेसाहत कम रहा। तब कैसे कहा जाय कि बुद्धि ईश्वर आराधना में अतमर्भ है?

ब्रह्म थड़ा-भूत

—दोन राष्ट्र अज्ञातमर्भ है। धर्म में सीधा दीगता है। जानने हम उनको है जिसको दुष्टियों से पाते नहीं बल्कि अनुमान से बनाते हैं। इसलिए मुननामर्भ

द्वान् श्रुतियों से प्राप्त होता है। वे ज्ञान के अधिक द्रव्य होते हैं। उस द्रव्य की सृष्टि में आपकी स्थिति मिलेगी। केवल द्रव्य नहीं रहने वाला घटक भी रहता है। मानो वही में आपकी स्थिति की एक सम्बन्धता की उत्पत्ति होती है। मानो किसी मशीन द्वारा स्थिति का एक ही द्रव्य में आप आते हैं जैसे रंग के जल के स्तर में आ जाते हैं। यह मरम्मत-मरम्मत की अनुमति को बौद्धिक द्रव्य ज्ञान में नही प्राप्त हो सकती। कठोरता से उस दर्शन तक पहुँचें कि दर्शन की प्रत्यक्षता नहीं नहीं होती। लक्ष्मणान की प्रत्यक्षता होती है। मैं नहीं मान पाता कि इष्टा हुए बिना बाह्यजित ज्ञान जा सकता है। जो बनने हैं वे दर्शन पति नहीं सिद्ध पड़ते-पड़ते हैं।

४१४ एक कवि और विद्वान् ने लिखा है कि बुद्धि जैविक और आत्मिक दोनों बस्तुओं की समान रूप से सेविका है। इस कथन से आप वहाँ तक सहमत हैं?

आत्मिक, जैविक दो नहीं

—आप ठीक हो। लेकिन जब यह कि आत्मिक और जैविक में ही सम्बन्ध बना तक है नहीं। फिर भी जो 'आप ठीक' कहा वह इसलिए कि बुद्धि को के दो कार्य हैं क बिना चल नहीं सकती। आत्मिक ईशान्य है इसलिए जिसे आत्मिक वह वह बुद्धि का प्रक्रिया में उनका सम्बन्ध नहीं रहता।

जीवात्मा में दोनों का समास

पहले ही कह दिया था कि आत्मिक और आत्मिक मूल में ही एक अनिवार्य मति-विग्रह के द्वन्द्व में जड़ित है। जहाँ ईशान्य और एक है उन परमात्मा रहते हैं। उनमें पहले समय में जीवात्मा है। जीवात्मा में जीव और आत्म पहले ही सामानिक बन हुए हैं। इसलिए आपके प्रश्न में एक मूलभूत भ्रमपूर्ण रह जाती है। जीवात्मा को मिला में जो जो निरुक्त है, एक साथ उनका कार्य जैविक और आत्मिक हुए बिना कैसे रहेगा?

लेकिन जैविक और आत्मिक में परस्पर सम्बन्ध में द्रव्य मात्र भी होता है। इनमें न जड़ति अवस्थिति विज्ञान ज्ञान आदि की बाधपूर्ण परिभाषा पाती है। माना प्रथम समय को ज्ञान मिलता है और पति में प्रपति और अवस्थिति का विवेक सम्भव होता है। जैविक में इस आत्मिक में जड़ति और विज्ञान रहते हैं। यह ज्ञान में बुद्धि को आत्मिक ज्ञान में जीव की वही माना जा सकता और आत्मिक रूप में आपकी भी देगा जा सकता है।



## इष्टा और अष्टा

४१५ इष्टा और अष्टा मातस के लिए बुद्धि का क्या उपयोग है? बुद्धि उसको चित्तगी दूर तक राह दिखाती है और संयमित नियमित करती है?

—इष्टा और अष्टा की आपने साथ और एक कोष्ठक में रखा है। सब यह कि इष्टा कर्ता नहीं होता मोक्षता भी नहीं होता। अष्टा को इष्टा के अतिरिक्त कर्ता और मोक्षता भी युगपत् होना पड़ता है। इष्टा वासनाहीन है, वेदनाहीन भी है। वासना और वेदना से मुक्त बनकर अष्टा की स्थिति ही नहीं रह जाती।

## बुद्धि राह नहीं दिखाती

राह दिखानेवाली बुद्धि नहीं है। बीसता जिसे है, यदि उसका नाम बुद्धि ही तो फिर वह विरसेयक और व्यवच्छेद में न पड़े। बीसता हमकी सीमा है। उसको जब नाम और शब्द देकर दूसरी संज्ञाओं से पुनः कप्टे हैं, तब बुद्धि का प्रयोग आता है। बुद्धि को नियोजित करनेवाला न ही तो बुद्धि उत्कर्ष की साधिका नहीं होती बर्नात् अनेक की ओर नहीं जाती। वेद में भरमान समीची है।

## सृष्टि के लिए प्राण-तत्त्व की संगति

दर्शन की आत्मसात् और वास्तविक करने में दार्शनिक बुद्धि का उपयोग करता है। किन्तु दर्शन सीमा और सहज होता है, बुद्धि के द्वारा होने की आवश्यकता नहीं आती। सृष्टि की समता निर्बुद्धि प्राणियों में भी देखी जाती है। आवश्यक नहीं है कि जो बुद्धिमती समीची जाती है उसका पुत्र स्वल्प ही हो जब कि अपक्व प्राण्या के स्वल्प और मुद्गु मन्थान हो सकती है। अर्थात् सुबग सृष्टि के लिए बुद्धि से अधिक किसी और प्राण-तत्त्व की संगति बिना है। माहिर्य रचना अथवा बीजा निरु आदिपुत्रि में बुद्धि का उपयोग है अवश्य लेकिन वह अमिधर्मना और प्रेयका के निमित्त से है, अथवा गर्भोत्पत्ति में वह उत्पत्ती अनिवार्य नहीं है।

## बुद्धि और इन्द्रियुपपन्न

४१६ बुद्धि और इन्द्रियुपपन्न में क्या वैज्ञानिक सम्बन्ध है? इनमें से कौन चित्तका अंग और कौन चित्तका पोषक है? इन्द्रियुपपन्न की उत्पत्ति आप हमारे व्यक्तित्व में चित्त अंग के मानते हैं?

## प्रत्यभिज्ञान हममें गमित

—यह मानना है कि प्रत्यभिज्ञान हममें गमित है। अर्ह भाव का परदा रहने

मे वह उच्च और प्रकाश में नहीं आता। जब हम किसी वास्तव मूल को सर्वथा बिना रहने हैं मानी मूल हो जाने हैं, वास्तव हमने मीमा नहीं रखा पर प्रकृत भी नहीं होना और वास्तव वास्तव में रहना है। तब सम्बुद्धि काम कर जाती है। सम्बुद्धि में प्राप्त ज्ञान के अधिक दर्शन होता है। उसमें तर्क प्रक्रिया आती नहीं होती। यह इच्छावान होता है न इच्छावान होता है। सम्बुद्धि माना उच्च में भीमे सम्बन्ध की स्थापना है। इस प्रकार उच्च उच्च उच्च की जब हम सम्बुद्धि का कर पहुँचाते हैं तब उसका काम आता है जिसको बुद्धि का इच्छावान कहा जाता है।

### उपलब्धि सम्बुद्धि से ही सम्भव

वह मूल प्रकृत वैज्ञानिक म या बलि निष्कृत मुमुक्षु या जो मूल के हाथ में मिलने ही एकदम चमकते हो रहा था। उस समय मार्ग के मूल के मिलने की देखा उसका भीतर ग्योति की धारावा-नी निचली चली गयी और वह हुनामता में अचानक हो रहा। इस समय की उपलब्धि को बाव में मुमुक्षुवाच्य के विज्ञान का कर मिला। उस विज्ञान के प्रतिपाद में बुद्धि काम आयी किन्तु उपलब्धि में जो काम मानी उसे बुद्धि नहीं सम्बुद्धि कहा जाहिए।

### असङ्ग भाव सङ्ग-बोध

पहले ही हमने माना है कि समष्टि में हम सम्भव हैं उसके सम्भव हैं। इन्हीं हाथ समष्टि हमको प्राप्त नहीं ही पाती है। समष्टि असङ्ग है इन्हीं हमारे सङ्ग सम्भव मानात्वा देती है। इस प्रकार मूल के हाथ हम असङ्ग मूल में मारी बलि माना सम्बुद्धि के हाथ में जुड़ने हैं। समष्टि हमारे भीतर सम्भव के रूप में बिबिध या अवास्तव नहीं है जो मारी पर इन्हीं के भीमिध सम्भव-बोध के कारण वह सम्भव बन आता है। भीतर का असङ्ग भाव और बाहर का सङ्ग बोध मानो ये सम्भव सम्भव पात और विभक्त देता करने हैं। सम्भव म विभक्त सम्भव है उसको सम्बुद्धि वह मकते हैं। इन्हीं का उच्चमों के भीम हाथ जो हमें सम्बुद्धि देता है उस बुद्धि कहिये।

### सम्बुद्धि प्राथमिक, बुद्धि नैमित्तिक

मंत्र के सम्भव और वास्तव का सम्भव म विभक्त भी है मारी। इन्हीं किसीको सम्भव-विभक्त उच्चम का ज्ञान मारी उच्चम। वास्तव की बुद्धि में सम्भव-विभक्त विभक्त का सम्भव माना जा सकता और इस बुद्धि म सम्बुद्धि की प्राथमिक और बुद्धि

को वैमिषिक कहा जा सकता है। सम्बुद्धि स्वप्रतिष्ठ और स्वयम्भव है। बुद्धि वस्तु-सापेक्ष होती है।

## बुद्धि की प्रेरणा

४१७. बुद्धि किसरी प्रेरणा से कार्य करती है ?

—बुद्धि के साथ हमने मन शब्द का उपयोग किया है। उससे जाने पित्त भी कहा है। उसके मूल में अहं को माना है। अहं से निबद्ध आत्म की भी स्वीकार है। इसी कम से बुद्धि की मिलनेवाली प्रेरणा का उदय मान लीजिये।

## बुद्धि का स्थान निश्चय

४१८. बुद्धि का मानव-व्यक्तित्व में कहाँ क्या स्थान आप निश्चित करते हैं। यह ऊपर के उत्तर से कुछ स्पष्ट नहीं हो पाया। आत्म की सम्प्रतिष्ठा ने जो बुद्धि का असाधारण महत्त्व प्रभाव कर दिया है, उसे देखते हुए उसका ठीक स्थान-निर्णय को आवश्यक लगता है।

## विभेद-दृष्टि ही बुद्धि

—बुद्धि इन्द्रियों द्वारा अहं का इतर के साथ सम्बन्ध बनाने की समझ देती है। वस्तु और व्यक्ति को असंग-अलग हम बुद्धि द्वारा पहचानते हैं। बच्चा असंग-अलग नहीं पहचान पाता बचेर में जो यह समझ कम होती है। बुद्धि इस दृष्टि वह है जो हमें विज्ञान की वृत्ति और दृष्टि देती है। विज्ञान अनिवार्यता से भेदपरक होता है। हम बिना बुद्धि के भेद में अवसाहम नहीं कर सकते। इसलिए जगत् बोध और जगदनुसन्धान के लिए बुद्धि ही एक उपाय है। उसका कम महत्त्व नहीं है। बल्कि समार की दृष्टि से उन महत्त्व की बढ़कर भी माना जा सकता है।

## बुद्धि के लिए एकत्रय अयम

चिन्तु बुद्धि मानात्म में छुटकारा नहीं कर सकती। जगत् की धोख हमें नहीं से जा सकती। पिण्ड को गण्ड में बाँट सकती है पर गण्ड से पिण्ड और पिण्ड से ब्रह्माण्ड की ओर न जानेवाला समझा को बुद्धि नहीं सम्बुद्धि रहना चाहिए। या चारों ती उन भेदा कहिये। सम्बन्ध बन्धन देने हैं मानात्म के माय के सम्बन्ध माना बन्धनों की सृष्टि करते हैं। यदि इनके बीच हमें युक्ति की आवश्यकता ही ती सम्बन्धों की मननता का कटना आवश्यक हो जाता है। समझा बन्धन सम्बन्ध होना नहीं है बल्कि सम्बन्ध की अगण्यता है। इसी अगण्य सम्बन्ध की प्रीति

कहते हैं। यह किसी प्रकार इन्द्रियादिन बुद्धि से नहीं प्राप्त हो सकती। अन्तरा-  
के माय सम्बन्ध मायायिन ही हो सकता है। परम और अन्तरा माय में जो एक  
है उसे परमेश्वर कहते हैं। बुद्धि के लिए वह सदा सर्वदा अग्रग और अग्रिम ही  
रहेगा। कारण यदि जिस पूर्वकत्व को प्रतिक्षण यहबलनी गृह्य करमा काम  
करती है उस दृष्टार्थ में वह किसी तरह हो नहीं सकती। एकल उसक लिए नहीं।  
वास्तविक हो नहीं सकता। इसलिए अज्ञान का साथ बुद्धि के लिए अग्रग और  
बुद्धि का साथ अज्ञान के लिए अग्रिम बन जाता है। इस अन्तरा के अग्रग  
की वस्तु नहीं है क्योंकि यही अज्ञान है जिसके सहारे मनुष्य उठता और  
पुनरावृत्ति करता है।

### बुद्धि का दावा अज्ञान

आज की मध्यम बुद्धि को अधिक महत्त्व देने लगती है नहीं लेकिन तब उसका  
यह मानना भ्रम है। क्योंकि किसी बड़ साक्षिप्राप्त या व्यवस्थापक का काम दान  
(Vision) के बिना नहीं चलता है। दर्शन के बिना जिस नहीं है तब बुद्धि अपने  
निर्देशन या विनियोजन का काम कर पाती है। अर्थात् बुद्धि का दावा अज्ञान की  
बड़ा हो यह हम निश्चय मान सकते हैं कि उसके तब में अज्ञान काम कर रही है।  
और जहाँ तब में वह नहीं है उस बुद्धि का कोई सब भी नहीं कर पाता है। वह  
प्रमत्त बुद्धि निर्माण नहीं करती है केवल विनाश और अज्ञान ही करती है। ●



## भाव-विभाव

४१९. क्रोध भय और सोम भाव भाव बुद्धि को बार और वति धैरे बीच पड़ते हैं इससे क्या यह नहीं सिद्ध होता कि बुद्धि भाव के इसारे पर ही काम करती है ?

बुद्धि भाव के हाथ में

—यह तो है ही कि बुद्धि भाव के सकेत पर काम करती है। लेकिन क्रोध भय सोम भाव से अधिक विभाव है। विभाव मूलभाव की प्रतिक्रिया होते हैं इसलिए उनमें भाव की सक्रिय भी होती है। यह तर्क-संगत ही है कि बुद्धि का उनसे घाट मिले। अमल में बुद्धि कैसी की तरह है। किसीके हाथ चलाते हैं तब वह काम करती है। यों कहिये कि भाव के हाथों में होकर ही बुद्धि जाने बड़ पाती है।

भाव विभाव

मूल भाव और विभाव में अन्तर केवल इतना है कि भाव जाने-अनजाने अचानकता के प्रति होता है और विभाव अचानक सीमितता के प्रति। इसलिए विभाव अधिक बाधकारहीन मकरता है। तर्कों की मकीबता के कारण उसमें बेय कुछ स्वरित होना है। इसलिए समीचीन न अधिक तान उसमें दोमता है। विभाव में राग होना है भाव में अनुराग। राग में यादगपन और विनविशयन होता है अनुराग उससे स्वच्छ है। इन गाढ़ता और सेहता न घायर विभाव कुछ अधिक ठोस भी जान गान ही लेकिन उनी कारण अग्यायी भी होते हैं।

४२०. एक अमरीकन का सेल बेने पड़ा था, जिसमें उन्होंने सिद्ध किया था कि हमारी वर्तमान वैज्ञानिक सम्प्रदाय का मूल प्रेरक और पोषक पुष्ट है। पुष्ट में भय, क्रोध और लोभ तीनों भाव मिलते हैं। क्या आप अनुरोध बिचार से सहमत हैं ? यह तो हम स्पष्ट देख रहे हैं कि असुसमित विभाव में से निकली और उसका भाव परक प्रयोग करते ही यह बाध में लोभा गया और तबनुकूल उसका नियोजन अब आज किया जा रहा है जब कि उसकी सहायता से भयंकरतम सारन बहुत पहले ही बन चुके हैं।

## स्व-पर का युद्ध मुक्त

—युद्ध आज की सभ्यता का प्रकट बीर पोषक है, यह मैं मान सकता हूँ। लेकिन युद्ध जा इसपर बीर-बीम बरसों बाद होता रहा है और अपने हीन रूप में सब भी मौजूद है, परे लिए उनका विचारणीय नहीं है। विचारणीय वह युद्ध है जो स्वयं विचार के मूक में है। अर्थात् स्व-पर का युद्ध। जब हम स्वयं की भाषा में प्रतिक्रिया को देखते और साधना को भी बड़ा परिभाषा देते हैं तो युद्ध साधन में नहीं रह जाता साध्य में पहुँच जाता है। तब वह आदि तत्त्व के रूप में जीवन्-व्यापी हो जाता है। यह युद्ध है जिससे पहलू लड़ना है फिर बाहरी युद्ध तो अनावश्यक हमें स्वयं और बर्बर पीछे आयेगा।

## प्रगति सदा अभाविक

अनुसक्ति विभाव में स निश्चयी है यह मानना होगा। बल्कि मुझे यह प्रतीत होता है कि सब प्रगति और प्रगति का अर्थका कदम सदा वैभाविक और राजसिक प्रकृति में आये बड़ा है। अन्त में जब चक्का आता है तब स्तूर्ति और प्रेरणा निकलती है। इन्हीं राजसिक क्रियायाँ हैं नास्तिक म्यर यह क्रियायाँ राजसिक की ही वनों प्राप्त हुई यह प्रसन्न प्रसर ही जाता है। किन्तु वैभाविक और राजसिक आगे बढ़ने हुए चले हैं यह मान लेना होगा।

## विभाव फारबख

हॉकी के खेल में फारबख आगे बढ़ने हुए आते हैं लविन मज्जन् फारबख न वा सबसे अधिक नहीं होता महत्त्व उनका होता है जो बीक और फन्-बीक बड़े आते हैं। आशय यह कि व्यक्तिगत की जीना में विभाव फारबख अत्यन्त है। किन्तु विभाव कहकर उनको लेय भाव नहीं मान लेना चाहिए। यदि अंगुष्ठ के मर्म से वे जुड़ आते हैं तो अर्न्त में उदाहरण पड़ जाती है।

## अहिंसा से पुष्ट युद्ध

युद्ध नहीं हो जाता है अगर एक ओर से वह प्रतिमान बल्लू जाता है। अहिंसा की स्वीकार कर ले तो सम्पूर्ण युद्ध का पोषण देनी हुई भी बिना अपने में नहीं पड़ती। यों कहिये कि अगम युद्ध समन्वित है जिसमें नृ-अनृ आत्म-अमानव-राजव का युद्ध होता है। इसमें जीवन के उत्कर्ष की निधि ही है और इसी समय में वे मनुष्य का विज्ञान निद होता आया है। यह युद्ध फिर अहिंसकों में नहीं होता ब उनसे निर अन्ध-अन्ध की योग्यता कोई बड़ी सेवाएँ की जाती है।

वह समाज व्याप्त हो जाता है और प्रकृत कण से विरोधी-शक्तियों में अनायास और अनवरत घटित होता है। समाज के साथ वह प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्गत में भी मचा रहता और व्यक्ति उस आग में से बचता हुआ दमकता जाता है।

### जैविक आत्मिक से अविरोधी

अनु-मूल से पहले स्टाफ-युव लोह-युव लाल-युव पाषाण-युग आदि जिस सोपानों का भी विकास कम में आधुनिक हुआ जान पड़ेगा कि वह उन विभागों के अतीत ही हुआ। पाषाण-युग के उपयोग की मूल मनुष्य को सिंकार की आवश्यकता में वह पहले हुई होगी बाद में ही वह फिर दूसरे कार्यों में आयी होगी। सारी उत्पत्ति शुरू में जैविक और स्वरुप की आवश्यकता में से निकली। बाद में ही वह संस्कृति के लिए उपयोगी हो सकी। आविष्कार की अपनी आवश्यकता है और वह जैविक आवश्यकता। किन्तु जैविक आवश्यकता अनिवार्य रूप से आत्मिक की विरोधी नहीं होती। बसते कि उस उत्पत्ति के कुछ में कारखाने का नामने और सहारनेवाले अपनी जगह पर मूल्यों के सम्बन्ध में चौकसे बैठते और पूछ-बैचते भी हों। समाज में इस प्रकार के तीव्रता अपि और सन्त होते ही आवि है जो कारखाने होने की चेष्टा में नहीं पड़ते हैं न किसी जैविक उत्पत्ति की ही व्यवस्था उनमें दोस्तगी है। मानी के घम से उत्पन्न अनकर चलने में कृताय है और जीवन-मृत्यु की रक्षा उनका काम है। मुझ किसलिए? घायव इस प्रकार के तीव्रता द्वारा व्यक्त और प्रतिष्ठ संस्कृति मूल्यों की रक्षा के लिए ही न?

### मुझ अनिवार्य, पर वह घममुझ हो

एक बात और ध्यान देने योग्य है। मुझ निर्णय कौन करता है? वे अनन्तता जो पक्ष की घोषणा करते हैं मूल्य नहीं होते वे आचरणवादी हुआ करते हैं। आचरण के अनुष्ठान को आज या मैं या कोई मल्ल नहीं कह सकते। उस आचरण के घेन में जिसको मुझ रचने और करने का साहज होता है वे निरुद्धे या निरुद्ध नहीं माने जा सकते। अर्थात् मुझ की बाधकता के पीछे भी जो एक सत्यता है उसको वृष्टि से जांच नहीं करना चाहिए। केवल मायकतावाद मुझ से पराधर्म्य होना समर्थनीय नहीं मान लेना चाहिए। यह बैठनेवाला निर्णय इसी कारण कि वह नहीं लड़ता है पीछा में बाढ़कर नहीं हो जाता। अर्थात् मुझ सभी अगाध बन सकता है जब उसने कुछ सत्यता समझ ही और उत्तमतर पराक्रम वह प्रस्तुत कर सके। इस मुझ रूप में जैसे जैसे विविधता मन में गड़ी कर लेते हैं और उनके और न वर्तमान सम्पत्ता की हीन और भयकर बना दिया करते हैं। यह आचरण छाड़नी चाहिए।

पसिष्टिम्मा या दान्तिवाय ने कोई बड़ा बड़ा नमूना आरम्भी का हमें नहीं दे दिया है। इसलिए प्रश्न के मूख में जाना हीगा और वहाँ जाकर जो हाथ लगाता है वह यह कि कुछ अनिवार्य है। सामान्य जीवन और इतिहास की प्रक्रिया का नाम है। लेकिन यह भी कि संस्कृति और मानव का प्रकट और उच्छेद कुछ से संबंध तो तब जब वह धर्मयुद्ध होना अर्थात् ऐश्वर्य की भ्रष्टा में ही जब इन्द्रात्मक जगत् में हम धर्म के भेद और भेद हुए बल सफ़ाई। जो ऊपर कहा गया है उनका सामान्य केवल यह कि कर्म इन्द्रात्मक हो सकता है। हीगा ही किन्तु यथा एकात्मक हो तो इन्द्रात्मक प्रक्रिया घुम बनती है। अन्यथा स्वयं सामान्य बनकर इन्द्र हमका काट-छँटकर रख देगा उठा नहीं पायेगा।

### सम्बुद्धि परमात्मोन्मुख

४२१ सम्बुद्धि को क्या आप अनिवार्य रूप से सामान्य और ईश्वर प्रदत्त मान पायेंगे ?

—ईश्वर प्रदत्त या तो मैं सब कुछ जानूँगा या कुछ भी नहीं मान सकूँगा। ईश्वर के पास देने को हाथ नहीं होते। यदि वह कुछ है तो दे क्या और दिते सकता है। हम कर्म में संचरित जगत् ईश्वरभय है और जो भी गुन-अगुन भ्रष्टा-गुन है सब उसमें से हैं।

सम्बुद्धि ईश्वर प्रदत्त हो और बुद्धि अग्न प्रदत्त यह कर्म हो सकता है। हाँ यह मानना हीगा कि सम्बुद्धि द्वारा हमारी अविश्वसनीयता का जो बाहर अग्न के सामने साम सामान्य स्थापित होता है वह अनामान आत्मोन्मुख या परमात्मोन्मुख हो पाता है। बुद्धि उन तत्त्व एकीभूत नहीं हो पाती वह पृथक्-पृथक् के प्रति उन्मुख होती है इसलिए वह अविश्वसनीय जगत्-परमाणु बीगती है। ●



मोडरेट २४७ २४८ ३५७  
 ग्रन्थि ५६०  
 ग्रामाद २८८  
 ग्राम-स्वाध्याय ३३७  
 ग्रामोद्योग ३३२  
 ग्रीक-सम्प्रदाय १०७

गुणा ५९३  
 गेरे से बाहर ५१६

गविज का १२५ १२६  
 गंद १६०  
 गात्र एन लाह ३९२ ३९३  
 गाम्पर्वर्ण्य ३१७

गार्वाक १२१  
 गिद् ०३ ५४३  
 गिन्-सेन् ६११  
 गिद्-नर ९३ ५९७  
 गित्वाय ७०

गिद्-मुद्रि ५९८  
 गिद् व्यक्ति ९३ ९४  
 गिन्-मुद्रि ४३  
 गित ५४१ ५६२ ६०७ ६१६  
 गितल २५६ ५३३

गित-विक्रम ५५४  
 गित्यय ५५२  
 गीत १०९ ११३ १४५ १४६ १६२  
 २२९ २८३ २८५ २८६ ३०९  
 ३६३ ३७३ ३८६ ३९३ ३९४  
 ४०८

गुनाह २५६  
 गुनाह-व्यक्ति २५६  
 गेनन ७० ५२९ ५३६  
 गेनना ५४ ५४४ ५४५ ५४६ ५४७  
 ५४८ ६१५

गेनना बहुजन ५५  
 गेनना व्यक्ति ५५  
 गप ५३४  
 गन्तु-गन्त ५२७

गगत-व्यवस्था १४०  
 गमसर्ग २८० २९० २९१ ४४०  
 गनोत्साह १०६  
 गमना ५४०

गयप्रकाशनायक २७९ २९०  
 गर्मनी १५९ १७८ ४३०  
 ग्वाइस्ट स्टाक कम्पनी १९४ १९५  
 गातिगाह २४९

गातीय राष्ट्राद २३८  
 गापान ४७६  
 गापानी भाषा ४७६  
 जिज्ञासा ५७६

जिज्ञा २४४ ४४०  
 जीव ६ १

जीवन-मान १७९  
 जीवन-स्तर ४०६  
 जीवात्म ५३०  
 जीवात्मा ४५ ६१३  
 जीन २३० २३१ २३७ ३२०  
 जीनेत्र २ ७

जीविक (एगिस्टोस) २१९ ६१३  
 ६

टरिमीन ४०६  
 टायमबी १५९  
 'टु एगिस्ट' ('टु लिब') २१३  
 'टु-मेगन' ४३९

टु-मेडी ५१० ५६२  
 टु-मूनिमन आन्धोलम १४८

४

डाइरेक्ट इलेक्शन २६८  
 डाक्टर ४८९

डाक्टर ४८८, ४९  
 डापीजिनि ८९ ९०  
 डिक्टेटरीय ९८ २९७  
 'डिक्मार्शन बाउ दि वेस्ट' १५९  
 डिमोनेटिक २७८ ३२४  
 डिमोनेगी २५९ २६३  
 डिमोनेस १८२  
 डिमोनेसम १८२

तटस्थ ३९६, ३९७  
 तटस्थता ३९७ ४ • ४०१  
 तत्त्ववाद ३३३  
 तन्त्रवाद ९९  
 तन्त्राभा ५४५  
 तन्त्रिक प्रामा २९८  
 तन्त्रिक भाषा ३०२  
 तन्त्रमहल २७५  
 तन्त्र-मुग ३२०  
 तन्त्रालय २१७ २२७, ५१८, ५७८ ५७९  
 तन्त्रालय ११३ २२७, ३९३ ३९४  
 तीसरा भाषा (वर्ष माहमेगन) २१४  
 तुलसीदास ४९३ ४९७  
 तिसर २९४

तन्त्र भाषा ५४१ ५४२ ६१०  
 तन्त्र नीतिक ७९, ८०  
 तन्त्रवा ७६ ३६८  
 तन्त्रात्मक ३२१  
 तन्त्रात्मकता ५३६, ५७१  
 तन्त्रात्मक नीतिकवाद १०९  
 तन्त्रात्मक-रम ५७५  
 तन्त्रात्मक विचार ३०१  
 तिसरी विचारपुत्र २ •  
 तीव्र ४३ ४६, ६३ ५१० ५३८ ५४७,  
 ५५५, ६०३ ६१२  
 तीव्र भाषा ५४३  
 तीव्रता ४६  
 तीव्रता ७५, १२१

दक्षिण २८२  
 दक्षिण-भाग २८२  
 दक्षिणभागी ३७२  
 दर्शन ६१२ ६१४ ६१७  
 दर्शनवाद १३३  
 दर्शन हिन्दू ७  
 दलवाद २८१  
 दाम्पत्य प्रेम १३६  
 दासोवस्की ११६, २१२ २२७, ५१८  
 दि महर हंस २०९  
 दिग्ग १८४ २६५, २९४ ४३४  
 दिवास्वप्न ५७८, ५७९  
 दिने इ ही २१३ २३६  
 द्वय ६१४  
 द्वैत-मानव-मुग ६५  
 द्वैत मान ५७८  
 द्वैतिक ५४६  
 द्वैतवाद ६१०  
 द्वितीयाध्या ५५३  
 द्वय ६३ ६४ ५१० ५२७ ५२८,  
 ५३६-५३८, ५५३ ५६७ ५६८  
 ५७७ ५८ ५८१ ५९४ ६११  
 ६१२, ६३७  
 द्वयवाद ४४३

धर्म ११०  
 धर्म-निरपेक्षता (मिथुनरिगम) ४३८,  
 ४३९  
 धर्मनीति १९३ १९९  
 धर्मवाद १८१  
 धर्मलोक १३३  
 धारा-भाषा ४३६

भाग ३६४  
 भाषा ३६४  
 भाषा-मान ३६३  
 भाषा-जाति ३६२ ३६३  
 भाषा-आत्म ३६३  
 भाषा-राम ३६२  
 भाषा जर्मनी १४७  
 भाषा-वर्णन ४३६  
 भाषा ३३५  
 भाषा-भाषा वा विचार १३६  
 भाषा-भाषा ५०  
 निष्ठा ५८७  
 निरपेक्ष भाषा १४३  
 निष्ठा ५५०  
 निष्ठा-गुण ४०१  
 निष्ठा ५५३  
 निष्ठा-मान २६१

निर्वाचन-पद्धति २६५

निसेटिटी बाज बी मंदर आफ इन्वेष्टमन्ट  
१५७

निस्वस्वता केपर्ट १०३  
४०१

मीतिबा ७७ १८१

मेटी ४०१

मेति ४४

मेनोलियम १२५, ५४५

मेडक कबाहराला ४९, १५३ १६१  
२५, २३२ २४४ २५४ २५९

२६० २७४ २७५ २७७ २७८

२७९ २८० २८१ २८६-२८९

३०२, ३०३ ३१४-३१६ ३५७

३५८ ३६८ ३६९ ३७४ ३८९

३९०-३९३ ३९५-३९९ ४११

४१२ ४३९ ५८६

मैलिक १३९

मोमापामी ४३९

मोकरनाही २९७ ४३४

म्युटन ३९७ ६१५

म्युटिकिटी ३९७ ४०३ ४४

प

पंचवाजिकी योजनाएँ २०२, ३८५

३८७ ४१४ ४२९

पंचजील ११३ ११४ १५० ३९३

३९४-३९६

पंचायत-पद्धति ३५९

पंचायत पत्र ३६०

पंचाब २४७ २९९

पंचाबी २९२ २९४ २९९, ३००

पंचाबी मुद्रा २९८, २९९

पंत ५०४

पटेल सरकार २४४ २५२ २५३

पट्टिक सेक्टर ३७० ४१३ ४९३

पट्टिक हल ४७३ ४७४

पट ६२ ५३१ ५३७ ६३९, ६४०

परमाण्व ५६० ६०१ ६२२

परमाण्व गति ६२३

परमात्मा ४५, ५३ ५२९, ५३० ५३८, ६१३

परमेश्वर २२८ २३८

परलोक ५७८

परिग्रह १३४

परिवार १३७

परिवार-अपवस्था १३७

परिवार-सम्पत्ति १३७

परीक्षा-अपामी ४६८ ४८४

पवित्री शिक्षा-पद्धति ४७४

पाक ६४८

पाकिस्तान २२९ २३८ २४१ २४२, २४८ २५३ २५४ २९० ३०३, ३६३ ३६८, ३८३

पाकिस्तानी ३६३

पाकिस्तान पूर्वी ३८२

पाठ्य क्रम ४६७ ४६८, ४७१, ४७६

पाठ्य-अपामी ४८४

पाप और प्रकाश ५१८

पावर-गालिटिक्स २५८

पारमाधिक मज्जा १९३

पारमाधिक अर्थनीति २०

पारमाधिक १९६

पारिभाषिक शब्दावली ४७७ ४७८

पारिवारिक नीतिकथा १३७ १४० १४५, ५१९ ५२

पाकिपामेंट २६१ ३५२

पाकिपामेंटरी डिमोनेस्ट्री १११

पाकिपामेंटरी-पद्धति २५५

पादशासन-साहित्य २११

पापाय-मुम ६२०

पिण्ड १०४ ६४२

पुनर्गम्य ५५, ६०१ ६०२

पुराणा ५०६ ५७८ ५७९

पुराण-परिचय ५०८

पुराण-पुस्तक ५५३

पुस्तिका १६०

पुस्तिका ११७ ११८

पुस्तिका ५९, ९७ ११० ११४ ३४६, ४२४ ४२६

पूनीभावी व्यवस्था १११  
पूर्ण मयवत्ता ५८२  
पूर्ण-योग (Complete Integration  
Of Personality) १२७

पूर्व-जन्म ६६-६८ ६०१

पूर्वी कर्मणी ४०१

पेरुम १९३

पेंसन ईश्वरी ५६२

पैमान दीतानी ५६२

पैसिफिज्म ६२१

पोलिटिक्ल काण्डमनेस ३३७

पानिटिक्ल कैरियर २६१

प्रकृष्ट ३००

प्रयतिवाद २४९

प्रजातन्त्र ९७ १०९

प्रजातान्त्रिक राज्य २७१

प्रजा-सोशलिस्ट २७९

प्रजा-समाजवादी हल २१०

प्रज्ञा ६०८

प्रतिप्रसारक ११४

प्रवित्त ५५१

प्रतिमा ६६-६८ ७०-७२ ५४०  
५४१ ५६९

प्रतिपक्षि ५४५

प्रत्यभिमान ६१४

प्रमानमन्त्री २५९

प्रभाव-शेखराय १८७

प्रयोगवाद ५०५

प्रयोगवादी कवि ५०४

प्रसामन २५७

प्रारंभ ४११

प्रारंभित क्षेत्र १७ ४९१

प्रारुत ५०८

प्रार्थिहासिक १६४ २२४

प्राचीन गिद्या-मञ्जरी ४६२

प्राय ५१०

प्राय-वेतना ५१२

प्राय-ननु ५१२

प्राय-विद्या ५१८

प्रागिष्ट ५४६

प्रेत ६११

प्रेम ४६, ८१ ८४ १४४ ५३५ ५१८,  
५९१ ६०७ ६१२ ६१४ ६४८

प्रमथन २०७

प्रेय ६१२

प्रोक्तोरियस ५९

क

'फार इफर' २१५, २१६

कारली १०४

कारेन एक्स्चन्ज ४०५ ४२८

कांस १८४ १९९

कासी मारिया १७२

काय ४५२ ५११ ५५९, ५८० ५८१

की माट २१८

कीकन २२४

ख

खपला १०५ ४७७ ४९६

खनपने (एक्स्प्लुसिविज्म) ७४९

खटर स्टेट ३९१ ३९५

खम्बाई ४८० ५८९

खर्मा ३९२

खर्गिर्मन ५२९

खुरस २७०

खुरसवार २६१ २६९

खुरसीय पञ्चनि २६८

खुरसीय प्रजातन्त्र-न्यायम्मा ३१७

खुरसीय प्रजातान्त्रिक सामन प्रनाकी  
२१०

खुरस-वा (Conformism) ९५

खीमर ५९१

खज ३०५

'खर्न नैरेमो' ११६

खर्न ५८१ ५०५, ६१५, ६४१ ६४४  
६४५, ६४८

खर्न ५५७ ६१२ ६११ ६४१

६४४ ६४५, ६४६

खर्न २२९, २३२

खर्नार ६४६

खर्नार ४८, ६१ ७१ ०३ ८१ ४  
५९५, ५७६, ६४२

# समय बीर हय

५५१ ५५२ ५५३ ५५४ ५५५ ५५६ ५५७ ५५८ ५५९ ५६०

मैटल ५३

मैबिली ३०५

मैबिलीमरण ५०९

मैबुल ५५१

मैसोकिज्म (Masochism) ८१ ५५५

६२८

मोहम्मद साहब ६७ ३७६ ३७८

म्युबुल एपीमेट १४१

य

यबार्थ ५११-५१५

यबार्थबाद ५१६

यबार्थबादी ५१२

युद्धबाद २८१

युनिफार्मेटी २९६

युनिटी २९६

युनियनबाद ३१४

युनेस्को ४४९

यूनो (यू एन०) १५०

यूनो (यूनाइटेड नेशन्स) २५४ ३८४

३९७ ३९९

यौव ५८६ ५८७ ६३२

यौव-साधन ५२९

यौरव १५८ १६४ १६६ २७७ ३९५

र

रत्न-मुद्र (होट-बार) ३९७

रदुबीट, डाक्टर ४८१

रचना-नित्य ५०१

रक्षेत्रमा ४९६

रस ५५९ ५९० ५९१ ६३६

रसना ५१६

रसबाद २१६

रस-ग्राहित्य २१५

रस-मिथ्या २१६

रसट २७० २८०

रस ६१८

रसकारण १९१ १९२

रसकीय अर्थ प्रणाली

(पोलिटिक्स इकोनामी) ४२५

राजकीय उद्योगवाद ४२५

राजतन्त्र ९७ ९८ ३३६

राजवृष्टि १८८

राजसिक्तवृष्टि (Kinetic Energy) ९९

राजस्वान ३२३

राजस्वानी ३०५

राजानी २७६ २७९ २९० ३००

३०२ ३९४

राजेश्वरबा २५९ २६० २८९

राज्य-नीति १०५

राज्य-रचना १७७

राजाकुम्भन् ३०२

राम ६७ ८९ ५०८ ५०९ ५६२

५६६ ५९४ ६४८

रामकथा ५०७

रामटीर्थ ४१४

रामनगर ५२७

राममोहर मोहिया २९०

रामराज्य ९८ ९९ २७७ ३६०

राज्य ८९ ५६२ ५६६ ५९४ ६४८

राज्य राज्य ९९

राष्ट्र-मेता १०५

राष्ट्रपति २५७ २५९

राज्यबाद १४७ १४९ १५१ १५३

२२६ २४९ २५० २९७ ४३०

राष्ट्र-संघ २५३

राष्ट्रीय अभिनिर्देश १३१ १३२

राष्ट्रीय केवना ३३६

'पॉलिक्स कान्फेसरेस' २९० २९१

रिडि-सिडिआ ५८८ ५८९

रस १०५ १०६ १४५ १५८ १५९

१६० १६२ १७८ १८१ १८६

१८७ १९५ २०२ २०३ २०५

३०६ ३५८ ३७२ ३७३ ३९१

३९९ ४०४ ४१० ४१४ ४३०

रेजिमेन्स २८०

रेजिमेन्स १९८

रेजिमेन्स ५४१

सिमन ३६३  
रीमन-मम्पना १०७  
रीमान ५०५  
रामाष्टिक काम्य ५०२  
रीड ५९१

क

करमी ४९१  
'सा मित्रराहित' ३२५  
काम-दीपा ३७२  
'सा एण्ड बाईर' ३०५, ३३९  
कासा ३९३

'लिबिडो' ४५२  
लीप २४१ २४५  
'लीग आफ नेषन्स' १५०  
लीसा ५७७  
लेडी बेटरलीज लवर' ५१६  
लेनिन ७८ ७९ १०८ ११३  
लेफ्ट २८०

लेवर आफिन्तर १९५  
लेवर ड्रवस १९५  
लेवर-मार्टी २५  
लेवर फलनर १९५  
लोकाच ९७  
लोकमाद (लस्यलरिज्म) २३१ २३२  
लोकवादी २३५  
लोकवादी दर्शन २३१  
'लोकिका' ५१६  
लौह-मुय ६२

ख

बयस-नुमान २५६  
बरण ६०८  
बर्गमेड ७५ ८१  
बर्गवाद १ ८ १ ९  
बय-बिरोय ७६  
बगरीवना ८३ ८४  
बर्ग-विपद् ७६  
बगीतरम गांति ५८५  
बल्लु-बग ५३४ ५३५, ५३९  
बल्लुना २१८  
बल्लुबादिना ५१६

बल्लुबादी तुला १३३  
बल्लु-विमान १०७ ४०६  
'बह' ५५१

बाइमराय ३९२  
बाम २८२  
बामपन्थी ५८८  
बामपन्थीय १४८  
बाम-मार्ग २८३ २८४  
बामागी विचार ३७१  
बामु ६०८

बिक्रामबाद ५३ ७६  
बिक्रामबाद ऐतिहासिक ७५ ७७  
बिक्रमीकरण २९६ २९७ ३५९  
बिक्न ह्य थो ३२५ ३२९  
बिप्लवान २८१

बिचारबाद ९५  
बिचारबाद बौद्धिक ९५  
बिमान ४४ ५०  
बिमान वर ७२  
बिरोप-नीति ३८९, ३९१ ३९५ ३९६  
४ ७ ४०३ ४०४

बिरोपी मन्त्रावना ४१७ ४१९  
बिमावा २७६ ३१६ ३७३ ३२५  
३६३ ३८१

बिमाव ६१८, ६१९, ६२३ ६२४  
बिमाह ५५८ ६३२  
बिरो ६३ ७० ५४ ५४१ ५४३  
५५४ ५६४ ५६५ ५६६ ५६९-  
५७१ ६१०

बिरोनाम ३०७ ४१४

बिरो-बीक २००

बिरो-मुड ५२७

बिप्लारबा १८२ १८७

बिप्लारबागी मन्त्रावनायमादबाद १८२

बीर मायकर - ४९

बेर २२४ २३६

बेफरेवर २७०

बेफरेवर गाय २३५ ३१६ ४०३ ४८०

बे-या ३४५, ३८८

बे-या-बनि ३४४ ३८५, ३४७ ३४८

## समय और हम

३४९, ३५१	साक्ष्य ज्योतिष ७२
बेसमा-व्यापार ३४९	साक्ष्य सामुद्रिक ७२
बेसमा-संस्था ३४६	साहजर्हा २७५
'बैज्ञानिक अभ्यास' ११८, ११९	सिक्का ठकनीक ४६६
बैज्ञानिक अभ्यासवाद १२१	सिक्का-नीति ४६७
बैज्ञानिक औद्योगीकरण ४२३	सिक्का-व्यवस्था ४६९
बैज्ञानिक कर्मवाद १०९	सिक्का-प्रणाली ४७४
बैज्ञानिक भौतिकवाद ११९	सिक्का-प्रणाली ४७९, ४८१
बैज्ञानिक समाजवाद १०९	सिक्का-सम्मेलन १०५
वैयक्तिक संघर्ष १३९	सिक्का ६३५
वैयक्तिक १७३ १९७ १९९, २०१	सिक्का-मुद्रा (कोल्हा-वार) ३९७
वैयक्तिक २६३	सिक्का-सिद्धि २१७ ४९६
वैयक्तिक ३४७	सिक्का ४४४ ४४५, ४४७ ४४८, ४४९
वैयक्तिक २३०	४४० ४६७
व्यक्तित्व ५३२	सिक्का ५०८
व्यक्तित्ववाद (Personality Cult) ९८	सिक्का २३०
व्यक्तिवादी विचार ५४७	सिक्का ८१
व्यक्ति-स्वातन्त्र्य १११	
व्यक्ति-विचार ६३२ ६३३ ६३४	संस्कृत ५४९ ५८७ ५८८
व्यक्ति-वाद ४०६	संस्कृत ११५ ११६ १२१
व्यक्ति ५३३	संस्कृत राष्ट्रवाद २४६
व्यापार-नीति १८४	संस्कृत राष्ट्रवाद १८७
व्यावसायिक सम्मता १४३	संस्कृत २५६ २५७ २५८ २५९
व्योम ६०८	संस्कृत ४३६
	संस्कृत राष्ट्रवाद २५५
एकतावाद ५३५	संस्कार ५५० ५५१ ५५८ ५५९
एकतावाद ४९९, ५००	५९९, ५९७
शक्ति-सन्तुलन (Balance of Power) ११४ ११५	संस्कृत ४८२ ५०८
शक्ति-निर्माण-विधि ४८२	संस्कृत १५५ १००
शक्तिवादी २४७	संस्कृत ४००
शक्तिवादी-मनसा ३८२, ३८४	संस्कृत ४००
शक्ति-वादी ३५३ ३५४	संस्कृत ४९९ ५०५ ५०६
शक्ति-मनसा की नीति ११४	संस्कृत १९९ ३११ ३१३ ५०४ ५०५
शक्ति ४४ ७८ ९९ ५५६ ६०७	संस्कृत ५०५
१८-११२ ११७ १२१ १३७	संस्कृत ५०५
१३४	संस्कृत ५०५
शक्ति ११२	संस्कृत ५०५
शक्तिवाद १२१	संस्कृत ५०५
शक्ति ५४५	संस्कृत ५०५

संज्ञाविनिर्दिष्ट २१८, ५०७  
सम्पत्ता पुस्तिका २०७  
समग्र ११९  
समग्रता ११९  
समाज-सम्पत् ११८  
समाज-सूच्य २५८  
समाजवाद ५८, २१८  
समाजवादी भाषा १५८  
समाजवादी दल २९०  
समाज-व्यवस्था १४०  
समूह-स्वार्थ १५३  
सम्प्रदायवाद ४२५, ४३०, ४३२  
सम्प्रदायवादी २९०  
सरस्वती ४९१  
सर्वज्ञता २८७  
सर्वोदय ४८, २७५  
सर्वोदय-विचार २७५  
सर्वोदय धीक-साहित्य ५२३  
सत्यमेव ५५९, ५६१  
सह-अस्तित्व (को-एक्सिस्टेंस) ११३  
१२१ १५० ४३८  
सह्यवाद २६२  
साहचर्यता १६२, १६३  
साकेत ५०९  
साहित्य (Saddam) ८१ १२८  
साधारण करम २१७  
सामन्ती व्यवस्था १७३  
साम्प्रदायिकता (सम्प्रदायिकता) ४३९  
साम्य-दर्शन ५४६  
साम्य-धर्म २८४  
समाजवाद ५९  
साम्यवाद ९५, ९७ १ २, १०७ १०८  
११० १११ १४० २८४  
साम्यवादी ९१  
साम्यवादी भाषा १८१ ४२०  
साम्यवादी दल २८५  
साम्यवादी विचार १०८  
साम्यवादी व्यवस्था १४५, १४६  
साधन व्यवस्था १८२ १८७  
साहित्य ब्रह्मसूत्र १०३



हिन्दू १८६ १८७  
स्वाधीनता ५९६  
स्वाधीनता भावसिक्ता १८०

स्वतन्त्र १५९  
स्वतन्त्र ५६०  
स्वतन्त्र-प्राप्ति ५८६  
स्वतन्त्र-प्राप्ति ५९३  
स्वतन्त्र ५९३ ५९६ ५९७ ५९८

स्वतन्त्र-प्राप्ति २९०  
स्वतन्त्र ५५५  
स्वतन्त्र १४४  
स्वतन्त्र-प्राप्ति २२६  
स्वतन्त्र-प्राप्ति १९९  
स्वतन्त्र ५७९, ५८० ५८१ ५८२ ५८३  
५८४  
स्वतन्त्र-प्राप्ति ५७९  
स्वतन्त्र-प्राप्ति ५८२ ५८४  
स्वतन्त्र-प्राप्ति ५९५

हमारी ५९६  
हमारी ५८८  
हमारी १८४  
हमारी १२५, १२६ ४१०  
हमारी २२४  
हमारी-प्राप्ति १६३  
हमारी-प्राप्ति-प्राप्ति २८६  
हमारी-प्राप्ति का प्राप्ति २३९  
हमारी २९२ २९४ २९७ २९८ ३०३  
३ ४-३०८ ४७७ ४७८ ४८१, ४८८ ४८९ ४९५-४९८, ५०८, ५१३  
हमारी २२६ २२७

हिन्दी-विभाग ४७९  
हिन्दू २२६-२२८ २३३ ४३८, ४३९  
हिन्दू १६६, २३९ २४१ २४८  
२७४ २९० ३०२ ३०३ ३८१

हिन्दू-प्राप्ति-प्राप्ति २४०  
हिन्दू-प्राप्ति २९४ ३०२ ३०४  
हिन्दू २२६ २२८, २२९, २३१ २३४  
२४० २४१ २४७ २४९ २५०

हिन्दू-प्राप्ति २२५, २२६  
हिन्दू-प्राप्ति २२९  
हिन्दू-प्राप्ति २२९  
हिन्दू-प्राप्ति २२६, २३३ २३६, २९०

हिन्दू-प्राप्ति एकता २३५, २४०  
हिन्दू-प्राप्ति विभाग २५४  
हिन्दू-प्राप्ति समय २३६  
हिन्दू-प्राप्ति २४९  
हिन्दू-प्राप्ति २४९, २५०

हिन्दू-प्राप्ति २४८  
हिन्दू-प्राप्ति-प्राप्ति २४८  
हिन्दू १६४ १५५  
हिन्दू-प्राप्ति ५८६  
हिन्दू-प्राप्ति २३२ ३०० ५९०

हिन्दू-प्राप्ति प्राप्ति ३७८  
हिन्दू ५४ ५२९, ५३३  
हिन्दू ७५, ७७  
हिन्दू-प्राप्ति २४६  
हिन्दू-प्राप्ति १३४  
हिन्दू-प्राप्ति ३६२

हा  
हा-प्राप्ति का प्राप्ति ६८  
हा ५७४

